हिन्दी साहित्यदर्पण

व्याख्याकार, डॉ० सत्यव्रत सिंह

इस संस्करण में पहले सर्वबोध्य सुगम भाषा में मूल का व्यवस्थित अनुवाद अङ्कित करके तत्पश्चात् विमर्शनाम्नी व्याख्यात्मक विशद टीका प्रस्तुत की गई है, जिसके द्वारा विषय की दुरूह ग्रंथियों का वस्तुतः सम्यक् समुन्मोचन बन पड़ा है। इसमें कहीं भी मूल की उपेक्षा हुई नहीं प्रतीत होती। छोटे-छोटे वाक्योंवाली सरस, सरल एवं विषय के अनुरूप ललित भाषा का प्रयोग करके नाट्यशास्त्रकार, अभिनवभारतीकार, भावप्रकानकार, काव्यानुशासनकार तथा रसार्णवसुधाकार के रचयिता आदि अनेक साहित्यमर्मज्ञों के मतों की सहायता से भ्रामक मत-मतान्तरों के निरासपूर्वक इस कौशल से विषय का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित किया गया है कि एक बार पढ़ लेने मात्र से वह हृदयपटल पर अङ्कित-सा हो जाता है। अन्यान्य ग्रन्थों के उदाहरण और मतों से छात्र सरसतापूर्वक विषय की व्यापकता का संग्रहण कर सकते हैं। ग्रंथ के आरम्भ में लगभग १०० पृष्ठों की समालोचनात्मक भूमिका है, जिसमें एक ओर कतिपय अलङ्कारों पर वैज्ञानिक शोधसंबंधी दृष्टिकोण है और दूसरी ओर प्रमुख अलङ्कारों का स्वरूप तथा परस्पर वैषम्य सङ्केतित किया गया है। व्याख्याकार के इस स्तुत्य एवं सफल प्रयास द्वारा छात्रों तथा अध्यापकों का समानरूप से हित होगा ऐसी आशा है। १२॥)

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१५

श्रीमम्मटाचार्यविरचितः

काव्यप्रकाशः

सविमर्श 'शशिकला' हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकारः—
डॉ. सत्यव्रत सिंह एम. ए., पी-एच. डी.
(संस्कृताध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय)

प्राक्कथनलेखकः—
माननीय डॉ. श्री सम्पूर्णानन्द जी
(प्रधानमन्त्री, उत्तर प्रदेश)



चौखम्बा विद्या भवन, बनारस-१

प्रकाशक
चौखम्बा विद्या भवन
चौक, बनारस-१
१९५५

The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Banaras.
(INDIA)
1955

मूल्य १०)

मुद्रक
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१
सं० २०१२



लखनऊ, सितम्बर ६, १९५५.

आजकल भारत में न केवल संस्कृत और हिन्दी के काव्य ग्रंथों का अध्ययन होता है वरन् अंग्रेज़ी तथा अन्य विदेशीय भाषाओं के प्रख्यात कवियों के ग्रंथों का भी व्यापक अनुशीलन हो रहा है। नये काव्यों की रचना भी हो रही है और काव्य विषयक आलोचना में भी लोगों की अभिरुचि है। यह सर्वथा उचित है परन्तु दु:ख यह है कि आलोचकों के सामने बहुधा पाश्चात्य विचारकों के ग्रंथ ही रहते हैं और वह काव्य ग्रंथों को उनकी दी हुई कसौटियों पर ही परखते हैं। बहुधा आलोचक आलोचना की भारतीय परिपाटी से परिचित नहीं है। उनमें से ऐसे बहुत थोड़े हैं जिन्होंने संस्कृत ग्रंथों का स्वत: अध्ययन किया हो। यह दुर्भाग्य की बात है।

काव्य प्रकाश प्रामाणिक ग्रंथ है। यह ठीक है कि उसके रचियता मम्मट के सामने संस्कृत के काव्य ग्रन्थ ही थे परन्तु गुणदोष की परख के संबंध में उन्होंने जो बातें कही हैं वह संस्कृतेतर वाङ्मय में भी प्रयुक्त हो सकती हैं। डा० सत्यव्रत सिंह ने इसकी हिन्दी व्याख्या करके इस विषय के प्रेमियों के साथ बहुत बड़ा उपकार किया है। ~~काव्य~~ इस पुस्तक में मूल और टीका का अनुवाद मात्र नहीं है वरन् साथ में विशद टिप्पणियाँ भी लगी हुई हैं, जिनसे विषय का गम्भीर बोध हो सकता है। इन टिप्पणियों में न केवल मम्मट के मत का स्वरूप समझाया गया है प्रत्युत उन दूसरे मतों का भी निरूपण कर दिया गया है जिनकी भूमिका में ही मम्मट की रचना पर पूरा प्रकाश पड़ सकता है। पुस्तक बहुत उपयोगी है और मुझे विश्वास होता है कि इसका आदर होगा।

सम्पूर्णानन्द

सम्पूर्णानन्द

उपोद्घात

अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में 'काव्यप्रकाश' और उसके रचयिता काश्मीरिक 'मम्मट' का नाम अमर हो गया है। वैसे तो सभी काव्य-वाद जैसे कि रसवाद, अलङ्कार-वाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद और ध्वनिवाद आदि आदि काव्यप्रकाश के पहले ही प्रवर्तित और प्रचलित हो चुके थे और मम्मट ने किसी नये काव्य-वाद का प्रचार नहीं किया किन्तु मम्मट का काव्यप्रकाश अलङ्कारशास्त्र में स्वयं एक 'वाद' के रूप में निकला और परवर्ती आलङ्कारिकों के लिये मनन-चिन्तन का विषय बन गया।

काव्यप्रकाश का अध्ययन इसके उद्भव-काल से ही अनवरतरूप से होता चला आ रहा है। काव्यप्रकाश के निर्माण के समय से अब तक ७–८ शताब्दियां बीत चुकी हैं किन्तु अभी भी इसकी काव्यालोचना-सम्बन्धी प्रामाणिकता घटी नहीं है। आज भी यह ग्रन्थ उसी मनोयोग से पढ़ा-पढ़ाया जाया करता है जिस मनोयोग से यह शताब्दियों से पढ़ा-पढ़ाया जाता आ रहा है। 'निर्णयसिन्धु' जैसे प्रामाणिक स्मृति-ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य कमलाकर (१६१२ ई०) की अपनी काव्यप्रकाश-टीका के प्रति यह उक्ति :—

'काव्यप्रकाशे टिप्पण्यः सहस्रं सन्ति यद्यपि।
ताभ्यस्त्वस्या विशेषो यः पण्डितैस्सोऽवधार्यताम् ॥'

यदि इस प्रकार बदल दी जाय :—

'काव्यप्रकाशे टिप्पण्यः सहस्रं सन्ति यद्यपि।
ताभ्यस्त्वस्य विशेषो यः पण्डितैस्सोऽवधार्यताम् ॥'

तो काव्यप्रकाश के निरन्तर चलते आये अध्ययन-मनन का रहस्य स्पष्ट हो जाय।

'काव्यप्रकाश की सहस्रों टीका-टिप्पणियां हैं'—यह उक्ति अत्युक्ति भले ही हो, किन्तु अनर्गल प्रलाप नहीं। काव्यप्रकाश के एक प्राचीन टीकाकार ने तो यहां तक कहा है कि काव्यप्रकाश की टीका घर-घर में बनी है :—

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः।'

आज चाहे घर-घर में बनी काव्यप्रकाश की टीकायें मिलें या न मिलें किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत के विभिन्न प्रान्तों और विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों में काव्यप्रकाश का अध्ययन-मनन ७-८ शताब्दियों से होता चला आ रहा है और आगे भी होता चला जायगा।

काव्यप्रकाश की उपलब्ध और प्रकाशित टीकाओं में सब से पहली टीका ११ वीं और

१२ वीं शताब्दी में लिखी गयी। यह टीका, जिसका नाम 'संकेत' (काव्यप्रकाश-संकेत) है, गुजरात के एक जैन-पण्डित माणिक्यचन्द्र की लिखी है जिन्होंने अपनी कृति का समय विक्रम संवत् १२१६ (११५९-६० ई०) दिया है:—

'रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे (१२१६) मासि माधवे।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य संकेतोऽयं समर्थितः॥'

इस टीका के रचयिता की यह उक्तिः—

'नानाग्रन्थसमुद्धृतैरसकलैरप्येष संसूचितः
संकेतोऽर्थलवैर्लविष्यति नृणां शङ्के विशङ्कं तमः।
निष्पन्ना ननु जीर्णशीर्णवसनैर्नीरन्ध्रविच्छित्तिभिः
प्रालेयप्रथितां न मन्थति कथं कन्था व्यथां सर्वथा॥'

इस बात का संकेत करती है कि संभावतः इस टीका के पहले भी काव्यप्रकाश-सम्बन्धी कुछ साहित्य रचा जा चुका था।

काव्यप्रकाश की दूसरी टीका, जिसका नाम 'बालचित्तानुरञ्जिनी' है, १२ वीं शताब्दी में रची गयी, इस टीका के रचयिता हैं 'स्मृतिदर्पण' नामक धर्मशास्त्रप्रकरण और 'तर्करत्न' नामक न्यायप्रकरण के रचयिता आन्ध्र प्रान्त के आचार्य सरस्वतीतीर्थ, जिन्हों ने अपना परिचय और अपनी काव्यप्रकाश-टीका का परिचय इन शब्दों में दिया है:—

'तर्के कर्कशकेलिना बलवता वेदान्तविद्यारसे
मीमांसागुणमांसलेन परितः सांख्येऽप्यसंख्योक्तिना।
साहित्यामृतसागरेण फणिनो व्याख्यासु विख्यावता
काश्यां तेन महाशयेन किमपि ब्रह्मामृतं पीयते॥
काश्यां सरस्वतीतीर्थयतिना तेन रच्यते।
टीका काव्यप्रकाशस्य बालचित्तानुरञ्जिनी॥'

जिससे स्पष्ट है कि 'काव्यप्रकाश' का अध्ययन कैसे विद्वत्समाज में होता आ रहा है। श्री सरस्वतीतीर्थ ने अपनी 'बालचित्तानुरञ्जिनी' में अपने सम्बन्ध में जो यह संकेत दिया है:—

'विरिञ्चेः पर्यायो भुवि सदवतारः फणिपतेः, त्रिदोषो दोषाणां सकलगुणमाणिक्यजलधिः।
अर्वाचां प्राचां वा सकलविदुषां मौलिकुसुमं, कनीयांस्तत्सूनुर्जयति नयशाली नरहरिः।
सवसुग्रहस्तेन ब्रह्मणा समलङ्कृते (वि. स. १२९८)।
काले नरहरेर्जन्म कस्य नासीन्मनोरमम्॥'

इससे इनका १२ वीं शताब्दी का होना निस्सन्दिग्ध सिद्ध हो जाता है।

१३वीं शताब्दी में प्रणीत काव्यप्रकाश की तीसरी टीका है—'दीपिका'—(काव्यप्रकाशदीपिका)। इस टीका के प्रणेता हैं पुरोहित श्री जयन्तभट्ट, जिन्होंने अपनी

कृति का समय १३५० विक्रम संवत् स्वयं लिखा है :—

'संवत् १३५० वर्षे ज्येष्ठवदि ३ रवौ•••श्रीमद्गुर्जरमण्डलेशमुकुटालङ्कारप्रभापरिचुम्बन-बहुलीकृतचरणनखकिरणस्य महामात्यपुरोहितश्रीमद्भरद्वाजस्याङ्गभुवा पुरोहितश्रीजयन्तभट्टेन सकलसुधीजनमनोज्ञानतिमिरविनाशकारणं विरचितेयं काव्यप्रकाशदीपिका ।'

काव्यप्रकाश की यह टीका भी एक गुजरात देशीय विद्वान् की रचना है ।

काव्यप्रकाश की प्राचीन टीकाओं में 'काव्यादर्श' अथवा 'संकेत' नाम की एक चौथी टीका उपलब्ध है जिसके रचयिता सोमेश्वर हैं । संभवतः, जैसा कि श्री वामनाचार्य झलकीकर का अनुमान है, सोमेश्वर का निवास-स्थान कान्यकुब्ज (कन्नौज) है । सोमेश्वर ने अपने और अपनी काव्यप्रकाश-टीका के सम्बन्ध में इतना ही उल्लेख किया है :—

'भरद्वाजकुलोत्तंसभट्टदेवकसूनुना । सोमेश्वरेण रचितः काव्यादर्शः सुमेधसा ॥'

काव्यप्रकाश की पांचवी प्राचीन टीका 'काव्यप्रकाश-दर्पण' है । 'काव्यप्रकाश' के खण्डनरूप में लिखे 'साहित्यदर्पण' के रचयिता सान्धिविग्रहक महापात्र विश्वनाथ कविराज ने ही यह 'दर्पण' टीका लिखी है । विश्वनाथ कविराज का जन्मस्थान उत्कल (उड़ीसा) प्रान्त है । विश्वनाथ कविराज का कुल 'काव्यप्रकाश' के चिन्तन-मनन के लिये प्रसिद्ध है क्योंकि विश्वनाथ के पितामह के अनुज चण्डीदास भी काव्यप्रकाश के टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं । विश्वनाथ कविराज का अपने 'काव्यप्रकाशदर्पण' के आरम्भ में जो यह उल्लेख है :—

'टीका काव्यप्रकाशस्य दुर्बोधानुप्रबोधिनी । क्रियते कविराजेन विश्वनाथेन धीमता ॥'

उससे यह स्पष्ट है कि काव्यप्रकाश की 'दुर्बोधता' पण्डितसमाज में काव्यप्रकाश के अध्ययन की एक प्रेरणा रहती आयी है । विश्वनाथ कविराज ने अपने काव्यप्रकाशदर्पण में काव्यप्रकाश के अन्य टीकाकारों का भी नाम-निर्देश किया है जिनमें चण्डीदास, वाचस्पति मिश्र, श्रीधर, सान्धिविग्रहिक आदि उत्कल प्रदेशीय विद्वान् मुख्य हैं । विश्वनाथ कविराज का कार्यकाल १३ वीं–१४ वीं शताब्दी है ।

काव्यप्रकाश की छठी टीका—'विस्तारिका' (काव्यप्रकाशविस्तारिका) के लेखक हैं बंगाल प्रान्त के परमानन्द चक्रवर्ती भट्टाचार्य । चक्रवर्ती भट्टाचार्य एक प्रौढनैयायिक थे और महानैयायिक गङ्गेशोपाध्याय के न्याय-प्रकरण 'चिन्तामणि' के भक्त थे जैसा कि उनकी अपनी काव्यप्रकाशटीका के सप्तम उल्लास के आरम्भ का कथन है :—

'अन्धा दोषान्धकारेषु के वा न स्युर्विपश्चितः । नाहं तु दृष्टिविकलो धृतचिन्तामणिः सदा ॥'

चक्रवर्ती भट्टाचार्य का समय १४ वीं शताब्दी के लगभग है ।

काव्यप्रकाश की 'सारसमुच्चय' नाम की सातवीं टीका के रचयिता काश्मीर के आनन्द कवि हैं जिन्होंने चक्रवर्ती भट्टाचार्य का उल्लेख किया है जिससे इनका समय १५ वीं शताब्दी के लगभग सिद्ध होता है । सारसमुच्चयकार के ये शब्दः—

'प्रणम्य शारदां काव्यप्रकाशो बोधसिद्धये । पदार्थविकृतिद्वारा स्वशिष्येभ्यः प्रदर्श्यते ॥'

इति प्रतिज्ञाय...इति शिवागमप्रसिद्धया षट्त्रिंशत्तत्त्वदीक्षाक्षपितमलपटलः प्रकटित-सत्स्वरूपश्चिदानन्दघनः राजानककुलतिलको मम्मटनामा देशिकवरोऽलौकिककाव्यस्य प्रकाशने प्रवृत्तोऽपि...संवित्स्वरूपस्याभ्यन्तरस्य काव्यस्य शिवतत्त्वस्य प्रकाशिकाममेदप्रद्योतयापिकां शुद्धविद्यां प्रथममवतार्य...' इत्यादि ।'

काव्यप्रकाशकार मम्मट और काव्यप्रकाश के महत्त्व का एक नयी दृष्टि से आकलन करते प्रतीत होते हैं ।

काव्यप्रकाश की आठवीं टीका के रचयिता श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य हैं । इनकी टीका का नाम 'सारबोधिनी' है । पण्डितराज जगन्नाथ के रसगङ्गाधर में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य के मत का खण्डन मिलता है जिससे इनका समय १५ वीं शताब्दी के लगभग पता चलता है ।

'काव्यप्रदीप' नाम की काव्यप्रकाश की नवीं प्रसिद्ध टीका मिथिला के महामहोपाध्याय पण्डित गोविन्दठक्कुर (१६ वीं-१७ वीं शताब्दी) की लिखी है । 'काव्यप्रदीप' टीका की विशेषता इसी से सिद्ध है कि इसके भी व्याख्यानरूप से 'प्रभा' और 'उद्योत' नामक काव्यप्रकाश की दो टीकायें रची गयीं । 'काव्यप्रदीप' की समाप्ति का यह श्लोकः—

'परिशीलयन्तु सन्तो मनसा सन्तोषशीलेन । इममद्भुतं प्रदीपं प्रकाशमपि यः प्रकाशयति ॥'

'प्रदीप' की महत्ता को तो प्रकाशित करता ही है किन्तु इससे 'प्रकाश' (काव्यप्रकाश) का गौरव ही अन्ततोगत्वा बढ़ा-चढ़ा प्रतीत होता है ।

महेश्वर भट्टाचार्यरचित काव्यप्रकाश की दसवीं उपलब्ध टीका 'आदर्श' नाम की टीका है । भारतीय विद्वत्समाज में काव्यप्रकाश के अध्ययनाध्यापन की व्यापकता की सूचना इस आदर्श-टीका के अन्त में इन शब्दों में दी गयी है :—

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः ।
सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते धीरः स एतां विपुलं विलोक्यताम् ॥'

श्रीमहेश्वर भट्टाचार्य का स्थान बंगप्रान्त है और कार्यकाल है १७ वीं शताब्दी के लगभग, जैसा कि श्री झलकीकर वामनाचार्य ने अपनी 'बालबोधिनी' टीका की प्रस्तावना में सिद्ध किया है । काव्यप्रकाश की ११ वीं उपलब्ध टीका कमलाकर भट्ट की है । इस काव्यप्रकाश-टीका के अन्त में कमलाकर भट्ट का अपने सम्बन्ध में यह उल्लेख है :—

'तर्केन्दुस्तर्कमेघः फणिपतिभणितिः पाणिनीये प्रपञ्चे
न्याये प्रायः प्रगल्भः प्रकटितपटिमा भट्टशास्त्रप्रघट्टे ।
प्रायः प्राभाकरीये पथि मथितदुरूहान्तवेदान्तसिन्धुः
श्रौते साहित्यकाव्ये प्रखरतरगतिर्धर्मशास्त्रेषु यश्च ॥

श्रीमन्नारायणाख्यात्समजनि विबुधो रामकृष्णाभिधान-
स्तत्सूनुः सर्वविद्याम्बुधिनिजचुलुकीकारतः कुम्भजन्मा ।
टीका काव्यप्रकाशे कमलपदपरस्त्वाकरोऽरीरचद्यः
श्रीपित्रोः पादपद्मे रघुपतिपदयोः स्वं श्रमं प्रार्पयच्च ॥

कमलाकर भट्ट ने अपने 'निर्णयसिन्धु' नामक स्मृति-प्रकरण की समाप्ति में अपने समय का यह संकेत किया है:—

'वसुऋतुऋतुभूमिते (१६६८) गतेब्दे नरपतिविक्रमतोऽथ याति रौद्रे ।
तपसि शिवतिथौ समापितोऽयं रघुपतिपादसरोरुहेऽर्पितश्च ॥'

संभवतः महामहोपाध्याय काव्यप्रदीपकार श्री गोविन्दठक्कुर के ही वंशज श्री नरसिंह ठक्कुर की लिखी काव्यप्रकाश की १२ वीं टीका 'नरसिंहमनीषा' है। महामहोपाध्याय नरसिंह ठक्कुर एक प्रौढ़ नैयायिक हो चुके हैं जैसा कि काव्यप्रकाश की सुधासागर-टीका के रचयिता श्री भीमसेन के इस कथन अर्थात् 'न्यायविद्यावागीशनरसिंहठक्कुराः' से पता चलता है।

काव्यप्रकाश की १३ वीं टीका है 'उदाहरणचन्द्रिका'। इसके रचयिता हैं श्री वैद्यनाथ, जिन्होंने अपना तथा अपने कार्यकाल का यह परिचय दिया है:—

'अनल्पकविकल्पिताखिलसदर्थमञ्जूषिकां सदन्वयविबोधिकां विबुधसंशयोच्छेदिकाम् ।
उदाहरणयोजनाजननसज्जनाह्लादिकामुदाहरणचन्द्रिकां भजत वैद्यनाथोदिताम् ॥'
वियद्वेदमुनिक्ष्माभिर्मिते (१७४०)ऽब्दे कार्तिके सिते ।
बुधाष्टम्यामिमं ग्रन्थं वैद्यनाथोऽभ्यपूरयत् ॥

काव्यप्रकाश की १४ वीं उपलब्ध टीका 'सुधासागर' नाम की है। इसके रचयिता श्री भीमसेन दीक्षित हैं। इन्होंने अपनी टीका के आरम्भ में अपना विशद परिचय दिया है और 'सुधासागर' के सम्बन्ध में यह उल्लेख किया है:—

'अभ्यासः पञ्चमाब्दात् सकलसुखपरित्यागपूर्वं कृतो यो
नानाशास्त्रेषु नित्यं निशिततरधियाऽत्यन्तरागानुवृत्त्या ।
तस्येदानीं फलं मे भवतु सहृदयस्वान्तसंतोषकारि
श्रीमत्काव्यप्रकाशोज्ज्वलविवृतिमयं श्रीसुधासागराख्यम् ॥'

'सुधासागर' के अन्त में अपना कार्यकाल भी इन्होंने ही सूचित कर दिया है:—

'संवद्ग्रहाश्वमुनिभूज्ञाते (१७७९) मासे मधौ सुदि ।
त्रयोदश्यां सोमवारे समाप्तोऽयं सुधोदधिः ॥'

काव्यप्रकाश की 'प्रदीप' टीका पर लिखी 'उद्योत' नामक टीका भी काव्यप्रकाश की एक प्रसिद्ध टीका है जिसके रचयिता महावैयाकरण नागोजीभट्ट हैं। यह 'उद्योत' टीका काशी में रची गयी है। उद्योतकार ने अपनी कृति के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है:—

'नागेशभट्टः कुरुते प्रणम्य शिवया शिवम् । काव्यप्रदीपकोद्योतमतिगूढार्थसंविदे ॥'

और उनका यह कथन कि उनकी काव्यप्रदीप की उद्योत-व्याख्या काव्यप्रकाश के निगूढ अर्थ का परिचय कराने के लिये है—(अतिगूढार्थसंविदे), सर्वथा सत्य है ।

काव्यप्रकाश की इन टीकाओं के अतिरिक्त अन्य अनेकानेक टीकायें भी हैं जिनमें ३२ टीकाओं का नामोल्लेख बालबोधिनी-टीकाकार श्री झलकीकर वामनाचार्य ने किया है जैसे कि:—

१. श्रीधरकृत काव्यप्रकाश-टीका ।
२. देवनाथकृत काव्यप्रकाश-टीका ।
३. भास्करकृत साहित्यदीपिका टीका ।
४. सुबुद्धिमिश्रकृत काव्यप्रकाश-टीका ।
५. पद्मनाभकृत काव्यप्रकाश-टीका ।
६. अच्युतकृत काव्यप्रकाश-टीका ।
७. रत्नपाणिकृत काव्यदर्पण-नामक टीका ।
८. रविपण्डितकृत मधुमती टीका ।
९. तत्त्वबोधिनी टीका ।
१०. कौमुदी टीका ।
११. आलोक टीका ।
१२. जयरामकृत प्रकाशतिलक टीका ।
१३. यशोधरकृत टीका ।
१४. मुरारिमिश्रकृत टीका ।
१५. पक्षधरकृत टीका ।
१६. रामनाथकृत रहस्यप्रकाश टीका ।
१७. जगदीशकृत रहस्यप्रकाश टीका ।
१८. गदाधरकृत टीका ।
१९. राघवरचित अवचूरि टीका ।
२०. उदाहरणचन्द्रिकाकार वैद्यनाथकृत प्रभा टीका आदि आदि ।

काव्यप्रकाश के अध्ययनाध्यापन और रहस्यानुसन्धान के सम्बन्ध में महामहोपाध्याय श्री काणे का यह उल्लेख—

'Except the Bhagavadgītā there is hardly any other work in classical Sanskrit that has so many commentaries on it' (History of Sanskrit Poetics–263)

कि 'श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त संस्कृतसाहित्य में केवल काव्यप्रकाश ही ऐसा ग्रन्थ है जिस पर टीका-टिप्पणियां निरन्तर लिखी जाती रही हैं,' अक्षरशः सत्य प्रतीत हो रहा है ।

श्री झलकीकर वामनाचार्य की लिखी काव्यप्रकाश की 'बालबोधिनी' टीका वस्तुतः विद्वद्बोधिनी टीका है । इस टीका में १९ प्राचीन टीकाओं का सार-संक्षेप यथास्थान दिया गया है । काव्यप्रकाश पर ही श्रीहरिशङ्कर शर्मा की लिखी चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय से प्रकाशित आधुनिक 'नागेश्वरी' नामक संस्कृत टीका भी अधिक सरल–सुबोध होने के कारण विशेष प्रचलित है ।

काव्यप्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद दिवंगत महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा ने किया था जो काशी की 'पण्डित' पत्रिका में निकल चुका है ।

काव्यप्रकाश का हिन्दी अनुवाद हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग ने प्रकाशित ही किया है। इस हिन्दी अनुवाद के लेखक स्वर्गवासी श्री हरिमङ्गल मिश्र हैं।

यह 'सविमर्श शशिकला'-व्याख्या काव्यप्रकाश के अध्ययन की प्राचीन परम्परा का ही एक अनुसरण है। इसका बीज इस लेखक के हृदय में काव्यप्रकाश के अध्ययन-काल में ही जम चुका था जिसका श्रेय इस लेखक के साहित्यविद्यागुरु श्री को० अ० सुब्रह्मण्यम् अय्यर (अध्यक्ष संस्कृतविभाग तथा कलाविभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) को है जिन्होंने आचार्य मम्मट की काव्यालोचनासम्बन्धी विचारधारा और समसामयिक काश्मीर की दार्शनिक और साहित्यिक गतिविधि का समन्वय निदर्शित कर काव्यप्रकाश के एक नवीन अध्ययन की प्रेरणा प्रदान की है।

भारतीय वाङ्मय के तत्त्ववेत्ता किं वा संस्कृत साहित्य के निष्णात भक्त माननीय डाक्टर श्री सम्पूर्णानन्द जी मुख्यमन्त्री, उत्तरप्रदेश ने, अनेकविध आवश्यक कार्यों में व्यस्त रहते हुये भी, काव्यप्रकाश की इस व्याख्या पर अपनी सम्मति देने की जो कृपा की है और अपने इस आशीर्वाद से जो प्रोत्साहन दिया है, उसके लिये कृतज्ञता-प्रकाशन इस लेखक के सामर्थ्य में नहीं।

इस 'सविमर्श व्याख्या' के हिन्दी में लिखे जाने और साथ ही साथ इसे दो अंशों अर्थात् अनुवाद और टिप्पणी में विभाजित करने की प्रेरणा 'चौखम्बा संस्कृत सीरिज' तथा चौखम्बा विद्या भवन, बनारस के स्वत्वाधिकारी और संचालक श्री जयकृष्णदास जी गुप्त से मिली है जिसके लिये यह लेखक उनका सतत आभारी है। साथ ही साथ यह लेखक श्री पं० रामचन्द्र झा का भी आभार मानता है जिनकी यह उक्ति कि 'काव्यप्रकाश' जैसे साहित्यविद्या के महान् ग्रन्थ पर लिखने में सतर्क होना आवश्यक है' लेखक को बहुत कुछ सावधान बनाती रही है।

काव्यप्रकाश की यह सविमर्श हिन्दी व्याख्या कैसी है, इसका निर्णय तो विज्ञ पाठकवृन्द ही करेंगे। लेखक का अन्त में यही निवेदन है:—

साहित्यविज्ञानसमुद्रमन्थात् बहूनि रत्नानि विनिर्गतानि।
'काव्यप्रकाशा'भिधमेकरत्नं जिघृक्षतः कस्य परत्र गर्धा !
नान्तोऽस्य रत्नस्य परीक्षकाणां नान्तं गता वैकटिकत्वबुद्धिः।
रत्न ! त्वमेवात्र मम क्षमस्व यच्चापलं स्थूलदृशोऽस्ति किञ्चित् ॥



दिवङ्गत पूज्य पिता

को

सादर

समर्पित



भूमिका

'मम्मट' और 'काव्यप्रकाश'

१. मम्मट और काव्य-प्रयोजन-विचार

काव्य-प्रयोजन-विचार की परम्परा अलङ्कारशास्त्र की एक प्राचीनतम परम्परा है। अलङ्कार शास्त्र में काव्य के उद्देश्य का विचार वस्तुतः काव्यरूप कर्त्तव्य-कर्म की नैतिकता का विचार है। 'काव्य कोरी कविकल्पना नहीं है'—यह सिद्धान्त जिस प्रकार अलङ्कारशास्त्र में काव्य की युक्तियुक्तता (Poetic Logic) की मान्यता में कार्यकर हुआ है उसी प्रकार काव्य की उपयोगिता की मान्यता में भी। 'काव्य एक कर्त्तव्य-कर्म है और उसका उद्देश्य मानव-जीवन की पूर्णता है'-यह है वह उद्देश्य जो कवियों, काव्य-चिन्तकों और काव्य-रसिकों-सब के लिये मान्य रहता आया है। काव्य लोक नहीं अपि तु कला है और इसलिये कविकर्म एक लोकोत्तर कर्त्तव्य-कर्म है-इस दृष्टि से काव्य में कवि के प्रयोजन और काव्य-चिन्तक तथा काव्य-रसिक के प्रयोजन की प्रायः एकरूपता ही मानी गयी है। इस मान्यता में भी काव्य की लोकोत्तरता ही कारण है।

नाट्य के अथवा काव्य के-क्यों कि नाट्य और काव्य में अभिनय के बहिरंग और अन्तरङ्ग प्रकाशन का ही तो भेद है-सर्व प्रथम प्रयोजन-विचारक नाट्याचार्य भरतमुनि (३ री-४ थी शताब्दी) हैं जिनका यह कथन है:—

'वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्। विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥'

और यह भी:—

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्। विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥

(नाट्यशास्त्र १)

अर्थात् नाट्य सार्वजनिक मनोरञ्जन का एक साधन है और उन-उन विद्याओं, उन-उन ऐतिहासिक घटनाओं किं वा उन-उन विषयों की इतिवृत्त-कल्पना के द्वारा सब को आनन्दित करने के लिये है। लोक में मानव दुःख-शोक से पीडित है, लोक के ताप-संताप की विश्रान्ति जिस कलात्मक उपाय से संभव है वह उपाय है नाट्य (अथवा काव्य)।

भरत मुनि के इस नाट्य-प्रयोजन-दर्शन में लोकायत-मत की 'सुख'-प्राप्ति की गन्ध नहीं अपि तु वैदिक-दार्शनिक विचारधारा की सुख-शान्ति की भावना छिपी है। वेद-शास्त्र के विधि-निषेध के अनुवर्त्तन से जो सुख-मिलता है वह क्लेश-बहुल हुआ करता है और नाट्य-काव्य के द्वारा जो सुख मिला करता है वह आरम्भ से अन्त तक रस-मय रहा करता है-यह अलङ्कार शास्त्र की काव्य-प्रयोजन-सम्बन्धी भावना भरत मुनि से ही प्रारम्भ होती है और संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकास के साथ-साथ विकसित होती चलती है।

भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित यह नाट्य-प्रयोजन ही सर्वप्रथम आलङ्कारिक आचार्य भामह (६ ठी शताब्दी) की दृष्टि में काव्य के प्रयोजन के रूप में दिखायी देता है। आचार्य भामह के अनुसार (काव्यालङ्कार १. २) काव्य का प्रयोजन यह है:—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥'

अर्थात् सत्काव्य का निर्माण (और 'साधुकाव्यनिषेवणम्'-पाठ के अनुसार सत्काव्य का अनुशीलन) इन-इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हुआ करता है:—

(१) चतुर्वर्ग-सम्बन्धी शास्त्रों किं वा कलाओं में व्युत्पन्नता अर्थात् इन विद्याओं और कलाओं का मर्मज्ञान।

(२) यशः प्राप्ति और (३) प्रीति अथवा आनन्दानुभूति

आचार्य भामह ने 'चतुर्वर्ग-सम्बन्धी शास्त्रों और कलाओं में व्युत्पन्नता' को जो काव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है वह भी वस्तुतः नाट्याचार्य भरत मुनि के ही आधार पर किया है क्योंकि 'नाट्य' के सम्बन्ध में भरत मुनि का भी यही मत है:—

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला। न तत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते ॥'

(नाट्यशास्त्र २१. १२२)

जिसका तात्पर्य यह है कि कोई भी ज्ञान, कोई भी शिल्प, कोई भी विद्या, कोई भी कला किं बहुना कोई भी कर्म ऐसा नहीं जो 'नाट्य' में न हो—नाट्य का विषय न बने।

आचार्य भामह का दूसरा काव्य-प्रयोजन अर्थात् 'कीर्तिलाभ' भरत मुनि के नाट्य-प्रयोजन-निरूपण में निर्दिष्ट नहीं है। 'कीर्तिलाभ' को भी काव्य-प्रयोजन मानने का एक प्रयोजन है और वह प्रयोजन है काव्य-कृति को लोक-जीवन की एक उपयोगी कृति के रूप में सिद्ध करना। यश की प्राप्ति मनुष्य की प्रवृत्तियों की एक मूल-प्रेरणा मानी गयी है:—

'यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥' (भारवि किरात० ३ य सर्ग)

आज का मनोविज्ञान भी यशःप्राप्ति को मानव-प्रवृत्ति का प्रेरणा-स्रोत मानता है। संस्कृत के अनेकानेक काव्यकलाकार काव्य के यशोलाभ रूप उद्देश्य का निर्देश करते रहे हैं। इस प्रकार की सूक्तियां:—

'ते धन्यास्ते महात्मानः तेषां लोके स्थितं यशः। यैर्निबद्धानि काव्यानि ये वा काव्येषु कीर्तिताः॥'

जिनमें काव्य और यशःप्राप्ति में साध्य-साधनभाव का सम्बन्ध माना गया है, संस्कृत काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र मिला करती हैं।

आचार्य भामह ने जिस 'प्रीति' रूप प्रयोजन का अन्त में निर्देश किया है और इसीलिये ऐसा निर्देश किया है क्योंकि यही काव्य का अन्तिम वास्तविक प्रयोजन है वह वस्तुतः नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि के 'विनोद' अथवा 'विश्राम' का एक ऐसा नामान्तर है जिसका रहस्य अलङ्कारशास्त्र के विकास के साथ उत्तरोत्तर विकसित और प्रस्फुटित होता रहा है।

आचार्य भामह के बाद काव्य-प्रयोजन के विचारक आलङ्कारिकों में आचार्य वामन (८ वीं शताब्दी) का नाम उल्लेखनीय है। वामन (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १. १. ५) के अनुसार काव्य के दो प्रयोजन हैं-१ दृष्ट प्रयोजन और २ अदृष्ट प्रयोजन। दृष्ट प्रयोजन का तात्पर्य है 'प्रीति' और अदृष्ट प्रयोजन का तात्पर्य है 'कीर्ति'—

'काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।'

संभवतः चतुर्वर्ग-व्युत्पत्ति और कला-व्युत्पत्ति को काव्य के अतिरिक्त अन्य विद्याओं और उपविद्याओं का भी प्रयोजन मानकर आचार्य वामन ने इन्हें काव्य-प्रयोजन के रूप में नहीं

माना । वामन की दृष्टि में 'रीति' काव्य का सार-तत्त्व है और इस दृष्टि से कवि और काव्य-रसिक काव्य से 'प्रीति' अथवा आनन्द अवश्य पा सकते हैं । जो कवि अथवा जो काव्य-रसिक काव्य की रचना अथवा काव्य की भावना में जितना ही अधिक प्रीति-लाभ कर सके उतना ही अधिक उसे कीर्ति-लाभ भी हो सकता है ।

संस्कृत काव्यालोचना में 'रीति'-वाद के प्रवर्त्तक आचार्य वामन ने ध्वनि-वाद की प्रेरणा में पर्याप्त सहायता पहुंचायी है । ध्वनि-वाद के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्धन (९ वीं शताब्दी) ने 'प्रीति' को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन स्वीकार किया है । किन्तु आचार्य वामन के अनुसार 'प्रीति' का जो अभिप्राय है वही आचार्य आनन्दवर्धन का 'प्रीति' का रहस्य नहीं । 'प्रीति' को काव्य अथवा वस्तुतः कला का प्रयोजन तो अलङ्कारशास्त्र की उत्पत्ति के समय से ही माना जाता आ रहा है और अलङ्कारशास्त्र भी वस्तुतः 'काव्य' और 'प्रीति' के पारस्परिक सम्बन्ध की ही एक समीक्षा है । किन्तु आचार्य भामह अथवा आचार्य वामन की 'प्रीति'-दृष्टि वही नहीं जो आचार्य आनन्दवर्धन अथवा आचार्य अभिनवगुप्त की हो सकती है । जिस प्रकार अलङ्कारशास्त्र में ध्वनि-तत्त्व-रहस्य 'स्फुरित-प्रसुप्तकल्प' रहा है जिसे आनन्दवर्धन की प्रतिभा ने सर्वप्रथम जीवित-जागृत बनाया है उसी प्रकार 'प्रीति' रूप काव्य-प्रयोजन-रहस्य भी रेखाचित्र के रूप में ही अङ्कित होता रहा है जो सर्वप्रथम आनन्दवर्धन के द्वारा पूर्णरूप से उन्मीलित हुआ है ।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य-प्रयोजन क्या है ? उनके अनुसार 'प्रीति' काव्य-प्रयोजन तो है ही किन्तु यह 'प्रीति' काव्य-शरीर के सौन्दर्य-दर्शन से उत्पन्न 'प्रीति' नहीं जो संभवतः अलङ्कारवादी आचार्यों की दृष्टि में रही होगी और न इसे काव्य के सुन्दर शरीर को ही काव्य का सब कुछ मानने वाले रीतिवादी आचार्यों की ही 'प्रीति' में अन्तर्भूत किया जा सकता है, यह 'प्रीति' तो वस्तुतः काव्यार्थतत्त्व के साक्षात्कार करने वाले सहृदयजन के हृदय की स्वाभाविक आनन्दाभिव्यक्ति है :—

'तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्' (ध्वन्यालोक १-१)

काव्य के परम प्रयोजन के इस दर्शन का विश्लेषण करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त (१० वीं शताब्दी) का तभी तो यह कथन है :—

'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन-योग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः । यथोक्तम्—
योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः । शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥'

और यह भी—

'आनन्द इति—रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वं दर्शयति ।''''''तत्र कवेस्तावत् कीर्त्याऽपि प्रीतिरेव सम्पाद्या । यदाह—कीर्तिं स्वर्गफला-माहुरित्यादि । श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्—
धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च । करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ इति
तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम् । अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसंमितेभ्यश्चेति हासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः । चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम् ।,

(ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३९–४०)

अर्थात् काव्य का पार्यन्तिक प्रयोजन एक विशेष प्रकार की 'प्रीति' है। यह 'प्रीति' उस सहृदय का आनन्द है जो काव्य में तन्मय हुआ करता है, जिसकी हृदय-तन्त्री कवि की हृदय-तन्त्री के साथ झंकार किया करती है। चतुर्वर्ग-व्युत्पत्ति के लिये साधारण कवि भले ही काव्य-में प्रवृत्त हुआ करें अथवा साधारण काव्य-पाठक भले ही काव्य-पाठ किया करें किन्तु जो महाकवि हैं वे तो रसानुभूति के ही लिये काव्य रचना करते हैं और जो काव्य के सहृदय सामाजिक हैं वे भी रसास्वाद के ही लिये काव्यानुशीलन की ओर उन्मुख हुआ करते हैं:—

'काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्।'

काव्य से कीर्ति-लाभ का भी तात्पर्य वही नहीं जो इष्टापूर्तरूप धर्म-कर्म से कीर्ति-लाभ का हो सकता है। काव्य से कीर्ति उसी को मिल सकती है जो 'रससिद्ध' हो। कीर्ति का भी फल आनन्द ही है जिसे 'स्वर्ग' कहा गया है। इस लोक में काव्य ही वह वस्तु-तत्त्व है जो स्वर्ग का सुख-

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वः पदास्पदम्॥

एक अलौकिक स्वानुभवसंवेद्य आनन्द-उपस्थित कर सकता है।

ध्वनिवादी काव्याचार्यों ने काव्य के रहस्य के उन्मीलन के साथ ही साथ काव्य-प्रयोजन के प्रीतिरूप रहस्य का भी सर्वतोभद्र उन्मीलन किया। ध्वनि-रहस्य से प्रभावित आचार्यों ने अपने अपने काव्यवाद तो अवश्य प्रवर्त्तित किये किन्तु 'प्रीति' का अभिप्राय वही लिया जिसे ध्वनिवादी आचार्यों ने सिद्ध किया। उदाहरण के लिये, वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक (१० वीं शताब्दी) के अनुसार भी काव्य के प्रयोजनों में 'प्रीति' ही महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है जिसका अभिप्राय सहृदय-हृदय का आह्लाद है:—

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः। काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥'

(वक्रोक्तिजीवित १. ४)

इसी प्रकार रस-तात्पर्यवादी काव्याचार्य भोजराज (१० वीं ११ वीं शताब्दी) के अनुसार भी 'कीर्ति' और 'प्रीति' ही काव्य के तात्त्विक प्रयोजन हैं—

'कविः'''कीर्तिं प्रीतिं च वन्दति' (सरस्वतीकण्ठाभरण १. २)

और 'प्रीति' का अभिप्राय काव्यार्थतत्त्व की भावना से संभूत 'आनन्द' है जैसा कि 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के व्याख्याकार रत्नेश्वर (१४ वीं शताब्दी) का विश्लेषण है:—

'प्रीतिः सम्पूर्णकाव्यार्थस्वादसमुत्थः आनन्दः, काव्यार्थभावनादशायां कवेरपि सामाजिकत्वाङ्गीकारात्' (स० क०-रत्नदर्पण-१. २)

काव्य प्रयोजन-विचार की इस प्राचीन सम्पत्ति का मम्मट ने कैसा उपयोग किया है—इसे देखना है। मम्मट के अनुसार काव्य की ओर प्रवृत्ति इन उद्देश्य-विशेषों के कारण हुआ करती है—१ला-यश, २रा-अर्थ, ३रा-व्यवहारज्ञान, ४था-अनिष्टनिवारण ५वां-सद्यःपरनिर्वृति और ६ठा-कान्तासंमित उपदेश:—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे॥' (काव्यप्रकाश १०२)

सम्भवतः मम्मट ही सर्वप्रथम आलङ्कारिक हैं जिन्होंने काव्य के 'प्रयोजन-षट्क' का निर्देश और निरूपण किया है। काव्य के इस 'प्रयोजन-षट्क' का निर्देश जिस भावना से किया गया है वह समन्वय की भावना है। यह समन्वय भी एक दृष्टि-विशेष से ही किया गया है जो कि ध्वनि-

वाद की दृष्टि है। जैसे ध्वनि-वाद ने काव्यालोचना के भिन्न भिन्न वादों का रस-वाद की दृष्टि से समन्वय स्थापित किया, वैसे ही मम्मट ने काव्य-प्रयोजन के भिन्न भिन्न मतों का अपने 'सद्यःपर निर्वृति'-वाद की दृष्टि से समन्वय सिद्ध किया।

मम्मट का 'सद्यःपरनिर्वृत्ति'-रूप काव्य-प्रयोजन क्या है ? मम्मट ने इसे स्वयं समझाया है—

'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं, प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्संमितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।'

जिससे यह स्पष्ट है कि 'सद्यःपरनिर्वृति' वह अलौकिक काव्य-संभूत आनन्द है जो काव्य का परम प्रयोजन है। यह रसास्वादरूप आनन्द अलौकिक इसलिये है कि इसका साधन काव्य भी एक अलौकिक वस्तु है। यह रस-यह आनन्द वेदादिशास्त्रों से संभव नहीं और न इसे पुराण और इतिहासादि में ही पाया जा सकता है। वेदादि विद्याओं और पुराणादि उपविद्याओं से चतुर्वर्ग-व्युत्पत्ति भले ही सिद्ध हो जो कि हुआ भी करती है किन्तु इस व्युत्पत्ति में रसानुभूति का स्वप्न नहीं देखा जा सकता। रसानुभूति तो केवल काव्य अथवा कला की ही एक मात्र देन है। अन्य समस्त लौकिक किंवा वैदिक कर्म-कलापों से जो भी प्रयोजन सिद्ध हो, उसमें विलम्ब का होना स्वाभाविक है किन्तु काव्यानुशीलन और आनन्दानुभव में न तो समय का ही कोई व्यवधान है और न स्थान का ही।

यहां यह निःसन्दिग्ध है कि मम्मट ने ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त के ही काव्य-प्रयोजन-रहस्य का दर्शन और विवेचन किया है। ध्वनिवाद की दृष्टि में काव्य का रस-रूप परम प्रयोजन अपने साथ एक आनुषङ्गिक प्रयोजन भी रखा करता है और वह प्रयोजन है—सरसोपदेश-रूप प्रयोजन। यह सरसोपदेशरूप प्रयोजन ऐसा प्रयोजन है जो काव्य को मानव-जीवन के लिये अत्यन्य उपयोगी सिद्ध करता है। काव्य में जो कुछ भी है वह अन्ततोगत्वा रसाभिव्यक्ति में भी समन्वित होता है और यह रसाभिव्यक्ति सहृदय सामाजिक की क्षणिक मनस्तुष्टि नहीं अपितु मानव-जीवन के आदर्शों की एक अलौकिक साधना है। काव्य के द्वारा जिन जीवनादर्शों की व्याख्या की जाया करती है उसके प्रति काव्य-सामाजिक का स्वाभाविक अनुराग रहा करता है। लौकिक अथवा वैदिक कर्म-क्षेत्र में कर्त्तव्य और राग परस्पर लड़ते-भिड़ते रह सकते हैं किन्तु काव्य-क्षेत्र में कर्त्तव्य और राग, अपने पारस्परिक भेद-भाव को भुलाये, एक दूसरे के सहायक रूप से रहा करते हैं। वेदादि शास्त्र और इतिहास-पुराणादि बुद्धि को प्रभावित कर कर्त्तव्य-भावना को जागृत किया करते हैं किन्तु काव्य हृदय को प्रभावित कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सरस विश्लेषण किया करता है। जहां वेद द्वारा उपदिष्ट कर्मभावना में आज्ञा की कठोरता अथवा पुराण द्वारा निर्दिष्ट कर्म-साधना में अनुज्ञा की आपेक्षिक कोमलता है वहां काव्य द्वारा अभिव्यक्त **'रामादिवद् वर्तितव्यम्, नररावणादिवत्'** की कर्त्तव्य-भावना में मानव-हृदय की स्वाभाविक अनुरक्ति की प्रेरणा है।

ध्वनि-वाद के अनुसार काव्य-प्रयोजन का यही वास्तविक रहस्य है। काव्य से रस-प्रतीति

और रस-प्रतीति में जीवनादर्शों की ओर प्रगति—एक ही प्रयोजन के दृष्टि-भेद से विश्लेषण-भेद हैं। जैसे काव्य, कला होने के नाते, रसानुभूति का एकमात्र साधन है वैसे ही, जीवन की अभिव्यक्ति होने के नाते, जीवनादर्शों की भी एकमात्र साधना है। यदि काव्य का उद्देश्य केवल रसास्वाद ही होता तब यह मानव-जीवन से असम्बद्ध भी रहा करता। किन्तु काव्य तो मानव के ज्ञान-विज्ञान का अमृत-निष्यन्द है, वास्तविक जीवन की सरस-व्याख्या है और तब तो यह स्वाभाविक ही है कि इसकी आनन्दात्मक अनुभूतियां जीवन को सफल जीवन बनाने में एक अनूठापन रखा करें। काव्य का यही अनूठापन काव्य का 'कान्तासंमित उपदेश-योग' है। यद्यपि मम्मट ने आचार्य अभिनवगुप्त के काव्य-विषयक 'जायासंमितत्वलक्षण विशेष' को ही 'कान्तासंमित उपदेश-योग' के रूप में स्थापित किया है किन्तु यह भी सिद्ध है कि 'जायासंमितत्वलक्षण विशेष' में जो बात अनभिव्यक्त है वह 'कान्तासंमित उपदेशयोग' में स्पष्टतया अभिव्यक्त हो रही है। 'जाया' और 'कान्ता' एक ही नारीरूप की दो भावनायें हैं। नारी में 'जाया' की भावना में जो अनुराग संभव है उसमें फलभावना की भी चिन्ता छिपी है किन्तु नारी में 'कान्ता' की भावना एकमात्र हृदयानुरक्ति की ही अधिकाधिक पुष्टि और अभिव्यक्ति है जिसमें फल-चिन्तन की गन्ध नहीं। अनुरक्ति में फल की चिन्ता उसकी पूर्णता नहीं अपितु अपूर्णता का अभिप्राय रखती है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनि-वाद के रस-रूप काव्य-प्रयोजन-विचार को मम्मट ने सुरक्षित ही नहीं रखा है अपितु अपनी प्रतिभा से बहुत कुछ परिष्कृत भी किया है।

आनन्द और आनन्दानुषक्त कर्त्तव्य-भावना ही काव्य का पारमार्थिक प्रयोजन है—यह है वस्तुतः मम्मट के काव्य-प्रयोजन-विचार का सार-संक्षेप। किन्तु मम्मट ने काव्य के कुछ व्यावहारिक प्रयोजनों का भी निरूपण किया है जिनमें यशोलाभ सर्वप्रथम है। काव्य से यश की प्राप्ति के निदर्शन के रूप में महाकवि कालिदास का नाम लिया गया है। वस्तुतः काव्य से यशःप्राप्ति का रहस्य वही है जिसे भर्तृहरि ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है:—

'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः। नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥'

जिस से यही सिद्ध होता है कि यश रूप प्रयोजन का भी मूल रस की ही साधना है न कि अन्य कुछ। महाकवि की कीर्ति उसी का वरण करती है जो रससिद्ध हो और सहृदय-मूर्धन्य की भी कीर्ति उसी के पीछे चलती है जो रससिद्ध हो। काव्य से यशःप्राप्ति के प्रयोजन की निष्पत्ति कवि और सहृदय सामाजिक के पारस्परिक सम्बन्ध का संकेत करती है। किसी काव्य की अधिकाधिक व्यापक रस-चर्वणा ही उस काव्य की कीर्ति है और है उस काव्य-कलाकार की अमरता की निशानी, जैसा कि एक प्राचीन काव्य-रसिक का कहना है:—

'ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविर्विदधाति केवलं काव्यम्।
पुष्णाति कमलमम्भो लक्ष्म्या तु रविर्नियोजयति ॥'

काव्य से अर्थलाभ भी संभव है और इसीलिये इसे भी काव्य-प्रयोजनों में स्थान दिया गया है। काव्य से अर्थलाभ की कहानी प्रत्येक भाषा के काव्य-साहित्य के इतिहास की एक रोचक कहानी है। काश्मीरिक महाकवि विल्हण की राजतरङ्गिणी में महाकवि मातृगुप्त का चरित चित्रित है जिसमें काव्य और धन-सम्पत्ति में साध्य-साधन-भाव स्पष्टतया प्रदर्शित किया हुआ है। अर्थ-प्राप्ति को काव्य के प्रयोजन-रूप में रखना कवियों के लिये एक ऐसी प्ररोचना है जिसे काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। मम्मट के सम-सामयिक काश्मीर में उक्ति-निपुण

कवियों को अर्थ-लाभ होता ही रहा है । अर्थ-लाभ भी उसी काव्य के प्रयोजन के रूप में संभवतः यहां स्वीकृत प्रतीत होता है जिसे चित्र-काव्य कहा गया है जिसमें राज-प्रशस्तियों की रचनायें प्रधान हैं ।

व्यवहार-ज्ञान को भी काव्य-प्रयोजन मानना आवश्यक ही है क्योंकि इतिहास और लोकवृत्त के द्वारा होने वाले व्यवहार-ज्ञान में सामाजिकों की वह मनः प्रवणता नहीं हो सकती जो काव्य द्वारा होने वाले व्यवहार-ज्ञान में संभव है । इसका भी कारण काव्य की सरसता ही है । काव्य द्वारा संभव सरस व्यवहार-ज्ञान इतिहासादि द्वारा अथवा वैयक्तिक अनुभव द्वारा सुलभ नहीं । काव्य का व्यवहार-ज्ञान-रूप प्रयोजन पाश्चात्य काव्य-मनीषी भी मान चुके हैं । Ben Johnson (बेन जॉनसन) की इस सम्बन्ध में यह उक्ति है :—

'It (Poetry) nourishes and instructs our youth; delights our age; adorns our prosperity; comforts our adversity; entertains us at home; keeps us company abroad; travels with us, watches, divides the time of our earnest and sports; shares in our country recesses and recreations; in so much as the wisest and the best learned have thought her the absolute mistress of manners, and nearest of kin to virtue.'

अर्थात् आचार-व्यवहार के क्षेत्र पर कविता का प्रभुत्व अक्षुण्ण है और जीवन के आदर्शों के साथ तो कविता का गहरा नाता है । क्या जवानी और क्या बुढ़ापा-दोनों के लिये कविता उपयोगी है । सुख में संतोष और दुःख में सान्त्वना कविता की ही देन हैं । कविता जीवन-मार्ग पर चलते हुये मानव का सदा साथ दिया करती है ।

काश्मीर के कवि और आलोचक मानव की सर्वविध अनुभूतियों को काव्य में प्रतिफलित माना करते हैं । संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो काव्य के आनन्द का अभिव्यञ्जन-साधन न बन जाय । सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याकार रत्नेश्वर का इसीलिये यह कहना है :—

'नास्त्येव तत्काव्यं यत्र परम्परयाऽपि विभावादिपर्यवसानं न भवतीति काश्मीरिकाः ।'

(सरस्वतीकण्ठाभरण १. २)

जिसकी दृष्टि से यह मानना युक्तियुक्त ही है कि कविद्वारा वर्णित लोक-व्यवहार विभावादि वर्ग में अन्तर्भूत होकर रसानुभूति की प्रेरणा बना करता है और इस प्रकार काव्य से व्यवहार-ज्ञान का अभिप्राय है रसमग्न हृदय से लोकजीवन का साक्षात्कार । पाश्चात्य काव्य-मीमांसक Mathew Arnold (मैथ्यू आर्नल्ड) की इस उक्ति में भी कविता की इसी उपयोगिता की अभिव्यक्ति है :—

'More and more mankind will discover that we have to turn to poetry to interpret life for us, to console us, to sustain us. without poetry our science will appear incomplete and most of what now passes with us for religion and philosophy will be replaced by poetry.'

मम्मट के अनुसार काव्य का एक और भी व्यावहारिक किंतु दृष्टादृष्टरूप प्रयोजन है और वह है 'शिवेतरक्षति'-अमङ्गल निवारण । इस अमङ्गल-निवारण रूप काव्य-प्रयोजन के लिये, सूर्यशतक की रचना से, महाकवि मयूर की दुःखशान्ति का दृष्टान्त दिया गया है । यह दृष्टान्त

एक संकेत मात्र है। 'शिवेतरक्षति' का सम्बन्ध स्तोत्र-काव्यों से है और संस्कृत काव्य-साहित्य में स्तोत्र-रचनाओं का एक अपना ही स्थान है। वैदिक वाङ्मय की स्तोत्र-परम्परा संस्कृत-वाङ्मय में सुरक्षित चली आरही है। अमङ्गल-निवारण को इस दृष्टि से काव्य का एक प्रयोजन मानना संस्कृत काव्य-साहित्य के एक बृहद्भाग के साथ न्याय करना है।

मम्मट का किया यह काव्य-प्रयोजन-विवेचन संस्कृत के काव्य-मात्र से सम्बन्ध रखता है। चित्रकाव्य का भी कुछ प्रयोजन है और उसका प्रयोजन वही नहीं जो रस-ध्वनि-काव्य का हो सकता है। मम्मट-निर्दिष्ट 'षट्प्रयोजनी' में सभी प्रकार के काव्यकारों के प्रयोजन निर्दिष्ट हैं जिसका विवेक रसिकता और सहृदयता की एक पहचान है। काव्य से अधिक से अधिक स्वभावतः संबद्ध काव्य का पारमार्थिक प्रयोजन यदि रसास्वाद है जिसमें सरसोपदेश समन्वित है तो काव्य के व्यावहारिक प्रयोजन भी हैं जिन्हें अर्थ-लाभ, व्यवहार-ज्ञान आदि के रूप में स्पष्ट देखा जा सकता है।

मम्मट की यह काव्य-प्रयोजन-समीक्षा बाद के आलङ्कारिकों के मनन-चिन्तन का विषय बनी है। कुछ ने एक आध प्रयोजन का खण्डन भी किया है और कुछ ने दूसरे शब्दों में इन्हीं प्रयोजनों का मण्डन भी किया है। खण्डन-मण्डन की क्रिया तो चलती ही रहती है किन्तु इतना निश्चित है कि मम्मट की समन्वयात्मक दृष्टि का खण्डन नहीं हुआ।

२. मम्मट और काव्य-हेतु-विवेक

आधुनिक काव्यालोचना में किसी कविता का विश्लेषण उसके रचयिता के व्यक्तित्व का विश्लेषण माना जाता है। संस्कृत की प्राचीन काव्यालोचना भी, जिसे हम 'अलङ्कारशास्त्र' के रूप में देखते हैं, किसी काव्य का रहस्य उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व में देखती रही है। किन्तु इन दोनों में, इस सम्बन्ध में, एक महान् भेद है और वह यह है कि जब कि आधुनिक काव्यालोचना कवि के बहिर्मुख व्यक्तित्व को देखना चाहती है, तब संस्कृत का अलङ्कारशास्त्र कवि के अन्तर्मुख व्यक्तित्व का अनुसन्धान करना चाहता है। अलङ्कारशास्त्र में जिसे 'काव्य-हेतु-विवेक' कहा करते हैं वह कवि के काव्यमय व्यक्तित्व का एक विश्लेषण है। अलङ्कारशास्त्र कवि के सामाजिक व्यक्तित्व में कविता की उत्पत्ति का रहस्य नहीं ढूंढ़ता, अपि तु कवि के आत्मिक अन्तस्तत्त्व में ही कविता का उद्भव खोजा करता है।

प्राचीन आलङ्कारिकों की यही मर्यादा रही है कि वे काव्य को इस सृष्टि का रसमय प्रतिरूप मानते रहे हैं और कवि को रसमय काव्य-जगत् का स्रष्टा। जैसे स्रष्टा और सृष्टि में शक्तिमान् और शक्ति-प्रचय की दृष्टि से अभेद ही रहा करता है वैसे ही कवि और काव्य में भी। यह तो वैदिक ऋषियों की ही तत्त्व-दृष्टि रही है कि वे इस सृष्टि को ही 'काव्य' और इसके रचयिता को 'कवि' मानते रहे हैं। वैदिक युग की यही मान्यता काव्य-साहित्य के युग में भी अवतीर्ण हुई है और इसके अनुसार 'काव्य' को 'सृष्टि' और कवि को 'स्रष्टा' माना गया है। भारतीय दर्शन में सृष्टि और स्रष्टा के बीच कार्य-कारणभाव का जो भी सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम विवेक होता आया है वही अलङ्कारशास्त्र में काव्य और कवि के पारस्परिक सम्बन्ध में भी प्रतिफलित होता रहा है।

सब से प्राचीन आलङ्कारिक भामह (६ ठी शताब्दी) ने कविता के उद्भव में कवि के व्यक्तित्व का जो रहस्य देखा है वह यह है:—

'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः । शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥' (काव्यालङ्कार १. ५)

अर्थात् जो लोग ऐसे हो चुके हैं, जिनकी रचना 'काव्य' है, वे विरले ही लोग हैं, क्योंकि काव्य एक ऐसी वस्तु है जो सर्वदा नहीं बना करती, अपि तु कदाचित् ही प्रादुर्भूत हुआ करती है और सभी शब्दार्थरचनाकार काव्य रचना नहीं किया करते अपि तु वही काव्य-रचना कर पाता है जिस में 'प्रतिभा' हुआ करती है । जिसे वस्तुतः सर्वतोभावेन 'काव्य' कहते हैं वह तो एक विशेष प्रकार की कवि-शक्ति-'कवि-प्रतिभा'-का ही उन्मेष है । यह कवि-प्रतिभा सर्वत्र नहीं पायी जाती किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि लोग काव्य-क्रिया के प्रति निराश हो जांय । काव्य-क्रिया के प्रति तो सब को प्रयत्नशील होना चाहिये और इस प्रयत्नशीलता का अभिप्राय है—शब्द-स्वरूप और अर्थ-स्वरूप का पूर्ण परिचय, शब्दार्थतत्त्व-वैज्ञानिकों का सान्निध्य-लाभ और कवि-कृतियों का अवलोकन किंवा अनुसन्धान ।

भामह के इस काव्य-हेतु-विवेक में भी 'काव्य' की उत्पत्ति 'प्रतिभा' में ही छिपी-लिपटी दिखायी देती है । यही बात आचार्य दण्डी के सम्बन्ध में भी प्रतीत होती है क्योंकि उनका भी यही कथन है:—

'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम् । असन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥'
(काव्यादर्श १. १०३)

जिसका अभिप्राय यह है कि 'काव्य' की श्री-समृद्धि कवि की स्वाभाविक कवि-प्रतिभा पर ही एकमात्र निर्भर है और इसके साथ-साथ निर्भर है कवि की व्युत्पत्ति पर और उसके अमन्द अभियोग अथवा सतत काव्य-क्रिया-विषयक अभ्यास पर ।

भामह के अनुसार तो 'काव्य' और 'कवि-प्रतिभा' में एकप्रकार का कार्यकारणभाव स्पष्ट प्रतीत होता है किन्तु दण्डी के अनुसार काव्य के हेतु-तत्त्वों में 'प्रतिभा' के साथ-साथ 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' का भी स्थान है । यद्यपि भामह ने भी 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' का निर्देश किया है किन्तु भामह का यह निर्देश एक और अभिप्राय रखता-सा लग रहा है और वह अभिप्राय है सम-सामयिक रचनाकारों में काव्य-रचना की दृष्टि से एक विशेष प्रकार की व्युत्पत्ति के आधान और काव्य-क्रिया के प्रति उद्योगशीलता का अभिप्राय । संभवतः भामह की दृष्टि में प्राचीन महाकवियों की रचनायें ऐसी अलौकिक वस्तुयें हैं जिन्हें प्रतिभा-प्रसूत भले ही कहा जाय, व्युत्पत्ति-सिद्ध और अभ्यास-निष्पन्न तो कहा ही नहीं जा सकता । आचार्य दण्डी की बात दूसरी है । उनके अनुसार प्राचीन महाकवियों की कृतियों में भी व्युत्पत्ति और अभ्यास की कारणता अक्षुण्ण रहनी चाहिये ।

काव्य-सृष्टि के प्रति भामह की रहस्य-भावना और दण्डी की विश्लेषण-दृष्टि का अपना-अपना अर्थ है । भामह पर यदि भारतीय दर्शन की आदर्श-भावना का प्रभाव है तो दण्डी पर यथार्थ-भावना का । आलङ्कारिकों का एक प्रबल दल यदि भामह का पक्षपाती है तो दूसरा दण्डी का । जब 'प्रतिभा' काव्य की जननी है तब काव्य का रहस्य स्व-संवेदन-सिद्ध भले ही हो, सर्वथा विश्लेषण-गम्य नहीं हो सकता । व्युत्पत्ति और अभ्यास तो 'प्रतिभा' के प्रवाह में बहा करते हैं । वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की कृतियां; चाहे उनका कितना भी व्युत्पत्ति-सम्बन्धी अथवा अभ्यास-सम्बन्धी अनुसन्धान किया जाय, अन्ततोगत्वा विश्लेषण से बाहर निकल जाती हैं और अपनी सुन्दरता में सदा एकरस विराजती रहती हैं । इन कवियों की रचनाओं को एक दृष्टि से

साक्षात् कविता-सरस्वती का अवतार माना जाता है और दूसरी दृष्टि से कवि-प्रतिभा का उन्मेष अथवा स्वच्छन्द प्रकाश। भामह की '**काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः**'—यह मान्यता ही ध्वनि-तत्त्वदर्शी आनन्दवर्द्धनाचार्य की इस दृष्टि अर्थात् :—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥ (ध्वन्यालोक १.६)

में झलक रही है। जैसे ध्वनि-दर्शी आचार्य की दृष्टि में व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा कवि-प्रतिभा का प्रसार नहीं हुआ करता अपि तु यदि कवि-प्रतिभा है—और कवि-प्रतिभा क्या है? कवि-प्रतिभा है एक अलोक सामान्य, एक असाधारण, प्रतिभाविशेष—तो 'काव्य' स्वयं अभिव्यक्त हुआ करता है वैसे ही सर्वप्रथम अलङ्कार-वादी आचार्य (भामह) की दृष्टि में भी, व्युत्पत्ति और अभ्यास के वल पर, काव्य-रचना में, सहृदय-मात्र की प्रवृत्ति भले ही किसी हद तक सार्थक हुआ करे किन्तु जिसे वस्तुतः 'काव्य' कहते हैं वह तो प्रतिभा-संभूत ही पदार्थ है। यद्यपि आचार्य भामह ने यह स्पष्ट नहीं किया कि 'प्रतिभा' और 'काव्य' तथा 'काव्य' और 'व्युत्पत्ति किंवा 'अभ्यास' में क्या तारतम्य है किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि उन्होंने 'प्रतिभा-रहस्य' में ही 'काव्य' का रहस्य देखा-दिखाया। सम्भवतः भामह की यही भावना ध्वनिकार के हृदय में 'काव्य-विशेष' और 'प्रतिभा-विशेष' में एक प्रकार के कार्य-कारणभावरूप सम्बन्ध की धारणा वन कर अवतरित होती है।

आचार्य दण्डी का काव्य-हेतु-वाद एक प्रकार से भामह के काव्य-हेतु-वाद का प्रतिपक्ष है। आचार्य दण्डी के अनुसार 'नैसर्गिकी प्रतिभा' के साथ-साथ 'निर्मल श्रुत' (बहुज्ञता-व्युत्पत्ति) और 'अमन्य अभियोग' (सतत अभ्यास) की संभूयकारणता इस वात का प्रमाण है कि महाकवि भी केवल प्रतिभा-प्रेरित होकर ही काव्य नहीं रचा करते होंगे किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास के वल पर ही उनकी रचना 'काव्य' रूप में निखरा करती है।

दोनों आचार्यों के पक्ष अपनी-अपनी दृष्टि से प्रवल हैं भामह के पक्ष में यदि काव्य कवि-हृदय के प्रतिभा-प्रकाशन के रूप में उत्पन्न होता है तो दण्डी के पक्ष में वह प्रतिभा-सम्पन्न कवि की व्युत्पन्नता और उसके रचनाभिनिवेश के वल पर वना करता है। दोनों का मत दोनों की काव्य-सम्बन्धी धारणाओं पर आश्रित है। भामह की दृष्टि में कवि-प्रतिभा ही काव्य को शब्दार्थ-साहित्य-रूप' वना सकती है जैसा कि उसे होना चाहिये किन्तु '**इष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावली**' रूप काव्य विना व्युत्पन्नता और अभ्यास के साहाय्य के नहीं वन सकता।

बाद के आलङ्कारिक या तो भामह की परम्परा का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं या दण्डी की परम्परा का। भामह की काव्य-मर्यादा यदि ध्वनिवाद अथवा वक्रोक्ति-वाद के अनुकूल है तो दण्डी की काव्य-मर्यादा अलङ्कार-वाद अथवा रीति-वाद के अनुकूल है। दण्डी की काव्य-मर्यादा एक ओर तो आचार्य वामन (८ वीं-शताब्दी) ने सुरक्षित रखी है और दूसरी ओर आचार्य रुद्रट (८ वीं ९ वीं शताब्दी) ने। आचार्य वामन ने काव्य के हेतु-तत्त्व का इस प्रकार निरूपण किया है:—

'लोको विद्या प्रकीर्णञ्चेति काव्याङ्गानि'। लोकवृत्तं लोकः।
शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्र दण्डनीतिपूर्वा विद्याः'·····

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् ।'

(काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १.३.१-११)

जिसका अभिप्राय यह है कि लोकानुभव किं वा लोकनिरीक्षण, व्युत्पत्ति और लक्ष्यज्ञत्व (काव्यानुशीलन)-काव्यरचनाभ्यास-काव्यज्ञसेवा-अवेक्षण (पद-योजना-कौशल)-प्रतिभान और अवधान की साधन-सामग्री यदि हो तो काव्य की सिद्धि सम्भव है। यहां यह स्पष्ट है कि प्रतिभान अथवा प्रतिभा को कवित्व का बीज (**कवित्वबीजं प्रतिभानम् । कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम् । जन्मान्तरगतसंस्कारविशेषः कश्चित् । यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्**—काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १.३-१६) मान कर भी काव्य के उद्भव में कारण-चक्र की कल्पना की हुई है। यही बात आचार्य रुद्रट के मत में भी है क्योंकि उनके अनुसार शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति और अभ्यास का त्रैत ही काव्य-क्रिया का हेतुतत्त्व है—

'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ।' (रुद्रट-काव्यालङ्कार १.१४)

ध्वनि-वाद के आचार्य तो भामह की **'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः'** की दिव्य-धारणा से मुग्ध हैं। आचार्य आनन्दवर्द्धन की यह उक्ति:—

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः । यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झगित्यवभासते ॥'

(ध्वन्यालोक पृष्ठ ३१६ चौखम्बा)

एक मात्र इसी बात का संकेत करती है कि काव्य का रहस्य कवि की प्रतिभा का रहस्य है न कि कवि की व्युत्पन्नता और अभ्यासशीलता का। आचार्य अनुभवगुप्त के काव्य-विद्या-गुरु श्री भट्टतौत ने इसीलिये कवि को ऋषि कहा है क्योंकि उसमें 'प्रतिभा' रहा करती है जिसका उन्मेष 'वर्णना' में हुआ करता है:—

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता । तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः ॥'

(काव्यकौतुक-माणिक्यचन्द्र कृत काव्यप्रकाशसङ्केत-उद्धरण)

'प्रतिभा' के द्वारा 'वर्णना' का अनुप्राणन काव्य का उद्भव-हेतु है—यह भट्टतौत-मत वस्तुतः इस बात की ओर लक्ष्य करता है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के होने पर ही काव्य-क्रिया में सहायक हो सकते हैं अन्यथा नहीं। आचार्य अभिनवगुप्त का इसीलिये यह स्पष्ट कथन है:—

'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा; तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्य-निर्माणक्षमत्वम् ।' (ध्वन्यालोकलोचन १.६)

जिसका यही तात्पर्य है कि 'काव्य' की जननी 'प्रतिभा' है अलङ्कार अथवा रीति अथवा वक्रोक्ति आदि का जन्म भले ही व्युत्पत्ति और अभ्यासशीलता से हुआ करे।

आचार्य मम्मट का काव्य-हेतु-विवेक ध्वनिवाद की इसी काव्य-मर्यादा का अनुसरण करता है। किन्तु आचार्य मम्मट ने प्राचीन अलंकारवादी अलङ्कारिकों की काव्य-मर्यादा का भी अपने मत में सामञ्जस्य स्थापित किया है। आचार्य मम्मट के अनुसार 'काव्य-हेतु' यह है:—

'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् । काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

(काव्यप्रकाश १.३)

जिससे यह स्पष्ट है कि काव्य के उद्भव में न तो केवल 'शक्ति' का हाथ है, न केवल 'निपुणता' का और न केवल 'अभ्यास' का, अपि तु शक्ति-निपुणता-अभ्यास के अङ्गाङ्गिभावरूप से अथवा उपकार्योपकारकभाव रूप से परस्पर सामञ्जस्य का।

आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम 'शक्ति' को काव्य-हेतु-तत्त्व में स्थान दिया है। यह 'शक्ति' क्या है ? ध्वनिवादी काव्याचार्य 'प्रतिभा' और 'शक्ति' को एक तत्त्व माना करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त-दोनों ने 'प्रतिभा' और 'शक्ति' में एकरूपता का दर्शन किया है। आनन्दवर्धनाचार्य की **'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः'** आदि उक्ति की व्याख्या में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'शक्ति' को स्पष्टतया 'प्रतिभा'-स्वरूप स्वीकार किया है—**'शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्**-(ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ३१७)'। आचार्य मम्मट के द्वारा 'प्रतिभा' के बदले 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है और इसका भी एक कारण है। मम्मट के पूर्ववर्ती ध्वनि-समर्थक आलङ्कारिक जैसे कि कविराज राजशेखर आदि 'शक्ति' और 'प्रतिभा' में परस्पर तत्त्व-भेद मानने लगे थे। कविराज राजशेखर की यह उक्ति:—

'सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते।'

(काव्यमीमांसा ४)

स्पष्टतया 'शक्ति' और 'प्रतिभा' में भिन्नरूपता प्रमाणित करती प्रतीत होती है। मम्मट की दृष्टि से 'शक्ति' और 'प्रतिभा' का यह विवेक एक निरर्थक मानसिक व्यायाम सा लगा। इस झगड़े से छुटकारा पाने के लिये मम्मट ने 'शक्ति' को ही काव्य-हेतु-तत्त्व के रूप में स्वीकार किया और 'प्रतिभा' का समस्त व्यापार 'शक्ति' का ही स्वातन्त्र्य माना।

मम्मट की धारणा में 'शक्ति' कवित्व का बीजभूत एक संस्कार विशेष है जिसके बिना काव्य-रचना नहीं हो सकती और यदि हठात् कोई काव्य रच भी ले तो वह काव्य नहीं अपि तु काव्याभास ही रह जायगा—**'शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः। यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।'** मम्मट की यह 'शक्ति'-परिभाषा आपाततः तो आचार्य वामन की इस 'शक्ति'-परिभाषा अर्थात्—**'कवित्वबीजं प्रतिभानम्'**......' (पृ० ११ देखें) का अनुकरण करती प्रतीत होती है किन्तु बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। अलङ्कार-वादी अथवा रीति-वादी आलङ्कारिक 'शक्ति' को कवित्व-बीज तो अवश्य मानते हैं किन्तु इस 'कवित्व-बीज' के रहस्य में 'काव्य' की उत्पत्ति का जो रहस्य देखते हैं वह 'समाहित मन में अभिधान (शब्द) और अभिधेय (अर्थ) का अनेकधा स्फुरण' मात्र ही है जैसा कि आचार्य रुद्रट ने स्पष्ट कहा है:—

'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥' (काव्यालङ्कार १.१५)

यह तो ध्वनि-वादी आचार्यों की तत्त्व-दृष्टि है जो कवित्व-बीज-रूप शक्ति अथवा 'प्रतिभा' को 'समाहित कवि-हृदय में शब्द और अर्थ का स्फुरण-स्पन्दन' नहीं अपि तु 'वर्णनीय-वस्तु-विषयक नवनवोल्लेख' माना करती है। आचार्य अभिनवगुप्त का तभी तो यह कथन है:—
'प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा'......' (पृ० ११ देखें) जिसका वास्तविक रहस्य उनकी इस स्मरणीयसूक्ति में झलक रहा है:—

'अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात् सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसर सुभगं भासयति तत् सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात्॥'

(ध्वन्यालोक लोचन-आरम्भ मङ्गल)

जिसका तात्पर्य यही है कि कवित्वबीजरूप 'शक्ति' अथवा प्रतिभा शब्द और अर्थ का समाहित चित्त से दर्शन तो बाद में है, पहले तो वह साक्षात् 'सरस्वती-तत्त्व' है, जिसे 'कवि-सहृदय-तत्त्व' कह सकते हैं, जिसमें वर्णनीय-वस्तु-विषयक नवनवोन्मेष के साथ साथ रसात्मक सृष्टि करने का सामर्थ्य सञ्चित रहा करता है और जिसमें 'कारयित्री' और 'भावयित्री' का व्यावहारिक भेद अन्ततोगत्वा एक पारमार्थिक अभेद में समा जाया करता है।

अलङ्कार-वादी और रीति-वादी काव्याचार्यों की 'प्रतिभा' अन्ततोगत्वा एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व है किन्तु ध्वनि-वादी आचार्यों की 'प्रतिभा' में आध्यात्मिक तत्त्व-रहस्य झलक रहा है। ध्वनि-दार्शनिक आचार्य कवित्वबीजरूप 'प्रतिभा' के विश्लेषण में उस गहराई तक पहुंच जाते हैं जहां 'कवि' और 'प्रजापति परमेष्ठी' एक रूप दिखायी दिया करते हैं और कवि और उसकी शक्ति उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार प्रजापति और उसकी शक्ति एकरस है—**शक्तिशक्तिमतोरभेदः।** प्रजापति की 'शक्ति' क्या है ? प्रजापति की 'शक्ति' है—परासंवित्। 'परासंवित्' अथवा 'चिति शक्ति' और प्रजापति वस्तुतः एक अद्वय तत्त्व हैं। विश्लेषणात्मक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि 'परा संवित्' परमात्मतत्त्व रूप प्रजापति के आत्म-प्रकाशन का सामर्थ्य है। इसी को 'स्वरूप-ज्योतिरेवान्तः' कहा गया है। यही 'ईश्वरता', 'कर्तृता', 'स्वतन्त्रता', 'चित्स्वरूपता', 'अहन्ता' और एक शब्द में 'प्रकाश' की 'आत्म विश्रान्ति' है।

ध्वनि-वाद-सम्मत 'प्रतिभा'-रहस्य में इस प्रकार जहां 'कवि-तत्त्व' अथवा 'कवि-सहृदयाख्य' सरस्वतीतत्त्व का शैवागम-सिद्ध आध्यात्मिक रहस्य छिपा है वहां साथ ही साथ इसमें शब्द-दर्शन और मनोदर्शन की वैज्ञानिक-दार्शनिक प्रतिभा-सम्बन्धी मान्यतायें भी अनुस्यूत हैं। शब्द-दर्शन के अनुसार 'प्रतिभा' को 'भगवती विद्या विशुद्धप्रज्ञा' कहा गया है और 'पश्यन्ती' रूप वाणी-तत्त्व से अभिन्न माना गया है। महाभाष्य के व्याख्या-विशारद श्री पुण्यराज ने स्पष्ट कहा है—**'पश्यन्त्याख्या प्रतिभा'।** यह 'प्रतिभा' ही आत्म-चन्द्र की अमृत कला है। महाकवि भवभूति की **'वन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।'** आदि की भावना वस्तुतः 'प्रतिभा'-तत्त्व की ही भावना है जो कि 'वाणी'-तत्त्व-'पश्यन्ती' से एकरूप-एकरस है। भारतीय मनोदर्शन के अनुसार 'प्रतिभा' एक विशेष प्रकार की मनःशक्ति है जिसे 'दिव्यचक्षु', 'दिव्यदृष्टि' 'आर्षज्ञान' आदि आदि नाम-रूपों में पहचाना जाता है और जो कि देश-कालादि की सीमाओं से उत्तीर्ण एक लोकोत्तर अनुभूति है। ध्वनि-वादी काव्याचार्य 'प्रतिभा' के पारमार्थिक स्वरूप में तो 'विमर्श'-तत्त्व का ही स्वरूप-चिन्तन करते हैं किन्तु शब्द-दर्शन और मनोदर्शन की 'पश्यन्ती' और 'दिव्य-दृष्टि' की मान्यता भी उन्हें सर्वथा विरुद्ध नहीं प्रतीत होती।

'प्रतिभा' कवि की दिव्य-दृष्टि है और साथ ही साथ है कवि-भारती की वह आत्माभिव्यञ्जन शक्ति जो इस नीरस पार्थिव जगत् को सरस काव्य-जगत् के रूप में प्रकट किया करती है।

आचार्य मम्मट ने इसी 'प्रतिभा' की स्तुति में कहा है:—

'नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥' (काव्यप्रकाश-मङ्गल श्लोक)

सूक्ष्मदृष्टि से 'प्रतिभा' का रहस्य तो यह रहा, जिसे ध्वनिवादी काव्याचार्यों की परम्परा का अनुसरण करते आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम काव्य-हेतु-तत्त्व माना है। 'प्रतिभा' के व्यापार के

सम्बन्ध में मम्मट ने जो यह सूक्ष्म संकेत किया है कि 'प्रतिभा' के होने से ही 'काव्य' का निर्माण संभव है (**'यां विना काव्यं न प्रसरेत्'** काव्यप्रकाश १. ३ वृत्ति) उसमें एक ओर तो आचार्य आनन्दवर्धन की :—

'भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।

व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥ (ध्वन्यालोक पृष्ठ ४९८)

इस प्रतिभा-भावना की छाप पड़ी है और दूसरी ओर पड़ी है कविराज राजशेखर की :—

'या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव। प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव ।'

(काव्यमीमांसा-अध्याय ४)

इस प्रतिभा-मीमांसा की छाप। मम्मट की दृष्टि में काव्य है 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि-कर्म' और ऐसा यह तभी हो सकता है जब कि इसका कर्त्ता 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण' हो। यह 'लोकोत्तर-वर्णना' क्या है ? यह है कवि-प्रतिभा अथवा कवित्व-शक्ति। इसी का स्वरूप-चिन्तन अभिनवगुप्त-पादाचार्य के काव्यविद्यागुरु आचार्य भट्टतौत की इस सूक्ति में हुआ है :—

'नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात् । विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः । दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः ॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः । नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ॥'

(हेमचन्द्रः काव्यानुशासन-उद्धरण)

जिसका अभिप्राय यह है कि जो 'कवि' है वह 'ऋषि' है । 'कवि' को 'ऋषि' इसीलिये कहा जाता है कि वह 'द्रष्टा' हुआ करता है । कवि के 'द्रष्टा' होने का जो तात्पर्य है वह है उसमें एक ऐसी 'प्रख्या', ऐसी 'प्रतिभा', ऐसी 'प्रज्ञा' के होने का जो समस्त जीवन-तत्त्व का साक्षात्कार कर सकती है। ऋषि तो तत्त्व-दर्शन की शक्ति के कारण ऋषि है और कवि ऋषि होकर भी इसलिये कवि है क्यों कि उसकी 'प्रख्या' अथवा 'प्रतिभा' नवनवोन्मेषसुन्दर सरस वस्तु-निर्माण में अभिव्यक्त हुआ करती है।

ध्वनि-वादी आचार्यों के 'प्रतिभा'-दर्शन में और मम्मट ध्वनि-वाद के परमाचार्यों में से हैं-प्रतिभा-सम्बन्धी वे सभी बातें अन्तर्भूत हैं जिन्हें आधुनिक काव्य-तत्त्व-मीमांसक निरूपित किया करते हैं। 'प्रतिभा' एक 'उन्मेष' और 'उल्लेख' भी है तथा साथ ही साथ 'दर्शन' और 'वर्णन' भी है। काव्य में रस-ध्वनि-तत्त्व के द्रष्टा आचार्यों की 'प्रतिभा'-सम्बन्धी धारणा अपने आप में इतनी पूर्ण है कि पाश्चात्य काव्यालोचकों की 'कवि-कल्पना'-(Poetic Imagination) सम्बन्धी सभी विश्लेषण-दृष्टियां इसमें समा जाती हैं और तब भी इसके लिये यही कहा जा सकता है कि यह इन सब कल्पनाओं से परे किन्तु इन सब कल्पनाओं-का अक्षयस्रोत है। आधुनिक काव्याचार्यों जैसे कि आर. ए. रिचर्ड्स आदि ने जहां काव्यात्मक कल्पना के 'रूप-षट्क' का विश्लेषण कर इसे परिच्छिन्न मान लिया है वहां प्राचीन ध्वनिवादी आचार्य इसकी अनन्तरूपता का चिन्तन और उपासन करते हैं :—

'वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित् । इष्यते प्रतिभाऽर्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम् ॥'

(ध्वयालोक, उद्योत ४)

यह तो हुआ काव्य-हेतु-तत्त्व के मूलभूत प्रतिभा-तत्त्व का विचार । इस प्रतिभा-तत्त्व का

ही स्पन्दभूत वह काव्य-हेतु-तत्त्व है जिसे आचार्य मम्मट ने 'व्युत्पत्ति' कहा है । अलङ्कारवादी किंवा रीतिवादी आचार्य भी शक्ति के बाद व्युत्पत्ति को काव्यकरण-कारण मानते रहे हैं किन्तु उनकी दृष्टि में 'व्युत्पत्ति' प्रतिभा को चमकाने वाली एक वस्तु मानी गयी है । रीतिवादी आचार्य वामन (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १. ३. ३. १०) ने 'विद्या' को, जो कि 'व्युत्पत्ति' का ही नामान्तर है, काव्याङ्ग मानते हुये स्पष्ट कहा है:—

'शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः।'
'शब्दस्मृत्यादीनां तत्पूर्वकत्वं पूर्वं काव्यबन्धेष्वपेक्षणीयत्वात्।'

'शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिः।' 'कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् ॥'
'अभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः।' 'कामशास्त्रतः कामोपचारस्य।'
'छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः।' 'दण्डनीतेर्नयापनययोः।'

जिसका अभिप्राय यही है कि कवियों को काव्य-रचना में प्रवृत्त होने के पहले स्थावरजंगमात्मक लोक के व्यवहार-वेदन के साथ-साथ समस्त काव्योपयोगी विद्याओं के परिज्ञान की आवश्यकता है क्योंकि विना इसके काव्य-निर्माण दुष्कर ही नहीं अपि तु असंभव भी है। 'प्रतिभा' तो काव्य के 'प्रकीर्ण' रूप अङ्गों में एक अङ्ग है । लोक किं वा शब्दादि-विषयक व्युत्पत्ति होने के साथ-साथ यदि प्रतिभान (प्रतिभा), अवधान आदि भी हों तो काव्य-रचना होती चली जायगी । यहां यह स्पष्ट है कि 'लोकवेदन' और 'विद्यापरिज्ञान' प्रतिभा से स्वतन्त्र सत्ता रखते हुये प्रतिभा के उपकारक बताये गये हैं । यही बात अलङ्कारवादी आचार्य रुद्रट की व्युत्पत्ति-सम्बन्धी मान्यता में दिखायी देती है। रुद्रट का अभिमत यहां यह है:—

'छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥ (काव्यालङ्कार १. १८)

रुद्रट ने वामन के 'लोकवृत्तवेदन', 'विद्यापरिज्ञान' किंवा लक्ष्यज्ञान—वृद्धसेवन-अवेक्षण-अवधान आदि को 'व्युत्पत्ति' में समन्वित कर इतना तो अवश्य किया है कि काव्य-कारणता में 'शक्ति' और 'व्युत्पत्ति' की प्रतिष्ठा कर दी है किन्तु यहां शक्ति और व्युत्पत्ति में सामञ्जस्य की स्थापना नहीं अपि तु स्पर्द्धा की भावना प्रतीत हो रही है। शक्ति और व्युत्पत्ति में सामञ्जस्य तो ध्वनिवाद की दृष्टि ने ही देखा है क्योंकि तभी तो आचार्य अभिनवगुप्त का यह कथन है:—

'शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्।
व्युत्पत्तिस्तदुपयोगिसमस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम् ॥'

(ध्वन्यालोकलोचन-३य उद्योत)

जिससे यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि वह 'व्युत्पत्ति' काव्य-कारण नहीं जिसमें 'प्रतिभा' की अभिव्यञ्जना न होती हो अथवा जो 'प्रतिभा' के परिस्फुरण का साधन न बन सके।

प्राचीन आलङ्कारिकों की 'व्युत्पत्ति' विषयक धारणा 'बहुज्ञता' से सम्बद्ध थी, किन्तु ध्वनि-वादी आलङ्कारिकों ने 'व्युत्पत्ति' का रहस्य 'प्रतिभा' के उन्मेष का परिणाम माना। आनन्दवर्धनाचार्य का यह निर्णय कि:—

'न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः।' (ध्वन्यालोक ४. ६)

अर्थात् 'यदि प्रतिभा हो तो काव्य के अर्थ-तत्त्वों का अन्त नहीं' इसी बात का निर्णय है कि

कवि की प्रतिभा ही काव्यरूप में अवतीर्ण होकर उसकी व्युत्पत्ति के रूप में सहस्रधा प्रतिफलित पायी जाती है । नाट्यशास्त्र की यह मर्यादा कि:—

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते ॥' (२१. १२२)

अर्थात् 'कोई भी ज्ञान, कोई भी शिल्प, कोई भी विद्या, कोई भी कला, कोई भी कर्म और कोई भी योग ऐसा नहीं जो नाटक में न समा जाय' इसी बात का पुष्टीकरण है कि कवि की प्रातिभ-दृष्टि से देखे जाने पर समस्त विश्व काव्य-नाट्य में प्रतिबिम्बित हुआ करता है ।

आचार्य मम्मट ने व्युत्पत्ति को लोक, शास्त्र और काव्यादि के अवेक्षण से संभूत 'निपुणता' माना है । कवि की यह निपुणता उसकी काव्य-कृति में झलका करती है । मम्मट के अनुसार जब काव्य 'लोकोत्तरवर्णनानिपुणकवि-कर्म' है क्योंकि काव्य में न तो शब्द का प्राधान्य है और न अर्थ का, किन्तु उसका, जिसे 'रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणता' कहा जाता है, तब तो यह स्वयं सिद्ध है कि व्युत्पत्ति अथवा निपुणता की पहचान 'लोकोत्तरवर्णना' है न कि शास्त्रादि-पाण्डित्य-प्रदर्शन । व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा का ही निष्यन्द माना है:—

'रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः । क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते । येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥
(व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १०८)

अर्थात् 'कवि की प्रतिभा शिव का तृतीय नेत्र है जिसकी शक्ति सर्वत्र अप्रतिहतप्रसर है क्योंकि जीवन की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो इसका विषय न बन जाय ।'

कवि की 'व्युत्पत्ति' वस्तुतः कवि-प्रतिभा की देन है—यह धारणा पाश्चात्य कवियों और काव्य-विमर्शकों में भी काव्य के प्रति एक नयी चेतना उत्पन्न करती रही है । यहां महाकवि वड्र्सवर्थ (Wordsworth) की यह उक्ति कि:—

'Poetry is the breath and finer spirit of all knowledge' अर्थात् 'जिसे कविता कहते हैं उसमें मानव के समस्त ज्ञान-विज्ञान का सार-तत्त्व और सुन्दर रहस्य अन्तर्निहित रहा करते हैं', जहां कविता के स्वरूप का स्पर्श कर रही है वहां कविता में 'व्युत्पत्ति' के रहस्य का भी प्रकाशन करती प्रतीत हो रही है ।

काव्य के हेतु-तत्त्व में 'अभ्यास' का भी स्थान है । प्राचीन आलङ्कारिकों ने 'अभ्यास' को काव्य-हेतु-तत्त्व में स्थान देकर इस बात को प्रकट किया है कि कवि के लिये अपनी कला और उसके अङ्ग और उपाङ्गों का व्यावहारिक ज्ञान और उपयोग नितान्त आवश्यक है । आलङ्कारिकों के पूर्वाचार्य भामह की यह उक्ति:—

'शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥' (काव्यालङ्कार १. १०)

काव्यकृतियों की रचना में कविजन की अभ्यास-दशा का निरूपण कर रही है । आचार्य वामन ने 'अभ्यास' का ही 'अभियोग-वृद्धसेवा-अवेक्षण' के रूप में विश्लेषण किया है । काव्यबन्ध में उद्यम जब तक न हो तब तक काव्य-रचना नहीं हो सकती; काव्य विषय के आचार्यों का सान्निध्य जब तक न मिले तब तक काव्य-विद्या की हृदय में संक्रान्ति असंभव है और जब तक

पदों के आधान और उद्धरण-न्यास और अपन्यास-में पर्याप्त अवेक्षण का सामर्थ्य न हो तब तक काव्य-कृति संभव नहीं। विना उद्यम के, विना अभियोग के, विना अभ्यास के 'शब्दपाक' अथवा 'निष्कम्प शब्दनिवेश' जो कि अन्य समस्त साहित्य-भेदों से काव्य का परिच्छेदक धर्म है, क्योंकर संभव हो ? वामन ने 'अभ्यास का इसी लिये ऐसा निरूपण किया है :—

'आधानोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मनः। पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्। तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥'

(काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १.३)

अर्थात् 'कविजन के लिये 'शब्द-पाक' का अभ्यास आवश्यक है क्योंकि विना इसके कौन ऐसा कवि है जो अपने सामाजिकों को 'काव्य-प्रसाद' बांट सके ?, किन्तु ध्वनि-दार्शनिक आलङ्कारिक काव्य के उद्भव में 'अभ्यास' को कोई स्थान नहीं दिया करते। आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार व्युत्पत्ति और अभ्यास कवि-प्रतिभा के ही स्पन्दभूत हैं। काव्य-रचना का अभ्यास क्या ? अभ्यास तो शब्दार्थ-रचना का हुआ करता है और जिसे 'काव्य' कहते हैं वह शब्दार्थ-रचना नहीं। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की कविताओं में प्रतिभा का हाथ है न कि अभ्यास का। अभ्यास से तो 'कतिपय पदों का हठात् आकर्षणमात्र' सम्भव है न कि काव्य-निर्माण। जिसे काव्य की 'बन्धच्छाया'-'रचना सौन्दर्य' कहते हैं उसके लिये भी 'प्रतिभान' की ही आवश्यकता है न कि 'अभ्यास' की :—

'बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशोऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते? अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि सत्यर्थनिरपेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्त्तेत।' (ध्वन्यालोक' ४.६)

ध्वनिवाद के परम समर्थक आचार्य मम्मट ने काव्यरचना में 'अभ्यास' को जो स्थान दिया है उसका अभिप्राय ध्वनि-दर्शन के प्रवर्त्तक आनन्दवर्धन का खण्डन नहीं, अपि तु एकप्रकार से मण्डन है। मम्मट के अनुसार 'अभ्यास' है **'(काव्यस्य) करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिः'** अर्थात् 'काव्य की रचना किंवा काव्य की भावना में कविजन किंवा रसिक जन की सतत उद्योग-शीलता। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की काव्यकृतियों का जब तक रस-पान नहीं किया जाय, उनकी 'बन्धच्छाया' की विशेषताओं का जब तक अपनी अपनी पद-रचना में आधान करने में उत्सुकता न दिखायी जाय, काव्य-कला के उपकरणों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान का जब तक सम्पादन न किया जाय, तब तक काव्य-संसार में 'नवीन सर्ग' का प्रदर्शन क्यों कर हो पाय ! प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास के 'संवलित त्रितय' की काव्य-सृष्टि में वही आवश्यकता है जो जगत्-सृष्टि में सत्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था-प्रकृति अथवा शाङ्करी माया की आवश्यकता है। सिद्धसारस्वत कविजन की कृतियों में 'अभ्यास' की दशा का दर्शन नहीं हो सकता—इसलिये सभी काव्यकलाकार काव्य-रचना का अभ्यास न करें, यह ध्वनि-दर्शन की धारणा नहीं। ध्वनि-काव्य और गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का विवेक भी कविजन के लिये काव्यरचना का एक अभ्यास है। 'काव्य-संवाद' अथवा काव्यकृतियों में परस्पर भाव-साम्य, रचना-साम्य आदि का परिज्ञान भी कविजन का काव्य-कला का अभ्यास है। वाच्यवाचकप्रपञ्च किं वा व्यङ्ग्यव्यञ्जकप्रचय का विवेक भी कवियों और सहृदयों का

काव्य-रचना किं वा काव्य-भावना का अभ्यास है। कालिदास ने यह अभ्यास किया, भवभूति ने यह अभ्यास किया, न तो कविजन का इस अभ्यास से विमुख होने में कोई उद्देश्य है और न रसिकजन का। ध्वनि-दर्शन के प्रवर्त्तक और प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने कवि में शक्तिरूप से अवस्थित सहृदय-भाव और सहृदय में शक्तिरूप से अवस्थित कवि-भाव का जो सुन्दर निरूपण किया है:—

'रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं (ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वं) लक्षयतां सहृदयानाम्'। (ध्वन्यालोक १. १)

'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः'। (ध्वन्यालोकलोचन १. १)

उसी में यह स्पष्ट है कि ध्वनि-वाद की दृष्टि से काव्य-निर्माण अथवा काव्य-भोग में 'अभ्यास' का भी कुछ हाथ है। ध्वनि-वाद की, काव्य-सृष्टि में एकमात्र कवि-प्रतिभा के संरम्भ की मान्यता से क्रुद्ध होकर कुछ आलङ्कारिकों जैसे कि आचार्य 'मङ्गल' आदि ने केवल 'अभ्यास' को ही काव्य-कारण मान लिया था:—

'अभ्यासः (काव्यकर्मणि परं व्याप्रियते) इति मङ्गलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते।' (काव्यमीमांसा ४)

आचार्य मम्मट ने प्राचीन अलङ्कारशास्त्रियों के इस कोप की शान्ति के लिये ध्वनिवाद की दृष्टि से 'अभ्यास' का स्वरूप-निर्धारण किया और 'अभ्यास' को 'शक्ति' और 'निपुणता' के साथ संवलित काव्य-हेतु सिद्ध कर वही सिद्धान्त स्थापित किया जिसे ध्वनि-दर्शन के प्रवर्त्तक और प्रतिष्ठापक ने संकेतरूप से निरूपित किया था। आचार्य मम्मट की यह काव्य-हेतु-दृष्टि पाश्चात्य काव्य-मर्मज्ञों की भी दृष्टि है:—

'An artist must be a craftsman but a craftsman need not be an artist.'

अर्थात् जो कवि है उसमें अपनी कला की कुशलता तो अवश्य ही हुआ करती है किन्तु जो कवि नहीं है वह कितना भी काव्य-कला-कुशल क्यों न हो, 'काव्य' नहीं रच सकता।

३. मम्मट और काव्य-स्वरूप-निरूपण

मम्मट का काव्य-स्वरूप-निरूपण अलङ्कारशास्त्र की काव्य-विषयक प्राचीन और नवीन धारणाओं और भावनाओं का समञ्जस समन्वय है। मम्मट के पूर्ववर्ती काव्याचार्य जहां अपनी अपनी दृष्टि से काव्य-लक्षण का अन्त करते हैं वहां मम्मट का काव्य-लक्षण प्रारम्भ होता है और मम्मट के जो उत्तरवर्ती आलङ्कारिक हैं वे तो मम्मट-कृत काव्य-लक्षण की आलोचना-प्रत्यालोचना में ही अपने काव्य-लक्षण की रूप-रेखा रचते प्रतीत होते हैं।

भामह और दण्डी प्रभृति काव्याचार्यों ने, जिन्हें अलङ्कार-वाद का प्रवर्त्तक कहा जाता है, काव्य-स्वरूप में 'अलंकृत शब्दार्थयुगल' का दर्शन किया है। 'अलङ्कार' ही काव्य-सर्वस्व है', 'अलङ्कृत शब्दार्थ रचना ही कविकर्म है'—यह अलङ्कारवाद की काव्य सम्बन्धी मान्यता काव्य के कला-पक्ष में ही काव्य का रहस्य ढूंढ़ा करती है। 'काव्य कवि की कृति है और इस कृति में 'शब्दार्थ साहित्य' रूप काव्य उत्पन्न हुआ करता है। शब्द और अर्थ का सहभाव तो नैसर्गिक

सहभाव है ही किन्तु कवि का कार्य इस सामान्य 'शब्दार्थ साहित्य' में, अलङ्कार-योजना के द्वारा, विशेषता का आधान करना है'-इस अलङ्कार-तत्त्व-दर्शन में इतना तो सिद्ध ही है कि शास्त्रादि काव्य नहीं और न इतिहासादि ही काव्य हैं क्योंकि शास्त्रादि में कर्त्तव्याकर्त्तव्यसम्बन्धी विधि-निषेध की दृष्टि से शब्द-प्राधान्य और इतिहासादि में कार्याकार्यविषयक अनुज्ञा-अननुज्ञा की दृष्टि से अर्थ-प्राधान्य स्वाभाविक है । 'अलङ्कार-योजना' कवि-कला है क्योंकि इसी के द्वारा शब्द और अर्थ का ऐसा 'साहित्य' रचा जाया करता है जिसका उद्देश्य विधि-निषेध किं वा अनुज्ञा-अननुज्ञा से सर्वथा परे एकमात्र सौन्दर्य की सृष्टि हुआ करता है ।

प्राचीन आलङ्कारिक आचार्यों का काव्य-स्वरूप के दर्शन का जो दृष्टि-कोण है वह विश्लेषणात्मक है । विश्लेषणात्मक इस दृष्टि से कि इसके अनुसार काव्य 'शब्दार्थ-साहित्य की रचना' में माना जाया करता है अर्थात् काव्य की भाषा अन्य समस्त ज्ञान-विज्ञान के प्रतिपादन की भाषा से एक भिन्न भाषा मानी जाया करती है और इस 'भिन्न भाषा' की जो विशेषता हुआ करती है वह अलङ्कार की-वर्ण-माधुर्य, उक्ति-वक्रता, कल्पना-वैचित्र्य आदि आदि की-विशेषता है ।

अलङ्कार-वाद की इस विश्लेषणात्मक काव्य-समीक्षा की समीक्षा में रीति-वाद का उद्भव हुआ है । रीतिवाद के अनुसार भी काव्य का स्वरूप 'विशिष्ट शब्दार्थ रचना' में ही है किन्तु पदरचना के इस वैशिष्ट्य में अलङ्कारों का हाथ नहीं अपि तु 'अलङ्कार'-'सौन्दर्य' का हाथ माना गया है । रीति-वादी आचार्य वामन का दृष्टिकोण एक दृष्टि से समन्वयात्मक हो गया है क्योंकि इसके अनुसार-'काव्य' और 'लोक'-दोनों में 'सौन्दर्य' ही 'ग्राह्यता' अथवा 'उपादेयता' का निमित्तभूत माना गया है । वामन के लिये 'अलङ्कार' 'सौन्दर्य' का वाचक है—'अलङ्कृतिरलङ्कारः' (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १. १. २) । 'काव्य' का यह 'अलङ्कार' अथवा 'सौन्दर्य' गुण का कार्य है जो कि शब्द और अर्थ के धर्मरूप से अवस्थित रहा करते हैं । प्राचीन भामह, दण्डी आदि आलङ्कारिकों के अनुप्रास-उपमादि शब्दार्थालङ्कार इसी सहज सौन्दर्य के उत्कर्षवर्द्धन में चरितार्थ माने गये हैं । 'काव्य' की शोभा के एकमात्र निदान गुणों का काव्य में वही स्थान है जो किसी रमणी की शोभा के एकमात्र कारण यौवन का रमणी-शरीर में है । विना गुण-जन्य सहज सौन्दर्य के काव्य में अलङ्कार उसी प्रकार खटकने वाले हुआ करते हैं जिस प्रकार विना यौवन के रमणी-शरीर में कटक, कुण्डलादि ।

रीति-वाद में भी अलङ्कार-वाद की ही भांति 'काव्य' और 'काव्येतर' साहित्य-भेदों का नियामक भाषा का सौष्ठव और असौष्ठव ही अन्ततोगत्वा सिद्ध होता है । आचार्य वामन का स्पष्ट निर्णय है :—

'किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता चेतःसतामम्रृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ॥

(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १. २. २१)

जिसका अभिप्राय यही है कि काव्य इसीलिये 'विशिष्ट शब्दार्थ साहित्य' रूप हुआ करता है क्योंकि इसकी जैसी 'पदानुपूर्वी', जो कर्ण-कुहर में अमृतवृष्टि सी प्रविष्ट करती है और हृदय में आनन्द का सञ्चार करती है, अन्यत्र कहीं नहीं पायी जा सकती ।

अलङ्कार-वाद और रीति-वाद की काव्यालोचना-पद्धतियां 'काव्य' को कवि की कला-कृति के

रूप में ही देखा करती हैं और अलङ्कृत (भामह की दृष्टि से अलङ्कृत = अलङ्कारयुक्त और वामन की दृष्टि से अलङ्कृत = सुन्दर) पदरचना को, 'काव्य' रूप कवि-कला-निर्माण मान कर, अन्य समस्त साहित्य-प्रकारों से सर्वथा भिन्न सिद्ध करती हैं। इन पद्धतियों में सामाजिक-जन पर काव्य के प्रभाव का कोई विश्लेषण नहीं हुआ। यद्यपि भामह ने भी काव्य के प्रभाव का एक प्रकार से निर्देश किया है:—

'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते। प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥'

(काव्यालंकार ५. ३)

जिसके अनुसार अलंकृत शब्दार्थ-साहित्य-रूप 'काव्य' सहृदय के लिये 'रसनीय' माना गया है और वामन ने भी सुन्दर पदरचना-रूप 'काव्य' को आनन्ददायक किंवा चमत्कारकारक माना है:—

'वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्रीर्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तुप्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः ॥'

(काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १. २. २१)

किन्तु कवि की 'अलङ्कार-युक्त' अथवा 'सहजसुन्दर और साथ ही साथ अलङ्कृत' पदरचना और सहृदय सामाजिक की 'रसनीयता' अथवा 'आनन्दानुभूति' के परस्पर सम्बन्ध का न तो भामह ने ही अपनी समीक्षा में कोई विचार किया है और न वामन ने ही।

भामह और वामन की काव्य-विषयक धारणाओं के समन्वय में 'वक्रोक्ति-वाद' की उत्पत्ति हुई। कुन्तक का 'वक्रोक्ति' को काव्य-सर्वस्व मानना इस बात का प्रमाण है कि कुन्तक ने 'काव्य' के स्वरूप-चिन्तन में कवि की कला पर ध्यान रखा है न कि सहृदय-हृदय पर पड़ने वाले काव्य के प्रभाव पर। कुन्तक को ध्वनि-वाद में जो बात खटकी थी वह यह थी कि ध्वनि को काव्य-सर्वस्व मानने में 'काव्य' सहृदय-हृदय की रसानुभूतिमात्र रह जाता है न कि कवि की कृति के रूप में इसका कोई महत्त्व है। यद्यपि ध्वनि-वादी आचार्यों ने ध्वनि-दर्शन के स्थापन में इस बात पर भी पूरा ध्यान रखा था कि 'काव्य' कवि की दृष्टि से रस-दृष्टि है और सहृदय की दृष्टि से रसानुभूति किन्तु वक्रोक्ति-वाद ने ध्वनि-वाद के खण्डन में इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। वक्रोक्ति-वाद के अनुसार 'वक्रोक्ति' ही काव्य-जीवित है, काव्य का सारभूत तत्त्व है। 'कवि-कलाकार हुआ करता है, 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' कवि का व्यापार है, जिसे 'काव्य' रूप कलाकृति कहते हैं, वह इसी कवि-व्यापार का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है और यह कवि-व्यापार अन्ततोगत्वा कवि के वैयक्तिक स्वभाव से सम्बद्ध है'—वक्रोक्ति-वाद की यह मान्यता विशिष्ट शब्दार्थ-साहित्य रूप काव्य को कवि-कौशल सिद्ध करती है। यह कवि-कौशल ही वह तत्त्व है जो 'उक्ति' को 'भङ्गीभणिति' बनाया करता है, 'साहित्य' को 'आह्लाद-सार' प्रकट किया करता है:—

'मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः। अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ॥
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्। स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥
सा काव्यवस्थितिस्तद्विदाह्लादैकनिबन्धनम्। पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते ॥'

(वक्रोक्तिजीवित, १म उन्मेष)

अलङ्कार शास्त्र के उपर्युक्त विविध वादों में 'काव्य' का सम्पूर्ण विश्लेषण नहीं अपितु अंश-विश्लेषण अवश्य किया हुआ है। मम्मट का काव्य-स्वरूप-चिन्तन काव्य का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण है। आनन्दवर्धनाचार्य की 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की धारणा मम्मट का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

है। काव्य को इसी दृष्टिकोण से देखते हुये मम्मट ने अलङ्कारशास्त्र के समस्त काव्य-वादों का अपने काव्य-लक्षण में समन्वय स्थापित कर दिखाया है। मम्मट का काव्य-लक्षण है:—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।'

यह काव्यलक्षण न तो अलङ्कारों अथवा गुणों की दृष्टि से 'काव्य' का स्वरूप-निरूपण करता है, न उक्ति-वक्रता की दृष्टि से विशिष्ट शब्दार्थसाहित्य में 'काव्य' की रूप-रेखा दिखाता है और न केवल व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से ही 'काव्य' का उन्मीलन किया करता है। इसमें अलङ्कार-गुण-उक्ति वैचित्र्य और ध्वनि सबका समन्वय है और सब का उचित स्थान और महत्त्व निर्दिष्ट है। केवल छन्दोरचना के निर्वाह के लिये नहीं, अपि तु काव्य-सर्वस्व के संकेत के लिये सर्वप्रथम 'काव्य' का 'तत्' शब्द से परामर्श किया हुआ है। 'काव्य' का स्वरूप रस-सृष्टि और रसानुभूति में ही उन्मीलित हुआ करता है—इसके प्रकाशन के लिये मम्मट ने जिस 'तत्' शब्द का प्रयोग किया है वह वही 'तत्' शब्द है जिसकी भावना में ध्वनि-दर्शन के प्रवर्त्तक आनन्दवर्धन ने यह कहा है:—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥' (ध्वन्या. १. १३)

और यह भी:—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥' (ध्वन्या. १. ६)

जिसका यही तात्पर्य है कि कवि के लिये 'काव्य' अन्ततोगत्वा उस 'अर्थवस्तु' की सृष्टि है जो सरस्वती का आनन्द-निष्यन्द है, कवि की प्रतिभा का प्रवाह है और सहृदय के लिये 'काव्य' उस 'अर्थवस्तु' का वह आस्वाद है जो सरस्वती का आनन्द-निष्यन्द-पान है और सहृदयता की प्रतिभा का प्रसार है।

ध्वनि-दार्शनिक आचार्य 'काव्य' का सर्वाङ्ग विश्लेषण करके भी उसे 'रसरूपतत्त्व' का शब्दार्थमय अवतार माना करते हैं। काव्य साक्षात् सरस्वती का प्रसाद है—यह ध्वनि-दर्शन की भावना 'काव्य' में कवितत्त्व और सहृदयतत्त्व का समुन्मेष देखा करती है। कवि-कला की दृष्टि से काव्य का विश्लेषण जैसे एक एकांगी विश्लेषण है वैसे ही सहृदयानुभूति की दृष्टि से काव्य का स्वरूप-निरूपण भी काव्य का आंशिक ही निरूपण है। कवि और सहृदय काव्य में जिस केन्द्र पर मिला करते हैं उसी में काव्य की काव्यता निहित है और वह केन्द्र न तो अलङ्कार-योजना है और न गुणविशिष्ट पदरचना और न वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति, अपितु 'रस-निष्पत्ति' है और रस-निष्पत्ति क्या है? 'रस-निष्पत्ति' है रस की योजना और रस की भावना जिसे एक शब्द में 'रसाभिव्यक्ति' कह सकते हैं।

इसी 'रसाभिव्यक्ति' के केन्द्र में खड़े होकर ध्वनि-वादी आचार्यों ने 'काव्य' को समस्त ज्ञान-विज्ञान-राशि से सर्वथा पृथक् किं वा लोकोत्तर वस्तु के रूप में देखा है। वेदादि-शास्त्र 'काव्य' नहीं हो सकते, क्योंकि न तो इनके रचयिताओं का उद्देश्य रस-योजना है और न इनके अधिकारियों का उद्देश्य रस-भावना है। वेदादि-शास्त्रों का उद्देश्य विधि-निषेध है जिसके पालन में धर्म और उल्लंघन में अधर्म का भाव रखना पड़ता है। इतिहास-पुराणादि भी 'काव्य' नहीं क्योंकि इनके रचयिताओं और साथ ही साथ पाठकों को रस-सृष्टि और रसानुभूति नहीं करनी पड़ती

अपितु जीवनोपयोगी वस्तुओं के प्रति अनुज्ञा और तदनुसार आचरण का ही कार्य करना पड़ता है। 'काव्य' न तो सहृदय सामाजिक को 'ऐसा करो, ऐसा न करो' की आज्ञा से किसी ओर प्रवृत्त अथवा प्रेरित करता है और न 'ऐसा करना चाहिये, ऐसा न करना चाहिये' की मित्रता की भावना से ही किसी बात की अनुज्ञा दिया करता है। काव्य अपने सामाजिकों को अपनी ओर आकृष्ट किया करता है। काव्य का यह आकर्षण उसके हृदय का आकर्षण है न कि उसके शरीर का। यह आकर्षण उसी प्रकार का है जो कि किसी रमणी का अपने प्रेमी के प्रति हुआ करता है। कोई रमणी अपने अलङ्कार-भार से किसी का हृदय वश में नहीं कर सकती, गुणों के द्वारा किसी को आकृष्ट करने में पर्याप्त समय और सुविधा की आवश्यकता है, वह तो अपने हृदय के स्नेह-रस से ही किसी को अपनी ओर सहसा खींच सकती है। यही बात काव्य के लिये भी सर्वथा लागू है। काव्य का हृदय रस का सार है और इसी हृदय में वह शक्ति है जो सहृदय-हृदय को आकृष्ट किया करती है।

ध्वनि-वादी आचार्यों की दृष्टि से मम्मट ने भी काव्य का रहस्य 'रस' का ही रहस्य माना है किन्तु मम्मट का कार्य 'काव्य-विशेष' का स्वरूप-निरूपण नहीं अपि तु काव्य का स्वरूप-निरूपण है। 'काव्य-विशेष' का निरूपण तो आनन्दवर्धनाचार्य के रस-ध्वनि-तत्त्व के निरूपण में हो ही चुका था। मम्मट ने 'काव्य' का स्वरूपोन्मीलन इस दृष्टि से किया है कि जिसमें काव्य के प्रकारों का स्वरूप समन्वित हो जाय।

मम्मट की दृष्टि में भी 'काव्य' कवि-कर्म है और 'विशिष्टशब्दार्थसाहित्यरूप' ही है। किन्तु मम्मट के अनुसार कवि वह है जो 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण' हुआ करता है। 'लोकोत्तरवर्णना' ही विभावादि-संयोजना है। जीवन के अनुभवों को, जगत् के विषयों को, ज्ञान-विज्ञान की बातों को किं बहुना समस्त वस्तुओं को विभावादि रूप में ढाल देना लोकोत्तर कृत्य नहीं तो और क्या है? काव्य में सारा संसार कवि के हृद्गत भाव-रूप में परिणत हुआ करता है न कि भिन्न-भिन्न विषय-रूप में। इसीलिये काव्य वस्तुतः 'रसाङ्गभूतव्यापारप्रवण' हुआ करता है न कि शब्द-प्रधान अथवा अर्थ-प्रधान।

रस-सृष्टि तो कवि-कर्म अथवा कवि-कला है ही और प्रत्येक कवि इसीलिये काव्य-निर्माण में प्रवृत्त हुआ करता है किन्तु जिसमें जितनी 'प्रतिभा' अथवा जितनी 'लोकोत्तरवर्णनाशक्ति' हुआ करती है उसी के अनुपात में उसकी शब्दार्थरचना 'काव्य' के रूप में निखरा करती है। इसी प्रकार एक मात्र रसानुभूति ही सहृदय के लिये काव्य का प्रयोजन है और इसीलिये कोई भी सहृदय 'काव्य' की ओर झुका करता है किन्तु जिसमें जितनी 'प्रतिभा' और जितनी 'रस-भावनाशक्ति' हुआ करती है उसी के अनुपात में उसकी काव्यानुभूति रसास्वाद के रूप में निखरा करती है। जैसे कविजनों की तीन श्रेणियां उत्तम, मध्यम और अधम स्वभावतः सम्भव है और सहृदय भी इन्हीं तीन श्रेणियों में विभक्त रहा करते हैं वैसे ही काव्य भी उत्तम, मध्यम और अधम-इन तीन श्रेणियों में ही विभाजित किया जासकता है। मम्मट ने 'काव्य' का जो लक्षण बताया है वह तीनों श्रेणियों के काव्यों में अनुगत है। सामान्य शब्दार्थ तो काव्य-निर्माण के साधन हैं और उसी प्रकार साधन है जिस प्रकार शास्त्र-निर्माण के अथवा लोक-व्यवहार के। किन्तु किसी कवि की लोकोत्तर-वर्णना-शक्ति इन्हीं सामान्य शब्दों और अर्थों में ऐसी शक्ति भर

दिया करती है जिससे ये रस-सृष्टि करने में समर्थ हो जाया करते हैं। जिन शब्दों और अर्थों में जितनी रस-सृष्टि की शक्ति हुआ करती है वे शब्द और अर्थ उतने ही उत्तम 'काव्य' कहे जाया करते हैं। मम्मट का आदर्श 'काव्य' तो वस्तुतः ऐसा ही शब्दार्थ-साहित्य है जो रस-निर्भर और रसाभिव्यञ्जक हुआ करता है और इसी का चिन्तन मम्मट की सरस्वती-वन्दना में किया हुआ है:—

'नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥'

(काव्यप्रकाश आरम्भमङ्गल)

किन्तु मम्मट का काव्य-लक्षण इस आदर्श काव्य का ही लक्षण नहीं अपि तु ऐसा लक्षण है जो काव्य-प्रकारों में भी अनुगत है।

केवल 'शब्दार्थ-साहित्य' काव्य नहीं किन्तु ऐसा शब्दार्थसाहित्य, जो 'अदोष' हो, 'सगुण' हो और 'यथासम्भव अलङ्कृत' भी हो, 'काव्य' है—यह मम्मट-कृत काव्य-लक्षण जिस प्रकार उत्तम काव्य को लक्षित करता है उसी प्रकार मध्यम और अधम काव्य को भी। शब्द और अर्थ की 'अदोषता' काव्यालोचना की प्राचीनतम मान्यताओं में से है। अलङ्कार-वाद के आचार्य भामह ने काव्य को 'शब्दार्थ-साहित्य' ('शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'-काव्यालङ्कार १.१६) तो अवश्य कहा है किन्तु उनके अनुसार भी इस शब्दार्थ-साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता 'अदोषता' ही है—

'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥' (काव्यालङ्कार १.११)

अर्थात् 'कवि की पदरचना यदि सदोष हुई तो उसे उसी प्रकार निन्दित होना पड़ता है जिस प्रकार कोई पिता दुष्ट पुत्र के उत्पादक होने के कारण निन्दित हुआ करता है।'

किन्तु भामह की दृष्टि में 'शब्दार्थ-साहित्य' की 'अदोषता' का जो अभिप्राय है वही मम्मट की दृष्टि में नहीं। भामह के अनुसार तो 'दोष' कवि की अव्युत्पत्ति अथवा अनभ्यास के परिणाम-मात्र हैं किन्तु मम्मट के अनुसार 'दोष' कवि की रस-योजना-सम्बन्धी अशक्ति के प्रकाशक हैं जिनके कारण रस-चर्वणा में बाधा पहुंचा करती है। 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण, कवि के अव्युत्पत्ति-कृत दोष तो पता नहीं चला करते'—आनन्दवर्धनाचार्य की यह दोष-समीक्षा मम्मट की भी दोष-समीक्षा है और इसी दृष्टि से मम्मट ने 'अदोषता' को 'शब्दार्थ-साहित्य' की विशेषता के रूप में स्वीकार किया है। सर्वोत्तम 'शब्दार्थ-साहित्य' में, 'रस-ध्वनि-काव्य' में यह 'अदोषता' सर्वप्रथम रसगत दोष के अभाव का अभिप्राय रखती है। रससमाहितचित्त कवि की रचना में रस-गत दोष तो पहले हो ही नहीं सकते, किन्तु यदि कोई पद-पदार्थ-गत दोष स्थूल दृष्टि से दिखाई भी पड़ जाय-और इसका दिखाई पड़ना तभी सम्भव है जब हम रसास्वाद की भूमिका से बाहर खड़े हों—तो भी वह छिपा-छिपाया ही पड़ा रहता है, रस-विघातक अथवा रस की उत्कृष्ट-प्रतीति में बाधक नहीं बना करता। उत्तम काव्य की यह 'अदोषता' वस्तुतः मम्मट की दृष्टि में भी वही अभिप्राय रखती है जिसे प्राचीनाचार्यों ने प्रतिपादित किया है:—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता । दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥'

अर्थात् 'उस काव्य में जो रस निर्भर हो, जिससे सहृदय-हृदय आह्लादित हो, यदि कोई दोष भी हो तो वह उसी प्रकार सहृदयों और काव्याचार्यों द्वारा नगण्य माना जाया करता है जिस

प्रकार किसी 'रत्न' का कोई छोटा-मोटा दोष उसके पारखी लोगों के द्वारा नगण्य ही समझा जाया करता है।'

गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यम) काव्य अथवा चित्र-काव्य की 'अदोषता' का अभिप्राय अव्युत्पत्ति और अनभ्यास-सम्बन्धी दोषों के अभाव का अभिप्राय है। अलङ्कार अथवा रीति-वादी आलङ्कारिकों की काव्य-सम्बन्धी 'अदोषता' की यह मान्यता ध्वनि-वादी आचार्यों ने स्वीकार तो अवश्य की है किन्तु इसमें 'रसबन्ध विषयक औचित्य-निर्वाह' का रहस्य देखा है न कि 'पदादि-गत अनवद्यता' का। मम्मट के इस दृष्टिकोण को न पहचान कर ही कविराज विश्वनाथ ने 'अदोषता' की शब्दार्थ-सम्बन्धी विशेषता पर कटाक्ष किये हैं। ध्वनि-वाद के परमाचार्य की दृष्टि में जहां यह सूक्ति:—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥'

एक सर्वाङ्ग सुन्दर रस-बन्ध-प्रकार के रूप में दिखायी देती है जिसमें रस-व्यञ्जकता की सर्वत्र बहुलता ही विराज रही है वहां इस में विश्वनाथ कविराज ने 'विधेयाविमर्श' दोष का निरीक्षण कर लिया है और इसके आधार पर मम्मट के काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ की 'अदोषता' की विशेषता को निरर्थक सिद्ध करने की चेष्टा की है। मम्मट की दृष्टि में यह रचना इसलिये उत्तम काव्य है क्योंकि इसमें सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत्, तद्धित और समास आदि सभी के सभी रसाभिव्यञ्जक रूप से ही प्रयुक्त हैं क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त की भी यहां यही धारणा है कि चाहे जैसा भी यहां व्यञ्जक-बाहुल्य का विश्लेषण किया जाय, सबका निष्कर्ष यही है कि यह रचना रस की सर्वाङ्गसुन्दर अभिव्यञ्जक रचना है—**'तेन तिलशस्तिलशोऽपि विभज्य-मानेऽत्र श्लोके** (न्यक्कारो ह्ययम् इत्यादौ) **सर्व एवांशो व्यञ्जकत्वेन भातीति किमन्यत्'** (ध्व. लोचन, तृतीय उद्योत)। इस रचना में 'विधेयाविमर्श' दोष वीरभावाविष्ट 'रावण'-रूप वक्ता के औचित्य से दोष नहीं अपि तु गुण-रूप में परिवर्तित हो रहा है। मम्मट ने सर्वप्रथम 'अदोषौ शब्दार्थौ' को काव्य-स्वरूप का परिच्छेदक मान कर रसभङ्ग के कारण 'अनौचित्य' के अभाव का अभिप्राय प्रकट किया है। मम्मट का पदादि दोष-विवेचन भी अन्ततोगत्वा रस के परम्परया विघातक अथवा अपकर्ष-कारक तत्त्वों का ही विवेचन है। जहां रस-विवक्षा न हो ऐसे काव्य में शब्द और अर्थ की 'अदोषता' इसलिये आवश्यक है क्योंकि बिना इसके मुख्यभूत अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती और यदि होगी तो विलम्ब से होगी और उसमें कोई चमत्कार नहीं प्रतीत हो सकेगा।

आचार्य मम्मट की दृष्टि में 'दोष' गुण के विपर्यय-मात्र नहीं अपि तु कविविवक्षित अर्थ (रस-आदि रूप सभी अर्थ) के अपकर्षकारक होने से, भावरूप पदार्थ हैं और इसी दृष्टि से उन्होंने सर्व प्रथम 'विशिष्ट शब्दार्थ-साहित्य रूप' काव्य में 'अदोषता' का निरूपण किया है। 'विशिष्ट शब्दार्थ साहित्य' की दूसरी विशेषता 'सगुणता' है। रीतिवादी आचार्य वामन ने जिस 'सगुणता' के कारण पदरचना को काव्य का अन्तिम रहस्य मान लिया है उसी 'सगुणता' को आचार्य मम्मट ने काव्यरूप शब्दार्थ साहित्य की एक विशेषता के रूप में प्रतिपादित किया है। आचार्य वामन की दृष्टि में शब्दार्थगत 'सगुणता' का जो रहस्य है वही आचार्य मम्मट की दृष्टि में

नहीं । वामन के अनुसार तो गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं किन्तु मम्मट के अनुसार गुण 'रस' के धर्म हैं । मम्मट के अनुसार शब्द और अर्थ की 'सगुणता' की विशेषता शब्द और अर्थ की रसाभिव्यञ्जकता है क्योंकि अन्ततोगत्वा गुण अभिव्यङ्ग्य रस के धर्म रूप से सहृदय-हृदय में अभिव्यङ्ग्य हुआ करते हैं ।

मम्मट ने 'रसवत्ता' अथवा 'सरसता' को शब्दार्थ-साहित्य का वैशिष्ट्य न बता कर 'सगुणता' को जो उसका वैशिष्ट्य बताया है वह इसी दृष्टि से कि रसादिरूप उत्तम काव्य के अतिरिक्त मध्यम और अधम काव्य भी इससे लक्षित हो सकें । रसादिरूप उत्तम काव्य में शब्द और अर्थ की 'सगुणता' एकमात्र उनका रसाभिव्यञ्जन-सामर्थ्य है। मध्यम और चित्र-काव्य में शब्दार्थ-साहित्य की यह 'सगुणता' यथासंभव औपचारिक अभिप्राय रखती है क्योंकि सुकुमार किं वा कठोर वर्ण-पद आदि ही उपचारतः मधुर अथवा ओजस्वी कहे जाया करते हैं और कहे भी जा सकते हैं। सुकुमार अथवा कठोर वर्ण-पद आदि में ही माधुर्य अथवा ओज मानना और इस दृष्टि से शब्दार्थ साहित्य को 'सगुण' समझना तो मम्मट की दृष्टि से उन आलङ्कारिकों का काम है जो 'रसपर्यन्त-विश्रान्तप्रतीतिवन्ध्य' हुआ करते हैं, ऐसे हुआ करते हैं जिनकी काव्यानुभूति रसानुभूति तक पहुंचने में असमर्थ रहा करती है ।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि मम्मट की काव्य-परिभाषा आपाततः भले ही अलङ्कार अथवा रीति-वादी आचार्यों की काव्य-परिभाषा सी लगे किन्तु वस्तुतः अन्ततोगत्वा इसमें ध्वनि-वाद-सम्मत काव्य-धारणा ही अन्तर्निहित दिखाई देती है । ध्वनि-वाद की दृष्टि से अलङ्कार और रीति-वादी प्राचीन आचार्यों की काव्य-सम्बन्धी धारणाओं का सामञ्जस्य और समन्वय इसका उद्देश्य है और इस उद्देश्य में यह काव्य-परिभाषा जितनी सफल हुई है उतनी और कोई भी काव्य-परिभाषा अब तक नहीं होने पायी । ध्वनिकार आनन्दवर्धन का यह काव्य-लक्षणः—

'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् ।' (ध्वन्यालोक, १म उद्योत)

लगता तो 'काव्य-लक्षण' सा है किन्तु है 'काव्य-विशेष' का लक्षण । ध्वनिकार के इस काव्य-लक्षण में 'आह्लाद' अथवा 'रस' में जो काव्य-स्वरूप-दर्शन किया गया है उससे यह काव्य-लक्षण सहृदय सामाजिक की दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण हो किन्तु काव्यालोचक की वैज्ञानिक दृष्टि से तो एकाङ्गी ही है । ध्वनिकार के अभिप्राय का रहस्य हृद्गत रखते हुये सर्वप्रथम मम्मट ने ही काव्य का ऐसा लक्षण किया है जो सर्वथा चतुरस्र है और सर्वतोभद्र है ।

मम्मट के काव्य-लक्षण में शब्दार्थ साहित्य की 'अदोषता' और 'सगुणता' के साथ-साथ 'यथा सम्भव किंवा यथास्थान अलंकृतता' की विशेषता का यदि कोई निर्देश न किया हुआ होता तब तो बहुत संभव था कि इसमें अलङ्कार और रीति-वादी आचार्यों की मान्यताओं की ही गन्ध आती। किन्तु 'यथासंभव किंवा यथास्थान अलंकृतता' की विशेषता का उपादान—क्योंकि 'अनलंकृती पुनः कापि' का अभिप्राय शब्द और अर्थ की 'यथास्थान अनलंकृतता' के अतिरिक्त और क्या ! और 'यथास्थान अनलंकृतता' का निष्कर्ष 'यथास्थान किंवा यथासंभव अलंकृतता' ही तो है ! ऐसा है जिससे मम्मटकृत काव्य-लक्षण ध्वनि-वाद-सम्मत काव्य-लक्षण सिद्ध हो रहा है। शब्द और अर्थ की यथासंभव किंवा यथास्थान अलंकृतता' का सिद्धान्त रसरूप अलङ्कार्य की मान्यता से संबद्ध है। यदि काव्य में अलङ्कार ही सब कुछ होता तब तो 'अनलंकृती पुनः क्वापि' उन्मत्त-प्रलाप-मात्र मान

लिया जाता। किन्तु ध्वनि-वाद की दृष्टि से अलङ्कार 'चारुत्वहेतुमात्र' हैं और इनसे जिसकी चारुता की वृद्धि संभव है वह काव्यात्मभूत रसरूप तत्त्व है जो अलङ्कार नहीं अपितु एक मात्र 'अलङ्कार्य' है। आचार्य मम्मट ने जैसे शब्दों और अर्थों की 'अदोषता' और 'सगुणता' को उनके स्वरूप से सम्बद्ध न मान कर उनके अभिव्यङ्ग्य रसरूप अर्थ से सम्बद्ध माना है वैसे ही उनकी 'समुचित अलंकृतता' को उनके स्वरूप से सम्बद्ध न मान कर रसरूप अलङ्कार्य से ही सम्बद्ध स्वीकार किया है। बिना रसरूप अलङ्कार्य की भावना के 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का न तो कोई प्रयोजन है और न कोई रहस्य! वस्तुतः 'अनलंकृती पुनः क्वापि' इस विशेषण के उपादान से मम्मट के काव्य-लक्षण में काव्य-कला और काव्य-रस की कृति और अनुभूति दोनों की सुन्दर मीमांसा का रहस्य स्पष्ट खुल जाता है। मम्मट के लिये 'काव्य' न तो केवल सहृदय सामाजिक के हृदय में है और न केवल कवि के कौशल में। मम्मट की दृष्टि में काव्य उसके निर्माण के दृष्टिकोण से, ऐसी शब्दार्थ-योजना में रहा करता है जिसे स्थूल और सूक्ष्म-दोनों भावनाओं से दोष-रहित और गुण-सहित शब्दार्थ-रचना के रूप में देख सकते हैं और जहां तक उसके समुल्लास, उसके अनुभवगम्य सौन्दर्य का प्रश्न है उस दृष्टि-कोण से उसे उसकी रस-निर्भरता में ही पा सकते हैं जिसकी अपेक्षा सर्वत्र अलङ्कार-सहित शब्द और अर्थ की योजना सर्वथा अनपेक्षित है। 'यथा-संभव किंवा यथास्थान अलंकृतता' यदि शब्द और अर्थ में आगयी क्योंकि रस समाहितचित्त कवि के लिये अलङ्कार-योजना अलङ्कार्य रस-भाव के औचित्य और अनौचित्य का ही अनुसरण किया करती है और अनायास साध्य हुआ करती है तब सहृदय के लिये ही क्योंकर अलङ्कार-दर्शन अनिवार्य हो जाय! यदि मम्मट के मत में अलङ्कारों का सम्बन्ध शब्द और अर्थ के ही साथ होता जैसा कि अलङ्कार-वाद का सिद्धान्त रह चुका है तब तो 'सगुणौ' के साथ 'सालङ्कारौ' विशेषण में ही विशिष्ट शब्दार्थ साहित्यरूप काव्य की झांकी दिखायी पड़ती। किन्तु मम्मट के अनुसार अलङ्कार शब्द और अर्थ के चारुत्वाधायक अथवा चारुत्ववर्धक नहीं अपि तु रसभावादिरूप अलङ्कार्य के चारुत्व के वर्धक हुआ करते हैं। जो 'अलङ्कार्य' है वह तो रसभावादि रूप काव्यात्म-तत्त्व है, वह सर्वदा स्वभाव-सुन्दर है, उसका सौन्दर्यवर्द्धन तो एकमात्र उसकी उचित अलङ्कार-योजना से संभव है और साथ ही साथ यह भी संभव है कि अलङ्कार-योजना के अभाव में भी वह अपने स्वभाव के अनुसार सुन्दर ही लगा करे। महाकवि कालिदास की, रमणी-सौन्दर्य में, जो भावना रही है:—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

(अभिज्ञानशाकुन्तल १. १७)

वही भावना, ध्वनि-दर्शी आचार्यों में, कविता-सौन्दर्य के सम्बन्ध में रहती आयी है। जैसे सुन्दर रमणी के लिये कभी उचितालङ्कार-योग सौन्दर्यवर्धक है वैसे ही कदाचित् चमकीले-भड़कीले अलङ्कारों का सर्वथा राहित्य भी सौन्दर्यवर्धक ही है। कविता में भी यही सौन्दर्य-दृष्टि सर्वथा लागू है। सुन्दर कविता के लिये वही अलङ्कार योग शोभावर्धक हुआ करता है जो औचित्यपूर्ण हो। सुन्दर कविता, चमकीले-भड़कीले अलङ्कारों का, कभी ऐसा भी संभव है, सर्वथा परित्याग कर दे किन्तु इसमें उसका सौन्दर्य घटता नहीं अपि तु निखरता ही है। ध्वनि-दार्शनिक आनन्दवर्धन की

अलङ्कार-योजना में, जो दृष्टि रही है वही आचार्य मम्मट की भी है। आचार्य अभिनवगुप्त ने जिस दृष्टिकोण से कविता की सुन्दरता को बढ़ते देखा है उसी दृष्टिकोण को आचार्य मम्मट ने भी अपनाया है। आनन्दवर्धन ने विशिष्ट शब्दार्थरूप काव्य में, न तो कवि की दृष्टि से अलङ्कार-रचना को अनिवार्य देखा है और न सहृदय की ही दृष्टि से अलङ्कार-दर्शन को काव्य का सौन्दर्य-दर्शन समझा है। उनका तो स्पष्ट कथन है:—

'रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्। अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥'

(ध्वन्यालोक, २य उद्योत)

जिसका एकमात्र तात्पर्य यही है कि अलङ्कार चारुत्व के हेतुरूप से ही प्रयुक्त और उपयुक्त हुआ करते हैं क्योंकि यदि अलङ्कार ही काव्य होता अथवा अलंकृत शब्दार्थरचना में ही काव्यत्व रहा करता तब तो न तो उसे चारुत्व-हेतु कहा जाया करता और न उसकी योजना में ही किसी अन्य रहस्य की खोज-बीन हुआ करती। अलङ्कार तो तभी वस्तुतः 'अलङ्कार' हुआ करते हैं जब उनकी योजना में रसभावादिरूप अलङ्कार्य के सौन्दर्य-वर्द्धन की चिन्ता रहा करती है।

अभिनवगुप्ताचार्य ने ध्वनि-तत्त्व-दर्शी आनन्दवर्धन का ही युक्तिपूर्ण समर्थन करते हुये अलङ्कारों को रसभावादि का अभिव्यञ्जन-साधन माना है और इसी दृष्टि से उन्हें विशिष्ट शब्दार्थ-रूप काव्य की रचना में उपयुक्त सिद्ध किया है:—

'एतदुक्तं भवति–उपमया यदि वाच्योऽर्थोऽलङ्क्रियते, तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद्व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवालङ्कार्यः। कटककेयूरादिभि-रपि हि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयाऽलङ्क्रि-यते। तथा हि—अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्। नहि देहस्य किञ्चिद-नौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालङ्कार्यः, अहमलंकृत इत्यभिमानात्।'

(ध्वन्यालोकलोचन, २य उद्योत)

अर्थात् 'आपाततः भले ही यह पता चले कि उपमा आदि अलङ्कार वाच्यार्थ के सौन्दर्याधायक अथवा सौन्दर्यवर्धक हुआ करते हैं किन्तु वस्तुतः इन अलङ्कारों द्वारा वाच्यार्थ की अभिवृद्ध सुन्दरता का अभिप्राय यही है कि वह (वाच्यार्थ) व्यङ्ग्यभूत अर्थ के अभिव्यञ्जन में अधिकाधिक समर्थ हो उठा है। अलंकृत वाच्यरूप अर्थ ही तो व्यङ्ग्यरूप अलङ्कार्य का अलङ्कार है। कटक, कुण्डल आदि अलङ्कार भले ही शरीर के अलङ्कार प्रतीत हों किन्तु अलंकृत शरीर के द्वारा अन्तरात्मतत्त्व ही अन्ततोगत्वा अलंकृत हुआ करता है क्योंकि इन अलङ्कारों की योजना में हृदय की चित्र-विचित्र वृत्तियां यदि नियामक न हों तो कोई भी अलङ्कार कहीं भी पहना जाया करे और तब भी शरीर सुन्दर ही लगा करे! किन्तु ऐसा होता कहां है? शवशरीर को आभूषणों से लाद दें तो वह सुन्दर कैसे लगने लगे! यतिशरीर में आभूषण पहना दिये जायँ तो उसमें सुन्दरता के बदले उपहासास्पदता दिखायी देने लगे! अलङ्कार-योजना तो आत्मतत्त्व के औचित्य पर निर्भर है न कि शरीर पर।'

मम्मट की अलङ्कार-दृष्टि में ध्वनि-वादी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अलङ्कार-स्वरूप झलक रहा

है और इसीलिये 'यथासंभव किंवा यथास्थान अलंकृतता' की विशेषता ही शब्दार्थसाहित्य की 'सालङ्कारता' के रहस्य के रूप में प्रकट हो रही है।

मम्मट के आलोचकों ने 'यदाकदाचित् शब्दार्थ की अनलंकृतता' पर छींटे कसे हैं। विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के द्वारा उदाहृत 'यत्रकुत्रचित् अनलंकृत' काव्यबन्ध पर आक्षेप किये हैं। किन्तु इन आक्षेपों में जो बात स्पष्ट है वह यही है कि मम्मट का दृष्टिकोण ठीक-ठीक समझा नहीं गया है। मम्मट ने 'पुनः क्वापि अनलंकृती (शब्दार्थौ काव्यम्)' के उदाहरणरूप में यह काव्यबन्ध उद्धृत किया है:—

'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवाऽस्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतस्समुत्कण्ठते॥'

इस उदाहरण में शब्दार्थ की 'यत्रकुत्रचित् अनलंकृतता' में भी काव्यरूपता का रहस्य स्पष्ट झलक रहा है। यहां कवि ने किसी भी अलङ्कार की स्फुट योजना नहीं की, आलङ्कारिक जन यदि किसी अलङ्कार की छानबीन भी कर लें तो भी कवि की विवक्षा के न होने से उसका कोई महत्त्व नहीं। यहां मम्मट को काव्य को एक अलौकिक विशेषता-'अनलंकृतता में भी रमणीयता' की अनुभूति हुई है और इतनी गहरी अनुभूति हुई है कि इसकी सर्वजनसंवेद्यता में, इसकी व्यापकता में उन्हें कोई सन्देह नहीं। यहां जो साहित्यिक सुन्दरता है जिसमें कवि की प्रयुक्त शब्दार्थरचना काव्य के रूप में झलकती है उसका एकमात्र निमित्त रस-सृष्टि है। यहां एक प्रेमिका की मनःस्थिति का ऐसा चित्रण है जिसमें कम से कम साधन प्रयुक्त किये गये हैं किन्तु रस-सृष्टि और रसानुभूति में कोई कमी न आयी। प्राचीन आलङ्कारिकों के काव्यलक्षण इस काव्य को अपनी परिधि में नहीं रख सकते। यह कविता अथवा इस प्रकार की अनेकानेक कवितायें यदि किसी काव्य-लक्षण में विश्लिष्ट की जा सकती हैं तो वह काव्य-लक्षण मम्मट का ही काव्यलक्षण है। 'अनलंकृती पुनः क्वापि' इस शब्दार्थ-विशेषण के उपादान में मम्मट की काव्य-तत्त्व-दृष्टि प्राचीन अलङ्कारशास्त्र की काव्यसम्बन्धी विशेषताओं को ऐतिहासिक अथवा व्यावहारिक मान्यता के रूप में देख रही है। काव्य की पारमार्थिक किंवा नित्यनियत विशेषता तो कवि की दृष्टि से रससृष्टि और सहृदय की दृष्टि से रसानुभूति है किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि काव्य का लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' ही मान लिया जाय। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' भी एक ऐसा ही काव्यलक्षण होगा जिसमें काव्यविशेष की कृति का विश्लेषण सहृदय-विशेष की अनुभूति का ही विश्लेषण होगा न कि और कुछ।

मम्मट का काव्यलक्षण काव्य की सभी विशेषताओं-सभी ऐतिहासिक किंवा वास्तविक काव्य-तत्त्वों का सर्वप्रथम विश्लेषण है किन्तु इसमें ऐसा कोई अहंभाव नहीं जिससे यह प्रकट हो जाय कि इसी में काव्य-रहस्य बांध-छान कर रख दिया गया है। यदि ऐसी बात होती तो मम्मट जैसा काव्यशास्त्र का शास्त्रकार 'अनलंकृती पुनः क्वापि' जैसी रहस्य-भाषा का प्रयोग काव्य-लक्षण में कभी न करता। मम्मट की दूरदृष्टि तो 'काव्य' पर-रस-सृष्टि और रसानुभूति पर-टंगी है

किन्तु लक्षण-वाक्य में काव्य के माध्यमभूत तत्त्वों का विश्लेषण किया हुआ है। इन तत्त्वों के प्रसंख्यान में भी मम्मट की काव्य-रहस्य-भावना का ही हाथ दिखायी दे रहा है न कि काव्य-लक्षणकारिता का। काव्यलक्षणकारिता का भाव तो ऐसे काव्य-लक्षणों में झलका ही करता है:—

'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥ (सरस्वती कण्ठाभरण)

जिनका अभिप्राय यही है कि काव्य के तत्त्व-प्रसंख्यान में ही काव्य-सर्वस्व की प्रत्यभिज्ञा समा जाती है।

मम्मट का काव्यलक्षण एक और रहस्य रखता है जिसे आधुनिक काव्य-मर्मज्ञ इस प्रकार प्रकट करना चाहते हैं:—

'Start then with the basic definition and add as many historical differentiæ as are necessary for distinguishing the body of poetry in question. If yon insist on becoming more particular, you will find your definitions chapters of literary history. There is no definition of Shakespeare's poetry short of the complete poetical works of Shakespeare and a variorum commentary.'

Pottle—'The Idiom of Poetry.'

अर्थात् 'काव्य की यदि परिभाषा की जाय और अवश्य करनी चाहिये तब सब से पहले तो उसका आधारभूत विश्लेषण कर दिया जाय और बाद में जितनी भी काव्य की ऐतिहासिक विशेषतायें आवश्यक हों उन्हें भी उसमें जोड़ दिया जाय जिसमें काव्य-साहित्य का स्वरूप पता चल जाय। किन्तु यदि कोई यह सोचे कि उसका काव्यलक्षण सर्वथा सर्वलक्षण-दोष-रहित हो तब तो वह काव्य का लक्षण नहीं करता अपि तु काव्य शास्त्र के ऐतिहासिक अनुसन्धानों का लेखा-जोखा किया करता है। शेक्सपियर की कविता की परिभाषा शेक्सपियर के समस्त काव्य और उनकी वृहती विमर्शिनियों के अतिरिक्त और क्या हो सकती है?,

अपने काव्य-लक्षण में मम्मट ने भी यही सुदूरदर्शी दृष्टिकोण अपनाया है। मम्मट का काव्य-लक्षण न तो केवल कविता की भाषा को कविता की कसौटी मानता है और न केवल कविता की अनुभूतियों में कविता की रूप-रेखा रचता है। मम्मट के काव्यलक्षण का वास्तविक रहस्य यही है कि जिसे कविता कहा जाता है वह कोई अवाङ्मनसगोचर रहस्यमात्र नहीं, अपि तु वह वस्तु है जिसे कवि अपनी काव्यमय भाषा में सोच समझ कर प्रकाशित किया करता है। इस काव्य-लक्षण के द्वारा मम्मट का यही संकेत है जैसा कि आधुनिक पाश्चात्य काव्यलक्षणकार करना चाहते हैं:—

We must remind ourselves that the analysis which we have just been making is in the highest degree theoretical and adstract. The activity of the human mind is in fact a unit and a continuum ,There is not in it a succession of aesthetic and practical moments. Reality lies in the complex and unanalyzed activity of the mind, but we cannot talk about that reality

without breaking it up into smaller and simpler units. The units are, admittedly, fictions, but it is the fate of all analysis of the mind to deal in fictions. All that I really wish to make clear is that what we call poety must be seen, not as something occult and esoteric, but as portions of verbal experiences detaching themselves from the background of ordinary speech because of their greater richness and intensity.'

The Idiom of poetry.

४. मम्मट और 'शब्द'-रूप काव्योपकरण

अलङ्कारशास्त्र के उद्भव-काल में काव्य का अभिप्राय या तो 'सौशब्द्य' था या 'अर्थव्युत्पत्ति'। सहृदयों किंवा काव्य-शास्त्रियों का एक दल 'सौशब्द्य' को काव्य-सर्वस्व मान चुका था और दूसरा दल 'अर्थव्युत्पत्ति' में काव्य का मर्म खोज चुका था। इन दोनों पक्षों में समन्वय की स्थापना के लिये सर्वप्रथम आचार्य भामह ने प्रयत्न किया और **'शब्दार्थ साहित्य'** में काव्य की रूपरेखा के दर्शन का सम्प्रदाय चल निकला। आचार्य भामह की यह सूक्ति :—

'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते ॥
रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः। न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे। सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी। शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥
शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्.............., (काव्यालङ्कार १. ११–१६)

इस बात का स्पष्ट संकेत है कि अलङ्कारशास्त्र के आरम्भ-काल में कुछ आलङ्कारिकों ने 'काव्य' को 'सौशब्द्य'-सुप्तिङ्व्युत्पत्ति-से और कुछ ने 'अर्थव्युत्पत्ति' से अभिन्न मान रखा था। 'काव्य' शब्दार्थ साहित्य है—यह काव्य-सिद्धान्त इसलिये मान्य होना चाहिये क्योंकि शब्द और अर्थ अपृथक् सिद्ध, सदा परस्पर संपृक्त तत्त्व हैं।

शब्दार्थ-साहित्य में 'काव्य' के विचार-विमर्श में आलङ्कारिकों के विविध वाद प्रवर्तित होते चले गये। अलङ्कार-वाद के प्रथमाचार्य भामह की दृष्टि में निर्दुष्ट, स्फुट-मधुर किंवा अलङ्कृत पदावली का समुचित प्रयोग 'शब्दार्थ-साहित्य' रूप काव्य-रचना के लिये अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ:—

'एतद् ग्राह्यं सुरभिकुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयम्
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम् ॥' (काव्यालंकार १.५९)

अर्थात् माला बनाने में जैसे किसी चतुर मालाकार के लिये सुन्दर-सुरभित फूलों का समुचित गुम्फन आवश्यक है वैसे ही 'शब्दार्थ-साहित्य' रूप काव्य-रचना में कवि के लिये भी स्फुट-मधुर किंवा अलंकृत पदों की संघटना अपेक्षित है।

अलङ्कार-वाद के परमाचार्य दण्डी ने 'शब्दार्थ साहित्य' के बदले **'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'** में काव्य-शरीर और अलङ्कारों में काव्य-सौन्दर्य का दर्शन किया :—

'तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ (काव्यादर्श १.१०)

अलङ्कार-वादी आचार्यों की, अलङ्कार-जन्य पद-शोभा में 'काव्य' स्वरूप की मान्यता से असन्तुष्ट होकर वामन ने 'रीति' में काव्य-स्वरूप के दर्शन का सम्प्रदाय चलाया। पदावली के सहज सौन्दर्य और आहार्य-सौन्दर्य का विवेक प्रारम्भ हुआ। अलङ्कारों की सौन्दर्याधायकता आहार्य मानी गयी और गुणों को ही पद-सौन्दर्य का नैसर्गिक निमित्त स्वीकार किया गया :—

'युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥'
(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३.१.२)

अलङ्कार-वादी किंवा रीति-वादी आचार्यों की इस काव्य-सम्बन्धी मान्यता में 'शब्दार्थ-साहित्य' का रहस्य एकमात्र अलङ्काररूप किंवा गुणरूप धर्म अथवा वैशिष्ट्य में ही अन्तर्भूत रहा। काव्यकलाकार का इस वैशिष्ट्य से क्या सम्बन्ध है ? किस प्रकार काव्यकलाकार अलङ्कार अथवा गुणरूप धर्म से 'शब्दार्थ-साहित्य' रूप काव्य की सृष्टि करता है ? इन समस्याओं के चिन्तन में 'वक्रोक्ति-वाद' का जन्म हुआ। कवि की उक्ति-वक्रता कवि-प्रतिभा का प्रत्यक्ष अवतार मानी गयी। कवि की उक्ति वक्रता अथवा वैदग्ध्यभङ्गीभणिति में ही यह सामर्थ्य स्वीकार किया गया जो 'शब्दार्थ-साहित्य' को वस्तुतः 'काव्य'-'विशिष्टसाहित्य' के रूप में झलका दे।

'मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादि गुणोदयः । अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ॥
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम् । स्पर्द्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥
सा काव्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा । पदादिवाक् परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते॥'
(कुन्तकः वक्रोक्तिजीवित १म उन्मेष १७)

'काव्य' सामान्य शब्दार्थ-साहित्य नहीं अपितु 'विशिष्ट शब्दार्थ साहित्य' है, ऐसा शब्दार्थ-साहित्य है जिसमें कवि की 'विदग्धता'—कवि-कला सौन्दर्य की सृष्टि किया करती है न कि ऐसा शब्दार्थ-साहित्य जिसमें अलङ्कारों की योजना की जाया करती है—इस वक्रोक्ति-वाद के सिद्धान्त में सौन्दर्य की अनुभूति का रहस्य अनिर्भिन्न ही रहा। काव्य में रस अथवा सौन्दर्य-रहस्य की अनुभूति के उद्घाटन में 'भुक्ति-वाद' का सम्प्रदाय भट्टनायक के द्वारा चलाया गया। 'काव्य' के शब्द और अर्थ में भावना की शक्ति मानी गयी जिसका अन्तिम लक्ष्य रस-भोग सिद्ध किया गया।

उपर्युक्त सभी काव्य-वादों में इतना तो निश्चित है कि 'शब्दार्थ-साहित्य' में 'विशेषाधान' पर ही ध्यान रखा गया किन्तु 'काव्य' अथवा 'विशिष्ट-शब्दार्थ साहित्य' में 'शब्द' और 'अर्थ' के काव्यगत किं वा स्वरूप-सम्बद्ध वैशिष्ट्य का कोई विचार नहीं हुआ। 'काव्य' क्या है ? कला और अनुभूति के दृष्टि से 'काव्य' का क्या रहस्य है ? काव्यसृष्टि के उपकरणों में 'शब्द' और 'अर्थ' का क्या वैशिष्ट्य है ? काव्य में शब्दसामान्य और शब्द-विशेष अथवा अर्थ-सामान्य और अर्थ-विशेष का क्या तारतम्य है ? इत्यादि विषयों के समञ्जस प्रतिपादन में 'ध्वनि-वाद' का उद्भव हुआ और

काव्य-कृति के, कला और अनुभूति-दोनों के दृष्टिकोणों से, वैज्ञानिक विवेचन की परम्परा प्रारम्भ हो गयी।

ध्वनि-वाद की सर्व प्रथम मान्यता यही थी कि सर्वश्रेष्ठ काव्य में-और सर्वश्रेष्ठ काव्य (काव्य विशेष) वही काव्य है जिसमें उस 'अर्थ' की अनुभूति हो जो हृदय को आनन्द-स्निग्ध कर दे-प्रयुक्त 'शब्द' और 'अर्थ' कवि की अनुभूतियों और भावनाओं के प्रकाशन के माध्यम-मात्र हैं और इस लिये जब हम किसी ऐसे 'काव्य' का अनुशीलन करें जिसमें हम रसार्द्र हो जांय तो उसके 'शब्दों' और 'अर्थों' में कवि के हृदय के अभिव्यञ्जन का सामर्थ्य देखें और विचारें। अलङ्कारों के द्वारा यह सामर्थ्य शब्दों और अर्थों में नहीं आया करता और न दोष-हानि की सतर्कता ही इसमें कुछ कर सकती है। साथ ही साथ 'विशिष्ट पदरचना' से भी शब्दों अथवा अर्थों में ऐसी कोई शक्ति नहीं आ जाया करती जो कवि-हृदय का प्रकाशन कर दे और जिससे हमारा हृदय रसमय-आनन्द-मग्न हो जाय। सबसे पहले तो 'काव्य' के उपकरण-भूत तत्त्वों का विचार आवश्यक है न कि उसके शोभाधायक अथवा शोभातिशयाधायक तत्त्वों का। काव्य एक कला है और कला अनुकृति नहीं अपि तु अभिव्यञ्जना है—इस दृष्टि से ध्वनि-वाद ने काव्य-कला के माध्यम-भूत 'शब्द'-तत्त्व के स्वरूप का परिष्करण किया। रस अथवा सौन्दर्य की सृष्टि किं वा रस अथवा आनन्द की अनुभूति की दृष्टि से 'काव्य'-गत शब्दों को व्यञ्जक' शब्द सिद्ध किया गया। आचार्य आनन्दवर्धन की यही दृढ़ धारणा रही कि :—

'सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥' (ध्वन्यालोक १.८)

अर्थात् 'जब कि महाकवियों की यही मर्यादा रही है कि वे अर्थ-मात्र की विवक्षा के लिये शब्द-मात्र का प्रयोग नहीं किया करते अपि तु काव्य-रचना किया करते हैं जिसमें कोई न कोई अर्थ-विशेष रहा करता है जिसकी दृष्टि से शब्द-विशेष का व्यवहार किया गया रहता है तब तो सहृदयता की दृष्टि की सार्थकता इसी में है कि उसे उस अर्थ की प्रत्यभिज्ञा हो जो काव्य का सारभूत अर्थ है और उस शब्द की भी जो उस अर्थ का अभिव्यञ्जन कर रहा हो।'

ध्वनि-वाद की दृष्टि में काव्य के 'शब्द'-रूप उपकरण की प्रत्यभिज्ञा काव्य-रचना किं वा काव्य-भावना-दोनों की कसौटी के रूप में दिखायी पड़ी। आचार्य मम्मट ने ध्वनि-वाद की इसी दृष्टि से काव्य के 'शब्द'-रूप उपकरण का दर्शन और विवेचन किया। 'शब्द' की प्रत्यभिज्ञा का रहस्य वही रहा जिसे श्रीमदुत्पलाचार्य ने परमशिव की प्रत्यभिज्ञा के रूप में निरूपित किया था:—

'तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥,

अर्थात् 'काव्य के शब्द अथवा काव्य के अर्थ तो वस्तुतः लोक के शब्द अथवा लोक के ही अर्थ ठहरे। लोक के शब्दों का ज्ञान तो शब्दानुशासन-ज्ञान से ही सम्भव है किन्तु ये ही शब्द

जब 'काव्य' के उपकरण बना करते हैं तब इनका संवेदन एकमात्र काव्यार्थतत्त्वज्ञता के द्वारा ही हो सकता है। शब्दानुशासन-ज्ञान की दृष्टि में लोक-शब्द और काव्य-शब्द में भेद कहां? शब्दानुशासन-ज्ञान के द्वारा काव्य-गत शब्द का कोई भी स्वारस्य नहीं जाना जा सकता। जब तक कवि अथवा सहृदय सामाजिक में काव्यार्थ तत्त्वज्ञता न हो तब तक तो काव्य का परमोपकरणीभूत भी शब्द अपरिज्ञात ही रह जायेगा। जब कवि अथवा सहृदय को काव्योपयोगी शब्द की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है तभी ऐसा हुआ करता है कि वह उस शब्द में हृदय का स्पन्दन देख ले और हृदय के स्पन्दन में उस शब्द की शक्ति का स्वरूप पहचान ले।,

काव्य के उपकरण अथवा माध्यम-भूत 'शब्द' की प्रत्यभिज्ञा की दृष्टि से आचार्य मम्मट ने शब्द की उपाधियों का ध्वनि-वाद-सम्मत निरूपण किया। ध्वनि-वाद के अनुसार शब्द की तीन उपाधियां सम्भव हैं—१ली वाचकता, २री लाक्षणिकता और ३री व्यञ्जकता। इसीलिये आचार्य मम्मट ने शब्दों का यह श्रेणी-विभाग किया—

'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा।' (काव्यप्रकाश २.१)

अर्थात् 'रसापकर्षक दोष-रहित, गुणाभिव्यञ्जक किं वा उचितालङ्कृत वस्तुतः 'ललितोचित-सन्निवेशसुन्दर' शब्दार्थ-साहित्य-रूप 'काव्य' में शब्द की त्रिविध उपाधियों का परिज्ञान आवश्यक है क्योंकि विना इसके कवि की विवक्षा किं वा कवि की रस-सृष्टि का यथोचित विश्लेषण सम्भव नहीं। ऐसा नहीं कि कुछ शब्द वाचक हों, कुछ लाक्षणिक हों और कुछ व्यञ्जक हों क्योंकि तब तो काव्य के शब्द और लोक के शब्द भिन्न २ रूप-रङ्ग के प्रतीत होने चाहियें। किन्तु ऐसा कहां कि काव्य के शब्द लोक के शब्द नहीं? लोक के शब्द ही काव्य में प्रयुक्त हुआ करते हैं किन्तु यह तो प्रयोक्ता के व्यक्तित्व की विशेषता है कि काव्यान्तःपाती शब्द एक ऐसे धर्म से विशिष्ट हो जाया करते हैं जो लोक-गत शब्दों के धर्मों से सर्वथा विचित्र-सर्वथा विलक्षण-धर्म हुआ करता है। यह धर्म ही वह तत्त्व है जिसे 'व्यञ्जकता' कहा करते हैं। काव्य के उपयोगी किं वा काव्य में प्रयुक्त शब्दों की प्रत्यभिज्ञा का तात्पर्य उनकी इसी 'व्यञ्जकता' का अनुभव है। जब कवि को काव्य-रचना के समय अपने शब्दों की 'व्यञ्जकता' की अनुभूति हुआ करती है तभी वह काव्य-क्रिया में रसमग्न हुआ करता है। विना रसमग्नता के काव्य-सृष्टि सम्भव नहीं। वाचकता और लाक्षणिकता तो शब्द-सामान्य की उपाधियां हैं। शब्दों की वाचकता और लाक्षणिकता की उपाधियां तो लोक-यात्रा के चलाने में कृतकार्य हुआ करती हैं किन्तु जबतक कवि अथवा सहृदय को लौकिक शब्दों की इन द्विविध उपाधियों का परिचय न हो तब तक इनसे सर्वथा विलक्षण व्यञ्जकता की उपाधि का अनुभव क्यों कर होने लगे।'

आचार्य मम्मट ने लोक-यात्रा के निर्वाहक शब्दों को ही काव्य-कला के उपकरण के रूप में सिद्ध किया। 'काव्य में प्रयुक्त शब्द त्रिविध अर्थात् वाचक और लाक्षणिक और व्यञ्जक हुआ करते हैं' इसका यही अभिप्राय लिया कि काव्य-रचना भले ही लोक-शब्दों से हो किन्तु इन्हीं लोक-शब्दों से रचे गये वाक्य में काव्य की रूपरेखा तभी झलक सकती है जब कि कोई भी शब्द ऐसा प्रयुक्त हो जाय जिसमें कवि की हृदय-तन्त्री झङ्कृत हो उठे और जिसका संगीत सहृदय-हृदय को स्पर्श कर जाय। जो भी वाचक अथवा लाक्षणिक शब्द इस प्रकार का होगा जिसमें कवि का हृदय अभिव्यक्त हो रहा होगा वह वाचक अथवा लाक्षणिक नहीं कहा जायगा अपितु 'व्यञ्जक' माना

जायगा। काव्य में इसी व्यञ्जक-शब्द की प्रत्यभिज्ञा में कवित्व और सहृदयत्व की परीक्षा हुआ करती है।

प्राचीन अलङ्कार-वादी आचार्य भी कवि-जन और साथ ही साथ सहृदय-जन के लिये 'शब्द' का परिज्ञान आवश्यक मानते रहे हैं। आचार्य भामह की यह उक्ति इस सम्बन्ध में स्मरणीय है:—

'सूत्राम्भसं पदावर्त्तं पारायणरसातलम्। धातूणादिगणग्राहं ध्यानग्रहबृहत्प्लवम्॥
धीरैरालोकितप्रान्तममेधोभिरसूयितम्। सदोपभुक्तं सर्वाभिरन्यविद्याकरेणुभिः॥
नाऽपारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम्। शब्दरत्नं स्वयङ्गम्यमलङ्कर्त्तुमयं जनः॥
तस्य चाधिगमे यत्नः कार्यः काव्यं विधित्सता। परप्रत्ययतो यत्तु क्रियते तेन का रतिः॥

(काव्यालङ्कार ६. १-४)

किन्तु अलङ्कार-वाद की दृष्टि से 'शब्द' के परिज्ञान में एक मात्र शब्द की निर्दुष्ट वाचकता का ही परिज्ञान अन्तर्भूत है न कि उसकी उस विशेषता का जिसमें वह कवि-कला का माध्यम बना करता है। काव्य में शब्द की वाचकता में अन्तर्निगूढ व्यञ्जकता, लाक्षणिकता में अन्तर्भूत व्यञ्जकता और यथासम्भव व्यञ्जकता में भी अन्तर्व्याप्त व्यञ्जकता-वैशिष्ट्य का दर्शन तो ध्वनि-वाद का ही शब्द-दर्शन है। आचार्य मम्मट ने सामान्य-शब्दानुशासन की दृष्टि से शब्दों का उपाधि-विभाग नहीं किया अपितु ध्वनि-वाद-सम्मत काव्य-शब्दानुशासन की दृष्टि से ही शब्दों की उपाधियों का निरूपण किया है। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि काव्य में रसरूप आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले मम्मट ने 'व्यञ्जक' शब्द का ही विवेचन क्यों नहीं किया? किन्तु इसका समाधान सरल है। ध्वनि-वाद के प्रवर्त्तक और प्रतिष्ठापक आचार्यों का कार्य तो ध्वनि-तत्त्व का निरूपण था। आचार्य मम्मट का जो कार्य था वह था ध्वनि-दर्शन की दृष्टि से आलङ्कारिकों के विविध-वादों का समन्वय। इस समन्वय की दृष्टि से मम्मट ने 'काव्यविशेष' (रस-ध्वनि-काव्य), 'गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य' और 'चित्रकाव्य' इन तीन काव्यप्रकारों का श्रेणी-विभाग तथा तारतम्य प्रदर्शित किया। तीनों प्रकार के काव्य-प्रकारों के रचयिताओं की दृष्टि से काव्य के उपकरणभूत 'शब्द' की त्रिविध विशेषताओं का निरूपण आवश्यक ही हुआ। काव्य में अलङ्कारों और गुणों की सौन्दर्य-वर्धकता और सौन्दर्याधायकता की विशेषताओं के मूल में रहने वाली शब्द-गत वाचकता और लाक्षणिकता का स्वरूपोन्मीलन जबतक न हो तब तक अलङ्कारों और गुणों का रस-ध्वनिरूप आत्म-तत्त्व से सम्बन्ध क्यों कर बताया जा सके। 'वैदग्ध्य भङ्गीभणिति' (वक्रोक्ति-) रूप कवि-व्यापार के साधन-भूत शब्दों में वाचकता और लाक्षणिकता के रहस्य का जब तक उद्घाटन न किया जाय तब तक 'रसाभिव्यक्ति' से इसका समन्वय क्यों कर हो? काव्य-गत शब्दों में 'भोगकृत्व' की शक्ति की मान्यता का जब तक वैज्ञानिक विश्लेषण न किया जाय तब तक काव्य का रहस्योद्भेद क्यों कर किया जा सके? इन सब विचार-विमर्शों के कारण शब्द की त्रिविध उपाधियों अथवा धर्मों का विवेचन ध्वनि-वादी आचार्य मम्मट के लिये आवश्यक ही हुआ और इसीलिये मम्मट ने 'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' का सिद्धान्त स्थापित किया।

आचार्य आनन्दवर्धन की यही धारणा थी कि 'काव्य-विशेष' के अनुभव में तो उसके 'शब्द'-रूप उपकरण में व्यञ्जकताधर्म का ही प्राधान्य देखा जाया करता है किन्तु इस काव्य-विशेष की रचना में कवि का जो प्रयत्न हुआ करता है उसका आधार वाच्य-वाचक-भाव ही रहा करता

है। जैसे किसी सुन्दरी के मुख-दर्शन के लिये कोई भी व्यक्ति दीपशिखा की खोज में तत्पर हुआ करता है वैसे ही कविजन भी अपनी हृदयानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये वाच्य-वाचक-भाव की खोज में लगा करते हैं। सहृदय-जन भी काव्य में वाच्य-वाचक-भाव की प्रतीति के उपरान्त ही व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव के अनुसन्धान में आनन्दमग्न हुआ करते हैं। वाच्य-वाचकभाव-प्रतीति और व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव-प्रतीति में तो उपाय-उपेय-(हेतु-साध्य-) भाव का घनिष्ठ सम्बन्ध ठहरा। जो काव्य-पाठक है वह भले ही वाच्य-वाचक-प्रपञ्च के परिज्ञान में ही अपना काव्यानुभव समाप्त समझे, किन्तु जो काव्य-रसिक हैं जिनकी सहृदयता पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी है, वे तो तभी अपना काव्यानुभव परिपूर्ण माना करते हैं जब व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-सौन्दर्य का दर्शन कर लेते हैं। काव्य-विशेष में आनन्दानुभूति की अवस्था में वाच्य-वाचकभाव की प्रतीति नहीं हुआ करती किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि काव्य-विशेष में वाच्य-वाचक-भाव रहा ही नहीं करता। काव्य-विशेष में वाच्य-वाचक-भाव रहा अवश्य करता है किन्तु व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव से विभक्तरूप से नहीं रहा करता। वाच्य-वाचक-भाव में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव का सञ्चार करना ही तो महाकवियों का कवि-कर्म है। बिना इसके तो काव्य में आनन्दानुभूति सहृदय-हृदय की महिमा हुई, इसमें कवि का क्या हाथ? किन्तु वस्तुतः बात यह है कि कवि ही सहृदय की भी सृष्टि करता है और इस दृष्टि से वही लोकगत शब्दों में ही अपने हृदय की अभिव्यञ्जना का ऐसा सामर्थ्य भर दिया करता है जिससे उसके द्वारा प्रयुक्त लोक के वाचक अथवा लाक्षणिक शब्द व्यञ्जना के स्फुरण के माध्यम बन जाया करते हैं।

काव्य में शब्दों की व्यञ्जकता के ही कारण काव्य को अन्य समस्त साहित्य-भेदों जैसे कि शास्त्रादि, विज्ञानादि किंवा इतिहासादि से पृथक् प्रकार का साहित्य—विशिष्ट साहित्य—माना जा सकता है जैसा कि माना भी गया है। शब्दों की 'वाचकता' कवि के वश में नहीं, उसका निर्धारण भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी समाज किया करता है। किन्तु शब्दों की 'व्यञ्जकता' कवि के वश में है क्योंकि उसका निर्धारण कवि की विशिष्ट विवक्षा किया करती है। 'वाचकता' तो शब्द का नैसर्गिक धर्म है और 'व्यञ्जकता' औपाधिक। 'वाचकता' नियतरूप है और 'व्यञ्जकता' अनियत-रूप। 'व्यञ्जकता' का शब्द-धर्म शब्द-स्वरूप में ही अनियत अथवा अनिश्चित है किन्तु शब्द के व्यङ्ग्यरूप विषय में तो कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से सर्वथा निश्चित ही रहा करता है। लोक-व्यवहार में भी शब्दों में 'व्यञ्जकता' हुआ करती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अभिप्राय-प्रकाशन के लिये ही शब्द-प्रयोग किया करता है किन्तु लौकिक वाग्व्यवहार में शब्दों की व्यञ्जकता उनकी वाचकता से भिन्न रूप से नहीं प्रतीत हुआ करती। इसका कारण यही है कि लोक-यात्रा अभिप्राय मात्र के प्रकाशन और अवबोधन से नहीं अपि तु अभिप्रेत वस्तु के प्रति विधि-निषेधादि से सम्बद्ध रहा करती है। काव्य की बात सर्वथा भिन्न है। काव्य में कवि के अभिप्राय की प्रतीति का ही महत्व है न कि अभिप्रेत वस्तु की प्रतीति आदि का। काव्य में व्यङ्ग्यरूप अभिप्राय ही कवि का विवक्षित अर्थ-तत्त्व है और इसी लिये काव्य में ही शब्दों की व्यञ्जकता उनकी वाचकता से सर्वथा भिन्न पहचानी जाया करती है। आचार्य अभिनवगुप्त का इसी लिये यह कथन है:—

'काव्यवाक्येभ्यो हि न नयनानयनाद्युपयोगिनी प्रतीतिरभ्यर्थ्यते, अपि तु प्रतीति विश्रान्तिकारिणी, सा चाऽभिप्रायनिष्ठैव नाभिप्रेतवस्तुपर्यवसाना।'

(ध्वन्यालोकलोचन, ३ य उद्योत)

और इसी लिये आचार्य मम्मट ने काव्य में शब्द और उसके साथ ही साथ उसके अर्थ को अप्रधान-गौण कहा है क्योंकि काव्य-गत शब्द और अर्थ **'रसाङ्गभूतव्यापारप्रवण'** रहा करते हैं, 'व्यञ्जना' के आधार बना करते हैं, एकमात्र कवि-विवक्षित रमणीय अर्थ के प्रत्यायन के साधनरूप से उपस्थित हुआ करते हैं।

५. मम्मट और 'अर्थ'-रूप काव्य-साधन

जितने भी 'अर्थ' हुआ करते हैं वे पद के ही अर्थ हुआ करते हैं। हमारे अनुभवों के विषयों और पदों के अर्थों का क्षेत्र एक ही है और एक समान ही व्यापक है। कवि के लिये जिस प्रकार शब्द उसकी काव्य-रचना के साधन हैं उसी प्रकार अर्थ भी काव्य-रचना के उपकरण ही हैं। लोक के ही शब्दों और अर्थों को कवि अपनी काव्य-कला के साधन रूप में स्वीकार किया करता है। लोक के शब्द और अर्थ तो काव्य-कला के ऐसे साधन हैं जिन्हें काव्यनिर्माण का 'सामान्य साधन' कह सकते हैं किन्तु ये ही जब कवि के द्वारा विन्यास-विशेष में प्रयुक्त हुआ करते हैं तब काव्य-कृति के 'कलात्मक माध्यम' का रूप धारण किया करते हैं।

मम्मट ने शब्द की भांति 'अर्थ' का भी 'सामान्य साधन' और 'कलात्मक माध्यम' दोनों रूपों में विचार किया है। यह विचार सहृदय के लिये इसलिये आवश्यक है क्योंकि कवि भी इस विचार-विमर्श में तन्मय हुआ करता है। मम्मट का **'वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः'**—(काव्यप्रकाश २ य उल्लास) यह कथन वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थों को काव्य-कला के 'साधन' और 'माध्यम' दोनों रूपों में प्रतिपादित करने के लिये है। लोक में भी शब्दों के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थ हुआ करते हैं किन्तु कवि का इन अर्थों को अपनी कला के माध्यम-रूप में स्वीकार करने का उद्देश्य अपनी लोकोत्तर वर्णना का उद्देश्य है। वाच्य और लक्ष्य और व्यङ्ग्यरूप लोकगत अर्थों में 'लोकोत्तर वर्णना' नहीं रहा करती। 'लोकोत्तर वर्णना' तो कवि की प्रतिभा का उन्मेष और उल्लेख है जो वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यरूप लोकगत अर्थों से रस-सृष्टि किया करती है। कवि की 'लोकोत्तर वर्णना' लोक के शब्दात्मक किंवा अर्थात्मक विषयों को काव्य-निर्माण के साधन-रूप में ही नियन्त्रित रखा करती है और उक्ति-वैचित्र्य से शब्दों और अर्थों की जो भी विचित्रतायें हों उन्हें भी साधन-वैशिष्ट्यरूप में ही सीमित रखा करती है। मम्मट की यह उक्ति कि 'काव्य एक विलक्षण कृति है, कलाकृति है क्योंकि इसमें इसके समस्त शब्द और शब्द-वैचित्र्य तथा अर्थ और अर्थ-वैचित्र्य-रूप उपकरण रस-योजना की दृष्टि से ही प्रयुक्त तथा उपयुक्त हुआ करते हैं':—

'शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यम्'—

(काव्यप्रकाश, १ म उल्लास)

प्राचीन आलङ्कारिकों की काव्य-धारणा का रस-ध्वनि-तत्त्व-दर्शन से समन्वय स्थापित किया करती है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने शब्द और अर्थ और उनके वैचित्र्य का विचार-विमर्श तो पर्याप्त किया किन्तु 'काव्य'रूप कलाकृति के साथ इनके सम्बन्ध का रहस्य न बता सके। 'विचित्र शब्द और अर्थ 'काव्यकृति' नहीं हैं अपि तु कविकला के माध्यम हैं जिनसे कवि रसोल्लास किया करता है'—यह शब्दार्थ-रहस्य ध्वनि-दार्शनिक आचार्यों का उद्घाटित रहस्य है और इसी का निरूपण मम्मट के अर्थ-स्वरूप-विचार का उद्देश्य है।

लोक-शास्त्र-काव्यादि के अवेक्षण से कविजन शब्दार्थराशि में व्युत्पन्न हुआ करते हैं किन्तु उनकी यह व्युत्पत्ति प्रतिभा के अधीन रहने पर ही उत्तमोत्तम काव्य की रचना कर सकती है अन्यथा तो आपाततः शब्द-चमत्कार अथवा अर्थ-चमत्कार भले ही उत्पन्न हुआ करे पार्यन्तिक काव्य-चमत्कार कभी नहीं प्रकट हो सकता। महाकवि कालिदास जिस 'वागर्थप्रतिपत्ति' के लिये 'पार्वती-परमेश्वर' की चिन्तन-धारा में प्रवाहित होना चाहते रहे हैं वह 'वागर्थप्रतिपत्ति' लोकगत शब्द और अर्थमात्र की प्रतिपत्ति नहीं अपितु कव्यकृति के मध्यभूत शब्द और अर्थ की ही प्रतिपत्ति है। 'वागर्थप्रतिपत्ति' कवि और सहृदय दोनों के रसानुभव का एक साधन है।

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्य-रूप अर्थ काव्यरूप कलानिर्माण के माध्यम हैं—इसका स्पष्ट संकेत मम्मट ने स्वयं किया है:—

'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते।' (काव्यप्रकाश, २य उल्लास)

अर्थात् 'वाच्य, लक्ष्य, और व्यङ्ग्यरूप अर्थों का उपयोग कविजन जिस लिये किया करते हैं वह उनका अनुभव-प्रकाशन है।' कवि के प्रकाशित अनुभव का परिज्ञान सहृदय का कार्य है और इसलिये सहृदय भी अपनी काव्यानुभूति के विश्लेषण में कवि की ही भांति अर्थों का विचार-विवेक किया करते हैं और उनकी अभिव्यञ्जकता को पहचान को अपनी सहृदयता की कसौटी माना करते हैं।

प्राचीन आलङ्कारिक काव्य में अर्थ की विचित्रताओं का अन्वेषण तो कर चुके थे क्योंकि बिना ऐसा किये अर्थालङ्कारों की भेद कल्पना असंभव थी किन्तु अर्थ की इन विचित्रताओं की मूलभित्ति का विश्लेषण ध्वनिवाद का ही कार्य था। आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की परम्परा के प्रचालक आचार्य मम्मट ने 'अर्थ' की जिन दो विशेषताओं का विश्लेषण किया है अर्थात् अर्थ की 'व्यङ्ग्यपरता' और 'व्यङ्ग्यांशविशिष्टता', उसमें उनकी काव्य-मर्मज्ञता का रहस्य स्पष्ट प्रकट हो रहा है। अर्थ की (और साथ ही साथ शब्द की) 'व्यङ्ग्यपरता' रहस्य तो ध्वनिकाव्य का रहस्य है और उसकी 'व्यङ्ग्यांशविशिष्टता' में 'गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य' का रूप निखर उठता है। जिसे 'चित्र-काव्य' (अर्थचित्रकाव्य) कहते हैं उसमें अर्थ की इन द्विविध विशेषताओं की अस्फुटता ही नियामक है। अर्थ के इस प्रकार के विमर्श में ही काव्य-स्वरूप और काव्य-प्रकार का वैज्ञानिक परिच्छेद छिपा है और इसी दृष्टि से मम्मट ने इसका ऐसा विमर्श भी किया है।

अर्थ की इन विशेषताओं का मम्मट ने एक और भी दृष्टि से-जो कि ध्वनिवाद की ही दृष्टि है, विश्लेषण किया है और इस विश्लेषण में 'अर्थ' के दो रूप दिखाई देते हैं—१ला वस्तुरूप और २रा अलङ्काररूप। वस्तुरूप अर्थ को 'व्यङ्ग्यपरक' अथवा 'व्यङ्ग्यांशविशिष्ट' बनाने में कवि का हाथ रहा करता है। 'अलङ्काररूप' अर्थ भी काव्य में अपने आप में चमत्काराधायक नहीं हुआ करता, उसे चमत्कारमय बनाने के लिये भी उसको 'व्यङ्ग्यपरता' अथवा 'व्यङ्ग्यांशविशिष्टता' की आवश्यकता है जिसकी पूर्ति कवि की कला है न कि अर्थ-स्वरूप की। काव्यरूप बन्ध-विशेष में इन कलात्मक उपकरणों का विश्लेषण कवि और सहृदय दोनों के लिये अपेक्षित है क्योंकि बिना इसके काव्य-बन्ध और उसके इन उपकरणों का सम्बन्ध—व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूप सम्बन्ध—अक्षुण्ण नहीं रखा जा सकता।

ध्वनिवादी काव्याचार्यों ने जैसे कि कविराज राजशेखर आदि ने 'अर्थ' के अनेकानेक प्रकारों का जो दिग्दर्शन कराया है उनका विचार मम्मट ने इसलिये नहीं किया कि मम्मट की आलोचना-दृष्टि नानाविध काव्यार्थों में 'वस्तुरूपता' और 'अलङ्कारता' के धर्म को ही सर्वथा समन्वित देखती है। वस्तुरूप अथवा अलङ्काररूप अर्थ अपने आप में काव्यात्मक नहीं हुआ करता, उसकी काव्यात्मकता तो तभी देखी जा सकती है जब वह काव्य-सृष्टि का माध्यम बना करता है।

काव्य के माध्यमभूत 'अर्थ' का एक और भी विश्लेषण-प्रकार है जिसके अनुसार मम्मट ने 'स्वतः संभवी', 'कविप्रौढोक्ति सिद्ध' और 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध' त्रिविध अर्थों का ध्वनि-वाद-सम्मत विचार किया है 'स्वतः संभवी' अर्थ तो वही अर्थ है जिसे आधुनिक पाश्चात्य कला-समीक्षक कला में 'वस्तुसंवाद' (Verisimilitude) के रूप में देखा करते हैं और 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' अथवा 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' अर्थ वह अर्थ है जिसे वे कला में 'व्यतिरेक-भावना' (Contrast) के रूप में पहचाना करते हैं। 'स्वतः संभवी' अर्थ-प्रकार का मम्मट ने यह स्वरूप बताया है:—

'स्वतः संभवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन संभाव्यमानः।'

(काव्यप्रकाश, ४र्थ उल्लास)

जिसमें यह स्पष्ट है कि वस्तुरूप और अलङ्काररूप-द्विविध अर्थों की 'स्वतः संभाविता' का ज्ञान कवि के लिये इस लिये आवश्यक है और साथ ही साथ सहृदय के लिये भी, जिसमें 'काव्य' 'उक्ति-वैचित्र्य' मात्र न मान लिया जाय। 'कवि प्रौढोक्तिसिद्ध' अथवा 'कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध' अर्थ में भी 'वस्तुरूपता' और 'अलङ्कारता' की पहचान का यही तात्पर्य है कि अर्थालङ्कार-योजना में भी काव्य-रहस्य नहीं समाप्त हुआ करता। कवि की उक्ति अनलङ्कृत रहते हुये भी 'प्रौढोक्ति' हो सकती है और इसी लिये हो सकती है कि इसमें वह सामर्थ्य निहित है जिसके द्वारा वह जिस किसी भी अनलङ्कार अथवा अलंकार रूप वस्तु को हमारे मानस-पटल पर अंकित कर दे। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी लिये 'प्रौढोक्ति' को **'समर्पयितव्यवस्त्वर्पणोचिता प्रौढा (उक्तिः)'** (लोचन, पृष्ठ २५४) कहा है और आचार्य मम्मट ने इसे कहा है—**'कविप्रतिभामात्रप्रसूत'** उक्ति (काव्यप्रकाश, ४र्थ उल्लास)। चाहे जिस प्रकार का भी अर्थ हो, 'स्वतः संभवी' या 'कविप्रौढोक्ति' अथवा 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-निष्पन्न' हो और साथ ही साथ 'वस्तुरूप' हो या 'अलङ्काररूप' हो—वस्तुतः काव्य में इसका उपादान इसी लिये अपेक्षित है जिसमें यह कुछ कर सके न कि केवल पड़ा रहे। किसी काव्य-बन्ध में अर्थ-वैशिष्ट्य के इस विमर्श का एकमात्र अभिप्राय इसकी 'व्यञ्जकता' का ही विमर्श है।

महाकवियों ने 'अर्थजात' के वैयक्तिक चिन्तन का जहां-तहां निर्देश किया है। महाकवि माघ ने कहा है:—

'क्षणशयितविबुद्धाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम्। गहनमपररात्रप्राप्तनिद्राप्रसादाः॥'

अर्थात् 'उषःकाल की बेला में कविजन जाग-जाग कर अर्थों का चिन्तन किया करते हैं।' महाकवियों का यह 'अर्थ-चिन्तन' अलङ्कार अथवा रीति-वाद की दृष्टि में वह रहस्य नहीं रखता जो कि ध्वनिवाद की दृष्टि में रखा करता है। इस 'अर्थचिन्तन' में 'व्यङ्ग्यरूप' रसादिमय अर्थ की भावना तो अन्तर्भूत है ही किन्तु 'व्यञ्जकरूप' अर्थ की भावना भी सर्वथा अन्तर्व्याप्त है। आचार्य मम्मट की अर्थ-समीक्षा में इसी अर्थचिन्तन का स्वरूप झलक रहा है।

६. मम्मट का काव्य-शक्ति-विचार

व्याकरण, मीमांसा और तर्कशास्त्र में शब्द-शक्तियों का विचार होता चला आया है। अभिधाशक्ति, तात्पर्यशक्ति, और लक्षणाशक्ति की मान्यतायें व्याकरण, मीमांसा और तर्कशास्त्र की प्राचीन मान्यतायें हैं। प्राचीन आलङ्कारिकों में आचार्य उद्भट से ही शब्द-शक्ति का विचार प्रारम्भ हुआ है। आचार्य उद्भट ने 'अभिधा' और 'गुणवृत्ति' शब्द-शक्तियों का विवेक इस उद्देश्य से किया था जिसमें अनेकानेक अर्थालङ्कारों में अलङ्कारान्तर की प्रतिभा का रहस्य समझा-समझाया जा सके। कविराज राजशेखर ने औद्भट-सिद्धान्त की जिन कतिपय मान्यताओं का अपनी 'काव्य-मीमांसा' में संकेत किया है उनमें अर्थ की द्विरूपता–१ली विचारितसुस्थता और २री अविचारितरमणीयता–का भी संकेत मिलता है। इसी प्रकार व्यक्तिविवेक के टीकाकार आचार्य रुय्यक ने भी उद्भट की काव्यालोचना-सम्बन्धी मान्यताओं में 'अभिधावैशिष्ट्य' के परे 'शब्दार्थ-वैशिष्ट्य' को मान्यता का उल्लेख किया है। आचार्य उद्भट के बाद आचार्य वामन ने भी 'अभिधा' के अतिरिक्त 'लक्षण' का निर्देश किया (**सादृश्या ल्लक्षणा वक्रोक्तिः**) और लक्षण-रहस्य में 'अर्थप्रतिपत्तिरहस्य' का दर्शन किया है जैसा कि प्रतीहारेन्दुराज का मत है:—(**लक्षणायां हि झगित्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षते**)। किन्तु अलङ्कारशास्त्र में ध्वनिवाद के उद्भव में ही उस शक्ति का विचार-विमर्श प्रारम्भ होता है जिसे 'काव्य' की शक्ति, रसवर्णना और रसभावना की शक्ति-'व्यञ्जना' शक्ति कहा जाता है और जिसकी विशेषता से 'काव्य' अन्य समस्त वाङ्मय-भेदों में अपना विशिष्ट अस्तित्व रखता दिखायी दिया करता है।

आचार्य मम्मट ने ध्वनिदर्शी आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की विचार-धाराओं के अनुसन्धान में 'काव्य-शक्ति'-'व्यञ्जना' का प्रामाणिक विचार प्रस्तुत किया है। 'व्यञ्जना-शक्ति' का अपलाप किसी प्रकार भी संभव नहीं क्योंकि कवि की काव्य-सृष्टि और सहृदय की काव्यानुभूति की इसके अतिरिक्त और कोई विश्लेषण-दृष्टि नहीं हो सकती। लोकप्रसिद्ध किंवा शब्दशास्त्रकारादिसम्मत 'अभिधा' में 'व्यञ्जना' का अन्तर्भाव सर्वथा असंभव है क्योंकि काव्य में न तो शब्द का महत्त्व है और न अर्थ का अपि तु रसवर्णना का। जिसे 'अभिधा शक्ति' कहा करते हैं वह शब्द की ही शक्ति है और इसका कार्य 'वाच्य' का प्रतिपादनमात्र है। शब्द और अर्थ में 'वाच्यवाचकभाव' रूप औत्पत्तिक अथवा स्वाभाविक सम्बन्ध रहा करता है और यह सम्बन्ध अभिधारूप 'शक्ति' अथवा 'सामर्थ्य' की मान्यता का नियामक है। शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकभाव सम्बन्धरूप 'समय' अथवा 'संकेत' के ही सहारे कोई शब्द अपने 'वाच्य' का अवगमन करा सकता है और शब्द का यही वाच्यावगमन उसकी 'अभिधाशक्ति' है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है:—

'समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः' (ध्वन्यालोकलोचन, १म उद्योत)

'काव्य' के शब्द तो लोक के ही शब्द हैं न कि कवि के कल्पित शब्द हैं। किन्तु ये शब्द जब काव्यकला के उपकरण बना करते हैं तब इनकी वाच्यावगमन शक्ति भी कवि की लोकोत्तरवर्णना-शक्ति के स्फुरण के लिये रास्ता साफ कर दिया करती है। जिसे 'अभिधामूलक व्यञ्जना' कहा करते हैं उसका यही अभिप्राय है कि 'व्यञ्जना' के लिये 'अभिधा' भी एक माध्यम है। काव्य में

अभिधा व्यापार का विचार अपने आप के आवश्यक नहीं अपि तु इसी लिये आवश्यक है जिससे अभिधाश्रित व्यञ्जना का स्वरूप अन्यविधव्यञ्जना से पृथक् रूप से पहचाना जा सके।

'शब्द का मुख्य अर्थ 'जातिरूप', 'गुणरूप', 'क्रियारूप' और 'द्रव्यरूप' चार प्रकार का ही हुआ करता है और इस चतुर्विध मुख्यार्थ में शब्द का जो मुख्य व्यापार है वही 'अभिधा' है। मीमांसक-मत में शब्द का मुख्यार्थ एकविध ही है—जातिरूप ही है और जिसे 'अभिधा' कहते हैं वह इसी जातिरूप मुख्यार्थ का अवगमक मुख्य शब्द व्यापार है'–आचार्य मम्मट का यह 'अभिधा शक्ति-विचार' जो कि इन पंक्तियों अर्थात्:—

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा। स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते॥'

(काव्यप्रकाश, २ य उल्लास)

इत्यादि में स्पष्ट है और इस बात का संकेत कर रहा है कि काव्यकृति और काव्यानुभूति के विश्लेषण के लिये वाच्यवाचक-प्रतीति ही पर्याप्त नहीं अपितु उसकी आवश्यकता है जिसे व्यङ्ग्यव्यञ्जक-प्रतीति कहना चाहिये।

अभिधा और व्यङ्ग्यप्रतीति में कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता और बिना संबन्ध के शब्द और उसके व्यङ्ग्यरूप अर्थ में ऐसी अराजकता छा जायगी जिससे 'काव्य' कोरी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जायगा। व्यञ्जना के न मानने वाले आलङ्कारिकों ने इस बात का पर्याप्त प्रयत्न किया है कि अभिधा को ही व्यङ्ग्यरूप अर्थ की शक्ति भी मान लिया जाय। अभिधा को 'दीर्घदीर्घव्यापारवती' मान लिया जाय और क्या वाच्यावगमन और क्या व्यङ्ग्यप्रत्यायन–सर्वत्र उसका साम्राज्य स्थापित देखा जाय। किन्तु 'अभिधा' में दीर्घदीर्घव्यापार' की कल्पना अभिधा तत्त्व के सर्वप्रथम द्रष्टा मीमांसकों के लिये भी असंभव ही है। आचार्य मम्मट ने अभिधा के विश्लेषण के प्रयास पर मीमांसानुयायी आलङ्कारिकों का उपहास ही किया है:—

'यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्, कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः; किमिति च श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्······ इति सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम्।'

(काव्यप्रकाश, ५म उल्लास)

अर्थात् 'यदि शब्द के श्रवण के बाद जितना भी अर्थ समझा जाया करे वह सब अभिधा का व्यापार हो तब तो शब्द-श्रोता में हर्ष-शोकादि प्रकाश भी शब्द का ही अर्थ हुआ? यदि अभिधा ही दीर्घदीर्घव्यापारवती हुआ करती तब मीमांसकों को 'लक्षणा' मानने की क्या आवश्यकता हुई होती? और सबसे बड़ी तो बात यह है कि यदि अभिधा में ही दीर्घदीर्घव्यापार की मान्यता मीमांसा के प्रवर्तक को भी अभीष्ट हुई होती तब श्रुतिलिङ्गादि प्रमाण-षट्क के पूर्वापर प्राबल्य-दौर्बल्य की प्रक्रिया ही क्योंकर प्रवर्तित की गयी होती?,

शब्द के दीर्घदीर्घतरव्यापार की कल्पना तो व्यञ्जनाव्यापार की मान्यता की ही सिद्धि है क्योंकि जैसे शब्द का वाच्यार्थविषयक व्यापार अभिधा है तो व्यङ्ग्यार्थविषयक व्यापार व्यञ्जना होना चाहिये न कि अभिधा। शब्द के दीर्घदीर्घव्यापार का अभिप्राय यह नहीं कि उसमें एक ही

व्यापार है और वह व्यापार अभिधाव्यापार है क्योंकि अभिधाव्यापार तो वाच्यार्थमात्र का ही प्रतिपादन-सामर्थ्य है। शब्द के और अर्थ-प्रकारों का अवगमन-सामर्थ्य दूसरे शब्द-व्यापारों का ही सामर्थ्य होना चाहिये न कि अभिधा का ! शब्द में यदि अभिधा के अतिरिक्त और भी शक्तियां मानी गयीं क्योंकि बिना ऐसा माने कोई चारा नहीं तो इन शक्तियों में वैधर्म्य का ही मानना आवश्यक होगा न कि एकरूपता का। शक्ति-वैधर्म्य की मान्यता व्यञ्जना की प्रतिष्ठा में ही सार्थक होगी न कि अभिधा में दीर्घदीर्घव्यापारवत्ता की प्रतिष्ठा में।

शब्द का 'स्वार्थाभिधान' और 'अर्थान्तरावगमन' एक ही काव्य-वाक्य में दृष्टिगोचर हुआ करता है और इस सत्य को प्रमाणित करने के लिये आचर्य मम्मट ने यह उदाहरण प्रस्तुत किया है:—

'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥

(काव्यप्रकाश, २य उल्लास)

जिसमें शब्द का स्वार्थाभिधान तो प्राकरणिक राजपक्ष और अप्राकरणिक गजपक्ष दोनों से संबद्ध है किन्तु यहां जो शब्द का 'अर्थान्तरावगमन' है उसका रहस्य 'उपमानोपमेयभाव' है। यहां यह सन्देह किसी को नहीं हो सकता कि शब्द का 'स्वार्थाभिधान' और 'अर्थान्तरावगमन' एक ही वस्तु है। यहां अभिधा का व्यापार तो शब्द के स्वार्थाभिधान में कृतकार्य हो रहा है और व्यञ्जना का व्यापार शब्द के अर्थान्तरावगमन में चरितार्थ हो रहा है। यहां अभिधा और व्यञ्जना दोनों व्यापारों के विषय परस्पर सर्वथा भिन्नरूप ही है न कि एकरूप क्योंकि अभिधा का विषय तो संकेतित राजरूप किंवा गजरूप अर्थ का प्रतिपादन है और व्यञ्जना का विषय सर्वथा असंकेतित किंवा काव्यानुशीलन-संवेद्य औपम्यभाव का अवगमन है। यहां वाच्यार्थ तो शब्द का स्वार्थ–अपना अर्थ–है और व्यङ्ग्यार्थ है शब्द का परार्थ-अपने अर्थ से भिन्नरूप अर्थ। वाच्यरूप अर्थ तो यहां शब्द से सम्बद्धरूप से प्रतीत हो रहा है और व्यङ्ग्यरूप अर्थ इस प्रकार का प्रतीत हो रहा है जिसका शब्द से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं पहचाना जा सकता। यहां प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थ शब्द का 'सम्बन्धी' अर्थ है किंतु दोनों में औपम्य का अर्थ-सर्वस्व ऐसा है जो कभी भी शब्द का 'सम्बन्धी' नहीं अपितु 'अर्थ सामर्थ्याक्षिप्त' अथवा 'सम्बन्धिसम्बन्धी' ही अर्थ कहा जा सकता है। यहां अभिधा और व्यञ्जना का स्वरूप-भेद भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है क्योंकि शब्द की अभिधानशक्ति वही नहीं जो कि उसकी अवगमनशक्ति हुआ करती है।

उपर्युक्त काव्य-सन्दर्भ का सौन्दर्य इसी में है कि इसमें कवि ने अपने वर्ण्य राजरूप विषय की ऐसी वर्णना की है जिसमें प्राकरणिक राजपक्षगत अर्थ और अप्राकरणिक गजपक्ष गत अर्थ–दो प्रथक्-पृथक् चित्र रूप में उपस्थित होते हुये भी साधर्म्य के कारण समान रूप से प्रभावोत्पादक बने हुये हैं और काव्यरसिक एक प्रभावमयता का अनुभव कर रहा है। प्राचीन आलङ्कारिक यहां अर्थ-भेद से शब्दभेद मान लिया करते थे और दो दो अभिधाओं की शक्ति का कार्य देखा करते थे। एक अभिधाशक्ति तो राजरूप अर्थ के प्रतिपादन में विरत थी और दूसरी अभिधाशक्ति गजरूप अर्थ के प्रतिपादन में। किन्तु व्यञ्जनाशक्ति की मान्यता से ही यहां कवि का वास्तविक अभिप्राय

सिद्ध हो सकता था क्योंकि यदि दोनों राजरूप और गजरूप अर्थ अभिधेय अर्थ ही मान लिये जांय तो इसका नियामक क्या हो, कि पहले तो राजरूप अर्थ समझा जाय और बाद में ही गजरूप अर्थ समझा जाय ! यह तो यहां अभिधामूलक व्यञ्जना का सामर्थ्य है कि प्रकरण की दृष्टि से पहले हम राजरूप अर्थ की और बाद में गजरूप अर्थ की प्रतीति करते हैं तथा उपमानोपमेय भाव के चमत्कार में, जो शाब्द नहीं अपि तु सर्वथा आक्षिप्त-व्यङ्ग्य है, असम्बद्धार्थकता का स्वयं निराकरण कर लिया करते हैं। ऐसे काव्यबन्धों के रहस्य में कवि की सामयिक अर्थ-विवक्षा का नहीं अपि तु आक्षिप्त अर्थ-विवक्षा का ही रहस्य छिपा है और इसके अनुभव में 'व्यञ्जना' की प्रत्यभिज्ञा स्वयं सिद्ध है।

यहां प्रकरण आदि से विशिष्ट शब्द ही वाच्यरूप और व्यङ्ग्यरूप अर्थों का प्रत्यायक है—यह भी मानना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। वाच्य रूप अर्थ तो शब्द के वचन-व्यापार (अभिधा) से सम्बद्ध है और व्यङ्ग्यरूप अर्थ ऐसा है जिसके लिये शब्द के व्यञ्जन व्यापार (व्यञ्जना) की आवश्यकता है। यहां जो शब्दों की व्यञ्जकता है वह 'वाचकशक्तिनिबन्धन' अथवा अभिधामूलक व्यञ्जकता है। ऐसे काव्यबन्धों में, जहां वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ-दोनों की क्रमशः प्रतीति हो रही है, 'वाक्यभेद' का दोष भी नहीं फटक सकता। वाक्य के लिये एकार्थक होना आवश्यक है क्योंकि मीमांसकों का यह वाक्य विषयक सिद्धान्तः—

'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्' (जैमिनिसूत्र)

अर्थात् 'एक वाक्य वही है जिसमें एक अर्थ की प्रतीति हो क्योंकि यदि अर्थद्वय की प्रतीति होने लगे तब तो वाक्य ही विघटित हो गया।' सर्वमान्य सिद्धान्त है। यहां 'अभिधामूलक व्यञ्जना में एक वाक्य से वाच्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थद्वय की प्रतीति में वाक्य विघटित होता है'—यह आशंका भी सर्वथा निर्मूल है क्योंकि यहां जो वाच्य रूप अर्थ है वह अप्रधानतया अवस्थित है और व्यङ्ग्यरूप ही अर्थ ऐसा है जो प्रधान रूप से विराजमान है। व्यङ्ग्य रूप अर्थ की प्रतीति में जब कोई सन्देह नहीं तब व्यञ्जनाव्यापार की मान्यता में ही क्यों दुराग्रह दिखाया जाय।

व्यङ्ग्य रूप अर्थ को तात्पर्यभूत अर्थ भी मानना निरर्थक है क्योंकि 'तात्पर्यवृत्ति' और 'व्यञ्जना वृत्ति' में अभेद की कल्पना तात्पर्यवृत्ति के ही स्वरूप का अज्ञान है। 'तात्पर्यवृत्ति' कहते हैं उस वृत्ति को जिसके विना वाक्यार्थ-बोध नहीं हो सकता और यदि वाक्यार्थ-बोध हुआ करता है तो तात्पर्यवृत्ति के द्वारा ही हुआ करता है। वाक्यार्थ बोध तो पदार्थों के परस्पर संसृष्ट अथवा परस्परान्वित अर्थ का बोध है और इसी अर्थ के अवबोधन की शक्ति 'तात्पर्यवृत्ति' अथवा 'तात्पर्यशक्ति' है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तात्पर्यशक्ति' का इसीलिये यह अभिप्राय प्रतिपादित किया हैः—

'तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः।'

(ध्वन्यालोक लोचन, १ म उद्योत)

अर्थात् 'अभिधा सामान्य स्वरूप पदार्थों के अवबोधन में ही विरतव्यापार हुआ करती है क्यों कि 'अभिधा' में तो उसी अर्थ के अवबोधन का सामर्थ्य है जो 'सामयिक' अथवा 'सांकेतिक' अर्थ है और सामयिक' अर्थ वह अर्थ है जो सामान्यरूप हुआ करता है न कि विशेषरूप। शब्द-व्यवहार की उपपत्ति के लिये शब्दों के 'सामान्यरूप' अर्थ की मान्यता अत्यन्त आवश्यक है। पाश्चात्य भाषाविद् भी शब्दों के अभिधेयभूत अर्थ में सामान्यरूपता का ही दर्शन किया करते हैं:—

'Of these three types of meanings (Conceptual, imagistic and emotive-conative) the core of conceptual meaning changes least from generation to generation and enjoys the greatest degree of social objectivity······

Words can not be used at all as communicatory symbols if they did not possess their core of conceptual meaning. They owe their amazing adaptability to the fact that every common name signifies not a concrete individual object but a universal trait or quality. One way of describing the world of our inner and outer experience is to say that it consists of individual objects and events which manifest universals shared (actually or potentially) with other individuals. A language can be used effectively in the description and analysis of these individual objects and events, each of which is unipue, only in proportion as the words which constitute its vocabulary signify these universal traits and the reeurrent relations in which they stand to one anther.'

Greene : The Arts and The Art of Criticism (पृष्ठ १०५)

अर्थात् 'शब्दों का अभिधेय अर्थ किसी भी भाषा-भाषी समाज में कम से कम बदला करता है। यह शब्दों का अभिधेय अर्थ विशेष रूप नहीं किन्तु सामान्य रूप ही हुआ करता है। शब्दों के सामान्यरूप अभिधेयार्थ के ही कारण यह सम्भव है कि हम अपने समस्त अनुभवों को शब्दके द्वारा दूसरों पर प्रकट कर सकें। शब्दों की सामान्यार्थकता ही वह नींव है जिस पर भाषा अथवा वाग्व्यवहार का प्रासाद खड़ा हुआ है।'

अस्तु, शब्दों का वाच्यवाचक भाव रूप 'समय' अथवा संकेत अर्थ के सामान्यांश में ही संगत है, न कि विशेषांश में ही। पदार्थ सामान्य रूप अर्थ है और वाक्यार्थ है विशेष रूप अर्थ-पदार्थों का परस्पर संसृष्ट परस्पर अन्वित अर्थ। पदार्थों के परस्पर संसृष्ट रूप अर्थ अथवा वाक्यार्थ की प्रतीति में 'तात्पर्यशक्ति' ही समर्थ है न कि अभिधा शक्ति जो कि पदार्थों के प्रत्यायन में ही क्षीण हो चुकी है। इसीलिये तो यह सिद्धान्त है—**'सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्तिहि'** अर्थात् 'पदों के द्वारा अभिहित सामान्यरूप-जाति रूप-अर्थ इसलिये अपने आश्रयभूत व्यक्ति रूप अर्थ का प्रत्यायन करवाया करते हैं क्योंकि जब तक विशेषरूप-व्यक्तिरूप-अर्थ की प्रतीति न हो तब तक क्रियादि का अन्वय ही असंभव है।' 'तात्पर्य शक्ति' पदार्थों की अन्वितार्थबोधिका शक्ति है क्योंकि वाक्य में पद एकमात्र 'तत्पर'-वाक्यार्थपरक हुआ करते हैं। पदों की जो तत्परता-वाक्यार्थपरता है वही पदों का 'तात्पर्य' अथवा उनकी तात्पर्यरूपा शक्ति कहा जाया करता है।

काव्यबन्धों में जिसे वस्तु-अलङ्कार अथवा रसादि भूत व्यङ्ग्यार्थ के रूप में देखा जाया करता है वह अर्थ वाक्यार्थमात्ररूप अर्थ नहीं अपि तु वाक्यार्थ अथवा पदार्थों के परस्पर संसृष्ट अर्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ हुआ करता है। 'काव्यार्थ-व्यङ्ग्यार्थ कदापि वाक्यार्थ अथवा तात्पर्यभूत अर्थ नहीं हो सकता' इसका प्रतिपादन ध्वनि-दार्शनिक आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्टरूप से किया है:—

'न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः। अतः पदार्थप्रतिपत्तिः असत्यैवेति कैश्चिद् विद्वद्भिरास्थितम्। यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैः वाक्यार्थपदार्थयोः घटतदुपादान-कारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः। यथा हि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भः, तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानाम्। तेषां तदा विभक्ततया उपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत्। न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः। नहि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति। वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्। तस्मात् घटप्रदीपन्यायस्तयोः। यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्त्तते तद्वत् व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्याव-भासः। यत्तु प्रथमोद्योते 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्याद्युक्तं तदुपायत्वसाम्यमात्रविवक्षया।'

(ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)

जिसका अभिप्राय यह है—'वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में पदार्थ और वाक्यार्थ की प्रतीति का सिद्धान्त नहीं लागू हुआ करता। वैयाकरण लोग तो पदार्थ-प्रतीति को मिथ्या और वाक्यार्थ-प्रतीति को ही सत्य माना करते हैं किन्तु काव्यमीमांसकों के लिये व्यङ्ग्यरूप अर्थ की प्रतीति की भांति वाच्यरूप अर्थ की भी प्रतीति सर्वदा सत्य ही है। इस दृष्टि से भी वाच्य और व्यङ्ग्य रूप अर्थों में पदार्थ और वाक्यार्थ का सिद्धान्त चरितार्थ नहीं हुआ करता। भाट्टमीमांसक भले ही पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों की प्रतीति को सत्य मानें किन्तु उनका भी 'पदार्थवाक्यार्थन्याय' वाच्य और व्यङ्ग्य रूप अर्थों में लागू नहीं हो सकता जिससे यह मान लिया जाय कि व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्यार्थ ही है अन्य कुछ नहीं। मीमांसकों के सिद्धान्त में तो पदार्थ और वाक्यार्थ में कार्य-कारणभाव का अवभास हुआ करता है और जैसे घटरूप कार्य की प्रतीति में उसके उपादान कारणों की प्रतीति पृथक् रूप से नहीं हुआ करती वैसे ही वाक्य और वाक्यार्थ की प्रतीति में भी पद और पदार्थ की प्रतीति पृथक् रूप से असम्भव है। किन्तु वाच्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थों में वह सम्बन्ध कहां जो कि मीमांसकों के अनुसार पदार्थ और वाक्यार्थ में रहा करता है? व्यङ्ग्यरूप अर्थ की प्रतीति वाच्यरूप अर्थ से सम्बद्ध रूप से हुआ करती है। ऐसा नहीं हुआ करता कि व्यङ्ग्य प्रतीति में वाच्य प्रतीति कहीं दूर चली जाय। वाच्य और व्यङ्ग्य रूप अर्थों में तो 'प्रकाश-सिद्धान्त'-'घटप्रदीपन्याय' लागू हुआ करता है जिसका अभिप्राय यही है कि जैसे प्रदीप के द्वारा घट की प्रतीति के होने पर प्रदीप के प्रकाश का भी पता चला करता है वैसे ही वाच्यार्थ पूर्वक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में भी वाच्यार्थ की प्रतीति अपरिज्ञात नहीं हुआ करती, अपि तु परिज्ञात ही रहा करती है।

'व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्य शक्ति का विषय नहीं हो सकता' इस ध्वनि-तत्त्व-दर्शन के सिद्धान्त के समर्थन में अभिनवगुप्ताचार्य ने स्पष्ट कहा है:—

'एवं पदार्थवाक्यार्थन्यायं तात्पर्यशक्तिप्रसाधकं प्रकृतविषये निराकृत्य अभिमतां प्रकाशशक्तिं साधयितुं प्रदीपघटन्यायं प्रकृते योजयन्नाह।'

(ध्वन्यालोक लोचन, ३ य उद्योत)

अर्थात् 'यदि वाच्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थों में 'घटप्रदीपन्याय' न लागू हो कर 'पदार्थवाक्यार्थ-न्याय' ही लागू हुआ करता तब तो यही मान लिया जाता कि व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्यशक्ति का ही विषयभूत अर्थ है किन्तु वस्तुतः बात तो इसके सर्वथा विपरीत है। वाच्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थों में

प्रकाशक और प्रकाश्य का सिद्धान्त लागू हुआ करता है जिसकी दृष्टि से व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जनाशक्ति की अपेक्षा किया करता है न कि तात्पर्य शक्ति की ।'

आचार्य मम्मट ने व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में तात्पर्यशक्ति की असमर्थता के प्रतिपादन के लिये एक और अकाट्य युक्ति दी है और वह यह है कि तात्पयार्थ तो 'उपात्त' अर्थात् प्रयुक्त अथवा उच्चरित पदों का ही अर्थ हुआ करता है न कि प्रतीतमात्र अर्थ अथवा ऐसा अर्थ जो निमित्तान्तर से प्रतीत हुआ करे :—

'उपात्तशब्दार्थे एव तात्पर्यम्' (काव्यप्रकाश, ५ म उल्लास)

जब कि वस्तुरूप अथवा अलङ्काररूप अथवा रसादिरूप अर्थ ऐसा नहीं जिसे प्रयुक्त अथवा उच्चरित शब्दों का ही अर्थ कहा जाया करे अपि तु ऐसा अर्थ है जिसकी प्रतीति में प्रकरणादि की अपेक्षा के साथ-साथ हमारा प्रतिभानैर्मल्य कारण हुआ करता है, जिसकी प्रतीति को 'प्रतीति मात्र' के रूप में नहीं अपि तु 'चमत्कृति' के रूप में देखा जाया करता है और जिसका अवबोध हमारी विदग्धता की पहचान है, तब भला व्यङ्ग्यप्रतीति को क्यों कर तात्पर्यप्रतीति माना जाय ? व्यङ्ग्य-प्रतीति तो एक मात्र 'व्यञ्जना' की महिमा है। व्यञ्जना जैसे अभिधाश्रित होकर भी अभिधा से सर्वथा विलक्षण रूप से काव्य में स्फुरित हुआ करती है वैसे ही उसे तात्पर्यशक्ति की कक्षा से भी उत्तीर्ण देखा जाया करता है । पृथक् पृथक् पद की स्वार्थाभिधानशक्ति तो अभिधाशक्ति हुई और संसृष्टार्थाभिधानशक्ति हुई तात्पर्यशक्ति, भला इनके द्वारा वस्तु अथवा अलङ्कार अथवा रसादिरूप काव्यार्थ का अवबोध क्यों कर होने लगे ? जब कि ये व्यङ्ग्यभूत अर्थ पदों के अभिधेयार्थ नहीं और न पदार्थों के परस्पर संसर्गरूप अथवा परस्पर संसृष्ट पदार्थरूप ही अर्थ हैं तब भला अभिधा और तात्पर्यशक्ति में इनके अवबोधन का सामर्थ्य कहां ?

अभिधा और तात्पर्यशक्ति के अतिरिक्त लक्षणाशक्ति भी दार्शनिक विचार-विमर्श में पहचानी जा चुकी है किन्तु काव्यार्थ लक्ष्यार्थ नहीं अपि तु लक्ष्यार्थ से भी परे 'विचारितरमणीय' अर्थतत्त्व हुआ करता है । आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लक्षणा' का जो प्रतिपादन किया है :—

'मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः ।'

(ध्वन्यालोकलोचन, १म उद्योत)

क्योंकि व्याकरण, मीमांसा तथा न्यायदर्शन में लक्षणा का यही स्वरूप-विमर्श है, उससे यही स्पष्ट है कि 'सिंहो वटुः' आदि सन्दर्भों में 'मुख्यार्थबाध' में ही 'लक्षणा' की मान्यता रहा करती है, जिसे 'मुख्यार्थबाध' कहा करते हैं वह विरोधप्रतीति ही है अन्य कुछ नहीं। इस 'विरोधप्रतीति के उपशमन की शक्ति न तो अभिधा में है और न तात्पर्यवृत्ति में और इसलिये यहां जिस शब्दशक्ति की कल्पना आवश्यक है वही 'लक्षणाशक्ति' है । आचार्य मम्मट ने भी 'ऐसे प्रसङ्गों में 'मुख्यार्थबाध', मुख्यार्थयोग किंवा रूढि अथवा प्रयोजन के प्रत्यायन की संभावना में शब्द के द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति को लक्षणा का विषय सिद्ध किया है :—

'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽर्थप्रयोजनात् ।
अन्यर्थोऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥'

(काव्यप्रकाश, २य उल्लास)

लक्षणा के इस स्वरूप में व्यङ्ग्यार्थ प्रत्यायन का सामर्थ्य कदापि नहीं दिखाई दे सकता । यद्यपि

लक्ष्यार्थ भी व्यङ्ग्यार्थ की ही भांति प्रकरणादि की अपेक्षा से ही प्रतीत होनेवाला अर्थ हुआ करता है, इसमें भी व्यङ्ग्यार्थ की ही भांति अनेक रूपता रहा करती है किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ करता कि व्यङ्ग्यार्थ की भांति लक्ष्यार्थ अनियतरूप का अर्थ रहा करे। लक्ष्यार्थ तो वाच्यार्थ का ही प्रसारमात्र है और वाच्यार्थ-प्रतीति में विरोध-प्रतीति का उपशमनरूप अर्थ है जिसके कारण इसे वाच्यार्थ से नियतरूप से सम्बद्ध अर्थ के रूप में ही देखा जा सकता है। किन्तु काव्यार्थरूप व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से नियत संबद्ध ही नहीं दिखायी दिया करता, वह तो प्रकरणादिवश 'नियतसम्बद्ध' भी हो सकता है, 'अनियतसंबद्ध' भी रह सकता है और 'संबद्धसंबद्ध' अथवा परम्परया सम्बद्ध भी देखा जा सकता है। व्यङ्ग्यार्थ और लक्ष्यार्थ का यह स्वरूपभेद इस बात का नियामक है कि 'व्यञ्जना' के माने विना 'लक्षणा' से काव्यार्थप्रतीति का विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

लक्षणा तो लोकगत शब्द की शक्ति है किन्तु व्यञ्जना इन्हीं लोकगत शब्दों में-लाक्षणिक शब्दों में ही-स्फुरित होने लगती है जब कि इनके द्वारा किसी अर्थ-चमत्कार अथवा व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन होने लगता है। आचार्य मम्मट ने काव्य में लाक्षणिक शब्दों में व्यञ्जना के स्फुरण का बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है:—

'मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमसंबन्धोद्धुरं बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते॥'

(काव्यप्रकाश, २य उल्लास)

यहां 'विकसित', 'वशित', 'समुच्छलित' आदि अनेकानेक शब्द ऐसे हैं जो 'बाधितमुख्यार्थ' हैं अर्थात् जिनके मुख्य अर्थ की प्रतीति में विरोध-प्रतीति झलका करती है क्योंकि 'विकसित' आदि का मुख्यार्थ पुष्प आदि के साथ सामञ्जस्य रखता है न कि 'स्मित' आदि के साथ। 'स्मित' का 'विकसित' शब्द से सम्बन्ध स्थापित होने में कवि का प्रयुक्त 'विकसित' शब्द वाचक नहीं अपितु लाक्षणिक बन रहा है। यहां वाचक शब्द को छोड़-छाड़ कर लाक्षणिक शब्द का जो प्रयोग कवि ने किया है उसमें अपना अभिप्राय-विशेष अभिव्यङ्ग्य रखा है। 'विकसित' शब्द में कवि का अभिव्यङ्ग्यरूप जो अभिप्रायविशेष छिपा है वह तो 'स्मित' की 'अद्भुत सुन्दरता' अथवा 'हृदयवशीकरण-शक्ति' है। इस निगूढ व्यङ्ग्यरूप प्रयोजन के प्रतिपादन के लिये कवि ने 'स्मित' को 'विकसित' शब्द से विशिष्ट किया है। यह लाक्षणिक 'विकसित' शब्द यहां जिस वाच्यार्थभिन्न लक्ष्यार्थ का अवबोधक है वह इसके विकासरूप वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ है और है 'स्मित' में 'एक अतिशय अथवा विशेषता के होने' का अर्थ। यहां लक्षणा 'गूढव्यङ्ग्या' लक्षणा है क्योंकि इसका आश्रयभूत शब्द एक गूढव्यङ्ग्य का अभिप्राय अपने में गर्भित रखे हुये है। किन्तु यह अभिव्यङ्ग्यरूप अभिप्राय लक्षणा-बोध्य नहीं, क्योंकि लक्षणा तो मुख्यार्थसम्बद्ध अर्थ के प्रत्यायन में ही क्षीण-सामर्थ्य हो चुकी है, अपितु एक मात्र व्यञ्जना-गम्य ही अर्थ है। ऐसे काव्यबन्धों का सौन्दर्य लक्ष्यार्थ में नहीं अपि तु व्यङ्ग्यार्थ में ही रहा करता है और ऐसे अतिशय रमणीय व्यङ्ग्यरूप अर्थ की प्रतीति के लिये लाक्षणिक शब्दों में भी 'व्यञ्जकता' व्यापार का ही स्पन्दन मान्य हो जाया करता है। विना 'व्यञ्जना' के विना काव्यार्थावबोधसमर्थ व्यञ्जनव्यापार के-माने हमारी काव्य की तत्त्वज्ञता कैसे समझी-समझायी जा सकती है?

काव्य का 'सहृदयहृदयश्लाघ्य' अर्थ एकमात्र अभिव्यङ्ग्यरूप ही अर्थ हो सकता है न कि अनुमेयरूप अर्थ। काव्य के आपातसुन्दर और अन्तरमणीय वाच्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थों अथवा लक्ष्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थों में वह सम्बन्ध नहीं रहा करता जिसमें 'अनुमाप्यानुमापक' भाव पहचाना जा सके और 'अनुमिति' में ही 'व्यञ्जना' को गतार्थ मान लिया जाया करे। शब्द को केवल एक दृष्टि से ही 'लिङ्ग' कहा जा सकता है और वह दृष्टि है केवल शब्द-प्रयोक्ता की प्रतिपादनेच्छा। किन्तु प्रतिपादन की इच्छा में जिस अर्थ का प्रतिपादन अन्तर्भूत है वह अर्थ अनुमेयरूप अर्थ नहीं। किसी भी धूमादिरूप लिङ्ग की पक्षधर्मत्वादिग्रहणरूप जो इतिकर्त्तव्यता हो सकती है उसका शब्दरूप 'अर्थ-करण' में सर्वथा अभाव ही दिखायी दिया करता है। शब्द की 'इतिकर्त्तव्यता, पक्षधर्मत्वादिग्रहण रूप नहीं अपि तु संकेत-स्फुरणादि रूप ही हो सकती है। ऐसी अवस्था में शब्द को क्योंकर 'लिङ्ग' मान लिया जाय जिससे व्यङ्ग्यरूप अर्थ को अनुमेयरूप अर्थ सिद्ध कर दिया जाय? एक ही वाचक अथवा लाक्षणिक शब्द में एक 'इतिकर्त्तव्यता' ऐसी हो सकती है जिससे वह अभिधाव्यापार कर सकता है और दूसरी ऐसी जिससे वह व्यञ्जना व्यापार कर सकता है। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि जहां भी शब्द की व्यञ्जकता है वहां 'अनुमिति' नहीं फटक सकती। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जहां अभिप्राय-विवक्षा अनुमेय हो वहां भी व्यञ्जकता ही विराजती रहे। अनुमिति का विषय तो अभिप्रायविवक्षामात्र हो सकता है न कि अभिप्राय-विवक्षा से परे वस्तु-अलङ्कार और रसादिरूप अभिव्यङ्ग्य अर्थ। 'व्यञ्जना' अनुमिति से सर्वथा विलक्षण काव्य-व्यापार है'—इसका प्रतिपादन आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्टरूप से किया है:—

'यत एव हि क्वचिदनुमानेनाभिप्रायादौ, क्वचित् प्रत्यक्षेण दीपालोकादौ, क्वचित् कारणत्वेन गीतध्वन्यादौ, क्वचिदभिधया विवक्षितान्यपरे, क्वचिद्गुणवृत्त्याऽविवक्षितवाच्येऽनुगृह्यमाणं व्यञ्जकत्वं दृष्टं तत एव तेभ्यस्सर्वेभ्यो विलक्षणमस्य रूपं नः (व्यञ्जनावादिनः) सिद्ध्यति।' (ध्वन्यालोकलोचन, ३ य उद्योत)

अर्थात् 'जिसे व्यञ्जकता अथवा व्यञ्जनाव्यापार कहते हैं वह तो काव्य में उसके और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का एक सर्वथा विलक्षण व्यापार है। 'व्यञ्जना' एक विलक्षण व्यापार है। विलक्षण इसलिये क्योंकि कहीं तो, जैसे कि अभिप्राय-विवक्षा में इसे अनुमान से अनुप्राणित देख सकते हैं; कहीं, जैसे कि प्रदीप-प्रकाश में इसे प्रत्यक्ष से अनुगृहीत मान सकते हैं; कहीं, जैसे कि संगीत-ध्वनियों में इसे कारणतारूप से उत्थापित समझ सकते हैं; कहीं, जैसे कि विवक्षितान्यपरवाच्य काव्य में इसे अभिधा से समृद्ध मान सकते हैं और कहीं, जैसे कि अविवक्षितवाच्य काव्य में इसमें गुणवृत्ति का अनुग्रह ढूंढ़ सकते हैं। वाचकता, लाक्षणिकता, अनुमापकता, कारणता आदि जो भी हैं वे सबके सब 'व्यञ्जना' के अनुग्राहक मात्र हैं न कि व्यञ्जनारूप।

आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की काव्य में 'व्यञ्जनासिद्धि' आचार्य मम्मट के हाथ में काव्य में 'व्यञ्जनाप्रतिष्ठा' के रूप में निखर उठी है। 'व्यङ्ग्यरूप अर्थ अनुमेय रूप अर्थ कदापि नहीं हो सकता'-यह आचार्य मम्मट का निर्णय एक अकाट्य युक्ति के आधार पर हुआ है और वह अकाट्य युक्ति यह है कि व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति में 'उपपत्ति' की अपेक्षा नहीं हुआ करती। **'एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तत् अदूषणम्'**

(काव्यप्रकाश ५ म उल्लास)।

व्यङ्ग्यप्रतीति में 'उपपत्ति की अनपेक्षा' कला और काव्य-साहित्य का रहस्य है। कला और कविता की अभिव्यञ्जना ही एक स्वयं लोकोत्तर 'उपपत्ति' है। इस 'व्यञ्जना' रूप कलात्मक किंवा काव्यात्मक उपपत्ति में ही काव्यसृष्टि और कलासृष्टि तथा काव्यानुभूति और कलासंवित्ति-दोनों का मर्म अन्तर्भूत है। आधुनिक कलाविद् काव्य और कला में 'अभिव्यञ्जना' का ही महत्त्व देखा करते हैं:—

'The entire history of the fine art and literature, from the earliest times on record down to the present, offers overwhelming evidence that art in the various media has arisen from the artist's desire to express and communicate to his fellows some pervasive human emotion, some insight felt by him to have a wider releveney, some interpretation of a reality other than the work of art itself in all its specificity'

'Self-expression' in art is therefore, even in its most restricted forms, the expression of more than a passing mood, idea or impulse. It must to some extent, express the artist's enduring personality'.

'The more petty the artist and the more egoistic, the more anxious has he been, no doubt, to exhibit himself to the world as a unique individual. Instances are on record of artists so absorbed in their own inner states that their chief desire was to indulge in autobiographical self-revelation. But the more significant the artist, the stronger has been his conscious or unconscious preoccupation with some aspect of universal human experience and the more compelling has been his desire to employ artistic form as a vehicle no for mere self-expression but for what he has felt to be a true and revealing interpretation of some aspect of his environment.'

Greene : The Art and The Art of Criticism (पृष्ठ २३१-२३३)

काव्य और कला में 'अभिव्यञ्जना' की 'शक्ति' की प्रत्यभिज्ञा काव्यकृति और कलाकृति की एकमात्र उपपत्ति है। इस 'शक्ति' के अनन्तविध स्फुरण का ही एक उपपादन-प्रकार वह है जिसमें शब्द की 'व्यञ्जना' सिद्ध की गयी है और इसे वाचकता, लाक्षणिकता आदि शब्द व्यापारों से सर्वथा विलक्षण व्यापार माना गया है। 'अर्थ की 'व्यञ्जना' इसका अन्यविध उपपादन है। शब्द और अर्थ के अतिरिक्त सर्वथा अवाचक वर्णध्वनियों में, पद के अवयवों में, रचना में किं बहुना काव्य के रग-रग में, काव्य की यही 'अभिव्यञ्जना' शक्ति स्फुरित रहा करती है। रस की योजना भी 'व्यञ्जना' है और रस की भावना भी 'व्यञ्जना' है। जैसे काव्य में इस व्यञ्जना' की प्रत्यभिज्ञा ने आचार्य आनन्दवर्धन को **'काव्यपुरुषावतार'** के महनीय पद पर प्रतिष्ठित किया है जहां कोई काव्याचार्य अब तक नहीं पहुंच सका, वैसे ही अलङ्कारशास्त्र में इसकी 'प्रतिष्ठा' से मम्मट को भी 'वाग्देवतावतार' का गौरवमय पद प्राप्त हो चुका है।

७. मम्मट का काव्य-प्रकार-निर्णय

काव्य-प्रकार-निर्णय भी काव्यालोचना का एक आवश्यक अंग है। परिभाषा (terminology) और प्रकार-विनिश्चय (Classification) किसी भी विषय के वैज्ञानिक अनुसन्धान और विवेचन के लिये अपेक्षित हैं। अलङ्कारशास्त्र 'काव्य के वैज्ञानिक विश्लेषण का शास्त्र है और इसीलिये अलङ्कारशास्त्रकार काव्य-स्वरूप की मीमांसा और काव्य-प्रकार के विवेचन में प्रयत्नशील रहते आये हैं। जैसे भिन्न-भिन्न काव्यवादों में काव्यतत्त्व का भिन्न-भिन्न दृष्टि से निरूपण किया गया है वैसे ही भिन्न-भिन्न काव्यवादों में काव्य-प्रकार का भी भिन्न-भिन्न दृष्टि से ही निर्णय किया हुआ है।

अलङ्कारवाद के आचार्यों ने काव्य का जो प्रकार-निर्धारण किया है उसके अनुसार काव्य के निम्न भेद निर्दिष्ट हैं:—

१. पद्यकाव्य २. गद्यकाव्य

काव्य को 'पद्य' और 'गद्य' रूप भेदों में विभक्त करने में भामह की दृष्टि 'वृत्तबन्ध' और 'अवृत्तबन्ध' की द्विविध रचना–परम्परा के समन्वय की दृष्टि है। भामह के पहले संस्कृत साहित्य में छन्दोबद्ध किंवा छन्दोबद्धरहित–दोनों प्रकार के काव्य रचे जा चुके थे। अलङ्कारशास्त्र के प्रारम्भ में ही 'छन्द' को काव्यस्वरूप का परिच्छेदक नहीं माना गया। बिना छन्दोबद्ध के भी जिन रचनाओं में काव्य-स्वरूप का दर्शन किया गया उन्हें भी काव्य मान लिया गया और काव्य के प्रकाररूप में स्थान दिया गया। पाश्चात्य काव्यालोचना में 'वृत्त' और 'काव्य' के घनिष्ठ सम्बन्ध की पर्याप्त मान्यता रहती आयी है और बड़े बड़े काव्यालोचक इस सम्बन्ध को अनावश्यक सिद्ध करने का पर्याप्त प्रयास करते रहे हैं। अलङ्कारशास्त्र में यह 'वाद' नहीं उपस्थित हुआ क्योंकि आलङ्कारिकों ने 'काव्यतत्त्व' और 'वृत्तबन्ध' में किसी प्रकार की 'व्याप्ति' किसी प्रकार की अविच्छिन्न संबद्धता का दर्शन काव्य-मर्मज्ञता की कमी मान ली। रीतिवाद के आचार्य वामन ने तो 'गद्य' को ही कविता की कसौटी मानी है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' और वामन की यह धारणा सभी आलङ्कारिकों के लिये शिरोधार्य रहती आयी है।

आचार्य दण्डी ने भामह के काव्य-भेद में एक और काव्य-भेद जोड़ दिया; जिसका नाम 'मिश्र' अर्थात् पद्य-गद्य-मिश्रित काव्य रखा गया। नाटकों को काव्य के भेदरूप में ग्रहण करने का इसके अतिरिक्त और क्या उपाय था कि काव्य में 'पद्य' और 'गद्य' रूप भेद के अतिरिक्त 'मिश्र' भेद भी मान लिया जाय! नाट्याचार्य भरतमुनि ने भी 'नाटक' को काव्य कहा था और नाटक में गद्यपद्यमिश्रित रचना के कारण काव्य का 'मिश्र' भेद भी युक्तियुक्त ही है।

भामह और दण्डी की काव्य-समीक्षा में भाषा के भेद से भी काव्य के भेद-प्रभेद का परिगणन किया हुआ है। भामह के अनुसार तो भाषा के भेद से ये काव्य-भेद हैं:—

१. संस्कृतकाव्य २. प्राकृतकाव्य ३. अपभ्रंशकाव्य

दण्डी ने भी भाषा-भेद की दृष्टि से इन्हीं काव्य-भेदों की गणना की है। भाषा-भेद से काव्यभेद की और भी गणना हो चुकी है क्योंकि आचार्य रुद्रट ने इन उपर्युक्त काव्यभेदों के अतिरिक्त इन काव्यभेदों की भी गणना की है:—

४. मागधकाव्य ५. पैशाचकाव्य ६, शौरसेनकाव्य

अलङ्कार और रीति-वादी आचार्यों ने पद्य और गद्य काव्य के कतिपय अवान्तर भेदों जैसे कि सर्गबन्ध (महाकाव्य), मुक्तक, कुलक, कोष और सङ्घात (जो कि पद्यकाव्य के भेद हैं) तथा कथा, आख्यायिका और चम्पू (जो कि गद्यकाव्य के भेद हैं) किंवा नाटक, प्रकरण, भाण आदि (जो कि मिश्रकाव्य के भेद हैं) का भी संख्यान किया है।

अलङ्कारशास्त्र में ध्वनिवाद की स्थापना ने काव्य के उपर्युक्त भेद-प्रभेद की विभाग-व्यवस्था को कोई प्रश्रय नहीं दिया। रचना अथवा भाषा अथवा बन्धविशेष की दृष्टि से काव्य-विभाजन की प्रणाली लोकप्रसिद्ध भले ही हो काव्यरसिकता सिद्ध नहीं हो सकती। यद्यपि ध्वन्याचार्य आनन्दवर्धन ने भी 'काव्य' के अनेकानेक भेदों का परिगणन किया है:—

'काव्यस्य प्रभेदाः—मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्; सन्दानितकविशेषककलापक-कुलकानि; पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथासकलकथे, सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे इत्येवमादयः' (ध्वन्यालोक, ३ य उद्योत)

जिसके अनुसार (१) संस्कृत-प्राकृत किंवा अपभ्रंशभाषा-निबद्ध मुक्तक, (२) सन्दानितक, (३) विशेषक, (४) कलापक, (५) कुलक, (६) पर्यायबन्ध, (७) परिकथा, (८) खण्डकथा, (९) सकलकथा, (१०) सर्गबन्ध, (११) नाटक, (१२) आख्यायिका, (१३) कथा आदि काव्य के प्रभेदरूप से माने गये हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने भी इन काव्य-प्रभेदों का स्वरूप-विमर्श किया है:—

१. **मुक्तक**मिति—मुक्तमन्येनानालिङ्गितं तस्य संज्ञायां कन्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्त-निराकाङ्क्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते। मुक्तकस्यैव विशेषणं संस्कृतेत्यादि।

२. द्वाभ्यां क्रियासमाप्तौ **सन्दानितकम्,**

३. त्रिभि**र्विशेषकम्,**

४. चतुर्भिः **कलापकम्,**

५. पञ्चप्रभृतिभिः **कुलकम्**—इति क्रियासमाप्तिकृता भेदा इति द्वन्द्वेन निर्दिष्टाः।

६. अवान्तरक्रियासमाप्तावपि वसन्तवर्णनादिरेकवर्णनीयोद्देशेन प्रवृत्तः **पर्यायबन्धः।**

७. एवं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा **परिकथा।**

८. एकदेशवर्णना **खण्डकथा,**

९. समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना **सकलकथा।** द्वयोरपि प्राकृतप्रसिद्धत्वाद् द्वन्द्वेन निर्देशः। पूर्वेषां मुक्तकादीनां भाषायामनियमः।

१०. महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णना प्रबन्धः **सर्गबन्धः** संस्कृत एव।

११. **अभिनेयार्थं** दशरूपकं नाटिकात्रोटकरासकप्रकरणिकाद्यवान्तरप्रपञ्चसहितमनेकभाषाव्या-मिश्ररूपम्।

१२. **आख्यायिका** उच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता।

१३. **कथा** तद्विरहिता। उभयोरपि गद्यबन्धस्वरूपतया द्वन्द्वेन निर्देशः। आदिग्रहणा**च्चम्पूः।**

(ध्वन्यालोकलोचन, ३ य उद्योत)

जिसमें संस्कृत काव्य-साहित्य के ऐतिहासिक जीवनवृत्त का पूरा चित्र अंकित है, किन्तु

यह समस्त 'काव्य-प्रभेद' काव्य-तत्त्व-दर्शन की दृष्टि से नहीं अपि तु काव्य-निर्माण के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही स्वीकृत किया गया है।

ध्वनिवाद के दृष्टिकोण ने उपर्युक्त समस्त काव्यसाहित्य में जिस 'काव्यप्रकार' का अनुसन्धान किया है वह काव्यप्रकार 'ध्वनिसंज्ञित' काव्यप्रकार है। 'ध्वनिसंज्ञित' काव्यप्रकार को 'काव्यविशेष' कह सकते हैं और इस 'काव्यविशेष' में उन सभी प्रकारों की काव्य रचनायें अन्तर्भूत हैं जिनमें 'रसादि-प्रतीति' हुआ करती है और इसी लिये हुआ करती है क्योंकि उनके रचयिताओं ने 'रसादिविवक्षा' से प्रेरित होकर अपनी काव्यकला का प्रदर्शन किया है। 'ध्वनिसंज्ञित' काव्यप्रकार के अतिरिक्त, ध्वनि का ही निष्यन्दरूप, जो 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्यप्रकार है जो कि महाकवियों के सर्गबन्धों अथवा मुक्तकों अथवा नानाविध काव्यबन्धप्रकारों में यथास्थान अवयव रूप से प्रतीत हुआ करता है वह भी अन्ततोगत्वा ध्वनिसंज्ञित अवयवीरूप काव्यप्रकार में ही घुलमिल जाता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने रसादि-विवक्षा से रचे गये नानाविध काव्यबन्धों को ध्वनिकाव्य रूप ही काव्यप्रकार सिद्ध किया है :—

'सर्व एव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मतामतिपतति रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभूतव्यङ्ग्य-लक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बते'''। यदा तु चाटुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं हृदयवतीषु वा सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद् व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्ये प्राधान्यं तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिनिष्पन्दभूतत्वमेव'''। (ध्वन्यालोक, ३ य उद्योत)

यहां यह स्पष्ट है कि 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप काव्य प्रकारों का भेद-रहस्य एकमात्र रसादिरूप व्यङ्ग्यप्राधान्य और रसादिरूप व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यप्राधान्य में ही दिखाया गया है। रसादिविवक्षा से सर्वथा शून्य तो कोई 'काव्य' हो ही नहीं सकता। ऐसा 'काव्य' प्रकार जो रसादि-विवक्षा से नितान्त शून्य हो 'काव्याभास' कहा जा सकता है। यह काव्यप्रकार, जिसे 'काव्याभास' अथवा 'काव्यानुकार' कह सकते हैं, प्राथमिक कवियों अथवा काव्यरचना के अभ्यास करने वालों की कृति भले ही हो किन्तु उनकी कृति नहीं जो 'प्राप्तपरिणति' अथवा काव्यकलासिद्ध हो चुके हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने इस 'काव्याभास' अथवा 'काव्यानुकार' को 'चित्रकाव्य' नाम दिया है और यह भी स्पष्ट कह दिया है कि यह नाम उस काव्य का एक कल्पित नाम है जिसमें कवि की रसादि-विवक्षा नहीं रहा करती और सहृदय की रसादि प्रतीति भी यदि वहां किसी प्रकार वाच्यसामर्थ्यवश हुई भी तो अत्यन्त शिथिल अथवा दुर्बल ही हुआ करती है अथवा यह भी संभव है कि बिलकुल ही न हुआ करे।

आचार्य आनन्दवर्धन और आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार वस्तुतः काव्य के दो ही भेद बताये हैं—१-वह जो रसवर्णनानिपुण कविजन की कृति है जिसे 'सरस' काव्य कह सकते हैं और जिसमें 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' का विभाग रसप्रतीति की दृष्टि से नहीं अपि तु व्युत्पत्ति की ही दृष्टि से संगत है और २-वह जो प्राथमिक अथवा काव्यरचना के अभ्यासार्थी कविगण की रचना है जो 'नीरस' अथवा 'चित्र' काव्य कहा जा सकता है क्योंकि उसमें रसविवक्षा नहीं अपितु एकमात्र वाच्यवाचक योजना के वैचित्र्य का ही प्रदर्शन है।

ध्वनि-दार्शनिक आचार्यों की उपर्युक्त काव्य-प्रकार-मीमांसा में जो बात स्पष्ट प्रतीत हो रही है वह यह है कि भूत, वर्तमान किंवा भविष्य की, समस्त भाषाओं की, नाना प्रकार के बन्धों की, काव्य-

कृतियों में, कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से, दो ही काव्य-प्रकार तत्त्वतः देखे जा सकते हैं— १ ध्वनिकाव्य और २ चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य सभी युगों के उन सभी कवियों की कृति है जो 'प्राप्तपरिणति' हैं और चित्रकाव्य उनकी जो 'प्राथमिक' हैं अथवा 'अभ्यासार्थी' हैं।

ध्वनि-सम्प्रदाय के काव्याचार्यों में सर्वप्रथम मम्मट ने ही काव्य का वह 'प्रकारत्रय' निर्धारित किया है जो ध्वनिवाद-संमत तो अवश्य है किन्तु ध्वनिदार्शनिक आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा सर्वथा अनुमत नहीं। मम्मट का प्रतिपादित काव्य का प्रकार-भेद यह है:—

१. उत्तमकाव्य (ध्वनिदार्शनिक आचार्यों का 'ध्वनि' काव्य)।

२. मध्यमकाव्य (ध्वनिदार्शनिकों द्वारा ध्वनि के निष्पन्द रूप से संकेतित गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य,

३. अवरकाव्य (ध्वनिदार्शनिकों द्वारा निर्दिष्ट चित्र काव्य)

'ध्वनि' काव्य को 'उत्तम' काव्य के रूप में मम्मट का प्रतिपादन तो ध्वनि-दार्शनिकों की ही मान्यता का अनुसरण है क्योंकि यही वह काव्य है जिसमें कवि की 'रसयोजना' और सहृदय की 'रसभावना'–दोनों का रहस्य स्पष्टतया संवेद्य हुआ करता है। शब्द और अर्थ के गुणीभाव और रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणता' की पहचान इसी काव्य में की जाया करती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने जब 'ध्वनि' और 'काव्य' को अभिन्न मान लिया:—

'प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्।' (ध्वन्यालोक, ३ य उद्योत)

और आचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा जब 'ध्वनि' और 'काव्य' के 'अभेद'–दर्शन में काव्य का वास्तविक स्वरूप-दर्शन सिद्ध कर दिया गया:—

'आत्मात्मिनोरभेद एव वस्तुतः, व्युत्पत्तये तु विभागः कृत इत्यर्थः'

(ध्वन्यालोकलोचन, ३ य उद्योत)

तब मम्मट के लिये 'ध्वनि' संज्ञित काव्यप्रकार को उत्तम काव्यप्रकार मानना तो स्वाभाविक ही है। किन्तु 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य को 'मध्यमकाव्य' प्रतिपादित करना मम्मट का अपना अभिमत है जिसका बाद के आलङ्कारिकों ने स्वागत ही किया है न कि अनादर।

गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के सौन्दर्य-दर्शन में ध्वनिवाद के परमाचार्यों ने ऐसी कोई बात नहीं देखी है जिसके आधार पर यह 'मध्यम' काव्य के रूप में देखा जाया करे। 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य को 'मध्यम' कह देने में इसमें काव्यता के स्तर की निम्नता का जो भाव निकल पड़ता है उसी के बचाव के लिये ध्वनिदार्शनिकों ने इसे 'मध्यम' काव्य नहीं कहा। ध्वनितत्त्व-दर्शी आचार्य तो इसे ध्वनि साम्राज्य के ही समृद्ध सुन्दर मण्डल के रूप में देखते आये हैं। कवि की रसविवक्षा कभी रसादिध्वनि का सौन्दर्य दिखाना चाहे, कभी रसादि ध्वनि से रमणीय वाच्य-सौन्दर्य में अपना उन्मेष चाहे, आलङ्कारिकों को इसमें क्या? आलङ्कारिकों को क्या अधिकार कि कवि की रस-योजना के अपने ऐच्छिक ढंगों में बड़ापन और छोटापन का भाव देख लें? संभवतः इसी भावना के वशीभूत होकर न तो आनन्दवर्धनाचार्य ने 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को 'ध्वनि' से निम्नस्तर का काव्य माना और न अभिनवगुप्तपादाचार्य ने ही 'ध्वनि' काव्य के अतिरिक्त 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य की मान्यता में काव्य के स्तर की निम्नता का दर्शन किया। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो, ऐसा प्रतीत होता है, 'रस-ध्वनि' के 'उन्मज्जन' और 'निमज्जन' में ही 'ध्वनि' और 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य' के सौन्दर्य-वैचित्र्य का दर्शन किया। आचार्य आनन्दवर्धन के गुणीभूतव्यङ्ग्य के इस उदाहरण:–

'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालभङ्गाः ॥'

के विश्लेषण में अभिनवगुप्ताचार्य की जो यह उक्ति है:—

'अत्र सिन्धुशब्देन परिपूर्णता, उत्पलशब्देन कटाक्षच्छटाः, शशिशब्देन वदनं, द्विरदकुम्भतटीशब्देन स्तनयुगलं, कदलिकाण्डशब्देनोरुयुगलं, मृणालदण्डशब्देन दोर्युगमिति ध्वन्यते। तत्र चैषां स्वार्थस्य सर्वथानुपपत्तेरन्धशब्दोक्तेन न्यायेन तिरस्कृतवाच्यत्वम्। स च प्रतीयमानोऽप्यर्थविशेषः 'अपरैव हि केय'मित्युक्तिगर्भीकृते वाच्येंऽशे चारुत्वच्छायां विधत्ते, वाच्यस्यैव स्वात्मोन्मज्जनया निमज्जितव्यङ्ग्यजातस्य सुन्दरत्वेनावभानात्। सुन्दरत्वं चास्यासम्भाव्यमानसमागमसकललोकसारभूतकुवलयादिभाववर्गस्यातिसुभगकाधिकरणविश्रान्तिलब्धसमुच्चयरूपतया विस्मयविभावनाप्राप्तिपुरस्कारेण व्यङ्ग्यार्थोपस्कृतस्य तथा विचित्रस्यैव वाच्यरूपोन्मज्जनेनाभिलाषादिविभावत्वात्। अत एवेयति यद्यपि वाच्यस्य प्राधान्यं, तथापि रसध्वनौ तस्यापि गुणतेति सर्वस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य प्रकारे मन्तव्यम्। अत एव ध्वनेरेवात्मत्वमित्युक्तचरं बहुशः।' (ध्वन्यालोकलोचन, ३ य उद्योत)

उसमें यही स्पष्ट है कि व्यङ्ग्य के गुणीभाव का चमत्कार व्यङ्ग्य के प्राधान्य के चमत्कार की अपेक्षा कम महत्त्व नहीं रखता। व्यङ्ग्य का गुणीभाव भी कवियों की वाणी की एक विचित्र पवित्रता है। व्यङ्ग्य से उपस्कृत वाच्य का रसाभिव्यञ्जन-समर्थ होना काव्य का एक अनूठा ही सौन्दर्य है। वाच्य की अपेक्षा अतिशय रमणीय रसादिरूप व्यङ्ग्य की पहचान में जैसे रसज्ञता की एक पहचान है वैसे ही व्यङ्ग्य से संवलित वाच्य की रसप्रवणता की पहचान में भी रसज्ञता की ही पहचान है। 'ललना के शरीर में अभिव्यक्त लावण्य' के दर्शन से 'लावण्य संवलित ललना के शरीर का दर्शन' क्योंकर, सौन्दर्य-दर्शन की दृष्टि में, किसी प्रकार का तारतम्य रखे?

आचार्य आनन्दवर्धन तो 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य के सौन्दर्य रहस्य से वस्तुतः मन्त्रमुग्ध से हैं—

'प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः। ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥'

'ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः।' (ध्वन्या० ३-३५)

अर्थात् 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' का सौन्दर्य तो काव्य-साहित्य का एक व्यापक सौन्दर्य है। काव्य के 'ध्वनि' रूप प्रकार में रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के 'आनन्द' लेने और इसके 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' प्रकार में रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ से विशिष्ट वाच्य-सौन्दर्य के द्वारा रसानुभव में सहृदयता की अधिकता-न्यूनता का क्या तारतम्य?'

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप काव्य के साम्राज्य में जो भी रचनायें स्थान पा जांय सुन्दर लगने लगती हैं। ध्वनि-साम्राज्य जिन काव्य-रचनाओं को बाहर निकाला करता है उन्हें 'काव्य' रूप में प्रतिष्ठित करने में गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप काव्य-साम्राज्य की ही शक्ति समर्थ है। रसविवक्षा से औचित्यपूर्ण अलङ्कार-योजना तो 'ध्वनि' काव्य का सौन्दर्य है ही किन्तु व्यङ्ग्यांश संस्पर्श से अतिशय रमणीय अलङ्कार-योजना भी एक अतिरिक्त ही सौन्दर्य है और इस सौन्दर्य की दृष्टि में 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'रूप काव्य-प्रकार की अनुभूति सहृदयहृदय द्वारा ही प्रमाणित है। ध्वनिकार की इसी लिये यह धारणा है:—

'तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः । गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानामनुक्तानां सामान्यम् । तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति । एकैकस्य स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपादपठनेन शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुमानन्त्यात् । अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः । गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यङ्ग्यार्थानुगमलक्षणेन विषयत्वमस्त्येव । तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः । सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् ।' (ध्वन्यालोक, ३ य उद्योत)

जिसका यही संकेत है कि गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप काव्यप्रकार मध्यम श्रेणी के कविजन की कृति नहीं अपि तु महाकवियों की काव्य-कृति है । यह काव्यप्रकार 'ध्वनि' का ही एक 'निष्यन्द' है । 'ध्वनि का निष्यन्द' इसलिये क्योंकि इस काव्य में भी सहृदयहृदय के हरण करने की वही शक्ति है जो 'ध्वनि' काव्य में रहा करती है । महाकवियों ने अनन्तरूपों में अपनी प्रतिभा का, अपनी लोकोत्तरवर्णना का प्रकाशन किया है । इन अनन्तभेदभिन्न काव्यबन्धों को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप काव्यप्रकार में समन्वित करना काव्यरसिकों और काव्यतत्त्वमर्मज्ञों की एक संविदा है क्योंकि बिना इसके सहृदयों और आलङ्कारिकों के लिये प्रत्येक काव्यबन्ध का पृथक्-पृथक् रूप से स्वरूप-निरूपण अशक्य ही है ।

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप काव्यप्रकार के सम्बन्ध में ध्वन्याचार्यों की ऐसी भावना के रहते हुये भी आचार्य मम्मट ने इसे जो 'मध्यम' काव्य माना है, जिसमें काव्य की निम्नस्तरता का भाव झलकता है, वह क्यों ? इसके कई एक कारण हो सकते हैं । एक यह भी कारण हो सकता है कि 'ध्वनि' वाद की दृष्टि से काव्य की विभाग-व्यवस्था, जो ध्वन्यालोक में रहस्यमय सी ही रह गयी है, स्पष्टतया निश्चित हो जाय । 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप काव्य-प्रकारों में ध्वनिकार की सौन्दर्य-रहस्य-दृष्टि में काव्य साहित्य का लाभ था किन्तु मम्मट ने काव्य-मीमांसा के लाभ के लिये इस रहस्य का 'उत्तम' और 'मध्यम' काव्य के प्रकार-निश्चय में उद्घाटन ही उचित समझा । दूसरा कारण यह भी संभव है कि 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य को 'मध्यम' काव्य के रूप में स्वीकार न करने में अलङ्कारवादी आचार्यों के अलङ्कार-संरम्भ की आलोचना न हो सकती थी । 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य के रहस्य को रसवत्, प्रेय आदि अलङ्कारों के रूप में भी आलङ्कारिक मान ही रहे थे । चित्र-काव्य के विषय-विभाग का व्यवच्छेद करने के लिये भी मम्मट ने यही आवश्यक समझा कि 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य को 'मध्यम' काव्य का नाम दे दिया जाय । चाहे जो कुछ भी हो, 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य में 'मध्यम' काव्य की मान्यता मम्मट की अलङ्कारशास्त्रकारिता का परिणाम तो अवश्य ही है । इस काव्य के अवान्तरभेदों के निर्धारण में भी मम्मट का ही हाथ है न कि ध्वनिकार अथवा लोचनकार का । ध्वनिकार ने तो काव्य की कतिपय परिस्थितियों का विवेक किया था जिनमें व्यङ्ग्यरूप अर्थ, प्रतीत होने पर भी, 'ध्वनि' काव्य का विषय न मान लिया जाय जैसे कि :—

"यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते । वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥'

(ध्वन्यालोक २. ३१)

अथवा—
'अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते । सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥'
(ध्वन्यालोक ३. ३८)

आदि और अन्त में यही निर्णय दिया था कि व्यङ्ग्य की गुणीभूत स्थिति भी 'रसादितात्पर्य-पर्यालोचना' में ध्वनि के रूप में ही चमत्कारजनक हुआ करती है:—
'प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् । धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥'
(ध्वन्यालोक ३. ४०)

किन्तु आचार्य मम्मट ने इन सबका विभाग्-व्यवस्थापन करने के लिये इन्हें 'मध्यम' काव्य का नाम दे दिया।

आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के 'चित्र'-काव्य-विवेचन में रसविवक्षा के अभाव की मान्यता के आधार पर मम्मट ने 'चित्र'-काव्य का अवर अथवा अनुत्तम अथवा अधम काव्य नाम दिया है । ध्वन्यालोक और लोचन में इस का अवान्तर-प्रकार नहीं निरूपित किया गया था क्योंकि ऐसा करने में नीरस काव्य-रचना के प्रति प्रोत्साहन का भाव निकल सकता था । 'साथ ही साथ अनपेक्षित व्यङ्ग्यरूप वाच्य का आनन्त्य भी एक अतिरिक्त ही काव्य साहित्य-समृद्धि है क्योंकि अवस्था-देश-कालादि का भेद भी तो काव्य-रचना का नियामक है'—इस दृष्टि से भी 'चित्र'काव्य का प्रकार परिच्छेद ध्वनिकार और लोचनकार को अपेक्षित न लगा । आचार्य मम्मट ने इस काव्य के प्रकाररूप में अलङ्कारवाद-सम्मत समस्त शब्दालङ्कारों, अर्थालङ्कारों और उभयालङ्कारों का जो परिगणन और विवेचन किया उसमें उनकी समन्वय दृष्टि तो अवश्य झलकती है किन्तु ध्वनिकार और लोचनकार की वह धारणा नहीं जो इस प्रकार अभिव्यक्त हुई थी:—
'भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् । व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया'॥
और जिसका अभिप्राय यह था कि कवि के वाणी-स्वातन्त्र्य का अलङ्कारशास्त्र की परिभाषाओं में बन्धन उतना आवश्यक नहीं जितना कि उसके सौन्दर्य का विविध दृष्टिकोणों से दर्शन है। आधुनिक पाश्चात्य काव्यालोचकों की एक काव्यप्रकार सम्बन्धी यह धारणा:—

'Sometimes the mere exercise of a consummate craftsmanship creats, almost inspite of itself, something which might be called art'.

'The adequate use of language simply as a communicative vehicle has a literary value of its own. To find a writer saying what he has to say in language that fits the thought like a glove is an exhilarating experience, quite apart from any interest we may have in what he is saying......The recognition of competence in verbal expression, the sheer pleasure of seeing language handled by some one who is its master and not its slave, is an experience that can be enjoyed only by the reader who has had enough experience in reading and writing to have become sensitive to the medium of language.'

'चित्र'काव्य की ध्वनिकार सम्मत मान्यता का समर्थन कर रही है न कि मम्मट की 'अवर'–

काव्य-सम्बन्धी दृष्टि का। जो वस्तु 'अवर' होती है वह निषिद्ध होती है चित्रकाव्य निषिद्ध नहीं। निषिद्ध तो इसका दुरुपयोग है। इसका भी कुछ उपयोग है और वस्तुतः इसी उपयोग की दृष्टि से ध्वनिकार ने इसे 'अवर' नहीं कहा।

८. मम्मट का रस-विमर्श

मम्मट का रस-विमर्श काव्यप्रकाश (४र्थ उल्लास–२७, २८) की इन चार पंक्तियों में किया हुआ है—

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यैस्स्थायी भावो रसः स्मृतः॥'

जिनमें ध्वनिवादी पूर्वाचार्यों के रस-ध्वनिवाद का सार-संक्षेप तो है ही किन्तु साथ ही साथ उसका युक्तियुक्त उपादान भी है। 'काव्य अथवा कला लोक-जीवन की अभिव्यञ्जना है न कि अनुकृति' यह रस-ध्वनि-वाद की मान्यता मम्मट के उपर्युक्त रस-विमर्श में स्पष्टतया प्रकाशित है। काव्य का रसानुभव, लौकिक अनुभव नहीं अपि तु लोकोत्तर-कलात्मक-अनुभव है–इसका विश्लेषण मम्मट की ये पंक्तियां जितनी विशदता से किया करती हैं उतनी विशदता अन्य आलङ्कारिकों की कृतियों में नहीं दिखायी देती। मम्मट की उपर्युक्त रस-परिभाषा का संक्षेप हेमचन्द्राचार्य ने किया है:—

'विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्तः स्थायी भावो रसः।' (काव्यानुशासन २.१)

और मम्मट के विकट आलोचक कविराज विश्वनाथ ने भी मम्मट का ही रस-लक्षण इस प्रकार संक्षिप्त किया है:—

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥' (साहित्यदर्पण ३.१)

किन्तु इन संक्षिप्त लक्षणों में काव्य-रस के विमर्श का न तो आधार दिखायी देता है जो कि लोक और काव्य का परस्पर वैलक्षण्य है और न लोक-जीवन और काव्य-जीवन का वह सम्बन्ध पता चलता है जिसके कारण लोक की अनुभूतियां काव्य में रस-योजना की आधार-भित्ति के रूप में समन्वित हुआ करती हैं।

लोक और काव्य का वैलक्षण्य स्पष्टतया न देखने के ही कारण भट्टलोल्लट का 'रसोत्पत्तिवाद' प्रवर्तित हुआ। नाट्याचार्य भरत के रस-सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' में प्रतिपादित रस-योजना के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावरूप तत्त्वों को रत्यादिरूप लौकिकभावों के कारण, कार्य और सहकारी रूप तत्त्वों से अभिन्न यदि मान लिया गया तब तो लोक में मनोभावों की प्रतीति और काव्य में मनोभावों की अभिव्यक्ति और इसीलिये 'रस' की अनुभूति में भेद कहां! जिसे 'रस' कहते हैं वह लोक का अनुभव नहीं अपितु काव्य अथवा नाट्य वस्तुतः कला का अनुभव है। 'रसोत्पत्तिवाद' में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों को कारण, कार्य और सहकारिकारणों से अभिन्न–एकरूप–सा माना गया है। लोक-जीवन के 'राम' के रत्यादिभाव की प्रतीति और नाट्य में उद्भावित 'राम' के रत्यादिभाव की नट में चमत्कारात्मक प्रतीति यही 'रसोत्पत्तिवाद' का सारांश है। रसोत्पत्तिवाद' की आलोचना के लिये ही

सर्वप्रथम मम्मट ने लौकिक रत्यादिरूप स्थायी चित्तवृत्तियों की प्रतीति के कारण-चक्र और काव्य-नाट्य में स्थायी रत्यादिरूप मनोभावों की अभिव्यक्ति के अभिव्यञ्जक-तत्त्व का स्पष्ट वैलक्षण्य प्रतिपादित किया है। रस-लक्षण में जब तक लोक और काव्य तथा दोनों की प्रतीतियों का परस्पर वैलक्षण्य न बताया जाय तब तक 'रस की अभिव्यक्ति' का सिद्धान्त स्पष्ट नहीं किया जा सकता। 'लोक में रत्यादिभावों की उत्पत्ति किं वा प्रतीति के कारण-चक्र जब काव्य अथवा नाट्य में कवि की लोकोत्तर वर्णना के विषय बना करते हैं तब कारण कारण नहीं रहा करता, कार्य कार्य नहीं रहा करता और न सहकारिवर्ग सहकारिवर्ग रह पाते हैं अपितु अपने लौकिक स्वभावों का सर्वथा परिहार किये एकमात्र विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के रूप में परिणत हुआ करते हैं-' यह रस-विमर्श की भूमिका इतनी आवश्यक है कि बिना इसके रस की व्यञ्जना का मर्म बताना असंभव है। आचार्य अभिनवगुप्त की रस-मीमांसा की इस आधारभित्ति को आचार्य मम्मट ने सर्व प्रथम अपने रस विमर्श को आधार-भित्ति के रूप में प्रकाशित किया है।

'रसानुमितिवाद' में यद्यपि 'रत्यादिभावों की लौकिक अनुमिति और काव्यात्मक अनुमिति का वैधर्म्य स्पष्टतया प्रतिपादित है किन्तु इस वैधर्म्य का 'चित्रतुरगन्याय' के आधार पर प्रतिपादन यही अभिप्राय रखता है कि काव्य अथवा नाट्य लोक की 'अनुकृति' है। 'अनुकृति' में कृत्रिमता और अकृत्रिमता (स्वाभाविकता) का द्वन्द्व निरन्तर चला करता है। यही बात 'रसानुमितिवाद' में भी दिखायी देती है। रसानुमितिवाद' के अनुसार लोक में रत्यादिरूप स्थायी चित्तवृत्तियों के अनुमान के कारण-कार्य और सहकारी तत्त्व तो 'अकृत्रिम' बताये गये हैं और काव्य तथा नाट्य में रत्यादिरूप स्थायीभावों की आनन्दात्मक अनुमिति के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-रूप तत्त्वों को कृत्रिम' कहा गया है। लोक के कारण, कार्य और सहकारी तत्त्वों की 'अनुकृति' की ही यह महिमा है कि काव्य और नाट्य में इन्हें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का पारिभाषिक नाम दिया जाया करता है। 'रसानुमितिवाद' के लोक और काव्य में अकृत्रिमता के द्वन्द्व-समर्थन का समूलोन्मूलन करने के लिये भी आचार्य मम्मट ने अपने रस-लक्षण में 'लोक और काव्य' का वैधर्म्य-निरूपण आवश्यक माना है। लोक और काव्य का जो भी यत् किञ्चित् साधर्म्य है वह इसी में है कि लोक की स्थायी चित्तवृत्तियां ही काव्य अथवा नाट्य के स्थायीभाव हैं किन्तु यह साधर्म्य लोक और काव्य के मौलिक वैधर्म्य के कारण अकिञ्चित् कर ही बना रहा करता है। अनुकृत स्थायीभाव का अनुमान और अभिव्यक्त स्थायीभाव का आस्वाद परस्पर सर्वथा विलक्षण वस्तुयें हैं। लोक में रत्यादि भावों की साधारण अनुमिति की सामग्री को 'अकृत्रिम' और काव्य-नाट्य में रत्यादि भावों की अलोकसाधारण अनुमिति की सामग्री को कृत्रिम कहने में लोक और काव्य का वैधर्म्य नहीं प्रकट हो सकता। लोक और काव्य का वास्तविक वैधर्म्य तो इसमें है कि लोक में रत्यादि भावों की अनुमिति की सामग्री काव्य में आते ही अभिव्यञ्जना की सामग्री के रूप में विलक्षण ढंग से बदल जाया करती है। जिसे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कहा जाय उसमें लौकिकता की गन्ध भी कैसे रह सकती है ? विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव रूप रस-तत्त्वों की योजना रत्यादिरूप स्थायीभावों की भावना अथवा अभिव्यञ्जना के लिये ही है न कि अनुमिति के लिये। मम्मट की रस-परिभाषा रसानुमितिवाद की इस प्रकार स्वयं एक आलोचना है।

'रस-भुक्तिवाद' में काव्य-नाट्य में भावना शक्ति की एक अतिरिक्त मान्यता है। इस मान्यता में लोक और काव्य का वैलक्षण्य यद्यपि स्पष्ट है किन्तु यह भावना क्यों है ? इसका यहां कोई समञ्जस समाधान नहीं। इसका समञ्जस समाधान एक मात्र यही है कि काव्य और नाट्य भावों की अभिव्यक्ति है। काव्य और नाट्य को भावों की अभिव्यक्ति मान लेने पर काव्य और नाट्य में 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' व्यापारों की अतिरिक्त मान्यता अनावश्यक हो जाती है 'लोक में रत्यादि रूप स्थायी चित्तवृत्तियों के कारण-कार्य और सहकारी वर्ग ही कवि की 'वर्णना' के विषय बनते ही विभावादिरूप रस-योजना-तत्त्व बन जाया करते हैं' मम्मट की इस उक्ति में 'रसभुक्तिवाद' की भी आलोचना अन्तर्निहित है।

'काव्य-नाट्य में विभाव' अनुभाव और व्यभिचारिभाव की योजना अथवा वर्णना से ही रत्यादिरूप स्थायीभाव सहृदय-हृदय में अभिव्यक्त होते हैं और 'रस' अथवा 'आनन्द' अथवा 'आस्वाद' रूप अनुभव कहे जाते हैं'-यह रसध्वनिवाद का सिद्धान्त मम्मट के रस-लक्षण में अन्त में निष्कर्षरूप में स्वयं निकल पड़ता है। इस निष्कर्ष में काव्य में 'अलङ्कार' अथवा 'रीति' अथवा 'वक्रोक्ति' आदि की अन्तःसारता के वादों का खण्डन भी अनायास प्रतीत हो जाता है।

'विभावादि से व्यक्त रत्यादि रूप स्थायीभाव 'रस' है' मम्मट की इस रस-परिभाषा में, काव्य और नाट्य' 'रस' के अभिव्यञ्जक हैं न कि कारक अथवा ज्ञापक-यह काव्य और नाट्य का रहस्य भी स्पष्ट हो रहा है। काव्य और नाट्य 'रस' के अभिव्यञ्जक होने से लोकोत्तर-कलात्मक-निर्माण हैं, काव्य और नाट्य से अभिव्यङ्ग्य 'रस' अलौकिक-कलात्मक-अनुभव है-यह है मम्मट के रस-विमर्श का निष्कर्ष, जिसमें रस की 'उत्पत्ति' अथवा 'अनुमिति' अथवा 'भुक्ति' के पूर्वपक्षों के निराकरण के साथ-साथ उसकी 'अभिव्यक्ति' का सिद्धान्त हृदयङ्गम हो रहा है।

काव्य और नाट्य 'रस' की योजना है, विभावादिवर्णना है और जैसे रति-हास-शोक-क्रोध-उत्साह-भय-जुगुप्सा और विस्मयरूप स्थायीभावों की अभिव्यञ्जना काव्य और नाट्य की शक्ति है वैसे ही 'निर्वेद' रूप स्थायीभाव की अभिव्यञ्जना में भी काव्य और नाट्य का सामर्थ्य अक्षुण्ण रहा करता है। 'निर्वेद' रूप स्थायीभाव की अभिव्यक्ति को 'शान्त रस' मान कर आचार्य मम्मट ने 'अभिनवभारती' की शान्तरस-विषयक कतिपय शंकाओं का समाधान भी कर दिया है। 'निर्वेद' की चित्तवृत्ति स्थायीभाव और व्यभिचारिभाव भी है। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-प्राप्ति से संभूत 'निर्वेद' शान्त रस का स्थायीभाव नहीं अपि तु वह 'निर्वेद' शान्त रस का स्थायीभाव हुआ करता है जो तत्त्वज्ञानसंभूत 'निर्वेद' है। तत्त्वज्ञान-संभूत 'निर्वेद' ही 'शम' के रूप में पहचाना जाया करता है, जिसे 'तृष्णाक्षय' कहते हैं। वह तत्त्वज्ञानज 'निर्वेद' के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु नहीं-इन सब संभावनाओं के मनन-चिन्तन में आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' रूप स्थायीभाव की अभिव्यक्ति को भी काव्य-नाट्य की शक्ति मानकर शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत रसों के अतिरिक्त शान्त रस की भी मान्यता आवश्यक सिद्ध की है।

लोक में स्थायी रत्यादिरूप मनोभावों के अवगमन की प्रक्रिया का जैसे एक औचित्य है वैसे ही काव्य-नाट्य में भी स्थायी रत्यादिरूप मनोभावों के अभिव्यञ्जन की प्रक्रिया का एक औचित्य है। इस औचित्य का एकमात्र रहस्य लोक किंवा काव्य दोनों में जीवन के आदर्शों की रक्षा और प्राप्ति हैं। जीवन के आदर्शों की रक्षा और प्राप्ति के धरातल पर लोक और काव्य

का वैधर्म्य-दर्शन सर्वथा अनुचित है। औचित्य और अनौचित्य की दृष्टि रस-सृष्टि किंवा रसानुभूति दोनों में लागू है और इसलिये रत्यादिरूप स्थायी मनोभावों की उचित अभिव्यञ्जना को 'रस का आभास'–'रसाभास'–मानना आवश्यक है। जीवन के आदर्शों की सुरक्षा और संप्राप्ति के औचित्य का निर्वाह करने वाली काव्य-नाट्य-कृतियां ही वस्तुतः 'काव्य' हैं अन्यथा उन्हें 'काव्याभास' ही कहना उचित है। इस रस-सृष्टि किंवा रसानुभूति के औचित्य और अनौचित्य के दर्शन में आचार्य मम्मट ने 'काव्य' और 'काव्याभास' किंवा 'रस' और रसाभास' का जो विश्लेषण किया है वह भी मम्मट के रस-लक्षण का ही अनुषङ्ग है। जैसे लोक में रत्यादिरूप स्थायी चित्तवृत्तियों की प्रतीति–सामग्री लोक-जीवन के आदर्शों से प्रतिकूल होने पर अनुचित मानी जाया करती है वैसे ही कवि की वर्णना के विषयरूप से काव्य में उद्भावित भी इस सामग्री को लोक-जीवन के आदर्शों से विरुद्ध होने पर अनुचित ही मानना चाहिये।

रस-विमर्श के साथ रसाभास-विमर्श भी आवश्यक है क्योंकि काव्य का आनन्दात्मक अनुभव लोक-जीवन को उन्नत बनाने के लिये है न कि नीचे गिराने के लिये। लोक और काव्य के कारणादि किंवा विभावादि तत्त्वों से सहृदयजन की 'रत्यादि प्रतीति' किंवा 'रसाद्यनुभूति' में 'औचित्य' का अभिप्राय अन्तर्भूत है। लोक में रत्यादि की प्रतीति का जो 'औचित्य' है वही काव्य में रसादि की अनुभूति में भी समन्वित है। रस-योजना कवि की प्रौढोक्ति नहीं जिसके लिये लोक के औचित्य के अतिरिक्त काव्य का कोई पृथक् औचित्य माना जाय। 'रामादिवद्वर्ति-तव्यम् न रावणादिवत्' का औचित्य लोक और काव्य दोनों के लिये एक समान है। लोक में मनोभावों की अवगति वैयक्तिक होने से राग-द्वेष-मोह की सीमाओं से सीमित हुआ करती है और इसलिये 'रामादिवद्वर्तितव्यम्' का व्रत लेना पड़ता है किन्तु काव्य में स्थायीभावों की अभिव्यक्ति वैयक्तिक नहीं अपि तु सर्वहृदयसाधारण रहा करती है और इसलिये 'रामादिवद्वर्तितव्यम्' की भावना हुआ करती है जिसमें आनन्द मिलता है और सदाचार के प्रति हृदयानुरक्ति बढ़ती है।

रसास्वाद और जीवन के आदर्शों के समन्वय की अलङ्कारशास्त्र की निरूढधारणा बड़े-बड़े पाश्चात्य कवियों और आलोचकों की भी धारणा है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध पाश्चात्य काव्याकोचक मैथ्यू आर्नल्ड (MattheW arnold) की यह उक्ति स्मरणीय है:—

'It is important, therefore, to hold fast to this : that poetry is at bottom a criticism of life; that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life-to the question: How to live. Morals are often treated in a narrrow and false fashion; they are bound up with systems of thought and belief which have had their day; they are fallen into hands of pedants and professional dealers; they grow tiresome to some of us. We find attraction, at times, even in a poetry of revolt against them; in a poetry which might take up for its motto Omar Khayyam's words : 'Let us make up in the tavern for the time we have wasted in the mosque' Or we find attractions in a poetry iadifferent to them; in a poetry where the contents may be what they will, but where the form is studied and

exquisite. We delude ourselves in either case; and the best cure for our delusion is to let our minds rest upon the great and inexhaustible word-Life, until we learn to enter into its meaning. A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life.'

(Essas in Criticism)

जिसका अभिप्राय यह है : कविता और जीवन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन के आदर्शों के विद्रोह में रची गयी कविता कविता नहीं, जो कविता नैतिक आदर्शों की उपेक्षा करती है वह जीवन की उपेक्षा करती है।

'रस' रूप काव्यार्थ का विमर्श 'उत्तम' काव्य की वास्तविक विशेषता का विमर्श है न कि उसके सामाजिकों की सहृदयता का। वह 'काव्य' जिसका सारभूत अर्थ 'रसादि' रूप अर्थ हुआ करता है 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' अथवा 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' काव्य कहा गया है। 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' रूप काव्य एक अत्यन्त सुन्दर सुकुमार वस्तु है। आचार्य मम्मट ने 'विवक्षितान्यपरवाच्य' (अभिधामूलगूढ़व्यङ्ग्यप्रधान) काव्य के इस 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' रूप भेद को इसीलिये एक काव्य-रहस्य के रूप में स्मरण किया है:—

'कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः' (काव्यप्रकाश ४.२५)

और इसके अष्टविध अवान्तर वैचित्र्य का भी विश्लेषण किया है:—

'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥' (काव्यप्रकाश ४.२६)

यहां यह बात ध्यान देने की है कि 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'–इस काव्य-परिभाषा में मम्मट की दृष्टि 'विवक्षितान्यपरवाच्य' काव्य के इस 'असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य' रूप प्रभेद का सर्वप्रथम समन्वय चाहती है और इस रसादिरूप सुकुमार काव्यार्थ की ही दृष्टि से शब्दार्थ-युगल की 'अदोषता', 'सगुणता' और 'यथासंभव अलङ्कृतता' का विश्लेषण करती है।

मम्मट के काव्यलक्षण और रसलक्षण कला और अनुभूति दोनों के दृष्टिकोणों से सर्वथा समञ्जस बने हैं। यह सामञ्जस्य ध्वनिदर्शन के गम्भीर मनन और चिन्तन का तो परिणाम है ही किन्तु साथ ही साथ इसमें मम्मट की अपनी काव्यभावना शक्ति का भी हाथ है।

९. मम्मट और काव्य का गुण-वैशिष्ट्य

'काव्य' की एक पहचान 'शब्दार्थ की सगुणता' को माना गया है। अलङ्कारशास्त्र के उद्भव के पहले से ही शब्द और अर्थ की 'उदारता' और 'मनोरमता' का स्वरूप पहचाना जाता आरहा है। आदिकवि वाल्मीकि की यह सूक्ति :—

'उदारवृत्तार्थपदैः मनोरमैस्ततस्स रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारधीर्मुनिः ॥

(वाल्मीकि रामायण : बालकाण्ड २. ४२)

शब्द और अर्थ की जिस 'उदारता' और 'मनोरमता' का संकेत करती है उसी को अलङ्कार-शास्त्र ने 'औदार्य' और 'माधुर्य' गुणों की परिभाषा में प्रकट किया है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजशासनों के लेखन में जिन विशेषताओं का निर्देश करता है उनमें 'माधुर्य' और 'औदार्य' के साथ-साथ 'स्पष्टत्व' का भी नाम है:—

'अर्थक्रमः, सम्बन्धः, परिपूर्णता, माधुर्यम्, औदार्यम्, स्पष्टत्वमिति लेखसम्पत्।'

(कौटिल्य: अर्थशास्त्र, पृष्ठ १६९–१७०)

और ये ही विशेषतायें हैं जिन्हें 'गुणाभिव्यञ्जकपदरचना' को काव्य–सर्वस्व मानने वाले आचार्य वामन ने अपने गुण–निरूपण में निरूपित किया है।

संस्कृत के महाकवियों ने भी शब्द और अर्थ के गुण–वैशिष्ट्य का परिचय यत्र-तत्र दिया है। महाकवि भारवि की इस सूक्ति अर्थात्—

'स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः ॥'

(किरातार्जुनीय १४. ५)

में जिस 'अर्थसम्पत्' और 'उक्तिविशुद्धि' का निर्देश है वह तो अलङ्कारशास्त्र में अलङ्कार अथवा सौन्दर्य की द्विविध संभावनाओं के रूप में स्पष्ट प्रतिपादित है।

नाट्याचार्य भरत ने नाटकों में 'औदार्य' और 'माधुर्य' का स्वरूप स्पष्ट देखा है:—

'शब्दानुदारमधुरान् प्रमदाभिनेयान् नाट्याश्रयान् कृतिषु प्रयतेत कर्तुम् ।
तैर्भूषिता बहु विभान्ति हि काव्यबन्धाः पद्माकरा विकसिता इव राजहंसैः ॥'

(नाट्यशास्त्र १७. १२१)

और ये ही वे तत्त्व हैं जो अलङ्कार और रीतिवादी आचार्यों के विश्लेषण में 'औदार्य' और 'माधुर्य' गुण के रूप में विश्लिष्ट हुये हैं।

अलङ्कारवाद के प्रथमाचार्य भामह ने 'गुणों' का अनुशासन करते हुये जो यह कहा है:—

'श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते ।'
'आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ।'
'माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः । समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ॥'
'केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि । यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका ॥'

उससे 'माधुर्य' और 'प्रसाद' के अतिरिक्त 'ओज' की गुणरूप में मान्यता का सम्प्रदाय चल निकलता है। 'माधुर्य' और 'प्रसाद' के अतिरिक्त 'ओज' की भी विशेषता अलङ्कारशास्त्र के उद्भवकाल से ही पहचानी जा चुकी है जैसा कि भरत मुनि की इस उक्ति में स्पष्ट है:—

'अवगीतविहीनोऽपि स्यादुदात्तावभासकः । यत्र शब्दार्थसंपत्त्या तदोजः परिकीर्तितम् ॥'
'समासवद्भिर्विविधैः विचित्रैश्च पदैर्युतम् । काकुस्वरैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्तितम् ॥'

रीतिवादी आचार्य वामन की काव्यालङ्कारशास्त्र के लिये जो देन है उसमें 'गुणविवेक' का ही महत्त्व अधिक है। वामन के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों में अलङ्कार और गुण का विवेक उतना स्पष्ट नहीं जितना कि वामन में है। सर्वप्रथम वामन ने ही प्राचीन गुण-सम्बन्धी 'स्फुरित प्रसुप्त' भावनाओं को शब्द और अर्थ के पृथक्-पृथक् 'दस गुणों' के निरूपण में प्रकाशित किया है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने वामन-प्रतिपादित 'गुण-दशक' के मनन-चिन्तन में गुण का जो स्वरूप-परिच्छेद किया उसमें 'गुण' का एक अद्भुत ही रहस्य निकला। गुण-विवेक के इस

ऐतिहासिक विकास-क्रम का जो कारण है वह समीक्षण शैली का क्रमिक विकास है। ध्वनिवादी आचार्यों की समीक्षणपद्धति मुख्यतः 'काव्यात्मक' रही है। इस शैली के अनुसरण में न तो गुण शब्द और अर्थ के पारिभाषिक गुण रह सकते हैं जैसी कि अलङ्कारवाद की धारणा है और न रचना के वैशिष्ट्य बन सकते हैं जो कि रीतिवादी और वक्रोक्तिवादी अलङ्कारशास्त्र की मान्यता है। इस विवेचन में तो 'गुण' काव्यानुभूति के ही वैशिष्ट्य सिद्ध हो सकते हैं और इसी रूप में सिद्ध भी हुये हैं। 'गुण' काव्य के शब्द और अर्थ अथवा शब्दार्थ योजन के गुण नहीं अपि तु 'काव्य' के गुण हैं, 'काव्य' के धर्म हैं और 'काव्य' के अनुभव में अनुभूत हुआ करते हैं—ध्वनिवाद की यही गुणदृष्टि आचार्य मम्मट की भी गुण-दृष्टि है। ध्वनिवाद की काव्य-दृष्टि से देखते हुये ही आचार्य मम्मट ने काव्य का यह स्वरूप देखा है:—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।'

जिसमें 'शब्दार्थ की सगुणता' काव्य-स्वरूप का परिच्छेद करती दिखायी दे रही है। यद्यपि ध्वनिवादी आचार्य 'गुण' को रस-धर्म सिद्ध कर चुके थे जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त की उक्ति में स्पष्ट है:—

'एतदुक्तं भवति—वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुणः। तन्मधुराभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितम्। मधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि तल्लक्षणम्। (लोचन, ३ य उद्योत)

और मम्मट ने भी गुण-निरूपण-प्रकरण में 'गुण' को रसरूप अङ्गी का ही धर्म माना है, जैसा कि उनका स्पष्ट निर्देश है:—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥'

किन्तु काव्य-लक्षण में शब्दार्थ की विशेषता के रूप में 'सगुणता' का उपादान कई एक दृष्टियों से किया गया है। मम्मट ने काव्य के किसी नवीन तत्त्व का नवीन अनुसन्धान नहीं किया है और न प्राचीन अनुसंधान में प्रकट काव्य-तत्त्वों के परिगणन में ही 'काव्य' का स्वरूप देखा है। मम्मट का कार्य तो ऐतिहासिक और वास्तविक दृष्टि से काव्य का लक्षण करना है। 'शब्दार्थ की सगुणता' में काव्य-दर्शन की ऐतिहासिक और वास्तविक दोनों दृष्टियां काम कर रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से 'गुण' शब्द और अर्थ के गुण सही किन्तु वास्तविक दृष्टि से तो रस के ही धर्म हैं। जैसे सहृदयता के विकास में काव्यका अनुभव विकसित हुआ करता है वैसे ही 'शब्दार्थ की सगुणता' का अनुभव भी क्रमशः विकसित हुआ करता है—वस्तुतः सर्वप्रथम इसी दृष्टि से मम्मट ने 'सगुण शब्दार्थ युगल' की काव्यरूप में पहचान करायी है।

मम्मट के आलोचकों ने मम्मट के काव्य-लक्षण के शब्दों की आलोचना की है न कि अभिप्राय की। कम से कम प्रसाद गुण तो सर्वरचनासाधारण गुण है। 'सगुणौ शब्दार्थौ' को सर्वप्रथम 'प्रसन्नौ शब्दार्थौ' समझने में क्या आपत्ति हो सकती है? रससृष्टि के लिये प्रसन्न-शब्दार्थ-संघटना जितनी आवश्यक है उतनी और कुछ नहीं। रसानुभूति की सबसे पहली पहचान सहृदय-हृदय की प्रसन्नता ही तो है। इस 'प्रसन्नता' की ही द्विविध अवस्था चित्त की 'द्रुति' और 'दीप्ति' की अवस्था है। 'प्रसाद' का आधार समस्त रस हैं और प्रसाद की अभिव्यक्ति

ही समस्त रचनाओं की सामान्य विशेषता है। चित्त की 'द्रुति' और 'दीप्ति' अप्रसन्न पदरचना में संभव नहीं। अलङ्कार और रीति-वाद में प्रसन्न पदरचना की मान्यता है और ध्वनिवाद में भी यह मान्य ही है। 'प्रसन्नता' की स्थूल दृष्टि से भी 'काव्य' को 'प्रसन्न शब्दार्थयुगल' कहा जायगा और सूक्ष्म दृष्टि से भी। इसी भांति मधुर शब्दार्थगुम्फ और ओजस्वी शब्दार्थगुम्फ में भी स्थूल और सूक्ष्म-दोनों दृष्टियों का प्रयोग किया जा सकता है जैसा कि किया भी गया है। 'शब्द और अर्थ की सगुणता' के रूप में 'काव्य' को लक्षित करने में मम्मट ने प्राचीन 'अविश्रान्त प्रतीति' अलङ्कारवादी किंवा रीतिवादी आचार्यों की मान्यता और नवीन 'रसपर्यन्त-विश्रान्तप्रतीति' ध्वनिवादी आचार्यों की काव्य-भावना-दोनों का ध्यान रखा है और एक के दूसरे रूप में क्रमशः विकसित होने का भी संकेत किया है। मम्मट का 'गुण'रूप शब्दार्थ-वैशिष्ट्य काव्य की अपरिपक्व और परिपक्व-दोनों भावनाओं में संगत है। काव्य की अपरिपक्व भावना में 'शब्दार्थयुगल' का 'सगुण' विशेषण सामान्य अर्थ भले ही रखे किन्तु परिपक्व भावना में तो विशिष्ट प्रकट करता है।

१० मम्मट और काव्य में अलङ्कार-योजना

मम्मट के काव्य लक्षण में, काव्यरूप शब्दार्थयुगल की एक विशेषता के रूप में 'यथासंभव किंवा यथास्थान अलङ्कृतता' की विशेषता का जो उपादान है उसमें मम्मट के अनुसार 'काव्य और अलङ्कारयोग' का रहस्य स्पष्ट किया हुआ है। ध्वनिवाद की काव्यात्मक समीक्षा पारिभाषिक काव्य-समीक्षा का खण्डन नहीं अपितु समन्वय किया करती है। अलङ्कार-योजना काव्य में किसी अपेक्षाविशेष से ही हो सकती है और उस अपेक्षाविशेष का जो रहस्य है वह ध्वनिकार की इन पंक्तियों में प्रतिपादित है :—

'शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्। सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्। शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः। रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥
विवक्षातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन। काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्। रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥
(ध्वन्यालोक २.१४-१९)

जिनका अभिप्राय यही है कि विविध भेद-भिन्न शृंगाररस के अभिव्यञ्जक काव्यों में शब्दालङ्कार जैसे कि अनुप्रास का 'अत्यन्त निर्वहण' एक अनौचित्य है क्योंकि इसके द्वारा सहृदयहृदय रसास्वाद के प्रति उन्मुख होने की अपेक्षा वर्ण-संवाद के प्रति दत्तचित्त हो जाया करता है। यमक और चित्रालंकार के बन्ध तो शृङ्गाररस काव्यों में सर्वथा परिहार्य हैं ही। काव्य का 'शब्दालंकार' तो वही शब्दालंकार है जिसका 'बन्ध' रसाविष्ट कवि अनायास किया करता है। यदि अर्थालङ्कारों को 'अर्थचित्र' के धारातल से उठाकर 'काव्य' के धरातल पर रखा जाय तब तो उनकी 'योजना' में कवि की 'रसाक्षिप्तहृदयता' को ही प्रमाण मानना पड़ेगा। 'काव्य' में अर्था-लङ्कारों की योजना रसानुगुण होनी चाहिये, रस-भाव की दृष्टि से कहीं आवश्यक और कहीं

अनावश्यक मानी जानी चाहिये, रसाभिव्यञ्जन की अपेक्षा से साङ्ग-सम्पूर्ण न बनायी जाय तो अच्छा, किं बहुना, ऐसी होनी चाहिये जिसे रसाभिव्यक्ति का उपाय माना जाय ।

काव्य में अलङ्कारयोजना की उपर्युक्त अपेक्षा ही मम्मट के काव्यलक्षण में 'यथास्थान किंवा यथोचित अनलंकृतता' (अनलंकृती पुनः क्वापि) के रूप में प्रकट की गयी है ।

उत्तम काव्य में अलङ्कारयोग की यह अपेक्षा सर्वत्र दिखाई देती है। अर्थचित्र काव्य इस अपेक्षा के कारण ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के रूप में निखर उठते हैं ।

आचार्य मम्मट ने शब्दचित्र और अर्थचित्र रूप अवर काव्यों के भेद-प्रभेदों का जो बहुत विशद वर्णन किया है, जिसमें शब्द और अर्थ के सभी अलङ्कारों का निरूपण और विवेचन किया हुआ है, उसका अभिप्राय 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' का खण्डन नहीं अपितु मण्डन है । शब्द और अर्थ के समस्त अलङ्कार-बन्धों का परिचय कवि और सहृदय दोनों के लिये आवश्यक है । रसभाव की विवक्षा में ये ही शब्द और अर्थ के अलङ्कार 'काव्य' के अलङ्कार बना करते हैं । जब इनका विशद विवेक न हो तब इनका 'बन्ध' कैसे हो ? इन अलङ्कारों के स्वरूप-विवेक से ही तो इनकी रसानुकूलता और रसप्रतिकूलता का पता चल सकता है ।

अलङ्कारयोजना के रसविषयक औचित्य का सूक्ष्म संकेत 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' के अतिरिक्त और किस भाषा में किया जाय? 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण' कवि अलङ्कारयोजना का दास नहीं किन्तु स्वामी है । कवि का स्वातन्त्र्य अलङ्कारयोग में कुण्ठित क्यों हो ? कहीं अलङ्कार की स्फुट प्रतीति न हो तो न सही, किन्तु यदि रस की अनुभूति है तो वहां तो 'काव्य' है ही ।

अलङ्कारयोग तो 'अलङ्कार्य' के ऊपर निर्भर है । अलङ्कार्य–रसभाव–की अपेक्षा कहीं अलङ्कार की स्फुट योजना भी हुआ करती है और कहीं अस्फुट योजना भी । अलङ्कार की अस्फुट योजना भी 'काव्य' के प्रत्यभिज्ञान में सहायक है न कि बाधक । अलङ्कार की अस्फुट प्रतीति में भी, 'यः कौमारहरः' आदि सूक्ति में, मम्मट ने रसध्वनिकाव्य की जो पहचान की है वह मम्मट में सहृदयता और आलङ्कारिकता के समन्वय का बड़ा सुन्दर प्रमाण है ।

अर्थ–रसधर्मता का ही रहस्य–रखा करता है । काव्य की परिपक्व भावना ने ही मम्मट को वामन-प्रतिपादित 'गुण-दशक' के सिद्धान्त के आलोचन के लिये प्रेरित किया है और ध्वनि-वादी आचार्यों की गुण-समीक्षा को वैज्ञानिक किंवा दार्शनिक सिद्ध करने का प्रोत्साहन दिया है ।

काव्य के शब्द और अर्थ के प्रत्यभिज्ञान में 'प्रसाद' का प्रत्यभिज्ञान सर्वप्रथम स्थान रखता है । मम्मट ने शब्दार्थयुगळ की 'सगुणता' की पहली पहचान 'प्रसाद' की ही पहचान मानी है । कविजन को यदि 'प्रसाद' की पहचान न हो तो क्या शब्द, क्या रचना और क्या प्रबन्ध-कहीं भी 'काव्य' की गन्ध नहीं आ सकती । अलङ्कारशास्त्र का 'प्रसाद' गुण ही आधुनिक पाश्चात्य काव्यालोचना में Clarity of Diction (शब्दार्थरचना की स्पष्टता) के रूप में दिखाई देता है । शब्दार्थगुम्फ की स्पष्टता वस्तुतः अन्तिम विश्लेषण में सहृदयहृदय की प्रसन्नता ही है । सहृदयहृदय की शृङ्गारादि रसों की अनुभूति में 'द्रुति' ही शृङ्गारादि रसाभिव्यञ्जक रचनाओं की मधुरता है और इसी प्रकार रौद्रादि रसों के अनुभव में चित्त का प्रज्ज्वलन ही रौद्रादि रसाभिव्यञ्जक शब्दार्थगुम्फ का प्रज्ज्वलन अथवा 'ओज' है। तभी तो मम्मट ने स्पष्ट कहा है :—

'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।' (का० प्र० ८म उल्लास)

जिसका यही अभिप्राय है कि 'ध्वनि'काव्य और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'काव्य में शब्दार्थयुगल का गुण-रूप वैशिष्ट्य कवि की प्रसन्नपदरचना है जो रस-सृष्टि के लिये अत्यन्त आवश्यक है, जिसके आधार पर रसानुभव में चित्त की द्रुति अथवा दीप्ति का स्वरूप स्वसंवेद्य हुआ करता है और माधुर्य तथा ओज के रूप में विश्लेषण-योग्य भी बना करता है। चित्रकाव्य में शब्दार्थ-युगल प्रसादपूर्ण तो कहे जा सकते हैं किन्तु मधुर अथवा ओजस्वी नहीं। शब्दचित्र अथवा अर्थचित्र का माधुर्य अथवा ओज एक 'प्रौढिवाद' है।

११. मम्मट और काव्य की अदोषता

मम्मट ने काव्य में-उत्तम, मध्यम और अवर रूप काव्य-त्रितय में-शब्दार्थ की 'अदोषता' को आवश्यक माना है। शब्दार्थयुगल की इस 'अदोषता' की मान्यता में दोष के क्रमशः विकसित हुये स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान का भी अभिप्राय अन्तर्भूत है। मम्मट ने 'दोष' का वह स्वरूप अपने सामने रखा है जिसे ध्वनिवादी आचार्य देख चुके हैं और जो कि काव्य में दोष का वास्तविक स्वरूप है। 'दोष' अकवित्व नहीं अपितु 'कुकवित्व' है—दोष के इस प्रथम परिचय में आचार्य भामह की जो अर्धोन्मीलित दृष्टि है वही आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में पूर्णतया उन्मीलित हुई है और उसी का आधान मम्मट ने अपने में किया है।

आचार्य भामह और ध्वनिवादी आचार्यों के बीच के आलङ्कारिक 'दोष' का विशद निरीक्षण और विवेचन कर चुके हैं। आचार्य वामन ने 'काव्य' की विशिष्टता सौन्दर्य में तो मानी ही है जिसका 'गुण' और 'अलङ्कार' रूप में द्विविध विश्लेषण किया है किन्तु साथ ही साथ 'दोष-हीन' को भी काव्य-सौन्दर्य की सुरक्षा के लिये अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट ने वामन के ही 'दोष-हान' को 'अदोषता' के रूप में अपने काव्य-लक्षण में स्थान दिया है किन्तु इसके अभिप्राय के रूप में वामन की मान्यता को स्थान न देकर ध्वनिकार और लोचनकार की दोष-सम्बन्धी मान्यता को ही स्थान दिया है। ध्वनिवादी काव्याचार्य काव्य में 'दोष' के सम्बन्ध में वही धारणा रखा करते हैं जो कि लोक में 'दोष' के सम्बन्ध में महाकवि कालिदास की धारणा रह चुकी हैः—

'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।' (अभिज्ञानशाकुन्तल १. २०)
'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।'
(कुमारसम्भव १.३)

आचार्य मम्मट ध्वनिवाद के प्रचारक आचार्य हैं। ध्वनिवाद की दृष्टि से तो आचार्य मम्मट के अनुसार निम्नांकित दोष ही वस्तुतः उत्तम काव्य के दोष हैंः—

१. स्थायी और व्यभिचारी भावों का स्वशब्दोपादान
२. विभावों और अनुभावों की कष्टकल्पना
३. प्रकृत रस-विरुद्ध विभावादि-योजना
४. प्रकृत रस की पुनः पुनः दीप्ति
५. प्रकृत रस-भाव का अनवसर में अभिव्यञ्जन
६. प्रकृत रस-भाव का अनवसर में विच्छेद
७. रस के अङ्गों की अत्यन्त विस्तृत योजना
८. अङ्गीभूत रस के प्रति अनवधान
९. प्रकृतिगत औचित्य का उल्लंघन
१०. रस के जो अङ्ग न हों उनका वर्णन

और उत्तमकाव्य में 'अदोषता' का अभिप्राय इन्हीं रसदोषों का विवर्जन है ।

मध्यम काव्य में 'अदोषता' का उपर्युक्त अभिप्राय तो है ही किन्तु साथ ही साथ वाच्य-सौन्दर्य के विघातक पदादि दोषों के वर्जन का भी अभिप्राय अन्तर्भूत है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उत्तम काव्य में पदादि दोष क्षम्य हैं ।,जिन किन्हीं भी पदादिगत दोषों से रस की प्रतीति की उत्कृष्टता में कभी आ जाय वे सभी के सभी परिवर्जनीय ही हैं। दोष को इसी दृष्टि से देखते हुये मम्मट को 'न्यक्कारो ह्ययम्' आदि रसध्वनिकाव्य में दोष नहीं दिखायी पड़ता। दोष में 'रसापकर्षकत्व' को मानते हुये भी विश्वनाथकविराज को जो यहां 'विधेयाविमर्श' दोष खटकता है वह वस्तुतः मम्मट के काव्यलक्षण के खण्डन का आवेश है न कि और कुछ ।

चित्रकाव्य के शब्द और अर्थ-चित्र नामक दोनों भेदों में 'अदोषता' का तात्पर्य पदादिगत दोषों के परिहार का ही तात्पर्य है। आचार्य मम्मट ने अपने दोष-निरूपण में 'अर्थचित्र-काव्य' के दोषों का जो निरीक्षण और विवेचन किया है वह अलङ्कारशास्त्र को मम्मट की एक देन है। 'उपमा' के दोष तो प्राचीन आलङ्कारिक बताते आ रहे थे किन्तु अन्य अलङ्कार-बंधों के दोषों का निरूपण सर्वप्रथम मम्मट ने ही किया है ।

मम्मट को अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों में सबसे बड़ा दोष-दर्शी आचार्य माना गया है। ऐसा मानना सर्वथा युक्तियुक्त भी है। ध्वनिवादी आचार्यों की 'अशक्तिकृत' और 'अव्युत्पत्तिकृत' दोष-विभाग की सामान्य व्यवस्था को सर्वप्रथम मम्मट ने ही प्राचीन अलङ्कारशास्त्र प्रतिपादित नाना भांति के पदादिगत दोषों के रूप में विशद किया है ।

मम्मट ने महाकवियों की काव्य-सूक्तियों में यत्र-तत्र दोषों का जो उद्घाटन किया है उसमें मम्मट की दोष-दृष्टि की कतिपय विशेषतायें स्पष्ट प्रतीत होतीं हैं। उदाहरण के लिये महाकवि भारवि की इस सूक्तिः—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषा दरः॥ (किरातार्जुनीय)

में मम्मट ने 'अवाचक' रूप पद-दोष का जो उद्घाटन किया है ,उसे देखते यह मानना पड़ता है कि मम्मट की ध्वनि-प्रत्यभिक्षा पराकाष्ठा पर पहुंची हुई थी। भारवि की उपर्युक्त सूक्ति में द्रौपदी के वाग्बाणों के द्वारा युधिष्ठिर के क्रोधोद्दीपन का भाव गर्भित है। 'आपत्तियों के विघातक' के प्रतिपक्ष के रूप में 'जन्तु' पद का जो प्रयोग है उसमें 'आपत्तियों के विधान में असमर्थता' का अभिप्राय कवि ने अवश्य रखा है किन्तु इस विवक्षित अभिप्राय के अभिधान में 'जन्तु' पद 'अवाचक' पद है। कवि के लिये काव्य-रचना में वाच्यवाचक-प्रपञ्चरूप उपाय का समुचित उपयोग अपेक्षित है क्योंकि विना इसके काव्य की अभिव्यञ्जना को वह स्फूर्ति नहीं मिलती जो उसे मिलनी चाहिये ।

महाकवि कालिदास की इस कुमारसंभव-सूक्तिः—

'वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥

में मम्मट ने 'अलक्ष्यजन्मता' के प्रयोग में 'अविमृष्टविधेयांश' दोष की छानबीन की है और

इसके बदले कालिदास के किये 'अलक्षिता जनिः' पद का प्रयोग सुझाया है। यह निश्चित है कि गुणसन्निपात में दोष का पता नहीं चल पाता किन्तु सूक्ष्मदर्शी लोग यदि गुण-सन्निपात में भी 'दोष' के सद्भाव में दोष देख लें तो इसमें उनका क्या अपराध !

मम्मट की काव्यात्मक शब्दार्थसम्बन्धी 'अदोषता' की मान्यतामें विश्वनाथ कविराज ने जो कतिपय संभावनायें की हैं वे अन्ततोगत्वा निरर्थक ही सिद्ध होती हैं क्योंकि मम्मट का दोष-विवेचन ही विश्वनाथ कविराज के दोष-विवेचन का आधार है। मम्मट के मत में यदि 'दोष' का कुछ दूसरा आधार अथवा अभिप्राय रहता तब तो विश्वनाथ कविराज का 'अदोषौ शब्दार्थौ' का खण्डन युक्तियुक्त माना जाता। किन्तु ऐसी बात है कहां ? 'रस के अपकर्षक तत्त्व' दोष हैं—दोनों आचार्यों की इस सम्मति में 'अदोषौ शब्दार्थौ' की काव्यरूपता में विरोध कहां ?

१२. मम्मट का युग और व्यक्तित्व

आचार्य मम्मट का युग ११ वीं–१२ वीं शताब्दी के काश्मीरिक कवियों और काव्यालोचकों की एक नयी साहित्यिक चेतना का युग है। यह साहित्यिक चेतना प्राचीन महाकवियों की काव्य कृतियों में नवयुग की अनुभूति में उत्पन्न होती है और साथ ही साथ नवीन साहित्य की सृष्टि की भी प्रेरणा बनती है। 'रस की अभिव्यञ्जना' का वाद इस युग का काव्य-वाद है और 'उक्ति-वैचित्र्य' इस युग की काव्य-सृष्टि है। रस-ध्वनिवाद के प्रवर्त्तक और प्रतिष्ठापक-आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का काव्य-दर्शन इस युग का काव्य-दर्शन है किन्तु इस काव्य-दर्शन की साधना 'वक्रोक्ति' अथवा 'भङ्गीभणिति' के मार्ग का अवलम्बन लेती है। आचार्य आनन्दवर्धन का समसामयिक कवियों के प्रति यह संकेत :—

'ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः। अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥
अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता। वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयत्यपि॥'
(ध्वन्यालोक ४.१-२)

है कि 'प्राचीनकाव्यों के अर्थानुसन्धान में भी नवीन काव्य-रचना की जा सकती है यदि कविजन 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' का मार्ग पहचान लें और उस पर चल पड़ें' रस-प्रबन्ध के निर्माण के निमित्त वक्रोक्ति-बन्ध का प्रोत्साहन मान लिया जाता है। 'विक्रमाङ्कदेवचरित' के रचयिता विह्लण (११ वीं शताब्दी) का यह आत्म-निवेदन :—

'रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति सञ्जातवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम्॥' (वि. च., सर्ग १)

जिसमें 'वक्रोक्ति' और 'रसध्वनि' की समन्वय-भावना स्पष्ट है, इस युग के कवियों और काव्यालोचकों की नवचेतना का निवेदन है। इस 'नवचेतना' के समर्थकों में सर्वप्रथम नाम आचार्य रुय्यक का है किन्तु इस 'नवचेतना' के आलोचक एकमात्र आचार्य मम्मट ही हैं। इस 'नवचेतना' के रुय्यक और मम्मट के समर्थन और आलोचन में, काव्य-रचनाओं को तो प्रगति मिली ही है किन्तु साथ ही साथ ध्वनि-दर्शन का भी व्यापक प्रचार हुआ है। रुय्यक और मम्मट ध्वनि-दर्शन के महान् प्रचारकों में से हैं। रुय्यक ने रस-ध्वनि-प्रबन्ध के निर्माण में उक्ति-वैचित्र्य का मार्ग प्रशस्त किया है किन्तु मम्मट का कार्य ध्वनिदर्शी आचार्यों की साहित्यिक संविदाओं का पुनरुज्जीवन और व्यापक प्रचार है।

मम्मट का व्यक्तित्व 'काव्यप्रकाश' में अभिव्यक्त है। मम्मट ने अपने सम्बन्ध में कहीं कुछ नहीं कहा। काव्यप्रकाश के प्राचीन व्याख्याकारों में भी मम्मट के सम्बन्ध की अनुश्रुतियां ही प्रचलित रही हैं न कि मम्मट में जीवन की कोई ऐतिहासिक आधारभूत बात। मम्मट का काश्मीरिक होना और काश्मीर के दार्शनिक-साहित्यिक वातावरण में पलना—ये दो बातें निःसन्दिग्ध हैं। काव्यप्रकाश का आरम्भ-मङ्गल मम्मट के काश्मीरिक शैवदर्शन के पूर्ण परिचय का प्रतीक है। काश्मीरिक शैवदर्शन की पृष्ठभूमि पर रस-दर्शन की स्थापना का मम्मट ने जैसा वर्णन किया है उससे तो मम्मट और काश्मीरिक प्रत्यभिज्ञादर्शन का सम्बन्ध स्पष्ट ही है। मम्मट के व्याख्याकार भीमसेन दीक्षित (१६ वीं १७ वीं शताब्दी) ने मम्मट का काशी से जो सम्बन्ध स्थापित किया है उसमें भी कोई अनर्गल बात नहीं दिखाई देती। शारदादेश (काश्मीर) के सरस्वती-सेवकों का काशीपुरी में आगमन एक प्राचीन मर्यादा है और मम्मट के द्वारा इसके उल्लंघन का कोई प्रमाण नहीं। भीमसेन दीक्षित के अनुसार मम्मट का वंश-वृक्ष, जिसमें 'जैय्यट' को मम्मट का पिता और 'कैयट' (महाभाष्य प्रदीपकार) तथा 'उवट' (ऋक्प्रातिशाख्यभाष्यकार) को मम्मट का अनुज बताया गया है, आजकल वह संदेहास्पद माना जाता है क्योंकि 'उवट' का अपने सम्बन्ध में यह उल्लेख:—

'आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना। मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति॥'

(उवट : वाजसनेयसंहिताभाष्य)

मम्मट के उपर्युक्त वंश-वृक्ष का खण्डन प्रतीत होता है। काश्मीरिक पण्डित-मण्डली में 'मम्मट' और नैषधकार 'श्रीहर्ष' का परस्पर वंश-सम्बन्ध भी एक परम्परा के रूप में ही प्रचलित है।

अस्तु, इतना तो निःसन्दिग्ध है कि ११ वीं-१२ वीं शताब्दी के काश्मीर की दार्शनिक-साहित्यिक प्रगति में 'काव्यप्रकाश' का जो महत्त्व है वह काव्यालोचना के किसी भी अन्य ग्रन्थ का नहीं। काव्यप्रकाश के इस महत्त्व का एक ही प्रमाण पर्याप्त है और वह है काव्यप्रकाश की रचना की एक शताब्दी के भीतर ही मम्मट की काव्यविषयक संविदा का भारत के कोने-कोने में व्याप्त हो जाना। गुर्जरदेश के माणिक्यचन्द्रसूरि (११५८ ई०) का काव्यप्रकाश-संकेत' काव्य-प्रकाश की दिग्विजय की ही सूचना है।

मम्मट और रुय्यक का देश-सम्बन्ध तो निःसंदिग्ध है किन्तु काल-सम्बन्ध अभी तक किसी निर्णय पर नहीं पहुंचा। कुछ विद्वान् तो रुय्यक को मम्मट का पूर्ववर्ती मानते हैं और कुछ ऐसे हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि रुय्यक मम्मट के परवर्ती हैं। इस लेखक की धारणा यह है कि रुय्यक और मम्मट की कृतियों का कालिक पूर्वापरभाव कुछ कारणों से, जिनकी प्रामाणिकता सर्वथा निःसंदिग्ध नहीं, भले ही विपर्यस्त प्रतीत हो किन्तु अलङ्कारसर्वस्व और काव्यप्रकाश की विचार-धाराओं का यौक्तिक पूर्वापरभाव निःसन्दिग्ध है और इस दृष्टि से रुय्यक और मम्मट के कालिक पूर्वापरभाव की खोज अभी भी आवश्यक है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार का मुख्य विषय काव्य में ध्वनितत्त्व की मान्यता के साथ अलङ्कारों का समन्वय-स्थापन है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने ध्वनिवाद के कालिक और यौक्तिक विकास का सारगर्भित वर्णन करते हुये एक ओर तो रसादिरूप काव्यात्म तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख किया है:—

'ध्वनिकारः पुनरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वनन-द्योतनादिशब्दा-

भिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्याभ्युपगम्यत्वाद्व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यङ्ग्यरूपस्य गुणालङ्कारोपस्कर्त्तव्यत्वेन प्राधान्याद्विश्रान्तिधामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान्। व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात्तत् प्राधान्येन प्राधान्यात् स्वरूपेण विदितत्वाभावाद्विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम्। तस्माद्विषय एव व्यङ्ग्यमाना जीवितत्वेन वक्तव्यः। यस्य गुणालङ्कारकृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूता नालङ्कारत्वेन वाच्याः। अलङ्काराणामुपस्कारकत्वाद्रसादीनाञ्च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १०–१४, निर्णय सागर)

और दूसरी ओर किया है रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि और समाहित–इन प्राचीन आलङ्कारिकों के रसालङ्कारों का भी विशद विचार:—'रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेय उर्जस्वि समाहितानि'–(अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ २३२)। अलङ्कारसर्वस्व में यह परस्पर विरोध एक ओर तो जहां अलङ्कारसर्वस्व की रचना में रुय्यक के अतिरिक्त अन्य किसी आलङ्कारिक (जैसे कि मङ्खक अथवा मङ्खुक) का हाथ सिद्ध करता है वहां दूसरी ओर काव्यप्रकाश की परिवर्तिता का भी स्पष्ट संकेत कर रहा है। 'अलङ्कारसर्वस्व' के 'रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेय उर्जस्वि समाहितानि' की आलोचना में ही गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप मध्यम काव्य के 'अपराङ्गव्यङ्ग्य' नामक प्रभेद का काव्यप्रकाश का विशद विवेचन युक्तिसंगत प्रतीत होता है। आचार्य रुय्यक के ध्वनिवाद के समर्थक होने से उनके द्वारा यहां काव्यप्रकाश का खण्डन अनर्गल सी बात है। 'काव्यप्रकाश' में अलङ्कारसर्वस्व की आलोचना तो युक्तिसंगत है क्योंकि मम्मट का कार्य ध्वनिवाद के प्रचारक आचार्यों, जिनमें रुय्यक का स्थान और महत्त्व कम नहीं, की धारणाओं का ध्वनिवादी अलङ्कार शास्त्र के निर्माण के लिये जिनकी दृष्टि से खण्डन-मण्डन की क्रिया स्वाभाविक ही है।

काव्यप्रकाशकार का यह उल्लेख:—

'एते च (अपराङ्गव्यङ्ग्यगुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदाः) रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि भावोदयभावसन्धि-भावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि तथापि कश्चिद्ब्रूयादित्येवमुक्तम्।'

(काव्यप्रकाश ५म उल्लास)

जिसमें भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता की अलङ्कार-कोटि में गणना मम्मट की कल्पना के रूप में प्रतीत होती है, अलङ्कारसर्वस्व के सूत्र 'भावोदयो भावसन्धिर्भावशबलता च पृथगलङ्काराः' और वृत्ति-वाक्य 'भावस्योक्तरूपस्योदय उद्गमावस्था, सन्धिर्द्वयोर्विरुद्धयोः स्पर्धित्वेनोपनिबन्धः, शबलता च बहूनां पूर्वपूर्वोपमर्दनोपनिबन्धः। एते च पृथग् रसवदादिभ्यो भिन्नालङ्काराः।' के ऊपर संदेह की छाया डाल रहा है। काव्यप्रकाशकार ने 'अलङ्कारसर्वस्व' में भावोदय' भावसन्धि और भावशबलता के अलङ्काररूप में निरूपण का दर्शन नहीं किया। मम्मट के समय तक भावोदय आदि की अलङ्कारगणना अलङ्कारवादी आचार्यों के अलङ्कारशास्त्र में नहीं थी। इससे यह परिणाम नहीं निकल सकता कि मम्मट रुय्यक के पहले के हैं और मम्मट की ही 'भावोदय' आदि की अलङ्कार-कल्पना रुय्यक ने यथार्थरूप में प्रस्तुत कर दी है। यहाँ वस्तुतः बात ऐसी है कि जो अलाङ्कारसर्वस्व आज 'जयरथ' और 'समुद्रबन्ध' की व्याख्या के साथ उपलब्ध है उसकी रचना रुय्यक और मङ्खक दोनों की सम्मिलित रचना है। मम्मट के सामने रुय्यक का 'अलङ्कारसर्वस्व था न कि वह जिसमें मङ्खक का भी हाथ हो जो कि आजकल उपलब्ध

है। 'काव्यप्रकाश' यदि रुय्यक के आगे रहा होता तो मम्मट का 'गुणीभूतव्यङ्ग्यविचार' रसध्वनिवाद के समर्थक रुय्यक के द्वारा खण्डन का विषय नहीं बनाया गया होता। मम्मट के द्वारा रसध्वनिवाद के समर्थक आचार्य रुय्यक की रसालङ्कारों की मान्यता की आलोचना तो स्वाभाविक प्रतीत होती है क्योंकि इसमें मम्मट के 'गुणीभूतव्यङ्ग्यविचार' की मूल प्रेरणा छिपी है। अलङ्कारसर्वस्व का यह प्रारम्भिक उल्लेख—**'गुणीभूतव्यङ्ग्यो वाच्याङ्गत्वादिभेदैर्यथासंभवं समासोक्त्यादौ दर्शितः।'** इस बात का निःसन्दिग्ध संकेत है कि रुय्यक को काव्यप्रकाश के 'गुणीभूतव्यङ्ग्यविमर्श' का कुछ भी पता नहीं था। काव्यप्रकाश के 'गुणीभूतव्यङ्ग्यविवेक' के रहते अलङ्कारसर्वस्व में या तो रसवदादि अलङ्कारों की कोई चर्चा ही नहीं हुई होती या सर्वथा किसी दूसरे रूप में हुई होती।

अस्तु, रूय्यक का 'अलङ्कारसर्वस्व' काव्यप्रकाश की एक मूल-प्रेरणा है। ध्वनिवाद की छत्र-छाया में 'अलङ्कारसर्वस्व' और 'काव्यप्रकाश' की रचनाओं की मूल-प्रवृत्ति इसी बात का संकेत है कि जहां ध्वनिवाद के कुछ समर्थक प्राचीन अलङ्कारशास्त्र का नवीनीकरण करने में लगे हुये थे, वहां कुछ ऐसे भी थे जो ध्वनिवाद की दृष्टि से अलङ्कारशास्त्र का निर्माण करना चाह रहे थे। ध्वनिवाद की दृष्टि से प्राचीन अलङ्कारशास्त्र का नवीनीकरण रुय्यक की कृति है और ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र का निर्माण है मम्मट की कृति। 'काव्यप्रकाश' ही ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र का सर्वप्रथम और साथ ही साथ सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ है—यह ऐसा सत्य है जो काव्य-समीक्षण के व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं का एक संकेत है।

मम्मट को 'वाग्देवतावतार' माना गया है। 'काव्यप्रकाश' और 'शब्दव्यापारविचार' मम्मट की साहित्यिक समीक्षा-कृतियां हैं जिनमें मम्मट की काव्य-भावना और ध्वनितत्त्व-समीक्षा का अनुप्राणन आरम्भ से अन्ततक स्पष्ट प्रतीत होता है। मम्मट से बढ़कर ध्वनिवाद का प्रचारक कोई नहीं हुआ। मम्मट के हाथ से 'काव्यप्रकाश' काव्यालोचना के 'विज्ञान' के रूप में निकलता है किन्तु मम्मट के हाथ में 'काव्यप्रकाश' काव्यालोचना की 'कला' है। 'काव्यप्रकाश' का लेखक पहले शक्ति-व्युत्पत्ति और अभ्याससम्पन्न सहृदय है और उसके वाद काव्यालोचक है।

१३. काव्याचार्यों में मम्मट का स्थान और महत्त्व

काव्याचार्यों में मम्मट का जो स्थान है वह किसी दूसरे आलङ्कारिक को प्राप्त नहीं। मम्मट का महत्त्व भी अलङ्कारशास्त्र में असाधारण ही है। मम्मट का 'काव्यप्रकाश' इस दृष्टि से तो अलङ्कारशास्त्र का प्रकरण-ग्रन्थ है कि इसमें अलङ्कारशास्त्र की प्राचीन मान्यताओं का ही शृङ्खला-बद्ध वैज्ञानिक विवेचन है किन्तु इस दृष्टि से कि इसी के आधार पर इसके वाद का अलङ्कारशास्त्र चला करता है—इसे अलङ्कारशास्त्र का प्रस्थान-ग्रन्थ होने का भी श्रेय प्राप्त है। मम्मट के पहले के आलङ्कारिकों की कृतियां 'काव्य' का सम्पूर्ण निर्वचन नहीं करतीं। अलङ्कारशास्त्र के प्रथमाचार्य भामह का 'काव्यालङ्कार' काव्य के कतिपय उपकरणों का ही विवेचन करता है जिनमें 'अलङ्कार' शब्दार्थ-रचना-सौन्दर्य के विवेचन का प्राधान्य है। आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' में काव्यविद्या का विशद वर्णन तो अवश्य है किन्तु काव्य की अनुभूति का कोई समीचीन विचार नहीं। वामन के 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में 'अलङ्कार' की सीमा का विस्तार वर्णित है क्योंकि 'अलङ्कार' शब्द

और अर्थ की ही शोभा नहीं अपितु 'काव्य का सौन्दर्य' माना गया है जिसमें गुणों का प्राधान्य स्थापित होता है न कि भामह और दण्डी के शब्दार्थालङ्कारों का। आचार्य रुद्रट का 'काव्यालङ्कार' काव्य का विशद विवेचन अवश्य करता है किन्तु इस विशद विवेचन में 'काव्य और कला' के विवेचन का ही प्राधान्य है न कि 'काव्य और रस अथवा अनुभूति' के विवेचन का। ध्वनिवाद के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' कवि और सहृदय दोनों के दृष्टिकोणों से काव्य का समीचीन विश्लेषण है जिसका विशद विश्लेषण आचार्य अभिनवगुप्त का 'ध्वन्यालोकलोचन' है। किन्तु 'ध्वन्यालोक' और 'ध्वन्यालोकलोचन' में प्राचीन काव्यविषयक मान्यताओं के मूल्याङ्कन की अपेक्षा ध्वनि-रहस्य के मूल्याङ्कन का ही महत्त्व सर्वत्र परिलक्षित होता है। कुन्तक का 'वक्रोक्ति जीवित' ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं को अलङ्कार और रीति-वादी आचार्यों की मान्यताओं में अन्तर्भूत करना चाहता है और कवि के उक्ति-वैचित्र्य में ही 'काव्य और उसके रहस्य' को समन्वित किया करता है। राजशेखर, क्षेमेन्द्र और भोज जैसे महान् काव्यविमर्शकों में अलङ्कार-शास्त्र के भवन का भूमिकाबन्ध तो अत्यन्त विशाल बनाया है और इस पर कई एक मञ्जिलें भी खड़ी की हैं किन्तु दर्शक को इनके दर्शन में अनुराग की अपेक्षा भय का अनुभव ही अधिक हुआ करता है। ध्वनिवाद के समर्थक कतिपय आचार्यों में 'ध्वनि-रहस्य' के निदिध्यासन में काव्यालोचना के वैज्ञानिक प्रक्रियाबन्ध की अभिलाषा की अपेक्षा 'ध्वनि-दर्शन में नवीन दृष्टि' की कामना ही अधिक बलवती दिखायी देती है। काव्यालोचना की इस अराजकता में 'काव्यप्रकाश' का उद्भव ध्वनिवाद के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

'काव्यप्रकाश' नाम ही इस बात का प्रमाण है कि जिसे 'काव्य' कहते हैं वह न तो अलङ्कार में, न रीति में न वक्रोक्ति में और न केवल ध्वनि-प्रत्यभिज्ञान में ही है। काव्य 'शब्दार्थ-युगल' में है जिसकी योजना 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण' कवि का काम है और जिसकी तदनुरूप भावना है सहृदय का काम। 'लोकोत्तरवर्णना' की प्रक्रिया के स्थूल विश्लेषण ही अलङ्कार, गुण, रीति और वक्रोक्ति के पृथक्-पृथक् विश्लेषण हैं और जिसे 'लोकोत्तरवर्णना' की प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण कह सकते हैं वह है 'व्यञ्जना' का विश्लेषण। 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' की काव्य-परिभाषा जब से प्रारम्भ हुई तब से अलङ्कार शास्त्र में 'वादों' का विवाद समाप्त हुआ। काव्य किसी 'वाद' में नहीं समा सकता किन्तु सभी 'वादों' का मूल-स्रोत है; काव्य का स्वरूप किसी एक 'वाद' में नहीं अपितु सभी वादों में कुछ न कुछ झलका करता है, समस्त काव्य-वादों का समन्वय ही 'काव्य' का स्वरूप-परिच्छेद कर सकता है—इस महान् दार्शनिक धारणा से मम्मट ने जो कार्य किया है वह एक मौलिक कार्य है।

मम्मट को भामह और दण्डी, वामन और रुद्रट, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त, राजशेखर और भोज तथा कुन्तक और क्षेमेन्द्र की 'श्रेणी' में स्थान नहीं मिल सकता। किन्तु मम्मट की जो 'श्रेणी' है उसमें भी इन महान् काव्याचार्यों में से किसी को भी नहीं रखा जा सकता। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के सामाजिक सभी काव्य-प्रेमी हैं किन्तु मम्मट के पूर्ववर्ती महान् काव्याचार्यों की कृतियों के सामाजिक भिन्न-भिन्न काव्य-वादों के अनुयायी अथवा विचारक लोग ही हो सकते हैं।

'काव्यप्रकाश' में काव्यालोचना की विविध पद्धतियों का जो समन्वय है वह भी काव्यप्रकाश के पूर्ववर्ती किसी काव्यालङ्कार-ग्रन्थ में नहीं दिखायी देता। अलङ्कार और रीतिवादी आचार्यों

आचार्यों ने 'पारिभाषिक समीक्षण' शैली (Technical criticism) का अनुसरण किया है, जिसमें 'सहृदय की अनुभूति में काव्य-स्वरूप' का कोई विवेचन नहीं अपितु शब्दार्थवैशिष्ट्य के रूप में ही काव्य का बहुविध विश्लेषण किया गया है। ध्वनिवादी आचार्यों की काव्यालोचनाशैली का रहस्य 'काव्यात्मक (रसात्मक) समीक्षण' (Poetic criticism) का रहस्य है जिसमें सहृदय-हृदय का आह्लादाभिव्यञ्जक काव्य कवि-हृदय के आह्लाद का अभिव्यञ्जन-स्वरूप सिद्ध होता है। वक्रोक्तिवादी आचार्य 'रचना-समीक्षण' शैली ((Formal criticism) के आलोचक हैं और इसलिये इस आलोचन में 'काव्य' रचना-सौन्दर्य में ही पहचाना जा सकता है और इसका जो भी अनुभव-सौन्दर्य है उसका नियामक रचना-सौन्दर्य ही माना गया है। इन विविध समीक्षण-शैलियों का समन्वय सर्वप्रथम जिस काव्याचार्य ने किया है वह 'मम्मट' ही हैं। 'काव्यप्रकाश' में प्रकाशित काव्यस्वरूप न तो अलङ्कार, गुण और रीति आदि की पारिभाषिकता में है, न कवि-हृदय और सहृदय-हृदय के आह्लादाभिव्यञ्जनमात्र में है और न केवल रचना-सौन्दर्य में ही है। 'काव्यप्रकाश' में काव्य-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा के लिये ध्वनिवाद की समीक्षा-शैली, काव्योपकरणों के विवेक के लिये अलङ्कार और रीतिवाद की समीक्षा-शैली और काव्य-रचना के विश्लेषण के लिये वक्रोक्तिवाद की समीक्षा-शैली के उपादेय तत्त्वों का समुचित उपयोग हुआ है।

'काव्यप्रकाश' के आधार पर तीन प्रसिद्ध काव्याचार्यों ने काव्य-विमर्श किया है जिनमें सर्वप्रथम 'काव्यानुशासन' के रचयिता हेमचन्द्राचार्य (१२ वीं शताब्दी) हैं। 'काव्यप्रकाश' और 'काव्यानुशासन'-इन नामों में ही मम्मट और हेमचन्द्राचार्य की काव्य-समीक्षा का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। 'काव्य' का अनुशासन असंभव है, काव्य आलोचक के अधीन नहीं, काव्य का चाहे जैसा भी विश्लेषण किया जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता कि इन विश्लेषणों में ही काव्य-रहस्य समाप्त हो जाय—यह तो मम्मट की सूक्ष्म दृष्टि है। हेमचन्द्राचार्य ने 'शब्दानुशासन' और 'छन्दोनुशासन' की भांति काव्य-दर्शन को भी 'काव्यानुशासन' ही मान लिया है। 'काव्यानुशासन' तो 'काव्यप्रकाश' का एक संस्करणमात्र है और जो कुछ भी इसमें यत्र-तत्र नवीनता है वह ऐसी नहीं जो बहुत महत्त्वपूर्ण मान ली जाय।

'काव्यप्रकाश' के ढांचे पर काव्यप्रकाश की आलोचना के रूप में कविराज विश्वनाथ (१४ वीं शताब्दी) का 'साहित्यदर्पण'-रचा गया है। 'काव्यप्रकाश' में नाट्य की समीक्षा की कमी मान कर 'साहित्यदर्पण' में नाट्य-समीक्षण किया हुआ है। काव्यप्रकाशकार ने नाट्य-समीक्षण इसलिये नहीं किया क्योंकि ध्वनिवाद में काव्य और नाट्य में कृति और अनुभूति की दृष्टि से कोई भेद नहीं माना गया। काव्य और नाटक का भेद तो 'अभिनय' की अव्यक्तता और व्यक्तता के आधार पर ही किया जा सकता है। मम्मट ने काव्य की रचना और अनुभूति के विश्लेषण में ही नाटक की रचना और अनुभूति का भी विश्लेषण गतार्थ माना है। विश्वनाथ कविराज ने नाटक का विश्लेषण इसलिये किया क्योंकि उन्हें 'साहित्यदर्पण' की रचना करनी थी। नाट्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र के विवरण और प्रकरण ग्रन्थों के संक्षेप की दृष्टि से 'साहित्यदर्पण' का नाटक-परिच्छेद आवश्यक अवश्य है किन्तु इसके अभाव में 'काव्यप्रकाश' में कोई कमी नहीं आया करती।

साहित्यदर्पण में काव्यप्रकाश की जो आलोचना है वह मम्मट की भाषा की किसी प्रकार की आलोचना भले ही हो मम्मट के भावों की आलोचना तो कभी भी नहीं। 'तददोषौ शब्दार्थौ

सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' की प्रतिज्ञा का जैसा स्वाभाविक किंवा युक्तियुक्त निगमन मम्मट ने किया है और जिसे 'काव्यप्रकाश' कहते हैं वह मम्मट का यही 'निगमन' है—वैसा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की स्वकृत प्रतिज्ञा का निगमन विश्वनाथ कविराज से नहीं हो सका। विश्वनाथ कविराज ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की प्रतिज्ञा तो अवश्य की है किन्तु इसका निगमन वही है जो मम्मट की 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' की प्रतिज्ञा का निगमन है। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से विश्वनाथ कविराज को महती प्रेरणा मिली है किन्तु मम्मट की प्रतिभा विश्वनाथ कविराज में नहीं। कहां तो मम्मट 'काव्यप्रकाश' के मनन-चिन्तन करने वालों के लिये वाग्देवतावतार! और कहां विश्वनाथ कविराज अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग!

'काव्यप्रकाश' की शैली पर रचा गया पण्डितराज जगन्नाथ (१६ वीं शताब्दी) का 'रसगङ्गाधर' एक महत्त्वपूर्ण अलङ्कारशास्त्र ग्रन्थ है। 'रसगङ्गाधर' में पाण्डित्यप्रदर्शन है जो पण्डितों को विस्मित करने के लिये है। 'काव्यप्रकाश' में पाण्डित्य को इतना छिपाया गया है कि काव्य सम्बन्धी विषय सबके लिये हृदयङ्गम बन गये हैं। रसगङ्गाधर की काव्य-समीक्षण-शैली कोई नवीन शैली नहीं। रसगङ्गाधर की विशेषता तो अलङ्कार शास्त्र में नव्यन्याय की विषय-निर्वचन-प्रणाली के सर्वतोभद्र प्रयोग में ही है। काव्यप्रकाश की भाषा काव्यालोचना की भाषा है जिसमें यदि काव्यको 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण कविकर्म' कह दिया गया तो 'काव्य' का निर्वचन सबके लिये स्पष्ट कर दिया गया। रसगङ्गाधर में 'काव्य' का निर्वचन जब तक ऐसे न हो:—

'इत्थञ्च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकता संसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।'

तब तक पण्डित जन को काव्यतत्त्व का बोध भी कैसे हो? रसगङ्गाधरकार ने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की प्रतिज्ञा तो मम्मट और विश्वनाथ की प्रतिज्ञाओं की आलोचना में बड़े संरम्भ से प्रस्तुत की है किन्तु यह प्रतिज्ञा काव्यप्रकाशकार के ही 'निगमन' में अपना निगमन ढूंढ़ती फिरती है।

मम्मट की काव्यालोचना में कहीं कोई गर्वोक्ति नहीं। मम्मट के प्रभाव का रहस्य 'काव्यप्रकाश' की चतुरस्रता में न कि स्वाहंकारप्रकाशन में। अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में 'आनन्दवर्धन के बाद मम्मट ही ऐसे आलङ्कारिक हुये हैं जिनका मस्तक 'काव्य' और 'काव्यालोचना' के आगे झुकता रहा है। 'रसगङ्गाधर' की सी गर्वोक्ति:—

'निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवतामलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु॥

के सर्वथा अभाव में भी 'काव्यप्रकाश' ने काव्यालङ्कार-ग्रन्थों को अपने आगे 'गलितगर्व' ही बनाये रखा है।



विषयानुक्रमणिका

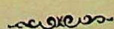
प्रथम उल्लास

द्वितीय उल्लास

षष्ठ उल्लास

सप्तम उल्लास

अष्टम उल्लास



संक्षिप्त विषय-सूची

❀ सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ❀

काव्यप्रकाशः

विमर्शाख्य-हिन्दीव्याख्यासंवलितः

प्रथम उल्लासः

(काव्य स्वरूप निरूपणात्मक)

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत्परामृशति—

अनुवाद—अपने ग्रन्थ (काव्यप्रकाश) के प्रारम्भ करने के पहले, ग्रन्थकार, इसमें जितने प्रकार के भी विघ्न संभव हैं (जैसे कि काव्य-स्वरूप-निरूपण में त्रुटि, प्रतिपादन प्रकार में शिथिलता, सिद्धान्त-स्थापन में असमर्थता इत्यादि) उन सबका समूलोन्मूलन करने के लिये, अपनी एक मात्र आराध्य उस देवी की स्तुति कर रहे हैं जो कवियों और काव्य-विमर्शकों की उपासना के सर्वथा योग्य है।

टिप्पणी—काश्मीरिक आचार्य मम्मट का काव्यप्रकाश संस्कृत-काव्यालोचना का एक प्रामाणिक शास्त्रीय ग्रन्थ है। किसी भी शास्त्रीय ग्रन्थ में जो ये पांच 'अधिकरण' आवश्यक हैं:—

'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।'

वे काव्यप्रकाश में सर्वथा समन्वित हैं। काव्यप्रकाश का प्रतिपाद्य 'विषय' है—काव्य का स्वरूप, काव्य के प्रकार, काव्य के तत्त्व, काव्य का परम रहस्य, काव्यनिर्माण के उपकरण इत्यादि। काव्य-तत्त्व-विवेचन में 'विशय' अथवा संदेह की संभावना स्वाभाविक है क्योंकि आचार्य मम्मट के पहले भिन्न भिन्न काव्यालोचकों ने भिन्न भिन्न दृष्टि से काव्य के भिन्न भिन्न तत्त्वों का निरूपण किया है और काव्यप्रकाशकार मम्मट के लिये इन भिन्न भिन्न मतों में किसी एक को मानना अथवा अपना अभिमत प्रकाशित करना पग पग पर संशय से भरा है। काव्यप्रकाश, जैसा कि किसी शास्त्रीय प्रकरण के लिये अपेक्षित है, काव्य-तत्त्व-निरूपण-सम्बन्धी संशय-व्यूह का भेदन करने में कोई कसर नहीं रखता। आचार्य मम्मट तो 'रस-ध्वनि-वाद' के समर्थक ठहरे, इसलिये इन्हें 'रस-ध्वनि-वाद' के पूर्वपक्ष अलङ्कार-वाद, रीति-वाद, गुण-वाद इत्यादि का यथाप्रसङ्ग विवेचन करना ही है और स्थान स्थान पर अपना मन्तव्य अथवा अपने अभिमत सिद्धान्त के पूर्व प्रवर्त्तकों अथवा समर्थकों का मन्तव्य भी प्रकाशित करना है। इन सब आलोचना-सम्बन्धी क्रियाओं के करते-धरते यथास्थान अपना निर्णय भी अभिव्यक्त करना है जिससे काव्य का वैयक्तिक अनुभव सार्वजनिक और साथ ही साथ सर्वजनसम्मत हो सके। आजकल जिस अध्ययन-प्रक्रिया को 'रिसर्च' अथवा 'अनुसन्धान' कहा करते हैं वही प्राचीन परम्परा से हमारे शास्त्रकारों की किसी शास्त्र के निर्माण की प्रक्रिया रहती आयी है जिसमें विषय, विशय (संशय), पूर्वपक्ष, उत्तर तथा निर्णय की क्रियायें चलती रही हैं। 'काव्यप्रकाश' काव्यालोचना का इसी प्रकार का शास्त्र-ग्रन्थ है जिसकी रचना की प्रतिज्ञा आचार्य मम्मट ने यहां की है और अन्त तक निभायी है। देवी सरस्वती के 'परामर्श' का अभिप्राय उनका ध्यान, उनका स्मरण, उनका अभिनन्दन इत्यादि है।

(आरम्भ-मङ्गल)

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा न च हृद्यैव तैः तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम् । एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः अत एव जयति, जयतीत्यर्थेन च नमस्कार

अनुवाद—**कवि की उस कविता-सरस्वती की जय हो जिसकी रूप-रेखा नियति के नियन्त्रण से सर्वथा उन्मुक्त, एकमात्र आनन्दमय अथवा आनन्द-प्रचुर, अपने अतिरिक्त अन्य समस्त कारण-कलाप की अधीनता के परे, वस्तुतः अलौकिक रस से भरी और नितान्त मनोहर हुआ करती है ॥ १ ॥**

टिप्पणी—(क) काव्यप्रकाशकार की इस सरस्वती-स्तुति में कविता के रहस्य का बड़ा सुन्दर चिन्तन छिपा हुआ है । कविता शब्द और अर्थ रूप साधनों के जमघट में नहीं अपितु कवि और सहृदय के हृदय में अपनी रूप-रेखा की रचना प्रकट करती है । आचार्य आनन्दवर्धन की इस सूक्ति अर्थात्—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥' (ध्वन्यालोक १।६)

में कविता-सरस्वती का जो साक्षात्कार मम्मट ने किया है उसी की स्मृति काव्यप्रकाश की इस भारती वन्दना में जाग उठी दिखाई दे रही है । लोक-जीवन और काव्य-जीवन में बड़ा अन्तर है, जो लोक-सृष्टि है वही काव्य-सृष्टि नहीं । लोक-सृष्टि यदि प्रकृति के नियमों का अनुसरण करती है तो काव्य-सृष्टि इन नियमों का उल्लंघन; लोक-जीवन यदि सुख-दुःख और मोह-मय है तो काव्य-जीवन आनन्द-मय; लोक-निर्माण यदि कार्यकारणभाव की जंजीरों से जकड़ा हुआ है तो काव्य-निर्माण सर्वथा स्वतन्त्र और इतना ही क्यों ? लोक के विषयों का रस यदि परिमित है तो काव्य के विषयों का रस अपरिच्छिन्न, लोक का अनुभव नीरस भी हो सकता है किन्तु काव्य का अनुभव सदा सरस ही रहा करता है । लोक का नाश हो सकता है पर कविता का नहीं । लोक में निराशा की काली घटा छाया करती है, काव्य में तो आशा की बूंदें बरसा करती हैं । कविता का अंचल पकड़े मानव लोक के भयावह मार्ग से पार हो सकता है ।

(ख) काव्यप्रकाशकार का यह सरस्वती-स्वरूप-चिन्तन वस्तुतः कविता का स्वरूप-चिन्तन है । यदि इस काव्य-तत्त्व-चिन्तन के साथ काव्यप्रकाशकार की 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इत्यादि काव्य-परिभाषा पर ध्यान दिया जाय तो यह निश्चित है कि विश्वनाथ कविराज का मम्मटकृत-काव्यलक्षण-खण्डन, निर्मूल और निराधार हो जायगा । 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की विश्वनाथ-रचित काव्य-परिभाषा में तब कोई भी ऐसी बात न दिखाई देगी जो 'नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति' में न हो । इस विषय पर हम आगे भी विचार करेंगे ।

अनुवाद—**विधाता की लोक-सृष्टि तो ऐसी है जो अपने स्वरूप में 'नियति' शक्ति से सर्वथा नियन्त्रित रहा करती है, जिसका स्वभाव सुख-दुःख और मोहात्मक है, जिसे अपने प्रधान कारण (समवायि कारण)-परमाणु इत्यादि-और सहकारि कारण (असमवायि तथा निमित्त कारण)-स्पन्द तथा दिक्, काल, ईश्वरेच्छा इत्यादि-की परतन्त्रता में रहना पड़ता है, जिसमें (मधुर-अम्ल-कटु-कषाय-लवण और तिक्त रूप) केवल ६ रसों का अनुभव संभव है और जिसमें यह भी आवश्यक नहीं कि इनके अनुभव**

आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ।।

आनन्दात्मक ही हों, किन्तु कवि की काव्य-सृष्टि ऐसी हुआ करती है जो इससे सर्वथा विलक्षण, सर्वथा विचित्र और सुन्दर लगा करती है। इसीलिये तो यहां काव्य-सृष्टि लोक-सृष्टि से बढ़ी-चढ़ी कही गयी है और इसकी इस उत्कृष्टता के ही कारण यहां इसके आगे सब के नतमस्तक होने का अभिप्राय भी अभिव्यक्त हो रहा है और तब भला ! 'मैं भी इसके आगे सिर झुकाये खड़ा हूं' इस प्रकार का (इस ग्रन्थकार का) अभिप्राय क्यों कर स्पष्टतया नहीं झलक उठे !

टिप्पणी—काश्मीरिक आचार्य मम्मट ने कवि-भारती की सृष्टि को 'नियतिकृतनियम-रहिता' और प्रजापति की लोक-सृष्टि को 'नियतिशक्त्या नियतरूपा' कहा है। काव्यप्रकाश के प्राचीन व्याख्याकार 'नियति' को कई अर्थों में लेते रहे हैं। एक ने यदि 'नियति' को 'अदृष्ट' के अर्थ में लिया है तो दूसरे ने 'असाधारणधर्म' के अर्थ में। वस्तुतः 'नियति' शब्द का सामान्य अर्थ—'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' (अमरकोष) ही यहां प्रायः अभिप्रेत माना जाता रहा है। किन्तु आचार्य मम्मट के काश्मीरिक होने और काश्मीरिक शैव-दार्शनिकों की विचार-धारा से पूर्णतया परिचित रहने के कारण, ऐसा स्वभावतः प्रतीत होता है कि, यहां 'नियति' शब्द कश्मीर के शैव-दर्शन के पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। 'नियति' काश्मीर के शैव दर्शन के ३६ तत्त्वों में से एक तत्त्व है। 'शिव'-तत्त्व से लेकर 'धरा'-तत्त्व तक जो ३६ तत्त्व हैं उनमें 'नियति'-तत्त्व की भी गणना है। 'माया'-तत्त्व और 'पुरुष' तथा 'प्रकृति'-तत्त्व में जो कार्य-कारण भाव आभासित हुआ करता है उसकी दृष्टि से 'नियति' को माया का कार्य कहा जाता है। महाशैवदार्शनिक आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने तन्त्रालोक (नवम आह्निक, श्लोक २०३) में 'नियति' को माया का कार्य न मानकर माया-जन्य कला का कार्य कहा है—

'विद्या रागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्चतुष्टयम्। कलाकार्यं भोक्तृभावे तिष्ठद्भोक्तृत्वपूरितम्॥'

और 'नियति' के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है:—

'नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले।' (तन्त्रालोक ९।२०२)

अर्थात् 'नियति' वह तत्त्व है जिसमें कार्यकारणभाव के नियमन का सामर्थ्य और व्यापार रहा करता है। 'षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह' नामक काश्मीरिक शैव-दर्शन के प्रकरण-ग्रन्थ में 'नियति' की बड़ी सुन्दर परिभाषा इस प्रकार दी हुई है:—

'यास्य स्वतन्त्रताख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियममन्त्यभून्नियतिः॥ (श्लोक १२)

जिसका तात्पर्य यह है कि चित्स्वरूप आत्मतत्त्व की स्वातन्त्र्य-शक्ति ही संकुचित होती हुई 'नियतितत्त्व' को अवभासित कर देती है जिसके कारण उसका कर्तृत्व कार्यकारणभाव के नियन्त्रण के अधीन हो जाया करता है। अस्तु, माया, कला, राग, विद्या, काल और नियति इनको 'कञ्चुक-षट्क' कहा गया है क्योंकि मितात्मा के ये आवरण हैं:—

'माया कला रागविद्ये कालो नियतिरेव च।
कञ्चुकानि षडुक्तानि संविदस्तत्स्थितौ पशुः॥ (तन्त्रालोक ९।२०४)

अभिप्राय यह है कि परा संवित् में भोक्तृत्व तब तक नहीं हो सकता जब तक ये कञ्चुकषट्क उससे सम्बद्ध न हो जांय और उसे परिमित-सीमित न बना दें। 'माया' के द्वारा परप्रमाता अपना परम ऐश्वर्य खो बैठता है, कलादि के रूप में अपने संविद्रूप ऐश्वर्य का कुछ अंश पुनः प्राप्त करता है और इस प्रकार असीम से सीमित बन कर 'पशु' कहा जाता है। इस रूप में ज्ञातृत्व और कर्तृत्व, राग-द्वेष, स्वभावतः उसके धर्म हो जाते हैं और इस प्रकार 'विद्या' और 'कला' के कञ्चुक से वह आवृत हो जाता है। इतना हो जाने पर भोग के प्रति उसकी प्रवृत्ति होगी ही और 'राग' के कञ्चुक से भी वह आच्छन्न ही हो जायगा। 'काल'-रूप कञ्चुक उसका आवरण इसलिये बना

रहता है कि उसमें मातृ-मेय-भाव के अवभास के साथ-साथ काल-क्रम का भी अवभास होने लगता है और जब वह कर्ता बन जाता है तब कार्यकारणभाव का स्वरूप पहचानने ही लगता है जिसे उसका 'नियति' अथवा कार्यकारण-नियमन के कञ्चुक का आवरण कहते हैं। अब जब कि हम 'नियति' का यह अभिप्राय लेते हैं जैसा कि उचित ही है तब 'नियतिकृतनियमरहिता' कवि-भारती के स्वरूप में यह विशेषता दिखाई देने लगती है—लोक में कर्तृत्व कार्यकारणभाव की नियामकशक्ति के अधीन रहा करता है किन्तु काव्य में कर्तृत्व कार्यकारणभाव के नियन्त्रण में नहीं रहा करता। वस्तुतः इस प्रकार की उक्तिओं जैसे कि—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥'

में जो भाव छिपा है वह कवि के स्वातन्त्र्य का ही भाव है और इस प्रकार 'काव्य' को यदि कविगत कवित्व और रसिकत्व, कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा का अवभास कहें तो काव्य-जगत् और उसके परमतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट प्रतीत हो जायगा। 'काव्य' का साधारण स्वरूप बताने वाले अन्य आलङ्कारिक तो एक विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ को 'काव्य' कहा ही करते हैं किन्तु काव्य-तत्त्व का दार्शनिक विवेचन करने वाले कश्मीर के बड़े-बड़े काव्यतत्त्वज्ञानिओं ने शब्दार्थरचना में काव्य का स्वरूप नहीं देखा-दिखाया है। उनके अनुसार तो कवि की कवित्व-शक्ति ही काव्य-जगत् को अवभासित करती है और काव्यमय वाच्य-वाचक-प्रपञ्च वस्तुतः कवि की शक्ति का ही प्रचय है। इस दृष्टि से 'काव्य' कवि की शुद्ध सृष्टि है जिसमें नियति-कार्यकारण की नियामकता का कोई हाथ नहीं।

कवि-भारती की यह काव्य-सृष्टि 'ह्लादैकमयी' है जब कि लोक-प्रजापति की लोक-सृष्टि 'सुखदुःखमोहस्वभावा' है। ऐसा इसलिये क्योंकि कवि का स्वातन्त्र्य अकुण्ठित रहा करता है और यह स्वातन्त्र्य और कुछ नहीं अपितु उसकी आनन्द-शक्ति है। आचार्य अभिनवगुप्त अपने 'तन्त्रसार' में 'आनन्द' और 'स्वातन्त्र्य' को एक रूप, एक रस मानते हैं—'आनन्दः स्वातन्त्र्यम्-स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात्।' प्रजापति की लोक-सृष्टि तो सत्त्व, रजस् और तमस् के संक्षोभ के कारण हो सकती है और इसलिये उसका सुख-दुःखमोहात्मक होना स्वाभाविक ही है किन्तु कवि की काव्य-सृष्टि उसके एक मात्र स्वातन्त्र्य, उसका एक मात्र आनन्द-शक्ति का अवभास है और इसलिये उसमें आह्लादैकमयता ही विराजमान है।

काव्य-रचना 'अनन्यपरतन्त्रा' इसलिये हुआ करती है कि इसके लिये शब्द और अर्थ न तो समवायिकारण हैं और न उनके संस्थान-विशेष असमवायिकरण। और ऐसा भी नहीं कि कवि अपनी काव्यकृति का निमित्त कारण हो। 'काव्य' तो वस्तुतः कवि की स्वातन्त्र्य शक्ति की चमत्कारभूत उसकी एकमात्र इच्छाशक्ति का उन्मेष है। कवि की काव्य-सृष्टि के सम्बन्ध में तो इतना ही कहा जा सकता है—'आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना।'

काव्य-जगत् जब कवि-परमेष्ठी के आनन्द का उद्रेक है तब उसका 'नवरसरुचिर' होना स्वतः सिद्ध है। काव्य-संसार के आनन्दमय होने के कारण इसमें निवास करने वालों की आनन्दलयता भी स्वाभाविक ही है। महान् काव्यतत्त्ववेत्ता आचार्य अभिनवगुप्त ने 'कवि' और 'काव्य' के सम्बन्ध में जो अपने दार्शनिक विचार इन पंक्तिओं में प्रकट किये हैं:—

'अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां, जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात् सारयति च।
क्रमात् प्रख्योपाख्या प्रसरसुभगं भासयति तत्, सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात्॥

(ध्वन्यालोकलोचन-मङ्गल श्लोक)

उनकी अनवरत भावना से निर्मल बनी आचार्य मम्मट की आलोचना 'नियतिकृतनियमरहिताम्' इत्यादि के रूप में यहां काव्य स्वरूप का दर्शन करती प्रतीत होती है। काव्य के स्वरूप का ऐसा निरूपण कश्मीर के काव्य-विमर्शकों की ही प्रतिभा कर सकी है और लोग तो बाहरी बातों पर लड़ते-झगड़ते अपना २ भन्तव्य प्रकट करने में ही लगे दिखाई देते हैं।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

(काव्य-प्रयोजन)

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

कालिदासादीनामिव यशः । श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम् । राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम् । आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम् । सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ॥

अनुवाद—यहां जो प्रतिपाद्य विषय है अर्थात् काव्य उसके अनेक प्रयोजन हैं जैसा कि निर्दिष्ट किया जा रहा है—

काव्य की रचना (और साथ ही साथ भावना) की जाती है यश की प्राप्ति के लिये, धन-सम्पत्ति के अर्जन के लिये, लोक-व्यवहार के ज्ञान के लिये, त्रिविध ताप-संताप के निवारण के लिये, काव्यानुशीलन के साथ ही साथ अलौकिक आनन्द के लाभ के लिये और इस प्रकार के उपदेश के लिये जैसा किसी प्रेमिका के द्वारा उसके प्रेमी को दिया जाया करता है ॥ २ ॥

काव्य के उत्पादन और आस्वादन में कवियों और सहृदयों को इसलिये सर्वथा प्रयत्नशील होना आवश्यक है कि यही वह वस्तु है जिससे वह यश प्राप्त हो सकता है जिसे कालिदास इत्यादि पा चुके हैं, वह धन मिल सकता है जो श्रीहर्ष इत्यादि के द्वारा धावक इत्यादि कवियों को मिल चुका है, वह अनिष्ट और अमङ्गल-निवारण संभव है जो सूर्यादि देवों के अनुग्रह से मयूर (सूर्यशतक के रचयिता) इत्यादि का हो चुका है और सच बात तो यह है कि वह आनन्द मिल सकता है जो इन सभी प्रयोजनों का प्रयोजन है, जिसके अनुभव में ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान का भेद अस्तमित रहा करता है और जो विना किसी विलम्ब अथवा व्यवधान के ही एकमात्र विभावादि की वर्णना और उसकी चर्वणा से निष्पन्न हुआ करता है और इतना ही क्यों, इसके द्वारा सहृदयों को 'रावण के समान नहीं, राम के समान आचरण करना चाहिये' का उपदेश इस सरसता-मोहकता के साथ वशीभूत करके किया जाया करता है जिसके साथ कोई प्रेयसी अपने प्रियतम को ऐसा उपदेश दिया करती है और यह सब इसलिये क्योंकि काव्य एक सर्वथा विलक्षण 'शास्त्र' है—वेदादि शास्त्रों से विलक्षण क्योंकि ये प्रभुसम्मित और शब्द-प्रधान होते हैं (इनके 'ऐसा करो, ऐसा न करो' के उपदेश राज-शासन की कठोरता लिये और उन्हीं के शब्दों में ग्राह्य हुआ करते हैं) और पुराण तथा इतिहासादि से भी विलक्षण क्योंकि ये सुहृत्सम्मित और इष्ट तथा अनिष्ट अर्थों के बोधकमात्र हुआ करते हैं (इनके उपदेश 'ऐसा करना ठीक है, ऐसा ठीक नहीं' का सौहार्द लिये और उचितानुचित का ज्ञान-मात्र करवाने वाले हुआ करते हैं) और इसमें यह विलक्षणता इसलिये है कि यह 'काव्य' है, कवि की कृति है, उसकी कृति है जो अलौकिक भाव-संयोजना में निपुण हुआ करता है क्योंकि इसमें न तो 'शब्द' का महत्त्व है और न 'अर्थ' का, इसमें तो एकमात्र रस-आनन्द की वर्णना और चर्वणा का ही प्राधान्य है।

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट ने यहां 'काव्य' के ६ प्रयोजनों को बताया है—(१) यशःप्राप्ति (२) अर्थलाभ (३) आचारज्ञान (४) अमङ्गलनिवारण (५) रस अथवा आनन्द और (६) सरस उपदेश। इनमें कवि के प्रयोजन तो प्रथम चार हैं और कवि तथा सहृदय दोनों के प्रयोजन अन्तिम दो। यहां यह शंका हो सकती है कि कवि से रस-रूप प्रयोजन का सम्बन्ध है या नहीं। इस विषय में दो प्रकार की विचार-धारायें आलङ्कारिकों में चलती आयी हैं। एक तो यह कि कवि को यदि अपनी कृति में रसास्वाद हो तो उस अवस्था में वह 'कवि' नहीं 'सहृदय' है और दूसरी यह कि काव्य-रचना के साथ २ कवि को रसास्वाद भी हुआ करता है। आचार्य मम्मट इन विचार-धाराओं में न तो एक का समर्थन करते हैं और न दूसरी का खण्डन। उन्हें इन दोनों का समन्वय अभिप्रेत है। अर्थात् 'कवि' और 'सहृदय' में, काव्य-रचयिता और काव्यरसयिता में विरोध नहीं क्योंकि रस-योजना में रस-चर्वणा यदि अन्तर्भूत है तो रस-चर्वणा में रस-योजना भी समन्वित है। कवि सहृदय हुआ करता है और सहृदय कवि। आदिकवि वाल्मीकि की सहृदयता ही आदिकाव्य रामायण के रूप में अभिव्यक्त हुई है। बिना रस समाहितचित्र हुये कालिदास और बाण अपनी काव्य-कृतियां कैसे कर सकते थे ? इस प्रकार 'रसास्वाद' के साथ साथ वह 'सरसोपदेश' भी उस कवि को अपनी कृति से मिला ही करता है जिसे वह अपने सामाजिकों को देना चाहता है।

(ख) आचार्य मम्मट ने काव्य के जो ६ प्रयोजन गिनाये हैं उनका अलङ्कार शास्त्र में उनके पहले से ही प्रतिपादन होता आ रहा है। सर्वप्रथम आलङ्कारिक भामह ने स्पष्ट कहा है—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्त्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ (काव्यालङ्कार १-२)

'अर्थात् एक २ शास्त्र जहां अपने २ विषयों के प्रतिपादन में तत्पर रहा करते हैं वहां काव्य समस्त शास्त्रों के विषयों को अपना विषय बनाया करता है और इस प्रकार काव्य का अनुशीलन करने वाला समस्त शास्त्रों और समस्त कलाओं का तत्त्व सरलता से जान सकता है। काव्य रचने अथवा पढ़ने में जो आनन्द मिलता है वह अन्यत्र नहीं। साथ ही साथ काव्य एक ऐसा कर्म है जिसके करने वाले की कीर्ति चिरस्थायी हुआ करती है।' आचार्य भामह के अनुसार काव्य के यहां तीन प्रयोजन प्रतीत होते हैं—(१) शास्त्रादिज्ञानप्राप्ति (२) कीर्ति और (३) प्रीति अथवा आनन्द। काव्यप्रकाशकार ने भामह के दो प्रयोजनों-कीर्ति और प्रीति-को तो सर्वथा मान लिया है किन्तु शास्त्रादिज्ञानप्राप्ति के स्थान पर 'राजादिगतोचिताचारपरिज्ञान' को रखा है। अर्थलाभ और अनर्थनिवारण को काव्य-रचना का प्रयोजन मानना मम्मट के लिये सर्वथा आवश्यक है क्योंकि भामह के बाद संस्कृत काव्य-साहित्य में ऐसी रचनायें हो चुकी हैं जिनके द्वारा कविओं को अर्थ प्राप्ति हुई है अथवा उनके शोक-सन्ताप का निवारण हुआ है। ऐसे कविओं में 'धावक' और 'मयूर' का जो दृष्टान्त मम्मट ने दिया है उसे एक परम्परा के रूप में लोग मानते आरहे हैं। मम्मट के पूर्ववर्ती आलङ्कारिक रुद्रट ने भी अपने 'काव्यालङ्कार' में काव्य के इन्हीं प्रयोजनों को गिनाया है:—

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि॥ (१।४)
अर्थमनर्थोपशमं शममसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥ (१।८)
तदिति पुरुषार्थसिद्धिं साधु विधास्यद्भिरविकलां कुशलैः।
अधिगतसकलज्ञेयैः कर्त्तव्यं काव्यममलमलम्॥ (१।१२)

(ग) यद्यपि आचार्य मम्मट ने काव्य के ये ६ प्रयोजन यहां बताये हैं किन्तु इनमें पहले चार प्रयोजनों को तो आनुषङ्गिक माना है और पार्यन्तिक प्रयोजन अथवा परम प्रयोजन माना है रसास्वाद को और सरसोपदेश को जो प्रयोजन माना है वह इसलिये कि रसानुभूति का मानव-जीवन के साथ एक सम्बन्ध है जिसका उद्देश्य है मानव जीवन को उसके आदर्शों की

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

(काव्य-हेतु)

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥

ओर अग्रसर करना । इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का अभिप्राय वही है जो आनन्दवर्द्धनाचार्य और अभिनवगुप्तपादाचार्य का है, जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

'कवेस्तावत् कीर्त्याऽपि प्रीतिरेव सम्पाद्या । श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिर्यद्यप्यस्ति तथापि प्रीतिरेव प्रधानम् । अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यः मित्रसम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष इति''चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं प्रयोजनम् ।' (ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ १२)

पाश्चात्य काव्यालोचक भी काव्य के प्रयोजनों में रसानुभव को ही मुख्य प्रयोजन मानते हैं:—

'Deilght is the chief, if not the only end of Poetry : instruction can be admitted but in the second place, for poesy only instructs as it delights.'

(जॉन ड्राइडन)

अर्थात् आनन्द ही काव्य का परम प्रयोजन है, भले ही इसे एकमात्र प्रयोजन मानें या न मानें । उपदेश का स्थान तो आनन्द के बाद आता है क्योंकि काव्य जो उपदेश देता है वह सीधे नहीं अपितु रसास्वाद करा कर देता है ।

अनुवाद—**इस प्रकार काव्य के प्रयोजनों का प्रतिपादन करके उसकी रचना (और साथ ही साथ भावना) के हेतु अथवा साधन का निरूपण किया जाता है ।**

काव्य की रचना और श्रीवृद्धि के ये तीन (सम्मिलितरूप से) मूलकारण हैं:-

(१) शक्ति अथवा कवि-प्रतिभा ।

(२) निपुणता अथवा व्युत्पत्ति जो लोक-जीवन के अनुभव और निरीक्षण, शास्त्रों के अनुशीलन किंवा काव्य इत्यादि के विवेचन का परिणाम है, और

(३) अभ्यास अथवा कवि और काव्यविमर्शक के उपदेश का अनुसरण करते हुये काव्य-निर्माण में लगाना ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट का काव्य-हेतु-निरूपण उनकी उस समन्वयात्मक दृष्टि का परिणाम है जिससे देखे जाने पर संस्कृत काव्य-साहित्य का कोई भी रचनाकार 'कवि' की श्रेणी से बाहर नहीं किया जाता । शक्ति, निपुणता और अभ्यास का तारतम्य मानने वाले जो अलंकारिक हैं उनके अनुसार बात ऐसी नहीं है । उदाहरण के लिये आचार्य आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में 'शक्ति' ही वस्तुतः काव्य-रचना का कारण है । उन्होंने तो यहां तक कहा है—

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संक्रियते कवेः । यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥'

(ध्वन्यालोक उद्द्योत ३)

जिसका अभिप्राय यह है कि यदि किसी में कवित्वशक्ति है तो काव्य वही कर सकता है और यदि शक्ति नहीं है तो व्युत्पत्ति के द्वारा रचा गया काव्य ऐसा ही होगा जो अन्तस्तत्त्व-शून्य हो । आनन्दवर्द्धनाचार्य के अनुसार कवि भी कितने हैं ? 'द्वित्राः पञ्चषा एव वा' ।

कविराज राजशेखर की काव्य-मीमांसा की दृष्टि में व्युत्पत्ति का एक विशेष महत्त्व है जिससे काव्य का निर्माण और समुल्लास संभव है । व्युत्पत्ति को काव्य का कारण मानकर ही तो राजशेखर ने कविओं की अनेकों श्रेणियां गिनायी है, जिनमें सबके लिए कहीं न कहीं स्थान है । इस दृष्टि से रचना-पट्ट, शब्द-पट्ट, अर्थ-पट्ट, अलङ्कार-पट्ट, उक्ति-पट्ट इत्यादि प्रकार के काव्य-कलाकार कवि हैं-अकवि नहीं । राजशेखर ने स्पष्ट कहा है:—'विप्रसृतिश्च सा (शक्तिः) प्रतिभाव्युत्पत्ति-

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् । लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद्व्युत्पत्तिः, काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न्न तु हेतवः ।

भ्याम् ।' जिसका अभिप्राय यह है कि यदि किसी में व्युत्पत्ति हो और प्रतिभा भी तो उसकी कवित्व-शक्ति दुगुनी हुआ करती है ।

इसी प्रकार एकमात्र 'अभ्यास' को ही काव्य-हेतु मानने वाले आलङ्कारिक हो चुके हैं जिनमें, जैसा कि राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' से पता चलता है, 'मङ्गल' नामक आलङ्कारिक का नाम विशेष उल्लेखनीय है । आलङ्कारिक मङ्गल ने तो शक्ति और व्युत्पत्ति दोनों से बढ़ा-चढ़ा 'अभ्यास' को ही माना है जिसके बिना काव्य का निर्माण यदि असंभव नहीं तो अशक्य अवश्य है । मङ्गल का मत है—'अभ्यासः (काव्यकर्मणि परं व्याप्रियते) । अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः । स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते ।' अर्थात् काव्य-कर्म में एक मात्र व्यापार 'अभ्यास' का ही दिखायी देता है । काव्य-रचना में निरन्तर प्रवृत्त होना ही 'अभ्यास' है और इसी के कारण किसी काव्य में उसके रचयिता का कौशल झलका करता है ।

आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्त्ती आलङ्कारिकों की इन प्रवृत्तिओं का विश्लेषण करके यही ठीक समझा कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को संमिलितरूप से काव्य-हेतु माना जाय क्योंकि अव्युत्पन्न और अनभ्यस्त व्यक्ति कवित्व-शक्ति से कूट २ कर भले ही भरा हो, कालिदास नहीं बन सकता । कालिदास बनने के लिये तो अभ्यास-व्युत्पत्ति-शक्ति का सुन्दर सहयोग ही अपेक्षित है ।

(ख) आचार्य रुद्रट के काव्य-हेतु-विवेक का काव्यप्रकाशकार पर पूरा प्रभाव पड़ा है । रुद्रट ने भी शक्ति-व्युत्पत्ति-अभ्यास-त्रितय को ही काव्य का कारण माना है:—

'तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ॥' (काव्यालंकार १।१४)

इनसे भी प्राचीन काव्याचार्य दण्डी के अनुसार ये तीनों ही संमिलितरूप से काव्य-कारण है जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट है:—

'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः ॥' (काव्यादर्श १)

अनुवाद—**'शक्ति' एक ऐसे विशिष्ट संस्कार को कहते हैं (जो कवि और रसिक की आत्मा में जन्म-जन्मान्तर से संचित रहा करता है और) जो कवित्व (और साथ ही रसिकत्व) का वस्तुतः बीज है । यही वह वस्तु है जिसके बिना काव्य की रचना (और साथ ही साथ उसकी रसना) संभव नहीं और यदि कहीं संभव भी हुई तो उसे काव्य का उपहास ही कहेंगे (काव्य नहीं) । व्युत्पत्ति (निपुणता) वह है जो लोक के अर्थात् चराचर जगत और उसके जीवन के अनुभव और अनुशीलन, शास्त्रों के अर्थात् छन्द, व्याकरण, निरुक्ति, कोश, चौसठ कला, पुरुषार्थचतुष्टय, गज-तुरगादि प्राणिविद्या तथा धनुर्वेदादि विद्याओं के प्रतिपादक ग्रन्थों के अध्ययन और अनुसंधान, काव्यों के अर्थात् महाकवियों की कृतियों के मनन और चिन्तन और साथ ही साथ इतिहासादि के निरीक्षण और विवेचन का परिणाम है । और 'अभ्यास' कहते हैं काव्यमय संदर्भों की रचना और भावना**

में उस सतत प्रयत्नशीलता को जो काव्य-कारों और काव्य-विमर्शकों के उपदेशों के व्यावहारिक अनुसरण में हुआ करती है। ये तीनों ही सम्मिलितरूप से न कि पृथक् २, काव्य के उद्भव और उत्कर्ष के कारण हैं। ऐसा नहीं कि काव्य-रचना के ये तीन कारण हैं।

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट की 'शक्ति' की परिभाषा काश्मीरिक आलङ्कारिकों की एक सामान्य परिभाषा है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में शक्ति का ऐसा ही निरूपण किया है:—

'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥'
प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा॥
स्वस्यासौ संस्कारः परमपरं मृगयते यतो हेतुम्।
उत्पाद्या तु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया॥ (काव्यालंकार १।१५।१७)

जिसका अभिप्राय यह है कि 'शक्ति', जिसे कुछ आलङ्कारिक 'प्रतिभा' भी कहा करते हैं, किसी व्यक्ति की आत्मा में कवित्व का वह संस्कार है जो उसके जन्म के साथ जन्म लेता है और जिसकी ऐसी महिमा है कि वाच्यवाचक प्रपञ्च उसका अनुगमन किया करते हैं।

मम्मट के पूर्ववर्ती तथा परवर्त्ती आलङ्कारिकों ने 'शक्ति' में भी सहजा और 'उत्पाद्या' भेद मान रखा है किन्तु मम्मट को यह भेद-वाद मान्य नहीं। मम्मट की दृष्टि कवित्व-शक्ति अथवा कवि-प्रतिभा को कवि की आत्मा का वह सूक्ष्म अन्तस्तत्त्व मानती है जिसे 'कला' अथवा वस्तुतः कवि-कला कहा जा सकता है। जैसे धरणी (पृथिवी) की धारिका शक्ति उससे अतिरिक्त नहीं, वैसे ही कवि की कवित्व-शक्ति भी उससे पृथक् नहीं है। मम्मट के अनुसार इस शक्ति के होने से काव्य-रचना का होना और न होने से काव्य-रचना के उपहास का किया जाना वही अभिप्राय रखता है जो राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में इस प्रकार व्यक्त किया है:—**'शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रति-भासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।'** (काव्यमीमांसा अध्याय ४)

मम्मट ने 'शक्ति' में राजशेखर के 'प्रतिभा-रहस्य' को भी देखा है इसलिये इनके अनुसार 'शक्ति' और 'प्रतिभा' एक तत्त्व है। ऐसा नहीं कि शक्ति और प्रतिभा में कार्यकारणभाव हो जो राजशेखर ने माना है।

(ख) मम्मट का व्युत्पत्ति-विवेक रुद्रट के व्युत्पत्ति-विवेक का अनुसरण करता है क्योंकि रुद्रट ने 'व्युत्पत्ति' का यही स्वरूप बताया है:—

'छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन॥'
विस्तरतस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा॥ (काव्यालङ्कार १, १८, १९)

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग जिस प्रकार 'कवि' को क्रान्तदर्शी अथवा क्रान्तप्रज्ञ मानता रहा है उसी प्रकार काव्य-साहित्य युग उसे प्रतिभावान् और सर्वज्ञ (व्युत्पन्न) समझता आया है।

(ग) आचार्य मम्मट का 'अभ्यास-निरूपण' भी रुद्रट के 'अभ्यास-निरूपण' के ही अनुसार है। रुद्रट ने 'अभ्यस' का जो अभिप्राय लिया है वह यह है:—

'अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य संनिधौ नियतम्।
नक्तंदिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान् काव्यम्॥ (काव्यालंकार १।२०)

मम्मट के पूर्ववर्त्ती और साथ ही साथ परवर्त्ती आलङ्कारिकों ने अभ्यास के लिये नानाप्रका की काव्यज्ञ-शिक्षाओं का परिगणन किया है किन्तु मम्मट को इनका विवेचन अभिप्रेत नहीं है।

(काव्य-स्वरूप)

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

(१) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ॥

अनुवाद—**अब काव्य-रचना के कारण का विवेचन कर लेने के बाद 'काव्य क्या है ?' इसका निरूपण किया जारहा है ।**

वे शब्द और अर्थ 'काव्य' कहे जाते हैं जो दोष-रहित हों, गुण-युक्त हों और (यदि रसाभिव्यञ्जक हों तो) अलंकृत हों या न हों ।

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट का यह काव्य-लक्षण काव्य-सामान्य और काव्य-विशेष के प्राचीन लक्षणों के पर्याप्त मनन और चिन्तन का परिणाम है । इस लक्षण में ऐसे लक्षणों अर्थात्—

'अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥' (सरस्वतीकण्ठाभरण १.२)

इत्यादि का जहां समन्वय है वहां ऐसे लक्षणों, जैसे कि—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ (ध्वन्यालोक १.१३)

इत्यादि का भी अन्तर्भाव है । इस लक्षण में भामह, कुन्तक और भोज के 'साहित्य' (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) की रूप-रेखा जहां स्पष्ट झलकती है वहां दण्डी, वामन और रुद्रट की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं की भी । 'शब्दार्थौ तत् (काव्यम्)' यह है इस लक्षण में शब्द और अर्थ के एक विशिष्ट साहित्य-सहभाव का स्वरूप-निरूपण जिसकी दृष्टि से वाङ्मय-सामान्य से 'काव्य' का विश्लेषण सम्भव है । 'अदोषौ' और 'सगुणौ' को 'शब्दार्थौ' का विशेषण बनाना शब्द और अर्थ के साहित्य में विशेषता के आधान का संकेत है और यही बात 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस विशेषण में भी स्पष्ट प्रतीत होती है । अलंकार-वाद के आचार्य दण्डी की इस मान्यता अर्थात्—

'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन । स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥'

को यहां सर्वप्रथम स्थान दिया गया है और ऐसा इसीलिये किया गया है कि अलङ्कार-वाद की दृष्टि से काव्य का निर्दुष्ट होना नितान्त अपेक्षित है । अलङ्कार-वाद की यही प्राचीन धारणा है-'सकलालङ्कारयुक्तमपि हि काव्यमेकेनापि दोषेण दुष्येत-नमिसाधुः'(काव्यालङ्कार टिप्पणी, पृष्ठ ५) । 'शब्दार्थौ' का 'सगुणौ-'विशेषण जिस बात का संकेत है वह यह है कि 'रीति' काव्य की आत्मा नहीं अपितु शब्द और अर्थ के साहित्य में एक प्रकार की विशिष्टता का आधान है । 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'—इस विशेषण की एक अपनी ही विशेषता है । सबसे पहले तो इससे यही स्पष्ट होता है कि मम्मट का काव्य-लक्षण अलङ्कार-वाद की मान्यता को अन्त तक नहीं निभाता । दूसरी बात यह है कि 'कहीं २ विना अलङ्कार के भी' शब्द और अर्थ का काव्य होना जिसकी अपेक्षा करता है वह है काव्य का परम रहस्य, परमसार-ध्वनितत्त्व ।

इस लक्षण में काव्य-स्वरूप की स्थूल और सूक्ष्म, वाह्य और आभ्यन्तर दोनों झलकें दिखायी देती हैं और इस दृष्टि से इसे काव्य का एक पूर्ण लक्षण माना जाना चाहिये ।

(ख) काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने मम्मट के इस काव्य-लक्षण के प्रत्येक पद पर विचार किया है । 'अदोषौ' विशेषण की सार्थकता इस प्रकार बतायी गयी है-संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो सर्वथा और सर्वदा निर्दोष हो-'नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत् ।' काव्य में दोष का अभाव यदि हो तो कहना ही क्या ! किन्तु यदि कोई काव्य ऐसा हो जिसका कोई दोष उसके सौन्दर्य के अनुभव में प्रतीत ही नहीं हो तो उसे काव्य ही कहना चाहिये—अकाव्य नहीं, क्योंकि 'अदोषता' का अभिप्राय दोषमात्र का अभाव नहीं, अपितु ऐसे प्रबल दोषों का अभाव है जो काव्यत्व के विघातक हुआ करते हैं । किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इस 'विशेषण' की कड़ी आलोचना

दोषगुणालङ्काराः वक्ष्यन्ते क्वापीत्यनेनैतदाह यत्सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फुटलङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा—

की है और 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि ध्वनि-काव्य में 'विधेयाविमर्श' दोष दिखाकर ऐसा सिद्ध किया है कि इस विशेषण के कारण या तो काव्य का क्षेत्र नहीं के बराबर हो जायगा या बहुत संकीर्ण हो जायगा। 'न्यक्कारो ह्ययम्' इत्यादि काव्य को मम्मट ने तो नहीं किन्तु ध्वनि-तत्त्ववेत्ता आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि'-काव्य का एक सुन्दर उदाहरण माना है। अभिनवगुप्तपादाचार्य इस ध्वनि-काव्य की ध्वन्यात्मकता का बड़े मनोयोग से विश्लेषण भी कर चुके हैं। इसमें 'विधेयाविमर्श' दोष का दर्शन साहित्यदर्पणकार ने किया है। यद्यपि उनकी युक्ति संगत है किन्तु सर्वथा उचित नहीं। कारण यह है कि यहां वक्ता क्रोधान्ध रावण की अविमृश्यकारिता की अभिव्यक्ति इस विधेयाविमर्श दोष के सद्भाव में और भी उत्कट रूप से अभिप्रेत है। आचार्य मम्मट की कारिका (७।८१)-वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ-इस प्रकार की रचना में दोष के सद्भाव को भी गुण ही सिद्ध करती है जो ध्वनि-सम्प्रदाय की एक आवश्यक मान्यता है।

'सगुणौ' विशेषण की उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा निर्गुण शब्द और अर्थ को काव्य के लिये अनुपयुक्त बताया गया है। यद्यपि आचार्य मम्मट के अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण रसनिष्ठ हैं और इन्हें शब्द और अर्थ का गुण नहीं माना जा सकता क्योंकि ये रसस्याङ्गिनो धर्माः'—(प्र. ८७) इत्यादि का यही तात्पर्य है किन्तु यहां इन गुणों को शब्द और अर्थ का गुण जिस दृष्टि से बताया गया है वह यह है—साक्षात् तो गुण रस के धर्म हैं किन्तु परम्परया इन्हें शब्द और अर्थ का भी धर्म इसलिये मान लिया गया है कि रस का अभिव्यञ्जन शब्द और अर्थ के द्वारा ही संभव है। इसीलिये (उल्लास ७, का. ९५) कहा गया है—

'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता'।

अर्थात् गुणों का शब्द और अर्थ का होना मुख्यतः नहीं अपितु उपचारतः सिद्ध होता है। काव्यप्रकाश की 'प्रदीप' व्याख्या इसीलिये कहती है—'गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरं गुणपदम्।' अर्थात् यहां 'सगुणौ शब्दार्थौ' का अभिप्राय गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ है।

साहित्यदर्पणकार इस विशेषण पर भी आक्षेप करते हैं। इनके अनुसार 'सगुणौ' का अभिप्राय यदि अन्ततोगत्वा 'गुणाभिव्यञ्जकौ' ही माना जाय क्योंकि और कुछ तो हो नहीं सकता, तब भी इसे यहाँ 'शब्दार्थौ' का विशेषण बनाना इसलिये अनुचित है कि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य के उत्कर्षाधायक भले ही हों किन्तु काव्य के स्वरूपाधायक नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का सम्प्रदाय यह मानता है कि वस्तुतः काव्यस्वरूप की निष्पत्ति भी गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थ की अपेक्षा करती है क्योंकि ऐसी संभावना नहीं हो सकती कि रसरूप आत्मतत्त्व तो हो और गुण न हों। और जहाँ रस की सत्ता नहीं, केवल गुणाभिव्यञ्जक से प्रतीत होने वाले शब्द और अर्थ ही हैं वहां तो काव्य भी उपचारतः ही माना जाता है—मुख्यतः नहीं।

'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' का अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ, जो काव्य कहे जाते हैं अलङ्कृत हों किन्तु इस बात को सीधे न कह कर इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी शब्दार्थ रचनायें भी काव्य मानी जांय जिनमें स्पष्टरूप से किसी अलङ्कार-योजना के न होने पर भी काव्य के सौन्दर्य का अनुभव हुआ करता है। अलङ्कार के न होने पर भी काव्य-सौन्दर्य का होना असंभव नहीं अपितु सभव है। क्योंकि काव्य-तत्त्व तो रसभावादि की अभिव्यक्ति है।

अनुवाद—**(काव्य कहे जाने वाले शब्द और अर्थ के) दोष, गुण और अलङ्कार का विवेचन आगे किया जायगा। ('अनलङ्कृती पुनः क्वापि' में) 'क्वापि' अर्थात् कहीं २ पर (अनलङ्कृत भी शब्द और अर्थ) का अभिप्राय यह है कि यथासंभव तो शब्द और अर्थ सर्वत्र अलङ्कृत हों किन्तु यदि कहीं स्पष्टरूप से कोई अलङ्कार न भी हो तो भी वहां (रसादि के होने से) काव्यत्व में कोई क्षति नहीं हुआ करती। जैसे कि इसी रचना अर्थात्—**

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ १ ॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता ॥

'पता नहीं कि जब कि पति भी वही, जो कुमारीपन से ही हमें प्यार करता रहा; वसन्त की रातें भी वही, जो पहले हो चुकी हैं; खिली हुई वासन्तिकलताओं की सुगन्धवाली चारों ओर बहती हुई उन्मादक हवायें भी वे हीं, जो पहले हुआ करती थीं और मैं भी वही, कोई दूसरी नहीं, तब भी क्यों कर यह मन नर्मदा के उस तीर पर वेत की उस झाड़ी के नीचे, रति की उन उन लीलाओं और क्रीडाओं के लिए रह रह कर व्याकुल हो उठता है।' में। यहां अलङ्कार तो स्पष्टतया कोई भी नहीं प्रतीत होता। यहां रस तो अवश्य है किन्तु उसे भला अलङ्कार कैसे कहा जाय क्योंकि वही तो यहां मुख्य-सारतत्त्व है।

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट के इस काव्य-लक्षण में 'शब्दार्थौ' के विशेषण 'अनलंकृती पुनः क्वापि' की भी साहित्यदर्पणकार ने कटु आलोचना की है। साहित्यदर्पणकार का कहना यह है कि—अलङ्कृत शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूप में नहीं अपितु काव्य के उत्कर्ष में आवश्यक है। काव्य के प्राचीन विवेचकों की भी यही मान्यता है जैसा कि कहा गया है—**'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्।'** साथ ही साथ 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' का 'यः कौमारहरः' इत्यादि से निदर्शन भी युक्तियुक्त नहीं क्योंकि यहां 'विभावना' और 'विशेषोक्ति'मूलक सन्देहसंकरालङ्कार की प्रतीति स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार के समर्थकों का यह मत है—यद्यपि 'यः कौमारहरः' इत्यादि रचना ऐसी है जिसमें एक दृष्टि से 'विभावना' और दूसरी दृष्टि से 'विशेषोक्ति' अलङ्कार की झलक देखी जा सकती है किन्तु यह इतनी अस्पष्ट है कि इस पर कोई विशेष ध्यान दिया ही नहीं जा सकता। 'विभावना' अलङ्कार की सम्भावना यहां इस प्रकार हो सकती है—'विभावना' कहते हैं—'कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिवचनम्' को अर्थात् कारण के न होने पर भी कार्य के होने के वर्णन-वैचित्र्य को। यहां पर नायिका की उत्कण्ठा के कारणों जैसे कि पति के संग-सुखादि के अनुपभोग के न होने पर भी उत्कण्ठा-रूप कार्य का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार 'विशेषोक्ति' अलङ्कार, जिसमें कारण के होने पर भी कार्य के न होने का वर्णन-वैचित्र्य दिखायी दिया करता है, (कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावकथनं विशेषोक्तिः) भी एक प्रकार से यहां प्रतीत हो सकता है क्योंकि कवि ने यहां पति के संग-सुखादि के उपभोगरूप कारणों के होने पर भी उनके कार्य अर्थात् नायिका के मन की अनुत्कण्ठा के न होने का ही वर्णन किया है यह सब चमत्कार यहां होने पर भी यह तो निश्चित ही है कि कवि के मन में यहां न तो विभावना की ही विवक्षा है और न 'विशेषोक्ति' की ही। क्योंकि यदि 'विभावना' से कवि का अभिप्राय रहता तो उत्कण्ठारूप कार्य के कारणों का अभाव किसी ऐसे शब्द द्वारा बताया गया होता जो स्पष्टतया अभाव का वाचक हो। किन्तु ऐसा यहां कहां! यहां तो उत्कण्ठा के कारणों का अभाव शब्द-प्रतिपाद्य नहीं अपि तु अर्थ-लभ्य है। यही बात 'विशेषोक्ति' के सम्बन्ध में भी है क्योंकि यहां 'चेतः समुत्कण्ठते' (मन उत्कण्ठित हो उठता है) कहा गया है न कि 'चेतोऽनुत्कठितं न' (मन अनुत्कण्ठित रहे, ऐसा नहीं)। 'विशेषोक्ति' के अभिप्रेत होने पर तो स्पष्ट रूप से अनुत्कण्ठारूप कार्य के अभाव का वर्णन किया जाता। अब जब कि ये दोनों अलङ्कार यहां अस्पष्ट हैं क्योंकि कवि की विवक्षा से बाहर हैं तब इनके आधार पर सन्देह संकर अलङ्कार की भी प्रतीति कैसे स्पष्ट मानली जाय!

(ख) मम्मट ने शब्दार्थ-रचना के स्पष्टतया अलङ्कृत न प्रतीत होने पर भी काव्यत्व की प्रतीति का जो यह उदाहरण दिया है वह बहुत सुन्दर और युक्तियुक्त है। यहां कोई भी सहृदय

(काव्य के भेद)

तद्भेदान् क्रमेणाह—

(उत्तम अथवा ध्वनि काव्य)

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥ ४ ॥

इदमिति काव्यं बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

अलङ्कार की खोज करता नहीं प्रतीत होता अपि तु कवि के द्वारा चित्रित एक स्वाधीनपतिका नायिका की ऐसी मनःस्थिति के सौन्दर्य का दर्शन करता है जिसमें उसका अपने प्रियतम के प्रति आस्थाबन्ध पुराना होने पर भी निरन्तर नया और प्रगाढ़ होता दिखाई दे रहा है। यहां तो अभिलाष विप्रलम्भ श्रृङ्गार का आनन्द मिल रहा है, जिसके हाथ में इस रचना का काव्यत्व सुरक्षित है।

यहां 'सालङ्कारौ शब्दार्थौ' के बदले 'अनलङ्कृती पुनः कापि शब्दार्थौ' को स्थान देना वस्तुतः काव्य के वास्तविक रहस्य-रसभावादि का संकेत करना है। रसभावादि के अनुभव में 'काव्य' का अनुभव होता है, अलङ्कार के अनुभव में नहीं। रसभावादि की अभिव्यक्ति में यदि अलङ्कार सहायक हों तब तो अलंकृत शब्दार्थ-रचना एक विशेषता ही हुई किन्तु यदि शब्दार्थरचना के स्पष्टतया अलंकृत न होने पर भी रसास्वाद मिल गया तो 'काव्य' का अनुभव तो हो ही गया! अलङ्कार काव्य के लिये उतने आवश्यक नहीं, जितने रसभावादि हुआ करते हैं।

(ग) मम्मट ने यहां प्राचीन आलङ्कारिकों की दृष्टि से 'रस' होने के कारण 'रसवत्' अलङ्कार की सम्भावना का भी स्पष्ट खण्डन किया है। मम्मट के काव्य-सम्प्रदाय में 'रसवत्' अलङ्कार की कोई मान्यता नहीं, क्योंकि 'रस' की प्रधानता होने पर तो उसे अलङ्कार कहना ही अनुचित है और यदि 'रस' वाच्य की अपेक्षा अप्रधान हुआ तब भी उसे 'चित्रकाव्य' की श्रेणी में नहीं, अपि तु 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' की कोटि में ही स्थान मिलेगा।

अनुवाद—**अब काव्य के भेदों का विवेचन किया जाता है:—**

वह काव्य 'उत्तम काव्य' होता है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक सुन्दर अथवा चमत्कारजनक हुआ करता है और जिसे काव्य-तत्त्वदर्शी लोग 'ध्वनि' काव्य कह चुके हैं।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट का काव्य-स्वरूप और प्रकार-निरूपण आनन्दवर्द्धनाचार्य और अभिनवगुप्तपादाचार्य की काव्य-समीक्षा का अनुसरण करता है। 'ध्वन्यालोक' में ध्वनिकाव्य को काव्यविशेष कहा गया है, जिस श्रेणी में वाल्मीकि, व्यास और कालिदास जैसे महाकवियों की रचनायें आती हैं। इस प्रकार के काव्य की विशेषता यह है—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ (ध्वन्यालोक १।१३)

अर्थात् ध्वनिकाव्य एक ऐसा विशिष्ट प्रकार का काव्य है जिसमें शब्द और अर्थ अपने अभिप्राय और स्वरूप को छिपाये हुये उस 'काव्यार्थ' को अभिव्यक्त किया करते हैं जो काव्य का परम रहस्य है।

अनुवाद—**यहां 'इदम्' का अभिप्राय 'काव्य' से है और 'ध्वनि' का (सबसे पहला) अभिप्राय उस 'शब्द' अथवा वर्ण-समुदाय से है, जैसा कि वैयाकरणों अथवा शब्द-तत्त्व ज्ञानियों के व्यवहार से सिद्ध है, जो (आशुविनाशी क्रमिक वर्णों में) प्रधानभूत स्फोट (नित्य शब्द) रूप व्यङ्ग्य का व्यञ्जक हुआ करता है। अब इन्हीं शब्ददार्शनिकों के अभिप्राय का अनुसरण करने वाले दूसरे (अर्थात् आलङ्कारिक) लोग जो 'ध्वनि'**

यथा—

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे !
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥ २ ॥

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाऽधमपदेन व्यज्यते।

शब्द का व्यवहार किया करते हैं वे उस 'शब्दार्थयुगल' अथवा 'काव्य के लिये जो कि एक ऐसे व्यङ्ग्यार्थ का अभिव्यञ्जक हुआ करता है जिससे वाच्यार्थ का महत्त्व दब जाया करता है। जैसे कि यही सूक्ति—

'अरी! झूठ बोलने वाली! मुझ जैसी सखी की पीडाओं को समझती हुई भी न समझने वाली! अरी दूती! तू तो यहां से नहाने गयी थी न! ये तुम्हारे स्तनों के किनारे, जिनका चन्दन बिलकुल चू गया! यह तुम्हारा अधर, जिसकी लाली इतनी धुल गयी! ये तुम्हारी आंखों की कोरें जिनमें अंजन की छूआछूत नहीं और यह तुम्हारी देह, इतनी कृश और इतनी प्रसन्न! भला तू उस नीच के पास क्योंकर जाने लगी।'
यहां पर वस्तुतः जो अर्थ है वह है—'तू तो उसी के साथ रतिक्रीडा करने गयी थी।' और यह अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ है (न कि वाच्य) जिसमें 'अधम' पद विशेषतया व्यञ्जक है।

टिप्पणी—(क) यहां मम्मट ने ध्वनि-दर्शनाचार्य आनन्दवर्धन की इस मान्यता अर्थात्—
'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसंमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।'
(ध्वन्यालोक, पृष्ठ ४७-४८ नि. सा.)

का बड़े मनोयोग से अनुसरण किया है। वैयाकरण लोग शब्द-जगत् के वैज्ञानिक हैं और हैं साथ ही साथ शब्द-तत्त्व-दार्शनिक। वैयाकरणों ने 'वर्णात्मक' शब्द को आशुविनाशी देखकर इससे व्यङ्ग्य ध्वन्यात्मक नित्य-शब्द की सत्ता की सिद्धि की है जिसे 'स्फोट' कहा है। 'स्फोट' इसलिये इसे कहा है कि अर्थ-प्रत्यायन इसी से संभव है (स्फुटयत्यर्थमिति स्फोटः)। वैयाकरणों का यह 'स्फोट' नित्यशाश्वत ब्रह्मस्वरूप है और यही वह तत्त्व है जिस पर समस्त प्रत्येय वस्तु का प्रत्यायन निर्भर है। 'स्फोट' के सम्बन्ध में वैयाकरणों की यह धारणा है—

'इत्थं निष्कृष्यमाणं यच्छब्दतत्त्वं निरञ्जनम्। ब्रह्मैवेत्यक्षरं प्राहुस्तस्मै पूर्णात्मने नमः॥
अर्थात् विनश्वर वर्णों में प्रकाशमान जो अविनश्वर शब्द-तत्त्व है वह वस्तुतः ब्रह्म है।
महान् शब्द-तत्त्ववेत्ता भर्तृहरि ने इस नित्य स्फोटरूप शब्द-तत्त्व के प्रकाशक क्षणिक एवं क्रमशः श्रूयमाण वर्णों को 'ध्वनि' कहा है—

'प्रत्ययैरनुपाख्येयैः ग्रहणानुग्रहैस्तथा। ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥'
अर्थात् वर्णों अथवा ध्वनियों के द्वारा ही क्रमशः शब्द की स्पष्ट प्रतीति होती है जो कि यह क्रमशः श्रूयमाण वर्ण नहीं अपितु पूर्व पूर्व वर्णों के संस्कारों के साथ अन्तिम वर्ण के अनुभव से अभिव्यक्त शाश्वत शब्द-तत्त्व है।

(ख) अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक-लोचन' में 'ध्वनि' का अभिप्राय केवल व्यञ्जक शब्दार्थयुगल अथवा 'काव्य' ही नहीं अपितु 'काव्यार्थ' और ध्वनि-व्यापार, भी लिया है और इन सभी अभिप्रायों में वैयाकरणों की मान्यता के आधार का भी स्पष्टीकरण किया है। किन्तु मम्मट यहां वैयाकरणों की ध्वनि-सम्बन्धी मान्यता को शब्दार्थ युगल अथवा 'काव्य' के लिये ध्वनि-शब्द के प्रयोग में ही स्वीकार करते हैं जो कि आनन्दवर्धनाचार्य की दृष्टि में है—**काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः**—(ध्वन्यालोक १. १३)

(मध्यम अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य)

(३) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥ ३ ॥

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ॥

(ग) ध्वनि-काव्य की सर्वप्रथम यही विशेषता है कि इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ ही अधिक सुन्दर तथा चमत्कारक हुआ करता है। **'निःशेषच्युतचन्दनम्'** इत्यादि की रचना में ध्वनि-काव्य का स्वरूप स्पष्ट झलकता है। यहां वाच्यार्थ तो यही है कि एक नायिका अपनी दूती के व्यवहार से क्षुब्ध हो उसे झिड़कती है कि वह वापी-स्नान के लिये गयी थी न कि उसके प्रियतम के पास। किन्तु इस नायिका की मनःस्थिति और इसकी दूती की दशा का जो चित्र इसमें झलक रहा है उसके आधार पर जो काव्यार्थ निकलता है वह है इस नायिका का अपने प्रियतम की उपेक्षा और दूती के वापी-स्नान के बहाने तथा नायक के संग-साथ के उपभोग पर क्षोभ। अब इस व्यङ्ग्यार्थ में जो काव्य-सौन्दर्य है वह ऊपर के वाच्यार्थ में कहां ? मम्मट ने इसीलिये ऐसा कहा है कि ध्वनि-काव्य में वाच्यार्थ की स्थिति व्यङ्ग्यार्थ की महिमा से न्यग्भावित अथवा दबी-दबायी रहा करती है। वाच्य-वाचक-स्वरूप-मात्र से परिचित लोग भले ही इस व्यङ्ग्यार्थ का अनुभव न कर पावें किन्तु काव्य की भावना में उन्मुख व्यक्ति इसी की अनुभूति में आनन्द लेते हैं।

अनुवाद—**वह काव्य मध्यम काव्य है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारक नहीं होता और इसलिये जिसे 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य कहा गया है।**

टिप्पणी—आचार्य आनन्दवर्धन और आचार्य अभिनवगुप्त की परिभाषा में जो 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य है वही यहाँ मध्यम काव्य कहा गया है। ध्वनि-दर्शन के आचार्यों ने गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य की मध्यम काव्य संज्ञा नहीं रखी थी। मम्मट ने इसे मध्यम काव्य केवल व्यङ्ग्यार्थ के अप्राधान्य के कारण कहा है। ध्वनि-मर्मज्ञों की दृष्टि में 'गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य' कम चमत्कारक नहीं। इसे तो उन्होंने ध्वनि का ही निष्पन्द माना है—**ध्वनिनिष्पन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः** (ध्वन्यालोक ३-३७)। मम्मट ने ध्वन्याचार्यों के प्रथम प्रकार के 'काव्यविशेष' अथवा 'ध्वनिः' काव्य की उत्तम-काव्य संज्ञा रखी और उनके द्वितीय काव्य-प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य का नाम 'मध्यम काव्य' रखा। यहाँ भी आनन्दवर्द्धनाचार्य की ही मान्यता—**'व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता'** (ध्वन्यालोक ३-४२) प्रमाणरूप से पड़ी है।

अनुवाद—**यहां व्यङ्ग्यार्थ के वैसा न होने का अभिप्राय है उसका वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारजनक न होना। जैसे कि यहां 'हाथ में नयी २ वञ्जुल-मञ्जरी को लेने वाले ग्राम के उस तरुण को देखती हुई इस तरुणी की वदन-कान्ति रह २ कर म्लान होती जा रही है।' जहां पर यह व्यङ्ग्यार्थ—अर्थात् वञ्जुल-निकुञ्ज में मिलने का अपने आप सङ्केत देकर भी यह वहां नहीं गयी—है अवश्य किन्तु गौणरूप से है क्योंकि इसकी अपेक्षा जो वाच्यार्थ है—अर्थात् मुखच्छाया का रह रहकर म्लान होना वही अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा है।**

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट ने यहाँ मध्यम काव्य का वही उदाहरण दिया है जो कि रुद्रट

(अवर अथवा चित्र काव्य)

(४) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

के 'काव्यालङ्कार' में भावालङ्कार के उदाहरण के रूप में उद्धृत है। भावालङ्कार की परिभाषा रुद्रट ने यह दी है—

'यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन। गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ॥'

(काव्यालङ्कार ७. ३८)

अर्थात् अर्थालङ्कारों में 'वास्तव' अलङ्कार का प्रभेद भावालङ्कार वह अलङ्कार है जहाँ पर लौकिक कार्यकारण के नियम के बिना किसी अनुसरण के ही किसी विकार अर्थात् कार्य के द्वारा विकारवान् अर्थात् कारण की प्रतिपत्ति हो और इस प्रकार दोनों में परस्पर कार्यकारणभाव का भी अवगमन हो जाय। 'ग्रामतरुणम्' इत्यादि में यही अलङ्कार है क्योंकि यहाँ वञ्जुल मञ्जरी के दर्शन से मुख-मालिन्य का होना जो कि किसी भी लौकिक कार्यकारणभाव की मर्यादा से बाहर की बात है, स्पष्ट वर्णित है और इसके द्वारा सहृदय सामाजिक को जो बात प्रतीत होती है वह है ग्रामतरुण के द्वारा वञ्जुल-निकुञ्ज की मञ्जरी का प्रदर्शन और उससे वञ्जुल-निकुञ्ज में किसी कारणवश न पहुँच सकने वाली तरुणी की मनः पीड़ा।

मम्मट ने यहाँ यह उद्धरण मध्यम काव्य के उदाहरण के रूप में इसीलिये दिया है क्योंकि प्राचीन आलङ्कारिक भी इसमें एक प्रतीयमान अर्थ अथवा वाच्यार्थ भिन्न अर्थ का दर्शन कर चुके हैं और साथ ही साथ यह भी मान चुके हैं कि यह एक अलङ्कार है जो कि कवि की इस प्रकार की उक्ति का चमत्कार है।

(ख) ध्वनि-काव्य और गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य में जो अन्तर है वह है एक में व्यङ्ग्यार्थ के सौन्दर्य का अनुभव और दूसरे में व्यङ्ग्यार्थ गर्भित वाच्यार्थ की चमत्कारिता की प्रतीति। आनन्दवर्द्धनाचार्य इसलिये कह चुके हैं—

'प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते। यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥'

(ध्वन्यालोक ३. २५)

'ध्वन्यालोक' और 'लोचन' की दृष्टि में ध्वनि काव्य और गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य में काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से कोई तारतम्य नहीं है। जो भी तारतम्य है वह व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य और अप्राधान्य के कारण है। आनन्दवर्धन ने गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य की रमणीयता को सहर्ष स्वीकार किया है—

'प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः। यत्र तेषु प्रकारोऽयमेवं योज्यः सुमेधसा॥'

(ध्वन्यालोक ३. ३६)

और आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार के काव्य के सौन्दर्य की भावना को सहृदयता की पहचान मानी है—

'यस्त्वेतं प्रकारं तत्र योजयितुं न शक्तः स परमलीकसहृदयभावनामुकुलितलोचनोक्त्योपहसनीयः स्यात्।' (लोचन—पृष्ठ २०६)

ध्वनि-दार्शनिकों की यह धारणा यद्यपि मम्मट से छिपी नहीं है किन्तु तब भी यहाँ ध्वनि काव्य और गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य में उत्तम और मध्यम काव्य के तारतम्य की कल्पना इसलिये की गयी है जिससे दोनों का स्वरूप-विवेक स्पष्टतया किया जा सके।

अनुवाद—**अवर (अधम) काव्य वह काव्य है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ का अभाव रहा करता है और जिसे द्विविध चित्रकाव्य अर्थात् शब्द-चित्र-काव्य और अर्थ-चित्र-काव्य कहा गया है।**

टिप्पणी—मम्मट का 'अवर काव्य' आनन्दवर्द्धनाचार्य का 'चित्र-काव्य' है। 'चित्र-काव्य' की परिभाषा (ध्वन्यालोक ३. ४२, ४३) यह है—

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम् । अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम् । अवरमधमम् । यथा—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदामन्दाकिनीमन्दताम् ॥ ४ ॥

'प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते । काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥ चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् । तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥' अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य और अप्राधान्य के आधार पर तो काव्य के दो भेद-ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य सिद्ध ही है। अब इनसे सर्वथा भिन्न अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ की विवक्षा से शून्य जो काव्य है वह 'चित्रकाव्य' है जिसमें शब्द-चित्रण और अर्थ-चित्रण के भेद होने से दो भेद हैं— पहला 'शब्दचित्र' काव्य और दूसरा 'अर्थचित्र' काव्य। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने व्यङ्ग्यार्थ रहित काव्य का नाम चित्रकाव्य इसलिये रखा है क्योंकि इस प्रकार के काव्य में, काव्य के अन्तस्तत्त्व का अभाव रहा करता है। जो बात किसी चित्र में हुआ करती है अर्थात् किसी वस्तु की प्रतिकृति का लेखन न कि उसकी आत्मा का अभिव्यञ्जन, वही बात जिस काव्य में हो उसे चित्रकाव्य कहना चाहिये। आनन्दवर्द्धनाचार्य की स्पष्ट उक्ति है—

ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवल-वाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् ।'

अर्थात् चित्रकाव्य में न तो रसभावादि का कोई रहस्य विवक्षित रहा करता है और न किसी व्यङ्ग्य विशेष के प्रकाशन का सामर्थ्य। वह तो केवल शब्द-वैचित्र्य और अर्थ-वैचित्र्य मात्र के आधार पर चित्र की भाँति रचा जाया करता है।

आनन्दवर्द्धनाचार्य इस प्रकार के काव्य को काव्य नहीं अपितु काव्य का अनुकरण मानते हैं— **'न तन्मुख्यं काव्यम् । काव्यानुकारो ह्यसौ—**(ध्वन्यालोक पृष्ठ २२० नि. सा.)।' चित्र काव्य की स्वरूप-व्यवस्था आचार्य आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में ऐसी समझी जानी चाहिये—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति । अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥ रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा । तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्तु न गोचरः ॥'

अर्थात् वह सभी अलङ्कार-योजना जिसकी विश्रान्ति रसभावादिरूप काव्य-रहस्य में नहीं हुआ करती चित्र-काव्य का विषय है। किन्तु यदि शब्द-वैचित्र्य अथवा अर्थ-वैचित्र्य में भी रस भावादि का ही अभिप्राय छिपा है तो उसे ध्वनि के अतिरिक्त और किस काव्य का विषय माना जायगा ?

अनुवाद—**यहां 'चित्र' का अभिप्राय है—गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ तथा अलङ्कृत शब्द और अर्थ वाली रचना। इस काव्य के 'अव्यङ्ग्य' होने का अभिप्राय है। व्यङ्ग्यार्थ की स्फुट-प्रतीति से रहित होना। इसे 'अवर' कहते हैं क्योंकि यह काव्य की निकृष्ट कोटि है। जैसे कि यह रचना—'स्वच्छन्द रूप से उछल-उछल कर दोनों ओर के कच्छ-कुहरों (किनारों के गड्ढों) में प्रबल वेग से प्रवेश करने वाली स्वच्छ जलधार की छटा से नष्ट मोह महर्षिवृन्द के सहर्ष स्नान और आह्निक की एक मात्र साधिका, जहां तहां दीख पड़ने वाले दर्दुर-वृन्द (मेढकों) से भरी बड़ी-बड़ी दरारों के समीपस्थ लहलहाते बड़े-बड़े वृक्षों के उखाड़ने-पखाड़ने में निरन्तर निरत तरङ्ग भङ्ग से उन्मत्त किंवा उत्सिक्त भगवती भागीरथी हम-सबके पाप-सन्तापका प्रशमन और प्रमर्दन करती रहें।' और यह-**

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गलानिमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥ ५ ॥

इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजनकारणस्वरूप-
विशेषवर्णनो नाम प्रथम उल्लासः ॥

'जिस देव-मान-मर्दन (दैत्यराज हयग्रीव) का यों भी अपने राजप्रासाद के बाहर निकल पड़ना सुन लेने पर अमरावती—जिसके पुर द्वार की अर्गला भयभीत इन्द्र के द्वारा गिरा दी जाती है—ऐसी हो जाया करती है मानो आंखें बन्द किये पड़ी हो ।'

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट का 'स्वच्छन्दोच्छलत्' इत्यादि उद्धरण शब्द चित्र काव्य का निदर्शन है। शब्द-चित्र का इसलिये कि यहाँ कवि स्वच्छन्द रूप से उछलते जल का चित्र 'छ' शब्द की अधिकाधिक श्रुतियों में खींच रहा है और महोर्मिओं की भयङ्करता की प्रतिकृति 'द' के बाद 'र' की अनवरत ध्वनिओं में दिखाता प्रतीत हो रहा है । यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यहाँ कवि ने भगवती भागीरथी के प्रति अपना भक्ति-संरम्भ भी दिखाया है किन्तु इस भक्ति-संरम्भ में कवि की उतनी तन्मतया नहीं जितनी कि—शब्द-चित्रण के अपने विचित्र-कौशल के प्रदर्शन में है ।

(ख) मम्मट ने 'विनिर्गतं मानदम्' इत्यादि को अर्थचित्र-काव्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है । यह रचना अर्थचित्र काव्य की रचना है क्योंकि यहाँ कवि की उत्सुकता एक मात्र 'अमरावती' को एक भय-निमीलित-नयना नायिका के रूप में चित्रित करने में है । यहाँ वीररस की विवक्षा तो असिद्ध ही है क्योंकि यहाँ इन्द्र का उत्साह नहीं अपितु इन्द्र-शत्रु दैत्यराज हयग्रीव का उत्साह वर्णित है । हाँ, 'वीररसाभास' यहाँ अवश्य माना जा सकता है किन्तु इसमें वह चमत्कार कहाँ जो कवि की उत्प्रेक्षा में है। यहाँ तो कवि का हृदय एक मात्र उत्प्रेक्षा में लगा हुआ है और इसलिये सहृदय सामाजिक भी अन्ततोगत्वा यहाँ अर्थ-चित्रण का ही अनुभव करते हैं ।

(ग) चित्र-काव्य को अवर अथवा अधम काव्य मानने का यही अभिप्राय है कि इसकी रचना में महाकविओं की नहीं अपितु काव्य-रचना का अभ्यास करने वाले प्राथमिक कविओं की प्रवृत्ति विशेष जागरूक रहा करती है । आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इसीलिये कहा है—

'प्रथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत् ।'

प्रथम उल्लास समाप्त

अथ द्वितीयोल्लासः

(काव्यगत-शब्दार्थ-स्वरूपनिरूपणात्मकः)

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

(काव्यगत शब्द के तीन प्रकार)

(५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ॥

अत्रेति काव्ये। एषां स्वरूपं वक्ष्यते।

(काव्यगत अर्थ के तीन प्रकार)

(६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः।

(वाक्यार्थ-रूप अर्थ तात्पर्यार्थ-पदार्थभिन्न अर्थ)

(७)--तात्पर्योऽर्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥

(अभिहितान्वयवाद और तात्पर्यार्थरूप वाक्यार्थ)

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।

अनुवाद—(प्रथम उल्लास में 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'—इस कारिका में, प्रतिपादित शब्दार्थरूप काव्य के लक्षण का अनुसरण करते हुये) यहां क्रमशः शब्द-स्वरूप और अर्थ-स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है।

काव्य में प्रयुक्त (और साथ ही साथ प्रयोगयोग्य) जो 'शब्द' है उसके तीन प्रकार हुआ करते हैं—१. वाचकरूप शब्द प्रकार, २. लाक्षणिकरूप शब्द प्रकार और ३. व्यञ्जकरूप शब्द प्रकार।

यहां (कारिका में प्रयुक्त) 'अत्र' 'यहां' इस पद का अभिप्राय है 'काव्य में' का। इन तीनों शब्द प्रकारों का जो स्वरूप है उसका विवेचन तो आगे किया ही जा रहा है।

इन त्रिविधरूप शब्दों अर्थात् वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों के जो क्रमशः त्रिविधरूप अर्थ हैं वे हैं—१. वाच्यार्थ, २. लक्ष्यार्थ और ३. व्यङ्ग्यार्थ।

यहां (कारिका में) 'वाच्यादिरूप अर्थों' से अभिप्राय है वाच्यार्थरूप, लक्ष्यार्थरूप और व्यङ्ग्यार्थरूप अर्थों से।

किन्तु कुछ शब्दतत्त्व किंवा अर्थतत्त्व वेत्ता लोगों (जैसे कि अभिहितान्वयवादी भट्टमतानुयायी मीमांसकों) के अनुसार पदार्थ के अतिरिक्त भी एक अर्थ हुआ करता है जिसे 'तात्पर्यार्थ' कहना उचित है।

इस 'तात्पर्यार्थ' को (पदार्थ के अतिरिक्त) एक पृथक् अर्थ प्रकार मानने वाले वे लोग हैं जिन्हें 'अभिहितान्वयवादी' कहा जाता है। इन 'अभिहितान्वयवादी' वाक्यविद् भट्टमतानुयायी मीमांसक) लोगों की 'तात्पर्यार्थ' सम्बन्धी मान्यता का जो अभिप्राय है वह यह है—जिसे 'वाक्यार्थ कहना चाहिये वह 'पदार्थ' नहीं अपितु 'पदार्थ' से भिन्न एक अर्थ-प्रकार है जिसे 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं। यह तात्पर्यार्थरूप वाक्यार्थ पदार्थों के-पदवृत्ति के विषयभूत अर्थों के-परस्पर सम्बद्ध होने के कारण और इसलिये परस्पर सम्बद्ध होने के कारण क्योंकि आकांक्षा (पद-प्रयोग और पद-श्रवण से वक्ता और श्रोता के मन में अर्थबोधन और अर्थबोध की इच्छा), योग्यता (एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ से निर्बाध सम्बन्ध की प्रतीति) और आसत्ति (परस्पर साकांक्ष पदों की एक बुद्ध्युपारूढता) के

ही कारण तो पदों का समन्वय वाक्य और पदार्थों का समन्वय वाक्यार्थ बना करता है—प्रतीत हुआ करता है। अब जब कि वाक्यार्थरूप अर्थ तात्पर्यार्थ है—तब तो यह स्वयं सिद्ध है कि यह ऐसा अर्थ है जो एक विशेषरूप का अर्थ है-वाच्यार्थ से-पदवृत्ति विषयभूत अर्थ से विलक्षण अर्थ है। (अभिप्राय यह है कि जब कोई भी वाक्य परस्पर साकांक्ष और योग्य तथा अव्यवहितरूप से उपस्थित पदों का समूह है तब वाक्यार्थ पृथक् पृथक् पदों का पृथक् पृथक् पदवृत्ति विषयभूत अर्थ तो होने से रहा। 'वाक्यार्थ' तो वस्तुतः पदार्थों का परस्पर अन्वित परस्पर संसृष्ट-अर्थ है और यह अन्वय-यह संसर्ग पदों की अभिधा वृत्ति का विषय नहीं, यह तो आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि का सामर्थ्य है। उदाहरण के लिये यदि 'घटं करोति'—यही वाक्य लिया जाय तो यह स्पष्ट है कि 'घट' पद का अभिधा-वृत्तिविषयभूत तो 'घट' रूप ही अर्थ हुआ, 'अम्' प्रत्यय का अर्थ हुआ कर्मतारूप अर्थ और 'करोति' पद का कृति रूप अर्थ। किन्तु 'घट' पदार्थ और 'अम्' पदार्थ का संसर्ग (घट वृत्ति कर्मता) और 'घटम्' इस कर्मकारक रूप घट और 'करोति' इस क्रियारूप पदार्थ का संसर्ग (घटवृत्तिकर्मत्वानुकूलकृति) अभिधावृत्तिबोध्य कहां ? 'अभिधा' तो पदार्थ मात्र की उपस्थिति में ही समर्थ हुई। वाच्यार्थ से विलक्षण 'संसर्गता' रूप तात्पर्यार्थ भला अभिधा का विषय कैसे ? वाक्यार्थ भला वाच्यार्थ कहां ? वाक्यार्थ तो वस्तुतः 'तात्पर्यार्थ' है तात्पर्य-वृत्तिविषयभूत अर्थ है और पदार्थों के परस्पर संसर्ग के प्रत्यायन का जो निमित्त है वह है आकाङ्क्षा योग्यता और संनिधिरूप निमित्त।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने कुमारिलमतानुयायी मीमांसकों के जिस 'अभिहितान्वयवाद' का उल्लेख किया है उसके अनुसार पद की व्युत्पत्ति पदार्थ में हुआ करती है और जिसे 'वाक्यार्थ' कहते हैं वह पदार्थों का संसर्ग अथवा परस्पर अन्वय है जो अभिधा-बोध्य नहीं अपितु तात्पर्य-वृत्तिबोध्य हुआ करता है। यह 'तात्पर्यवृत्ति' वक्ता और श्रोता के बीच होने वाले वाक्य-व्यवहार में, पद के प्रयोग और श्रवण की अर्थ-बोधन किंवा अर्थ बोध-सम्बन्धी आकांक्षा, एक पद की दूसरे पद से आसत्ति (समीपता) और एक पद के अभिधेय अर्थ की दूसरे पद के अभिधेय अर्थ से सम्बद्ध होने की योग्यता-इस सामग्री से अनुमित एक शक्ति है जिसका कार्य है पदार्थों का संसर्ग-बोध अथवा अन्वय-बोध। 'अभिहितान्वयवाद' का अभिप्राय यही है कि वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति पदार्थप्रतीति-पूर्वक ही हुआ करती है क्योंकि जब तक पदार्थ का बोध न हो तब तक वाक्यार्थ का बोध नहीं हो सकता। एक पदार्थ का रूप दूसरे पदार्थ के रूप से भिन्न हुआ करता है। किसी पद का अर्थ यदि जातिरूप अर्थ है तो किसी पद का अर्थ द्रव्यरूप अर्थ है; एक पद का अर्थ यदि गुण रूप अर्थ है तो दूसरे पद का अर्थ क्रिया रूप अर्थ है—इस प्रकार यह पदार्थ-विभाग तभी सम्भव है जब कि हमें यह पता चला करे कि वाक्य में प्रयुक्त अमुक पद का अर्थ अमुक है क्योंकि जहां वाक्य में एक से अधिक पद प्रयुक्त हुआ करते हैं और एक पद का अर्थ दूसरे पद के अर्थ से उपरक्त रहा करता है और जो वाक्यार्थ बोध होता है वह 'कदम्बाकार' संवलितरूप हुआ करता है, यह कैसे पहचाना जा सकता है कि किस पद का कौन अर्थ है ? और जब तक किसी पद से उसके अपने अर्थ का बोध न हो तब तक किसी वाक्य से कोई भी तो अर्थ निकल सकता है ? इस अव्यवस्था से छुटकारा पाने के लिये ही तो यह आवश्यक है कि शुद्ध पद का-वाक्य-विनिर्मुक्त पद का अर्थ जान लिया जाय जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति समञ्जस हो सके। तभी तो पद और पदार्थ में 'औत्पत्तिक' स्वाभाविक अथवा नित्य सम्बन्ध जिसे 'वाच्यवाचकभाव' कहा करते हैं, माना गया है। यदि वाक्यार्थ में वाक्य की ही व्युत्पत्ति मानी जाय और पदार्थ की कोई चर्चा न की जाय तब यह कैसे सम्भव है कि एक सर्वथा नवीन वाक्य से उसके वाक्यार्थ की प्रतीति हो जाय ? यह तो पदार्थ-व्युत्पत्ति की महिमा है कि जिस किसी भी, नये अथवा पुराने, वाक्य का अर्थ-बोध सम्भव हुआ करता है। इसलिये वाक्यार्थ-बोध की दृष्टि से यही मानना आवश्यक है कि वाक्यबद्ध प्रत्येक पद अपने २ अर्थ का अभिधान किया करते हैं और पदों के द्वारा प्रतिपन्न अर्थ आकांक्षा—योग्यता और सन्निधि के कारण परस्पर संसृष्ट हुआ करते हैं—**'तस्मात् स एव (अभिहिताना-**

(अन्विताभिधानवाद और वाच्यार्थरूप वाक्यार्थ)

वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ।

मर्थानामन्वय एव) श्रेयान्-पदेभ्यः प्रतिपन्नास्तावदर्थाः आकाङ्क्षासन्निधियोग्यत्ववशेन परस्परमभिसम्बध्यन्ते यो येनाकाङ्क्षितो यश्च सन्निहितो यश्च सम्बन्धुं योग्यः स तेन सम्बध्यते नाऽतोऽपरः''तदुक्तम्—पदानि हि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराण्यथेदानी-मर्था अवगता वाक्यार्थं सम्पादयन्ति' (न्यायमञ्जरी पृष्ठ ३६५) ।

अनुवाद—किन्तु दूसरे वाक्यविद् (गुरुमतानुयायी मीमांसक) लोग जिन्हें 'अन्विताभिधानवादी' कहा जाया करता है इस (उपर्युक्त) 'तात्पर्यार्थ' को 'वाक्यार्थ' नहीं माना करते । उनका वाक्यार्थ सम्बन्धी जो सिद्धान्त है, जिसे 'अन्विताभिधानवाद' कहा जाया करता है, वह यह है—

जिसे 'वाक्यार्थ' वाक्य का अर्थ-कहा जाया करता है वह वस्तुतः अभिधावृत्ति-विषय-भूत ही अर्थ है क्योंकि आकाङ्क्षादिवशात् स्वयं परस्परानुषक्त-स्वतः परस्पर संसृष्ट पदार्थ ही तो वाक्यार्थ है । जब कि पदवृत्तिविषयभूत अर्थ स्वभावतः परस्परानुषक्तरूप अर्थ है, तब संसर्ग-बोध में भी तो 'अभिधा' ही समर्थ है । पदार्थ से पदार्थ-संसर्ग को पृथक् करना और असंसृष्ट पदार्थ को अभिधावृत्तिविषय और संसर्ग को-अन्वय को-तात्पर्यवृत्तिविषय मानना एक अनावश्यक कल्पना है और कुछ नहीं ।

टिप्पणी—(क) यहां आचार्य मम्मट ने प्रभाकरमतानुयायी मीमांसकों के जिस वाक्यार्थ-विषयक सिद्धान्त का सूक्ष्म संकेत किया है वह है 'अन्विताभिधानवाद' । इस 'अन्विताभिधानवाद' का अभिप्राय यह है कि—परस्पर अन्वित ही पदार्थ पदों द्वारा अभिहित हुआ करते हैं और इसीलिये पदों को वाक्यरूपमें प्रयुक्त किया जा सकता है । हमारा वाग् व्यवहार पृथक् पृथक् पदों से नहीं अपितु वाक्य से ही सम्भव है । इसीलिये यही मानता पड़ता है कि—

'अर्थप्रकरणप्राप्तपदार्थान्तरवेदने । पदं प्रयुज्यते यत्तद्वाक्यमेवोदितं भवेत् ॥
वक्ता वाक्यं प्रयुङ्क्ते च संसृष्टार्थविवक्षया । तथैव बुध्यते श्रोता तथैव च तटस्थितः ॥'

जैसा कि न्यायमञ्जरीकार का कहना है । जिसे वाक्य कहते हैं वह तो स्वभावतः एकार्थक-संसृष्टा-र्थक-पदसमूह का ही नाम है । इससे क्या सिद्ध होता है ? यही कि कोई भी पदार्थ शुद्ध पदार्थ नहीं अपितु उपरक्त पदार्थ है अर्थात् जब कि वाक्य में ही पदार्थ की प्रतीति हुआ करती है तब तो एक पद का अर्थ दूसरे पद के अर्थ से उपरक्त-संवलितरूप ही अर्थ हो सकता है, शुद्ध रूप कैसे ? एक पद का तो कोई प्रयोग करता नहीं । यदि कोई एक ही पद का प्रयोग करे तो उसका प्रयोजन भी तो कुछ नहीं हुआ करता ? प्रयोग तो वाक्य का ही हुआ करता है, इसलिये वाक्यान्तर्गत पद भी परस्पर अन्वित-परस्पर सम्बद्ध-अर्थ का ही अभिधान कर सकते हैं । पदों का अर्थ एक दूसरे से सर्वथा असंपृक्त अर्थ तो कभी भी नहीं हो सकता । अन्ततोगत्वा यही मानना आवश्यक है—

'व्यतिषक्तार्थबुद्धया हि व्यतिषङ्गोऽवगम्यते । अपरं तु न संसर्गप्रतीतेरस्ति कारणम् ।
न खल्वानय गां शुक्लां संसर्ग इति कथ्यते । व्यवहारे क्वचिद्वृद्धैः पदं संसर्गवाचकम् ॥'

जिससे 'तात्पर्यवृत्ति' की कल्पना निरर्थक सिद्ध हो जाती है ।

(ख) आचार्य मम्मट ने उल्लेख तो प्रसक्तानुप्रसक्त्या दोनों वाक्यार्थ निषयक मीमांसक-मतों का किया है किन्तु उनका झुकाव 'अभिहितान्वयवाद' की ओर अधिक है—'अन्विताभिधानवाद' अभिधा के अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति को नहीं स्वीकार करता । व्यञ्जनावादी आचार्यों के लिये 'अभिधा' के अतिरिक्त 'तात्पर्यवृत्ति' की मान्यता स्वीकार्य है और इस सम्बन्ध में मम्मट का मत वस्तुतः न्यायमञ्जरीकार की इस उक्ति का अनुसरण करता प्रतीत होता है—

'अभिधात्री मताशक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता । तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधिः ॥
तेनान्विताभिधानं हि नास्माभिरिह मृष्यते । अन्वितप्रतिपत्तिस्तु बाढमभ्युपगम्यते ॥'

(न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ३७२)

(काव्यार्थ प्रतीति और उपर्युक्त त्रिविध शब्दों और त्रिविध अर्थों की व्यञ्जकता)

(८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ॥

(वाच्यरूप अर्थ से व्यङ्ग्यरूप काव्यार्थ की प्रतीति । वाच्यार्थ भी काव्य में व्यञ्जक)

तत्र वाच्यस्य यथा—

माए घरोवअरणं अज्ज हुणत्थि तिसाहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं एमेअणबासरो ठाइ ॥ ६ ॥

(मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ॥ ६ ॥)

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते ।

(लक्ष्यरूप अर्थ से व्यङ्ग्यरूप अर्थ की प्रतीति । लक्ष्यार्थ भी काव्य में व्यञ्जक)

लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे[खणे दुम्मिआसि मज्झकए ।
सम्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुम ए ॥ ७ ॥

(साधयन्ती सखि ? सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया ॥ ७ ॥)

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यं तेन च कामुकविषयं सापरात्ववप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् ।

ध्वनिवादी आचार्य 'तात्पर्यवृत्ति' से जो अभिप्राय लेते हैं वह लोचनकार की इस उक्ति अर्थात्—
'तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः' (ध्वन्यालोक लोचन पृष्ठ ६२) में स्पष्ट है । महामीमांसक कुमारिलभट्ट के तन्त्रवार्तिक (१।३।३०) का यही अभिप्राय है जैसा कि इस श्लोक में जयन्त भट्ट ने प्रतिपादित किया है—

'पदात्प्रभृति या चैषा प्रज्ञा ज्ञातुर्विजृम्भते । पुष्पिता सा पदार्थेषु वाक्यार्थेषु फलिष्यति ॥'
(न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ३७२)

अनुवाद—**(काव्य-गत शब्द की व्यञ्जकता तो व्यञ्जक रूप शब्द की मान्यता से सिद्ध ही है और अभी-अभी बतायी जा चुकी है किन्तु) अभी-अभी जिन तीन अर्थ-प्रकारों का निर्देश किया गया है वे भी यथास्थान किंवा यथासम्भव अपने से भिन्न, किसी अन्य चमत्कारपूर्ण अर्थ के प्रत्यायन के साधन हुआ करते हैं (और उनका ऐसा होना काव्य का एक अपना सौन्दर्य और शास्त्रादि से एक अपना वैलक्षण्य ही है) ।**

वाच्यरूप अर्थ की व्यञ्जकता:—अरी मां ! तुम्हीं ने तो कहा था कि आज घर में कोई सामान नहीं है, तो तू ही बता क्या करूँ, घर का काम तो सब हो ही चुका है। जल्दी बता नहीं तो दिन ढलता जा रहा है !' यहां यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाच्यरूप अर्थ एक व्यङ्ग्यरूप अर्थ का (वक्तृवैशिष्ट्यरूप निमित्त से) अभिव्यञ्जन कर रहा है और वह व्यङ्ग्यरूप अर्थ है यहां यह सब कहने वाली नायिका का स्वैर विहार के लिये—उपपति समागम के लिये—उत्कण्ठित होने का अर्थ।

टिप्पणी—यहाँ जिस 'प्रियाभिसाररूप' अर्थ को अभिव्यङ्ग्यरूप से निर्दिष्ट किया गया है वह अर्थ यहाँ के वाक्यार्थ की प्रतीति के उपरान्त प्रतीत होता है न कि पहले अथवा साथ-साथ। यहाँ जो व्यञ्जन व्यापार है वह साक्षात् वाच्यरूप अर्थ का व्यापार है। इसे शब्द का व्यापार यहाँ इसलिये नहीं कहा जा सकता कि शब्द तो वाच्यार्थ-प्रत्यायन के बाद विरत-व्यापार हो रहा है । यह एक और बात है कि शब्द यहाँ के व्यञ्जकरूप वाच्यार्थ का सहायक अवश्य है ।

अनुवाद—**लक्ष्यरूप अर्थ की व्यञ्जकता यहां देखी जा सकती है—**

'अरी सखी ! मेरे लिये उस सुन्दर युवा को मनाते-मनाते तू भी क्षण-क्षण में कितनी

एक व्यङ्ग्यरूप अर्थ से दूसरे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति-व्यङ्ग्यार्थ भी यथासम्भव काव्य में व्यञ्जक)

व्यङ्ग्यस्य यथा—

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ सङ्खसुत्तिव्व ॥ ८ ॥

(पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥ ८ ॥)

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वं तेन च जनरहितत्वम्, अतः सङ्केतस्थानमेतदिति कयाचित्कञ्चित्प्रत्युच्यते। अथवा मिथ्या वदसि, न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ॥

विह्वल हो उठती हो? अरी तू ने मेरे साथ जैसे सद्भाव, जैसे स्नेह और जैसी कर्तव्यनिष्ठा को निवाहा भला और कोई किसी के साथ क्या निवाहेगा?'

जहां, अपनी सखी को, अपने प्रियतम से फँसी जानने वाली नायिका की यह उक्ति, मुख्यार्थ में स्पष्टरूप से बाधित प्रतीत हो रही है और वैपरीत्यरूप सम्बन्ध से इसी लक्ष्यार्थ को दे रही है कि 'अरी दुष्टे! तू तो मेरे प्रियतम से ही फँस बैठी, तुझ सरीखी मेरी बुराई करने वाली भला और कोई कहां!' किन्तु यह लक्ष्यार्थ अपने आप में विश्रान्त नहीं, यह अन्ततोगत्वा एक व्यङ्ग्यरूप अर्थ का प्रत्यायक बन रहा है और जिस व्यङ्ग्यरूप अर्थ का प्रत्यायक बन रहा है वह है—यहां नायिका का अपने प्रेमी को, उसकी प्रेम-शठता के लिये कोसना।

टिप्पणी—उपर्युक्त सूक्ति में 'लक्ष्यार्थ'-'आपातरम्य अर्थ' के बाद एक 'व्यङ्ग्यार्थ' प्रतीत हो रहा है जो कि 'पर्यन्तरमणीय' अर्थ है। इस चमत्कारपूर्ण व्यङ्ग्यरूप अर्थ के प्रत्यायन का निमित्त यह लक्ष्यार्थ ही है और कुछ नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ लक्ष्यार्थ व्यङ्ग्योन्मुख रहा करे वहाँ उसे 'व्यञ्जक' भी मानना पड़ेगा क्योंकि अन्यत्र तो ऐसा भी लक्ष्यार्थ हुआ करता है जो व्यञ्जकता-शून्य रहा करता है। इसीलिये तो ध्वनि-दार्शनिक आचार्य आनन्दवर्धन का यह कहना है—**'गुणवृत्तिर्हि व्यञ्जकत्वशून्यापि दृश्यते। व्यञ्जकत्वं च यथोक्तचारुत्वहेतुं व्यङ्ग्यं विना न व्यवतिष्ठते'**—(ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत पृष्ठ ४३३),

अनुवाद—**एक व्यङ्ग्यरूप अर्थ भी (काव्य में अपने से अधिक सुन्दर) किसी दूसरे व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक बन जाया करता है जैसे कि यहां (अर्थात् गाथासप्तशती की इस सूक्ति में)—**

'अरे प्रियतम! देखो तो कैसा सुन्दर दृश्य है—कमलिनी के पत्ते पर बैठी वह बलाका (एक चिड़िया) इतनी शान्त और इतनी निश्चिन्त लग रही है मानो किसी साफ नीलम की थाली में कोई शङ्ख की शुक्ति (चन्दन आदि रखने की सितुही) रक्खी दीख रही हो।'

जहां यह व्यङ्ग्यार्थ कि 'यही स्थान प्रेम मिलन का स्थान है', जैसा कि यहां नायिका अपने प्रेमी को बताना चाहती है, अन्तिम-पर्यन्तरमणीय व्यङ्ग्यार्थ है जिसकी अपेक्षा 'निर्जनता' का व्यङ्ग्यार्थ जो कि 'निष्पन्द' पद से व्यङ्ग्य 'निर्भयता' के अभिप्राय से अभिव्यक्त हो रहा है, वस्तुतः व्यञ्जकरूप से ही पड़ा प्रतीत हो रहा है। यहां यदि व्यङ्ग्य अर्थ का यह स्वरूप माना जाय, जिसमें कोई आपत्ति नहीं, कि 'तुम झूठ बोल रहे हो यहां मिलने का वादा करके भी तुम यहां न आये' क्योंकि सम्भव है यहां नायिका अपने प्रेमी को उलाहना दे रही हो, तब भी यह तो निश्चित ही है कि 'निष्पन्द' के 'निर्भयता' रूप व्यङ्ग्यार्थ से अभिव्यङ्ग्य 'निर्जनता' रूप व्यङ्ग्यार्थ इसके भी अभिव्यञ्जकरूप से ही उपस्थित है।

('वाचक' शब्द-स्वरूप विवेचन)

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

(६) साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥ ७ ॥

इहागृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात्सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

अनुवाद—अब शब्द के वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक माने जाने का जो रहस्य है उसका क्रमशः उद्घाटन किया जा रहा है।

किसी शब्द को 'वाचक' कहने का यही अभिप्राय है कि वह शब्द एक ऐसे अर्थ का बोधक है जिसे साक्षात् संकेतित अर्थ कह सकते हैं अथवा यों कहिये कि वह शब्द ऐसे अर्थ का प्रतिपादक है जिस (अर्थ) का उस (शब्द) के साथ वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध बिना किसी कष्ट-कल्पना के पता चला करता है।

यहां (कारिका में) 'वाचक' शब्द को 'साक्षात् संकेतित अर्थ के प्रतिपादक' कहने का जो अभिप्राय है वह यह है—'संकेत' कहते हैं एक प्रकार की मान्यता को अर्थात् इस शब्द का यह अर्थ है, इस अर्थ का प्रतिपादक यह शब्द है'—इस रूप की एक संविदा को। जब तक हमें इस संकेत' का—इस मान्यता अथवा संविदा का-पता न हो, तब तक हमें किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ नहीं प्रतीत हो सकता (और जिसे वाग् व्यवहार अथवा भाषा-प्रयोग कहते हैं वह एक कोलाहल-मात्र रह जायगा।) हम शब्द का प्रयोग करते हैं और इसीलिये किया करते हैं कि जिसमें हमारा अभिप्राय-विशेष समझा-समझाया जा सके। किसी शब्द से किसी अर्थ-विशेष की प्रतीति तभी संभव है जब उस शब्द का उसके अर्थ के साथ वाच्यवाचकभावरूप सङ्केत जान लिया गया हो। यह 'संकेत' साक्षात् संकेत भी हो सकता है और असाक्षात् भी। अब वह शब्द जिसे 'वाचक' शब्द कहा जाता है इसीलिये ऐसा कहा जाता है क्योंकि उसका उसके अर्थ के साथ ऐसा संकेत रहा करता है जिसे 'साक्षात्' अथवा 'अव्यवहित संकेत' के रूप में जाना जाया करता है।

टिप्पणी—(क) शब्द श्रवण से अर्थ-सम्प्रत्यय के होने का विचार एक दार्शनिक विचार है। आचार्य मम्मट ने काव्य-रसिकों के लिये इस दार्शनिक विचार की अभिज्ञता आवश्यक मानी है क्योंकि विना इस दार्शनिक-विचार-परिचय के कवि-कला और उसकी कृति की विशेषता-क्योंकि काव्य तो शब्दार्थ युगल है—ठीक ठीक नहीं पहचानी जा सकती। शाब्दबोध अथवा वाक्यार्थज्ञान को यदि फल माना जाय क्योंकि शाब्द व्यवहार का और क्या प्रयोजन ! तब 'पदज्ञान' को उसका असाधारण कारण, 'पदार्थज्ञान' को पदज्ञान रूप असाधारण कारण का व्यापार और 'शक्ति-ग्रह' को सहकारिकारण मानना ही पड़ेगा। 'शक्ति' का अभिप्राय है ईश्वरेच्छारूप संकेत का (प्राचीन न्यायमत में) और संकेत मात्र का (नव्यन्यायमत में)। पद का पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध है वही शक्ति है। इस 'शक्ति' को 'संकेत' इसलिये कहा जाता है कि इसका अभिप्राय यही है कि अमुक पद का अमुक अर्थ है और ऐसा इसलिये है कि सृष्टिकर्ता की यही इच्छा है अथवा मनुष्य समाज की भाषा-सम्बन्धी यही संविदा या मान्यता है। यह इच्छा अथवा संकेतरूप वृत्ति या तो इस रूप की है कि 'यह पद इस अर्थ का बोधक है' या इस रूप की, कि इस पद से यह अर्थ समझा जाय' या इस रूप की भी कि 'इस पद से ऐसा अर्थ-बोध हो'। निष्कर्ष यह रहा कि यह संकेत शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध का अभिप्राय रखता है। वैशेषिक दर्शन (७. २. २०) का यह सूत्र—**सामयिकः शब्दादर्थसम्प्रत्ययः**' इसी बात को प्रमाणित करता है कि किसी शब्द से उसकी जो अर्थ-प्रतीति है वह 'सामयिक' है, सांकेतित है। न्यायदर्शन का यह सूत्र'(२. १. ५५)—**'न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य'** भी इसी बात को पुष्ट करता है कि शब्द से अर्थज्ञान **'समय'** अथवा 'संकेत' के ही अधीन है। न्यायमञ्जरीकार

(संकेतित अर्थ व्याकरण-दर्शन में चतुर्विधः मीमांसा दर्शन में एकविध)

(१०) सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

जयन्तभट्ट का इसीलिये यह कहना है—**'कोऽयं समयो नाम ? अभिधानाभिधेयनियमनियोगः समयः उच्यते'** (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २२१) अर्थात् जिसे 'समय' अथवा 'संकेत' कहते हैं वह वाच्य-वाचक-भावरूप एक नियम है जिसका किसी शब्द और उसके अर्थ में घटित होना वाग्व्यवहार का सिद्धान्त है।

(ख) आधुनिक काव्यालोचनाविद् भी जो शब्द को एक प्रकार का प्रतीक (Symbol) मानते हैं, यही माना करते हैं कि किसी शब्द से उसके अर्थ का संप्रत्यय 'संकेतज्ञान' पर ही निर्भर है—

'Symbols can serve as intelligible records for the solitary individual only if he remembers the meanings which he has assigned to the symbols he had used; and they can be vehicles for inter-personal communication only if communicator and communicant can agree, by special arrangement or by a participation in a common heritage, on the meanings of the symbols to be employed, (Greene: the Arts and the Art of criticism.)

अनुवाद—**'वाचक' रूप शब्द जिस 'संकेतित' अर्थ का अभिधायक हुआ करता है वह 'संकेतित अर्थ' चार प्रकार का है (जैसा कि वैयाकरण मत है)—१. जातिरूप अर्थ, २. गुणरूप अर्थ, ३. क्रियारूप अर्थ और ४. यदृच्छा (संज्ञा) रूप अर्थ अथवा एक ही प्रकार का कहा जा सकता है (जैसा कि मीमांसक मत है) अर्थात् केवल जातिरूप अर्थ।**

टिप्पणी—(क) पद-वैज्ञानिक वैयाकरणों ने पदात्मक शब्द को चतुर्विध माना है—जाति-शब्द, गुणशब्द, द्रव्यशब्द और क्रियाशब्द। (१) जातिशब्द—इन चतुर्विध वाचक शब्दों में 'जाति' शब्द से अभिप्राय उन शब्दों से है जो व्यक्तियों में अनुगत सामान्य के अभिधायक हुआ करते हैं। श्लोकवार्तिककार भट्टकुमारिल का इसीलिये कहना है—

'जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यथा। सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम्॥

जिसका अभिप्राय यही है कि 'गौ' शब्द किसी एक 'गोव्यक्ति' का वाचक नहीं अपितु 'गोत्व' जाति का वाचक है और यह 'गोत्व' है संसार भर में गोव्यक्ति-सामस्त्य में अनुगत सास्नादिरूप अन्य प्राणिविलक्षण एक सन्निवेश विशेष। जिस प्रकार शुक्लादिगुण अथवा चलनादि क्रिया से असम्बद्ध 'गौ' की प्रतीति असम्भव है उसी प्रकार 'गोत्व' रूप जाति से भी असम्बद्ध 'गौ' की प्रतीति असम्भव ही है। इसीलिये कहा भी गया है—

'जायमानैव हि व्यक्तिर्जायते प्रतियोगिनी। एक एव हि कालोऽस्या जातेः सम्बन्धजन्मनोः॥'
यथा रूपाद्यसम्बद्धा न व्यक्तिरुपलभ्यते। तथैव जात्ययुक्तेति·············॥

(२) गुणशब्द—गुणवाचक शब्द वे हैं जिनके संकेतित अर्थ 'गुण' रूप अर्थ हुआ करते हैं—

'गुणैकनियतास्तावद्गन्धरूपरसादयः। गन्धत्वादिव्यवच्छिन्नगन्धादिगुणवाचिनः॥
तेषां न द्रव्यपर्यन्ता वृत्तिः क्वचन दृश्यते। न गन्धः पद्म इत्यस्ति सामानाधिकरण्यधीः॥'

तात्पर्य यह है कि यदि 'गुण' और 'द्रव्य' एक रूप होते तब तो 'कमल' और 'सौरभ' शब्द पर्यायवाचक ही होते। किन्तु ऐसा कहाँ कि 'कमल' और 'सौरभ' समानार्थक हों ? 'कमल' पद यदि जातिवाचक पद है, तो 'सौरभ' पद गुणवाचक पद है। जातिवाचक पदों से गुणवाचक पदों का वैलक्षण्य तो प्रत्यक्ष सिद्ध है।

(३) द्रव्य शब्द—'द्रव्य' शब्द से अभिप्राय 'व्यक्ति' वाचक शब्दों से है जिन्हें 'यदृच्छा' शब्द भी कहा जाता है—

'एवं डित्थादिशब्दानां संज्ञात्वविदितात्मनाम्। अभिधेयस्य सामान्यशून्यत्वाद् व्यक्तिवाचिता॥

(व्याकरण-दर्शन-सम्मत चतुर्विध सङ्केतित अर्थ-एक विश्लेषण)

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाऽप्यानन्त्याद्व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव सङ्केतः।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः-सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः-पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधान-

---

(४) क्रिया शब्द—क्रिया शब्द के दो प्रकार हैं—पहला धातुरूप निबन्धन और दूसरा घञादि निबन्धन—

'साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना। सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादि निबन्धनः॥'

(ख) मीमांसकों की दृष्टि में सभी पद 'जाति' मात्र के ही अभिधायक हैं जैसा कि श्लोकवार्तिककार कुमारिलभट्ट की इस सूक्ति का स्पष्ट सङ्केत है—

'न च तत्तादृशं किञ्चिच्छब्दः शक्नोति भाषितुम्। सामान्यांशानपोद्धृत्य पदं सर्वं प्रवर्त्तते॥'

जिसका अभिप्राय यही है कि वाचक पद के लिये सामान्यरूप-अंश-निष्ठ होना आवश्यक है क्योंकि शब्द का अर्थ तो 'जाति' है न कि व्यक्ति आदि।

अनुवाद—वसे तो शब्दों का सङ्केतित अर्थ 'व्यक्ति' रूप ही अर्थ होना चाहिये, क्योंकि हमारा जीवन-व्यवहार 'व्यक्ति' रूप अर्थ से ही सम्बन्ध रखता है और हमारी प्रवृत्ति अथवा हमारी निवृत्ति का विषय भी 'व्यक्ति' रूप ही अर्थ है, किन्तु किसी शब्द और उसके 'व्यक्ति' रूप अर्थ में वाच्य-वाचक-भाव रूप संकेत मानने में तीन प्रकार की अड़चनें हैं—प्रथम वह, जिसे 'आनन्त्य' दोष कहते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि संसार की वस्तु-व्यक्तियां जैसे कि गोव्यक्तियाँ ही जब कि इतनी अनन्त हैं, इतनी अगणित हैं कि एक समय उनका आकलन असम्भव है तब यह कैसे सम्भव है कि एक ही 'गो' शब्द अनन्त 'गो' रूप वस्तु-व्यक्तियों का वाचक हो जाय? दूसरी वह, जिसे 'व्यभिचार' रूप दोष कहते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि जब कि एक 'गोव्यक्ति' को 'गो' शब्द का संकेतित अर्थ मान लिया जाय तब दूसरी अथवा तीसरी और इसी प्रकार अन्य समस्त 'गो' व्यक्तिओं के लिये उसी 'गो' शब्द का क्योंकर प्रयोग किया जा सके? और तीसरी वह, जिसे 'पदार्थ-विभाग-व्यवस्था का भञ्जनरूप' दोष कह सकते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि जब कि शब्द का संकेतित अर्थ केवल 'व्यक्ति'रूप ही अर्थ हुआ करे, तब भाषा-शास्त्र और शब्दानुशासनशास्त्र की यह मान्यता कि वाग्व्यवहारोपयुक्त शब्दों की चार श्रेणियां हैं जिन्हें जातिवाचक जैसे कि 'गौः', गुणवाचक, जैसे कि शुक्लः, क्रियावाचक, जैसे कि 'चलः' और संज्ञा (यदृच्छा) वाचक जैसे कि 'डित्थः' कहा करते हैं, क्योंकर न निरर्थक हो जाय। (क्योंकि जब कि 'गौः', 'शुक्लः', 'चलः' और 'डित्थः' इन चारों प्रकार के शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त केवल 'गो' व्यक्ति ही हो तब ये सभी के सभी शब्द 'घटः कलशः' की ही भांति पर्यायवाचक न हो जाँय तो और क्या हो जाँय।) अब इन अड़चनों से छुटकारा पाने के लिये यही उपाय है कि शब्दों का संकेतित अर्थ 'व्यक्ति' रूप अर्थ न मानकर व्यक्ति की चतुर्विध उपाधि-चतुर्विध व्यवच्छेदकरूप व्यक्तिधर्म ही (जो जाति-गुण-क्रिया और संज्ञारूप कहा जाता है) माना जाय।

शब्दों के संकेतित अर्थ को 'व्यक्ति' के 'उपाधि' रूप-'धर्म' रूप मानने का अभिप्राय यह है—सर्वप्रथम 'उपाधि' को दो भेदों में विभक्त किया जाय १—'वस्तुधर्म' रूप उपाधि-अर्थात् वस्तु में-व्यक्ति में, समवेत-अयुत सिद्ध-अपृथक् सिद्ध जातिरूप-गुणरूप और क्रियारूप धर्म और २—'वक्तृयदृच्छासंनिवेशित' रूप उपाधि अर्थात् वाग्व्यवहार करने वाले लोगों की इच्छा-मात्र से उन २ व्यक्तिओं में आरोपित डित्थ-डवित्थ-चैत्र-मैत्र आदि 'संज्ञा' रूप व्यवच्छेदक धर्म। इन दोनों उपाधिओं में प्रथम जो 'वस्तुधर्म' रूप

हेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये 'न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति'। द्वितीयो गुणः शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः।

डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यते इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति।

उपाधि है उसके भी दो भेद किये जांय १—'सिद्ध' रूप वस्तुधर्म अर्थात् वह वस्तुधर्म जो वस्तु का जन्मजात धर्म है और २—'साध्य' रूप वस्तुधर्म अर्थात् वह वस्तुधर्म जो आगन्तुक धर्म है। इस १ ले अर्थात् 'सिद्ध' रूप वस्तुधर्म के भी दो प्रकार स्पष्ट हैं, एक तो वह, जिसे 'पदार्थ' का—पद के अर्थ का (जैसे कि 'गो' पद के 'गो' रूप अर्थ का) 'प्राण-प्रद' प्राणदाता कहा करते हैं, क्योंकि इसी पर तो पद का प्रयोग निर्भर है और दूसरा वह, जिसे 'पदार्थ' का-पद के अर्थ का (जैसे कि-'गो' पद के ही 'गो' रूप अर्थ का) 'विशेषाधानहेतु' सजातीयव्यावर्तक कहा करते हैं क्योंकि तभी तो एक जातीय व्यक्तिओं के अवान्तर भेदों का आकलन सम्भव है। अब यह पहला जो सिद्धरूप, पदार्थ-प्राणप्रद, वस्तुधर्म है वही वह 'धर्म' है जिसे 'जाति' कहा करते हैं। वस्तुतः इसीलिये तो (भगवान् भर्तृहरि का) वाक्यपदीय में यह उल्लेख है कि-'गो' पद से जिस धर्मीरूप गो-वस्तु का बोध अभिप्रेत है वह वस्तु अपने केवल 'व्यक्ति' रूप में-धर्मीरूप में 'गो' पद का वाच्य नहीं और न ऐसी ही है कि 'गो' पद-वाच्य न कही जाय, वह तो इसीलिये 'गो' पद-वाच्य है क्योंकि उसमें 'गोत्व' रूप उसका प्राण प्रतिष्ठित है। दूसरा जो सिद्धरूप, पदार्थ-विशेषाधायक वस्तु धर्म है वही 'गुण' कहा जाता है जैसे कि 'शुक्ल' आदि गुण, क्योंकि इसी के द्वारा ऐसा सम्भव है कि जातिरूप धर्म-समवेत व्यक्ति को जैसे कि गोत्व समवेत शुक्ल गो व्यक्ति को ही सजातीय विविधगुणयुक्त व्यक्तिओं से जैसे कि नील-कृष्ण आदि गो व्यक्तिओं से ही व्यावृत्त-पृथक् समझा-समझाया जा सके।

अब रहा साध्यरूप वस्तुधर्म। यह साध्यरूप वस्तु धर्म है 'क्रिया' रूप वस्तुधर्म, जिसे इसलिये 'साध्य' कहा करते हैं कि यह 'उत्पाद्य' है, क्योंकि जो भी 'क्रिया' है, जैसे कि पाक क्रिया ही, वह क्रमशः होने वाले-पहले हो चुके और पीछे होने वाले जैसे कि अधिश्रयण (चूल्हे पर अन्न डाले पात्र के चढ़ाने) से लेकर अवश्रयण (सिद्ध अन्न के पात्र के उतारने) तक के नाना प्रकार के व्यापारों का एक समूह है।

वह वस्तुधर्म जिसे 'वक्तृयदृच्छासंनिवेशित' कहा जाया करता है वस्तुतः वह धर्म है जिसे 'संज्ञा' कहते हैं। यह यदृच्छात्मक-इसलिये हुआ करता है कि यह तो वाग्व्यवहार करने वालों के द्वारा उनकी इच्छा से ही उन २ व्यक्तियों में आरोपित किया गया एक धर्म है।

उदाहरण के लिये 'डित्थ' आदि शब्द, जिनका स्वरूप है 'ड्', 'इ', 'त्', 'थ्' और 'अ' आदि क्षणिक वर्ण-ध्वनिओं से अभिव्यक्त किन्तु वर्णक्रम-शून्य नित्य स्फोटरूप 'डित्थ' आदि शब्द, जिन्हें अन्तिम वर्ण के अनुभव में हम इसलिये अनुभव किया करते हैं कि पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभवों के संस्कारों का उद्बोधन हमारा सहायक हुआ करता है किन्तु जिन्हें हम 'डित्थ' आदि अर्थों में आरोपित कर लिया करते हैं।

वस्तुतः शब्दों के उपर्युक्त अर्थ—चतुष्टय का ही ध्यान रखते महाभाष्यकार (भगवान् पतञ्जलि) ने ('ऋलृ क्' सूत्र के भाष्य में) यह कहा था—वाग्व्यवहार में, भाषा में शब्दों का जो प्रयोग किया जाया करता है वह यही जानकर किया जाया करता है कि शब्दों का अर्थ चार प्रकार का हुआ करता है अर्थात् जातिरूप अर्थ (गौः), गुणरूप अर्थ (शुक्लः), क्रियारूप अर्थ (चलः) और संज्ञा (द्रव्य) रूप अर्थ (डित्थः)।

यहां यह आशङ्का कि जब उपर्युक्त पदार्थ-विभाग व्यवस्था के अनुसार 'परमाणु' आदि शब्द भी 'परमाणुत्व' आदि रूप जाति के ही वाचक शब्द हैं तब वैशेषिक दर्शन में इन्हें

गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः। परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्। गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्।

(मीमांसा दर्शन–सम्मत 'जाति' रूप एकविध सङ्केतित अर्थ–एक विश्लेषण)

हिमपयःशङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यं, गुडतण्डुलादिपाका-

---

गुणरूप शब्द क्योंकर माना गया ? कोई ऐसी आशङ्का नहीं, जिससे शब्दों की 'चतुष्टयी प्रवृत्ति' के सिद्धान्त को धक्का लगे क्योंकि यहां वस्तुतः बात यह है कि भाषा की दृष्टि से तो 'परमाणु' आदि शब्द जाति–वाचक ही शब्द हैं जिन्हें वैशेषिक दर्शन इसलिये गुणवाचक कहा करता है क्योंकि उसके लिये ये शब्द पारिभाषिक शब्द हैं।

गुणरूप अथवा क्रियारूप अथवा संज्ञारूप वस्तु धर्मों के सम्बन्ध में ऐसी आशङ्का उठ सकती है कि जब कि उन उन वस्तु–व्यक्तियों में इनका वैविध्य ही स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है (जैसे कि शङ्ख का शुक्ल गुण वही नहीं जो दूध का है अथवा दूध का शुक्ल गुण वही नहीं जो कपड़े का है आदि) तब यह कैसे सम्भव है कि इन्हें शब्दों का सङ्केतित अर्थ माना जाय और जब ऐसा माना जाय तब 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' रूप वे ही दोष जो कि 'व्यक्ति' रूप अर्थ को संङ्केतित अर्थ मानने में उठ खड़े होते हैं, यहां न उठ खड़े हों। किन्तु इसका समाधान बहुत सीधा है क्योंकि यहाँ बात यह है कि शुक्ल आदि गुण अथवा पाक आदि क्रिया अथवा डित्थ आदि संज्ञा ऐसी वस्तु–व्यवच्छेदक उपाधियाँ नहीं जो वस्तु–व्यक्तियों की भांति अनन्तरूप हों। इनकी अनन्तरूपता केवल प्रतीत हुआ करती है, वस्तुतः है नहीं। इनकी अनन्तरूपता की प्रतीति का कारण है इनके आश्रयभूत द्रव्यों का आनन्त्य। जैसे हमारा मुख एक रूप ही है किन्तु खड्ग और दर्पण और तैल आदि रूप अनन्त प्रतिबिम्बन आधारों में अनन्तरूप का लग सकता है वैसे ही गुण अथवा क्रिया अथवा संज्ञारूप वस्तु धर्म भी एकरूप ही हैं जो कि उन उन आधारभूत नानारूप द्रव्यों के कारण नानारूप लगा करते हैं। (इन्हें सङ्केतित अर्थ मानने में तो व्यक्ति–पक्षगत 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोषों की कोई सम्भावना ही नहीं।)

शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त तो केवल 'जाति' है। गुण और क्रिया और संज्ञा वाचक शब्दों का भी अर्थ वस्तुतः जातिरूप ही अर्थ है। गुणवाचक 'शुक्ल' आदि शब्द इसलिये 'शुक्लत्व' रूप जातिवाचक शब्द हैं क्योंकि वस्तुतः परस्पर भिन्न हिमशुक्ल, दुग्धशुक्ल, शङ्खशुक्ल आदि शुक्ल–वस्तु–व्यक्तियों में अनुगत 'शुक्लत्व' रूप सामान्य (जाति) की ही यह महिमा है कि एक ही 'शुक्ल' शब्द सर्वत्र प्रयुक्त हुआ करता है और सर्वत्र एक ही शुक्लगुण का अनुभव भी हुआ करता है। इसी प्रकार क्रियावाचक 'पाक' आदि शब्द भी एक मात्र 'पाकत्व' रूप जाति के ही वाचक शब्द हैं क्योंकि तभी तो ऐसा सम्भव है कि परस्पर भिन्न भी गुडपाक और तण्डुलपाक और पायसपाक आदि पाकरूप वस्तु व्यक्तियों के लिये एक ही 'पाक' शब्द का व्यवहार किया जा सके और उसी एक 'पाक' शब्द से उन सबकी प्रतीति भी हो जाय। 'डित्थ' आदि संज्ञा शब्दों के सम्बन्ध में भी यही बात दिखायी देती है कि ये भी केवल 'डित्थत्व' आदि जाति के ही वाचक शब्द हैं क्योंकि तभी तो ऐसा सम्भव है कि बालक और वृद्ध और शुक–सारिका आदि पक्षियों की नानाविध बोलियों में और समय–समय पर भिन्न–भिन्न बोलियों में इनके भिन्न–भिन्न रूप के होने पर भी इन्हें 'डित्थ आदि एकविध शब्द के रूप में पहचान लिया जाय। यहाँ बात तो यह है कि जब कि डित्थ आदि रूप द्रव्यों में भी 'डित्थत्व' आदि रूप सामान्य ही प्रतीत

दिष्वेवमेव पाकत्वादि, बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये।

(शब्द का न्यायदर्शनाभिमत 'जातिविशिष्ट' रूप अर्थ और शब्द का बौद्धदर्शन-सम्मत 'अपोह'-'अतद्व्यावृत्ति' रूप अर्थ-दोनों का निर्देश मात्र)

तद्वान् अपोहो वाशब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात्प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम्।

हुआ करता है क्योंकि विना ऐसा हुये जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील उन उन वस्तुओं में क्योंकर 'डित्थ' आदि रूप से एकरूपता प्रतीत होने लगी! तब तो 'डित्थ' आदि संज्ञा-शब्दों में 'डित्थत्व' आदि रूप सामान्य निर्विवाद रूप से न सिद्ध हो तो और क्या हो।

टिप्पणी—वाग्व्यवहारनिर्वर्तक सभी शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त क्योंकर 'जाति' ही है जो कि मीमांसा का सिद्धान्त है, न्यायमञ्जरी की इन पङ्क्तियों में स्पष्ट है—

'व्यक्तौ च शब्दार्थे इयं वा गौरियं वा गौरिति प्रतिपत्तिः स्यान्नत्वियमपि गौरिति, भवति चैवं प्रतीतिः, न चायमविद्यमाननियन्तृक एव यदृच्छाशब्दप्रयोगः प्रवर्तत इति नियामकमस्य चिन्त्यम्, गोत्वमेव नियामकमिति चेदायुष्मन् साधु बुध्यसे किन्तु तद्गोत्वमवगतमनवगतं वेति वक्तुमर्हसि, नानवगतमतिप्रसङ्गात् अवगतं चेत् कुतस्तदवगच्छामः-शब्दादन्यतो वा? नान्यतः प्रमाणान्तराऽसन्निधानात्, शब्दाच्चेत्तर्हि शब्दः प्रथमतरं गोत्वे वर्तितुमर्हति, ना गृहीतविशेषणा विशिष्टे बुद्धिरिति न्यायात्। (न्यायमञ्जरी-पृष्ठ २९२)

जिसका अभिप्राय यही है कि शब्द केवल 'जाति' का ही वाचक है न कि व्यक्ति का। उदाहरण के लिये यदि 'गो' शब्द व्यक्ति का वाचक होता तो यह अनुभव तो अवश्य होता कि 'अमुक गौ है' अथवा 'अमुक गौ है' किन्तु यह अनुभव, जो कि एक सर्वजनसम्मत अनुभव है क्योंकर हो सकता कि 'अमुक भी गौ है'। यह अनुभव कि 'अमुक भी गौ है' तब तक नहीं हो सकता जब तक कि संसार की समस्त गोव्यक्तिओं में अनुस्यूत 'गोत्व' का अनुभव न हो पाता। 'गोत्व' का अनुभव अवश्य होता है और 'गो' शब्द से ही होता है और वस्तुतः गो शब्द से सर्वप्रथम जो प्रतीति होती है वह तो 'गोत्व' की ही प्रतीति है जिसके हुये बिना गोरूप वस्तु-व्यक्तियों की प्रतीति सम्भव नहीं।

अनुवाद—**शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में तो भिन्न-भिन्न दर्शनों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं जैसे कि न्यायदर्शन के अनुसार शब्द का अर्थ है—'तद्वान्'-'जातिविशिष्ट' रूप अर्थ अथवा बौद्ध-दर्शन के अनुसार शब्द का अर्थ है—'अपोह-अतद्व्यावृत्ति' रूप अर्थ (और इसी प्रकार अन्य दर्शनों के अनुसार अन्यविध अर्थ) किन्तु काव्य-दर्शन के लिये इनका परिज्ञान कोई विशेष उपयोग नहीं रखता। यहां इसीलिये इनका विश्लेषण नहीं किया जा रहा है और इस बात का भी तो डर है कि इनके विचार-विमर्श से कहीं इस ग्रन्थ (काव्यप्रकाश) का आकार-प्रकार न (आवश्यकता से अधिक) बड़ा हो जाय।**

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट ने यहाँ जिस शब्द-वाच्य 'तद्वान्' अथवा 'जातिविशिष्ट' रूप अर्थ विषयक सिद्धान्त का निर्देश किया है वह न्यायदर्शन का सिद्धान्त है। महानैयायिक जयन्त भट्ट ने इसका जो इन पङ्क्तिओं में प्रतिपादन किया है—

'अन्येषु तु प्रयोगेषु गां देहीत्येवमादिषु। तद्वतोऽर्थ क्रियायोगात्तस्यैवाहुः पदार्थताम्॥
पदं तद्वन्तमेवार्थमाञ्जस्येनाभिजल्पति। न च व्यवहिता बुद्धिर्न च भारस्य गौरवम्॥'

तस्मात्तद्वानेव पदार्थः, ननु कोऽयं तद्वान्नाम?···उच्यते, नेदन्तानिर्दिश्यमानशावलेयादिविशेषस्तद्वान्, न च सर्वस्त्रैलोक्यवर्ती व्यक्तिव्रातस्तद्वान् किन्तु सामान्याश्रयः कश्चिदनु-

(अभिधा वृत्ति-विचार)

(११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥ ८ ॥

स इति साक्षात्सङ्केतितः । अस्येति शब्दस्य ।

खिखितशावलेयादिविशेषस्तद्वानित्युच्यते, सामान्याश्रयत्वाच्च नानन्त्यव्यभिचारयोस्तत्राव-सरः । (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २९६)
उसीका सूक्ष्म सङ्केत काव्यप्रकाशकार के 'तद्वान् पदार्थः' इस कथन में किया जा रहा है।

(ख) बौद्धदर्शनकारों के अनुसार 'पदार्थ' का स्वरूप जाति अथवा व्यक्ति आदि कुछ नहीं अपितु, 'अपोह' रूप है—

'या च भूमिर्विकल्पानां स एव विषयो गिराम् । अत एव हि शब्दार्थमन्यापोहं प्रचक्षते ॥'

बाह्यानुमेयार्थवादी बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार 'अपोह' का अभिप्राय यह है जैसा कि जयन्तभट्ट ने बताया है—

'यद्यपि विधिरूपेण गौरश्च इति तेषां प्रवृत्तिस्तथापि नीतिविदोऽन्यापोहविषयानेव तान् व्यवस्थापयन्ति, यथोक्तं 'व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति न व्यवहर्त्तारः' इति, सोऽयं नान्तरो न बाह्योन्य एव कश्चिदारोपित आकारो व्यावृत्तिच्छायायोगादपोहशब्दार्थ उच्यते इतीयमसत्ख्यातिवादगर्भा सारणिः ।'

और विज्ञानवादी बौद्धाचार्यों के अनुसार यह (जयन्त भट्ट के ही शब्दों में)—

'अथवा विकल्पप्रतिकिम्बकं ज्ञानाकारमात्रकमेव तदबाह्यमपि विचित्रवासनाभेदो-पाहितरूपभेदं बाह्यवदवभासमानं लोकयात्रां बिभर्ति, व्यावृत्तिच्छायोगाच्च तदपोह इति व्यवह्रियते, सेयमात्मख्यातिगर्भा सारणिः ।'

'अपोहवादी बौद्धाचार्यों का यही मत है—

'तुल्येऽपि भेदे शमने ज्वरादेः काश्चिद् यथा वौषधयः समर्थाः ।
सामान्यशून्या अपि तद्वदेव स्युर्व्यक्तयः कार्यविशेषयुक्ताः ॥
विशेषणादिव्यवहारक्लृप्तिः तुच्छेऽप्यपोहे न न युज्यते नः ।
अतश्च माकारि भवद्भिरेषा जात्याकृतिव्यक्तिपदार्थचिन्ता ॥'

अनुवाद—**यह उपर्युक्त चतुर्विध सङ्केतित अर्थ ही वह अर्थ है जिसे (शब्द का) मुख्य अर्थ कहा करते हैं और इस चतुर्विध सङ्केतित अर्थ के अवबोधन में शब्द का जो व्यापार है वह व्यापार है 'अभिधा'-व्यापार अथवा अभिधा-शक्ति ।**

यहाँ (कारिका में) 'सः'-'वह' का अभिप्राय है 'साक्षात् सङ्केतित रूप अर्थ' का और 'अस्य-'इसके' का अभिप्राय है 'शब्द' का ।

टिप्पणी—(क) साक्षात् सङ्केतित अर्थ को 'मुख्य' अर्थ कहने का काश्मीरक श्री मुकुल भट्ट ने यह अभिप्राय बताया है—

'स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते । तस्मान्मुखमिव मुख्य इति शाखादियान्तेन मुखशब्देनाभिधीयते ।' (अभिधावृत्ति मातृका-१)
जिसका तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त चतुर्विध साक्षात् संकेतित अर्थ इसलिये 'मुख्य' अर्थ है कि यह अर्थ ऐसा है जिसे अन्य समस्त प्रतीत अर्थों का 'मुख' कहा जा सकता है अर्थात् इसीकी प्रतीति ऐसी है जो कि अन्य समस्त अर्थ-प्रकारों से पहले हुआ करती है। आचार्य मम्मट ने यहाँ वस्तुतः मुकुल भट्ट की मान्यता का ही अनुमोदन किया है।

(ख) पाश्चात्य काव्यालोचक भी शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त वस्तुतः जाति अथवा सामान्यरूप अर्थ को ही मानते हैं—

'A word whose only meating was a specific concrete image would be

(लाक्षणिक शब्द-स्वरूप-विवेचन, लक्षण-शक्ति-विचार)

(१२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रुढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ ९ ॥

कर्मणि कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् गङ्गायां घोष इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवाद् मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे रुढितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगाद् येषां न तथा

---

almost useless as a vehicle of communication. To attempt to rely exclusively on words of this type would be like trying to conduct a conversation by using nothing but proper names. Were the word 'dog' for instance, to signify merely a specific image or a particular dog, all discussion of dogs in general would be impossible. But, since, the words 'dog' 'brown' 'my' and 'is' all possess a core of conceptual meaning by virtue of which they refer to universal traits and relations, we can so combine these words as so describe with reasonable accuracy a particular fact such as that 'my dog is brown'. Thus universal reference is, in language, the basic condition of the applicability of words to specific instances. If words lacked these universal meanings all conceptual abstractions and all reasoning would also be impossible. The conceptual coure of meaning which common names possess is the linguistic basisistic of science, philosophy, history and related disciplines'.

(Greene. The Arts and the Art of Criticim)

अनुवाद—वस्तुतः वाचकरूप शब्द ही जब कि अपने मुख्य अर्थ की अविवक्षा अथवा अनुपपत्ति में अपने मुख्य अर्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ (लक्ष्यरूप अर्थ) का प्रतिपादन करने लगता है जिसमें या तो कोई रूढि अथवा प्रयोग-प्रवाह कारण हो या कारण हो प्रयोक्ता का कोई उद्देश्य विशेष, तब उसे ही लाक्षणिक शब्द कहा जाया करता है और इस शब्द की जो क्रिया अथवा वृत्ति है उसे कहा जाया करता है लक्षण, जो कि साक्षात् भले ही मुख्यार्थ की क्रिया अथवा वृत्ति हो किन्तु परम्परया तो शब्द की ही क्रिया अथवा वृत्ति कही जाया करती है और कही भी जानी चाहिये।

शब्द अपने मुख्य अर्थ के द्वारा अमुख्य अर्थ का जो प्रतिपादन करता है वह ऐसा प्रतिपादन है जो कि शब्द के एक आरोपित-काल्पनिक-व्यापार से सम्बद्ध है। इस व्यापार को शब्द का 'आरोपित' व्यापार इसलिये कहते हैं कि साक्षात् तो यह मुख्यार्थ का व्यापार है। क्योंकि यह तो अपने आप में अविवक्षित अथवा अनुपपन्न मुख्यार्थ ही है जो कि अपने से भिन्न किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध अमुख्यरूप अर्थ-लक्ष्य अर्थ-का बोधक हुआ करता है। शब्द के अमुख्यार्थ बोधक इस व्यापार को, जिसका नाम 'लक्षणा' है, वस्तुतः उसका एक व्यवहित—क्योंकि शब्द और उसके अमुख्यार्थ के बीच मुख्यार्थ का व्यवधान पड़ा है—व्यापार कहना ठीक है। ('अभिधा' तो शब्द का निरन्तरार्थनिष्ठ-अव्यवहित अर्थविषयक-व्यापार है और 'लक्षणा' है सान्तरार्थनिष्ठ-व्यवहित अर्थविषयक व्यापार।)

शब्द के लक्षणा-व्यापार का जो हेतु है वह है उसके मुख्य अर्थ की अविवक्षा अथवा अनुपपत्ति (मुख्यार्थ बाध) उसके अमुख्यअर्थ का उसके मुख्य अर्थ से किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध होना (मुख्यार्थ योग) और रूढि-प्रयोगप्रवाह अथवा प्रयोजन प्रतिपादन।

प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्यो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा ।

(लक्षणा–प्रकार–निरूपण–प्रथम प्रकार–'शुद्धा' लक्षणा—पहली उपादान लक्षणा और दूसरी लक्षण लक्षणा)

(१३) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥ १० ॥

उदाहरण के लिये—'कर्मणि कुशलः'—'अमुक व्यक्ति कार्य में कुशल है' इस प्रयोग में 'कुशल' शब्द । यहाँ यह स्पष्ट है कि 'कुशल' शब्द लाक्षणिक शब्द है क्योंकि इसका मुख्य अर्थ कुश–ग्राहकरूप अर्थ यहाँ स्पष्टतया बाधित अथवा अविवक्षित है, इससे निकलने वाले 'दक्ष' अथवा 'चतुर' रूप अमुख्य अर्थ और इससे कुश–ग्राहकरूप मुख्य अर्थ में 'विवेकशालिता' का साधर्म्यरूप सम्बन्ध भी प्रतीत हो रहा है और साथ ही साथ यह एक ऐसा प्रयोग है जो कि रूढ हो गया है—प्रयोग–प्रवाह में पड़ चुका है ।

अथवा, उदाहरण के लिये 'गङ्गायां घोषः' 'अहीरों का पुरवा गङ्गा पर है', इस प्रयोग में 'गङ्गा' शब्द । यहाँ 'गङ्गा' शब्द एक लाक्षणिक शब्द है क्योंकि इसका मुख्य अर्थ 'जलधारा' रूप अर्थ यहाँ इसलिये अनुपपन्न है क्योंकि 'जलधारा' भला 'घोष' (आभीर पल्ली–अहीरों की बस्ती) का आधार–अधिकरण क्योंकर होने लगे । इससे प्रतिपादित 'तट' रूप अमुख्य अर्थ और इसके जल–प्रवाहरूप मुख्य अर्थ में एक सम्बन्ध भी है जो कि सामीप्यरूप सम्बन्ध है और यहाँ एक प्रयोजन भी स्पष्ट है जो कि इस 'घोष' 'आभीरपल्ली' की शीतलता और पवित्रता के प्रत्यायन का प्रयोजन है और ऐसा प्रयोजन है जो 'गङ्गातटे घोषः' 'गङ्गा के तीर पर अहीरों की बस्ती' आदि में प्रयुक्त 'गङ्गातट' आदि शब्दों से कदापि सम्भव नहीं, (क्योंकि शीतलता और पवित्रता 'गाङ्गप्रवाह' में है न कि 'गङ्गा के तटदेश में') ।

टिप्पणी—'लक्षणावृत्ति' की मान्यता एक प्राचीन मान्यता है । मीमांसा–सूत्र–भाष्यकार आचार्य शवर स्वामी (ईसा की पहली शताब्दी) ने स्पष्ट कहा है—

'कथं पुनः परशब्दः परत्र वर्तते ? स्वार्थाभिधानेनेति ब्रूमः' अर्थात् ऐसा कैसे कि कोई शब्द अपने अर्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त किया जाय ? इस दृष्टि से कि वह अपने अर्थ के अभिधान के द्वारा किसी न किसी हेतु वश अपने अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है ।

आचार्य शवर–स्वामी का यह भी कथन है कि 'लक्षणा' इसलिये मान्य है क्योंकि लोक में जो वाग्–व्यवहार है उसी में यह अनुस्यूत है—'लक्षणाऽपि हि लौकिक्येव ।'

महामीमांसक कुमारिल भट्ट ने इसीलिये 'रूढि' और 'प्रयोजन' को लक्षणा का द्विविध हेतु माना है–'निरूढाः लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् । क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥'

अनुवाद—**'लक्षणा' का पहला जो प्रकार है वह है 'शुद्धा' लक्षणा का प्रकार जिसके द्विविध रूप स्पष्ट हैं—पहला शुद्धा उपादान लक्षणा रूप और दूसरा शुद्धा लक्षणलक्षणा रूप । यहाँ 'उपादान' का अभिप्राय है शब्द के मुख्य अर्थ का अपने आपको सङ्गत बनाने के लिये, अपने अमुख्य अर्थ का आक्षेप करना, लक्षित करना और 'लक्षण' का जो अभिप्राय है वह है शब्द के मुख्य अर्थ का, अपने आपको, अपने अमुख्य अर्थ के लिये, इसलिये समर्पित कर देना–छोड़ देना–जिससे वह अमुख्य अर्थ सङ्गत हो जाय ।**

टिप्पणी—यहाँ 'अभिधावृत्तिमातृकाकार' श्री मुकुलभट्ट की यह लक्षणा–मीमांसा, जो कि आचार्य मम्मट की लक्षणा–मीमांसा का आधार है, ध्यान देने योग्य है—

(शुद्धा-उपादान लक्षणा-उदाहरणनिरूपण)

कुन्ताः प्रविशन्ति इत्यादौ कुन्तादिभिः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते, तत उपादानेनेयं लक्षणा।

(प्रसक्तानुप्रसक्तया मीमांसक-सम्मत उपादान-लक्षणा-प्रसङ्गों का खण्डन)

गौरनुबन्ध्य इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते।

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे।'

इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्त्तव्या, न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा

'उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता। स्वसिद्ध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत्॥
उपादानं, लक्षणं तु तद्विपर्यासतो मतम्।'

'क्वचित् खल्वर्थान्तरोपादानेन (शुद्धा) लक्षणा प्रवर्तते, क्वचित्त्वर्थान्तरलक्षणेन। यत्र स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम्। ..... यत्र तु पूर्वोदितो पादानरूपविपर्याससंश्रयान्न स्वार्थसिद्ध्यर्थतयाऽर्थान्तरस्याक्षेपः, अपि त्वर्थान्तरसिद्ध्यर्थत्वेन स्वार्थसमर्पणं तत्र लक्षणम्।'

अनुवाद—जिसे शुद्धा-उपादान लक्षणा कहते हैं वह इन प्रयोगों जैसे कि 'कुन्ताः प्रविशन्ति' भाले चले आ रहे हैं', 'यष्टयः प्रविशन्ति' 'डण्डे चले आरहे हैं' आदि में स्पष्ट है। यहां बात यह है कि 'कुन्त' अथवा 'यष्टि' शब्दों के अपने २ 'भाले' अथवा 'डण्डे' आदिरूप मुख्य अर्थ, 'प्रवेश' रूप क्रिया के साथ अन्वित-संगत होने के लिये, अपने अपने अर्थों से सम्बद्ध 'कुन्तधारी' अथवा 'यष्टिधारी' पुरुषरूप अमुख्य अर्थों का आक्षेप करते-अपनी लक्षणा शक्ति से प्रतिपादित करते-स्पष्टतया प्रतीत हो रहे हैं। यहां इन शब्दों की जो लक्षणा है वह 'उपादान' के कारण है अर्थात् अपने मुख्य अर्थ जैसे कि 'भाले' अथवा 'डण्डे' आदि के परित्याग पूर्वक एक भिन्न अर्थ-जैसे कि 'भाले लिये' और 'डण्डे लिये' पुरुष रूप अर्थ के स्वीकार करने के कारण है।

मीमांसाचार्यों ने उपादान लक्षणा के कुछ प्रसङ्गों का जो निर्देश किया है वह वस्तुतः उपादान लक्षणा के प्रसङ्ग नहीं। सबसे पहले तो 'गौरनुबन्ध्यः' 'अजोऽग्निषोमीयः' इत्यादि विधिवाक्य में जो 'गो' शब्द में उपादान लक्षणा इसलिये मानी गयी है कि 'गौ' का मुख्य अर्थ 'गोत्व' रूप अर्थ अपने आपको श्रुतिविहित आलम्भन (यज्ञनिष्पादनार्थ विशसन) के लिये असमर्थ पाकर, अपने से भिन्न 'गो' व्यक्ति रूप अर्थ का जो गो शब्द का सीधा अर्थ नहीं-आक्षेप कर रहा है क्योंकि भला 'गोत्व' रूप विशेषण के प्रत्यायन में समाप्त-सामर्थ्य अभिधा व्यापार 'गो' व्यक्तिरूप विशेष्य का प्रत्यायक क्योंकर हो सके? वह कदापि युक्तियुक्त नहीं। भला यहां 'गौः' शब्द में 'उपादान लक्षणा' क्योंकर होने लगे जब कि न तो यहां कोई रूढ़ि है-किसी प्रकार के ऐसे प्रयोग-प्रवाह की कोई सम्भावना है-और न कोई प्रयोजन ही प्रतीत हो रहा है। यहां यदि मीमांसक पूछें कि 'गो' शब्द से 'गो' व्यक्ति का क्योंकर बोध हो रहा है तो यही सीधा उत्तर है कि यहां 'गो' शब्द से गोव्यक्ति का अनुमान हो रहा है और ऐसा इसलिये क्योंकि 'गोत्व' रूप जाति और गोरूप 'व्यक्ति' अविनाभूत अपृथक् सिद्ध रूप से सदा सम्बद्ध ही हैं। (तात्पर्य यह है कि यहां गो शब्द अनुमान की सहायता से जातिविशिष्ट का बोध करा रहा है।) जहां अविनाभाव सम्बन्ध हो वहां तो सर्वत्र अनुमान ही अनुमान होगा जैसे कि हम कहें केवल 'क्रियताम्' 'कार्य किया जाय' और अनुमान कर लिया जायगा 'कर्ता' 'कार्य करने वाले पुरुष' का (क्योंकि जहां भी कोई 'कृति' होगी वह तो 'कर्ता' से अपृथक् सिद्ध होगी ही) अथवा

रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते; यथा क्रियतामित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डिमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते। श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

जैसे कि हम कहें केवल 'कुरु' 'करो' और इससे अनुमान कर लिया जायगा 'कर्म' का–'काम' का (क्योंकि जो भी कृति होगी वह तो किसी 'कर्म' रूप विषय से अविनाभूत ही होगी)।

उपर्युक्त प्रसङ्गों में तो अर्थ के अनुमान की बात हुई। इसी प्रकार शब्द का भी अनुमान लोक–प्रसिद्ध है (जिसे महाभाष्यकार 'वाक्यैकदेशप्रयोग' सम्पूर्ण वाक्य के बदले उसके एक अंग का प्रयोग–कह चुके हैं) क्योंकि हमने केवल कहा–'प्रविश' 'भीतर आओ' और जिससे ऐसा कहा, वह अनुमान कर लेता है–'गृहम्' 'घर में' इस शब्द का अथवा हमने केवल कहा–'पिण्डीम्' 'गुड़ की भेली को' और जिससे ऐसा कहा, वह अनुमान कर लेता है 'भक्षय' 'खा लो' इस शब्द का।

इसी प्रकार 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' 'देवदत्त दिन में कुछ नहीं खाता, किन्तु मोटा कितना है ?' इत्यादि वाक्यों में कुछ मीमांसाचार्यों ने जो उपादानलक्षणा मान रखी है क्योंकि उनके अनुसार देवदत्त के मोटा होने और दिन में न खाने का वाक्यार्थ अपने आपको संगत बनाने के लिये 'देवदत्त के रात में भोजन करने के वाक्यार्थ का आक्षेप करने वाला–लक्षणा द्वारा प्रतिपादित करने वाला–ही वाक्यार्थ है, वह भी वस्तुतः ठीक नहीं जंचती। ऐसा क्यों ? इसलिये कि ऐसे वाक्यों में अर्थ प्रतीति या तो 'श्रुतार्थापत्ति' द्वारा हुआ करती है या 'अर्थापत्ति' द्वारा। यहां भला 'उपादान लक्षणा' की क्या आवश्यकता ? 'श्रुतार्थापत्ति' के द्वारा ऐसे वाक्यों में अर्थ–प्रतीति का अभिप्राय है—'श्रुत' के द्वारा–अनुपपन्न होने वाले शब्द के द्वारा जैसे कि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस शब्दके द्वारा, रात्रौ भुङ्क्ते' इस शब्द की आपत्ति अथवा कल्पना और 'अर्थापत्ति' के द्वारा यहां अर्थबोध का तात्पर्य है–'देवदत्त के दिन में न खाने और मोटे होने' के अनुपन्न अर्थ से 'उसके रात में खाने' के अर्थ की आपत्ति अथवा कल्पना। (बात यह है कि, चाहे जैसे भी देखें, 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' आदि वाक्य उपादान–लक्षणा के कभी भी विषय नहीं हो सकते।)

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने 'गौरनुबन्ध्यः' आदि प्रयोगों में जो उपादान लक्षणा की असम्भावना सिद्ध की है उसका प्रयोजन अभिधावृत्तिमातृकाकार श्री मुकुल भट्ट की इस मान्यता का खण्डन है—

'शब्दव्यापाराद् यस्यावगतिस्तस्य मुख्यत्वम्। तस्योदाहरणम्—गौरनुबन्ध्य इति। अत्र हि गोशब्दव्यापाराद् यागसाधनभूता गोत्वलक्षणा जातिरवगम्यते।···यस्य तु शब्दव्यापारावगम्यार्थपर्यालोचनयावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम्। यथा पूर्वस्मिन्नेवोदाहरणे (गौरनुबन्ध्य इत्यत्र) व्यक्तेः। सा हि (व्यक्तिः) न शब्दव्यापारादवसीयते। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायात् शब्दस्य जातिमात्रपर्यवसितत्वात्। जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधनभावं न प्रतिपद्यत इति शब्दप्रत्यायितजातिसामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते। तेनासौ लाक्षणिकी।

इसी प्रकार 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' आदि में भी मुकुलभट्ट ने 'उपादान लक्षणा' ही सिद्ध की थी क्योंकि उनका कथन है—

'यत्र स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तराक्षेपो भवति तत्रोपादानम्–यथा गौरनुबन्ध्य इति। अत्र हि गोत्वस्य यागं प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिद्ध्यर्थतया व्यक्तेराक्षेपः। यथा च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति। अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयाऽवगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति।···अत्र च 'रात्रौ भुङ्क्ते' इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया

(शुद्धा-लक्षणलक्षणा-उदाहरण-निरूपण)

गङ्गायां घोष इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा।

(उक्त उभयविध लक्षणा-शुद्धा लक्षणा। लक्षणा के 'शुद्धा' होने का निमित्त-उपचार का अमिश्रण)

उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्।

(मुकुल भट्ट का मत-'उपादानलक्षणा' और 'लक्षणलक्षणा'-द्विविध शुद्धा लक्षणा में लक्ष्यरूप अर्थ का वाच्यरूप अर्थ से भेद—इसका खण्डन)

अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यं तटादीनां गङ्गादिशब्दैः

प्रमाणस्याऽपरिपूर्णस्य परिपूरणाच्छ्रुतार्थापत्तित्वं भवत्वथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति सर्वथा स्वसिद्ध्यर्थत्वेनार्थान्तरस्याक्षेपपूर्वक तयाऽन्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते।'

(अभिधावृत्ति मातृका-४)

जिसका खण्डन आचार्य मम्मट ने यहाँ युक्तिपूर्वक किया है।

अनुवाद—**वह लक्षणा जिसे 'लक्षणलक्षणा' कहते हैं ऐसे प्रयोग जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' 'गङ्गा पर अहीरों की बस्ती' आदि में स्पष्ट है। यहाँ जो बात है वह यह है कि यहाँ 'गङ्गा' शब्द अपने मुख्य अर्थ-प्रवाहरूप अर्थ का इसलिये परित्याग करता प्रतीत हो रहा है जिससे वह अपने अमुख्य अर्थ-तटरूप अर्थ का ही प्रत्यायन करा सके जो कि वस्तुतः 'घोष' के आधार-अधिकरण होने के सर्वथा योग्य है। यहाँ इस 'गङ्गा' शब्द की जो लक्षणावृत्ति है वह 'लक्षण' के कारण है अर्थात् सर्वथा स्वार्थसमर्पण—अपने अर्थ के बिलकुल छोड़ देने-के कारण है।**

उपर्युक्त दोनों प्रकार की लक्षणा अर्थात् उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा वस्तुतः ऐसी लक्षणायें हैं जिन्हें 'शुद्धा' कहा करते हैं ? शुद्धा इसलिये कि इन दोनों लक्षणा-प्रकारों में 'उपचार का—सादृश्याख्य सम्बन्ध से दो परस्पर भिन्न वस्तुओं में, अभेदावबोध के अभिप्राय का—कहीं भी कोई मिश्रण नहीं हुआ करता।

टिप्पणी—यहाँ आचार्य मम्मट ने शुद्धा लक्षणा में उपचार के अमिश्रण का जो अपना अभिमत प्रतिपादित किया है वह इसीलिये क्योंकि उन्हें मुकुल भट्ट की यह. मान्यता कि शुद्धा लक्षणा भी उपचार-मिश्रित हुआ करती है, अभिप्रेत नहीं। मुकुल भट्ट 'उपचार' को शुद्धरूप और गौणरूप-द्विविधरूप मानते हैं और उनकी दृष्टि में शुद्धा लक्षणा में भी यह द्विविध उपचार दिखाई दिया करता है—

'द्विविध उपचारः शुद्धो गौणश्च। तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावेनोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणासम्भवात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते, यथा आयुर्घृतमिति। अत्र हि आयुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारणभावो लक्षणापूर्वकत्वेना युष्टं कार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः।' (अभिधावृत्ति मातृका-४)

किन्तु आचार्य मम्मट ने शुद्धा-लक्षणा के क्षेत्र से 'उपचार' को बहिष्कृत कर शुद्धा और गौणी के भेद को एक वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक आधार दे दिया है जिससे गौणीवृत्ति का लक्षणावृत्ति में अन्तर्भाव, जो कि ध्वनिवाद की एक आवश्यक मान्यता है, युक्तियुक्त हो उठा है।

अनुवाद—**'उपादान' और 'लक्षणा'—दोनों रूपों की शुद्धा लक्षणा के सम्बन्ध में (अभिधावृत्ति मातृकाकार आचार्य मुकुल भट्ट द्वारा प्रतिपादित) यह सिद्धान्त कि इन शुद्धा लक्षणा—प्रकारों में वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ से सर्वथा तटस्थ रहा करता है क्योंकि लक्ष्यार्थ की प्रतीति में वाच्यार्थ की प्रतीति का कोई उपराग नहीं प्रतीत हुआ करता, वस्तुतः**

प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

(लक्षणा के अन्य प्रकार 'सारो पा' रूप और 'साध्यवसाना' रूप–पहला 'सारोपा' रूप प्रकार)

(१४) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ समानाधिकरण्येन निर्दिश्येते, सा लक्षणा सारोपा।

युक्तिसङ्गत नहीं। इसका कारण यह है कि इन द्विविध शुद्धा लक्षणा–प्रकारों में भी वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ की जो उपरक्तता–अभिन्नता की प्रतीति हुआ करती है उसीसे तो यह सम्भव है कि प्रयोक्ता के अभीष्ट प्रयोजन का प्रकाशन हो जाय। उदाहरण के लिये 'गङ्गायाम् घोषः' इस प्रयोग में 'लक्षणलक्षणा' को ले, जहाँ 'गङ्गा' शब्द से, 'तट' रूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन हुआ है, तो यह स्पष्ट है कि जब तक यहाँ प्रवाहरूप वाच्यार्थ से तटरूप लक्ष्यार्थ को अनुरञ्जित न माना जाय तब तक शैत्य और पावनत्व आदि रूप वक्तृ–हृदयगत प्रयोजन की कभी भी प्रतीति नहीं हो सकती। ऐसा क्यों? इसलिये कि 'गङ्गा' शब्द के 'प्रवाह' और 'तट' रूप अर्थों में जो अभेद की प्रतीति है उसीके कारण ऐसा हुआ करता है कि 'प्रवाह' से सम्बद्ध शीतता और पवित्रता 'तट' से भी सम्बद्ध प्रतीत हो जाती है। यहाँ यदि 'तट' रूप लक्ष्यार्थ का 'प्रवाह' रूप मुख्यार्थ से केवल (सामीप्यरूप) सम्बन्ध ही प्रतीत हो सकता तब तो 'गङ्गायां घोषः' इस लक्षणलक्षणा प्रयोग के बदले 'गङ्गातटे घोषः' यह वाचकरूप शब्द ही प्रयोग योग्य होता। किन्तु 'गङ्गायां घोषः' में जो बात है वह 'गङ्गातटे घोषः' में कहाँ? लाक्षणिक प्रयोग में जो शैत्यादिरूप विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति अपेक्षित है वह भला वाचक प्रयोग में क्यों कर होने लगे। (तात्पर्य यही है कि 'शुद्धा' और 'गौणी' दोनों लक्षणा–प्रकार इस दृष्टि से तो परस्पर समान हैं कि दोनों में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का अभेद रहा करता है। यह तो 'शुद्धा' में उपचार का अमिश्रण और 'गौणी' में उपचार का मिश्रण छिपा है जिससे 'शुद्धा' और 'गौणी' परस्पर भिन्न प्रकार की लक्षणा यें हो जाया करती हैं।)

टिप्पणी—यहाँ आचार्य मम्मट ने मुकुलभट्ट की इस विचारधारा की आलोचना की है—

'तटस्थे लक्षणा शुद्धा'.....'यैषा लक्षणा शुद्धा उपादानलक्षणात्मकत्वेन द्विप्रभेदा प्रतिपादिता सा लक्षकार्थानुपरक्तत्वात् तटस्थतया प्रतीयमाने लक्ष्येऽर्थे द्रष्टव्या। न हि तत्र लक्षकार्थोपरक्ततया लक्ष्यस्यार्थस्यावगतिः। तथा हि—'गङ्गायां घोष' इत्यत्र घोषाधिकरणभूततटोपलक्षणाभिसन्धानेन गङ्गायां घोषो न वितस्तायामिति गङ्गाशब्दे प्रयुज्यमाने तटस्य स्रोतोविशेषेणोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्तत्वेनो परागो न प्रतीयते। तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात्। एवमुपादानेऽपि वाच्यम्।' (अभिधावृत्ति मातृका–५)

अनुवाद—लक्षणा के उपर्युक्त 'उपादान' और 'लक्षण'—इन दोनों प्रकारों के अतिरिक्त एक और जो प्रकार है, उसका नाम है 'सारोपा'–प्रकार। यह सारोपारूप लक्षणा–प्रकार वह लक्षणा–प्रकार है जिसमें 'विषयी' अर्थात् 'आरोप्यमाण' (जिसका आरोप किया जाय) और 'विषय' अर्थात् 'आरोप विषय' (जो कि आरोप का विषय अथवा क्षेत्र अर्थात् आधार हो)—दोनों शब्दतः प्रतिपाद्य रहा करते हैं।

यहाँ (कारिका में) जिस सारोपा–लक्षणा का निरूपण है उसे 'सारोपा' इसीलिये कहा करते हैं क्योंकि इसमें 'आरोप्यमाण' (विषयी जैसे कि 'गौः') और आरोपविषय (विषय जैसे कि 'वाहीकः') दोनों अपने–अपने पृथक् स्वरूप और स्वभाव में ही विराजमान रहते हुये 'सामानाधिकरण्य'–पूर्वक अर्थात् समान विभक्तियुक्त अपने–अपने पदों के रूप में स्पष्टतया निर्दिष्ट रहा करते हैं।

(दूसरा :—'साध्यवसाना' रूप)

(१५) विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ॥११॥

विषयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात्।

उपर्युक्त आरोप और अध्यवसान : दोनों के दो दो भेद-गौणरूप (सादृश्य सम्बन्ध-गर्भित) और शुद्धरूप (सादृश्यभिन्न सम्बन्ध-गर्भित)

(१६) भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ—

अनुवाद—(उपर्युक्त सारोपा-रूप-प्रकार के अतिरिक्त) दूसरा जो प्रकार है उसका नाम है 'साध्यवसाना'-रूप प्रकार। लक्षणा को 'साध्यवसाना' कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की लक्षणा में 'आरोपविषय' (जैसे कि 'वाहीकः') अपने बोधक पद के रूप में निर्दिष्ट नहीं हुआ करता क्योंकि 'आरोप्यमाण' (विषयी, जैसे कि गौः) के द्वारा यह निगीर्ण रहा करता है—तिरोभूत हो जाया करता है (क्योंकि 'विषय' जैसे कि वाहीकरूप आरोपविषय और 'विषयी' जैसे कि गोरूप 'आरोप्यमाण'—दोनों में जब तदात्म्य की विवक्षा हुई तब 'विषय' का-'वाहीक' का-स्वशब्दोपादान कैसा !)

यहाँ (कारिका में) 'विषयी' का अभिप्राय है 'आरोप्यमाण' (जैसे कि 'गौः' आदि) का, 'अन्यस्मिन्'—'दूसरे'-का अभिप्राय है 'विषय' अथवा 'आरोपविषय' का और 'विषयी' के द्वारा 'विषय' के 'अन्तः कृत' होने का तात्पर्य है 'निगीर्ण' अथवा 'तिरोहित' हो जाने का। निष्कर्ष यह रहा कि जहां 'विषयि'-बोधक पद से ही 'विषय' का प्रतिपादन अभीष्ट हो (क्योंकि दोनों में अभेद विवक्षित है) वहाँ जो लक्षणा होती है वह होती है—साध्यवसाना लक्षणा।

टिप्पणी—'आरोप' और 'अध्यवसान' का यहाँ वही अभिप्राय है जो श्री मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्ति मातृका' में प्रतिपादित है।

आरोप—**'यत्रोपचर्यमाणेनोपचर्यमाणविषयस्य स्वरूपं नापह्नूयते तत्राध्यारोपः।'** (गौर्वाहीकः)

अध्यवसान—**'यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्तर्लीनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्राऽध्यवसानम्।'** (गौरयम्)

अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक के अनुसार भी 'आरोप' और 'अध्यवसान' का यही स्वरूप है जैसा कि इस विवरण में स्पष्ट है—

आरोप—**'अन्यत्रान्यावाप आरोपः' तस्य विषयविषय्यवष्टब्धत्वात्।**

अध्यवसान—**'अध्यवसाने त्रयं भवति-स्वरूपं विषयो विषयी च। विषयस्य हि विषयिणाऽन्तर्निगीर्णत्वेऽध्यवसानस्य स्वरूपोत्थानम्।**

श्री जयरथ (अलङ्कारसर्वस्वव्याख्याकार) ने भी 'आरोप' और 'अध्यवसान' का यही अभिप्राय प्रतिपादित किया है—

आरोप—**'भिन्नयोः सामानाधिकरण्येन निर्देशो ह्यारोपलक्षणम्।' तत्किं शब्दे शब्दान्तरमर्थे वाऽर्थान्तरमारोप्यत इति चेद् ब्रूमः-तत्र न शब्दे शब्दान्तरारोपः.....किन्त्वर्थेऽर्थान्तरारोपः स च प्रयोजनपरतया तथा निर्दिश्यते न भ्रान्त्या।**

अध्यवसान—**'तस्य हि विषयनिगरणे विषयिनिश्चयश्च स्वरूपम्।'**

अनुवाद—इन उपर्युक्त 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' रूप दोनों लक्षणा प्रकारों के भी दो दो भेद हैं। जैसे कि 'सारोपा' के दो भेद :—

(१) गौणसारोपा **(२) शुद्धसारोपा**

(गौण 'सारोपा' और 'गौण' साध्यवसाना : निदर्शन)

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ गौर्वाहीक इत्यत्र गौरयमित्यत्र च। अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणाः जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणाः अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्। स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।

और 'साध्यवसाना' के दो भेदः—

(१) गौणसाध्यवसाना (२) शुद्धसाध्यवसाना

इन उपर्युक्त 'गौण' और 'शुद्ध' रूप दोनों भेदों में गौणरूप भेद में तो सादृश्य-सम्बन्ध नियामक रहा करता है और शुद्धरूप भेद में जो नियामक रहा करता है वह है सादृश्यभिन्न अन्यविध सम्बन्ध।

अनुवाद—उपर्युक्त सादृश्य-निबन्धन आरोपरूप लक्षणा-प्रकार का तो उदाहरण है—'गौर्वाहीकः'-'यह हरवाहा बैल है' और अध्यवसानरूप सादृश्य-नियामक लक्षणा-प्रकार का उदाहरण है—'गौरयम्'-'यह तो बैल ही है'।

इन आरोप और अध्यवसान-गर्भ उपर्युक्त उदाहरणों में जो लक्षणा-बोध है उसके सम्बन्ध में लक्षणा-व्यापार-विमर्शक आचार्यों का कुछ मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि 'गौर्वाहीकः' और 'गौरयम्' आदि में जो लक्षणा-बोध है वह इस प्रकार का है—'गौ' शब्द का तो मुख्य अर्थ है 'गोत्व' रूप सामान्य जिसका 'वाहीक' रूप अर्थ से सम्बन्ध तब तक अनुपपन्न है जब तक इस शब्द के द्वारा इसी 'गोत्व' रूप अर्थ से सम्पृक्त अथवा सम्बद्ध मूर्खता-मन्दता आदि रूप अर्थ लक्षित न हों। अब जब 'गो' पद की लक्षणा से ये जाड्य-मान्द्यादिरूप अर्थ प्रतीत होने लगे तब इन्हीं की नियामकता से ऐसा सम्भव हो गया कि 'गो' पद का अभिधेय 'गोत्व'रूप अर्थ अपने से भिन्न 'वाहीक' रूप अर्थ से अन्वित हो उठा। तात्पर्य यह रहा कि सीधे तो 'अभिधा' से 'गौः' और 'वाहीकः' का सामानाधिकरण्य होने से रहा! यह सामानाधिकरण्य तभी हो सका, जब 'गो' पद की लक्षणा से 'गोत्व' रूप अर्थ में समवेत जाड्य-मान्द्य आदि गुणों की प्रतीति हुई। अब ये ही लक्ष्यार्थरूप जाड्यादि गुण ऐसे हुये जिनके कारण 'गो' पद (गोत्व-भिन्न) 'वाहीक' रूप अर्थ का अभिधान-साक्षात् प्रतिपादन-करने लगा और ऐसा हो गया कि अपने अर्थ से भिन्न अर्थ के अवबोध में भी प्रयोग-योग्य हो उठा। किन्तु कुछ लोगों का यहाँ और ही कथन है कि—'गौर्वाहीकः' और 'गौरयम्' आदि प्रयोगों में ऐसा नहीं हो सकता कि अपने 'गोत्व' रूप अर्थ का वाचक 'गो' पद अपने अर्थ से सर्वथा भिन्न 'वाहीक' रूप अर्थ का अभिधान साक्षात् प्रतिपादन करने लग पड़े। यहां तो 'अभिधा' की कोई सम्भावना ही नहीं। यहां तो केवल 'लक्षणा' की सम्भावना है जिसके कारण 'वाहीक' गत उन जाड्य-मान्द्य आदि गुणों की प्रतीति हो रही है जो गो-गत जाड्य-मान्द्य आदि गुणों से सर्वथा अभिन्न-सर्वथा एक रूप-गुण हैं।

कुछ लोग यहां उपर्युक्त अभिप्राय से एक भिन्न ही अभिप्राय बताना चाहते हैं और जो अभिप्राय बताना चाहते हैं वह यह है—'गौर्वाहीकः' और 'गौरयम्' ऐसे प्रयोग हैं जिनमें 'गो' पद की लक्षणाशक्ति स्पष्टतया 'वाहीक' रूप अर्थ को लक्षित कर देती है और ऐसा इसीलिये कर देती है कि यहाँ गो-रूप 'विषयी' और 'वाहीक' रूप विषय में सादृश्य-नियामक आरोप (गौर्वाहीकः में) और अध्यवसान (गौरयम् में) का यही रहस्य है कि यहां 'गो'पद से लक्षित 'वाहीक' ऐसा है जो जाड्य-मान्द्यादिरूप

उक्तञ्चान्यत्र—

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥' इति ।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न. तु नान्तरीयकत्वम् । तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ न लक्षणा स्याद् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

(शुद्ध सारोपा और शुद्ध साध्यवसाना-निदर्शन)

आयुर्घृतम् आयुरेवेदमित्यादौ च सादृश्यादन्यत्कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम् । एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने ।

ऐसे गुणों का आश्रय है जो न तो गो-गत ही कहे जा सकते हैं और न वाहीक-गत अपितु दोनों में समवेत साधारण गुण हैं ।

वस्तुतः 'गौर्वाहीकः' और 'गौरयम्' प्रयोगों में यह जो अन्तिम लक्षणा-बोध-विमर्श है जिसके अनुसार 'गो' पद से एक महामूर्ख वाहीक ही लक्षित समझा जा रहा है वही युक्तिसङ्गत है क्योंकि इसमें महामीमांसक कुमारिल स्वामी की यह सूक्ति भी प्रमाणरूप से पड़ी दिखायी दे रही है—

'लक्षणा' एक ऐसी प्रतीति है—जिसे अभिधेय-अभिधाविषय-अर्थ से-'अविनाभूत'-सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कह सकते हैं (यह तो हुई शुद्धा लक्षणारूप प्रतीति की बात) किन्तु इस लक्षणारूप शब्दशक्ति की 'गौणता' (उपचार-मिश्रता) का जो अभिप्राय है वह यह है कि इसके द्वारा ऐसे अर्थ की प्रतीति हुआ करती है जो उन उन अनुभव-विषय गुणों (जैसे कि 'गौर्वाहीकः' और 'गौरयम्' प्रयोगों में साधारणरूप से प्रतीत जाड्यमान्द्य आदि गुणों) से समन्वित अर्थ हुआ करता है ।

यहां (ऊपर उद्धृत सूक्ति में) आचार्य कुमारिल द्वारा प्रयुक्त 'अविनाभूत' पद का अर्थ है—'सम्बद्ध' (न कि 'व्याप्त') । ऐसा क्यों ? इसलिये कि यदि यहां 'अविनाभाव' का अभिप्राय 'नान्तरीयकत्व'—येन विना यन्न भवति तन्नान्तरीयकम्, अन्तरा विनाभावोऽन्तरीयः, न शब्देन सह 'सह सुपा' इति समासः, नान्तरीयकस्य भावो नान्तरीयकत्वम्—अर्थात् 'व्याप्ति' लिया जाने लगे (जिससे यहां यह अभिप्राय निकलने लगे कि वाच्यार्थ प्रतीति और लक्ष्यार्थ प्रतीति में वही 'व्याप्ति' है जो जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् आदि में रहा करती है) तब तो 'मञ्चाः क्रोशन्ति' 'मचानें चिल्ला रही हैं, इत्यादि (मीमांसकों द्वारा मान्य) लक्षण-प्रयोग ही सबसे पहले असङ्गत हो गये । (भला भूतलवर्ती 'मञ्च' और मञ्चस्थ कृषि-पाल में जब कि न तो दैशिक व्याप्ति हुई और न कालिक व्याप्ति, तब क्योंकर 'मञ्च' पद से 'मञ्चस्थ' रूप अर्थ लक्षित होने लगे !) फिर भी यदि यहां 'व्याप्ति' रूप अर्थ पर ही आग्रह हो तब तो दूसरी बात यह कहनी पड़ेगी कि लक्षणावृत्ति को ही तिलाञ्जलि दे दी जाय तो अच्छा हो ? भला वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में 'व्याप्ति'रूप सम्बन्ध हो और ऐसा होने से सारा काम अनुमान से ही सिद्ध होता रहे तो 'लक्षणा' की मान्यता निरर्थक न हो तो क्या हो ! (किन्तु जब कि मीमांसक मूर्धन्य कुमारिल स्वामी ने 'लक्षणा' को माना है तब तो यह निश्चित ही है कि 'अभिधेयाविनाभूत' आदि सूक्ति में उन्हें 'अविनाभाव' पद से न तो 'व्याप्त' रूप अर्थ अपेक्षित था और न वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में व्याप्तिरूप सम्बन्ध ही मान्य था !)

अनुवाद—सादृश्य-भिन्न कार्यकारणभावादिरूप सम्बन्ध-निबन्ध जो आरोप गर्भ और अध्यवसान-गर्भ लक्षणा-प्रकार हैं उन्हें इन प्रयोगों में देखा जा सकता है—'आयुर्घृतम्' 'घी ही जिन्दगी है' (आरोप), 'आयुरेवेदम्' 'यही (घी ही) बस जिन्दगी है

('आरोप' और 'अध्यवसान' के अपने २ प्रयोजन)

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम्। शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि।

(कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध के अतिरिक्त भी लक्षणा के नियामक कतिपय सम्बन्ध)

क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा–इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः। क्वचित् स्वस्वामिभावाद्, यथा–राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचिदवयवावयविभावाद्, यथा–अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः। क्वचित् तात्कर्म्याद्, यथा–अतक्षा तक्षा।

(अध्यवसान) आदि। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'आयु' और 'घृत' में किसी सादृश्य की कोई विवक्षा नहीं (क्योंकि इन दोनों में साधर्म्य कहाँ!) यहां तो जो बात है वह है 'आयु' और 'घृत' में कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध की बात, जिसका ध्यान रख कर, 'आरोप' और 'अध्यवसान' ('आयुर्घृतम्' में आरोप और 'आयुरेवेदम्' में अध्यवसान) निःसंदिग्ध रूप से विवक्षित प्रतीत हो रहे हैं।

अनुवाद– गौण सारोप और गौण साध्यवसान लक्षणा-प्रकारों में (जैसे कि 'गौर्वाहीकः और 'गौरयम्' इन प्रयोजन का जो प्रत्यायन है (क्योंकि यहाँ रूढ़ि अथवा प्रयोग-प्रवाह की तो कोई सम्भावना ही नहीं है) वह एकरूप नहीं अपितु भिन्नरूप है। गौणसारोप लक्षणा-प्रकार में (जैसे कि 'गौर्वाहीकः' आदि प्रयोगों में) जो प्रयोजन है वह तो भेद में भी अभेद की प्रतीति है और गौण साध्यावसान लक्षणा-प्रकार में (जैसे कि 'गौरयम्' आदि प्रयोगों में) जो प्रयोजन विवक्षित है वह है एकमात्र अभेद की प्रतीति। इसी प्रकार शुद्ध सारोप लक्षणा-प्रकार का प्रयोजन वही नहीं जो शुद्ध साध्यवसान लक्षणा-प्रकार का प्रयोजन है क्योंकि शुद्ध सारोप लक्षणा-प्रकार (जैसे कि 'आयुर्घृतम्' आदि) में जो प्रयोजन विवक्षित है वह तो है एक विलक्षण कार्यकारण भाव की उपस्थिति (जैसे कि 'आयुर्घृतम्' कहने का उद्देश्य है आयु की वृद्धि में दुग्ध आदि की अपेक्षा घृत की ही महिमा का आधिक्य) और शुद्ध साध्यवसान लक्षणा-प्रकार में (जैसे कि 'आयुरेवेदम्' आदि प्रयोगों में) जो प्रयोजन अभिव्यङ्ग्यरूप से अवस्थित है (क्योंकि लाक्षणिक प्रयोगों में प्रयोजन लक्षितरूप नहीं अपितु अभिव्यङ्ग्यरूप ही रहा करता है) वह है एक नियमतः प्राप्त निःसंदिग्ध कार्यकारणभाव की उपस्थिति (जैसे कि 'आयुरेवेदम्' कहने का यही अभिप्राय है कि जो भी घृत का सेवन करे वह अवश्यमेव शतायु होगा।)

अनुवाद– (उपर्युक्त) कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध के अतिरिक्त कतिपय अन्यविध भी सम्बन्ध हैं जो सादृश्य-भिन्न ही सम्बन्ध हैं और ऐसे सम्बन्ध हैं जिन्हें, निसंदिग्धरूप से कहीं-कहीं 'उपचार' का–लाक्षणिक प्रयोग–का नियामक कहा जा सकता है। उदाहरण के लिये 'तादर्थ्य' रूप अर्थात् उपकार्योपकारभावरूप सम्बन्ध से लक्षणा जैसे कि 'स्थूणा इन्द्रः' (शुद्ध सारोप लक्षणा-प्रकार का निदर्शन) अथवा 'इन्द्रः' (शुद्ध साध्यवसान-लक्षणा-प्रकार का निदर्शन), जहाँ इन्द्र-पूजा के प्रयोजन के सम्पादन करने के कारण 'स्थूणा' (स्तम्भ) और 'इन्द्र' में क्रमशः 'आरोप' और 'अध्यवसान' स्पष्ट है। इसी प्रकार 'स्वस्वामिभाव' रूप सम्बन्ध से लक्षणा जैसे कि 'राजपुरुषोऽयं राजा' अथवा 'राजाऽयम्', जहाँ सेव्य-सेवक भाव ही क्रमशः 'आरोप' और 'अध्यवसान' का नियामक बन रहा है। इसी भांति 'अवयवावयवि' भावरूप सम्बन्ध से लक्षणा जैसे कि 'अग्रहस्तः' अथवा 'हस्तः' जहाँ 'हस्त' और 'अग्र' का क्रमशः 'आरोप' और 'अध्यवसान' अंशांशिभावरूप सम्बन्धपूर्वक है। अथवा 'तात्कर्म्य'रूप सम्बन्ध से लक्षणा जैसे कि 'तक्षाऽयं

(लक्षणा-भेद-सङ्कलन)

—(१७) लक्षणा तेन षड्विधा ॥ १२ ॥

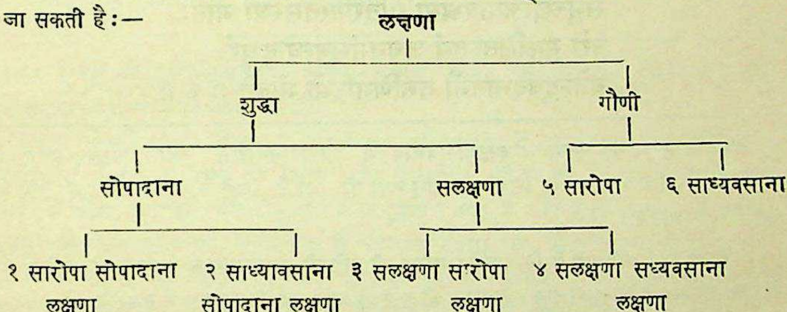
आद्यभेदाभ्यां सह ।

वाहीकः' अथवा 'तत्त्वाऽयम्', जहां 'तत्त्वा' और 'वाहीक' में 'आरोप' और 'अध्यवसान' केवल तात्कर्मरूप सम्बन्ध से ही सम्भव हो रहा है।

अनुवाद—इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि लक्षणा षड्विध हुआ करती है।

यहां कारिका में लक्षणा के जिन ६भेदों का निर्देश है वह इसीलिये है कि यहां पूर्व प्रतिपादित दोनों प्रकारों (अर्थात् उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा) का अभी अभी प्रतिपादित चार प्रकारों के साथ सङ्कलन विवक्षित है।

टिप्पणी—(क) लक्षणा-विमर्श में 'उपादान' और 'लक्षण' के अतिरिक्त 'उपचार-मिश्रण' और उपचारामिश्रण' किंवा 'आरोप' और 'अध्यवसान' के सिद्धान्तों का जो आचार्य मम्मट ने समन्वय प्रदर्शित किया है उसकी दृष्टि से आचार्य मम्मट की षड्विध लक्षणा इस प्रकार समझी जा सकती है:—



(ख) १. सारोपा सोपादाना लक्षणा—जैसे 'कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति ।'

२. साध्यवसाना सोपादाना लक्षणा—जैसे, 'कुन्ताः प्रविशन्ति ।'

३. सलक्षणा सारोपा लक्षणा—जैसे, 'आयुर्घृतम् ।'

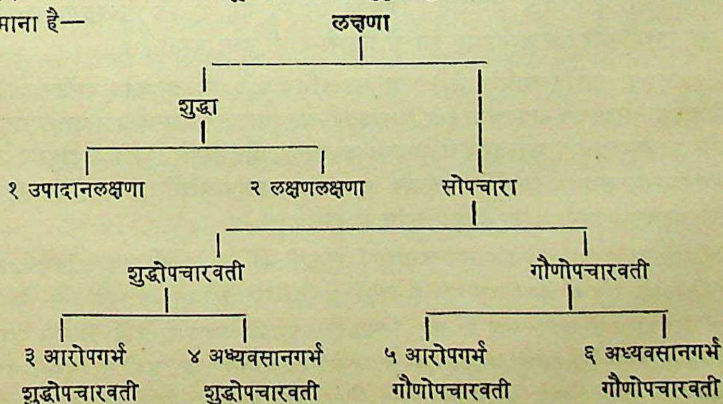
४. सलक्षणा साध्यवसाना लक्षणा—जैसे, 'आयुरेवेदम् ।' अथवा 'गङ्गायां घोषः'

५. गौणी सारोपा—यथा, 'गौर्वाहीकः ।'

६. गौणी साध्यवसाना—यथा, 'गौरयम् ।'

ये उपर्युक्त लक्षणा के ६ भेद उसी लक्षणा के हैं जिसमें प्रयोजन-प्रतिपादन विवक्षित रहा करता है।

(ग) आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मुकुलभट्ट के इस लक्षणा-विभाग को युक्तियुक्त नहीं माना है—



(व्यङ्ग्यार्थप्रयुक्त लक्षणा-भेद)

सा च

(१८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।

('सव्यङ्ग्या लक्षणा' में प्रयोजनः एकमात्र व्यञ्जनागम्य)

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव ।।

(सव्यङ्ग्या लक्षणा के दो भेद 'गूढव्यङ्ग्या' और 'अगूढव्यङ्ग्या' लक्षणा)

(१९) तच्च गूढमगूढं वा—

(गूढव्यङ्ग्या और अगूढव्यङ्ग्या लक्षणा-निदर्शन)

तच्चेति व्यङ्ग्यम् । गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ।। ९ ।।

क्योंकि मुकुलभट्ट-सम्मत लक्षणा-विभाव में 'उपादानलक्षणा' और 'लक्षणलक्षणा' में 'आरोप' और 'अध्यवसान' का सिद्धान्त लागू नहीं हो रहा है जिसे आचार्य मम्मट की दृष्टि से लागू होना चाहिये ।

वस्तुतः यहाँ बात यह है कि आचार्य मम्मट की दृष्टि तो लक्षणामूलक व्यञ्जना के प्रतिपादन के लिये उन्मुख है और आचार्य मुकुलभट्ट की दृष्टि में व्यङ्ग्यार्थ ही लक्ष्यार्थ में समन्वित है ।

अनुवाद—यही (अर्थात् उपाधि-षट्क जैसे कि उपादान, लक्षण, उपचार, अनुपचार, आरोप और अध्यवसान वाली शब्दवृत्ति)

लक्षणा (व्यङ्ग्यरूप अर्थ की दृष्टि से) 'निर्व्यङ्ग्या' और 'सव्यङ्ग्या' इन भेदों में विभक्त है । 'निर्व्यङ्ग्या' अथवा व्यङ्ग्यरहिता लक्षणा तो वह है जो रूढलक्षणा है और 'सव्यङ्ग्या' अथवा व्यङ्ग्यसहिता लक्षणा वह है जिसमें प्रयोजन छिपा रहता है ।

अनुवाद—'सव्यङ्ग्या' लक्षणा में जो प्रयोजन रहा करता है वह 'लक्षणा' द्वारा नहीं, अपितु एकमात्र 'व्यञ्जना' द्वारा ही प्रतिपादित हुआ करता है ।

अनुवाद—यह प्रयोजन एकविध नहीं, अपितु द्विविध हुआ करता है अर्थात् १. गूढ़ प्रयोजन और २. अगूढ़ प्रयोजन (जिसका तात्पर्य यह है कि सव्यङ्ग्या लक्षणा भी 'गूढव्यङ्ग्या' और 'अगूढव्यङ्ग्या' इन दो प्रकारों वाली हुआ करती है ।

अनुवाद—यहाँ (कारिका में) 'तच्च' का अभिप्राय है 'व्यङ्ग्य' का (क्योंकि व्यङ्ग्य की ही गूढता-सहृदयैकमात्रवेद्यता और 'अगूढता'-सहृदयासहृदयोभयवेद्यता पर 'गूढव्यङ्ग्या' और 'अगूढव्यङ्ग्या' प्रयोजनवती लक्षणा का परस्पर भेद निर्भर है ।) उदाहरण के लिये 'गूढव्यङ्ग्या' लक्षणा, जिसमें व्यङ्ग्यरूप अर्थ केवल काव्यमर्मज्ञों द्वारा ही वस्तुतः ठीक ठीक पहचाना जाया करता है, इस सूक्ति में स्पष्ट है—

कितना अद्भुत दृश्य है इस चन्द्रमुखी सुन्दरी की देह में अभिनव यौवन के विलास का ! इसका मुंह तो ऐसा लग रहा है जिसमें हँसी खिल उठी हो, इसकी दृष्टि ऐसी दीख रही है जिसने वांकपन वश में कर लिया हो, इसकी चाल ऐसी है जिससे हावभाव छलकते जा रहे हैं, इसकी समझ ऐसी है जो सारी सीमायें तोड़ चुकी है, इसके वक्षस्थल ऐसे दीख रहे हैं जिनमें स्तनों की कली खिल उठी हो और इसके जघन ! वे तो बस

अगूढं यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥ १० ॥

अत्रोपदिशतीति ।

(व्यङ्ग्यगर्भ लक्षणा के त्रैविध्य की उपपत्ति)

—(२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥

(लक्षणा-त्रैविध्य का स्पष्टीकरण)

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च ।

(लक्षणा का आश्रय-लाक्षणिक पद)

(२१) तद्भूर्लाक्षणिकः—

शब्द इति सम्बध्यते, तद्भूस्तदाश्रयः ।

अंसबन्ध (रतिलीला के एक बन्ध विशेष अथवा दृढ़तर परिरम्भपूर्वक रति-कर्म) के लिये उद्धुर-सर्वथा सन्नद्ध-बन बैठे हैं ।

(जहां 'विकसित' की 'स्मित' में, 'वशीकरण' की 'प्रेक्षण' में, 'समुच्छलन' की 'विभ्रम' में, 'संस्था (मर्यादा)-त्याग' की 'मति' में, 'मुकुलित' की 'स्तन' में, 'उद्धुरता' की 'जघन' में और 'मोद' की 'यौवनोद्गम' में अनुपपत्ति स्पष्ट है और जहां लक्षणा की शक्ति 'विकास' से 'उन्मुक्तता' का, वशीकरण' से 'स्वभावसिद्धता' का, 'समुच्छलन' से 'प्रचुरता' का, 'संस्था-त्याग' से 'अधीरता' का, 'मुकुलीभाव' से 'कठिनता' का, 'उद्धुरता' से 'विलक्षणरति-योग्यता' का और 'मोद' से 'उत्कृष्टता' का अर्थ प्रतिपादित करती प्रतीत हो रही है और इसलिये यह सब प्रतिपादित करती प्रतीत हो रही है कि कवि सर्वत्र एक अद्भुतता-एक विचित्रता-एक असाधारण रमणीयता और मनोहारिता का निगूढ़ अभिप्राय प्रकट करना चाह रहा है जिससे सहृदय समाजिक का हृदय विस्मय और साथ ही साथ आनन्द-मग्न होता जा रहा है ।)

इसी प्रकार 'अगूढव्यङ्ग्या' लक्षणा, जिसमें विदग्ध और अविदग्ध दोनों प्रकार के काव्य-प्रेमी व्यङ्ग्य की पहचान किया करते हैं, इस उदाहरण में दिखाई दे रही है—

'लक्ष्मी का प्रथम परिचय ही ऐसा हुआ करता है जिससे साधारण जन भी विशिष्ट जन की चाल-ढाल के मर्मज्ञ हो जाया करते हैं । भला यौवन-मद के अतिरिक्त और कौन है जो रमणी जन को रतिविलास का उपदेश दिया करता है ।

जहां 'उपदिशति' पद 'यौवनमद' के साथ असङ्गत होकर एक मात्र 'आविष्कार'-'प्रकाशन' रूप अभिप्राय को लक्षित कर रहा है और जहां ऐसा करने का जो प्रयोजनविशेष है अर्थात् अनायास रतिविलास का उत्पन्न हो जाना-वह विदग्ध और अविदग्ध-उभयविध सहृदय सामाजिक के लिये समान रूप से ही गम्य लग रहा है ।

अनुवाद—इस उपर्युक्त अभिप्राय की दृष्टि से यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त है कि लक्षणा तीन प्रकार की है ।

अनुवाद—यहां लक्षणा के जो तीन प्रकार अभिप्रेत हैं वे हैं—१. अव्यङ्ग्या व्यङ्ग्यार्थ-रहिता-लक्षणा-प्रकार, २. गूढव्यङ्ग्या लक्षणा-प्रकार और ३. अगूढव्यङ्ग्या लक्षणा-प्रकार ।

अनुवाद—इस ऊपर विवेचित लक्षणाशक्ति का आश्रय है पद, वह पद जिसे 'लाक्षणिक' पद कहा जाया करता है (और कहा जाना चाहिये ।)

यहां (कारिका में) 'लाक्षणिक' के साथ 'शब्द' का सम्बन्ध विवक्षित है और 'तद्भूः' का अभिप्राय है उसके-लक्षणाशक्ति के-आश्रय (आधार) का ।

(व्यञ्जना-स्वरूप विचारः उपोद्घात)

—(२२) तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

(व्यञ्जन व्यापार की आवश्यक मान्यता)

कुत इत्याह—

(२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिः, अपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः ।

(प्रयोजन-प्रत्यायन व्यञ्जना द्वारा क्यों ?)

तथा हि—

(अभिधा प्रयोजन-प्रतिपादन में असमर्थ)

(२४) नाभिधा समयाभावात्—

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः ।

अनुवाद—लक्षणा में (लाक्षणिक पद-प्रयोग में) जो प्रयोजन रहा करता है वह शब्द के उस व्यापार द्वारा गम्य हुआ करता है जिसे 'व्यञ्जन' (अथवा 'ध्वनन' अथवा 'प्रत्यायन' आदि) कहा करते हैं ।

अनुवाद—प्रयोजन का प्रत्यायन व्यञ्जन व्यापार द्वारा ही क्यों हुआ करता है ? इसी का तो अब विवेचन किया जा रहा है ।

वह प्रयोजन (जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' आदि में शैत्य-पावनत्व आदि), जिसके प्रत्यायन के लिये लक्षणा का—लाक्षणिक पद का—सहारा लिया जाया करता है, ऐसा हुआ करता है जो हुआ तो करता है वस्तुतः उसी लक्षणाश्रय पद के द्वारा प्रतीत होने वाला किन्तु उसकी प्रतीति ऐसी है जिसमें (शब्द के) व्यञ्जन व्यापार के अतिरिक्त और कोई भी व्यापार (जैसे कि अभिधा अथवा लक्षणा अथवा अनुमानादि) समर्थ नहीं हुआ करता ।

जब कभी भी लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाया करता है और इसलिये किया जाया करता है जिसमें किसी न किसी (गूढ अथवा अगूढ) प्रयोजन की प्रतीति हुआ करे तब यह तो निश्चित ही है कि वह प्रयोजन और किसी प्रमाण (जैसे कि चेष्टा आदि) से नहीं अपि तु एकमात्र उस पद-प्रयोग से ही विवक्षित रहा करता है । किन्तु उस पद की एकमात्र व्यञ्जनावृत्ति ही वह वृत्ति है, न कि और कोई वृत्ति, जो उस प्रयोजन के प्रत्यायन में सर्वथा समर्थ रहा करती है ।

अनुवाद—ऐसा क्यों ? इसलिये कि—

अनुवाद—शब्द की वह शक्ति, जिसे 'अभिधा' कहा करते हैं, प्रयोजन के प्रत्यायन में असमर्थ रहा करती है । क्यों ? इसलिये कि प्रयोजन (जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' आदि लाक्षणिक प्रयोगों में 'शैत्य-पावनत्व' आदि रूप उद्देश्य-विशेष) एक ऐसा अर्थ विशेष है जिसमें शब्द का कोइ सङ्केत—कोई वाच्यवाचक भावरूप सम्बन्ध—नहीं रहा करता ।

यहां (कारिका में) 'अभिधा' द्वारा प्रयोजन के प्रत्यायन में जिस 'समयाभाव'—सङ्केताभाव—का निर्देश है उसका अभिप्राय यह है—'जब हम ('गङ्गातटे घोषः' के बदले) 'गङ्गायां घोषः' आदि का प्रयोग किया करते हैं तब यही चाहा करते हैं कि

('लक्षणा' भी प्रयोजन-प्रतिपादन में असमर्थ)

—(२५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १५ ॥

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।

(प्रयोजन-प्रतिपादन में लक्षणा के असामर्थ्य का कारण)

तथा च—

(२६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥ १६ ॥

(प्रवाहगत) शैत्यपावनत्व आदि 'तट' आदि (लक्षितरूप अर्थों) में भी प्रतीत हुआ करें। यहां यह तो ठीक है कि ये उपर्युक्त शैत्यपावनत्वादिरूप प्रयोजन 'गङ्गा' आदि शब्दों से ही प्रतीत हुआ करते हैं किन्तु यह भी ठीक है कि उपर्युक्त शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन रूप अर्थ 'गङ्गा' आदि पद के सङ्केतित अर्थ नहीं (और जब ये संकेतित अर्थ नहीं तो 'अभिधा' द्वारा क्योंकर प्रतीत करवाये जाने लगें !)

अनुवाद—यहां यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये (शैत्य-पावनत्वादिरूप) प्रयोजन 'लक्षणा' द्वारा प्रतीत करवाये जाया करते हैं और ऐसा इसलिये कि इसका कोई कारण नहीं कि लक्षणा प्रयोजन का भी प्रत्यायन किया करे।

जिन कारणों से शब्द में लक्षणाशक्ति मानी जाया करती है अर्थात् मुख्यार्थ बाध-मुख्यार्थ योग-और रूढि अथवा प्रयोजनरूप हेतुत्रय, वे कारण यदि प्रयोजन के प्रतिपादन में भी लक्षणा के माने जाने में रहें तब तो यह ठीक है कि लक्षणा से ही प्रयोजन भी प्रतिपादित हुआ करे किन्तु बात तो यह है कि ये यहां (प्रयोजनरूप अर्थ के प्रतिपादन में) रहा ही नहीं करते।

अनुवाद—यदि कोई कहे—ऐसा क्यों ? तो इसका तो स्पष्ट उत्तर है—

लक्षणा ही यदि प्रयोजनरूप अर्थविशेष की प्रतीति करवाया करे (अर्थात् 'गङ्गा' पद की लक्षणा ही से यदि शैत्य-पावनत्वादिरूप अर्थविशेष भी पता चला करें) तो लक्षणा के हेतुत्रय-मुख्यार्थबाध (जैसे कि 'गङ्गा' के तट-रूप लक्ष्य अर्थ में घोष के आधार होने की अनुपपत्ति) मुख्यार्थ योग (जैसे कि तटरूप अर्थ से शैत्य-पावनत्व आदि रूप अर्थविशेष के समन्वित होने की सम्भावना) और रूढि अथवा प्रयोजन (रूढि जैसे कि शैत्य और पावनत्व आदि अर्थ यदि विवक्षित हो तो 'गङ्गायां घोषः' के बदले 'गङ्गातटे घोषः' का प्रयोग हुआ करें क्योंकि ऐसा होता आ रहा है और प्रयोजन जैसे कि जिसका तो······कोई अन्त ही नहीं !) यहां अवश्य उपस्थित रहने चाहिये ! किन्तु ऐसा होता कहां है ? शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनरूप अर्थ तो तब लक्ष्यार्थ (लक्षणा-गम्य अर्थ) माना जाय जब कि गङ्गापद का तटरूप अर्थ मुख्य अर्थ हो, जो है नहीं ! जब कि तटरूप अर्थ में 'घोष' के आधार-अधिकरण होने में कोई बाधा (अनुपपत्ति) रहा करे, किन्तु है कहां ! जब कि तटरूप अर्थ का शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनरूप अर्थ से कोई (सामीप्य-सादृश्यादिरूप) सम्बन्ध रहा करे, किन्तु है तो नहीं ! (जब कि 'गङ्गायां घोषः' में 'कर्मणि कुशलः' की ही भांति कोई रूढि-प्रयोगपरम्परा-रहा करे, किन्तु है कहां ? जब कि इसका कुछ पता हो कि इस प्रयोजनविशेष से 'गङ्गा' पद का शैत्य-पावनत्वादि-रूप लक्ष्यार्थ निष्पन्न हुआ करता है, किन्तु इसका कहां पता ? और अन्ततोगत्वा जब कि यह कहा जा सके कि गङ्गा शब्द लाक्षणिक पद ही है अन्यथा शैत्यपावनत्वादिरूप अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, किन्तु भला कौन है जो यह कहे ! (ऐसा तो वही कहेगा जिसे लक्षणा के बाद किसी शब्द-शक्ति का कोई रूप-रङ्ग ही न पता हो !)

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत् न च तटं मुख्योऽर्थः, नाप्यत्र बाधः, न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः, नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम् , नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः।

(प्रयोजनरूप अर्थ के लक्ष्यार्थ होने में प्रयोजन-गवेषणा की असम्भावना)

(२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृद् अनवस्था भवेत् ।

अनुवाद—'गङ्गायां घोषः' में जब हम लक्षणा मानते हैं तब इसीलिये तो मानते हैं कि 'गङ्गा' शब्द जिसका प्रवाहरूप अर्थ घोष के आधार होने में असमर्थ है, तटरूप अर्थ को लक्षित किया करता है और इसलिये किया करता है कि यहां हमारा यही अभिप्राय रहा करता है कि घोष की शीतता और पवित्रता का विचित्र अर्थ सुनने वालों को पता लग जाय । किन्तु अब जब हम यह कहते हैं कि 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' पद शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन (व्यङ्ग्य) रूप अर्थ को भी लक्षित किया करता है और इसलिये किया करता है कि हमारा कुछ प्रयोजन है जो सुनने वाले समझ जायेंगे, तब हम वस्तुतः बड़ी भारी गलती करते हैं । क्यों ? इसलिये कि यहां 'मुख्यार्थबाधरूप' हेतु तो है ही नहीं । न तो 'तट' रूप अर्थ कभी 'गङ्गा' पद का मुख्य (सङ्केतित) अर्थ है और न इसमें (घोष के अधिकरण होने में) कोई बाधा (अनुपपत्ति) ही रहा करती है । यहां 'मुख्यार्थ योगरूप' हेतु भी असम्भाव्य ही है क्योंकि ऐसा तो कोई भी नहीं कह सकता कि 'तट' रूप अर्थ और 'शैत्य-पावनत्वादि' रूप अर्थ में (प्रवाहरूप अर्थ और तटरूप अर्थ की भांति) कोई (सामीप्यादिरूप) सम्बन्ध भी हो सकता है । (रूढि की तो यहां कोई चर्चा ही नहीं हो सकती) इसी प्रकार 'प्रयोजन' रूप हेतु भी यहां नहीं रहा करता क्योंकि ऐसी तो यहां कोई भी बात प्रतीत नहीं होती जिसे शैत्यपावनत्वादिरूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति का प्रयोजन कहा जा सके । गङ्गा शब्द को 'तट' रूप अर्थ के प्रतिपादन की दृष्टि से यदि लाक्षणिक कहा करें तब तो ठीक ही है किन्तु 'शैत्यपावनत्वादिरूप' अर्थ के प्रतिपादन की दृष्टि से भी लाक्षणिक मानना तो कदापि ठीक नहीं । 'गङ्गा' शब्द अपने वाचकत्व धर्म से सम्बद्ध होने से भले ही तटरूप अर्थ के प्रत्यायन में असमर्थ बनकर लाक्षणिक बन जाय, किन्तु जब कि अपनी व्यञ्जकताशक्ति से यह शब्द शैत्यपावनत्वादिरूप अर्थ के प्रत्यायन में सर्वथा समर्थ है तब क्योंकर इसे असमर्थ मान लिया जाय और यह कह दिया जाय कि यहां भी (प्रयोजन-प्रतिपादन में भी) यह शब्द लाक्षणिक ही शब्द है ।

अनुवाद—इतना होने पर भी यदि कोई यह आग्रह करे कि प्रयोजन भी (जैसे कि शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन ही) लक्ष्य ही है (क्योंकि इसका भी एक प्रयोजन है जैसे कि तटगत शैत्यपावनत्व आदि की 'घोष' में प्रतीति !) तब तो यही कहना पड़ेगा कि यहां इस प्रयोजन में (अर्थात् घोषगत शैत्यपावनत्व आदि रूप प्रयोजन के प्रयोजन और उसके भी प्रयोजन और उसके भी प्रयोजन आदि की गवेषणा में) एक ऐसी अनवस्था हो जायगी जो 'मूलक्षयकारिणी' ही बन जायगी अर्थात् जब तक प्रयोजन के प्रयोजन और उसके प्रयोजन और उसके भी प्रयोजन आदि की अनन्त कल्पना में हम व्यस्त रहेंगे तब तक शैत्यपावनत्वादि प्रयोजनरूप लक्ष्यार्थ को सर्वथा भूल ही जायेंगे जिसके प्रत्यायन के लिये यहाँ प्रयोजन की कड़ियाँ, जिनका कहीं कोई अन्त नहीं, पकड़ने चले रहे !

भला (शैत्यपावनत्वादिरूप) प्रयोजन के लक्षित मानने में उसके प्रयोजन और

(प्रयोजन विशिष्ट अर्थ लक्ष्यरूप अर्थ नहीं)

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते गङ्गायास्तटे घोष इत्यतोऽधिक-स्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा, तत्किं व्यञ्जनयेत्याह—

(२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥ १७ ॥

(लक्षणाजन्य ज्ञान से लक्षणाज्ञानजन्य फल सर्वथा भिन्न है)

कुत इत्याह—

(२९) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।

प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलं च प्रकटता संवित्तिर्वा ।

उस प्रयोजन के दूसरे प्रयोजन और उस दूसरे प्रयोजन के तीसरे और ऐसे ही अनन्त संख्या वाले प्रयोजनों की कल्पना में ऐसा कैसे हो सकता है कि 'मूलक्षयकारिणी अनवस्था' के दोष (मूलक्षतिकारीं चाहुरनवस्थां च दूषणम्) को हम बचा जांय। यह दोष तो ऐसा दोष है जिससे गङ्गापद की शैत्यपावनत्वादिरूप प्रयोजनभूत अर्थ में लक्षणा का सर्वनाश ही हो जायगा।

अनुवाद—यहाँ (जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' में) यह भी कहना कि शैत्यपावनत्वादि धर्मविशिष्ट तटरूप अर्थ ही लक्ष्यार्थ है क्योंकि एक प्रयोजन तो है ही जो कि 'गङ्गायास्तटे घोषः' इस प्रयोग से जिस अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती (अर्थात् शीत और पवित्र तटरूप अर्थ की) उस अर्थ की भी प्रतीति है और ऐसा इसलिये है कि लक्षणा द्वारा प्रयोजनविशिष्ट अर्थ की हो प्रतीति करवायी जाया करती है जिससे व्यञ्जना की कोई आवश्यकता ही नही रह सकती, कदापि युक्तियुक्त नहीं। ऐसा क्यों ? इसलिये कि—

ऐसा कदापि सम्भव नहीं कि लक्षणारूप जो एक 'ज्ञान' है वह अपने 'फल' के साथ साथ अपने आप को प्रकट किया करे।

अनुवाद—यदि यहाँ कहा जाय—ऐसा क्यों ? तो इसका तो सीधा उत्तर है कि—

जैसे जिसे 'ज्ञान' कहा करते हैं वह सर्वथा अपने 'विषय' से पृथक् ही प्रतीत हुआ करता है वैसे ही जिसे 'ज्ञानफल' कहा करते हैं वह भी सर्वथा 'ज्ञान' से पृथक् ही रहा करता है। (भला तटरूप बीजभूत 'ज्ञान' और उसका शैत्यादिरूप 'फल' एक ही समय में कैसे उत्पन्न होने लगे।)

ज्ञान की मीमांसा करने वाले विचारकों ने ही तो यह सिद्ध किया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे कि 'घटोऽयम्' यह चाक्षुष अनुभव और इस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय जैसे कि 'घटः' परस्पर दो भिन्न भिन्न वस्तुयें हैं (क्योंकि एक है ज्ञान और दूसरा है ज्ञेय) और इस प्रत्यक्ष ज्ञान का जो फल है जैसे कि 'प्रकटता' (मीमांसक-मत में) अथवा 'संवित्ति' अर्थात् 'अनुव्यवसाय' (न्याय-मत में) वह भी 'घटोऽयम्' इस अनुभव से सर्वथा एक भिन्न ही वस्तु है (क्योंकि मीमांसा की दृष्टि से देखते—'घटोऽयम्' इस अनुभव को ज्ञेय (घट) के धर्म 'प्राकट्य' अथवा 'ज्ञातत्व' से एकरूप कैसे कह दिया जाय ? 'घटोऽयम्' इस प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद जब 'ज्ञातो घटः' की प्रतीति से ज्ञेयरूप 'घट' में 'प्रकटता' (ज्ञातता) उत्पन्न हो तब 'घटोऽयम्' और 'ज्ञातो घटः' में—कारण और कार्य में—भेद नहीं तो और क्या ? इसी प्रकार—न्याय की दृष्टि से देखते—'घटोऽयम्' इस प्रत्यक्ष ज्ञान को, उससे होने वाले 'घटमहं जानामि' इस प्रतीतिरूप 'संवित्ति' अथवा 'अनुव्यवसाय' से, जो कि ज्ञातृ धर्म है—ज्ञाता की एक विशेषता है, कैसे घुला-मिला मान लिया जाय ?) अब यहां जो इससे निष्कर्ष निकल सकता है वह यही है कि 'गङ्गायां घोषः' आदि की लक्षणा प्रतीति—तटरूप अर्थ की प्रतीति—कभी भी अपने शैत्यपावनत्वादिरूप फल से—चाहे इसे 'प्रकटता' कहें या 'संवित्ति' कहें, कभी भी एकरूप-अभिन्न-समसमयवर्तिनी नहीं हो सकती।

(लक्ष्यरूप अर्थ कदापि व्यङ्ग्यरूप प्रयोजन विशिष्ट अर्थ नहीं)

(३०) विशिष्टे लक्षणा नैवम्—

व्याख्यातम् ।

(प्रयोजनरूप अर्थ विशेष लक्ष्यार्थ के उपरान्त प्रतीत हुआ करते हैं)

—(३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा–तात्पर्य–लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन–ध्वनन–द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् ।

(लक्षणा विमर्श का उद्देश्य–लक्षणामूलक व्यञ्जनाशक्ति की सिद्धि)

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम् ।

(व्यञ्जना लक्षणामूलक ही नहीं अपितु अभिधामूलक भी हुआ करती है ।)

अभिधामूलं त्वाह—

(अभिधामूल व्यञ्जना का स्वरूप)

(३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥

अनुवाद—इससे यही सिद्ध हुआ कि (शैत्यपावनत्वादि) प्रयोजनरूप अर्थ वस्तुतः एक व्यङ्ग्य–व्यञ्जन व्यापार गम्य–अर्थ है और ऐसा है जो लक्ष्य (तटरूप) अर्थ से एक सर्वथा भिन्नरूप अर्थ है और यही कारण है कि लक्षणा द्वारा व्यङ्ग्यविशिष्ट अर्थ की–(शीत किंवा पवित्र तटरूप अर्थ की) कदापि कोई प्रतीति नहीं करवायी जाया करती ।

उपर्युक्त कारिका का अभिप्राय तो स्वयं स्पष्ट है इसके स्पष्टीकरण की क्या आवश्यकता?

अनुवाद—अब यह निःसंदिग्धरूप से पता चल गया कि लक्षणा द्वारा लक्ष्यरूप अर्थ के प्रत्यायन हो चुकने पर भी प्रयोजनरूप अर्थविशेष की प्रतीति हुआ करती है जिसमें लक्षणा का कोई हाथ नहीं ।

'गङ्गायां घोषः' आदि प्रयोगों में, 'गङ्गा' आदि के लक्षित तट आदि रूप अर्थों में, जिस शैत्यपावनत्वादि प्रयोजनरूप अर्थविशेष की प्रतीति हुआ करती है वह अन्ततोगत्वा एक ऐसी प्रतीति सिद्ध हो रही है जिसे अभिधा और तात्पर्य और लक्षणा की शक्तिओं से सर्वथा परे किसी अन्य ही शक्ति द्वारा सम्भव मानना पड़ता है । अब यही वह शक्ति है जिसे व्यञ्जन कहें, ध्वनन कहें, द्योतन कहें, प्रत्यायन कहें या इसी भांति और कुछ कहें, किन्तु इसे बिना माने तो कोई चारा नहीं ।

अनुवाद—यहां जो लक्षणा–विवेक किया गया है उसका उद्देश्य लक्षणाशक्ति की सिद्धि नहीं (क्योंकि उसे तो लोग मानते ही आरहे हैं) अपितु उस व्यञ्जनाशक्ति की सिद्धि है जो लक्षणामूल ध्वनि में कार्यकर हुआ करती है (जैसा कि आगे ध्वनि–निरूपण प्रसङ्ग में स्पष्ट है ।)

अनुवाद—(अब तक तो एक प्रकार से लक्षणामूलक व्यञ्जना का संकेत कर दिया गया) अब 'अभिधामूलक' व्यञ्जना का निर्देश किया जारहा है—

अनुवाद—अभिधामूलक व्यञ्जना वह व्यञ्जना हुआ करती है जो अनेकार्थक पद–प्रयोगों में, उनकी वाचकता के 'संयोग' आदि के (जिनका निरूपण अभी किया जारहा है) द्वारा नियन्त्रित हो जाने पर, एक ऐसे अर्थ का प्रत्यायन करा दिया करती है जिसे कभी भी वाच्य–साक्षात् संकेतित–अभिधाबोध्यरूप अर्थ नहीं कहा जा सकता ।

(पद की वाचकता के नियामक-संयोग आदि)

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इत्युक्तदिशा।

सशङ्खचक्रो हरिः। अशङ्खचक्रो हरिरित्युच्यते। रामलक्ष्मणाविति दाशरथी। रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गवकार्त्तवीर्ययोः। स्थाणुं भज भवच्छिदे इति हरे। सर्वं जानाति देव इति युष्मदर्थे। कुपितो मकरध्वज इति कामे।

अनुवाद—पद की वाचकता के जो नियामक हैं जिनका यही कार्य है कि वे कहीं किसी (अनेकार्थक) पद के, अनेकों अर्थों में से, उसके किसी एक अर्थ की स्मृति उत्पन्न कर दिया करें और जिनका महान् पदविमर्शक भगवान् भर्तृहरि ने निरूपण कर दिखाया है। ये हैं—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, शब्दान्तरसन्निधि, सामर्थ्य, औचिती, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि।

उदाहरण के लिये—

(१) 'संयोग' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'सशङ्खचक्रो हरिः' इस प्रयोग में जहां शङ्ख और चक्र का संयोग अनेकार्थक 'हरि' पद को केवल 'विष्णु' रूप अर्थ का वाचक बना रहा है।

(२) 'विप्रयोग' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'अशङ्खचक्रो हरिः' इस प्रयोग में जहां नञ्बोध्य शङ्ख और चक्र के विप्रयोग से 'हरि' पद से मर्कट आदि अर्थ नहीं अपितु केवल 'विष्णु' रूप-अर्थ प्रतिपादित कराया जा रहा है।

(३) 'साहचर्य' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'रामलक्ष्मणौ' इस प्रयोग में जहां 'राम' और 'लक्ष्मण' का पारस्परिक द्वन्द्वसमास-बोध्य साहचर्य 'राम' पद से केवल दशरथ पुत्र 'राम' और 'लक्ष्मण' पद से केवल दशरथ पुत्र 'लक्ष्मण' के ही अर्थ का स्मारक हो रहा है।

(४) 'विरोधिता' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस प्रयोग में जहां राम और अर्जुन का मुख्यार्थ, द्वन्द्वसमास-बोध्य विरोधिता के कारण, केवल 'परशुराम' और 'कार्तवीर्य' ही हो सकता है न कि अन्य कुछ।

(५) 'अर्थ' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इस प्रयोग में जहां भवच्छेद-मोक्षरूप-प्रयोजन के कारण, 'स्थाणु' पद का मुख्यार्थ एकमात्र 'शिव' रूप अर्थ हो सकता है न कि और कुछ।

(६) 'प्रकरण' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'सर्वं जानाति देवः' इस प्रयोग में जहां प्रकरण के कारण—क्योंकि यहां वक्ता जो कुछ कह रहा है वह एक राजा के प्रति कह रहा है—'देव' शब्द से केवल एक अर्थ की, अर्थात् 'आप' इस अर्थ की ही प्रतीति हो सकती है नकि किसी 'देवता' आदि अर्थ की।

(७) 'लिङ्ग' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'कुपितो मकरध्वजः' इस प्रयोग

देवस्य पुरारातेरिति शंभौ। मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते। पातु वो दयितामुखमिति साम्मुख्ये। भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपाद्देशाद्राजनि। चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ। मित्रं भातीति सुहृदि। मित्रो भातीति रवौ। इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव, न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

एद्दहमेतत्थणिआ एद्दहमेतेहि अच्छिवत्तेहिं।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेतेहि दिअएहिं ॥ ११ ॥

(एतावन्मात्रास्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ॥)

इत्यादावभिनयादयः।

में जहां लिङ्ग के द्वारा अर्थात् मकरध्वजरूप चिह्नविशेष के द्वारा 'मकरध्वज' पद का एक 'कामदेव' रूप ही अर्थ हो सकता है।

(८) 'शब्दान्तर सन्निधि' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'देवस्य पुरारातेः' इस प्रयोग में जहां 'पुराराति' पद के सन्निधान से 'देव' पद से केवल 'महादेव शङ्कर' की ही प्रतीति संभव है न कि और किसी अर्थ की।

(९) 'सामर्थ्य' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'मधुना मत्तः पिकः' इस प्रयोग में जहां 'सामर्थ्य' अर्थात् मादकता के सामर्थ्य के कारण नानार्थक 'मधु' पद से केवल 'वसन्त' रूप अर्थ ही समझा जा सकता है न कि और कोई 'मद्य' आदि रूप अर्थ। (क्योंकि कोयल भला मदिरा कहां से पीले ? उसे तो वसन्त ऋतु ही उन्मत्त बनाया करती है।)

(१०) 'औचिती' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'पातु वो दयितामुखम्' इस प्रयोग में जहां औचित्य के कारण (विरह में परित्राणरूप औचित्य के कारण) 'दयितामुख' पद से केवल 'दयिता–प्रियतमा–की अनुकूलता–अनुरक्ति' का अभिप्राय ही निकल रहा है न कि 'दयिता–प्रियतमा के मुंह' का।

(११) 'देश' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'भात्यत्र परमेश्वरः' इस प्रयोग में 'देश'–राजधानीरूप स्थान–के कारण 'परमेश्वर' पद का अर्थ 'राजा' हो सकता है न कि 'भगवान्'!

(१२) 'काल' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि दिन में प्रयुक्त 'चित्रभानुर्विभाति' इस वाक्य में 'दिन' रूप काल की विवक्षा के कारण 'चित्रभानु' पद का अर्थ केवल 'सूर्य' अथवा रात में प्रयुक्त इसी 'चित्रभानुविभाति' वाक्य में 'चित्रभानु' पद का अर्थ केवल 'अग्नि' रूप ही हो सकता है।

(१३) 'व्यक्ति' द्वारा वाचकता का नियामन—जैसे कि 'मित्रं भाति' इस प्रयोग में 'नपुंसक लिङ्ग का 'मित्र' शब्द केवल 'सुहृद्' रूप अर्थ का और 'मित्रो भाति' इस प्रयोग में पुल्लिङ्ग का 'मित्र' शब्द केवल 'सूर्य' रूप अर्थ का ही वाचक हो सकता है।

(१४) 'स्वर' द्वारा वाचकता का नियामन—यहां काव्य के प्रसङ्ग में 'स्वर' द्वारा वाचकता के नियामन की कोई बात नहीं उठ सकती क्योंकि 'स्वर' से तो वेद में ही अर्थात् 'इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व' आदि श्रुति–वाक्यों में ही अर्थविशेष का प्रत्यायन वैयाकरण–सम्मत है, न कि काव्य में भी।

(अभिधामूल व्यञ्जना का निदर्शन)

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः । न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावाद्, अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः । यथा—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥ १२ ॥

(व्यञ्जक शब्द–व्यञ्जना व्यापार वाला शब्द)

(३३) तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः—

यहां (भर्तृहरिकृत कारिका में) जो 'आदि' पद प्रयुक्त है उसका अभिप्राय है वाचकता के अन्यविध नियामक का—अभिनय आदि का—जैसे कि—

'इतने ही दिनों में यह सुन्दरी इतने बड़े स्तनों वाली, इतनी बड़ी आंखों वाली और इस अवस्था की हो गई !' इस उक्ति में जहां अभिनय की मुद्रा से ही 'एतावत्' इस पद का, जहां जैसा हो, वहां वैसा, अर्थ प्रतीत हो सकता है ।

अनुवाद—इन उपर्युक्त वाचकता—नियामकों में से किसी भी एक नियामक से जब अनेकार्थक शब्द की अनेकार्थ–वाचकता नियन्त्रित हो गयी अर्थात् एक किसी अभिधेय अर्थ की ही प्रतीति होने लगी, तब भी यदि कहीं, जैसा कि जहां–तहां स्पष्ट दिखाई दिया करता है, किसी अन्य (अनभिधेय) अर्थ की प्रतीति हो उठे, तब तो वहां यहीं मानना पड़ता है कि ऐसी प्रतीति में एकमात्र जिसका हाथ है वह है व्यञ्जना–व्यापार न कि और कोई व्यापार । क्यों ? इसलिये कि अभिधा तो वाचकतानियामक किसी हेतु से ही नियन्त्रित हो चुकी है और लक्षणा की तो कोई चर्चा ही नहीं उठती क्योंकि उसके भी मुख्यार्थ बाध आदि हेतु यहां असम्भव ही है । उदाहरण ! उदाहरण इसका यह रहा—

'ये रहे वे महाराज ! 'भद्रात्मा' निर्मल अन्तःकरण वाले !, 'दुरधिरोह तनु'–अनभिभवनीय व्यक्तित्व वाले ! 'विशाल वंशोन्नत'–महान् राजवंश में जन्म लेने वाले !, 'कृतशिलीमुखसंग्रह'–बाणविद्या में सतत अभ्यस्त !, 'अनपप्लुतगति'—सर्वत्र गामी तीक्ष्ण बुद्धि वाले ! और 'परवारण' शत्रुजन के संहारक ! जिनका 'कर' (हाथ) निरन्तर 'दानाम्बुसेकसुभग'–दान में संकल्प–जल के लेते रहने–से अत्यन्त सुन्दर रहा करता था ।' (जहां प्रकरण रूप वाचकता–नियामक के कारण 'भद्र', 'वंश', 'शिलीमुख', 'गति', 'वारण', 'दान' और 'कर' शब्द की 'अनेकार्थता के एकार्थकता में परिणत हो जाने पर भी कवि विवक्षा, एक अनभिधेय अर्थ को अर्थात् गजराज रूप अर्थ को और वस्तुतः इस अप्रकृत 'गजराज' रूप अर्थ और प्रकृत 'राज' रूप अर्थ में परस्पर उपमानोपमेय भाव रूप अर्थ को प्रकट कर रही है जिस अर्थ में सहृदय सामाजिक का चित्त चमत्कृत हो रहा है । यहां इस उपमानोपमेयभाव रूप अनभिधेय, वस्तुतः व्यङ्ग्य, अर्थ की प्रतीति का जो कारण हो सकता है वह केवल व्यञ्जना का ही व्यापार है न कि अभिधा का, जो राजरूप अर्थ में नियन्त्रित हो गयी है और न लक्षणा का ही, जिसके मुख्यार्थ बाधादि रूप हेतु यहां हैं ही नहीं ।)

अनुवाद—वह शब्द वस्तुतः व्यञ्जक शब्द है (न कि वाचक अथवा लाक्षणिक) जो 'व्यञ्जना' के आश्रय रूप से (यत्र–तत्र–सर्वत्र) प्रतीत हुआ करता है ।

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः ।

(शब्द की व्यञ्जकता में अर्थ की सहकारिता)

—(३४) यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ २० ॥

तथेति व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः ।

यहां (कारिका में) 'तद्युक्त'–'उससे युक्त'–'उसके आश्रय (भूत शब्द)' का अभिप्राय है 'व्यञ्जन व्यापार युक्त'–व्यञ्जन व्यापार के आश्रय (भूत) 'व्यञ्जक' शब्द का।

अनुवाद—यहां यह शङ्का निर्मूल है कि शब्द ही जब व्यञ्जक हो गया तो 'काव्य' को 'शब्द' ही कहना ठीक है न कि 'शब्दार्थों'। क्यों ? इसलिये कि जो भी शब्द व्यञ्जक शब्द हुआ करता है वह अपने मुख्य अर्थ को छोड़ कर नहीं, अपितु उस मुख्य अर्थ को साथ लेकर–उस मुख्य अर्थ को बीच में डाल कर–ही किसी व्यङ्ग्यरूप अर्थ की प्रतीति करवाया करता है। (अर्थस्य–स्वशक्यार्थस्य–मुख्यार्थस्यान्तरं व्यवधानं तेन युक् युक्तः सन् एव नान्यथा) इससे जो तात्पर्य निकला वह यही कि जहां शब्द प्रधान रूप से व्यञ्जक माना जाया करता है वहां उसका मुख्यार्थ भी सहायक रूप से, व्यञ्जक रहा करता है।

यहां (कारिका में) 'तथा' का अभिप्राय है 'व्यञ्जक' होने का।

टिप्पणी—शब्द 'व्यञ्जक' भी है—यह ध्वनिवादी आलङ्कारिकों की मान्यता आज पाश्चात्य काव्यालोचनाविद् भी सहर्ष मान रहे हैं—

'The conceptual core, the associated images and the emotive-conative over tones of individual words can all acquire greater precision in a meaningful context and words can, by skillful combination, be made to convey new concepts, fresh states devoid of ambiguity.'

(Greene: The Arts and the Art of Criticism—page 109)

द्वितीय उल्लास समाप्त ।

अथ तृतीयोल्लासः

(अर्थव्यंञ्जकता निरूपणात्मकः)

(३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्—

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः । तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम् ।

—(३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।

कीदृशीत्याह—

(आर्थीव्यञ्जना)

(३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥ २१ ॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ २२ ॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्ध्वनेर्विकारः । प्रस्तावः प्रकरणम् । अर्थस्य वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मनः ।

अनुवाद—उन उन प्रकार के शब्दों के-वस्तुतः वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक इन त्रिविध शब्दों के-जो क्रमशः अपने अपने अर्थ-प्रकार जैसे कि वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थ प्रकार हुआ करते हैं वे पहले ही बताये जा चुके हैं।

यहां (कारिका में) 'अर्थाः'-'अर्थों' का अभिप्राय है वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ—इन तीन प्रकार के अर्थों का और 'तेषाम्' 'उनके' (उन शब्द-प्रकारों के)—का अभिप्राय रहा वाचक-लाक्षणिक और व्यञ्जक इन तीन प्रकार के शब्दों का।

इसलिये अब यहां जो बताना आवश्यक है वह है इन अर्थों की—इन वाच्यरूप-लक्ष्यरूप और व्यङ्ग्यरूप त्रिविध अर्थ-प्रकारों की कैसी व्यञ्जना हुआ करती है-(क्योंकि सामान्यतः तो यह भी पहले ही बता दिया गया है कि सभी प्रकार के अर्थ यथास्थान किंवा यथासम्भव व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जक हुआ करते हैं) इस बात का।

यहां (कारिका में सूचित) 'अर्थव्यञ्जकता' के निरूपण का तात्पर्य है अर्थों की जैसी व्यञ्जना हुआ करती है उसके निरूपण का (क्योंकि जैसे इसके पहले उल्लास में शाब्दी व्यञ्जना का स्वरूप बताया जा चुका है वैसे यहां आर्थीव्यञ्जना का भी स्वरूप तो स्पष्ट बताना आवश्यक ही है।)

अनुवाद—सहृदयों को-काव्यभावना परिपक्व बुद्धि काव्यरसिकों को-आपाततः प्रतीत अर्थ के अतिरिक्त, यथास्थान किंवा यथासम्भव जो एक अन्य अर्थ प्रतीत हुआ करता है और जिसके कई कारण हो सकते हैं जैसे कि—

१. वक्तृ-वैशिष्ट्य
२. बोद्धव्य (श्रोतृ)-वैशिष्ट्य
३. काकु-वैशिष्ट्य
४. वाक्य-वैशिष्ट्य
५. वाच्य-वैशिष्ट्य
६. अन्य सन्निधि-वैशिष्ट्य
७. प्रस्ताव-वैशिष्ट्य
८. देश-वैशिष्ट्य
९. काल-वैशिष्ट्य और
१०. अन्यविध-वैशिष्ट्य

वहां जो व्यञ्जना है वह (शब्द की व्यञ्जना नहीं अपितु वस्तुतः) अर्थ की ही व्यञ्जना हुआ करती है (क्योंकि अर्थ ही, उन उन वैशिष्ट्य-निमित्तों से, अपने से भिन्न अर्थ का, अभिव्यञ्जन करवाता हुआ स्पष्ट प्रतीत होता है।)

यहां (कारिका में) 'बोद्धव्य' का अभिप्राय है 'प्रतिपाद्य' का-उसका जिसके बोधन

क्रमेणोदाहरति—

(वक्तृवैशिष्ट्य से वाच्यरूप अर्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥ १३ ॥

(अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि ! त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥)

अत्र चौर्यरतगोपनं गम्यते ।

(बोद्धव्य वैशिष्ट्य से वाच्यरूप अर्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

ओण्णिद्दं दोव्वल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम् ।
मम मन्दभाइणीए केरं सहि तुहवि अहह परिहवइ ॥ १४ ॥

(औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह ! परिभवति ॥)

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते ।

कराने के लिये बात कही गयी हो (बोद्धु योग्यः बोद्धव्यः बोद्धुमर्थात् बोधयितुम् अन्तर्भावितण्यर्थः) । 'काकु' कहते हैं ध्वनिविकार को । 'प्रस्ताव' का तात्पर्य है 'प्रकरण' का । 'अर्थ' का अभिप्राय है (यथासम्भव) वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ रूप त्रिविध अर्थ का जो किसी व्यङ्ग्य अर्थ के द्योतक हों ।

इस आर्थी-व्यञ्जना के उदाहरण (जिनसे व्यञ्जक अर्थ की नानाविध विशिष्टता के निमित्तों का स्वरूप स्पष्ट हो जाय) क्रमशः दिये जा रहे हैं ।

अनुवाद—'अरी सखी ! क्या बताऊँ, बिना कुछ थोड़ी देर विश्राम लिये मुझे शान्ति कहां ! इतना बड़ा और वह भी पानी से भरा घड़ा उठाना और तब भी झटकते हुए आना ! ओह ! कितनी थक गई हूँ, कितनी पसीने की बूँदें निकल आयी हैं, कितनी जोर से सांस चल रही है, देह में ऐसा लगता है जैसे बिलकुल भी दम न हो !'

यहां जो वाच्यरूप अर्थ है अर्थात् एक स्त्री का अपनी सखी से पानी भरे घड़े ले जाने के कारण अपनी थकावट का वर्णन, वह-सहृदय सामाजिकों के लिये, इसलिये कि उन्हें पता है कि यहां अपनी थकावट का वर्णन करने वाली स्त्री कोई सती-साध्वी स्त्री नहीं अपितु एक पुंश्चली है-एक और ही अर्थ का व्यञ्जक प्रतीत हो रहा है और जिस अर्थ का यहां अभिव्यञ्जन हो रहा है वह अर्थ है यहां अपनी थकावट का वर्णन करने वाली नायिका का, अपनी रति-लीला के छिपाने का अभिप्राय ।

अनुवाद—'अरी सखी ! मुझ अभागिन के लिये कितने दुःख की बात है, कि तुझे भी अब नींद नहीं आती, तुझे भी दुर्बलता सता रही है, तुझे भी चिन्ता खाये जा रही है और तुझे भी थकावट और लम्बी लम्बी सांसें तंग कर रही हैं !' यहां जो वाच्यरूप अर्थ है अर्थात् एक नायिका का, अपनी दूती अथवा सखी से, उसकी दुर्दशा में सहानुभूति प्रकट करने का अभिप्राय-वह काव्य-रसिकों के लिये, क्योंकि उन्हें यहां यह पता है कि जिस दूती के प्रति सहानुभूति का भाव प्रकट किया जा रहा है वह ऐसी है जिसने सहानुभूति प्रकट करने वाली नायिका के साथ छल किया है और उसी के प्रेमी के साथ रति-सुख-भोग करने लगी है-एक और ही अर्थ का अर्थात् यहां निर्दिष्ट दूती का अपनी मालकिन के ही प्रेमी के साथ रति-लीला के आनन्द लेने के अभिप्राय का प्रत्यायन करा रहा है-व्यञ्जक बन रहा है ।

(काकुवैशिष्ट्य से वाच्यार्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

तथा भूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥ १५ ॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काका प्रकाश्यते । न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यं प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः ।

(वाक्यवैशिष्ट्य से वाच्यरूप अर्थ की व्यङ्ग्यार्थ प्रत्यायकता)

तइआ महगण्डत्थलणिमिअं दिठ्ठिं ण णेसि अण्णत्तो ।
एण्हिं सच्चेअ अहन्तेअ कवोला ण सा दिठ्ठी ॥ १६ ॥

अनुवाद—'कहो सहदेव ! हम लोगों के पूज्य युधिष्ठिर को यह पता नहीं कि पाञ्चाल-राजकुमारी द्रौपदी पर राजा दुर्योधन की राजसभा में क्या क्या बीत गयी ! क्या यह पता नहीं कि पेड़ों की छाल लपेटे व्याधों के साथ, बन बन में न जाने कब से हम सभी को मारे मारे फिरना पड़ रहा है ! क्या यह भी पता नहीं कि विराट के घर में हम में से हर एक को किस किस अपमानजनक ढङ्ग को अपनाये रहना पड़ चुका है ! किन्तु उन्हें तो इन सब बातों से विह्वल-हृदय मुझ पर अपना क्रोध निकालना है ! वे आज भी कौरवों पर भला क्योंकर क्रोध करने लगे !'

यहां जो वाच्यरूप अर्थ है अर्थात् सहदेव के प्रति, भीम का, युधिष्ठिर के हृदय में, कौरवों से प्रतिशोध के भाव के न उठने का वर्णन, उससे सहृदय-हृदय में एक और ही अर्थ झलक रहा है जिसका रूप है—'सहदेव ! युधिष्ठिर को तो कौरवों पर क्रोध करना चाहिये न कि मुझ पर !' यह अर्थ यहां इसलिये झलक रहा है क्योंकि सहृदय सामाजिक यहां 'भीम' की उक्ति में प्रत्येक पद पर की गयी उसकी 'काकु'–हृदय के भाव के प्रकाशक एक विशेष प्रकार के शब्दोच्चारण की क्रिया–का पर्यालोचन कर चुका है।

यहां जो उपर्युक्त व्यङ्ग्यरूप अर्थ है वही इस रचना का वास्तविक सार है और इसी लिये (वेणीसंहार के प्रथम अङ्क की) यह सूक्ति ध्वनिकाव्य के रूप में निखर उठी है। यहां ऐसा कभी नहीं समझना चाहिये कि जिस 'काकु' के कारण उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है वह ऐसी है जो अन्ततोगत्वा यहां के वाच्यरूप अर्थ के निष्पादन और प्रत्यायन का ही एक साधन—उपाय–है। क्योंकि तब तो यहां जो व्यङ्ग्यरूप अर्थ है, उसे ध्वनि क्यों, उसे तो गुणीभूतव्यङ्ग्य कहना पड़ेगा ? किन्तु यहां बात वस्तुतः यह है कि यहाँ 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' की कोई सम्भावना ही नहीं क्योंकि 'काकु' द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ ऐसा अर्थ कहां जिससे वाच्यार्थ की अनुपपत्ति दूर की जाय ! 'काकु' से तो यहां 'नाद्यापि कुरुषु ?' यह प्रश्न ही यदि व्यङ्ग्य हो जो कि हो सकता है, तब भी वाच्यार्थ निष्पन्न ही है। अब जब कि काकु–व्यङ्ग्य प्रश्न से ही वाच्यार्थ–निष्पत्ति हो जाय और उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो पद–पद पर पड़ने वाली एक दूसरी ही 'काकु' से–ध्वनि विकृति से–तब तो यही मानना युक्तियुक्त हुआ कि यह सूक्ति ध्वनिसूक्ति है न कि गुणीभूतव्यङ्ग्य–सूक्ति।

अनुवाद—'अरे प्रियतम ! उस समय की तो बात ही और थी जब तुम्हारी आंखें निर्निमेष मानो मेरे कपोल–फलक को ही देखा करतीं और वहां से अन्यत्र जाने का नाम भी न लेतीं ! किन्तु अब तो वह बात रही नहीं और तुम्हारी आंखें भी तब वैसी क्यों होने लगीं ? अब तो मैं बस मैं रह गयी और मेरे कपोल–फलक बस मेरे कपोल–फलक रह गये।'

(तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न च सा दृष्टिः ॥)

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत्, चलितायान्तु तस्यामन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते इति व्यज्यते ।

(वाच्यवैशिष्ट्य से वाच्यरूप अर्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणी विभ्रमो नर्मदायाः ।
किञ्चैतस्मिन्सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभूः ॥ १७ ॥

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम् ।

(अन्य सन्निधिवैशिष्ट्य से वाच्यरूप अर्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

णोल्लेइअणोल्लमणा आता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥ १८ ॥

(नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले ।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥)

अत्र सन्ध्यासङ्केतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

यहां यह स्पष्ट है कि 'तदा' और 'इदानीम्' इस पदद्वयात्मक वाक्य-वैशिष्ट्य के अनुसन्धान कर चुकने वाले सहृदयों को, यहां के वाच्यरूप अर्थ से एक और ही व्यङ्ग्यरूप-अधिकाधिक चमत्कारजनक-अर्थ प्रतीत होता चल रहा है जिसका यह रूप है—जब कि मेरे पास बैठी मेरी सखी की परछायीं मेरे गालों पर पड़ती रही तब तो तेरी आंखें मेरे गालों को देख २ अपलक सी होती रहीं और एक अद्‌भुत स्नेह बरसाती रहीं किन्तु जब मेरी वह सखी उठ चली तब भला वह निर्निमेष और वह स्निग्ध दृष्टि क्यों कर होने लगी ! तू ने तो मेरी सखी पर अपना प्रच्छन्न प्रेम ऐसा दिखाया कि बस और कोई क्या दिखावेगा !

अनुवाद—'अरी सुन्दरी ! देख तो कितना सुन्दर नर्मदा का यह किनारा है ! हरे २ केलों के पौधों की कतारों से कितना हरा-भरा लग रहा है ! यहाँ हवा क्या वह रही है, ऐसा लगता है, हृदय की सोयी हुई भावनाओं को जगा रही है ! ये हवा के झोंके नहीं, ये तो, यों ही, लोक-विजय के लिये चल पड़ने वाले, प्रेम-महाराज की सेनायें हैं ! इन कुञ्जों में, भला कौन सुन्दरी होगी, जो, यों ही, किसी के साथ के लिये, मचल न पड़ेगी !

यहाँ यह स्पष्ट है कि वाच्यरूप अर्थ से अर्थात् नर्मदा तट के किसी एकान्त स्थान के वर्णन से, सहृदय हृदय में, एक व्यङ्ग्यरूप अर्थ की प्रतीति हो रही है, जिसका रूप है—'चलो, यहीं हम दोनों आनन्द मनावें'। इस प्रतीति का भी एक कारण है और वह है यहां उपर्युक्त नर्मदा तट वर्णन में कुछ ऐसी विशेषताओं के निर्देश का जिनका संकेत यही है कि यह स्थान एक शान्त निर्जन प्रेम-मिलन स्थान है ।

अनुवाद—'अरी सखी ! मेरी सास इतनी निठुर है कि दिन भर तो घर के किसी न किसी काम में लगाये ही रहा करती हैं। मुझे तो केवल शाम को क्षण भर के लिये फुरसत मिली तो मिली और न मिली तो न मिली !,

यहां जो वाच्य है—वाच्य रूप तात्पर्यार्थ है-उसके द्वारा सहृदयों को इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हुआ करती है-'प्रियतम ! सायंकाल तुम से मिलूंगी और अवश्य मिलूंगी'। यह

(प्रस्ताव अथवा प्रकरण-वैशिष्ट्य से वाच्यरूप अर्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमेअ कित्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ॥ १९ ॥

(श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि ! सज्जय करणीयम् ॥)

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता न युक्तमिति कयाचिन्निवार्यते ।

(देश-वैशिष्ट्य से वाच्यरूप अर्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥ २० ॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ॥

(काल-वैशिष्ट्य से वाच्यरूप अर्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मंदभाइणी अहकम् ।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअ जेव्व सुणसि करणिज्जम् ॥ २१ ॥

(गुरुजनपरवश प्रिय ! किं भणामि तव मन्दभागिनी अहम् ।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥)

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावद् न भवामि तव न जानामि गतिमिति व्यज्यते ।

व्यङ्ग्यार्थ इसलिये यहां निकल पड़ता है क्योंकि नायिका का प्रेमी आसपास खड़ा है जिसे दिनभर काम में लगे रहने की बात सुनायी जा रही है।

अनुवाद—'अरी सखी ! लोगों की बातचीत से सुना है कि आज ही तेरा पति थोड़ी ही देर में, यहां आ पहुंचेगा । अरी ! तुझे तो जैसे कुछ पता ही नहीं, जा, चल, जो कुछ करना धरना है, कर डाल । यहां जो प्रस्ताव अथवा प्रकरण है अर्थात् नायिका की अपने उपपति से मिलने की तैयारी, उसकी विशेषता से, सहृदयों को यह व्यङ्ग्यरूप अर्थ पता चल रहा है-'अरी इस समय तेरा अपने उपपति से मिलने के लिये जाना ठीक नहीं ।,

अनुवाद—'अरी सखियो ! यहां मुझे फल तोड़ने दो, मैं दूर नहीं चल सकती, हाथ जोड़ती हूं, नाराज़ न हो, तुम सब कहीं दूसरी जगह से फूल तोड़ लो ।,

यहां देश-वैशिष्ट्य से अर्थात् सखियों को फूल तोड़ने के लिये अन्यत्र भेजकर किसी एक स्थान के एकान्त और निर्जन बना देने से, यहां का वाच्य रूप अर्थ एक व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायक हो रहा है और वह व्यङ्ग्यार्थ है यहां यह सब कहने वाली सखी का-वस्तुतः सखी वेष-धारी प्रेमी का-अपनी प्रेमिका से यह कहना-'अरी प्यारी ! अब डरने की क्या बात, अब तो यहां से सभी सखियां चली गयीं अब आ जाना, हम दोनों यहां आनन्द मनालेंगे ।,

अनुवाद—'मेरे प्रियतम ! मेरे बड़े-बूढ़ों के आज्ञाकारी प्रियतम ! मैं तुम से कुछ कहने वाली कौन ! मैं तो इतना ही जानती हूं कि मैं बड़ी अभागिन हूं । आज तुम यहां से जाने वाले हो, जाओ, जहां भी जा रहे हो, जाओ, किन्तु यह सुन लेना कि तुम्हारे चले जाने पर मेरा क्या हुआ !,

यहां 'अद्य' पद से वर्णित वसन्त-समय का वैशिष्ट्य, इस उपर्युक्त वाच्यार्थ से, एक

(अन्यान्यवैशिष्ट्य से वाच्यरूप अर्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरतः शिरोंशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ॥ २२ ॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते ।

(उपर्युक्त वक्त्रादि-वैशिष्ट्यके परस्पर संयोग से भी वाच्यार्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते । वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन ।

व्यङ्ग्य अर्थ के प्रत्यायन का निमित्त बन रहा है और वह व्यङ्ग्य अर्थ है–'प्रियतम ! तुम पर, इस वसन्त में, प्रवास से क्या बीतेगी यह तो मैं नहीं जानती, किन्तु मैं तो कभी नहीं बच सकती, मुझे तो अब मरना लिखा है।

अनुवाद—यहां कारिका में वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रत्यायकता के जिन-जिन निमित्तों का परिगणन है वह एक निर्देश-मात्र है क्योंकि 'प्रस्तावदेशकालादेः' में 'आदि' पद से यही अभिप्राय रखा गया है कि इनके अतिरिक्त अन्यान्य-वैशिष्ट्य भी समझ लिये जांय जिनसे वाच्यरूप अर्थ व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायक हुआ करता है । जैसे कि चेष्टा का वैशिष्ट्य (अथवा किसी भावभङ्गी का वैशिष्ट्य)। उदाहरण के लिये चेष्टा का वैशिष्ट्य, जिससे निम्नाङ्कित सूक्ति का वाच्यार्थ, सहृदय सामाजिक के हृदय में, एक व्यङ्ग्यार्थ की अनुभूति का निमित्त बन रहा है।

'अरे मित्र ! तुमसे क्या बताऊं, जैसे ही उस अपूर्व सुन्दरी ने अपने घर के द्वार के पास पहुंचते मुझे देखा कि एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो गया ! पहले तो उसने अपनी जांघों को कुछ फैला सा दिया, फिर तुरत उन्हें मिला लिया, एक बार तो उसने अपने सिर के अञ्चल को अपने मुंह के कुछ सामने खींच लिया फिर तुरत अपनी चञ्चल आंखों के नीचे कर लिया, मुंह से वह कुछ भी न बोली, बस अपनी दोनों भुजलताओं को एक में मिला कर चुप खड़ी हो गयी !'

यहां जो व्यङ्ग्य रूप अर्थ है–वाच्यार्थ से कहीं सुन्दर और कहीं सरस अर्थ–वह है इन चेष्टाओं को करने वाली नायिका का, अपने प्रच्छन्न कामुक के प्रति, अपने हृदय के प्रेम के प्रकाशन का अभिप्राय।

अनुवाद—यहां वाच्यार्थ को व्यञ्जक बनाने के नानाविध निमित्तों में से एक के बाद एक, कई एक निमित्तों के जो उदाहरण उपस्थित किये गये वे इसी लिये किये गये जिससे सहृदय सामाजिक को यह स्पष्ट पता लग जाय कि एक-एक निमित्त, पृथक् २ रूप से, कैसे वाच्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायक बना दिया करता है और इसलिये भी कि आर्थी व्यञ्जना के प्रत्येक निमित्त का और उसमें आर्थी व्यञ्जना के स्वरूप का स्पष्ट पता चल जाय। ऐसा करने का एक विशेष उद्देश्य रहा और वह उद्देश्य यह रहा कि (काव्य-साहित्य में) ये निमित्त सदा पृथक् २ नहीं रहा करते, अपि तु परस्पर संसृष्ट अथवा परस्पर संकीर्ण रूप से भी रहा करते हैं और कभी दो-दो, कभी तीन-तीन मिले-जुले भी वाच्यार्थ को व्यञ्जक बनाया करते हैं जिससे सहृदय-हृदय व्यङ्ग्यार्थ का अनुभव किया करता है।

(लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भी व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायकता)

अनेन क्रमेण लक्ष्य-व्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम् ।

(आर्थीव्यञ्जना में शब्द की भी सहकारिता)

(३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥ २३ ॥

(शब्दवेद्य अर्थ ही काव्य-साहित्य में व्यञ्जक अर्थ है)

शब्देति । न हि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः ॥

इति काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीयोल्लासः ॥ ३ ॥

अनुवाद—यहां (स्थान की कमी के कारण) कतिपय निमित्त-वैशिष्ट्य से केवल वाच्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायक बनते प्रदर्शित किया गया। किन्तु इसका उद्देश्य यही है कि लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भी (काव्य-साहित्य में) व्यञ्जक-रूप से रहा करते हैं और (यथा स्थान किं वा यथा सम्भव) अपने से कहीं अधिक सुन्दर व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायन करवाया करते हैं। यहां लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता के उदाहरण इसलिये नहीं दिये जा रहे हैं कि सहृदय सामाजिक स्वयं उन्हें ढूंढ़ लेंगे और स्वयं समझ लेंगे कि लक्ष्यार्थ से निकलने वाला अथवा एक व्यङ्ग्यार्थ से भी निकलने वाला व्यङ्ग्यार्थ कैसा हुआ करता है !

अनुवाद—यहां अर्थ की व्यञ्जकता इसलिये नहीं प्रदर्शित की गयी कि शब्द-निरपेक्ष अर्थ को—अर्थ मात्र को—ही व्यञ्जक मान लिया जाय ! क्योंकि काव्य तो 'शब्दार्थ युगल' है और जब तक शब्द और अर्थ दोनों को व्यञ्जक न देखा जाय तब तक अर्थ मात्र के व्यञ्जक होने से कोई काव्य ध्वनि-काव्य कैसे हो जाय ! इसलिये यहां जो अभिप्राय समझना चाहिये वह यही समझना चाहिये कि अर्थ यदि कहीं प्रधानतया व्यञ्जक है—क्योंकि आर्थी व्यञ्जना का यही तो अभिप्राय है कि अर्थ किसी व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायक हो रहा है—तो शब्द वहां उसके सहायक रूप से व्यञ्जक है। ऐसा इसलिये कि काव्य-साहित्य में जिस वाच्य अथवा लक्ष्य अथवा व्यङ्ग्य रूप अर्थ को किसी व्यङ्गार्थ का व्यञ्जक कहा जाता है वह अर्थ तो उसके लिये प्रयुक्त शब्द के ही आधार पर निष्पन्न हुआ करता है न कि और किसी प्रमाण के आधार पर। (तात्पर्य यह है कि यहां शब्द को स्पष्टतया व्यञ्जक न कह कर अर्थ को ही जो व्यञ्जक कहा गया है वह इसीलिये कि शब्द को यदि उसके समानार्थक शब्द से बदल भी दे तो भी व्यङ्ग्यार्थ वैसा का वैसा ही रहा करता है। जैसे शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ की सहकारिता—नहीं दूर की जासकती वैसे ही आर्थी व्यञ्जना में शब्द का सहयोग भी नहीं हटाया जा सकता)।

अनुवाद—यहां (कारिका में) अर्थ को 'शब्दप्रमाणवेद्य' कहना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि शब्द के अतिरिक्त अन्य साधनों से जाना गया अर्थ 'लोक' में भले ही किसी अर्थ का व्यञ्जक हो, काव्य-साहित्य' में तो वही अर्थ 'व्यञ्जक' कहा जा सकता है जो प्रयुक्त (परिवृत्ति-सह ही क्यों न हो) शब्द के आधार पर प्रतीत हुआ करता है। (तात्पर्य यह है कि काव्य 'शब्दार्थयुगल' है, पार्वती-परमेश्वर रूप शब्द-अर्थ सदा साथ २ रहा करते हैं, जैसे शब्द-सौन्दर्य की उपासना में अर्थ-सौन्दर्य की उपासना अन्तर्भूत है वैसे ही अर्थ-

सौन्दर्य की उपासना में शब्दसौन्दर्य की उपासना समायी हुई है। व्यङ्ग्यार्थ को हम भजते हैं तो भजा करें किन्तु उसकी भावना में किसी शब्द की व्यञ्जकता से प्रभावित होकर न तो उसके अर्थ को ही छोड़ सकते हैं और न किसी अर्थ की व्यञ्जकता से मुग्ध हो कर उसके ज्ञापक अथवा स्मारक शब्द को ही भुला सकते हैं। यह दूसरी बात है कि शब्द को प्रधान तया व्यञ्जक मान कर कहीं शाब्दी व्यञ्जना मानलें और अर्थ को मुख्यतया व्यञ्जक देख कर कहीं आर्थी–व्यञ्जना कह लें।)

टिप्पणी—(क) ध्वनिकार ने 'व्यञ्जकत्व' को शब्द और अर्थ दोनों का एक धर्म–एक स्वभाव–माना है। शब्द और अर्थ दोनों का धर्म होने से 'व्यञ्जकत्व' की विशेपता और विचित्रता है। काव्य की विशेषता और विचित्रता का निमित्त इस प्रकार वस्तुतः काव्य का 'व्यञ्जकत्व' रूप धर्म ही सिद्ध हो रहा है:—

'अपि च व्यञ्जकत्वलक्षणो यः शब्दार्थयोर्धर्मः स प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधीति न कस्यचिद् विमतिविषयतामर्हति। शब्दार्थयोः प्रसिद्धो यः संबन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुरुन्धान एव व्यञ्जकत्वलक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तरसम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते। अत एव वाचकत्वात्तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। सत्वनियत औपाधिकत्वात्। प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितथात्वप्रतीतेः। ननु यद्यनियतस्तत्किं तस्य स्वरूपपरीक्षया? नैष दोषः, यतः शब्दात्मनि तस्याऽनियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यलक्षणे।' (ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)

(ख) आर्थी व्यञ्जना में शब्द की जिस सहकारिता का आचार्य मम्मट ने निर्देश किया है वह ध्वनिकार की इन पंक्तियों में प्रतिपादित है:—

'ननु स्वपक्षेऽपि यदार्थो व्यङ्ग्यत्रयं प्रकाशयति तदा शब्दस्य कीदृशो व्यापारः? उच्यते—प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनैवार्थस्य तथाविधं व्यञ्जकत्वमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः कथमपह्नूयते!

इसका अभिप्राय यही है कि अर्थ द्वारा अभिव्यङ्ग्य वस्तु–अलङ्कार किं वा रसरूप त्रिविध काव्यार्थ में शब्द का सहयोग इसलिये अपेक्षित है कि प्रकरणादि वैशिष्ट्यवश शब्द ही ऐसे व्यञ्जक रूप अर्थ का निमित्त है जिससे किसी व्यङ्ग्यरूप अर्थ की प्रतीति हुआ करती है।

(ग) वस्तुतः काव्यप्रकाशकार की शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना और दोनों में अर्थ और शब्द की क्रमशः उपयोगिता की जो धारणा है उसका आधार ध्वनिकार की यह ध्वनि–लक्षण–कारिका ही है:-

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ (ध्वन्यालोक १.१३)

जिसकी लोचनकार कृत यह वृत्ति स्पष्टतया शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ की सहकारिता और आर्थी व्यञ्जना में शब्द की सहकारिता का समर्थन कर रही है:—

'व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथाऽज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात्। विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याऽव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः। तेन भट्टनायकेन यद् द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव। अर्थः शब्दो वेति तु विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण।

तृतीय उल्लास समाप्त



अथ चतुर्थ उल्लासः

(उत्तमकाव्य-ध्वनिकाव्य-निरूपणात्मकः)

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं तथाऽपि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

(लक्षणामूल ध्वनिकाव्य-प्रथमप्रकारः अर्थान्तर संक्रमितवाच्य-ध्वनिकाव्य और द्वितीय प्रकारः अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि काव्य)

(३६) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद्ध्वनौ ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र स ध्वनौ इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः । तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम् । यथा—

अनुवाद—यद्यपि शब्द और अर्थ के स्वरूप का निरूपण कर चुकने के बाद (जैसा कि द्वितीय और तृतीय उल्लास में किया ही जा चुका है) दोष, गुण और अलङ्कार के स्वरूप-विवेचन का ही अवसर है (क्योंकि 'तददोषो' शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस काव्यलक्षण से निरूपण का यही क्रम सिद्ध है) किन्तु दोष, गुण और अलङ्कार तो धर्म रहे—कुछ हेय और कुछ उपादेय, कहीं हेय और कहीं उपादेय, और जब तक उसका निरूपण न कर लिया जाय जिसके ये धर्म हुये-अर्थात् काव्य और उसके प्रकारों का—तब तक इनका स्वरूप-विवेक क्यों कर होने लगे ! इसलिये यहां पहले काव्य के प्रकारों का निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है—

अनुवाद—वह ध्वनि काव्य जिसे 'अविवक्षित-वाच्य ध्वनि काव्य' कहा जाया करता है, ऐसा हुआ करता है जिसमें वाच्यार्थ या तो 'अर्थान्तर संक्रमित' रहे (अपने आप में अनुपयुक्त हो जाने के कारण अपने से भिन्न किसी वाच्य अथवा लक्ष्य रूप अर्थ में परिणत सा हो जाय अर्थात् अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि काव्य) या अत्यन्त तिरस्कृत' रहे (अपने आप में असम्बद्ध हो जाने के कारण सर्वथा तिरस्कृत—उपेक्षणीय अथवा अपने से भिन्न अर्थ का एकमात्र लक्षक बन जाय, अर्थात् अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि काव्य)।

यहां ('अविवक्षितवाच्यो यः' में) 'यः' (जो) का अभिप्राय है (अविवक्षितवाच्यो) 'यः ध्वनिः (जो ध्वनि) का। ऐसा इसलिये, कि 'यः' का 'यत्' और 'तत्र' का 'तत्' दोनों उद्देश्य—विधेय भावरूप से परस्पर साकांक्ष ठहरे और जब 'तत्र ध्वनौ' इस विधेय पद में 'तत्' के विशेषण रूप से 'ध्वनौ' का प्रयोग हो ही चुका तब उसकी अपेक्षा अनुवाद्य (उद्देश्य) भूत 'यः' में भी 'ध्वनिः' यह विशेषण (अर्थतः) सिद्ध ही हो गया। अब इस प्रकार यह जो 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' (काव्य) है उसमें वाच्य अविवक्षित—अनुपयुक्त अथवा असम्बद्ध तो हुआ ही करता है क्योंकि यहां जो व्यङ्ग्यार्थ है वह लक्षणामूलक ही है, किन्तु इसे 'ध्वनि काव्य'—वस्तुतः 'अविवक्षित वाच्य ध्वनि काव्य-रूप होने के लिये यह आवश्यक है कि यहां जो ध्वनि अथवा व्यङ्ग्यरूप अर्थ हो वह गूढ़ हो—सहृदय संवेद्य हो और हो साथ ही साथ प्रधानतया अवस्थित—लक्ष्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार पूर्ण। इस काव्य के (अर्थात् 'अविवक्षितवाच्यध्वनि काव्य' के) दो प्रकार है १ ला अर्थात् 'अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि काव्य', जिसमें वाच्य अपने

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥ २३ ॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति ॥

क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् । यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥२ ॥

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वदति ।

आप में अविवक्षित–अनभिप्रेत–अनुपयुक्त होकर अपने से अतिरिक्त किसी अन्य (वाच्य अथवा लक्ष्य सदृश) अर्थ में परिणत सा प्रतीत हुआ करता है (अर्थात् जो लक्ष्यार्थ हुआ करता है वह उपादान लक्षणा का विषय हुआ करता है।) जैसे कि यह सूक्ति—'मैं तुम्हें बताये दे रहा हूं कि यहां बुद्धिमान् लोगों की बैठक लगी है और इसलिये यदि तुम यहां बैठना चाहते हो' तो अपनी समझबूझ ठीक ठाक करके ही बैठना !,

जहां यह स्पष्ट है कि (वक्ता की श्रोता के प्रति हितकारिता और श्रोता की चाल ढाल में उपहसनीयता का अर्थ ही वस्तुतः मुख्य अर्थ है और ऐसा अर्थ है जो व्यञ्जना-प्रतिपाद्य अर्थ है और) जो वाच्य अर्थ है अर्थात् 'वच्मि' आदि का कथनादि रूप मुख्यार्थ है वह (अविवक्षित है, अनुपयुक्त है क्योंकि वक्ता और श्रोता के परस्पर संमुख रूप से उपस्थित रहते 'अस्मि' और 'त्वाम' और 'वच्मि' आदि पदों के उपादान की क्या आवश्यकता ! और) अपने से सम्बद्ध किन्तु भिन्न प्रकार के अर्थ में जैसे कि हित की बात बताने आदि के अर्थ में (वस्तुतः लक्ष्यार्थ में) सवर्था संक्रान्त प्रतीत हो रहा है (अर्थात् ऐसा लग रहा है मानो एक प्रकार से लक्ष्यार्थ ही के लिये पड़ा हो)।

और २रा, अर्थात् (अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि काव्य) जिसमें वाच्य अपने आप में अविवक्षित-अनुपपन्न–असंगत होकर (अपने अतिरिक्त किसी अन्य वाच्य अथवा लक्ष्य सदृश अर्थ की दृष्टि से) सर्वथा तिरस्कारास्पद बना रहता है (अर्थात् जो लक्ष्यार्थ हुआ करता है वह उपादानलक्षणा के अतिरिक्त अन्य प्रकार की लक्षणा का विषय रहा करता है), जैसे कि यह सूक्ति—'अरे मित्र ! तुम्हारे उपकारों का भला क्या वर्णन करूं ! तुमने जो सुजनता दिखाई वैसी भला और कौन दिखावे ! बस जीवन भर ऐसा ही किया करो और ऐसे ही सुखी रहा करो।,

जहां यह स्पष्ट है कि (जो व्यङ्ग्यार्थ है वह तो है वक्ता के द्वारा अपने मित्रमुख शत्रु की दुष्टहृदयता का प्रकाशन और) जो वाच्य है अर्थात् उपकारिता आदि का प्रतिपादन वह अपकारिता आदि रूप लक्ष्यार्थ की दृष्टि से, क्योंकि यहां लक्षणा है और वैपरीत्य सम्बन्ध से है, सर्वथा तिरस्कृत है क्योंकि अपकार करने वाले के प्रति 'तुमने बड़ा उपकार किया' आदि कथन अविवक्षित–अत्यन्त असंगत नहीं तो और क्या !

टिप्पणी—ध्वनिकार ने लक्षणामूल व्यञ्जना की दृष्टि से ध्वनि काव्य के ये ही दो प्रकार बताये हैं। उनका कथन है—

'अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधामतम् ॥'
'तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः' (ध्वन्यालोक २·१)

जिसका यही अभिप्राय है कि 'अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य' ऐसा काव्य है जिसमें वाच्यार्थ या तो 'अर्थान्तरसंक्रमित' रूप रहा करे या 'अत्यन्ततिरस्कृत' रूप और ऐसा इसलिये कि यहां जो भी विशेषता और रमणीयता है वह ऐसे वाच्यार्थ की नहीं अपितु इससे अभिव्यङ्ग्य अर्थ की—ध्वनिरूप अर्थ की।

(अभिधामूल ध्वनिकाव्य)—

(४०) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् ।

स एष च ।

(अभिधामूलक ध्वनिकाव्य के दो प्रकार—१. असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनि काव्य और २. संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य)

(४१) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥ २५ ॥

अलक्ष्येति न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः स तु लाघवान्न लक्ष्यते ।

तत्र—

ध्वनिकार की इसी मान्यता का स्पष्टीकरण लोचनकार ने भी किया है जिनका यहां यह कथन है—

(अर्थान्तरे) संक्रमितमिति णिचा व्यञ्जनाव्यापारे यः सहकारिवर्गस्तस्यायं प्रभाव इत्युक्तम् (अर्थान्तरात्) तिरस्कृतशब्देन च । येन वाच्येनाऽविवक्षितेन सताऽविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्व्यपदिश्यते तद्वाच्यं द्विधेति सम्बन्धः । योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावतैवाऽनुपयोगाद्धर्मान्तर संवलनयाऽन्यतामिव गतो लक्ष्यमाणोऽनुगतधर्मी सूत्रन्यायेनास्ते स रूपान्तरपरिणत उक्तः । यस्त्वनुपपद्यमान उपायता मात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति । ननु व्यङ्ग्यात्मनो यदा ध्वनेर्भेदो निरूप्यते तदा वाच्यस्य द्विधेति भेदकथनं न सङ्गतमित्याशङ्क्याह—तथा विधाभ्यां चेति—चो यस्मादर्थे । व्यञ्जकवैचित्र्याद्धि युक्तं व्यङ्ग्यवैचित्र्यमिति भावः । व्यञ्जके त्वर्थे यदि ध्वनिशब्दस्तदा न कश्चिद्दोष इति भावः ।, (ध्वन्यालोकलोचन २.१)

जिसका तात्पर्य यही है कि 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की महिमा से वाच्यार्थ का प्रभाव नष्टप्राय रहा करता है क्योंकि यहां जो वाच्यार्थ है वह या तो अपने रूप को छोड़ता हुआ रूपान्तर का ग्रहण किये प्रतीत हुआ करता है या अपने से भिन्न अर्थ का प्रत्यायन करा कर स्वयं वहां से खिसक जाया करता है ।

आचार्य मम्मट ने यहां इन्हीं दोनों आचार्यों का अनुसरण किया है ।

अनुवाद—दूसरे प्रकार का ध्वनिकाव्य, जो 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिकाव्य' कहा जाता है ऐसा हुआ करता है जिसमें वाच्यार्थ विवक्षित (उपपन्न) तो अवश्य रहा करता है किन्तु स्वनिष्ठ–अपने आप में विश्रान्त–नहीं अपि तु व्यङ्ग्यनिष्ठ–व्यङ्ग्यरूप अर्थमें विश्रान्त–रहा करता है ।

यहां कारिका में 'अन्यपर'–अन्यपरक का अभिप्राय है 'व्यङ्ग्यनिष्ठ'–व्यङ्ग्यपरक होने का (क्योंकि वाच्यार्थ के विवक्षित होकर भी अन्यपरक होने का जो अभिप्राय हो सकता है वह यही है कि वाच्यार्थ व्यङ्ग्यरूप अर्थ के लिये ही रहा करता है और व्यङ्ग्यरूप अर्थ का ही उपायरूप हुआ करता है) । और यह ध्वनिकाव्य भी अर्थात् विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि काव्य भी (प्रथमतः दो प्रकार का है)—

अनुवाद—इसका पहला तो प्रकार वह है जिसे वस्तुतः एक अनिर्वचनीय चमत्कारकारी काव्य–कहा करते हैं और जिसका नाम है 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य' अथवा 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य और दूसरा वह जिसे 'लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य' अथवा 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य' कहा गया है ।

१ ला असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य—यहां (कारिका में) 'अलक्ष्य' (क्रमव्यङ्ग्य) का

(असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि काव्य के ८ प्रकार)

(४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥ २६ ॥

आदिग्रहणाद्भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानि। प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः। यथोदाहरिष्यते। अन्यत्र तु

अभिप्राय स्पष्ट है क्योंकि यह काव्य है रस काव्य और जिसे रसादि रूप व्यङ्ग्यार्थ कहा जाता है वह केवल विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव रूप वाच्यार्थ (व्यञ्जक) मात्र नहीं अपि तु इस वाच्यार्थ के द्वारा (विभाव-अनुभाव और व्यभिचारीभाव की वर्णना के द्वारा)-प्रतीत होने वाला काव्यार्थ है जिससे यह स्पष्ट है कि यहां 'क्रम' है तो अवश्य किन्तु ऐसा है कि पता नहीं चल पाता और इसलिये पता नहीं चल पाता कि जब सहृदय हृदय इसमें आनन्दविभोर हो जाय तब उसे इसके व्यञ्जक का-इसके उपायों का-उसी समय ध्यान क्योंकर होने लगे !

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इस समीक्षा का अनुसरण किया है—

'असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥'

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा। स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः'—(ध्वन्यालोक २.२)

और साथ ही साथ लोचनकार की इस समीक्षा को इन समर्थक-युक्तिओं का पुष्टीकरण किया है-

'सम्यङ् न लक्षयितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृश उद्द्योत उद्द्योतन व्यापारोऽस्येति बहुव्रीहिः। ध्वनिशब्दसांनिध्याद् विवक्षिताभिधेयत्वेनाऽन्यपरत्वमत्राक्षिप्तमिति स्वकण्ठेन नोक्तम्। ध्वनेरिति व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः। आत्मेति-पूर्वश्लोकेन व्यङ्ग्यस्य वाच्यमुखेन भेद उक्तः, इदानीं तु द्योतनव्यापार मुखेन द्योत्यस्य स्वात्मनिष्ठ एवेत्यर्थः। व्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्द्योतने स्वात्मनि कः क्रम इत्याशङ्क्याह-वाच्यार्थापेक्षयेति-वाच्योऽर्थो विभावादिः।
(ध्व० लो० २.२)

इस 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि काव्य' के इन दोनों प्रकारों में जो प्रथम प्रकार है वह-है 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि काव्य' (जिसके और अवान्तर प्रकार हैं)—

अनुवाद—यह 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि काव्य' इन अवान्तर प्रकारों वाला हुआ करता है जैसे कि—

(१) रस काव्य, (४) भावाभास काव्य, (७) भावसन्धि काव्य,
(२) भाव काव्य, (५) भावशान्ति काव्य, (८) भावशवलता काव्य।
(३) रसाभास काव्य, (६) भावोदय काव्य,

इस रसादि काव्य को (प्राचीन अलङ्कार शास्त्र सम्मत) रसवत् आदि (प्रेय-ऊर्जस्वी और समाहित) अलङ्कारों से सर्वथा भिन्न माना जाया करता है और ऐसा इसलिये कि यहां जो रसादि रूप व्यङ्ग्यार्थ रहा करता है वह 'अलङ्कार' नहीं अपि तु 'अलङ्कार्य' रूप-प्रधान रूप-अत्यधिक चमत्कारपूर्ण-ही प्रतीत हुआ करता है।

यहां (कारिका के 'रसभावतदाभास भावशान्त्यादि'-इस पद में) जो 'आदि' पद का प्रयोग किया गया है वह इसीलिये कि (भावशान्ति के अतिरिक्त) 'भावोदय', भावसन्धि और 'भावशवलता' का ग्रहण कर लिया जाय। यहां इस रसभावादि-ध्वनि को अर्थात् 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि' को जो 'अलङ्कार्य' कहा गया है, जैसा कि आगे उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा, उसका यही अभिप्राय है कि यहां जो रसभावादिरूप अभिव्यङ्ग्य अर्थ हुआ करते हैं वे ही वस्तुतः प्रधानतया अवस्थित अथवा एकमात्र चमत्कार

प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितादयोऽलङ्काराः। ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते।

(रसध्वनिकाव्यनिरूपण : रस-स्वरूप-विचार)

तत्र रसस्वरूपमाह—

(४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥ २७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः॥ २८॥

जनक हुआ करते हैं। किन्तु जहां ये अप्रधान रूप से रहा करते हैं, किसी अन्य प्रधान तया अवस्थित किंवा वाक्य के उद्देश्यभूत रसभावादि के अङ्ग रूप से प्रतीत हुआ करते हैं और गुणीभूतव्यङ्ग्य समझे जाया करते हैं वहां इन्हे 'अलङ्कार्य' नहीं अपि तु 'अलङ्कार' कहा जाया करता है। 'अलङ्कार्य' रूप से अवस्थित किन्हीं रसभावादि के 'अलङ्कार'–उत्कर्षाधायक–रूप से रहने वाले रसभावादि का, जिन्हें प्राचीन आलङ्कारिक 'रसवत्'–'प्रेय'–'ऊर्जस्वी' और 'समाहित' इन अलङ्कारों के नाम से स्मरण किया करते हैं, आगे 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के निरूपण-प्रसङ्ग में' सोदाहरण विवेचन किया ही जायगा।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इस मीमांसा का अनुमोदन किया हैं—
'रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः। ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥'
वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्। रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः॥
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः। काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥
(ध्वन्यालोक २. ३-५)

जिसका अभिप्राय यही है कि जब रसभावादि रूप अर्थ अङ्गी अथवा प्रधान रूप से अभिव्यङ्ग्य रहा करते हैं तब तो उन्हें 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' माना जाया करता है और जब ये अभिव्यङ्ग्य होकर भी अङ्ग रूप से अवस्थित रहा करते हैं तब इन्हें गुणीभूतव्यङ्ग्य' कहा जाया करता है। इन्हीं अङ्गरूप से अवस्थित रस-भावादि को रसवत् आदि अलंकार के रूप में भामह आदि काव्याचार्यों ने मान रखा है जिससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक ही है कि जब ये अङ्गी हुआ करें–प्रधानतया विराजमान रहा करें–तब ये 'अलङ्कार्य' कहे जांय।

अनुवाद—यहां (रसभावादि रूप ध्वनिकाव्य के विवेचन की दृष्टि से) सर्वप्रथम 'रस' के स्वरूप का विवेचन किया जारहा है—

लोक में–व्यावहारिक जीवन में–रति (प्रेम) आदि रूप भावों के–ऐसे भावों के जिन्हें अन्य भावों अथवा अन्य चित्तवृत्तिओं की अपेक्षा 'स्थायी' भाव अथवा अविच्छिन्नरूप से अवस्थित चित्तवृत्तिविशेष माना जाया करता है, जो कारण (जैसे कि ललना आदि रूप जनक–कारण तथा चन्द्रोदयादि रूप परिपोषक कारण) और कार्य (जैसे कि कायिक–वाचिक तथा मानसिक नाना भांति के कटाक्ष–भुजोत्क्षेप आदि कार्य) और सहकारी (जैसे कि चिन्ता–ग्लानि आदि रूप रत्यादि भाव के सहायक भाव) कहे जाया करते हैं, वे ही जब काव्य अथवा नाटक में, कवि अथवा नाटककार द्वारा उपनिबद्ध हुआ करते हैं तब उन्हें 'विभाव' (क्योंकि काव्य अथवा नाट्य में वर्णित ललनादि अथवा चन्द्रोदयादि में रति आदि भावों के जनन अथवा परिपोषण का सामर्थ्य नहीं अपि तु सहृदय सामाजिक के हृदय में वासनारूप से सदा विराजमान रति आदि रूप स्थायीभावों के विभावन–आस्वाद्यतापादन–का सामर्थ्य रहा करता है) और 'अनुभाव' (क्योंकि काव्य अथवा नाट्य में वर्णित कटाक्षभुजोत्क्षेप आदि में एक मात्र सहृदय हृदय में अवस्थित रत्यादिभावों के अनुभावन

(नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि के रस-सूत्र का प्रमाण)

उक्तं हि भरतेन—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरि'ति ।

(रस निष्पत्ति = रसोत्पत्ति)

(भट्टलोल्लट का रसवाद)

एतद्विवृण्वते विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः ।

अथवा अनुभव विषयीकरण की शक्ति रहा करती है) और 'व्यभिचारिभाव' (क्योंकि काव्य अथवा नाट्य में निर्वेद-ग्लानि-चिन्ता आदि मनोदशायें सहृदय-हृदय में वासना रूप से विराजमान रत्यादि भावों के विशेष रूप से, वस्तुतः व्यापक रूप से, संचारण-वारं वार अभिव्यञ्जन के लिये ही वर्णित रहा करती हैं) कहे जाया करते हैं। अब जिसे 'रस' के रूप में स्मरण किया जाया करता है वह है इन्हीं विभावों, अनुभावों और व्यभिचारि भावों के द्वारा (सहृदय हृदय में) अभिव्यक्त वह (रत्यादि रूप) भाव जो (वासना रूप से निरन्तर अवस्थित रहने के कारण) स्थायीभाव माना जाया करता है (क्योंकि लोक में रत्यादिरूप चित्तवृत्तियां न तो 'अभिव्यक्त' होती हैं और न 'रस' ही कही जाया करती हैं। यह तो काव्य और नाट्य की-कला की-महिमा है कि सहृदय सामाजिक के हृदय की ये सूक्ष्म-सुप्त-सदा अवस्थित रत्यादि रूप वृत्तियां उद्बुद्ध हुआ करती हैं और जब उद्बुद्ध हुआ करती हैं तो-रस-'आनन्द' रूप ही उद्बुद्ध हुआ करती हैं)

टिप्पणी—आचार्य मम्मट की इसी रस प्रक्रिया -समीक्षा का अनुसंधान काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्रने इस पंक्ति में किया है—

'विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्तः स्थायीभावो रसः।' (काव्यानुशासन २-१)

अनुवाद—यहां रस के स्वरूप का जैसा निरूपण किया गया उसमें भरतमुनि का रस-लक्षण सर्वथा प्रमाण है जिसका अभिप्राय यही है कि 'विभाव' 'अनुभाव' और व्यभिचारि-भाव की संयोजना अथवा वर्णना से रस (सहृदय हृदय में) निष्पन्न (प्रकाशित) हुआ करता है। (यह एक और बात है कि विभावादि के संयोग' और 'रसनिष्पत्ति' के सम्बन्ध में नाट्यवेद निष्णात पूर्वाचार्यों के विविध मत हैं जिनका संक्षिप्त विवरण प्रसक्तानु प्रसक्त्या यहां दिया जा रहा है)

अनुवाद—भरतमुनि के इस उपर्युक्त रस-सूत्र की व्याख्या करने वाले (नाट्यशास्त्र भाष्यकार) भट्ट-लोल्लट का यहां यह अभिमत है—जिसे (सहृदय सामाजिकों के लिये) 'रस' कहते हैं, (नाट्य का) आनन्दात्मक अनुभव कहते हैं, वह (रत्यादिरूप) ऐसे स्थायीभाव का एक विचित्र अनुभव है जो वस्तुतः तो 'अनुकार्य'-चरितनायक-राम आदि के हृदय का स्थायीभाव है, जो (रङ्गमञ्च पर उपस्थित किंवा अभिनय चतुष्टय के प्रदर्शन करने वाले) नट के भी हृदय में विराजमान देखा जाया करता है और ऐसा इसलिये देखा जाया करता है कि (सहृदय सामाजिकों के सामने) नट ऐसा लगा करता है जैसे वह अपने आपको राम के रूप में 'अनुसन्धान' कर चुका हो-'राम' के साथ अपना वास्तविक भेद-भाव भुलाकर 'राम' के रत्यादिभाव को अपना रत्यादिभाव मान चुका हो। यह रत्यादि रूप स्थायीभाव (वास्तविक जीवन के) राम के हृदय में जैसे सीता-रूप आलम्बन-कारण से उत्पन्न हुआ होगा वैसे ही (रङ्गमञ्च के राम) नट के हृदय में कामिनी-रूप आलम्बन-विभाव से उत्पन्न हुआ करता है, इस रत्यादि रूप स्थायी भाव को जैसे (वास्तविक जीवन के) राम के हृदय में जनक राज के उद्यानरूप उद्दीपन-

कारण ने उद्दीप्त किया होगा वैसे ही (रङ्गमञ्च के राम) नट के हृदय में (यवनिका—चित्रित) उद्यान-रूप उद्दीपन-विभाव उद्दीप्त किया करता है, यह (वास्तविक जीवन के) राम का रत्यादि रूप स्थायीभाव जैसे (सीता के) कटाक्ष तथा भुजोत्क्षेप आदि (किं वा उनके साक्षात्कार से राम के 'स्तम्भ' आदि रूप) कार्यों-उन २ मनोभावों के प्रभाव में शारीरिक व्यवहारों-से (वास्तविक जीवन के राम और सीता के देखने वालों को) प्रतीत हुआ होगा वैसे ही (रङ्गमञ्च के राम) नट का भी रत्यादि रूप स्थायी भाव (रङ्गमञ्च की सीता-नटी के) कटाक्ष तथा भुजोत्क्षेप आदि (किं वा उनके दर्शन से नट के 'स्तम्भ' आदि रूप) अनुभावों से (रङ्गमञ्च के राम और सीता के दर्शक सामाजिकों को) पता चला करता है और जैसे (वास्तविक जीवन के) राम के हृदय में (इस प्रकार उत्पन्न किं वा इस प्रकार प्रतीत होने वाला) वही रत्यादि रूप स्थायीभाव उन २ 'निर्वेद' आदि सहचारी मनोभावों के द्वारा परिपुष्ट होता हुआ राम के प्रेमानन्द के रूप में निखरा होगा वैसे ही (रङ्गमञ्च के राम) नट के हृदय में भी (इस प्रकार उत्पन्न किं वा इस प्रकार प्रतीत होने वाला) रत्यादि रूप स्थायी भाव, उन २ 'निर्वेद' आदि रूप व्यभिचारिभावों के द्वारा परिपुष्ट होकर (रङ्गमञ्च के राम उस) नट के शृङ्गारादि रस के रूप में निखर उठा करता है।

टिप्पणी—(क) भट्टलोल्लट प्रभृति नाट्याचार्यों के जिस रसवाद का यहां आचार्य मम्मट ने उल्लेख किया है उसे 'रसोत्पत्ति-वाद' कहा जाया करता है। 'रस' की-रत्यादि रूप स्थायीभाव की-जैसे चरित-नायक राम आदि के हृदय में उत्पत्ति हुआ करती है वैसे ही चरित-नायक राम आदि के अभिनेता नट के भी हृदय में उत्पत्ति हुआ करती है। जैसे वास्तविक जीवन के राम-आदि के सम्पर्क में रहने वाले लोग राम के प्रेमानन्द में स्वयं एक आनन्द का चमत्कार अनुभव किया करते होंगे वैसे ही रङ्गमञ्च के 'राम' नट के दर्शक, सहृदय सामाजिक भी नट के शृङ्गार रस के अनुभव में स्वयं चमत्कृत हुआ ही करते हैं-यही है संक्षेपतः रसोत्पत्ति मत।

(ख) 'रस' का इस रसवाद में अभिप्राय है—रत्यादिरूप स्थायीभाव का ही। रस की-रत्यादिरूप स्थायीभाव की-नट में जो उत्पत्ति है वह एक नयी सृष्टि है। जो भी 'उत्पत्ति' है वह यही अभिप्राय रखती है कि वह कारण सामग्री के संयोजन के पहले नहीं थी। 'नट' में रस उत्पन्न हुआ करता है और इसकी जो कारण-सामग्री है वह 'रङ्गमञ्च' है। तात्पर्य यह है कि नट के हृदय में भी रत्यादि रूप स्थायीभाव वास्तविक नहीं है क्योंकि वह तो वस्तुतः चरितनायक राम के हृदय का स्थायीभाव है। यह तो अभिनय-चतुर नट की रामरूपता की अनुसन्धान-क्रिया है जिससे रामादिगत रत्यादिभाव नटगत प्रतीत हुआ करता है। रामादिगत रत्यादिभाव की नटगत रत्यादिभाव के रूपमें प्रतीति करने वाले सहृदय सामाजिक यद्यपि इस रत्यादिभाव से तटस्थ रहा करते हैं किन्तु ऐसी प्रतीति एक चमत्कारजनक ही प्रतीति है और इसीलिये ऐसा हुआ करता है कि सामाजिक नाटक-दर्शन में चमत्कृत हुये बिना नहीं रह सकते। रङ्ग-शाला में बैठे, किन्तु रङ्गमञ्च के दृश्यों में सर्वथा तटस्थ सामाजिक-जन की यह प्रतीति ही उनके आकर्षण का एकमात्र कारण है। लोकजीवन में यह प्रतीति तो उन्हें होने से रही, यह तो कला-जीवन है जिसमें उन्हें यह प्रतीति हुआ करती है।

(ग) भट्ट लोल्लट का यही रस-मत प्राचीन अलङ्कार-वादी दण्डी आदि आचार्यों को मान्य रह चुका है। इसीलिये आचार्य दण्डी का कहना है—

'रतिः शृङ्गारतां गता, रूपबाहुल्ययोगेन' (काव्यादर्श २. २८१)
'अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः।' (काव्यादर्श २. २८३)

(घ) इस रसमत में **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** इस रस-सूत्र का यह विश्लेषण है—विभाव का आलम्बनविभाव का जो संयोग है अर्थात् स्थायीभाव से संयोग, उससे रस की-चित्तवृत्तिरूप रत्यादि स्थायीभावों की-निष्पत्ति-उत्पत्ति-हुआ करती है। इस उत्पन्न चित्तवृत्तिरूप रत्यादिभाव का उद्दीपन विभाव से भी संयोग हुआ करता है और इसके द्वारा रस-

(रसनिष्पत्ति = रसानुमिति)

(श्रीशङ्कुक का रसवाद)

राम एवायम् अयमेव राम इति न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति रामः स्याद्वा न वाऽयमिति रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे ।

निष्पत्ति अर्थात् रत्यादिरूप स्थायीभाव की उद्दीप्ति हुआ करती है। अनुभावों का रत्यादिरूप स्थायीभाव से जो संयोग है वह है गम्य-गमकभावरूप-सम्बन्ध और इससे रस-निष्पत्ति का अभिप्राय है रस की-रत्यादिरूप स्थायीभाव की-प्रतीति का अभिप्राय। व्यभिचारिभावों से रत्यादिरूप स्थायीभाव का जो संयोग-सम्बन्ध है वह पोष्य-पोषक भावरूप संयोग अथवा उपचाय्योपचायक भावरूप संयोग है और इसके द्वारा रस-निष्पत्ति का अभिप्राय है रस की रत्यादिरूप स्थायीभाव की पुष्टि का अभिप्राय। इस प्रकार विभाव-अनुभाव और व्यभिचारी (तथा सात्त्विक) भाव रसरूप-रत्यादिभावरूप विलक्षण कला-कार्य की कारण-सामग्री है जिनके विविध व्यापारों से रस उत्पन्न हुआ करता है और जिनके व्यापारों के पहले रस-रत्यादिरूप स्थायीभाव-नहीं रहा करता। भट्टलोल्लट के रसमत का संक्षेप देते हुये इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्त (अभिनवभारती पृष्ठ २७४) का यह उल्लेख है—**'तेन स्थाय्येव (रत्यादिरेव) विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायीभवत्वनुपचितः (प्राग्विभावादिव्यापारात् स्वयमसन्नथ च सुतरामुपचयाऽभावेऽप्रतीतकल्पः) स चोभयोरपि मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपताऽनुसन्धानबलादिति ।**

(ङ) आचार्य भट्टलोल्लट के रस-मत में रामादिगत रत्यादि स्थायीभाव की, सहृदय सामाजिकों द्वारा, नटगत रत्यादि स्थायीभाव के रूप में जो प्रतीति है उसका कारण है नट की राम-रूपता की अनुसन्धान क्रिया का दर्शन अर्थात् अभिनय-कला-चातुरी का साक्षात्कार। आचार्य भट्टलोल्लट भी तो काश्मीर के शैव-दर्शन की विचारधारा में ही पले थे और इसीलिये उन्हीं के प्रयुक्त 'अनुसन्धान' शब्द को आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया। यह 'अनुसन्धान' क्या है? काव्यप्रकाश के विवरणकार यदि 'अनुसन्धान' को **'नर्तके तत्कालं रामत्वाभिमानः'** कहा करते हैं तो उद्द्योतकार का कहना है कि नट का रामरूपता का 'अनुसन्धान' है, अपने ऊपर 'रामत्वारोप'। किन्तु 'अनुसन्धान' का यहां जो वास्तविक अभिप्राय है वह यह है-नट का यह अनुभव कि 'पहले जो मैं 'नट' था वही अब मैं 'राम' हूँ (अशुद्धानुसन्धान) और इसके बाद 'मैं राम हूँ' (शुद्धानुसन्धान) 'अनुसन्धान' का यही अभिप्राय आचार्य अभिनवगुप्त का अभिप्राय है—**एकीभावरूपमनुसन्धानम्-अनुभवविकल्पस्मरणानामनुसन्धानम्-अहं प्रत्ययो द्विधाः अनुभवरूपश्चानुसन्धानात्मा च। भिन्ने हि कथमनुसन्धानम् संस्कारात् इत्यादि** (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी)।

अनुवाद—इसी रस-सूत्र पर (नाट्यशास्त्रभाष्यकार) श्री शङ्कुक का यह कथन है—

जिसे 'रस' कहते हैं वह रत्यादिरूप ऐसा स्थायीभाव है जो सहृदय सामाजिकों के एक अलौकिक (कलात्मक) अनुमान का विषय है। अलौकिक अनुमान का विषय इसलिये कि रत्यादिरूप स्थायीभाव एक ऐसा 'अनुमेय' है जो अपने आप में निरतिशय आनन्दरूप-आस्वादमय है और इसलिये अन्य समस्त लोकगत अनुमेय पदार्थों से सर्वथा विलक्षण है और ऐसा है जिसमें सामाजिकों की-सहृदय नाट्य-दर्शकों की-वासना (धारावाहिक इच्छा) निरन्तर रमा करती है। सहृदय समाजिक रत्यादिरूप स्थायीभाव का जहाँ अनुमान किया करते हैं वह है 'नट' नाट्य का अभिनेता। वैसे यह रत्यादिरूप स्थायीभाव 'नट' में वस्तुतः है नहीं क्योंकि उसके आश्रय तो नाट्य-चरितनायक राम आदि हैं किन्तु यह तो रङ्गमञ्च की महिमा है कि वह नटगत प्रतीत हुआ करता है।

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥ २५ ॥
दैवादहमद्य तया चपलातननेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥ २६ ॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्त्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावा-

रत्यादिरूप स्थायीभाव की (रङ्गमञ्च के राम) नट में जो प्रतीति हुआ करती है वह इस प्रकार हुआ करती है—जिस प्रकार 'चित्रतुरग' (चित्रलिखित तुरग) को चित्र-दर्शक लोग 'तुरग' माना करते हैं और ऐसा मानते हुये ऐसा सोचा भी नहीं करते कि 'चित्र-तुरग' सचमुच तुरग है, या 'चित्र' है, सचमुच 'तुरग' नहीं है या 'चित्र' है या 'तुरग' है या 'तुरग' के समान कोई चीज है, उसी प्रकार नट-राम (राम की भूमिका में विराजमान नट) को नाटक-दर्शक लोग 'राम' माना करते हैं और ऐसा मानते हुये ऐसा सोचा भी नहीं करते कि नट-राम सचमुच ही राम है और कोई नहीं या 'नट' है 'राम' नहीं है या नट है या राम है या राम के समान कोई व्यक्ति है। तात्पर्य यह है कि सहृदय सामाजिकों को 'नट-राम' में 'राम' की प्रतीति होने लगती है। यह प्रतीति ऐसी प्रतीति है जिसे न तो सम्यक् प्रतीति कहा जा सकता है (क्योंकि कहां भला त्रेतायुग के राम और कहां भला जहां भी और जब भी राम का अभिनय हो वहां और उस समय का 'नट-राम!) और न मिथ्या-प्रतीति (क्योंकि अभी 'राम' माना गया 'नट-राम' यदि क्षणभर में 'नट' लगने लगे तो नाटक का दर्शक उसे देखने के लिये क्योंकर लालायित हो!) न संशय-प्रतीति कहा जा सकता है (क्योंकि यदि नाटक-दर्शक 'यह राम है या नट है' की फेर में पड़े रहे तो नाटक क्या देखें और क्यों देखें!) और न सादृश्य-प्रतीति (क्योंकि जब किसी ने त्रेतायुग के राम को देखा हो तभी तो रङ्गमञ्च पर खड़े नट को देख कर कह उठे कि यह तो राम के समान है!) अपितु एक विलक्षण, अलौकिक, कलात्मक प्रतीति ही कहा जा सकता है। यह 'नट-राम'-रङ्गमञ्च का राम-ऐसा हुआ करता है जिसमें इस प्रकार के काव्यार्थ जैसे कि—

(सम्भोग शृङ्गाररूप काव्यार्थ)

'यही है मेरी प्राणेश्वरी (नटी-सीता) मेरे अङ्ग प्रत्यङ्ग के लिये सुधा सी तृप्तिदायिका, मेरी आंखों के लिये कर्पूराञ्जन की शलाका सी सुख-कारिणी और वस्तुतः शरीरधारिणी मेरी मनःकामना की सम्पत्ति, जिसे देखते मैं आनन्दविभोर हो उठा हूँ'—

(अथवा विप्रलम्भशृङ्गाररूप काव्यार्थ)

'ओह! मैं कितना अभागा हूं कि मेरी वह चञ्चलनयनी और आयतनयनी प्रिया (नटी-सीता) मेरे पास नहीं और यह निरन्तर घिरने वाले सजल मेघों का समय-यह वर्षा का सुहावना समय-पास आ पहुंचा!' इत्यादि के अनुसन्धान की अर्थात् इन काव्यार्थों के आधार भूत चरितनायक के रूप में अपने आप को ढालने-एक रूप करने की-शक्ति रहा करती है और जो साथ ही साथ अपनी अभिनय-कला-शिक्षा और अपनी अभिनयकला के अभ्यास के बल पर अपने अभिनय का (जैसे कि राम की भूमिका के अभिनय का) प्रदर्शन किया करता है। इस अभिनय में नट जिन २ बातों का प्रदर्शन किया करता है वे उसके वास्तविक जीवन की दृष्टि से, भले ही कृत्रिम-अस्वाभाविक अथवा अवास्तविक-हों किन्तु सहृदय सामाजिकों की उस कलात्मक दृष्टि से, जिसमें वह 'नट' नट नहीं अपितु 'राम' दिखायी दिया करता है, कृत्रिम लगा नहीं करतीं। अब जैसे वास्तविक जीवन के राम की दृष्टि से, राम के हृदय के रतिभाव का अनुमान, राम का साक्षात्कार करने वाले लोग, इसीलिये किया करते होंगे कि उन्हें राम के हृदय के रतिभाव के कारण (जैसे

दिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।

कि सीतारूप कारण), कार्य (जैसे कि सीता के कटाक्ष किंवा राम के स्तम्भ आदि रूप, शारीरिक विकार) और सहकारी (जैसे कि राम के चिन्तादि मनोभाव) रूप अनुमापक साधनों का ज्ञान हो जाया करता होगा, वैसे ही रङ्गमञ्च के राम—नट—के हृदय के रत्यादिरूप स्थायीभाव का अनुमान, नाटक के सहृदय सामाजिक जन इसीलिये किया करते हैं कि उन्हें 'नट-राम' के हृदय के रत्यादिरूप स्थायीभाव के अनुमापक पदार्थों का जैसे कि आलम्बन और उद्दीपन विभाव (नटी-सीता और यवनिकाङ्कित उद्यान दृश्य) अनुभाव (जैसे कि नटी-सीता के कटाक्ष आदि और नट-राम के स्तम्भ आदि) और व्यभिचारीभाव (जैसे कि नट-राम के द्वारा नटी-सीता के वियोगाभिनय में प्रदर्शित चिन्तादि मनोभाव) का साक्षात्कार रङ्गमञ्च पर हुआ ही करता है और ऐसा होना सर्वथा युक्ति युक्त ही है क्योंकि 'नट-राम' के रत्यादिरूप स्थायीभाव यदि 'गम्य' हैं—लोक-विलक्षण अनुमेय हैं तो रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित सीतादिरूप विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव उसके 'गमक' हैं—अलौकिक अनुमापक हैं। लोक और कला दो भिन्न वस्तुयें हैं, लोक—जीवन के राम की रत्यादिरूप चित्तवृत्ति का अनुमान भले ही 'रस'—आनन्द न माना जाय और वस्तुतः माना भी नहीं जाया करता किन्तु कला—जीवन के राम 'नट-राम' के रत्यादिरूप स्थायीभाव का अनुमान तो एक मात्र रस—आनन्द ही हुआ करता है।

टिप्पणी—(क) 'रस' के सम्बन्ध में 'उत्पत्ति-वाद' आचार्य श्रीशङ्कुक की दृष्टि से अनुपपन्न है। 'रस' तो वस्तुतः एक ऐसा अनुभव है जिसे सहृदय सामाजिकों का नाट्यानुमान-कलात्मक अनुमितिरूप आनन्दमय संवेदन कहा जा सकता है। यदि विभावादिरूप कारण-सामग्री से रस की रत्यादिरूप स्थायीभाव की उत्पत्ति मानी जाने लगे तब तो यह भी सम्भव है कि जहां अधिकाधिक विभावादि का संयोजन हो वहां अधिकाधिक रस-मात्रा उत्पन्न हो और जहां अल्पाल्प विभावादि-संयोजन हो वहां अल्पाल्प रस-मात्रा उत्पन्न हो। किन्तु ऐसा होता कहां है? रस की प्रतीति यदि होती है तो सहृदय सामाजिकों के लिये एक सी ही होती है न कि उसमें कोई तारतम्य रहा करता है। 'रस' रूप वस्तु तो घट-पटादिरूप मूर्त वस्तु है नहीं कि कारण की वृद्धि में बढ़ जाय और कारण की कमी में घट जाय!

(ख) रसोत्पत्तिवाद के अनुसार जब यही माना जा सकता है कि रत्यादिरूप स्थायीभाव के साथ विभावादि के संयोग से रस की-अभिवृद्ध रत्यादिरूप स्थायीभाव की-प्रतीति हो सकती है तब तो '**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**' यह रस-सूत्र ही असङ्गत सा लगने लगता है। क्यों? इसलिये कि इसमें रत्यादिरूप स्थायीभाव का, जिसके साथ विभावादि का उत्पाद्योत्पादक भावरूप संयोग सम्बन्ध सम्भव है, कोई निर्देश नहीं किया गया! जब तक इस रस-सूत्र में रत्यादिरूप स्थायीभाव का अभिधान न हो तब तक रत्यादि रूप स्थायीभाव की प्रतीति ही क्योंकर होने लगे? बिना विभावादि के सम्भोग की प्रतीति के रत्यादि की प्रतीति तो हुआ नहीं करती और जबतक विभावादि से संयुक्त होने वाले रत्यादि रूप स्थायीभाव की प्रतीति न हो तब तक विभावादि संयोग की भी प्रतीति कैसे हो? संयोग-सम्बन्ध तो उभय-निष्ठ (विभावादि-रत्यादिनिष्ठ) सम्बन्ध है। जब तक दोनों की उपस्थिति की प्रतीति न हो तबतक इस संयोग से रत्यादि की अभिवृद्धावस्था-रसावस्था-की प्रतीति क्यों कर हो? अब यदि रत्यादिरूप स्थायीभाव को भी विराजमान मान लिया जाय और विभावादि के साथ विराजमान मान लिया जाय तब तो विभावादि-संयोग से रसोत्पत्ति मानने की क्या आवश्यकता? रस तो रत्यादिरूप स्थायीभाव ही ठहरा और वह विभावादि के साथ रहने वाला ठहरा तब उसकी क्या उत्पत्ति और कैसी उत्पत्ति!

(ग) यदि नाट्याचार्य भरत का रसनिष्पत्ति से अभिप्राय रसोत्पत्ति होता तब उनके अनुसार

हास्य-रस के स्मित-हसित-विहसित-उपहसित-अपहसित और अतिहसित—ये विभाग-षट्क क्योंकर सिद्ध हो सकते ? हासरूप स्थायीभाव तो एक ही है और विभावादि से संयुक्त होने पर वह एक ही प्रकार के हास्यरस में प्रतीत हो सकता है न कि ६ प्रकार के ! हास्यरस का भेद-षट्क यदि कोई अभिप्राय रखता है तो वह यही है कि हासरूप स्थायीभाव विविध प्रकृति के सहृदय सामाजिक से सम्बद्ध है और इस प्रकार सम्बद्ध है कि ये तो सहृदय सामाजिक ही हैं जो किसी नट के हासरूप स्थायीभाव का, उसके द्वारा प्रदर्शित विभावादिरूप अनुमापक चिह्नों से अनुमान किया करते हैं और जब कि यह नटगत हासरूप स्थायीभाव चरितनायकनिष्ठ हास-स्थायीभाव की अनुकृति है तब तो इसकी अनुमिति भिन्न २ उत्तमाधम प्रकृतियों वाले सामाजिकों में भिन्न २ रूप की ही सम्भव है । इस प्रकार 'रस-निष्पत्ति' का अभिप्राय 'रसानुमिति' ही सम्भव है न कि 'रसोत्पत्ति' ।

(घ) 'रसनिष्पत्ति' को 'रसोत्पत्ति' मानने में यह भी तो एक बहुत बड़ी अनुपपत्ति है कि काम की अवस्थायें तो दस मानी जांय और विभावादि से उत्पन्न-प्रतीत किंवा उपचित रति-स्थायीभावरूप शृङ्गार एक ही माना जाय । अब जब कि शृङ्गार रस एक रूप माना गया न कि असंख्य-रूप तब तो यही प्रतीत होता है कि विभावादि 'रस' के उत्पादक नहीं अपितु एक मात्र अनुमापक हैं । इसलिये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव से 'रस' की 'निष्पत्ति' का अभिप्राय यही है कि विभावादि और रत्यादि में अनुमाप्यानुमापक भावरूप सम्बन्ध है और इसीलिये रङ्गमञ्च पर नट द्वारा अभिनीत विभावादि के दर्शन से नट-गत उस रत्यादिरूप स्थायीभाव की कलात्मक अनुमिति हुआ करती है जो वस्तुतः रामादि-गत रत्यादिभाव की अनुकृति है । लोक-जीवन के 'राम' के रत्यादिरूप स्थायीभाव की अनुमित भले ही 'रस' न मानी जाय क्योंकि लोक-जीवन की अनुमिति में आनन्द कहाँ ? किन्तु लोक-जीवन के 'राम' के रत्यादिरूप स्थायीभाव के अनुकरण-भूत, नट-गत रत्यादिरूप स्थायीभाव की अनुमिति तो 'रस' ही मानी जायगी क्योंकि इसमें तो आनन्द ही आनन्द है । 'कला' तो अनुकृति है, कलाकार तो वास्तविक जीवन का 'अनुकरण' किया करता है और यही अनुकरण उसकी कलाकृति है, इसीलिये कला का जो अनुभव है-आनन्दात्मक अनुभव-वह एक अलौकिक अनुमिति है अन्य कुछ नहीं ।

(ङ) 'रस' को यदि उत्पन्न-प्रतीत किंवा-उपचित रत्यादिरूप स्थायीभाव माना जाने लगे क्योंकि रसोत्पत्तिवाद के अनुसार इसका और कुछ अभिप्राय तो हो नहीं सकता तब तो यह भी मानना अनिवार्य हो जायगा कि 'शोक' रूप स्थायीभाव यदि उत्पन्न-प्रतीत किंवा उपचित हो जाय तब वह तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम ही होता जायगा और चाहे जितना भी समय बीते 'शोक' में कभी भी कोई भी कमी न आया करेगी । किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी कहाँ ? वस्तुस्थिति तो यही है कि 'शोक' अभी यदि तीव्र है तो कुछ समय में मन्द पड़ जाया करता है । अब यदि करुण रस को उत्पन्न-प्रतीत और अभिवृद्ध शोकरूप स्थायीभाव मान लें तब तो 'करुणरस' एक तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम महाशोकरूप होता जायगा न कि आनन्दरूप ! इसलिये रस-निष्पत्ति को 'रसानुमिति' मानना ही सर्वथा युक्तियुक्त है क्योंकि 'रसोत्पत्ति' मानने में नाना भाँति की समस्यायें खड़ी हो जाती हैं जिनका समाधान सर्वथा असम्भव है ।

(च) आचार्य मम्मट ने श्रीशङ्कुक-सम्मत रसमत का जो संक्षेप किया है वह अभिनव भारतीकार अभिनव गुप्ताचार्य द्वारा उद्धृत श्रीशङ्कुक-प्रतिपादित रसवाद का एक सार-संक्षेप है । श्रीशङ्कुक की यह सूक्ति, जिसे अभिनव भारती (पृष्ठ० २७५) में उद्धृत पाया जाता है—

'प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः । धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लवः । युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥'

रसोत्पत्तिवाद का समूलोन्मूलन करती तथा रसानुमितिवाद का सर्वथा समर्थन करती प्रतीत होती है ।

(छ) श्रीशङ्कुक का 'चित्र-तुरग' न्याय 'नट-राम' की मान्यता का सर्वथा समर्थक है । 'चित्र-

(रसनिष्पत्ति = रसभुक्ति = रसभोग)

(भट्टनायक का रसवाद)

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते, अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।

तुरग' न्याय का वास्तविक तात्पर्य यही है कि कला अनुकृति हुआ करती है और लोकानुमिति में जो आनन्द असम्भव है वह कलानुमिति में सर्वथा सम्भव है। 'लोक-तुरग' में भले ही कोई तन्मय न हो सके किन्तु 'चित्र-तुरग' में तो लोग तन्मय हुआ ही करते हैं। 'नट-राम' में तन्मय हुये सहृदय सामाजिक भला रसास्वाद न करें तो और क्या करें ?

अनुवाद—इसी 'रस-सूत्र' के व्याख्याकार भट्टनायक का यहाँ यह कथन है—

'रस-निष्पत्ति' का अभिप्राय न तो 'रसोत्पत्ति' है और न 'रस-प्रतीति' और न 'रसाभिव्यक्ति'। 'रस-निष्पत्ति' का जो वास्तविक अभिप्राय है वह है 'रस-भुक्ति'-'रस-भोग'। क्यों कि सबसे पहले यदि 'रसोत्पत्ति' को देखा जाय तो यही पता चलेगा कि न तो तटस्थगत (चरितनायक 'राम' और अभिनेता नट-गत—क्योंकि सामाजिक की दृष्टि से जैसे 'राम' तटस्थ हुये वैसे ही नट भी !) 'रसोत्पत्ति' का कोई अर्थ है (क्योंकि यदि तटस्थ में रस की-रत्यादिभाव-की उत्पत्ति हो तो सहृदय सामाजिक को क्या मिला ?) और न आत्मगत 'रसोत्पत्ति' का (भला स्वगतरूप से 'रसोत्पत्ति' हो जैसे कि करुण रसोत्पत्ति और सहृदय सामाजिक शान्त-प्रसन्न बना रहे !) यही बात 'रसनिष्पत्ति' को 'रसानुमिति' मानने में भी दिखायी देती है।

ऐसा इसलिये क्योंकि यह 'रसानुमिति' रामरूप तटस्थ व्यक्ति-गत रसानुमिति तो होने से रही क्योंकि सामाजिकजन को 'राम' का दर्शन कहाँ ? इसे नटरूप तटस्थ व्यक्ति-गत 'रसानुमिति' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सहृदय सामाजिक को इससे क्या ? 'रसानुमिति' को आत्मगत रसानुमिति भी क्योंकर माना जाय जब कि रसानुमितिवाद के अनुसार सहृदय सामाजिक के लिये नाट्य एक अनुकरणरूप हो जिसमें नट भाग लिया करता है न कि सहृदय सामाजिक ! 'रसाभिव्यक्ति' भी 'रसनिष्पत्ति' का रहस्य नहीं क्योंकि 'रसाभिव्यक्ति', चाहे वह तटस्थगत (रामगत अथवा नटगत) हो या आत्मगत (सामाजिक-गत) हो, यही अभिप्राय रखती है कि जो 'रस' पहले ही शक्तिरूप में विद्यमान रहा वही 'प्रकट' हो रहा है, किन्तु यदि बात ऐसी हो तब तो 'रसाभिव्यक्ति की विविध मात्रायें भी माननी पड़ जांय जो कि कहीं नहीं मानी गयीं। 'रस-निष्पत्ति' का जो वास्तविक तात्पर्य है वह केवल रस-भुक्ति है। यह 'रसनिष्पत्ति' अर्थात् 'रसभुक्ति' इस प्रकार सम्भव है—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के 'संयोग' से 'रस' की 'निष्पत्ति' में जो रहस्य है वह यही है कि विभावादि-त्रितय और रत्यादिरूप स्थायीभाव में 'भोज्यभोजकभाव' रूप सम्बन्ध रहा करता है। किन्तु यह 'भोज्यभोजकभाव' रूप सम्बन्ध यहाँ इसीलिये रहा करता है कि काव्य-नाट्य और विभाव-अनुभाव-व्यभिचारीभाव में 'भाव्यभावकभाव' रूप सम्बन्ध विराजमान है। काव्य और नाट्य में एक ऐसी शक्ति रहा करती है जो उनकी अभिधा अथवा वाचकता शक्ति से एक अत्यन्त विलक्षण शक्ति है। यह शक्ति क्या है ? यही वह शक्ति है जिसे 'भावना' शक्ति कहा जा सकता है ? काव्य और नाट्य में-वस्तुतः कला में-रहने वाली इस भावना शक्ति से ही ऐसा हुआ करता है कि काव्य-नाटकादि के सामाजिक, क्या विभावादि त्रितय और क्या रत्यादिरूप स्थायीभाव—सभी को सर्वसाधारण की वस्तु मानते हुये स्वयं अपनाने लगते हैं। अब जब कि काव्य और नाट्य की 'भावना' शक्ति से विभावादि त्रितय 'स्वगत-

परगत' की कल्पना से परे हो गये तब तो रत्यादिरूप स्थायीभाव भी 'स्वगत-परगत' की कल्पना से उन्मुक्त, एक मात्र साधारणरूप-मनुष्यमात्र के मनोभावरूप-बन गये। काव्य और नाटक की-कला की-इसी 'भावना' शक्ति की स्पन्द सी एक और भी शक्ति है जिसे 'भोजकता' शक्ति कह सकते हैं और जिसका कार्य यही है कि साधारणीकृत विभावादि की अनुभूति साधारणीकृत रत्यादि स्थायिभाव की एक ऐसी अनुभूति में परिगत हो जाय जिसे वस्तुतः 'भोग' कहा जा सकता है। यह 'भोग' क्या है? यह 'भोग' है एक ऐसी अनुभूति जो आनन्दघन 'संविद्विश्रान्ति' अथवा विमर्श-स्वभाव चैतन्य-स्वातन्त्र्य से एक रूप-एक रस-है और जिसमें 'सत्व' सुख अथवा प्रकाश का इतना उद्रेक-इतना प्रावल्य-रहा करता है कि रजस् और तमस् (मन की चञ्चलता और मूढ़ता) एक मात्र अभिभूत हो जाया करते हैं।

टिप्पणी—(क) भट्टनायक का रसवाद 'रसभुक्ति वाद' है और इसके लिये रसोत्पत्ति-रसानुमिति और रसध्वनि-वाद पूर्वपक्ष हैं। रसोत्पत्ति-रसानुमिति और रस-ध्वनि में 'रस-निष्पत्ति' का रहस्य नहीं, 'रस-निष्पत्ति' का वास्तविक रहस्य तो 'रसभुक्ति' में है जिसके प्रतिपादन के लिये नाट्यशास्त्रभाष्यकार भट्टनायक ने काव्य और नाट्य के सम्बन्ध में अपनी ये मान्यतायें प्रकट की हैं–

(१) रसनिष्पत्ति को रसोत्पत्ति अथवा रसानुमिति अथवा रसाभिव्यक्ति मानने की क्या आवश्यकता जब कि स्वगत अथवा परगतरूप से रस के उत्पन्न होने अथवा अनुमित होने अथवा अभिव्यक्त होने में ऐसी अड़चनें हैं कि 'रस' रस हीन रह जाय। 'रस' तो आनन्द घन संविद्विश्रान्तिरूप है, ऐसा अलौकिक अनुभव है जो यदि 'ब्रह्मास्वादसविध' कहा जाय, तभी ठीक २ कहा जा सकता है। इस रस रूप अनुभव को न तो 'स्मृति' कहा जा सकता है और न अनुमिति और न लौकिक अनुभूति। यह तो काव्यनाट्य का ऐसा आनन्दात्मक अनुभव है जिसमें चित्त की द्रुति और विस्तृति और विकसनशीलता की विचित्रता रहा करती है। काव्य और नाट्य शास्त्रादि से अत्यन्त विलक्षण वस्तुयें हैं। काव्य और नाट्य तो कला-कृतियां हैं जिनका एक मात्र प्रयोजन 'भोग' है, 'आस्वाद' है। काव्य और नाट्य के शब्द और अर्थ-गुण युक्त-निर्दुष्ट किंवा अलङ्कृत शब्द और अर्थ-तो केवल अभिधा-धाम की ही वस्तुयें हैं। इस दृष्टि से काव्य-नाट्य का दर्शन काव्य-नाट्य-तत्त्व दर्शन नहीं। काव्य नाट्य का तात्त्विक दर्शन तो वह है जिसे काव्य-नाट्य की भावकता-शक्ति के स्फुरण और स्पन्दन का दर्शन कह सकते हैं। लोक-जीवन के अनुभवों में कार्य-कारणभावरूप सम्बन्ध भले ही देखा जाया करे जो कि वस्तुतः है भी किन्तु कला की अनुभूतियों में तो 'कला' और उसकी अनुभूतियां केवल भाव्य-भावकरूप सम्बन्ध से ही सम्बद्ध देखी जा सकती हैं। काव्य-नाट्य में भावकता-शक्ति है-भावना-शक्ति है-भावकत्व व्यापार है। इसी 'भावना-शक्ति' की यह महिमा है कि काव्य-नाट्य अथवा वस्तुतः कला-कृतियां जो कुछ भी हमारे सामने उपस्थित करती हैं उनके सम्बन्ध में 'यह हमारा है—यह हमारा नहीं, दूसरे का है, आदि २ विचार धारायें सामाजिक-मन में उत्पन्न ही नहीं हुआ करतीं। कवि और नाटककार अथवा वस्तुतः ललित कलाकार लोक-जीवन के किसी चरितनायक के मनोभाव का चित्रण नहीं किया करता, वह तो मनुष्य मात्र के मनोभाव का चित्रण किया करता है। जो मनुष्यमात्र की वस्तुयें हैं, प्राणिमात्र का जिन वस्तुओं पर अधिकार है जैसे सूर्यरश्मि अथवा चन्द्रज्योत्स्ना, उन्हें भला क्यों कर अपने-पराये के भेदभाव से देखा जा सके! काव्य और नाट्य अथवा कला की 'भावकता-शक्ति' एक ऐसी विचित्र शक्ति है जिसका ऐसा विचित्र व्यापार है कि लोक-जीवन के राम का लोक-जीवन की सीता के सम्बन्ध में रति-भाव और उसके कारण-कार्य और सहकारी-सभों के सभी, लोक-जीवन के राम, राम-काव्य अथवा राम-नाट्य-कार, रामकाव्य-पाठक अथवा राम-नाट्य के नट और दर्शक जन-इन सबके वैयक्तिक अधिकारों के बन्धनों को तोड़ते एक मात्र सर्वसाधारण के अनुभव के विषय बना दिये जाया करते हैं।

(२) काव्य और नाट्य की इस भावकता-शक्ति के अतिरिक्त उनकी एक और भी शक्ति है जो कि इस भावकता-शक्ति का स्पन्द रूप है और जिसे भोजकता-शक्ति कहना युक्तियुक्त है।

(रसनिष्पत्ति : रसाभिव्यक्ति)

(आचार्य अभिनवगुप्त का रसवाद)

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहा-

---

काव्य और नाट्य में इस 'भोजकत्वरूप' व्यापार की मान्यता इसलिये आवश्यक है क्योंकि विभा-वादि-भाव्य रत्यादिरूप स्थायी भाव के भोग की और तो कोई युक्ति-संगत प्रक्रिया हो नहीं सकती। 'भोजकत्व' अथवा 'भोगीकृत' व्यापार वस्तुतः इसलिये मानना पड़ता है क्योंकि काव्य अथवा नाट्य का परमार्थ एक आनन्दात्मक अनुभव हुआ करता है। 'रस' का भोग अथवा आस्वाद वस्तुतः एक ऐसी 'संविद्विश्रान्ति' है—ऐसी आत्मरूपता है, जो एक मात्र आनन्दमय है और ऐसा इसलिये क्योंकि जिसे 'आनन्द' कहते हैं वह एक ऐसा एक घन प्रकाश है जिसके द्वारा दुःख और मोह–क्रिया और मूढ़ता–सर्वथा अभिभूत रहा करते हैं। यह 'संविद्विश्रान्ति' वस्तुतः 'अहम्' रूप है, विमर्श-सार है क्योंकि प्रकाश की–चैतन्य की–जो आत्मविश्रान्ति है, अनन्योन्मुखता है वही विमर्श है और वही है 'अहम्'।

(ख) आचार्य मम्मट द्वारा उद्धृत भट्टनायक–सम्मत रस मत में 'रसनिष्पत्ति' का स्वरूप है रसभोग। भट्टनायक ने 'भोग' को **'सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्व'** (जैसा कि काव्य प्रकाश का उद्धरण) अथवा **'सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणम्'** (जैसा कि अभिनव भारती का उल्लेख है) माना है। काव्यप्रकाश के व्याख्याकार 'सत्त्व' शब्द से सांख्यसम्मत सत्त्व–गुण का अभिप्राय लिया करते हैं और 'संविद्विश्रान्ति' का तात्पर्य 'ज्ञान की ज्ञेयान्तरसम्पर्करहित अवस्थिति' माना करते हैं। किन्तु बात इसके विपरीत है। भट्टनायक ने जिस 'संविद्विश्रान्ति' से रसभुक्ति को एक रूप माना है वह काश्मीर के शैवदर्शन की मान्यता है जिसे महाशैवदार्शनिक आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' किंवा 'भास्करी' में यत्र-तत्र किंवा सर्वत्र प्रतिपादित किया है। 'संविद्विश्रान्ति' क्या है? यह है 'प्रकाश' (चैतन्य) की 'अनन्योन्मुखता' जिसे 'विमर्श' कहते हैं। और विमर्श क्या है? 'विमर्श' है 'अहम्'। इस प्रकार 'भोग' के संविद्विश्रान्ति सतत्त्व' अथवा 'संविद्विश्रान्ति लक्षण' होने का अभिप्राय है 'अहम्' रूप होने का–'विमर्श' रूप होने का! 'प्रकाश' के 'स्वात्ममात्रविश्रान्त' होने अथवा 'अहं रूप' होने का तात्पर्य है 'आनन्द मय' होने का। तभी तो आचार्य अभिनव गुप्त का यह कथन है—

'प्रकाशस्य यदात्ममात्रविश्रमणमनन्योन्मुखस्वात्मप्रकाशताविश्रान्तिलक्षणो विमर्शः सोऽहमित्युच्यते।'—(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, पृष्ठ २२३)

अथवा यह—**'परामर्शो नाम विश्रान्तिस्थानम्' तच्च पार्यन्तिकमेव पारमार्थिकम् तच्च अहमित्येवं रूपमेव।'** (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी १म भाग पृष्ठ २२१ निर्णयसागर संस्करण)

'संविद्विश्रान्ति' की उपर्युक्त शैवदार्शनिक मान्यता की दृष्टि से देखते हुये 'सत्त्व' और 'रजस्' और 'तमस' का भी स्वरूप यहां सर्वथा सांख्यदर्शनसम्मत स्वरूप नहीं। यहाँ तो 'सत्त्व' 'रजस्' और 'तमस्' का वही अभिप्राय है जो कि 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' (४. १. ६. ६) की इस कारिका अर्थात्—

'सत्तानन्दः क्रिया पत्युस्तदभावोऽपि सा पशोः।
द्वयात्मा तद्रजो दुःखं श्लेषि सत्त्वतमोमयम्॥'

इत्यादि की विवृति में आचार्य अभिनवगुप्त ने इन पङ्क्तिओं में प्रकट किया है—

'योऽसौ सत्तानन्दभागः तत्प्रकाशसुखवृत्ति सत्त्वम्, यस्तदभावस्तदावरणमोहरूपं तमः। योऽयं द्वयात्मा मिश्रस्वभावः यत्र प्रकाशाप्रकाशस्वरूपयोः सत्त्वतमसोः श्लेषेणा-वस्थानं (तद्रजः)।'

अनुवाद—**किन्तु इस उपर्युक्त रस–सूत्र का जो परम रहस्य (नाट्यशास्त्र भाष्यकार) श्री अभिनव गुप्तपादाचार्य ने प्रतिपादित किया है वह यह है—**

र्य्येमेमेवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभि-

'रस' (अर्थात् पार्यन्तिक काव्यार्थ अथवा काव्य-नाट्य-कला का अन्तिम रहस्य) वह है जिसे सामाजिकों-काव्यपाठकों किंवा नाट्य-दर्शकों-के हृदय में अभिव्यक्त, उन्हीं के हृदय का (जन्म-जन्मान्तर से) संस्काररूप से सूक्ष्मतया अवस्थित रत्यादिरूप स्थायीभाव कहा करते हैं। काव्य और नाट्य के सामाजिकों के हृदयों में उनका यह रत्यादिरूप सूक्ष्मतया विराजमान स्थायीभाव इसलिये अभिव्यक्त हुआ करता है क्योंकि उन्हें लोक-जीवन में एक ऐसा अभ्यास-एक ऐसा वैदग्ध्य सिद्ध हो चुका होता है जिसके बल पर लोक-जीवन की ललनादिरूप साधन-सामग्री की प्रत्यक्ष-प्रतीति उन्हें लोकजीवन के रत्यादिरूप स्थायी-भाव की अनुमितिओं को निःसन्दिग्धरूप से दिया करती है। तात्पर्य यह है कि यह रत्या-दिरूप स्थायीभाव काव्य और नाट्य के उन्हीं समाजिकों में अभिव्यक्त हुआ करता है जो लोक-जीवन में भी 'सहृदय' हैं, लोक-जीवन में भी 'रसिक' हैं। इस रत्यादिरूप स्थायी-भाव की अभिव्यक्ति काव्य और नाट्य की-कला की-अद्भुत शक्ति (अभिव्यञ्जनाशक्ति) किया करती है जिसके द्वारा लोक-जीवन के ललनादिरूप पदार्थ, काव्य और नाट्य के विषय वनते ही ऐसे हो जाया करते हैं कि उनकी लोक-जीवन सम्बन्धी विशेषतायें जैसे कि उनकी कारणता, कार्यता और सहकारिता तो उनसे सर्वथा दूर हो जाया करती है और उनके बदले जैसे कि कारणत्व के बदले, कार्यत्व के बदले और सहकारित्व के बदले, उनमें क्रमशः विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण का विचित्र सामर्थ्य आ विराजता है। वस्तुतः काव्य और नाट्य की इस अलौकिक शक्ति (अभिव्यञ्जना-शक्ति) की ही यह महिमा है कि काव्य और नाट्य के क्षेत्र में आये लोक-जीवन के ललनादिरूप पदार्थ रत्यादिरूप स्थायीभाव के कारण और कार्य और सहकारी नहीं कहे जाया करते अपितु विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावरूप अलौकिक-काव्यात्मक किंवा कलात्मक-शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किये जाया करते हैं (जिसमें नाट्याचार्य भरत का रस-सूत्र ही साक्षात् प्रमाण है)। काव्य और नाट्य की इसी (अभिव्यञ्जना) शक्ति से ऐसा हुआ करता है कि ललनादिरूप विभावादि के सम्बन्ध में न तो किसी सामाजिक की यह धारणा हुआ करती है कि 'ये (विभावादि) मेरे हैं अथवा मेरे नहीं मेरे शत्रु के हैं अथवा किसी अन्य व्यक्ति हैं जो न तो मेरा शत्रु है और न मित्र' और न यही धारणा कि 'ये (विभावादि) मेरे ही हैं अथवा उसके कदापि नहीं जो मेरा शत्रु है अथवा किसी अन्य व्यक्ति के भी नहीं जो न मेरा शत्रु है और न मेरा मित्र है' अपितु एकमात्र यह धारणा कि 'ये सर्वसाधारण के हैं—मनुष्यमात्र के हैं। ऐसी बात इसलिये यहाँ हुआ करती है क्योंकि जितने भी काव्य-पाठक अथवा नाट्य-दर्शक हैं उनमें काव्य अथवा नाट्य-प्रदत्त वस्तुओं के सम्बन्ध में वह भाव कदापि नहीं रह सकता, क्योंकि काव्य और नाट्य की अभिव्यञ्जनाशक्ति इस भाव को भी तो भगा दिया करती है जिस भाव से लोक-जीवन की वस्तुयें या तो अपनायी जाया करती हैं या छोड़ दी जाया करती हैं या उपेक्षा-दृष्टि से देखी जाया करती है ! तात्पर्य यह है कि लोक-जीवन की वस्तुओं के साथ हमारा ममत्व अथवा परकीयत्व अथवा उपेक्षणीयत्व का सम्बन्ध, जो कि हमारे लोक-जीवन का अनिवार्य सम्बन्ध है, काव्य और नाट्य के क्षेत्र में-कला-जीवन में-हमारे प्रवेश करते ही, पता नहीं चल पाता कि कहां चला गया ?

काव्य और नाट्य में अभिव्यञ्जकता की एक ऐसी विचित्रता हुआ करती है कि उस २ सामाजिक-हृदय में अभिव्यक्त रत्यादिरूप स्थायीभाव उस २ सामाजिक का-उस २ काव्यार्थ-प्रमाता का वह २ शृङ्गारादि रूप 'रस' नहीं हुआ करता। क्यों ? इसलिये कि चाहे रस का अनुभव उस २ सामाजिक का व्यक्तिगत अनुभव क्यों न हो जो कि वस्तुतः

व्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसंपर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजी-

है भी, किन्तु जब कि काव्य और नाट्य की व्यञ्जकता-शक्ति से, जिससे 'रस' रूप अनुभव के उपायभूत विभावादि सामाजिक मात्र के विभावादि बना दिये जाया करते हैं, प्रत्येक रस-प्रमाता ऐसा बना दिया गया कि रसानुभूति के समय, उसका परिमित प्रमातृभाव-वैयक्तिक रसानुभव कर्तृत्वभाव-सर्वथा नष्ट हो गया और ऐसा होते ही उसमें एक ऐसा अपरिमित प्रमातृभाव-रसानुभव कर्तृत्व सामान्य अथवा एक मात्र वर्णनीय तन्मयी भवन सामर्थ्य-भर उठा जिसके रहते लौकिक स्वता-परकीयता-उपेक्षणीयता का भाव ठहर नहीं सकता (क्योंकि यह भाव 'रस' का नहीं किन्तु 'रस' के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थ-सार्थ का पीछा पकड़ सकता है और जब कि 'रसानुभूति' में लौकिक वस्तुओं की कोई अनुभूति नहीं तब वहाँ यह ममत्व-परकीयत्व-तटस्थगतत्व का भाव ही क्यों कर रहने लगे ?) तब तो यह वैयक्तिक रसानुभव भी वैयक्तिकता के बन्धन से उन्मुक्त ही हो उठा। यह 'रसानुभव' यह 'रसास्वाद' सहृदय सामाजिक मात्र का एक ऐसा रसानुभव-एक ऐसा रसास्वाद हो गया जिसमें सभी सहृदय सामाजिक एक रूप से ही तन्मय होने लगे, जिसके प्रभाव में सभी सहृदय सामाजिकों के हृदय-तार एक झङ्कार में झङ्कृत हो उठे।

सहृदय सामाजिक जन के हृदय में, उनके रत्यादिरूप स्थायीभाव का यह अलौकिक 'आस्वाद' ही वस्तुतः 'रस' है। फिर भी यह कहना युक्तियुक्त है किस हृदय सामाजिक मात्र के हृदय में 'रस का आस्वाद' हुआ करता है क्योंकि जैसे 'ज्ञान' स्वयं 'ज्ञेय' नहीं होने पर भी अपने 'स्वरूप' की दृष्टि से 'ज्ञेय' माना जाया करता है वैसे ही 'रस'-'आस्वाद' भी अपने 'स्वरूप' की दृष्टि से 'आस्वाद्य'-'रसनीय'-एक अलौकिक 'ज्ञेय' मान लिया जा सकता है। किन्तु जैसे 'ज्ञान' और 'ज्ञानस्वरूप' में कोई तात्त्विक भेद नहीं वैसे ही 'रस' और 'रसस्वरूप' 'आस्वाद' और 'आस्वाद्यमान' में भी कोई तात्त्विक भेद नहीं।

इस 'रस' का जो सारतत्त्व है वह है 'आस्वाद'। इस 'रस' की अनुभूति उसी समय हुआ करती है जिस समय इसके 'विभावादि' रूप व्यञ्जक-सामग्री की अनुभूति हुआ करती है। इस 'रस' का 'आस्वाद' ठीक वैसे ही हुआ करता है जैसे कि 'पानकरस' का (अर्थात् जैसे एला (इलायची), मरीच (कालीमिर्च), शर्करा (चीनी), कर्पूर आदि २ विविध वस्तुओं से बनाये गये 'पानक' (कारमीर के एक पेय पदार्थ) के पीने में उसकी उपकरणभूत वस्तुओं के भिन्न २ स्वाद का कोई पता नहीं चला करता, अपितु उसका पता चला करता है जिसे 'पानक'-रस कहा करते हैं जो कि उन सभी उपकरणभूत वस्तुओं का एक समुदित-संवलित-अनिवर्चनीय 'रस' है, वैसे ही 'विभावादि' रूप० यञ्जक-सामग्री से अभिव्यक्त 'रस'-'काव्यार्थ तत्त्व' के अनुभव में उसके विविध व्यञ्जकभूत उपकरणों का अनुभव नहीं हुआ करता अपितु उसका अनुभव हुआ करता है जिसे 'रस' कहते हैं जो कि अपनी सभी व्यञ्जक-सामग्री का एक समुदित-संवलित-अनिर्वचनीय आस्वाद-सार है।

यह 'रस' ही शृङ्गार आदि रूपों में काव्य और नाट्य का-वस्तुतः कला का-परम तत्त्व है—सारतत्त्व है। इसके अनुभव में सहृदय सामाजिक ऐसे चमत्कृत हुआ करते हैं, ऐसे आनन्दमग्न बना करते हैं जैसे लोकजीवन के किसी भी अनुभव में नहीं हुआ करते और न हो ही सकते हैं। रस के अनुभव में सहृदय सामाजिक मात्र को ऐसा लगने लगता है मानो वह रस-वह आनन्द-अभी २ उसके बाहर, उसके सामने, मूर्त बनना खड़ा हो रहा हो, अभी २ उसके हृदय में प्रवेश करता दीख रहा हो, अभी २ उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का आलिङ्गन करता प्रतीत हो रहा हो, जिससे कुछ ऐसा हो रहा हो कि संसार में जो कुछ

वितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

स च न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गाद् नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्, अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेद् न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकि-

---

भी है बस वही रस ही रस है। काव्य और नाट्य (अथवा वस्तुतः कला) का यह आनन्दात्मक अनुभव एक ऐसा अद्भुत अनुभव है जो कुछ देर के लिये सहृदय सामाजिक मात्र को ब्रह्मानुभव का आनन्द तो अवश्य ही दे दिया करता है।

यह है रस! काव्य और नाट्य का सार! कला का परम अर्थ तत्त्व! इसे भला 'कार्य' कैसे कहा जाय! इसे 'कार्य' तो तब कहा जा सकता जब कि विभावादिरूप 'कारण'-सामग्री के न रहने पर यह भी न रह पाता। किन्तु ऐसा होता कहां है? होता तो इसके उलटे है क्योंकि 'विभावादि' रूप कारण-कलाप के अवबोध के समाप्त हो चुकने पर भी रस का आस्वाद नहीं समाप्त हुआ करता। (तात्पर्य यह हुआ कि 'रस-निष्पत्ति' रसोत्पत्ति नहीं और न विभावादि के साथ 'रस' का उत्पाद्योत्पादकभावरूप सम्बन्ध ही सम्भव है। 'रस-निष्पत्ति' तो 'रसाभिव्यक्ति' है।) तब क्या इसे 'ज्ञाप्य' कहा जाय? नहीं, यह 'ज्ञाप्य' भी नहीं। यह 'ज्ञाप्य' तो तब कहीं हो सकता जब कि (विभावादिरूप ज्ञापक-सामग्री के) पहले से भी कहीं रहा करता! (जैसे लोक की घटपटादिज्ञेय वस्तु दीपादिरूप ज्ञापक-हेतु से स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है और इसीलिये 'ज्ञाप्य' कही जा सकती है वैसे ही यदि काव्य और नाट्य अथवा कला की रसरूप वस्तु विभावादिरूप ज्ञापक-हेतु से स्वतन्त्र अस्तित्व रखती तब कहीं 'ज्ञाप्य' हो सकती! किन्तु ऐसा कहां कि 'रस' की सत्ता विभावादिरूप ज्ञापक-हेतु से स्वतन्त्र हो! 'रस' तो अभिव्यङ्ग्य है और इसलिये इसका विभावादि के साथ ज्ञाप्य-ज्ञापक भावरूप सम्बन्ध ही असम्भव है।)

निष्कर्ष यही है कि 'रस' न तो उत्पन्न होता है और न अनुमित होता है अपितु विभावादिरूप व्यञ्जक-सामग्री से अभिव्यङ्ग्य हुआ करता है और इसके अभिव्यङ्ग्य होने का यही अर्थ है कि सहृदय सामाजिक मात्र इसका आस्वाद लिया करता है, इसकी चर्वणा अथवा रसना में चमत्कृत हुआ करता है।

यहां रसरूप अनुभव को न तो 'कार्य' माना गया और न 'ज्ञाप्य' माना गया और इसलिये इस प्रकार का सन्देह कि ऐसी वस्तु जो न तो किसी 'कारक' रूप वस्तु से कार्य-कारणभाव से सम्बद्ध हो और न किसी 'ज्ञापक' रूप हेतु से ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव से सम्बद्ध हो, हो ही नहीं सकती, उठ सकता है किन्तु है निर्मूल। निर्मूल इसलिये कि 'रस' रूप वस्तु एक ऐसी अलौकिक वस्तु है कि न तो विभावादि को इसका 'कारकहेतु' माना जा सकता है और न 'ज्ञापक' ही हेतु। इस 'रस' रूप वस्तु के लिये विभावादि का न तो 'कारक' हो सकना और न 'ज्ञापक' हो सकना वस्तुतः एक ऐसी बात है जिसे 'रस' की अलौकिकता की एक पुष्टि कह सकते हैं न कि त्रुटि।

'रस' तो सर्वथा एक लोकोत्तर वस्तुतत्त्व है। अभी कहा गया कि रस 'कार्य' नहीं किन्तु कोई चाहे तो इसे 'कार्य' भी कह ले क्योंकि इस दृष्टि से कि 'चर्वणा' निष्पन्न अथवा उत्पन्न हुआ करती है—'रस' को भी उपचारतः निष्पन्न अथवा उत्पन्न मान कर 'कार्य' कह देने में कोई हानि ही क्या? अभी कहा गया कि रस 'ज्ञाप्य' नहीं, 'प्रत्येय' अथवा 'प्रमेय' नहीं किन्तु यदि किसी को इसे 'ज्ञाप्य' अथवा प्रत्येय अथवा प्रमेय ही कहना हो तो एक दृष्टि

कप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्ययोऽप्यभिधीयताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

से चाहे, तो कह भी ले। किस दृष्टि से? इस दृष्टि से कि यह अलौकिक 'रस' रूप वस्तु एक सर्वथा विलक्षण-एक सर्वथा लोकातीत-संवेदन का विषय तो है हीं। यह 'संवेदन' क्या है? यह संवेदन है 'स्वसंवेदन'-एक ऐसा संवेदन जो समस्त लौकिक प्रत्यक्षात्मक संवेदन से परे है (क्योंकि ऐसा कहां कि जिसे 'रसानुभव' कहते हैं वह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान अथवा उपमानादि रूप अनुभवों के विषय लौकिक रत्यादिभावों के ही अवबोध के समान हो! 'रस' तो लौकिक संवेदनों के विषयभूत रत्यादिभावरूप प्रमेय वस्तुओं से सर्वथा विलक्षण ही प्रमेय है।) 'रस' का यह 'स्वसंवेदन' ऐसा भी नहीं जिसे किसी युञ्जानयोगी का-सविकल्पक-समाधि-सिद्ध योगी का-'योगजप्रत्यक्ष' रूप वह संवेदन कहा जा सके जो कि लौकिक प्रत्यय की साधन-सामग्री से सर्वथा निरपेक्ष रहा करता है। इसे तो युक्त-योगी का भी-निर्विकल्पक समाधि-सिद्ध योगी का भी-वह संवेदन नहीं कहा जा सकता जो समस्त लौकिक विषयों के उपराग से सर्वथा शून्य किंवा एक मात्र आनन्दघन आत्मानुभवरूप हुआ करता है। रस का यह 'स्वसंवेदन' तो ऐसा है जिसे वस्तुतः लोकसिद्ध किंवा योग-सिद्ध समस्त संवेदनों से सर्वथा एक विलक्षण ही संवेदन कहा जा सकता है (और इसलिये कहा जा सकता है क्योंकि इसमें न तो लौकिक संवेदन की भांति किसी विषय का आवेश अथवा सम्पर्क सम्भव है, न योगज-प्रत्यक्ष की भांति कोई ताटस्थ्य ही है और न प्रातिभ महायोग-प्रत्यक्ष की भांति शुद्ध आत्मानुभव मात्र की ही स्फुटता है)। इस 'स्वसंवेदन' में एक ऐसा सौन्दर्य है, एक ऐसा आनन्द है जो अन्य किसी भी संवेदन-प्रकार में सम्भव नहीं।

रस को जो 'प्रमेय' कहा गया उसका यह अभिप्राय नहीं कि यह प्रमा का विषय हो गया! 'रस' को यदि प्रमा का विषय कहा जाय तब या तो इसे निर्विकल्पकप्रमा का विषय कहा जा सकता है या सविकल्पकप्रमा का विषय! किन्तु बात तो वस्तुतः यह है कि न तो इसे निर्विकल्पकज्ञान-ग्राह्य कहा जा सकता है और न सविकल्पक संवेदन-वेद्य। निर्विकल्पकज्ञान-ग्राह्य तो इसलिये नहीं क्योंकि 'रस' का अनुभव ऐसा है जिसमें विभावादि-परामर्श अवश्यम्भावी है और सविकल्पक संवेदन-वेद्य इसलिये नहीं कि 'रस' तो एक अलौकिक, आनन्दात्मक, स्वसंवेदन-सिद्ध आस्वाद है जिसमें नामरूपादि के उल्लेख की सम्भावना भी नहीं।

अभी कहा गया कि 'रस' न तो निर्विकल्पकज्ञान का विषय है और न सविकल्पकज्ञान का ही। किन्तु कोई चाहे तो इस दृष्टि से कि 'चर्वणा' तो विभावादि परामर्श से सर्वथा परे है, 'रस' को भी उपचारतः निर्विकल्पकप्रमा मान ले अथवा इस दृष्टि से कि 'रस' तो विभावादि का समुदित-संवलित-अनिर्वचनीय आनन्दात्मक अनुभव है, 'चर्वणा' को भी उपचारतः सविकल्पकप्रमा कह ले।

वस्तुतः बात तो यह है कि 'रसनिष्पत्ति'-रसाभिव्यक्ति-एक ऐसी अलौकिक अनुभूति है जिसके सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध सम्भावनायें निर्विरोधरूप से सङ्गत दिखायी देंगी और इनके द्वारा 'रस' की लोकोत्तरता बढ़ेगी ही न कि घटेगी।

टिप्पणी—(क) अभिनवभारतीकार, वस्तुतः रस-दर्शनकार अथवा रसतत्त्व-दार्शनिक आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रभाष्यकारों के रस-वादों की नींव पर अपने

रस-वाद-'रसाभिव्यक्ति' वाद का जो मन्दिर स्थापित किया है वह अजरामरवत् अब तक निस्तब्ध खड़ा है। इस मन्दिर की जो रूप-रेखा है उसके आकलन और सूक्ष्म-प्रकाशन का श्रेय तो ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन का है ही, किन्तु इस रूप-रेखा के अनुसार इसके निर्माण और प्रतिष्ठापन का श्रेय आचार्य अभिनवगुप्त का ही है। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट इस मन्दिर के परमभक्त पूजक हैं। यहाँ उन्होंने इस मन्दिर के निर्माण का पूरा २ विवरण तो दिया ही है किन्तु इसके साथ इसकी नींव का चित्र भी अङ्कित कर दिया है।

(ख) आचार्य अभिनवगुप्त को 'रसाभिव्यक्ति' वाद के प्रवर्त्तन की प्रेरणा आचार्य भट्टनायक के 'रसभुक्ति' वाद से मिली है। वस्तुतः 'रसभुक्ति' वाद की ही प्रमुख मान्यतायें, जिनका युक्तियुक्त स्वरूप-निरूपण भट्टनायक के रसवाद में न हो पाया था, आचार्य अभिनवगुप्त की सूक्ष्म रस चिन्तन दृष्टि में आकर निखर उठीं, सबल हो उठीं और प्रामाणिक बन गयीं। भट्टनायक की रसभोग-सम्बन्धी सर्वप्रथम जो मान्यता थी वह थी-काव्य-नाट्य अथवा कला में 'भावकत्वव्यापार' की मान्यता। इस 'भावकत्वव्यापार' की मान्यता ने काव्य और नाट्य अथवा कला के सम्बन्ध में 'अनुकृतिवाद' का ही समूलोन्मूलन नहीं किया अपितु 'अभिव्यञ्जना-वाद' की स्थापना-सम्बन्धी बाधाओं को भी दूर हटा दिया। इस 'भावकत्व-व्यापार' की मान्यता से सम्बद्ध भट्टनायक के 'रस-भोग' वाद की जो दूसरी मन्यता थी, वह थी 'भोजकत्वव्यापार' अथवा 'भोगीकरण' की मन्यता। इस 'भोगीकरण' की मान्यता ने जहाँ 'रसानुमिति' की जड़ें खोखली कर दीं वहाँ 'रसाभिव्यक्ति'-'रसचर्वणा' के बीज भी बो दिये।

(ग) भट्टनायक के रसवाद में 'रस' एक रहस्य रहा, जिसका आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्भेदन कर दिखाया। रस-रहस्य का उद्घाटन आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार किया—

(१) सबसे पहले तो यह सिद्ध किया कि 'रस' काव्यार्थ है—काव्य का परम अर्थ-तत्त्व-वास्तविक सारभूत तत्त्व-है। जैसे मीमांसकों ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्'** आदि वैदिक वाक्यों का सारार्थ भावना-विधि-नियोगादिरूप है वैसे ही अलङ्कारिकों को यह सिद्ध कर दिखाना है कि 'रामायण', महाभारत' आदि महाकाव्यों किंवा 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'मुद्राराक्षस' आदि नाटकों का सारतत्त्व 'रस' रूप अर्थतत्त्व है। जैसे मीमांसकों के अनुसार वेद-वाङ्मय के अधिकारी वे लोग हैं जिन्हें 'धर्मजिज्ञासु' अथवा 'ब्रह्मजिज्ञासु' कहा जाया करता है वैसे ही अलङ्कारिकों को यह मानना पड़ेगा कि काव्य-नाट्य अथवा कला के अधिकारी वे लोग हैं जिन्हें 'सहृदय' 'विमल प्रतिभासम्पन्न हृदय' कहा जाना चाहिये। काव्य और नाट्य के सहृदय पाठक और दर्शक काव्य और नाट्य की वाक्यार्थ-प्रतीति के बाद ही रस-प्रतीति किया करते हैं और उनकी यह रस-प्रतीति एक ऐसी प्रतीति हुआ करती है जिसमें काव्य और नाट्य के इस अथवा उस अंश की प्रतीति अथवा अब अथवा तब की प्रतीति आदि का कोई भी विभाग सम्भव नहीं, क्योंकि यह प्रतीति तो सहृदय सामाजिक मात्र की प्रतीति है और ऐसी प्रतीति है जिसमें देश-काल किंवा व्यक्तित्व की सीमायें टूटी हुई दिखाई दिया करती हैं और जिसे केवल एक कलात्मक मानस-साक्षात्कार कहा जा सकता है। यह प्रतीति एक 'निर्विघ्नसंवित्' है, 'सकलविघ्न विनिर्मुक्त' अनुभूति है, वस्तुतः अलौकिक है। यह प्रतीति आस्वादात्मक प्रतीति है जिसमें सहृदय 'रति' का-'हास' का-'शोक' का-क्रोधादि का अलौकिक अनुभव किया करता है। इस प्रतीति के नाम हैं—'चर्वणा', 'रसना', चमत्कार', 'निर्वेश', 'भोग', 'लय' 'विश्रान्ति' आदि २।

(२) अब जब कि सहृदय सामाजिक मात्र काव्य और नाट्य अथवा कला के सम्पर्क में रस-प्रतीत किया करता है तब तो काव्य और नाट्य अथवा कला में वह शक्ति है ही जो इस प्रतीति को सम्भव बनाया करती है। यह शक्ति क्या है? काव्य और नाट्य की इस शक्ति का प्रभाव तो यह है ही कि काव्य और नाट्य की समस्त पदार्थ-सम्पत्ति सहृदय सामाजिक मात्र की सम्पत्ति हो जाया करती है किन्तु इस शक्ति के लिये किसी 'भोजकत्व' आदि रूप नये नामकरण की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि इसका नाम तो पुराना नाम है अर्थात् 'व्यञ्जना' और बड़ा ही सुन्दर और सार्थक नाम है। काव्य और नाट्य अथवा कला की इस शक्ति-इस 'व्यञ्जना' नामक शक्ति

की ही यह महिमा है जो उस सकल विघ्न-विनिर्मुक्त संवित् को प्रकाशित कर दिया करती है जिसे 'रसना' अथवा 'चर्वणा' अथवा 'भोग' अथवा 'आस्वाद' कहा करते हैं। काव्य और नाट्य की इस 'व्यञ्जना'-शक्ति के द्वारा ही सहृदय सामाजिक मात्र के व्यक्तित्व के वे विकट सङ्कट दूर भगाये जाया करते हैं जो वेदशास्त्र किंवा अन्य वाङ्मय-प्रकार की अवबोधकता-शक्ति से कभी नहीं भगाये जा सकते। 'भावकत्व व्यापार' तो इस व्यञ्जनाशक्ति का प्रथम उन्मेष है और इसका दूसरा उन्मेष है 'भोगीकरण'। सहृदय सामाजिक मात्र में उस कलात्मक संवित्ति का संचारण, जो आनन्द रूप है, आस्वाद रूप है, आत्मरूप है, ब्रह्मलय तुल्य है, वस्तुतः एक अलौकिक विलक्षण स्वसंवेदन है।

(घ) आचार्य मम्मट का अभिनय भारती किंवा लोचन-कार अभिनवगुप्ताचार्य-प्रतिपादित रसमत-संक्षेप रसाभिव्यक्तिवाद का एक सारमय संक्षेप है। आचार्य मम्मट के इस रसाभिव्यक्ति-वाद-संक्षेप में क्या ध्वन्यालोकलोचन और क्या अभिनव भारती-दोनों की रसविषयक सूक्तिओं का सार निचोड़ा हुआ दिखाई देता है। ध्वन्यालोकलोचन (पृष्ठ १८८-८९) की ये रस-ध्वनि-साधक सूक्तियां—

'सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत् किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकं''''''''किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते तत्र भवतैव (भट्टनायकेन) भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणाप्यर्प्यमाणत्वे तदयोगात्। तद्द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्त' इत्यत्र। तस्मात् व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्त्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति—इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपि तु घनमोहान्ध्यसंकटतानिवृत्तिद्वारेणाऽस्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तारविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद् भोगस्येति।

अथवा अभिनव-भारती (पृष्ठ २८५) की ये रस-रूप आनन्दानुभव-समर्थक युक्तियां—

(१) 'तत्र 'लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यास एव पाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षधृत्यादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनाख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैः''''गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग् योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽसादितवद्भिरलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।'

(२) 'तेनाऽलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदनविलक्षण एव। तथाहि लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः (सामाजिकः) प्रमदादि न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृदयसम्वादात्मकसहृदयत्ववलात् पूर्णीभवद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानमनारुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया।''''''''''अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससंभवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञप्तिहेतवः, येन प्रमाणमध्ये पतेयुः, सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्ह्येतद्धि विभावादय इति? अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेद् भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ, पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।' (अभिनवभारती पृष्ठ २८६)

(३) 'सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः। स्वयं तु नाऽप्रामाणिकी स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव किं तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव,

(विभावादि-साहित्य में रसाभिव्यक्ति)

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुत-रौद्राणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुण-भयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीर-करुण-भयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः ।

उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य ।'

(अभिनवभारती पृष्ठ २८६)

(४) 'अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः। ·········'अयं तु कुशलैकनिर्वर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति।'

(अभिनवभारती, पृष्ठ २८९)

काव्यप्रकाश की रस-ध्वनि-प्रतिपादक पंक्तिओं की प्राणभूत बनी दिखायी देती हैं।

अनुवाद—रस की अभिव्यक्ति ऐसी नहीं जो कि केवल विभाव-वर्णना अथवा केवल अनुभाव-वर्णना अथवा केवल व्यभिचारिभाव-वर्णना द्वारा हुआ करे अपि तु ऐसी है जो विभावादि के साहित्य की योजना की अपेक्षा किया करती है। ऐसा इसलिये क्योंकि कोई भी विभाव किसी एक ही रस का तो विभाव हुआ नहीं करता क्योंकि एक ही विभाव जैसे कि व्याघ्र आदि जैसे (किसी भीरु स्वभाव के व्यक्ति में भय-संचार करने के कारण) भयानक रस के विभाव हो सकते हैं वैसे ही (किसी वीरस्वभाव व्यक्ति में उत्साह-संचार करने के कारण) वीररस के अथवा (विचित्र दर्शन से विस्मित किसी व्यक्ति में विस्मय-संचार करने के कारण) अद्भुत रस के अथवा (किसी ऐसे व्यक्ति में जिसके किसी इष्टजन का उनके द्वारा अनिष्ट हुआ हो, क्रोध का संचार करने के कारण) रौद्ररस के भी विभाव हो सकते हैं। यही बात अनुभावों की भी है, क्योंकि जैसे अश्रुपात आदि अनुभाव श्रृङ्गार रस के अनुभाव हो सकते हैं वैसे ही करुणरस के और करुणरस के ही क्यों भयानक रस के भी। इसी प्रकार जो व्यभिचारिभाव हैं जैसे कि चिन्ता आदि, उन्हें जैसे श्रृंगार के व्यभिचारिभाव के रूप में देखा जासकता है वैसे ही वीर रस के, जैसे वीर रस के, वैसे करुण रस के और जैसे करुण रस के वैसे ही भयानक रस के भी व्यभिचारिभाव के रूप में देखा जासकता है। इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पृथक २ रूप से इनकी वर्णना नियमतः किसी एक रस की अभिव्यक्ति का कारण नहीं क्योंकि पृथक् २ तो विभाव अथवा अनुभाव अथवा व्यभिचारिभाव किसी भी रस के एकान्ततः अभिव्यक्ति-साधन माने ही नहीं जासकते और इसीलिये तो भरत मुनि ने इन्हें अपने रस-सूत्र में सम्मिलितरूप से निर्दिष्ट किया है (जिसका अभिप्राय यही है कि रसाभिव्यक्ति के लिये विभावादि में 'दण्डचक्रादिन्याय' से संभूय कारणता भले ही हो 'तृणारणिमणिन्याय' से पृथक् कारणता कभी नहीं)।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट की यह समीक्षा लोचनकार की इस समीक्षा का अनुसरण करती है—

'रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतयाविभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः।' (ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ १७९)

जिसका अभिप्राय यह है कि रस की अभिव्यक्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की सम्मिलित वर्णना से सम्बन्ध रखती है न कि पृथक् २ वर्णना से।

साथ ही साथ यहां अभिनव भारती की इन पंक्तिओं की विचारधारा का भी अनुप्राणन स्पष्ट है—

'तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक् स्थायिनि नियमो नास्ति बाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्, व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात्, श्रमचिन्तादेरुत्साह-

(पृथक् २ विभावादि की वर्णना और रसाभिव्यक्ति)

वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥ २७ ॥

इत्यादौ ।

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मीमभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥२८॥

इत्यादौ ।

दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ २९ ॥

इत्यादौ च ।

यद्यपि विभावानामनुभावानामौत्सुक्य-व्रीडा-हर्ष-कोपा-ऽसूया-प्रसादानां

भयाद्यनेकसहचरत्वविलोकनात्। सामग्री तु न व्यभिचारिणी। तथाहि बन्धुविनाशो यत्र विभावः, परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः, चिन्तादैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एवेत्येवं संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय संयोग उपात्तः।' (अभिनव भारती अ. ६)

अनुवाद—कहीं यह भी संभव है कि केवल विभाव-वर्णना ही हो जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—'(किसी मानिनी नायिका के प्रति सखी की उक्ति—) अरी मुग्धे ! ऊपर की ओर देख, भ्रमरमाला की भांति नीले २ सजल मेघ आकाश में घिर आये। चारों ओर देख, कोयल की कूक की भांति भौरों की मधुर गुंजार होने लगी। नीचे की ओर देख, धरती के हृदय का मानभंग करनेवाले, लोहे की कीलों के समान, नये २ अङ्कुर निकल पड़े। और-और तेरा प्रियतम तेरे सामने झुका खड़ा है। अब भी तो हंसो-हंसावो !' में, जहाँ (मुग्धा और प्रियतम रूप आलम्बन और मेघादिरूप उद्दीपन) विभाव की ही योजना है, कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि केवल अनुभावों की ही योजना हो जैसे कि—(मालतीमाधव १म अङ्क की) इस सूक्ति अर्थात् 'मालती के अङ्ग तो ऐसे हो गये जैसे हाथों से मिसल डाली गयी कमलिनी के किसलय, मालती की किसी कार्य में रुचि तो ऐसी हो गयी कि सखी-समूह की प्रार्थनाओं पर भी केवल अनिच्छा से भरी और मालती के कपोल ! नये २ कटे हांथी दांत की गोराई लिये कपोल ! वे तो अब कलाशून्य चांद की भांति पीले २ लगने लगे।' में, जहां (मालती की अङ्गग्लानि-पाण्डता-क्षामता आदि रूप केवल अनुभाव-वर्णना है), और इसी प्रकार कहीं ऐसा भी संभव है कि केवल व्यभिचारी भावों की ही योजना हो जैसे कि (अमरुशतक की) इस सूक्ति अर्थात्—

'वह कितनी विचित्र बात रही कि मानिनी सुन्दरी ने, कोई भूल-चूक कर बैठने वाले, अपने प्रियतम को, जब दूर से देखा तो उत्सुकता भरी दृष्टि से देखा, जब पास में देखा तो लज्जाभरी दृष्टि से देखा, जब कुछ बोलते देखा तो प्रसन्नता भरी दृष्टि से देखा, जब आलिङ्गन करने में तत्पर देखा, तो क्रुद्ध सी दृष्टि से देखा, जब अञ्चल छूते देखा तो भौहें सिकोड़ कर देखा, जब पैरों पर पड़ते देखा तो आंसू भरी आंखों से देखा और न जाने इस प्रकार किन २ दृष्टिओं से देखा !' में, जहां औत्सुक्य, व्रीडा, हर्ष, कोप, असूया आदि व्यभिचारी भावों की ही केवल योजना है और तब भी रस की अभिव्यक्ति में कोई सन्देह न हो (जैसा कि इन तीनों सुक्तिओं में स्पष्ट है) ! किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यहाँ पृथक् २ रूप से विभाव अथवा अनुभाव अथवा व्यभिचारिभाव की योजना से ही रस अभिव्यक्त हुआ है क्योंकि यहां

च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाऽप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति।

(रसभेद निरूपण)

तद्विशेषानाह—

(४४) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ २९ ॥

जो रसाभिव्यक्ति है वह वस्तुतः इसीलिये है कि यहां के विभाव (जैसे कि 'वियदलिमलिमलिनाम्बु' आदि में), अनुभाव (जैसे कि 'परिमृदितमृणाली' आदि में) और व्यभिचारिभाव (जैसे कि 'दूरादुत्सुकमागते' आदि में) यहां के स्थायीभाव–रतिभाव–के ऐसे एकान्ततः किंवा अविलम्बतः अभिव्यञ्जक रूप से उपनिबद्ध हैं कि इन एक २ से दूसरे दोनों का आक्षेप अथवा अभिव्यञ्जन सर्वत्र अनायास हो रहा है। तब भला यह कैसे कहा जा सकता है कि विभावादि की संभूयश्वर्णना के विना भी रस की अभिव्यक्ति संभव है! विभाव–अनुभाव और व्यभिचारिभाव की संभूय–योजना का सिद्धान्त–भरत के रस–सूत्र का रहस्य–कहीं भी ऐसा नहीं कि लागू न हो और सिद्ध न हो।

टिप्पणी—यहां आचार्य अभिनवगुप्त की इस धारणा का अनुसरण स्पष्ट है—

'किन्तु समप्राधान्य एव रसास्वादस्योत्कर्षः। तच्च प्रबन्ध एव भवति, वस्तुतस्तु दशरूपक एव, यदाह वामनः–'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः, तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यादिति'......तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य 'ईदृगत्र वक्ताऽस्मिन्नवसर' इत्यादि बहुतरं पीठबन्धं विदधते,–(अभिनवभारती, अध्याय ६)

जिसका अभिप्राय यही है कि भले ही पृथक् २ भी विभाव अथवा अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव की वर्णना साधारणीकरण के लिये, वहां पर्याप्त हो, जहां इनमें से एक २ के द्वारा दूसरों का आक्षेप अथवा अभिव्यञ्जन संभव है, किन्तु रसास्वाद की पराकाष्ठा के लिये विभावादि की संभूययोजना ही अपेक्षित है और इसीलिये नाटकों और मुक्तकों में रसास्वाद अत्यन्त उत्कृष्ट रूप का हुआ करता है।

अनुवाद—(रस सामान्य के निरूपण के बाद) अब रस–विशेष का (क्योंकि नाट्याचार्यों का रस के अवान्तर भेदों के सम्बन्ध में मतभेद है, कोई केवल एक ही रस मानता है जैसे कि 'शृङ्गार', तो कोई बारह रस मानता है जैसे कि भरत मुनि के माने हुये ९ रस के साथ २ (१०) वात्सल्य (अथवा प्रेयांस), (११) 'दान्त' और (१२) 'उद्धत' भी) विचार किया जा रहा है (जिससे नाट्यशास्त्रप्रवर्तक भरत मुनि की रस–भेद–विषयक मान्यता स्पष्ट हो जाय)।

नाट्य अथवा अभिनयात्मक काव्य–प्रबन्ध में जिन रसों (के आस्वाद) का स्मरण किया जाया करता है, वे आठ हैं, जिनके ये नाम हैं—

(१) शृंगार	(५) वीर
(२) हास्य	(६) भयानक
(३) करुण	(७) बीभत्स
(४) रौद्र	(८) अद्भुत

टिप्पणी—आचार्य मम्मट की 'शृङ्गार हास्य' आदि कारिका भरत नाट्यशास्त्र के ६ ठे अध्याय की १६ वीं कारिका है। आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार इन नाट्य–रसों के क्रम–निर्देश का यह रहस्य है—

'तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृंगारः। तदनुगामी च हास्यः। निरपेक्षभावत्वात्तद्विपरीतस्ततः करुणः। ततस्तन्निमित्तं

१. (शृङ्गाररस-समीक्षा)

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ—सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्राद्यः परस्परावलोकना-लिङ्गना-ऽधरपान-परिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गम्यते ।

यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।

रौद्रः । स चार्थप्रधानः । ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद्वीरः, स हि धर्म प्रधानः । तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात्तदनन्तरं भयानकः । तद्विभावसाधारण्यसंभावनात्ततो बीभत्स इतिय द्वीरेणाक्षिप्तं वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः फलमित्यनन्तरं तदुपादानं, तथा च वक्ष्यते-'पर्यन्ते कर्त्तव्यो नित्यं रसोऽद्भुत' इति । ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्त स्तत्रस्वात्मावेशेन रसचर्वणेत्युक्तम् । (अभिनवभारती ६।१६)

जिसका तात्पर्य यह है कि रस-संख्या का निर्धारण धर्म-अर्थ-काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय से सम्बद्ध है । काम की ओर प्राणिमात्र की प्रवृत्ति स्वाभाविक है, इसलिये रसराज 'शृङ्गार' को तो प्रथम रस-प्रकार मानना ही पड़ेगा । इसके बाद इसी कामरूप फल की प्राप्ति के साधन रूप से 'हास्य' को दूसरा स्थान देना होगा । किन्तु जीवन में सुख ही सुख तो नहीं, काम-प्राप्ति में करोड़ों विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं, इसलिये इन दोनों रसों से विरुद्ध-स्वभाव का रस 'करुण' रस भी, जिसका अपलाप असंभव है, माना ही जायगा । इसके बाद मानव जीवन के 'शोक' के निमित्त भूत 'रौद्र' को क्योंकर न माना जाय, जब मानव के लिये अर्थरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति भी आवश्यक है जिसमें क्रोध-क्षोभ-आवेग आदि चित्तवृत्तियों का ताण्डव अनवरत चला करता है । किन्तु काम और अर्थ की प्राप्ति ही तो सब कुछ नहीं । काम और अर्थ की प्राप्ति भी तो 'धर्म' पर ही निर्भर है । चाहे यह धर्म राजधर्म हो, प्रजाधर्म हो, धर्म में ही तो जीवन प्रतिष्ठित है । इसलिये धर्मप्रधान 'वीररस' की मान्यता आवश्यक ही हुई । उत्साह के महाभाव का क्षेत्र स्वार्थसाधन नहीं क्योंकि वहां तो क्रोध-लोभ का राज्य है अपि तु परार्थसाधन है और इसलिये दीन-दुःखी-भयार्त्तप्राणियों के लिये अभय-प्रदान का सार रखने वाले उत्साह-स्थायीभाव 'वीर' के बाद 'भयानक' की मान्यता है । 'भयानक' के बाद 'बीभत्स' का स्थान स्वतः सिद्ध है क्योंकि दोनों की उद्दीपक सामग्री में पर्याप्त समानता है । उत्साह के महाभाव का परिणाम तो 'विस्मय' रूप में प्रतीत ही हुआ करता है जिससे अन्त में 'अद्भुत रस' का होना स्वाभाविक है । इस प्रकार ये आठ रस तो त्रिवर्गात्मक (धर्म-अर्थ-कामात्मक) प्रवृत्तिधर्म से सम्बद्ध है जिससे इनका अपलाप असम्भव है । कतिपय नाट्याचार्यों द्वारा इन्हीं आठों को जो 'नाट्यरस' माना गया है वह इसीलिये क्योंकि उनके मत में नाट्य का सम्बन्ध त्रिवर्गात्मक प्रवृत्तिरूप धर्म से ही है । किन्तु जो नाट्याचार्य निवृत्ति धर्मात्मक मोक्ष की प्राप्ति में भी नाट्य की शक्ति का रहस्य देखते आये हैं उनके लिये 'शान्त' भी, इन आठों के अतिरिक्त, ९ वां रस हैं, जिसका मानना अत्यावश्यक है ।

अनुवाद—शृङ्गार के दो भेद—(१) संभोग शृङ्गार, (२) विप्रलम्भ शृङ्गार ।

(सर्व प्रथम) जिसे 'शृङ्गार' रस कहा जाता है उसके दो भेद हैं—(१) संभोग शृङ्गार और (२) विप्रलम्भ शृङ्गार । यह १ ला अर्थात् संभोग शृङ्गार एक प्रकार का ही माना जाया करता है क्योंकि इसके यदि अवान्तर भेदों जैसे कि प्रेमी-प्रेमिका के परस्पर-दर्शन, आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन आदि की गणना की जाने लगे, तो न तो इसका कहीं अन्त लगे और न इसके उन २ स्वसंवेदन सिद्ध भिन्न २ रूपों का सम्यक् विश्लेषण ही हो पाय । उदाहरण के लिये (अमरुशतक की) यह सूक्ति-(संभोग शृङ्गार रस) 'शयनगृह को अच्छी तरह देख भाल कर कि वहां और कोई नहीं, मुग्धा ने पर्यंक पर ही धीरे से करवट बदल, सोने का बहाना बनाये, पति के मुंह की ओर बड़े ध्यान से देखा, सोया समझ कर, प्रेमनिर्भर हो, बारंबार उसे चूमा और जैसे ही कपोलों पर आनन्द

विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥ ३० ॥

तथा—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ३१ ॥

(विप्रलम्भ शृङ्गार रस)

अपरस्तु अभिलाष-विरहे-र्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्चविधः। क्रमेणोदाहरणम्—

१ (अभिलाष-निमित्तक विप्रलम्भ)

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।

के रोमाञ्च देख लज्जा से सिर नीचे झुकाया वैसे ही हंसते प्रियतम के चुम्बनों की उस पर बौछार हो पड़ी ।'

(जहां नायक और नायिका के पारस्परिक प्रेम-संमीलन का परमभोग निर्विघ्न अभिव्यक्त हो रहा है, सहृदय सामाजिक का हृदय नायक के हृदय से तन्मय हो रहा है, शून्य-गृह (उद्दीपन) और चुम्बन (अनुभाव) और लज्जा-हर्ष आदि (व्यभिचारी भाव) स्वगत-परगत सम्बन्धी कल्पनाओं से परे सब के लिये समान बन रहे हैं और परिणाम ! वह तो परस्परास्थाबन्ध रूप रति की चर्वणा है ही। एक बात और, यहां जो संभोगशृङ्गार रूप रस है वह नायकविषयक नायिकानिष्ठ रति के उद्रेक का आस्वाद है ।)

और (अमरूशतक की) यह सूक्तिः—

'प्रियतम ने यह कहते ही कि 'अरी सुन्दरी ! तुम तो चोली के बिना ही सुन्दर लगती हो' चोली का बन्द पकड़ लिया और शय्या के किनारे बैठी उस सुन्दरी की विहंसती आंखों के संकेत से आनन्द विभोर हुई सखियां भी कुछ न कुछ बहाना बना बना कर एक एक करके धीरे से खिसक पड़ीं !'

(जहां नायक और नायिका का अन्योन्य निमज्जनात्मक रतिभाव सहृदय सामाजिकों के आस्वाद का विषय बन रहा है और इसलिये बन रहा है क्योंकि जब रतिभाव सब के हृदय में वासना रूप से सदा विराजमान है तब 'सुन्दरी' (आलम्बन) 'नेत्रसौन्दर्य' (उद्दीपन) 'आभाषण' (अनुभाव) और 'उत्कण्ठा' (व्यभिचारी भाव) की सम्मिलित अभिव्यञ्जनाशक्ति उसे क्योंकर न उद्बुद्ध कर दे !)

अब, दूसरा अर्थात् विप्रलम्भ शृंगार वह है जो कि १. अभिलाष (पूर्वराग अथवा मिलन की उत्सुकता), २. विरह (अनुराग में न्यूनता अथवा अनुरक्ति में भी मिलन-बाधा अथवा संकोचादिवश मिलन का अभाव), ३. ईर्ष्या (मानवश), ४. प्रवास (अनुरक्ति में ही विभिन्न देशस्थिति) और ५. शाप (सिद्ध पुरुष वचन से मिलन की निश्चित अवधि का अभाव) इन निमित्त भेदों से पांच प्रकार का हुआ करता है। इसके क्रमशः उदाहरण ये रहेः—

१. 'कितना सुन्दर होता कि उस मुग्धाक्षी (मालती) के स्वभाव सुन्दर, प्रेमार्द्र, प्रणय-मधुर और परस्परासक्ति के कारण हृदय के समस्त अनुराग से सने वे हावभाव मेरे कारण जैसे पहले हुये वैसे ही अब भी होते ! ओह ! जब मन में संजोयी भी वे हावभाव-भङ्गियां

यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥ ३२ ॥

२ (विरह-निमित्तक विप्रलम्भ)

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥ ३३ ॥

३ (ईर्ष्याहेतुक विप्रलम्भ)

एषा विरहोत्कण्ठिता ।
सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥ ३४ ॥

४ (प्रवासहेतुक विप्रलम्भ)

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।

इतनी मधुर हैं कि हृदय उन्हीं में लीन—उन्हीं के आनन्द में डूबता-उतराता लग रहा है और संसार की सारी वस्तुयें तुच्छ सी दीख रहीं हैं तब......' (मालतीमाधव, अङ्क ५)

(जहां 'मालती' को पाने की अभिलाषा में 'माधव' के हृदय की रति सहृदय सामाजिक के हृदय को विप्रलम्भ श्रृङ्गाररस से सराबोर किये दे रही है)।

२. 'वे कहीं दूसरी ओर निकल जायेंगे, इसकी तो संभावना भी नहीं! उन्हें कोई उनका स्नेही रोक लेगा, यह भी संभव कैसे जब उनका कोई भी स्नेही ऐसा नहीं जिसे मेरा ध्यान न हो !, ओह ! अभी तक न लौट आये ! क्या होने वाला है !,—इस प्रकार न जाने कितनी मन में उठती बातों से विह्वल-व्याकुल बनी कोई मुग्धा अपने शयनागार में पड़ी, केवल करवटें बदलती, जागते जागते रात बिता रही है !'

यहां यह स्पष्ट है कि (जिस नायिका के रतिभाव के उपयुक्त विभावादि की वर्णना है जो कि सहृदय हृदय को विरह भावना के आनन्द में डुबा रही है वह) नायिका विरहोत्कण्ठिता नायिका है (आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत् प्रियः । तदनागमदुःखार्त्ता 'विरहोत्कण्ठिता' मता ॥)

३. 'वह तो इतनी मुग्धा है कि बिना किसी सखी के कुछ सिखाये पढ़ाये, अपने प्रियतम में कुछ परिवर्त्तन देखने पर भी, कुछ जान ही नहीं सकती कि कैसे भौंहे तरेरी जांय, कैसे भौंहें तरेरे बातें बनायी जांय और कैसे कोप दिखाया जाय ? वह तो बस दोनों कपोलों की जड़ में जमे, केशपाश को भिगोये पड़े, आंसुओं की झड़ी लगाती, चारों ओर व्याकुलता से आंखें घुमाती, केवल रोना-धोना जानती है ! (अमरूशतक)।

(जहां सहृदयों के हृदय को ईर्ष्या-जनित विप्रलम्भ रस आप्लावित करता स्पष्ट प्रतीत हो रहा है)।

४. 'अरे मेरे प्राण ! अरे जीवन ! जब वे कहीं अन्यत्र जाने क ठान ही बैठे और मेरे हाथों के वे उन्हें सुन्दर लगने वाले कंगन ! वे भी जब चल ही पड़े और जब ये सब आंसू भी ढलते २ कहीं चल ही देंगे और जब सारा साहस क्षणभर भी न ठहर सका और जब मन

यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥ ३५ ॥

५ (शाप हेतुक विप्रलम्भ)

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानन्ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ ३६ ॥

(२-९ हास्यादि रस)

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम् ।

२ (हास्यरस)

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।

आगे ही आगे चल पड़ने को उतावला हो उठा और जब मेरे पास अब कुछ भी नहीं, तो उनका साथ तू क्यों छोड़े । तुझसे अब मेरा क्या नाता !—(अमरूशतक),

(जहां सहृदय हृदय में प्रवास हेतुक विप्रलम्भ एक विचित्र आनन्द की सृष्टि कर रहा है) ।

५.'प्यारी ! चाहता हूं, बहुत चाहता हूं कि प्रणय कुपित मुद्रा में खींचे और कहां ? इस शिला-फलक पर ही और कैसे ? बस पर्वत की धातुओं के रंग से ही, खींचे तेरे चित्र में, तेरे पैरों पर गिर पड़ूं किन्तु दुर्भाग्य ! इतना निठुर दुर्भाग्य ! कि आंखें उमड़े आसुओं से भर आती हैं ! ओह ! क्या विधाता की यही इच्छा है कि तेरे चित्र में भी तुझे न देख पाऊं ! (मेघदूत),

(जहां कुबेर के शाप से यक्षिणी-वियुक्त यक्ष का रतिभाव सहृदय सामाजिकों के हृदय में विप्रलम्भ रस की धारा बहाता दीख पड़ रहा है) ।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र प्रवर्त्तक आचार्य भरत के अनुसार 'शृङ्गार रस' का यह स्वरूप है:—

'तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव'.....तस्य द्वे अधिष्ठाने, सम्भोगो विप्रलम्भश्च ...एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति । (नाट्यशास्त्र ६) ।

जिसका अभिनव भारतीकार का किया यह विवेचन है:—

'तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसंवादित्वाच्च तत्प्रधानं शृङ्गारं लक्षयति'........रति-रेवास्वाद्यमानः मुख्यशृङ्गारः'.......अवियुक्तसंवित्प्राणस्तु शृङ्गारः'..........अधिष्ठाने अवस्थे इत्यर्थः, अधिष्ठीयतेऽवस्थाऽत्र शृङ्गाररूपेण तेन शृङ्गारस्येमौ भेदौ गोत्वस्येव शाव-लेयत्वबाहुलेयत्वे । अपि तु तादृशाद्वयेऽप्यनुयायिनी या रतिरास्थाबन्धात्मिका तस्याश्चा स्वाद्यमानं रूपं शृङ्गारः । अत एव संभोगे विप्रलम्भसंभावनाभीरुत्वं विप्रलम्भेऽपि संभोग-मनोराज्यानुवेध इति । इयच्छृङ्गारस्य वपुः अभिलाषेर्ष्याप्रवासादिदशास्वत्रैवान्तर्भूताः । ....एक एव च परमार्थतः शृङ्गार इत्यभिप्रायेणादाववस्थोपलक्षणद्वारेण सर्व एवोप-संहृतो मन्तव्यः ।, (अभिनव भारती-शृंगाररस प्रकरण) ।

यहां आचार्य मम्मट की शृङ्गार-समीक्षा वस्तुतः नाट्यशास्त्र और अभिनव भारती की मान्य-ताओं का अनुसरण करती स्पष्ट प्रतीत हो रही है ।

अनुवाद—अब हास्य आदि रसों के (उनके स्वरूपनिरूपण के लिये) क्रमशः उदाहरण दिये जा रहे हैं:—

२. हास्यरस—'विष्णु शर्मा महाराज हाय हाय मचा रहे हैं 'मर गया मर गया'-कह कह कर रो धो रहे हैं । उनका कहना है कि लोग उनका सिर देख लें-'आपोहिष्ठा मयोभुवः'

तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात्प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥ ३७ ॥

३ (करुणरस)

हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाऽऽशिषः
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥ ३८ ॥

४ (रौद्ररस)

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥ ३९ ॥

५ (वीररस)

क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।

की मन्त्र सूक्ति से पावन जल के छिड़काव से प्रत्येक स्थान पर पवित्र सिर और उस पर उस वेश्या की, थूक फेकने के साथ साथ अपवित्र थप्पड़ की, चिल्ला चिल्ला कर मार! राम कहो?'

(यहां सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासनारूप से विराजमान हासरूप स्थायीभाव विष्णुशर्मा महाराज के ढोंगीपने और उसकी पोल खुलने की वर्णना से उन्मुक्तरूप से अभिव्यक्त हो रहा है और हास्यास्वाद में परिणत प्रतीत हो रहा है)।

३. करुणरस—'हा महारानी ! हमें छोड़कर कहां चल पड़ीं, हाय ! क्या हो गया ! क्या देवी-देवता की पूजा और क्या साधु-सन्तों के आशीर्वाद ! सब के सब झूठे ! हमें अब जीने से क्या ! हाय ! वज्र गिर गया ! हाय ! महारानी ! जलती चिता में सो पड़ी ! ओह ! वे आंखें झुलस गयीं-ये नगर की नागरिओं की; रुंधे गले से निकलतीं, क्रन्दन-ध्वनियां चित्रों में खिंचे वस्तुओं को भी रुला रही है और चित्रभित्तिओं को भी शतधा विदीर्ण करती लग रहीं हैं ।'

(यहां सहृदयहृदय का शोकरूप स्थायीभाव नागरी-विलापवर्णना से करुणरस के रूप में प्रवाहित होता प्रतीत हो रहा है।)

४. रौद्ररस—'अरे अर्जुन ! अरे सात्यकि ! देख ले कि कैसे कृष्ण के साथ साथ भीम, अर्जुन और उन सब लोगों को, तुम सब नरपशुओं को, तुम सब महानीचों को, तुम वीर बने लोगों को, इस महापाप (द्रोणवध) के करने वालों को, इस महापाप की राय देने वालों को और इस महापाप को देखते हुए भी चुप्पी साधने वालों को खून, चर्बी और मांस का लोथड़ा बना बना कर, मैं (अश्वत्थामा) अभी अभी बलि चढ़ा रहा हूँ या नहीं ! (वेणीसंहार, अङ्क ३),

(यहां सहृदय सामाजिकों का क्रोधरूप स्थायीभाव अभिव्यक्त होकर उनके हृदय में आग सी लगाता लग रहा है और उन्हें यह पता भी नहीं चल पाता कि वे कौन हैं और अश्वत्थामा कौन है !)।

५. वीररस—'अरे वानरो ! हमारे ये बाण, ऐरावत के मस्तक पर गिर चुके हैं, तुम जैसे तुच्छ प्राणियों की देह पर गिरना भी इनके लिये लज्जास्पद है, तुम्हें भागना हो भाग जाओ, तुम्हें डराने से इन्हें क्या मिलेगा ! अरे सुमित्रानन्दन ! लक्ष्मण !! तुम मुझसे भिड़ने

सौमित्रे ! तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥ ४० ॥

६ (भयानकरस)

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ ४१ ॥

७.(वीभत्सरस)

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥ ४२ ॥

८ (अद्भुतरस)

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥ ४३ ॥

चले हो, अरे ! मैं हूँ मेघनाद ! मेरा क्रोध तुम जैसे के लिये नहीं, मैं तो उस राम को ढूंढ रहा हूँ—पता नहीं कहां भागा छिपा है-जिसकी टेढ़ी भौंहों ने, सुना गया है कि समुद्र को भी विवश बना कर छान-बाध डाला है ! (हनुमन्नाटक)'

(यहां सहृदय सामाजिकों के हृदय का उत्साह समुचित विभावादि-वर्णना से अभिव्यक्त हो रहा है और वीररस के आस्वाद में परिणत हो रहा है।)

६. भयानकरस—'अरे ? देखो यह हरिण पीछा करते रथ पर, गर्दन टेढ़ी कर आंखे गड़ाये, बाण अब गिरा तब गिरा-इस डर से अपनी देह के पिछले भाग को सिकोड़ कर मानों अगले भाग में घुसाये, हांफते हुये खुले मुंह से आधी चबायी घास के टुकड़े को रास्ते भर गिराते ऐसी चौकड़ी भर रहा है मानों धरती पर तो कम किन्तु आकाश में ही अधिक भगदड़ लगा रहा हो !—(अभिज्ञान शाकुन्तल अङ्क १),

(यहां जो भयानकरस का आस्वाद है वह सहृदय सामाजिक के हृदय में वासनारूप से विद्यमान भय की अभिव्यक्ति का ही परिणाम है।)

७. वीभत्सरस—राम राम ! इस श्मशान में ऐसी दुर्गन्ध ! ऐसा दरिद्र प्रेत—एक मुर्दे की चाम को नोच-खसोट करता-उस मुर्दे के कन्धों, जांघों और पीठ तथा पेट के फूले, विकट दुर्गन्ध से भरे कुछ थोड़े मांस खाये, अपनी गोद में कसकर पकड़ी खोपड़ी में जहां-तहां चिपके मांस धीरे २ मुंह में डालते भूखा सा ही लगता और प्रेतों के डर से चारों ओर चौकन्ना होकर देखता, दांत किटकिटाता, कैसा लग रहा है !—(मालतीमाधव अङ्क ५)।

(यहां स्वभावतः सहृदय सामाजिक की जुगुप्सा का स्थायीभाव जग उठा है और 'बीभत्स' के नाट्यानन्द में बदल गया है।)

८. अद्भुतरस—'यह महान् व्यक्ति ! संसार में ऐसी विचित्र वस्तु ! यह अवतार ! कितना सुन्दर ! कितना लोकोत्तर ! इतना अलौकिक धैर्य ! इतनी प्रभावमयता ! ऐसी अद्भुत गठन ! ऐसी विचित्रता की सृष्टि ! (ओह ! यही वामन-विष्णु हैं क्या ?)।

(यहां सहृदयहृदय का 'विस्मय'-स्थायीभाव उद्बुद्ध हो उठा है और अद्भुत रस का आनन्द देता चल रहा है)

टिप्पणी—(क) हास्यरस—'हास्यरस' की विशद-समीक्षा नाट्यशास्त्र में है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने हास्यरस का और वस्तुतः अन्य रसों का भी, जो विचार-विमर्श किया है उसका उद्देश्य

(स्थायिभाव-निरूपण)

एषां स्थायिभावानाह—

(४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयन्तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ३० ॥

अभिनय-सौकर्य है । वस्तुतः अभिनय-सौकर्य की ही दृष्टि से और साथ ही साथ इस रस के अनुभव में विविध प्रकृति वाले सहृदय सामाजिकों की अवस्थाओं के विश्लेषण की दृष्टि से इसके प्रकार-षट्क का निरूपण हुआ है । इसके अतिरिक्त 'स्वगत' और 'परगत' रूप हास्य के दो भेदों का भी विवेक किया गया है । यहां आचार्य मम्मट ने इस प्रकार का विश्लेषण न कर केवल हास्यरस का निदर्शन मात्र जो उपस्थित किया है और ऐसी ही बात अन्य रसों के निरूपण में भी जो की है वह केवल ग्रन्थगौरवभय से ।

(ख) आचार्य मम्मट ने 'भयानक रस' का निदर्शन महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल प्रथम अङ्क की 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' आदि सूक्ति द्वारा किया है । बाद के आलङ्कारिकों में इस सम्बन्ध में दो विभक्त मत हो गये हैं । कुछ का यहां यह कहना है कि 'मृगगतभय' की अभिव्यक्ति 'भयानक रस' नहीं अपि तु 'भयानक रसाभास' है और कुछ का यहां यह अभिमत है कि पशु-पक्षिगत भी 'भय' सहृदय-हृदय में 'भयानक रस' का आस्वाद बना करता है । जैसे कि 'रसार्णव सुधाकर'कार शिंगभूपाल का यह मत है कि पशु-पक्षि-गत रत्यादिभाव की वर्णना 'रसाभास' की आनन्दानुभूति से संबन्ध रखती है:—

'आभासता भवेदेषामनौचित्यप्रवर्तिनाम् । असत्यत्वादयोग्यत्वादनौचित्यं द्विधा भवेत् ॥
असत्यत्वकृतं तत् स्यादचेतनगतं तु यत् । अयोग्यत्वकृतं प्रोक्तं नीचतिर्यङ्नगाश्रयम् ॥'

किन्तु 'काव्यदर्पण'कार राजचूडामणि दीक्षित के अनुसार, काव्यप्रकाशकार का, मृग-गत भय का, भयानक रस के रूप में अभिव्यञ्जननिरूपण, इस बात को प्रमाणित करता है कि पशु-पक्षिगत भी रत्यादिभाव-रसरूप में ही चर्वणा-गोचर हुआ करते हैं:—

'अत एव काव्यप्रकाशिकायां (काव्यप्रकाशे) **'ग्रीवा भङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः' इति श्लोकेन भयानकरसः तिर्यग्विषयगततया उदाहृत इत्याहुः ।**

वस्तुतः 'एकावली'कार आलंकारिक विद्याधर ने भी 'काव्यप्रकाश' की ही दृष्टि के अनुसन्धान में पशु-पक्षिगत रत्यादिभाव की रसरूप में अभिव्यक्ति मानी थी, जिसका 'रसार्णवसुधाकरकार' ने इन पंक्तियों में संकेत किया है:—

'अपरे तु रसाभासं तिर्यक्षु प्रचक्षते, तन्न परीक्षाक्षमम् । तेष्वपि भावादिसंभवात् । विभावादिज्ञानशून्यास्तिर्यञ्चो न भाजनं भवितुमर्हन्ति रसस्येति चेन्न । मनुष्येष्वपि केषुचित् तथाभूतेषु रसविषयाभासप्रसङ्गात् । अत्र विभावादिसंभवोऽपि रसं प्रतिप्रयोजकः, न विभावादिज्ञानम् । ततश्चतिरश्चामस्त्येव रसः ।

अनुवाद—**(जिन रसों का निरूपण किया जा चुका है उनके) जो स्थायीभाव (नाट्यशास्त्र में) बताये गये हैं वे क्रमशः ये हैं—१. रति, २. हास, ३. शोक, ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६. भय, ७. जुगुप्सा और ८. विस्मय ।**

इस कारिका की वृत्ति-रचना आवश्यक नहीं क्योंकि इसका अभिप्राय स्वयं स्पष्ट है ।

टिप्पणी—(क) चित्तवृत्तिविशेष ही भाव हैं । भावों की 'स्थायिता' का यह अभिप्राय है जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त का मत है:—

'अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद् विश्राम्यति ? तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात् । अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथाचर्वणापात्रम् । तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित् संविद इति प्रधानम् । तद् यथा—रतिः कामतदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा, क्रोधस्तत् प्रधानेष्वर्थनिष्ठः, कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः समस्तधर्मादिपर्यवसित

स्पष्टम् ।

(व्यभिचारिभाव-संख्यान)

व्याभिचारिणो ब्रूते—

(४६) निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूया मदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ ३१ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।

स्तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायोऽपि भावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम् ।.........तत्र सर्वेऽमीसुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकधनस्य प्रकाशस्याऽनन्दसारत्वात् ।'

अर्थात् रति-हास-शोक आदि रूप चित्तवृत्तिविशेष को इसलिये स्थायीभाव कहा जाया करता है क्योंकि इनका सम्बन्ध साक्षात् अथवा परम्परया पुरुषार्थचतुष्टय से है। ये स्थायीभाव वस्तुतः संवित्स्वरूप हैं और इनकी अभिव्यक्ति की जो अनुभूति है वह आनन्दरूप—रसरूप है।

(ख) 'रति'— 'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।'
'हास'— 'वागादिवैकृताच्चेतो विकासो हास उच्यते ।'
'शोक'— 'इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोक उच्यते ।'
'क्रोध'— 'प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः क्रोधसंज्ञितः ।'
'उत्साह'— 'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।'
'भय'— 'रौद्रशक्त्या तु जनितं वैक्लव्यं मनसो भयम् ।'
'जुगुप्सा'— 'जुगुप्सा गर्हणार्थानां दोषमाहात्म्यदर्शनात् ।'
'विस्मय'— 'विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ।
विस्मयश्चित्तविस्तारो वस्तुमाहात्म्यदर्शनात् ॥'

अनुवाद—अब व्यभिचारीभावों का निर्देश किया जा रहा है—

ये ३३ भाव, जिन्हें व्यभिचारीभाव के रूप में (नाट्यशास्त्र में) गिनाया गया है ये हैं :—

१. निर्वेद (तत्त्वज्ञान आदि से समुद्भूत स्वावमानन अर्थात् अपने सम्बन्ध में तुच्छता की बुद्धि) ।
२. ग्लानि (मनस्ताप आदि से उत्पन्न निष्प्राणता-निरुत्साहिता आदि का कारण एक चित्तवृत्तिविशेष)
३. शङ्का (आत्मदोष आदि से अनर्थसम्बन्धी चिन्तन) ।
४. असूया (परगुणा सहिष्णुता) ।
५. मद (संमोह और आनन्दका संमिश्रण-एक चित्तवृत्तिविशेष) ।
६. श्रम (ग्लानि की उत्पादि का चित्तवृत्ति) ।
७. आलस्य (मन की श्रमादिसंभूत निरुद्योगिता की अवस्था) ।
८. दैन्य (दुर्गति आदि से मन की ओजस्विताहानि) ।
९. चिन्ता (हित की अप्राप्ति में ध्यान की एकतानता) ।
१०. मोह (दुःखादि चिन्तन से चित्त की विचित्तता अर्थात् शून्यता) ।
११. स्मृति (सदृशानुभवादि से उत्पन्न पूर्वानुभूत-वस्तुविषयक ज्ञान) ।
१२. धृति (अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति में स्पृहानिवृत्ति) ।
१३. व्रीडा (चित्त का संकोच) ।
१४. चपलता (द्वेषादिवश चित्त की अस्थिरता) ।
१५. हर्ष (अभीष्ट प्राप्ति से मन की प्रसन्नता) ।
१६. आवेग (अनर्थाधिक्य से मनः संभ्रम) ।

गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥ ३२ ॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ ३३ ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ ३४ ॥

१७. जडता (चिन्तादिवश किसी कार्य में पटुता का अभाव)।
१८. गर्व (अपने प्रभावादि के आधिक्य के कारण अन्यत्र अवज्ञा)।
१९. विषाद के कार्यासिद्धि के (सत्त्व-संक्षय)।
२०. औत्सुक्य (अभिलषित वस्तु की प्राप्ति में विलम्ब की असहिष्णुता)।
२१. निद्रा (इन्द्रियों की श्रमादिवश व्यापारशून्यता)।
२२. अपस्मार (मनोव्यथा आदि के कारण स्मृतिप्रमोष)।
२३. सुप्त (निद्रावस्था में विषयानुभूति)।
२४. प्रबोध (निद्रा समाप्ति में चैतन्य लाभ)।
२५. अमर्ष (अपमानादिवश कोप की स्थिरता की अवस्था)।
२६. अवहित्था (लज्जादिवश प्रसन्नता आदि का गोपन)।
२७. उग्रता (अधिक्षेपादिवश चित्त की प्रचण्डता अर्थात् अहङ्कारवश अपमानादि की असहिष्णुता)।
२८. मति (शास्त्रादि परिचयवश अर्थ-निश्चय)।
२९. व्याधि (विरहादिवश मनस्ताप)।
३०. उन्माद (चित्तविभ्रम)।
३१. मरण (मूर्च्छा)।
३२. त्रास (मनःक्षोभ)
३३. वितर्क (संदेह में पड़ने पर विचार अथवा विमर्श)।

टिप्पणी—भरत मुनि ने जिन विशिष्ट चित्तवृत्तियों की गणना की है, जिनका नाट्य में अभिनय सम्भव है, वे ही 'भाव' हैं और उनकी संख्या ४९ हैं। इन भावों में आठ प्रकार के स्थायीभावों, तैंतीस प्रकार के व्यभिचारिभावों और आठ प्रकार के सात्त्विकभावों का समावेश है। विभाव और अनुभाव 'भाव' रूप नहीं अपितु भाव बाह्य है। इन चित्तवृत्तियों को 'भाव' इसलिये कहते हैं क्योंकि ये ही रसरूप काव्यार्थ के भावक अथवा निष्पादक हैं। इनकी भावनाशक्ति का अभिप्राय यही है कि ये सहृदय सामाजिक के हृदय में उसी प्रकार व्याप्त हो जाते हैं जिस प्रकार किसी वस्त्र में मृगमद का आमोद व्याप्त हो जाता है। भावना और अधिवासना एक ही वस्तु है। इन ४९ भावों में स्थायीभाव तो वे हैं जिनमें स्थायिता की योग्यता है और व्यभिचारीभाव वे हैं जो स्थायीभावों के ही परिपोषक हैं। आचार्य अभिनवगुप्त का यही कथन है:—

'भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः।...तेषां तु योग्यतावशाद् यथायोगं स्थायिसञ्चारिविभावानुरूपता सम्भवति। ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावा बाह्याश्च वाष्पप्रभृतयोऽनुभावास्ते न भावशब्दव्यपदेश्याः। ननु संवित्स्वभावे निमज्जनादत एव उन्मज्जनाच्च तेऽपि सम्विदात्मकाः? एवं तर्हि विश्वमेव भावमयं स्यादुपचारात् विज्ञानवादाश्रयाद्वेति अभिनयधर्म्यादीनां पृथक्त्वानुपपत्तिः। तस्मात् स्थायिव्यभिचारिसात्त्विका एव भावाः।' (अभिनवभारती, अध्याय ७)

'एते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेष निमेषयुक्त्यैव स्थायिसूत्रमध्ये प्रकटयन्तस्तिरोदधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति न तु स्थिराः। यद्यपि स्थाय्यपि न स्थिरः तथापि संस्काररूपतया

(नवम रस–शान्तरस)

निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थं तेन—

(४७) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥ ४४ ॥

धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव । व्यभिचारिणस्तु नैवं क्षणमपि भवन्ति । संस्कारमपि स्वकं स्थायिसंस्कार एव प्रोढयन्ति ।' (अभिनवभारती, अध्याय ६)

अनुवाद—नाट्यशास्त्र में व्यभिचारीभावों की गणना 'निर्वेद' से जो प्रारम्भ हुई है (निर्वेद ग्लानि–नाट्यशास्त्र ६.१९–२२) उसका यही रहस्य है कि यह भाव अर्थात् 'निर्वेद' व्यभिचारीभाव तो है ही किन्तु इसे स्थायीभाव भी माना जाना चाहिये। स्थायीभावों (रतिर्हासः–नाट्यशास्त्र ६.१८) की गणना के बाद व्यभिचारिभावों की गणना (निर्वेद ग्लानि–नाट्यशास्त्र ६.१९–२२) में सर्वप्रथम 'निर्वेद' को स्थान देने का एक उद्देश्य है और वह है इसमें एक भिन्न रस के–नवम रस के–शान्तरस के–स्थायीभाव बनने का सामर्थ्य। विना इस उद्देश्य–विशेष के, 'निर्वेद' का, जिसका अभिप्राय रति आदि से सर्वथा विपरीत है, (कहां रति आदि ईहामय भाव और कहां निर्वेदरूप अनीहा–विरक्ततामय भाव!) एक अमङ्गल व्यञ्जक किंवा अनुपादेय पद का सर्वप्रथम प्रयोग क्यों ? इसलिये जब (उपर्युक्त आठों रसों के स्थायीभावों से अतिरिक्त, इन सबसे सर्वथा विलक्षण) 'निर्वेद' भी एक स्थायीभाव के रूप में परिगणित है तब तो नमवरस–शान्तरस सिद्ध ही है।

(उपर्युक्त आठों रसों के अतिरिक्त) एक और भी रस है जिसका नाम 'शान्तरस' है और जिसका स्थायीभाव 'निर्वेद' है।

'अब मेरे दिन, चाहे मैं तपोपन में रहूँ या कहीं भी रहूँ, बस शिव–शम्भु के अनवरत जप में अथवा चिन्तन में बीतते जा रहे हैं, मेरे लिये तो क्या सर्प, क्या मणिमाल; क्या फूलों की सेज, क्या पत्थर की चट्टान, क्या मणि, क्या मिट्टी के ढेला; क्या पशु, क्या मित्र, क्या तृण और क्या स्त्रैण (रमणी समूह) सब एक से हैं, अपने ही रूप हैं।'

(यहां सहृदय सामाजिकों के हृदय में उनका ही निर्वेदरूप स्थायीभाव समुचित विभावादि वर्णना से उद्बुद्ध हो शान्तरस का आनन्द दे रहा है)

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट के मत से 'शान्तरस' की मान्यता आवश्यक है और आचार्य भरत–सम्मत ही है। शान्तरस की मान्यता और शान्तरस के 'स्थायीभाव के सम्बन्ध में अभिनव-भारतीकार आचार्य अभिनवगुप्त ने जिन २ पक्ष–प्रतिपक्षों का उल्लेख किया है उनका आचार्य मम्मट ने यहां कोई पुनरुल्लेख ग्रन्थ–विस्तार के भयसे नहीं किया किन्तु **'शान्तोऽपि नवमो रसः'** की उनकी मान्यता इस बात का ही सङ्केत है कि उन्हें भी शान्तरस–विषयक मतवैभिन्य का पूर्ण परिज्ञान था।

(ख) आचार्य मम्मट की शान्त–सम्बन्धी मान्यता का आधार अभिनवभारती की निम्न पङ्क्तियां हैं:—

'तत्र शान्तो रस इति—अत्रोच्यते–यथा इह तावत् धर्मादित्रितयम्, एवं मोक्षोऽपि पुरुषार्थः, शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम्। यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कविनटव्यापारेण आस्वाद-

(भावध्वनि काव्य)

(४८) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ॥ ३५ ॥

भावः प्रोक्तः—

आदिशब्दान्मुनि-गुरु-नृप-पुत्रादिविषया, कान्ताविषया तु व्यक्ता श्रृङ्गारः

उदाहरणम्—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥ ४५ ॥

योग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवतः सामाजिकान् प्रति रसत्वं श्रृङ्गारादितया नीयन्ते, तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्तिः किमिति रसत्वं नानीयत इति वक्तव्यम् ।'

(अभिनवभारती–शान्तरस प्रकरण, पृष्ठ ३३४) जिनका तात्पर्य यही है कि धर्म–अर्थ और काम–रूप पुरुषार्थ त्रितय की प्राप्ति के सम्बन्ध से जैसे श्रृङ्गारादि आठ रस माने जाया करते हैं वैसे ही मोक्षरूप चरम पुरुषार्थ की प्राप्ति की दृष्टि से शान्तरूप नवम रस की भी मान्यता काव्य और नाट्य के लिये परमावश्यक है ।

(ग) आचार्य मम्मट ने शान्तरस के 'निर्वेद' रूप स्थायीभाव के सम्बन्ध में जो युक्ति दी है उसका आधार है अभिनवभारतीकार की यह समीक्षा :—

'या चासौ तथाभूता चित्तवृत्तिः सैवात्र स्थायिभावः । एतत्तु चिन्त्यम्–किन्नामाऽसौ ? तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित् । तथाहि दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः ततोऽन्य एव, हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात् । स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदर्थमेवाऽयं पठितः, अन्यथा माङ्गलिको मुनिः तथा न पठेत् । जुगुप्सां च व्यभिचारित्वेन श्रृङ्गारे निषेधन् मुनिर्भावानां सर्वेषामेव । स्थायित्वसञ्चारित्वचित्तजत्वा(सात्त्विकत्व) नुभावत्वानि योग्यतोपनिपतितानि शब्दार्थवलाकृष्टानि अनुजानाति । तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेदः स्थाय्यन्तरोपमर्दकः । भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमः स्थायिशीलः स एव किलस्थाय्यन्तराणामुपमर्दकः ।'

(अभिनवभारती–शान्तरसप्रकरण)

अनुवाद—'भावध्वनि' वह है जिसे देवादिविषयक रति आदि स्थायीभावों की वर्णना और व्यभिचारीभावों की (स्वतन्त्र रूप से) अभिव्यञ्जना में देखा जाया करता है ।

यहां (कारिका में 'देवादिविषया' में) प्रयुक्त आदि शब्द का अभिप्राय यह है कि (जैसे देवविषयक रतिभाव की वर्णना भावध्वनि है वैसे ही) मुनिविषयक, गुरुविषयक, नृपविषयक, पुत्रविषयक आदि आदि रतिभाव की वर्णना भी भावध्वनि ही समझी जानी चाहिये । इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि 'भावध्वनि' और 'रसध्वनि' में भेद क्या है अर्थात् देवादिविषयक रति की अभिव्यक्ति जब 'भावध्वनि' हुई तब स्त्रीविषयक ही रतिभाव की (समुचित विभावादि योजना से) अभिव्यक्ति श्रृङ्गाररस ध्वनि समझी जानी चाहिये ।

उदाहरण के लिये :—

'हे भगवान् ! हे महादेव ! मेरे लिये तो वह हलाहल भी, जिसमें आपके कण्ठ का स्पर्श हो जाय, अमृत की भांति प्रिय है और वह अनायास उपलब्ध अमृत भी, जिसका आपके शरीर से कोई सम्पर्क न हो, कुछ भी नहीं है ।

(यहां शिवविषयक कविनिष्ठ रतिभाव की अभिव्यक्ति हो रही है जिसमें सहृदय हृदय आनन्दमग्न हो रहा है । यह भावध्वनि है । रसध्वनि इसलिये नहीं क्योंकि सहृदय सामाजिक को सामान्यतः जो उत्कट आनन्द कान्ताविषयक रति की अभिव्यञ्जना में उपलब्ध हुआ करता है वह देवादिविषयक रति की अभिव्यक्ति में नहीं । किन्तु विशिष्ट

हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ ४६ ॥
एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

अञ्जितव्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मा संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।
नो यावत्परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥ ४७ ॥

अत्र विधिं प्रत्यसूया ।

सामाजिकों के लिये तो यहां 'भक्तिरस' का ही आनन्द है जो कि भक्त कविओं की वर्णना का एक मात्र विषय है और जिसे अलङ्कार शास्त्र में अन्ततोगत्वा स्थान भी प्राप्त हुआ है।)

अथवा, मुनिराज! प्राणिमात्र के लिये आपका दर्शन सर्वथा मङ्गलमय है, आपका दर्शन सभी पाप-संताप, जो हो चुके हों अथवा हो रहे हों, नष्ट किया करता है, आपका दर्शन भावी कल्याण का कारण है और आपके दर्शन के बाद तो पूर्वजन्म के संचित पुण्यों की भी कोई आवश्यकता नहीं! (शिशुपालवध सर्ग १)

(यहां मुनि विषयक रतिभाव की वर्णना है जिसमें भावध्वनि की रूपरेखा स्पष्ट झलक रही है।)

इसी प्रकार नृपादि विषयक रतिभाव आदि की वर्णना के उदाहरण स्वयं ढूंढ लिये जा सकते हैं।

प्रधानरूप से व्यभिचारीभाव की वर्णना में 'भावध्वनि' जैसे कि:—

'अरे मित्र! क्या बताऊं, आज सपने में क्या देखा कि मेरी रूठी हुई प्राण प्यारी मेरे पास आयी, मैंने उसे पकड़ना चाहा, उसने मुझे छूने से मना कर दिया, रोती हुई चलने को तैयार हो गयी किन्तु इसके पहले कि मैं उसे बाहुपाश में बांध लूं और किसी प्रकार कह सुनकर मना लूं, मेरे दुर्भाग्य ने मेरी नींद ही तोड़ दी!, यहां दुर्भाग्य के प्रति विधाता की वामता के प्रति प्रेमी नायक की 'असूया' स्पष्टरूप से अभिव्यक्त हो रही है (जिससे यह काव्य भावध्वनि काव्य का आनन्द दे रहा है)।

टिप्पणी—रस-ध्वनि और भाव-ध्वनि का पारस्परिक तारतम्य आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में इस प्रकार है:—

'स च रसादिध्वनिर्व्यवस्थित एव, नहि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्, तथापि तस्यर सस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात् प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति, तदा भावध्वनिः। यथा—

'तिष्ठेत् कोपवशात्·········कोयं विधिः॥'

अत्र हि विप्रलम्भरससद्भावेऽपीयति वितर्काख्यव्यभिचारिचमत्क्रियाप्रयुक्त आस्वादातिशयः। व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः।' (ध्वन्यालोक लोचन २.३)

जिसका अभिप्राय यह है-'भावध्वनि' वस्तुतः 'रसध्वनि' की ही एक स्वसम्वेद्य किंवा विश्लेषण-योग्य विशेषता है। रस तो काव्य की आत्मा है ही और इसका स्वरूप भी एक घन आनन्दानुभव ही है। किन्तु ऐसा भी सम्भव है कि इस रसरूप एक घन आनन्दानुभव में कभी उसके किसी एक अंश का कोई विशिष्ट चमत्कार प्रतीत हुआ करे। अब ऐसी जो 'रस' की अवस्था होगी वह 'भावध्वनि' की अवस्था मानी जायगी। इस प्रकार जहां उदय-स्थिति और अपाय की अवस्थाओं में विभक्त व्यभिचारीभावों में से किसी का भी चमत्कार अधिकाधिक उत्कट प्रतीत हो वहां रस के

(३, ४ रसाभासध्वनि और भावाभासध्वनि काव्य)

(४६)—तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

तत्र रसाभासो यथा—

स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्
तपः श्रीः कस्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥ ४८ ॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तथा स्तुम इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥४९॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

साम्राज्य के अक्षुण्ण रहने पर भी-आस्वाद्य-सौन्दर्य-के विराजमान होने पर भी, यही कहा जायगा कि आस्वादातिशय का कारण व्यभिचारीभाव है और जब ऐसा है तो वहां 'भावध्वनि' का ही आनन्द सिद्ध है ।

अनुवाद—लोकमर्यादा अथवा शास्त्रमर्यादा के उलंघन में रसध्वनि और भावध्वनि ही रसाभासध्वनि और भावाभासध्वनि हैं (जैसा कि सहृदय सामाजिकों का अनुभव है ।)

यहां (कारिका में) 'तदाभास' का अभिप्राय है रस के आभास का–'रसाभास' का और भाव के आभास का–भावाभास' का ।

उदाहरण के लिये–रसाभास ध्वनिः—

'अरी सुन्दरि ! यह तो बता, वह कौन भाग्यशाली है जिसके बिना तुझे क्षण भर भी चैन नहीं ! और वह दूसरा कौन, किसी पूर्वजन्म का, रणशूर है जिसकी खोज में तू सदा व्याकुल बनी है ! अरी चन्द्रमुखि ! वह और कौन है, किस शुभ घड़ी में उसने जन्म लिया है, जिसे अपने बाहुपाश में बांधने के लिए तू इतनी उतावली है ! अरी मदन की राजधानी ! हृदय में सबको बसाने वाली ! इतना तो बता दे कि वह और कौन तेरा महातपस्वी है जिसकी चिन्ता में तू इतनी लीन है !'

यहां 'रसभास-ध्वनि' स्पष्ट है क्योंकि 'स्तुमः कम्' इत्यादि में जिस नायिका के रमण-अन्वेषण-आलिङ्गन और चिन्तन आदि की वर्णना है वह निःसन्दिग्ध रूप से उस नायिका की अनेक कामुकविषयक अभिलाषा को अभिव्यक्त कर रही है (जिससे उसके हृदय में अनेक कामुकों के प्रति रतिभाव की भी अभिव्यक्ति स्पष्ट है) ।

और भावाभास-ध्वनिः—

'(सीता के प्रति रावण की उक्ति)—ओह ! शरद् चन्द्र की भांति सुन्दर मुख वाली, चञ्चल और आयत नेत्रों वाली, अभिनव यौवन के आगमन से मोहकता भरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग वाली सीता के लिये क्या करूँ, कैसे उसे पाऊँ, किस प्रकार ऐसा हो कि वह मुझे अपना मान ले !'

यहां (रावण के प्रति सर्वथा विरक्त सीता के लिये) रावण के हृदय में (सीता की प्राप्ति की) चिन्ता का जो भाव (व्यभिचारीभाव) प्रधानतया अभिव्यक्त हो रहा है, जिसमें सहृदय हृदय की उद्वेजकता स्पष्ट है, उसमें 'भावाभास ध्वनि' स्पष्ट है । इस प्रकार अन्यान्य रसों और भावों की आभास-ध्वनि के उदाहरण स्वयं देखे जा सकते हैं ।

टिप्पणी—(क) 'रसाभास' और 'भावाभास'-ध्वनि का जो निरूपण आचार्य मम्मट ने यहां किया है उसका आधार लोचनकार की यह मान्यता है:—

'यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः। यथा रावणकाव्याकर्णने शृङ्गाराभासः। यद्यपि 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यः' इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम्।

'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना॥'

इत्यत्र तु न हास्यचर्वणावसरः। ननु नात्र रतिः स्थायिभावोऽस्ति, परस्परास्थाबन्धाऽभावात्? केनैतदुक्तं रतिरिति! रत्याभासो हि सः। अतश्चाभासता येनास्य 'सीतामय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्तिर्हृदयं न स्पृशत्येव। तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयेत। न च मयीयमनुरक्तेत्यपि निश्चयेन कृतं, कामकृतान्मोहात्। अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्तौ रजताभासवत्। एतच्च शृङ्गारानुकृतिशब्दं प्रयुञ्जानो मुनिरपि सूचितवान्। अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः। अत एवाभिलाषे एकतरनिष्ठेऽपि शृङ्गारशब्देन तत्र २ व्यवहारस्तदाभासतया मन्तव्यः। शृङ्गारेण वीरादीनामप्याभासरूपतोपलक्षितैव। एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दा। आस्वादे प्रयोजकमेवमंशं विभज्य पृथक् व्यवस्थाप्यते यथा गन्धयुक्तिज्ञैरेकरससम्मूर्च्छितामोदोपभोगेऽपि शुद्धमांस्यादिप्रयुक्तमिदं सौरभमिति। रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाप्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः।'

(ध्वन्यालोक लोचन २.३)

जिसका सारांश यह है—'रस' और 'रसभास', 'भाव' और 'भावाभास' में वही साधर्म्य-वैधर्म्य है जो कि 'रजत' और 'शुक्तिरजत' (रजताभास) अथवा 'सर्प' और 'रज्जुसर्प' (सर्पाभास) में है। अनुभवांश में 'रजत' और 'शुक्तिरजत' अथवा 'सर्प' और 'रज्जुसर्प' का कोई भेद नहीं। यह तो 'रजत' की अबाधित अवस्थिति और 'शुक्तिरजत' की बाधित अवस्थिति का भेद है जिससे 'रजत' और रजताभास (शुक्तिरजत) में भेद प्रतीत हुआ करता है। इसी प्रकार 'रस' और 'रसाभास' अथवा 'भाव' और 'भावाभास' में भी चर्वणांश में वैधर्म्य नहीं। वैधर्म्य तो यहां 'रस' अथवा 'भाव' के पुरुषार्थ-चतुष्टय-प्राप्ति में सहायक होने और 'रसाभास' अथवा 'भावाभास' के पुरुषार्थचतुष्टय-प्राप्ति में विरोधक होने के ही कारण प्रतीत हुआ करता है। चर्वणा की दृष्टि से तो यही कहा जा सकता है कि भाव-भावाभास-रसाभास-भावशान्त्यादि ध्वनि एक घन रसास्वाद के ही विविध रूप-वैचित्र्य हैं और इनके पृथक् अनुभव में उसी प्रकार चमत्कार विशेष रहा करता है जिस प्रकार मृगमदादि-सम्मिश्र एकघन सौरभ में मृगमद के अनुभव में एक विशेष चमत्कार पृथक् प्रतीत हुआ करता है।

(ख) भारतीय काव्यविमर्शक 'रस' और 'रसाभास' अथवा 'भाव' और 'भावाभास' के वैधर्म्य-निरूपण में जिस धारणा को प्रकट किया करते हैं वह है 'काव्य जीवन के लिये है?' अथवा 'काव्य काव्य के लिये है?' यह धारणा। पाश्चात्य काव्यालोचना-शास्त्र में यही धारणा 'Poetry for the sake of poetry' तथा 'Poetry for the sake of life' इस वाद के रूप में प्रकट होती है। पाश्चात्य काव्य-विमर्शकों का बड़ा दल 'रस' और 'रसाभास' में कोई भेद इसलिये नहीं मानता क्योंकि 'आस्वाद' की दृष्टि से यहां कोई भेद ही नहीं हो सकता। यह बात तो भारतीय काव्यालोचक भी शताब्दियों से मानते आ रहे हैं किन्तु उनकी दृष्टि, कविता का सम्बन्ध जीवन से देखते रहने के कारण, 'औचित्य' और 'अनौचित्य' में भेद का अपलाप नहीं कर सकती। 'रस' और 'भाव'-ध्वनि का सङ्केत यदि 'रामादिवद्वर्तितव्यम्' से है तो 'रसाभास' और 'भावाभास' का संकेत हो सकता है 'रावणादिवद्वर्तितव्यम्' से! किन्तु भारतीय विचार धारा में यदि 'रावणादिवद्वर्तितव्यम्' का सङ्केत कविता का जीवन के लिये सङ्केत होने लगा तो ऐसी कविता 'आनन्दांश'

(५ भावशान्ति ६ भावोदय ७ भावसन्धि और ८ भावशावल्य-ध्वनि-काव्य)

(५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा ॥ ३६ ॥

क्रमेणोदाहरणम् ।

(भावशान्ति-ध्वनि)

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणाऽऽनतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टुं मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम् ॥५०॥

(भावोदय-ध्वनि)

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥ ५१ ॥

अत्रौत्सुक्यस्य ।

में भले ही 'कविता' हो जीवन के आदर्श के लिये कभी 'कविता' नहीं। ऐसी कविता को कविता का आभास (काव्याभास) कहा जायगा ।

अनुवाद—असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनि के ये चार और भी प्रकार हैं जिन्हें 'भावशान्ति' (जिसमें किसी व्यभिचारीभाव की प्रशमावस्था का आनन्द मिले), 'भावोदय' (जिसमें किसी व्यभिचारीभाव की उदयावस्था का चमत्कार प्रतीत हो), भावसन्धि' (जिसमें किन्हीं दो व्यभिचारीभावों के सम्मिश्रण का आस्वाद रहे) और 'भावशबलता' (जिसमें एक किसी व्यभिचारीभाव को दबा कर दूसरे और दूसरे को दबा कर तीसरे और इसी प्रकार चौथे अथवा पांचवें व्यभिचारीभाव की परस्पर उपमर्द्योपमर्दकता का विशिष्ट आनन्दानुभव हो) ध्वनि कहा करते हैं।

इनके क्रमशः उदाहरण ये रहेः—

'अरे मित्र ! क्या बताऊँ जैसे ही उसने (उस खण्डिता नायिका ने) यह कहा—'यहां क्या आये हो उसी के पास रहते, जिसके चन्दन-चर्चित स्तनों के आलिङ्गन की छाप अभी भी तुम्हारी छाती पर लग रही है ! यहां पैरों पर झुकने का स्वाङ्ग कर २ के उसे छिपाने से वह छिप तो नहीं जायगा !' कि मैंने भी 'कहां कोई छाप-वाप रही' कहते २ उसी छाप को पोंछने के लिये, उसे अपने बाहु-पाश में वेग से कस लिया और तब तो आनन्द में मग्न हुई वह भी सब कुछ मानों भूलभाल ही गयी ! (अमरुशतक)

यहां यह स्पष्ट है कि (खण्डिता नायिका का) कोप रूप (व्यभिचारी) भाव अपनी प्रशमावस्था में अभिव्यक्त हो रहा है (और यहां जो रसास्वाद है उसमें उसी की प्रतीति विशेषरूप से चमत्कार पूर्ण है)।

'एक मुग्धा सुन्दरी, एक ही शय्या पर अपने प्रियतम के साथ पड़ी हुई, किसी दूसरी प्रेमिका का नाम सुनते ही, सहसा बड़ी अप्रसन्न और खिन्न हो उठी, उसके प्रियतम ने उसे बहुत मनाया किन्तु कोपावेश में, उसने उसका कुछ भी ध्यान न दिया और चुप्पी साध कर बैठी रही, किन्तु यह ध्यान आते ही कि कहीं 'वह सो न जाय' बारम्बार गर्दन घुमा कर वह उसे (उस प्रियतम को) देखती भी रही ! (अमरुशतक)'

यहां चमत्कार की जो पराकाष्ठा है वह (मुग्धा-नायिका के) औत्सुक्यरूप (व्यभिचारी) भाव की उदयावस्था की अभिव्यक्ति में ही है।

(भावसन्धि-ध्वनि)

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः ॥ ५२ ॥

अत्रावेगहर्षयोः।

(भावशबलता-ध्वनि)

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषा कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥५३॥

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता।

भावस्थितिस्तूक्ता उदाहृता च।

'ओह ! तपोबल और बाहुबल के महाधनी किन्तु गर्वोद्रिक्त इस परशुराम के आगमन में, मुझे तो सत्सङ्ग की लालसा और वीरोचित कुछ कर दिखाने का स्वाभिमान–दोनों के दोनों खींचते जा रहे हैं, किन्तु यह क्या! यह चन्दन और चांदनी के समान शीतल और स्निग्ध, चेतनाओं को थपकियां दे २ कर सुलाता, आनन्दमय, वैदेही–परिरम्भ, तो, ऐसा लग रहा है मानो, मुझे रोक कर अपने ही पास रखना चाहता है ! (महावीरचरित अङ्क २)'

यहां (पूर्वार्द्धव्यङ्ग्य) आवेगरूप (व्यभिचारी) और (उत्तरार्द्धगम्य) हर्षरूप (व्यभिचारी) भावों की सन्धि–मेल–का ही चमत्कार एक विशिष्ट चमत्कार रूप में प्रतीत हो रहा है।

'अरे ! मुनि–कन्या से प्रेम करने का मेरा यह अनुचित व्यवहार ! ओह ! चन्द्रवंश की लाज बचानी है ! एक बार यदि कहीं वह प्यारी (उर्वशी) दीख जाती ! नहीं २ यह प्रमाद कैसा ! आओ, मेरे शास्त्र ज्ञान, दूर करो इन भावों को ! ओह ! उसका कितना सुन्दर मुंह था, कोप में तो और भी सुन्दर ! यह क्या ! यह ठीक नहीं, भले लोग मुझे क्या कहेंगे ! अरे ! अब तो सपने में भी उसका सङ्गम नहीं हो पायगा ! मेरे मन ! ऐसी तेरी दशा क्यों ? सम्भाल अपने को ! ओह ! अब पता नहीं उसके अधरपान का सौभाग्य किसे लिखा है !'

यहां (विक्रमोर्वशीय ४र्थ अङ्क की सूक्ति में) एक के बाद एक, एक को दबा कर सिर उठाये खड़े, अनेकों भावों (व्यभिचारिभावों) जैसे कि ('क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्'–में व्यङ्ग्य) वितर्क, ('भूयोऽपि दृश्येत सा'–में व्यङ्ग्य) औत्सुक्य, ('दोषाणां प्रशमायनः श्रुतमहो'–में व्यङ्ग्य) मति, ('कोपेऽपि कान्तं मुखम्'–में व्यङ्ग्य) स्मरण, ('किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः'–में व्यङ्ग्य) शङ्का, ('स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा'–में व्यङ्ग्य) दैन्य, ('चेतः स्वास्थ्यमुपैहि'–में व्यङ्ग्य) धृति और अन्त में ('कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति'–में व्यङ्ग्य) चिन्ता की 'शबलता'–की जो प्रतीति है उसीमें सहृदय सामाजिक आनन्दमग्न हो उठता है।

(इस प्रकार भावशान्ति–भावोदय–भावसन्धि और भावशबलता की ध्वनि का सौन्दर्य तो स्पष्ट ही हो गया। अब यदि यह कहा जाय कि 'भावस्थिति' की ध्वनि क्या इसी प्रकार कोई अतिरिक्त ध्वनि नहीं ? तो इसका तो यही समाधान है कि) जिसे 'भावस्थिति' (भाव के उदय, प्रशम, मेल और शाबल्य की अवस्थाओं से भिन्न अवस्थान की अवस्था)

(रसकाव्य से भावकाव्य की पृथक् विचित्रता–रसास्वाद में भी भावशान्त्यादि की अनुभूति)

(५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ॥

ते भावशान्त्यादयः। अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्।

('संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' काव्य–निरूपण)

(५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥ ३७ ॥

(इसके तीन मुख्य भेद—

१ शब्दशक्त्युद्भव, २ अर्थशक्त्युद्भव, ३ शब्दार्थशक्त्युद्भव)

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः।

कह सकते हैं उसे पहले ही (अर्थात् 'व्यभिचारी तथाञ्जितः' के रूप–निरूपण में) बता दिया जा चुका है और उदाहरण द्वारा (अर्थात् 'कोपपराङ्मुखी' आदि सूक्ति द्वारा) स्पष्ट भी कर दिया जा चुका है।

यहां यह शङ्का उठ सकती है कि रस के प्रधानतया आस्वादविषयक होने पर 'भावशान्ति'–भावोदय–भावसन्धि–भावशबलता और भावस्थिति (जहां सर्वत्र वस्तुतः एकघन रसास्वाद ही मिल रहा है) 'रसध्वनि' ही क्यों नहीं? किन्तु इसका समाधान यह है कि:—जब 'रस' के मुख्यतया चमत्कारपूर्ण होने पर भी कभी २ (जैसे कि भाव काव्य के उपर्युक्त उदाहरणों में) किसी भाव (उसके ही अंगभूत) के प्रशम अथवा उदय, किन्हीं भावों के मेल अथवा किन्हीं भावों के शाबल्य का एक विशिष्ट ही चमत्कार प्रतीत हो तो उसका अपलाप भी कैसे कर दिया जाय! इसी लिये तो जहां रसास्वाद के साथ २ उसके अङ्गभूत व्यभिचारीभावों का आस्वाद पृथक् और साथ ही साथ अधिक चमत्कार पूर्ण पता लगने लगता है वहां 'रसध्वनि'–रसास्वाद–न मानकर 'भावध्वनि'–रसास्वाद का पृथक् चमत्कार–माना जाया करता है। यहां ऐसा समझना चाहिये कि रस तो सर्वत्र वस्तुतः मुख्य हैं ही किन्तु (कवि–विवक्षा–वैचित्र्य के कारण) कभी २ रसके अङ्गरूप भाव (व्यभिचारी भाव) भी इतने विचित्ररूप से अभिव्यङ्ग्य हो उठते हैं कि उन्हें 'अङ्ग रूप' मानने के बदले 'अङ्गी' रूप ही मानने को बाध्य हो जाना पड़ता है!

यहां (कारिका में, 'मुख्ये रसेऽपि ते' में) प्रयुक्त 'ते'–'उन' का अभिप्राय है भावशान्ति आदि का और इन भावशान्ति आदि के 'अङ्गित्व'–अङ्गीरूप से अवस्थान–का, अभिप्राय है 'राजानुगत विवाहप्रवृत्तभृत्यन्याय' का। अर्थात् जैसे राजा भी, कभी, अपने भृत्य के—यदि वह उस भृत्य के विवाह में निमन्त्रित हो—पीछे ही खड़ा दिखाई दिया करता है और इसी में उसकी शोभा है वैसे ही 'रस' भी, कभी अपने अङ्ग के–'व्यभिचारी भाव' के–यदि वह अपनी अपेक्षा उस अङ्गरूप व्यभिचारी भाव की उत्कट अभिव्यक्ति देख रहा है–पीछे ही खड़ा २ सुन्दर लगा करता है!

वह 'ध्वनिकाव्य' जिसे 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य' कहा करते हैं, ऐसा हुआ करता है जिसमें व्यञ्जक की प्रतीति और व्यङ्ग्य की प्रतीति का पौर्वापर्य पता चल जाता है और जिसमें 'व्यञ्जक' और 'व्यङ्ग्य' का क्रम ऐसा रहा करता है जैसा कि 'रणन' और 'अनुरणन' का हुआ करता है। यह ध्वनिकाव्य शब्द, अर्थ और शब्दार्थ की त्रिविध व्यञ्जना शक्तिओं से प्रादुर्भूत होने वाले त्रिविध व्यङ्ग्यरूप अर्थ के कारण तीन प्रकार का हुआ करता है।

यहां (कारिका में 'अनुस्वानाभ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिः', 'शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स ध्वनिः' कहने का) अभिप्राय यह है कि इस ध्वनिकाव्य के तीन भेद हैं—

१. शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि (अर्थात् जिसमें शाब्दी व्यञ्जना अनुरणन सदृश व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायन किया करे।)

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्य उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः।

(इन तीन भेदों के अवान्तर भेद)

तत्र—

(शब्दशक्त्युद्भवध्वनि के भेद—

१. शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनि, २. शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि)

(५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥ ३८ ॥

प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥

वस्त्वेवेति अनलङ्कारं वस्तुमात्रम्। आद्यो यथा—

उल्लास्य कालकरवालमुखाम्बुवाहं देवेन येन जठरोर्जितगर्जितेन।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः॥५४॥

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्रोपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

---

२. अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनि (अर्थात् जिसमें आर्थीव्यञ्जना के द्वारा अनुरणन सदृश व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायन हुआ करे)।

३. उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनि (अर्थात् जहां शाब्दी और आर्थी दोनों व्यञ्जनायें अनुरणनोपम व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति करवाया करें।)

अब इन भेदों के भी अवान्तर भेद हुआ करते हैं जिनमें सर्वप्रथम (शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनि के) भेद ये हैं—

शब्दशक्त्युद्भवध्वनि के दो भेद हुआ करते हैं—१ ला (शब्दशक्तिमूल अथवा शब्दशक्त्युद्भव) अलङ्कार ध्वनि और २ रा—(शब्दशक्तिमूल अथवा शब्द शक्त्युद्भव) वस्तुध्वनि। इनमें पहले अर्थात् शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनि में तो अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारजनक लगा करता है और दूसरे अर्थात् शब्दशक्तिमूल वस्तु ध्वनि में वस्तुमात्ररूप व्याङ्ग्यार्थ सुन्दर प्रतीत हुआ करता है किन्तु इन दोनों में जो द्विविध व्यङ्ग्यार्थ रहा करता है वह शब्द की महिमा से (क्योंकि यदि शब्द हटा दिये जांय तो व्यङ्ग्यार्थ भी हट जाय!) ही प्रतीत हुआ करता है।

यहां (कारिका में) 'वस्त्वेव' (वस्तु+एव) का अभिप्राय है 'अलङ्कार' से भिन्न केवल 'वस्तु' का—'वस्तुमात्र' का (वैसे तो अलंकृत अर्थ भी एक अर्थवस्तु ही है किन्तु अलङ्काररूप अर्थ और अलङ्कारशून्य अर्थ को पृथक् करने के लिये अलङ्काररूप अर्थ को 'अलङ्कार' और अलङ्कार रहित अर्थ को 'वस्तुमात्र' कहना आवश्यक है)। उदाहरण के लिये पहला अर्थात् शब्दशक्त्युद्भवालङ्कारध्वनिकाव्य (उपमा-ध्वनि)—'ये हैं वे महाराज संग्रामभूमि में भयङ्कर सिंहनाद करने वाले, जिन्होंने अपने शत्रुसंहारक तीक्ष्ण खड्ग को हाथ में लेकर, उसकी धार में, अपने शत्रुओं का त्रिभुवन-विदित प्रचण्ड प्रताप सहसा बुझाकर राख कर दिया।

यहां यह स्पष्ट है कि प्रकरण-प्रासङ्गिक विषय-(अर्थात् राजप्रताप) वर्णन के द्वारा 'अभिधा-शक्ति' शब्द की संकेतित अर्थ-विषयक शक्ति-तो उपर्युक्त अर्थ में नियन्त्रित ही हो गयी है किन्तु तब भी एक और अर्थ—

(अर्थात्—ये रहे मेघाधिपति इन्द्र, भयङ्कर घन-गर्जन मचानेवाले, जिन्होंने वर्षा-सूचक, नये नये मेघाडम्बर उत्पन्न कर, उसकी मूसलाधार वृष्टि से, एक भीषण निनाद के बीच, जल के शत्रु-प्रखरकर सूर्य-का समस्त ताप सहसा शान्त कर दिया!) निकल ही पड़ता है (और शब्द की व्यञ्जकता की महिमा से निकल पड़ता है)। अब यह तो हो नहीं

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो ! मधुरलीलः ।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीविभाति भवान् ॥ ५५ ॥

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद ! प्रभो !
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥ ५६ ॥

अत्रापि विरोधाभासः ।

सकता कि उपर्युक्त अर्थों में कोई सम्बन्ध न हो क्योंकि तब तो यह वाक्य ही असम्बद्धार्थक-अविवक्षित अर्थ का प्रत्यायक-होने लगेगा ! (क्योंकि 'करवालमुल्लास्य' आदि कहने से ही जब प्रकृत राजप्रतापवर्णन सम्पन्न हो सकता है तब 'काल' आदि विशेषण असम्बद्धार्थक-निरर्थक-नहीं तो और क्या !) वस्तुतः बात तो यहां यह है कि यहां प्राकरणिक अर्थ अर्थात् राजप्रतापविषयक वाच्यार्थ और अप्राकरणिक अर्थ अर्थात् इन्द्रप्रतापविषयक व्यङ्ग्यार्थ दोनों में परस्पर साधर्म्य-परस्पर औपम्य-विराजमान है जोकि दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। अब जब दोनों में उपमानोपमेय भावरूप सम्बन्ध निश्चित है तब तो यह निर्विवाद है कि यहां जो चमत्कार है वह 'उपमा' (औपम्य) रूप- अलङ्कार रूप-व्यङ्ग्य अर्थ का ही चमत्कार है। (इस अलङ्कार रूप व्यङ्ग्यार्थ को यहां शाब्दीव्यञ्जना का विषय इसलिये मानना पड़ता है क्योंकि 'देवेन' आदि पदों को हटाकर 'भूपेन' आदि पदों के रख देने पर यहां से यह व्यङ्ग्यार्थ ही हट जाता है !)

(विरोधाभास-ध्वनि-सभङ्गपदमूलक) 'महाराज ! आप ही ऐसे हैं जो 'तिग्मरुचिरप्रताप' हैं (दुष्टों के लिये) तीक्ष्ण और (सज्जनों के लिये) मनोहर पराक्रम वाले हैं ! 'विधुर निशाकृत्' हैं 'विधुरों'-शत्रुओं की 'निशा'-मौत के कारण हैं ! 'मधुरलील' हैं-सबके लिये मनोमोहक लीलामय हैं ! 'मतिमानतत्त्ववृत्ति' हैं-'मति'-बुद्धि और 'मान'-विवेक के 'तत्त्व'-सार से भरे व्यवहार वाले हैं ! और हैं 'प्रतिपदपक्षाग्रणी'-पग पग पर 'पक्ष'-स्वजन-परिजन के 'अग्रणी'-अग्रगन्ता !

यहां यदि प्रयुक्त एक एक पद, दो दो पद-खण्ड खण्ड-कर दिये जांय (जैसे कि 'तिग्मरुचिः + अप्रतापः'-कहां तो सूर्य और कहां अनुष्ण ! 'विधुः + अनिशाकृत्'-कहां तो चन्द्रमा और कहां रात का कारण नहीं !, 'मधु + अलीलः'-कहां तो वसन्त और कहां लीलाशून्य !, 'मतिमान् + अतत्त्ववृत्तिः'-कहां तो बुद्धिमान् और कहां तुच्छवस्तुओं में रुचि रखने वाला और 'प्रतिपत् + अपक्षाग्रणीः'-कहां तो प्रतिपदा की तिथि और कहां पक्ष का पहला दिन न होना !) तो 'विरोधाभास' की ध्वनि निस्संदिग्ध प्रतीत होने लगे जो कि वस्तुतः कि हो रही है। यहां भी प्रकरण से अभिधा नियन्त्रित है और अविरुद्ध राजविषयक अर्थ में नियन्त्रित है किन्तु शब्द की व्यञ्जकता-शक्ति से विरोधाभासरूप (अलङ्कार रूप) अर्थ निकल ही पड़ता है !)

(विरोधाभास-ध्वनि-अभङ्गपदमूलक) 'हे महाराज ! आप 'हर्षद' हैं-(शत्रुओं के लिये) आनन्द के विनाशक हैं और (मित्रों के लिये) आनन्द के उत्पादक हैं ! आप 'समितः प्राप्तैरुत्कर्षैरमितः' संग्राम-विजय के अपरिमित ऐश्वर्य से भरपूर हैं, आप 'असताम्'-दुष्टों के लिये 'अहित'-दण्डधर हैं और हैं 'साधुयशोभिः सहितः'-महान् यश से सर्वदा सुशोभित !, यहां भी विरोधाभास ही व्यङ्ग्य है (क्योंकि प्राकरणिक अर्थ में अभिधा के नियमित हो जाने पर भी यहां जो दूसरा अप्राकरणिक अर्थ निकल पड़ता है जैसे कि जो 'अमित'-'अपरिमित' हो वह 'समित'-'परिमित' कैसे !, जो 'अहित'-'हितरहित' हो वह 'सहित'-'हित सहित' कैसे ! वह विना पदभङ्ग के ही और विना विरोधवाचक 'अपि' आदि पद के प्रयोग के ही तो मिल पड़ता है ! शब्द की व्यञ्जना-महिमा से ही तो निकल पड़ता है !)

(व्यतिरेक-ध्वनि)

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥ ५७ ॥

अत्र व्यतिरेकः ।

अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता ।

वस्तुमात्रं—

(वस्तुमात्र-ध्वनि-प्रकृतगाथा में)

पंथिण ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥ ५८ ॥
(पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वसति तदा वस ॥ ५८ ॥)

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते ।

(वस्तुमात्र-ध्वनि-संस्कृत कविता में)

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम् ।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥ ५९ ॥

'उन 'कलाश्लाघ्य'-चन्द्रशेखर, उन 'शूली'-त्रिशूलधर-महादेव,को नमस्कार, जो विना किसी उपादान कारण-सामग्री के, विना किसी आधार के, इस नाना नामरूप जगत् के निर्माता हैं ।'

यहां व्यतिरेक-ध्वनि का ही चमत्कार है (क्योंकि उपर्युक्त प्राकरणिक अर्थ में अभिधा के नियन्त्रित रहने पर भी शब्द की व्यञ्जकता-शक्ति से यह अर्थ भी निकल पड़ता है- 'महादेव ऐसे विचित्र चित्रकार हैं जो विना चित्रफलक के और विना तूलिकादि उपकरण के ही इस संसारचित्र को बनाया करते हैं ।' और जब यह अर्थ निकल रहा है तो उपमान-भूत-चित्रकार से उपमेयभूत महादेव का उत्कर्ष-व्यतिरेक-तो स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है।)

इन उपर्युक्त उदाहरणों में जो व्यङ्ग्य रूप अर्थ है वह है तो वस्तुतः अलंकार्य-प्रधान-तया चमत्कारविषय-काव्यमय अर्थ, किन्तु उसे 'अलङ्कार' इस लिये कह दिया जाता है क्योंकि यहां 'ब्राह्मण-श्रमणन्याय' लागू हो रहा है अर्थात् जैसे किसी 'ब्राह्मण' को, 'श्रमण'-दशा में, ब्राह्मण न होने पर भी, श्रमणता की पूर्ववर्ती दशा का ध्यान कर अन्य श्रमणों से पृथक् बताने के लिये, 'ब्राह्मण-श्रमण' कहा जा सकता है वैसे ही अलङ्कार्य (व्यङ्ग्य) दशा में, किसी अलङ्काररूप अर्थ को, अलङ्कार (वाच्यशोभाधायक अर्थ) रूप अर्थ न होने पर भी, वस्तुमात्ररूप अर्थ से विभक्त करने के लिये, 'अलङ्कार-अलङ्कार्य' अथवा संक्षेपतः केवल अलङ्कार कहा जाया करता है)।

(शब्दशक्तिमूल) केवल वस्तुरूप व्यङ्ग्य, जैसे कि:—

'अरे बटोही ! इस पहाड़ी गांव में तुम्हें विछावन तो कहीं नहीं मिलेगा, किन्तु यदि इस 'उन्नतपयोधर' ऊपर घिरने वाले मेघ की कुछ चिन्ता हो, तो रुकना चाहो तो रुक जाओ।'

यहाँ भी शब्द शक्ति की महिमा से-(जिसमें वक्तृवैशिष्ट्य की सहायता भी स्पष्ट है) एक व्यङ्ग्य रूप अर्थ प्रतीत हो रहा है और वह है-'यदि आनन्द करना चाहते हो तो अवश्य रुको'। यहां यह स्पष्ट है कि यह अर्थ एक अलङ्कार-शून्य अर्थ है-वस्तुरूप अर्थ है।

अथवा जैसे कि:—

'महाराज ! आप जिस पर क्रुद्ध हो उठें, उसे क्या शनि (ग्रह) और क्या अशनि (वज्र) दोनों मार डालने को उतावले हो जाते हैं और जिस पर आप प्रसन्न हो जांय वह उदार

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्त्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यते ।

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनि : उसके भेद-प्रभेद)

(५४) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥ ३९ ॥
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥ ४० ॥
वस्त्वलङ्कारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः ।

(महादानी) भी हो जाता है और अनुदार (अपनी पत्नी का एक मात्र प्रेम पात्र) भी हो जाता है !'

यहां भी शब्द की व्यञ्जकता-महिमा से एक वस्तुरूप अर्थ ध्वनित हो उठता है और वह यह है—'महाराज ! परस्पर विरोधी भी आपको प्रसन्न करने के लिये एक मत हो, एक कार्य में जुट जाते हैं' ।

टिप्पणी—(क) यहाँ आचार्य मम्मट ने शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कार-ध्वनि की जो मीमांसा की है उसका आधार ध्वनिकार की यह मान्यता है:—

'आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥' (ध्वन्यालोक २.२१)

जिसका अभिप्राय यह है कि एक शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि-प्रकार वह है जिसमें कोई ऐसा अलङ्कार रूप अर्थ चमत्कारजनक हुआ करता है जो शब्दतः अभिहित नहीं अपितु आक्षिप्त-अभिव्यक्त-रहा करता है ।

(ख) उपमा-ध्वनि, व्यतिरेक-ध्वनि आदि रूप अलङ्कार-ध्वनि का वास्तविक रहस्य आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में यह है:—

'उपमानोपमेयभाव इति-तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्नवादयो व्यापारमात्ररूपा एवाऽत्राऽऽस्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानं, न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम् ।' (ध्वन्यालोकलोचन २.२१)

जिसका अभिप्राय यह है कि उपमा-ध्वनि का तात्पर्य 'औपम्य' है, व्यतिरेक-ध्वनि का तात्पर्य व्यतिरेचन' है और 'अपह्नुति-ध्वनि' का तात्पर्य 'निह्नव' है-आदि-आदि । यह तो वाच्यालङ्कार-रूप उपमा, व्यतिरेक आदि अलङ्कारों की बात है कि वहाँ औपम्य का विविध व्यापार नहीं अपितु परिनिष्ठित फल देखा जाया करता है ।

अनुवाद—उस ध्वनि के, जिसे 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि' कहा करते हैं, बारह प्रकार हुआ करते हैं क्योंकि यहाँ जो व्यञ्जक रूप अर्थ है वह है ६ प्रकार का :—

१. स्वतः सम्भवी वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ ।
२. स्वतः सम्भवी अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ ।
३. कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ ।
४. कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ ।
५. कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ ।
६. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ और इन प्रत्येक में व्यङ्ग्यरूप अर्थ के दो प्रकार हैं अर्थात् १ ला तो है वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ और २ रा है अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ (इस प्रकार इसके द्वादश भेद तो स्पष्ट ही हैं ।

टिप्पणी—अर्थशक्त्युद्भवध्वनि का 'ध्वनिकार का किया' विश्लेषण यह है:—

'अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते ।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥'

(अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह प्रकार)

स्वतःसंभवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन संभाव्यमानः। कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मितः। कविनिबद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविधः वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः। तस्य वस्तु वाऽलङ्कारो वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः।

क्रमेणोदाहरणम्।

(स्वतः सम्भवी वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

अलसशिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्तिधणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ॥ ६०॥
(अलसशिरोमणिर्धूर्तानामग्रिमः पुत्रि ! धनसमृद्धिमयः।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता॥ ६०॥)

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः॥
अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः॥ (ध्वन्यालोक २.२२, २४-२५)

जिसमें व्यञ्जक अर्थ के दो भेद बताये गये हैं—

(१)—कवि अथवा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ। (२)—स्वतः सम्भवी अर्थ और प्रत्येक में व्यङ्ग्यरूप अर्थ के दो दो भेद—

१. वस्तु मात्ररूप व्यङ्ग्य अर्थ। २. अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ।

किन्तु आचार्य मम्मट ने कवि प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ से कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ को पृथक् कर दिया है जिससे व्यञ्जकरूप अर्थ का एक प्रकार और बढ़ गया है। ध्वनिकार ने व्यञ्जक अर्थ के वस्तुरूप अथवा अलङ्काररूप अर्थ-प्रकार होने की जो बात स्पष्ट नहीं कहीं उसे काव्यप्रकाशकार ने स्पष्ट कर दिया है। वस्तुतः काव्यप्रकाशकार के निर्दिष्ट ये अर्थशक्तिमूलध्वनि के बारह भेद ध्वनिकार और लोचनकार भी मर्यादा के बाहर नहीं अपितु भीतर ही हैं।

अनुवाद—**यहाँ प्रथम प्रकार का व्यञ्जक अर्थ इसलिये 'स्वतःसम्भवी' कहा गया है क्योंकि यह अर्थ केवल कवि-कल्पना-प्रसूत नहीं हुआ करता अपितु ऐसा हुआ करता है जिसका अस्तित्व लोक में भी-प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में भी-अनुभव किया जा सकता है और सर्वथा औचित्य के साथ अनुभव किया जा सकता है। द्वितीय प्रकार का व्यञ्जक अर्थ, जिसे 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' अर्थ कहा जाता है, ऐसा हुआ करता है जो कवि-कल्पना-प्रसूत हुआ करता है और जिसका अस्तित्व लोक में हो या न हो, काव्य में तो अवश्य ही हुआ करता है। तृतीय प्रकार का व्यञ्जक अर्थ वह है जिसे 'कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध' अर्थ कहना चाहिये क्योंकि यह अर्थ कवि द्वारा उद्भावित नानाविध चरितों की कल्पना से उद्भावित अर्थ है। इस प्रकार (अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में) व्यञ्जकरूप अर्थ के तीन प्रकार सिद्ध हुये। किन्तु इस त्रिविध व्यञ्जक अर्थ के, प्रत्येक में 'केवल वस्तुरूपता' और 'अलङ्काररूपता' के भेद के कारण ६ प्रकार निर्धारित किये गये। अब जब कि प्रत्येक प्रकार के व्यञ्जक अर्थ से 'वस्तुरूप' और 'अलङ्काररूप'-द्विविध व्यङ्ग्यार्थ निष्पन्न हो तब तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि' के बारह भेद हैं। इनके उदाहरण क्रमशः ये रहे—**

'उस सुन्दरी को उसकी माँ ने कहा—'बेटी ! जिसे तुम अपना बनाना चाहती हो, वह बड़ा धनी है, उसे कुछ भी करना-धरना नहीं पड़ता और ऐसा चतुर है कि

अत्र ममैवोपभोग्या इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

(स्वतःसम्भवी वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः ! शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ॥ ६१ ॥

अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः ।

(स्वतः सम्भवी अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूट-
संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः ।
वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः
कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥ ६२ ॥

अत्रोपमालङ्कारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात्करिष्यते इति वस्तु ।

कुछ कहा नहीं जा सकता' और इतना नते ही उस कोमलाङ्गी की आँखें प्रसन्नता से खिल उठीं !'

यहाँ (स्वतः सम्भवी) वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से (वस्तुतः नायिका की, प्रसन्नता से खिली आँखों के वर्णन आदि से) जो अर्थ (सहृदय सामाजिकों के हृदय में) अभिव्यक्त हो रहा है वह एक 'वस्तुरूप' अर्थ है और इस प्रकार का है—'इसे मैं ही वश में रख सकती हूँ'—'यह मेरा ही होकर रहेगा'।

'अरी सखी ! जब कि प्रिय-सङ्गम के समय प्रेमलीला में लगी हुई भी तू अपने प्रियतम से मीठी-मीठी बातें कर लेती है, तब तेरे सौभाग्य का क्या कहना ! किन्तु मेरा तो हाल यह है, मेरी प्यारी सहेलियो ! कि उनके हाथ नीवी तक पड़े नहीं कि सारी सुध-बुध, पता नहीं, कहाँ चली जाती है !'

यहाँ जो (प्रकृत नायिका के द्वारा अपनी सखिओं को सौभाग्यशालिनी कहने का) अर्थ है वह एक स्वतः सम्भवी वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ है और इसके द्वारा जो व्यङ्ग्यार्थ निकलता है अर्थात्—'अरी सखियो ! सुध-बुध खोकर प्रियतम के साथ प्रेमलीला करने का सौभाग्य तो मेरा ही है, प्रिय-सङ्गम में भी बातें करने वाली तुम लोगों का सौभाग्य क्या !' वह एक अलङ्काररूप-व्यतिरेकालङ्काररूप-अर्थ है ।

'ये हैं वे महाराज, जिनके हाथ का (खड्ग) शत्रु सैन्य के मदोन्मत्त गजराजों के विशाल मस्तकरूपी लौहस्तम्भ पर चोट करने वाला और उनके गाढ़े लाल-लाल खून से गाढ़ा लाल रंगा, मानों क्रोध से तमतमाया हुआ, खड्ग, समरभूमि में महापराक्रमी शत्रुगण को, ऐसा दीखता है मानों साक्षात् काली का कटाक्ष हो ।' यहाँ जो व्यञ्जक अर्थ है वह तो उपमालङ्कार रूप (क्योंकि यहाँ कृपाणरूप उपमेय काली कटाक्षरूप उपमान, रक्त-वर्णतारूप साधर्म्य तथा 'इव' रूप उपमावाचक पद-सभी शब्दतः उपात्त हैं) अर्थ है और स्वतःसम्भवी अर्थ है (क्योंकि कृपाण की रक्तवर्णता आदि का अस्तित्व कोई कवि कल्पना-प्रसूत अस्तित्व नहीं अपितु लोक में सर्वजनसम्वेद्य अस्तित्व है) और इससे जो व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है अर्थात्—'क्षणभर में ये समस्त शत्रु-सैन्य का विनाश कर देंगे' वह एक 'वस्तुरूप' अर्थ है ।

(स्वतःसम्भवी अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः ।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम् ॥ ६३ ॥

अत्र विरोधालङ्कारेणाऽधरनिर्दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति तुल्ययोगिता । मम क्षत्याऽप्यन्यस्य क्षतिनिवर्ततामिति तद्बुद्धिरुत्प्रेक्ष्यत इत्युत्प्रेक्षा च । एषूदाहरणेषु स्वतःसंभवी व्यञ्जकः ।

(कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम् ।
स्रस्तापाङ्गाः सरसबिसिनीकाण्डसञ्जातशङ्का-
दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्त्तयन्ति ॥ ६४ ॥

अत्र वस्तुना येषामप्यर्थाधिगमो नास्ति तेषामप्येवमादिबुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्तिरिति वस्तु ध्वन्यते ।

'ये रहे वे महाराज ! जिन्होंने युद्ध भूमि में, क्रोध से, अपने ओठ क्या काट लिये शत्रु नारिओं के प्रवाल-सुन्दर ओठों को, उनके प्रियतमों के दन्तक्षत के सङ्कट से, सदा के लिये उबार दिया ।'

यहाँ व्यञ्जक अर्थ तो है अलङ्काररूप-वस्तुतः विरोधालङ्काररूप अर्थ (क्योंकि जहाँ एक ओर एक समय राजा के द्वारा अपने ओठों के काटने का वर्णन है वहां दूसरी ओर उसी समय दूसरों के ओठों के काटे जाने से बचाने का भी वर्णन है !) जो कि एक स्वतः सम्भवी अलङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि क्रोध में ओठ चबाने आदि की बात तो लोक-प्रत्यक्ष बात है) और इससे अभिव्यङ्ग्य जो अर्थ है वह भी एक अलङ्काररूप ही अर्थ है क्योंकि या तो यहाँ यह अर्थ ध्वनित होता है कि 'राजा ने जभी अपने ओठ चबाये तभी शत्रुओं का सर्वनाश कर डाला',-(जिसे 'तुल्ययोगिता-अलङ्कार-रूप अर्थ कह सकते हैं) या यह अर्थ कि 'राजा ने यह सोचा कि उसे अपने ओठ काटने में कष्ट भले ही हो किन्तु शत्रु-विलासिनियों के ओठों को कभी काटे जाने का डर न रह जाय !'-जो कि उत्प्रेक्षालङ्काररूप अर्थ है ।

यहाँ इन उपर्युक्त उदाहरणों में एक बात जो ध्यान रखनी चाहिये यह है कि जो व्यञ्जक अर्थ है, वस्तुरूप और अलङ्काररूप द्विविध व्यञ्जक अर्थ, वह 'स्वतः सम्भवी' अर्थ है (क्योंकि इस प्रकार के अर्थ की कवि कल्पना से बाहर भी सत्ता है और ऐसी सत्ता है जो सर्वजनसंवेद्य सत्ता है)।

'ये हैं वे महाराज जिनकी कीर्ति का गान, कैलास की अन्तिम चोटी पर, देवाङ्गनायें, बांसुरी की तानों से गाया करती हैं और जिसे सुन-सुन कर, आनन्द-विभोर हुये, अधखुली आखें लिये, दिग्गजगण, अपने कानों के आस-पास, अपनी सूंढ, इसलिये बार-बार घुमाया करते हैं कि सम्भवतः वहाँ (श्वेतवर्ण कीर्ति के रूप में) सरस कमलनाल न चिपक गये हों !'

यहाँ जो व्यञ्जक अर्थ है (अर्थात् प्रकृत राजगत यश का देवाङ्गनाओं द्वारा गाया जाना और इस कीर्ति-सङ्गीत का दिग्गजों द्वारा सुना जाना और इन दिग्गजों द्वारा उसमें कमलनाल की सम्भावना का होना आदि) वह कवि कल्पना-प्रसूत अर्थ है और इससे जो व्यङ्ग्यार्थ निकलता है जिसका स्वरूप है-'प्रकृत राज-गत कीर्ति में, सम्वेदना-शून्य जीवों में भी सम्वेदना उत्पन्न कर देने की शक्ति'-वह एक वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ है ।

(कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्कार रूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

केसेसु वलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ ।
जह कन्दराहिं विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ ।। ६५ ।।

(केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीर्गृहीता ।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः ।। ६५ ।।)

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्ति इत्युत्प्रेक्षा । एकत्र संग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यहेतुरलङ्कारः । न पलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं संभाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तीत्यपह्नुतिश्च ।

(कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

गाढालिंगणरहसुज्जुअम्मि दइ लहुं समोसरइ ।
माणंसिणीण माणो पीलणभीअव्व हिअआहिं ।। ६६ ।।

(गाढालिङ्गनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति ।
मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात् ।। ६६ ।।)

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।

(कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंवुरुहबद्धविणिवेसा
दावेइ भुअणमण्डलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ।। ६७ ।।

इन महाराज ने, समरभूमि में जैसे ही विजय–लक्ष्मी के केशपाश छूए और उसे अपनी ओर खींचा कि गिरिकन्दराओं ने (उनमें छिपे) शत्रुओं को अपने मुंह के पास ही पकड़ कर रोक लिया !

यहां जो व्यञ्जक अर्थ है वह तो कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप अर्थ है और इससे जो व्यङ्ग्यार्थ निष्पन्न हो रहा है वह है एक अलङ्कार रूप अर्थ क्योंकि यहां या तो, 'उत्प्रेक्षा' अभिव्यक्त हो रही है क्योंकि 'विजयश्री का केशाकर्षण देखने वाली और इसलिये स्वयं कामोन्मत्त नायिकाओं सी कन्दरायें शत्रुओं (अपने प्रेमिओं) को अपने गले लगाती सी लग रही हैं, या काव्यहेतु (काव्यलिङ्ग) अलङ्कार व्यक्त हो रहा है क्योंकि शत्रुगण भाग भाग कर कन्दराओं में जा छिपे हैं क्योंकि समर भूमि में, उन्होंने, किसी ओर अपने विजेता महाराज का पराक्रम देख लिया है या इस दृष्टि से कि 'शत्रुगण स्वयं भाग भाग कर गुफाओं में नहीं छिपे अपितु गुफायें ही, उनकी प्रेमिकायें बनीं, उनके पराजय की आशंका से, उन्हें छोड़ना नहीं चाहतीं' यहां 'अपह्नुति' अलङ्काररूप अर्थ भी व्यङ्ग्य अर्थ माना जा सकता है।

'अरी सखी ! उस मानिनी के मान का क्या कहूं ! उसका मान तो, उसके हृदय से, जैसे ही उसका प्रेमी उसे शीघ्रता से आलिङ्गन करने को तत्पर हुआ, इस डर से कि कहीं दोनों के बीच दब कर कुचल न जाय, सहसा बाहर भाग खड़ा हुआ ।'

यहां जो व्यञ्जक अर्थ है वह एक कविप्रौढोक्तिसिद्ध 'उत्प्रेक्षा'–रूप अर्थ है और इससे जो यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है अर्थात् 'मानिनी नायिका स्वयं गाढालिङ्गन–चुम्बन आदि रूप रति क्रीड़ा में लग गयी' वह एक वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ है ।

'उस कविता–सरस्वती–सुन्दरी से बढ़ कर और कौन सुन्दरी होगी जो कविगण के उत्फुल्ल मुखकमल पर विराजमान रहा करती है और इसलिये विराजमान रहा करती है

(या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहवद्धविनिवेशा ।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥ ६७ ॥)

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् अजडासनस्था निर्मिमीते इति व्यतिरेकः। एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

(कविनिवद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

जे लङ्कागिरिमेहलासु खलिआ संभोगखिण्णोरई-
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम् ।
ते एह्लिं मलआनिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो-
जादा झत्ति सिसुत्तणेवि वहला तारुण्णपुण्णा विअ ॥ ६८ ॥

(ये लङ्कागिरिमेखलासु स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी-
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।
त इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणो
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्यपूर्णा इव ॥ ६८ ॥)

अत्र निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

(कविनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

सहि विरइऊणमाणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम् ।
पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥ ६६ ॥

मानो बूढ़े ब्रह्मा का उपहास कर रही हो क्योंकि कवियों की सृष्टि तो बूढ़े ब्रह्मा की सृष्टि से सर्वथा विलक्षण एक मात्र रसमय हुआ करती है !

यहां जो व्यञ्जक अर्थ है वह कविप्रौढोक्तिसिद्ध उत्प्रेक्षा-रूप अर्थ है और इससे जो व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है वह भी है एक अलङ्काररूप अर्थ—वस्तुतः व्यतिरेक-रूप अर्थ क्योंकि यहां यह प्रतीत हो रहा है कि 'कमलासनस्था सरस्वती, बूढ़े ब्रह्मा के संयोग से, जिस जगत् की सृष्टि किया करती है उसकी अपेक्षा कविमुखकमलासनस्था सरस्वती की कविगण के संयोग से की गयी काव्यजगत् की सृष्टि एक परम चमत्कारपूर्ण किंवा क्षण-क्षण नवीन रसमय सृष्टि है' ।

यहां इन उपर्युक्त चारों उदाहरणों में, यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यञ्जक अर्थ, चाहे वह वस्तुरूप हो या अलङ्काररूप हो, वस्तुतः कवि-कल्पना-प्रसूत अर्थ है ।

'यह वसन्त आ पहुंचा, मलयानिल के ये हलके हलके झोंके, हेमकूट पर्वत की मेखलाओं में गिरते पड़ते भी रतिक्रीडा-शिथिल नागिनों की फणावली से पीये से जाकर भी, अब (इस वसन्त में) विरहिणी नारियों के शोकोच्छ्वास से बल पाकर ऐसा लग रहा है जैसे कितने प्रवल और कितने यौवन के उन्माद से भर उठे हैं ! (कर्पूरमञ्जरी)।

यहां जो व्यञ्जक अर्थ है वह एक कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है (क्योंकि यह अर्थ कविराज राजशेखर की कल्पना द्वारा उद्भावित 'विचक्षणा' नामकी 'कर्पूरमञ्जरी की सखी की कल्पना द्वारा प्रसूत अर्थ है) और इससे जो व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है अर्थात् 'शोकोच्छ्वास के झोंकों से मिले मलयानिल के ये झोंके जो कुछ न कर डालें, थोड़ा है' वह एक वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ है।

(सखि ! विरच्यमानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम् ।
प्रियदर्शनविशृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम् ॥ ६९ ॥)

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने प्रसन्नेति विभावना प्रियदर्शनस्य सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इत्युत्प्रेक्षा वा ।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णं ।
रत्तंसुअं पआओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥ ७० ॥

(आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम् ।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ॥ ७० ॥)

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि इत्युत्तरालङ्कारेण न केवलमार्द्रनखक्षतानि गोपायसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति)

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
अणुदिणमणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं वि तणुएइ ॥ ७१ ॥

(महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! सा अमान्ती ।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनयति ॥ ७१ ॥)

अत्र हेत्वलङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते इति विशेषोक्तिः।

'अरी सखी ! क्या बताऊं (तेरे दिये) धैर्य ने तो मेरे मन को बहुत कुछ सान्त्वना दी किन्तु प्रियतम के दर्शन के कौतूहल के समय, पता नहीं, वह (धैर्य) सहसा कहां जा भाग खड़ा हुआ !

यहां जो व्यञ्जक अर्थ है वह तो है एक कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप अर्थ और जो व्यङ्ग्यार्थ है वह एक अलङ्काररूप अर्थ है क्योंकि यहां या तो यह प्रतीत होता है कि प्रियतम द्वारा विना मनाये भी प्रेमिका प्रसन्न हो उठी–विभावनालङ्काररूप अर्थ–या यह कि 'प्रियदर्शन की सौभाग्य-शक्ति का सामना भला (सखी द्वारा प्रेमिका को सिखाया गया) धैर्य कैसे कर सके !'–उत्प्रेक्षालङ्काररूप अर्थ ।

'मेरे प्रियतम ! इन मेरी आंखों में क्रोध कहां ! यह तो तुम्हारी देह पर अभी अभी लगे (किसी सुन्दरी के) दन्तक्षत और नखक्षत के द्वारा, तुम्हारे प्रसाद-स्वरूप, दिया गया एक रक्तांशुक है !'

यहां जो व्यञ्जक अर्थ है वह एक कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप–वस्तुतः उत्तरालङ्कार रूप–अर्थ है क्योंकि यहां 'प्रिये ! तेरी आंखें क्रुद्ध सी क्यों है' इस प्रश्न का उन्नयन स्पष्ट हो रहा है और इसके द्वारा जो व्यङ्ग्य प्रतीत हो रहा है अर्थात् 'तुम केवल अभी अभी लगे दन्तक्षत और नखक्षत का चिह्न ही नहीं छिपा रहे किन्तु उन्हें मुझे दिखा दिखा कर ललचा रहे हो !' वह एक वस्तुरूप अर्थ है ।

'अरे प्रेमी युवक ! तुम से बढ़कर भला सौभाग्यशाली कौन होगा ! अरे ! मेरी सखी तुम्हारे, सहस्रों सुन्दरियों को स्थान देने वाले, हृदय में, अपना प्रवेश न देखकर ही तो, दिन दिन एक मात्र किसी प्रकार वहां प्रवेश पाने की अभिलाषा से, अपनी दुर्बल भी देह और भी अधिक दीन-हीन बनाती दीख पड़ रही है ।'

यहां जो व्यञ्जक अर्थ है वह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध हेत्वलङ्कार-काव्यलिङ्ग-

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः। एवं द्वादश भेदाः॥

(५५) शब्दार्थोभयभूरेकः—

यथा—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम्॥ ७२॥

अत्रोपमा व्यङ्ग्या।

लङ्काररूप-अर्थ है (क्योंकि प्रेमी युवक के हृदय में प्रवेश न पानेका यहां एक हेतु उपनिबद्ध है जो कि वहां सहस्रों सुन्दरियों का निवासरूप हेतु है और साथ ही साथ दुर्बल देहलता के और भी दुर्बल बनाने का एक हेतु दिया गया है जो कि उसका प्रवेश न पा सकना है—ये दोनों हेतु लोकसिद्ध नहीं अपि तु काव्यसिद्ध हेतु हैं) और इससे जो व्यङ्ग्यार्थ निष्पन्न हो रहा है वह भी है एक अलङ्काररूप अर्थ-वस्तुतः विशेषोक्ति अलङ्काररूप अर्थ, क्योंकि यहां यही तो प्रतीत होता है कि 'देहलता के कृश बनाने से भी (कारण के सद्भाव में भी) उस प्रेमी युवक के हृदय में नायिका स्थान नहीं पारही है (कार्य का अभाव !) इन उपर्युक्त-चारों उदाहरणों में यह ध्यान रखने की बात है कि जो व्यञ्जक अर्थ है वह 'कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध' अर्थ है। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १२ प्रकारों का निरूपण किया जा चुका।

टिप्पणी—'अर्थशक्त्युद्भवध्वनि' में अलङ्कार-व्यङ्ग्यता के नाना प्रकारों के सम्बन्ध में ध्वनिकार का यह अभिमत सदा स्मरण रखना चाहिये:—

'शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥'

और साथ ही साथ ध्यान रखना चाहिये इस सम्बन्ध में लोचन की इस युक्ति-पूर्ण मान्यता का भी:—

'एतदुक्तं भवति—सुकविर्विदग्धपुरन्ध्रीवद् भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुङ्कुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का सम्भावनापि। एवंभूता चेयं व्यङ्ग्यता या अप्रधानभूताऽपि वाच्यमात्रालङ्कारेभ्य उत्कर्षमलङ्काराणां वितरति।'

अनुवाद—उस ध्वनिका जिसे 'शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवध्वनि' कहा गया है, एक ही प्रकार हुआ करता है (अर्थात् वस्तुरूपव्यञ्जक से अलङ्कार व्यङ्ग्यरूप)

उदाहरण के लिये—'(चांदनी रात के पक्ष में) 'चमकने वाले चन्द्र से विभूषित, कामोद्दीपन में समर्थ और छिटफुट तारावृन्द से रमणीय, चांदनी की रात, किसे आनन्द-विभोर नहीं कर देती !' (सुन्दरी युवती के पक्ष में) 'सुन्दर कर्पूराङ्गराग से सुशोभित शरीरवाली, कामभावनाओं को जगा देने वाली किंवा चमकते हार में लहराते मध्यमौक्तिकवाली सुन्दरी युवती किसे आनन्द-विभोर नहीं कर देती !'

यहां यह स्पष्ट है कि जो ध्वनि है वह 'शब्दार्थशक्त्युद्भव ध्वनि है ('शब्दशक्त्युद्भव' तो इसलिये क्योंकि चन्द्र, तारका, तरल और श्यामा-ये शब्द ऐसे हैं जिनका परिवर्तन करने पर ध्वनि ही नष्ट है और 'अर्थशक्त्युद्भव' इसलिये क्योंकि कुछ शब्द जैसे कि अतन्द्र, आभरण, समुद्दीपित और मन्मथ यदि क्रमशः अनिद्र, भूषण, समुत्तेजित और काम इन शब्दों द्वारा बदल भी दिये जांय तो भी ध्वनि रहेगी ही)। यहां जो व्यङ्ग्यरूप अर्थ है वह एक अलङ्काररूप अर्थ है—वस्तुतः उपमालङ्काररूप अर्थ है क्योंकि यहां जो प्रतीति है वह यही तो है कि या तो सुन्दरी युवती चान्दनी रात की भांति आनन्द देने वाली हुआ करती है या चांदनी रात सुन्दरी युवती की भांति आनन्ददायिनी हुआ करती है।

(ध्वनि के उपर्युक्त १८ प्रकारों का संग्रह)

—(५६) भेदा अष्टादशास्य तत् ॥ ४१ ॥

अस्येति ध्वनेः।

(ध्वनि के १८ भेद कैसे ?)

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह—

(रस-भावादि-ध्वनि के भेदानन्त्य के कारण 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिरूप' एक भेद की मान्यता आवश्यक)

(५७) रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते ।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' के 'शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ'-प्रकार का जो निरूपण किया है उसका आधार ध्वनिकार का यह सूक्ष्म संकेत है—

'उभयशक्त्या यथा—'दृष्टया केशवगोपराग हृतया' इत्यादौ ।' (ध्वन्यालोक २. २३)

और है लोचनकार की, इसकी यह व्याख्या—

'शब्दशक्तिस्तावद् गोपरागादि शब्दश्लेषवशात् । अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात् । यावदत्र राधारमणस्याखिलतरुणीजनच्छन्नानुरागगरिमास्पदत्वं न विदितं तावदर्थान्तरस्याप्रतीतेः ।'

अनुवाद—इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ध्वनि काव्य-प्रकार के १८ प्रमुख भेद निश्चित हैं।

यहां (कारिका में) 'अस्य' 'इसके' का अभिप्राय (सन्निहित परामृष्ट-'शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि' का नहीं अपि तु) ध्वनि-काव्य का है ।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने यहां ध्वनि-काव्य के जिन १८ प्रकारों का परिगणन किया है वे ये हैं-

(क) अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद—

(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि । (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि ।

(ख) विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का प्रथम भेद—

(१) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि (रसादिध्वनि) (२) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः—

(अ) शब्दशक्तिमूल २ भेद (वस्तु और अलङ्कार) (ब) अर्थशक्तिमूल १२ भेद ।

(स) शब्दार्थोभयशक्तिमूल १ भेद ।

सब मिलाकर ध्वनि-काव्य के १८ प्रकार ।

यहां आचार्य मम्मट की ध्वनिभेद-गणना का आधार लोचनकार की यह ध्वनिभेद-गणना है-

'अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य इति द्वौ मूलभेदौ । आद्यस्य द्वौ भेदौ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च । द्वितीयस्य द्वौ भेदौ—अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च । प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः-शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च । पश्चिमस्त्रिविधः कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः स्वतःसम्भवी च । ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः । आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडशमुख्यभेदाः ।' (ध्वन्यालोकलोचन २. ३१)

लोचनकार ने अपनी ध्वनिभेद-गणना में शब्दशक्तिमूलध्वनि का एक प्रकार ही माना है और शब्दार्थशक्तिमूल ध्वनिप्रकार को पृथक् नहीं गिनाया है इसलिये लोचनकार के अनुसार मुख्य ध्वनि-संख्या १६ है और काव्यप्रकाशकार के अनुसार १८। वैसे लोचनकार और काव्यप्रकाशकार में किसी दृष्टिकोण का कोइ भेद नहीं है ।

अनुवाद—यहां यह शङ्का स्वभावतः उठ सकती है कि जब असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में ही रसादि ध्वनि के अनेकानेक भेद-प्रभेद हैं तब ध्वनि के १८ ही प्रकार के परिगणन का क्या अभिप्राय ? (किन्तु इसका समाधान यह रहा कि)

यदि रसादिध्वनि के भेदों की गणना की जाने लगे तब तो इसका कहीं अन्त ही नहीं

अनन्तत्वादिति। तथा हि नव रसाः तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ संभोगो विप्रलम्भश्च, संभोगस्यापि परस्परविलोकनाऽऽलिङ्गन-चुम्बनादि-कुसुमोच्चय-जलकेलि-सूर्यास्तमय-चन्द्रोदय-षड्ऋतुवर्णनादयो बहवो भेदाः, विप्रलम्भस्याऽभिलाषादय उक्ताः, तयोरपि विभावा-नुभाव-व्यभिचारि-वैचित्र्यं, तत्रापि नायकयोरुत्तम-मध्यमा-ऽधमप्रकृतित्वं, तत्रापि देश-कालाऽवस्थादिभेद इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यं, का गणना त्वन्येषाम्। असंलक्ष्यक्रमत्वन्तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते।

(उपर्युक्त ध्वनि-भेद-विवेक का अन्य प्रकार-वाक्य व्यञ्जकता-निमित्तक ध्वनि भेद वाक्यव्यङ्ग्यध्वनिः शब्दार्थोभय शक्ति मूलक ध्वनि)

(५८) वाक्ये द्व्युत्थः—

द्व्युत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः।

होगा। इसलिये यह आवश्यक है कि रसादि ध्वनि को एक प्रकार का ही-असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्यरूप ही-मान लिया जाय (क्योंकि चाहे रसादिध्वनि के अनन्तभेद क्यों न हों, उनमें 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता' तो सर्वत्र एक रूप ही रहेगी !)

यहां (कारिका में) 'अनन्तत्वात्'-'अनन्त होने के कारण' का अभिप्राय यों समझा जा सकता है—सबसे पहले 'रस-ध्वनि' को ही लिया जाय। रस के नव भेद तो निःसन्दिग्ध हैं ही। अब इनमें प्रथम शृङ्गार रस को ही यदि देखें तो उसके दो मुख्य भेद तो स्पष्ट रहे, (१) सम्भोग शृङ्गार और (२) विप्रलम्भशृङ्गार। यह पहला अर्थात् 'सम्भोग शृङ्गार' ही अनेकानेक भेद-प्रभेद वाला विराजमान है जैसे कि परस्परदर्शन, परस्पर आलिङ्गन, परस्पर चुम्बनादि तथा परस्पर कुसुमोच्चय-जलक्रीडा-सूर्यास्त-चन्द्रोदय-षड्ऋतुवर्णन आदि आदि। दूसरे अर्थात् विप्रलम्भशृङ्गार के अभिलाष-विप्रलम्भ आदि पांच भेद पहले ही बता दिये गये हैं। अब इन्हीं सम्भोग और विप्रलम्भ रूप दोनों शृङ्गार-भेदों के विभावों-अनुभावों और व्यभिचारी भावों का नाना प्रकार का वैचित्र्य एक अलग ही बात रही। अब इस वैचित्र्य में नायक और नायिका की त्रिविध प्रकृतियों जैसे कि उत्तम-मध्यम और अधम प्रकृतियों के वैचित्र्य का कहना ही क्या। इतना ही क्यों ? इस प्रकृति-वैचित्र्य में देशभेद, कालभेद, अवस्थाभेद आदि आदि भेदों का वैचित्र्य भी तो गिनना ही पड़ेगा। इस गणना का क्या निष्कर्ष निकला ? यही तो कि एक ही रस के अनन्तभेद-प्रभेद हो गये। अब जब कि एक रस की ही गणना का यह हाल तब और रसों और भावों तथा उन दोनों के आभासों आदि की गणना कौन करे ! इसलिये (वैज्ञानिक-विश्लेषण की दृष्टि से) इतना ही पर्याप्त समझ लिया जाय कि 'रसादिध्वनि' का एक ही भेद है क्योंकि चाहे जितने भी इसके भेद-प्रभेद और उनके भी अवान्तरभेद होते रहें, उनमें 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता' रूप धर्म तो एकरूप ही है और सर्वत्र ही अनुस्यूत है।

इन उपर्युक्त १८ ध्वनि-भेदों में 'द्व्युत्थ'-'द्विमूलक' अर्थात् 'शब्दार्थोभयमूलक' जो ध्वनि-भेद है वह वाक्य-मात्र व्यङ्ग्य माना जाता है। (अर्थात् पदसमुदाय रूप वाक्य की व्यञ्जकता के आधार पर प्रतीत हुआ करता है।)

यहां (कारिका में) 'द्व्युत्थ' 'द्विमूलक' ध्वनि का अभिप्राय शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि-भेद का ही अभिप्राय है (न कि शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक द्विविध ध्वनिभेद का और इस शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि-भेद की वाक्य-व्यञ्जकता का जो स्वरूप है वह तो 'अतन्द्रचन्द्राभरणा' आदि उदाहरण में स्पष्ट कर ही दिया गया है)

(पद-व्यञ्जकता तथा वाक्य-व्यञ्जकता-निमित्तक अन्यध्वनिभेद, शब्दार्थोभयशक्ति-मूलक ध्वनि-भेद के अतिरिक्त ध्वनि के १७ प्रकारों की पद-व्यङ्ग्यता)

—(५६) पदेऽप्यन्ये—

अपिशब्दाद्वाक्येऽपि। एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पदद्योत्येन व्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्ग्याऽपि भारती भासते।

(पदव्यङ्ग्यध्वनि-सोदाहरणनिरूपण)

तत्र पदप्रकाश्यत्वे क्रमेणोदाहरणानि—

(पदव्यङ्ग्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि)

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति॥ ७३॥

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्व-नियन्त्रणीयत्व-स्नेहपात्रत्वादिसंक्रमितवाच्याः।

(पदव्यङ्ग्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि)

खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणम्।
हिअवअस्यबहुमआ णहु ववसाआ विमुज्झन्ति॥ ७४॥

(खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथाऽपि धीराणाम्।
हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुह्यन्ति॥ ७४॥)

(शब्दार्थोभयशक्तिमूलकध्वनि-भेद को छोड़ कर और) जो १७ ध्वनि-भेद हैं वे (वाक्यव्यङ्ग्य तो होते ही हैं किन्तु साथ ही साथ) पद-व्यङ्ग्य भी हुआ करते हैं।

यहां कारिका में ('पदेऽपि' में) 'अपि' 'भी' का अभिप्राय है पद में और साथ ही साथ वाक्य में भी (इन १७ ध्वनि-भेदों का प्रकाशित हुआ करना)। इन ध्वनि-भेदों की पद-व्यङ्ग्यता का अभिप्राय यह है कि यदि कविता-सरस्वती की किसी कामिनी से कल्पना की जाय कविता-सरस्वती तो वाक्यध्वनि रमणीय और कामिनी सर्वाङ्ग सौष्ठवपूर्ण-तो 'कविता-सरस्वती' के सौन्दर्य में 'पदव्यञ्जकता' का चमत्कार वही होगा जो कि कामिनी के सौन्दर्य में किसी एक अवयव-गत आभूषण का हुआ करता है।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इस मान्यता का सर्वथा अनुमोदन किया है-

'विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥' (ध्वन्यालोक)

अनुवाद—इन (१७) ध्वनिकाव्य-भेदों की पद-व्यङ्ग्यता के क्रमशः ये उदाहरण रहे—

उसी मनुष्य का जन्म लेना सचमुच जन्म लेना है, उसी मनुष्य का जीना सचमुच जीना है जिसके मित्र वस्तुतः मित्र हैं, जिसके शत्रु वस्तुतः शत्रु (दमन योग्य) हैं और जिसके स्नेहपात्र सचमुच स्नेहपात्र हैं।

यहां (अविवक्षित वाच्य (लक्षणामूलक) ध्वनि का अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यरूप भेद स्पष्ट है क्योंकि पुनः प्रयुक्त 'मित्र', 'शत्रु' और 'अनुकम्प्य' आदि पद अपने आप में अनुपयुक्त होकर, अपने अर्थों को क्रमशः भिन्न अर्थ में जैसे कि 'विश्वासपात्र', 'दमनयोग्य' और 'स्नेहमय' आदि अर्थ में संक्रान्त करते प्रतीत हो रहे हैं और इसीलिये प्रतीत हो रहे हैं जिसमें यहां जो व्यङ्ग्यार्थ है अर्थात् वर्णनीय पुरुष के व्यक्तित्व का स्थैर्य और गाम्भीर्य, वह झलक उठे।

'यद्यपि यह ठीक है कि दुष्टों के व्यवहार बड़े दुःखदायी हुआ करते हैं किन्तु तब भी

अत्र विमुह्यन्तीति ।

(पदव्यङ्ग्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि)

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥ ७५ ॥

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते । यथा वा—

(पदव्यङ्ग्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि ही)

मुग्धे ! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥ ७६ ॥

अत्र भीताननेति । एतेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते । भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकन्न वैचित्र्यमिति न तदुदाह्रियते ।

बड़े लोगों के कार्य, वे कार्य जिन्हें उनका अपना हृदय-उनका एकमात्र मित्र-करवाया करता है, कभी भी रुका नहीं करते ।'

यहाँ जो ध्वनि है वह है अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) ध्वनि का अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य नामक ध्वनि-भेद क्योंकि यहाँ प्रयुक्त 'विमुह्यन्ति' पद ऐसा है जिससे 'वर्णनीय सत्पुरुषों की सतत सत्कार्यपरता' तो अवश्य अभिव्यक्त हो रही है किन्तु जिसका अपना अर्थ अर्थात् 'किङ्कर्तव्यविमूढ़ हो जाने' का वाच्यार्थ यहाँ सर्वथा अनुपपन्न है (क्योंकि कार्य के साथ, जिसमें चेतना नहीं, विमोह का क्या सम्बन्ध !) और इसलिये जिसे एक मात्र 'रुक जाने' इस अर्थ का लक्षक मात्र ही समझा जा सकता है ।

'वह लावण्य, वह कान्ति, वह रूप, वह बोली—कभी ऐसा भी था जब इनसे अमृत का आनन्द मिलता था ! किन्तु अब ! अब क्या ! अब तो इनकी स्मृति एक सन्निपात सी चढ़ रही है !'

यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार तो है ही किन्तु 'तत्' 'असौ' 'सः' आदि पद के संयोग से यहाँ सोने में सुगन्ध का आनन्द मिल रहा है क्योंकि इन पदों के द्वारा यहाँ वर्ण्य शोकाकुल व्यक्ति के हृदय की उन-उन वर्णनातीत भावनाओं का जो अभिप्राय अभिव्यक्त हो रहा है वही तो विप्रलम्भ को पराकाष्ठा पर पहुँचा रहा है ! अथवा—

'सखी ने यह सब कुछ समझाया-'अरी ! तू इतनी मुग्धा न बनी रह ! क्या सारा जीवन इसी प्रकार की मुग्धता में बिता देगी ? अरी ! मान करना सीख, मान करने में धीरज न खो बैठ, प्रियतम के प्रति सदा ऐसी ही सिधाई से काम नहीं चलता !' किन्तु यह सब सिखायी-पढ़ायी गयी भी, वह मुग्धा, भय विह्वलमुखी इतना ही कह सकी—'सखी ! धीरे-धीरे बोल, नहीं तो मेरे हृदय में निरन्तर विराजमान मेरा प्राणेश्वर यह सब कुछ सुन ले तो ?'

यहाँ जो ध्वनि है वह तो सम्भोगशृङ्गार रूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है ही किन्तु इसकी उत्कट प्रतीति में 'भीतानना' पद की व्यञ्जकता का साहाय्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है क्योंकि 'धीरे-धीरे बोल'-'धीरे से ही बोलना ठीक है' इसका यहां जो प्रतिपादन है, उसका स्वारस्य 'भीतानना' पद द्वारा ही प्रकट हो रहा है जिससे मुग्धा का अनुरागाधिक्य झलक उठता है और सहृदय सामाजिक का हृदय प्रेम-रस से सराबोर हो जाता है।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि की इस पद-प्रकाश्यता के सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखनी चाहिये कि भावादिरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि की पद-व्यङ्ग्यता में कोई

(संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के शब्दशक्ति मूल-अलङ्कार ध्वनि-भेद की पद-व्यङ्ग्यता)

रुधिरविसरप्रसाधितकरवालकरालरुचिरभुजपरिघः।
झटिति भ्रुकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभासि नृप ! भीम ! ॥ ७७ ॥

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम्।

(संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि-भेद की पद-प्रकाश्यता)

भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः।
कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥ ७८ ॥ ५ ॥

काचित्सङ्केतदायिनमेवं मुख्यया वृत्त्या शंसति।

(अर्थशक्तिमूलध्वनि में स्वतःसम्भवी वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता)

सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः।
आश्चर्यन्तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥ ७९ ॥ ६ ॥

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुनापदद्योत्यं व्यज्यते।

विशेष चमत्कार नहीं रहा करता। यहां इसलिये भवादिध्वनि की पद-प्रकाश्यता का सोदाहरण निरूपण नहीं किया जा रहा है।

'हे महाराज ! हे महाभयङ्कर राजराजेश्वर ! आपकी शोभा का क्या बखान किया जाय ? मारे-काटे गये शत्रु-सैनिकों के रक्त-प्रवाह का अङ्गराग लगाये खड्ग से भयङ्कर और साथ ही साथ सुन्दर आपका यह भुजपरिघ और शत्रुगण को देखते ही तन उठने वाली भौंहों से विकराल लगने वाला आपका यह भाल-फलक ! भला आपकी अद्भुत शोभा का बखान कैसा ?'

यहां 'भीम' पद ऐसा प्रयुक्त है जिसकी महिमा से प्रकृत शत्रु-भयदायक राजा का 'भीम' (पाण्डव प्रवीर) से औपम्य भी स्पष्टतया प्रकाशित हो रहा है।

'भोग (स्वर्गादि) और मोक्ष (ब्रह्मात्मैक्य भाव प्राप्ति) का विधायक किंवा एकान्ततः पुरुषार्थ-प्रवर्तक 'सदागम' (वेद) भला किस (सत्पुरुष) के हृदय में आनन्द-स्रोत नहीं उत्पन्न कर देता !'

यहां जो व्यङ्ग्यार्थ है अर्थात् किसी परपुरुष के प्रेम में पगी किसी सुन्दरी का उस परपुरुष के पूर्व सङ्केतानुसार आगमन के स्वानुभूत आनन्द का प्रकाशन-वह वस्तुतः 'सदागम' पद की व्यञ्जकता वृत्ति से ही तो प्रकाशित हो रहा है ?

'अरी सखी ! तुम्हारी जैसी विचित्र सुकुमारता तो कहीं नहीं दिखाई दी ? तुम तो अभी भी, जब कि सायंकाल स्नान कर चुकी, जब कि चन्दन का अङ्गराग लगा चुकी, जब कि सूर्य का अस्त हो चुका और जब कि यहां आने-जाने में किसी प्रकार का कोई भय नहीं, ऐसा लगता है बड़ी थकी-मांदी सी हो रही हो और तुम्हारी ये दोनों आंखें बिना पलक झँपायें क्षण भर भी नहीं ठहर रही हैं।'

यहां 'अधुना-'अभी'-इस पद की ही यह महिमा है कि यह व्यङ्ग्यार्थ निकल पड़ता है—किसी परपुरुष के साथ रतिलीला कर चुकी हो और तब क्यों न थकी दिखाई दो ! यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि जो व्यञ्जक अर्थ है अर्थात् विचित्र सुकुमारता के भार

(अर्थशक्तिमूलध्वनि में स्वतःसम्भवी वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप-व्यङ्ग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता)

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥ ८० ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिंगतान्या गोपकन्यका ॥ ८१ ॥

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोगदुःखचिन्तनाह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम् । एवं चाशेष-चयपदद्योत्ये अतिशयोक्ती ।

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में, स्वतःसम्भवी अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता)

क्षणदाऽसावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् ।
बत वीर ! तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥ ८२ ॥८॥

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन विधिरपि त्वामनुवर्त्तते इति सर्वपदद्योत्यं वस्तु ।

से क्लान्ति (थकावट) का अभिप्राय, वह स्वतःसम्भवी वस्तुरूप अर्थ है और इसका जो उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ है वह भी वस्तुरूप ही व्यङ्ग्यार्थ है ।

'सच्चिदानन्दरूप जगत्कारण आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के ध्यान में पगी, उनके वियोग के महादुःख से समस्त पाप-सन्ताप से सर्वथा मुक्त किंवा उन्हीं की निरन्तर भावना के प्रगाढ़ आनन्द से पूर्व सञ्चित पुण्य से भी छुटकारा पा जाने वाली एक गोपी तो ऐसी हो गयी जैसे बिना प्राण के निकले ही मोक्ष पा चुकी हो ।'

यहां 'अशेष' और 'चय' इन दोनों पदों की ही अपनी-अपनी व्यञ्जना-शक्तियां ऐसी हैं जो अतिशयोक्तिरूप व्यङ्ग्यार्थों का प्रत्यायन करा रही हैं क्योंकि जहां 'अशेष' पद के द्वारा सहस्रों जन्मों में किसी प्रकार सम्भाव्य, पाप-राशि के उपभोग और क्षण भर में सम्भाव्य श्रीकृष्ण-वियोग-दुःख के उपभोग का तादात्म्याध्यवसाय अभिव्यक्त हो रहा है, वहां 'चय' पद के द्वारा जन्म-जन्मान्तरों में सम्भव पुण्य-राशि के उपभोग और क्षण भर में सम्भव श्रीकृष्ण के ध्यान-सुख के उपभोग का तादात्म्याध्यवसाय प्रकाशित किया जा रहा है ।

'हे महावीर राजन् ! आपके प्रतिकूल हो जाने पर, आपके शत्रु-गण के लिये सभी कुछ प्रतिकूल हो जाया करता है—'क्षणदा'-आनन्ददायिनी रात-'अक्षणदा'-दुःखदायिनी हो जाती है, 'वन'-अरण्य-'अवन'-रक्षणासमर्थ हो जाते हैं और 'व्यसन'-मद्यपानादिरूप मनोविनोद-'अव्यसन'-मनोरञ्जन में असमर्थ हो जाया करते हैं ।'

यहां जो अर्थशक्ति मूल वस्तुरूप ध्वनि है—क्योंकि अन्ततोगत्वा चमत्कार पात्र तो अर्थ यही है कि 'हे राजन् ! विधाता भी-भाग्य भी-सचमुच आपका ही वशंवद है'—वह वस्तुतः 'सर्व'-'सभी'-इस पद की महिमा से ही प्रकाशित है । इस उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ का, यहां जो व्यञ्जकरूप अर्थ है, वह अलङ्काररूप-वस्तुतः अर्थान्तरन्यास अलङ्काररूप-अर्थ है (क्योंकि क्षणदा आदि के अक्षणदा आदि होने की उपपत्ति के रूप में ही तो यह प्रतिपादित है कि 'हे राजन् ! आपके पराङ्मुख हो जाने पर, आपके शत्रुओं के लिये सब कुछ पराङ्मुख हो जाया करता है ।' यह अर्थान्तरन्यासरूप व्यञ्जक अर्थ (कवि-अथवा कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढ़ोक्ति निष्पन्न अर्थ नहीं अपितु) एक स्वतःसम्भवी अर्थ है । यहां एक बात और भी दिखायी देती है और वह यह है कि यह अर्थान्तरन्यासरूप स्वतः सम्भवी व्यञ्जक अर्थ यहां 'क्षणदा-'अक्षणदा' आदि में शब्दशक्तिमूल विरोधाभासरूप

(अर्थशक्तिमूलध्वनि में, स्वतःसम्भवी अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से
अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता)

तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो ।
इअ णववहुआ सोऊण कुणई वअण महिसंमुहम् ॥ ८३ ॥ ९ ॥

(तव वल्लभस्य प्रभाते आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।
इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसम्मुखम् ॥ ८३ ॥)

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन म्लानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम् ।

एषु स्वतःसम्भवी व्यञ्जकः ।

(अर्थशक्तिमूलध्वनि में कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से
वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता)

राईसु चंदधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावम् ।
एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विजंभंतो ॥ ८४ ॥ १० ॥

(रात्रीषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् ।
एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥ ८४ ॥)

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशाऽतिवाह्यते इति भुअणरज्जपदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते ॥

व्यङ्ग्यार्थ का उपपादक-उत्थापक बना हुआ है (जिससे यही सिद्ध होता है कि यहां का व्यञ्जक अर्थ अर्थान्तरन्यासरूप वाच्यालङ्कार ही है न कि शब्दशक्तिमूल विरोधाभासरूप व्यङ्ग्यालङ्कार क्योंकि बिना अर्थान्तरन्यास के 'क्षणदा'–'अक्षणदा' आदि में विरोधाभास भी तो व्यङ्ग्य नहीं हो सकता !)

'किसी सखी ने नवोढा नायिका से कहा—प्रभातवेला में तो तेरे प्रियतम का अधर ऐसा लगता रहा जैसे मिसला हुआ कमल-दल' और यह सुनते ही उस नवोढा नायिका का मुँह नीचे झुक गया !'

यहां जो व्यञ्जकरूप अर्थ है वह तो (स्वतःसम्भवी) रूपकालङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि 'अधर' और 'म्लानकमलदल' का काल्पनिक अभेद तो स्पष्ट हीप्र तिपादित है) और इससे जो व्यङ्ग्यार्थ निष्पन्न हो रहा है, जिसका रूप है—'अरी ! तूने तो अपने प्रियतम के अधर का इतना अधिक चुम्बन किया है कि उससे उसका अधर सूखा-सूखा लगने लगा है, वह भी एक अलङ्काररूप-वस्तुतः काव्यलिङ्ग-अलङ्काररूप-ही अर्थ है किन्तु इतना निश्चित है कि यह व्यङ्गरूप अर्थ 'म्लान' आदि पद की महिमा से ही प्रकाशित किया जा रहा है ।

इन उपर्युक्त उदाहरणों में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो व्यञ्जकरूप अर्थ है वह स्वतःसम्भवी अर्थ है ।

'अरी सखी ! जब (चांदनी) रातें चांद से चमक उठती हैं, तब मदन-महाराज का क्या कहना ! वे तो अपने सुन्दर-सुकुमार कुसुमचाप की केवल फटकार से ही सारे संसार को अपना एकच्छत्र साम्राज्य बनाये निर्द्वन्द्व विचरण करते दीखने लगते हैं !'

यहां जो व्यङ्ग्यरूप अर्थ है अर्थात् मदन महाराज के प्रजा-गण बने कामीजन का, कामशासन के अनुल्लंध्य होने के कारण, चांदनी रातों को, जागते हुये प्रेम-क्रीडाओं में

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में, कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता)

निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गो दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले ।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥८५॥११॥

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदद्योत्यो विरोधः ।

(अर्थशक्तिमूलध्वनि में, कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता)

वारिज्जन्तो वि पुणो सन्दावकदत्थिएण हिअएण ।
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥ ८६ ॥ १२ ॥

(वार्यमाणोऽपि पुनः सन्तापकदर्थितेन हृदयेन ।
स्तनभरवयस्येन विशुद्धजातिर्न चलत्यस्या हारः ॥ ८६ ॥)

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति ण चलइपदद्योत्यं वस्तु ॥

विता देना', वह एक वस्तुरूप अर्थ है और यह अर्थ ऐसा है जिसे 'भुवनराज्य'-इस पद की व्यञ्जकता-शक्ति ही प्रादुर्भूत कर रही है। इस व्यङ्ग्यरूप अर्थ का व्यञ्जकभूत अर्थ ऐसा है जो कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध वस्तुरूप अर्थ है ('कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध' इसलिये क्योंकि ऐसी चांदनी, जिसका वर्णन यहां किया जा रहा है कवि-कल्पना-जगत् की चांदनी है)।

'एक ओर तो इस सुन्दरी पर अभिनव यौवन का आगमन और दूसरी ओर उसकी आंखों पर, कामदेव द्वारा, अपने शरों की आशङ्का से, अपनी सारी शक्ति का आधान? भला जिधर भी ये आंखें घूम जांय, उधर, काम दशायें, एक ही साथ मिलकर, प्रकट न हो जांय तो और क्या हो?'

यहां जो व्यङ्ग्यार्थ हैं—अर्थात् परस्पर विरुद्ध भी (हसित-रुदित-निर्वेद-उन्माद आदि) कामावस्थाओं का एक साथ ही प्रकट हो जाना-वह एक अलङ्काररूप-वस्तुतः विरोधालङ्कार रूप-अर्थ है और उसका प्रकाशन-सामर्थ्य रखने वाला जो पद है वह है—'व्यतिकर' (पौर्वापर्यविपर्यय-उलट पलट आदि अर्थों का अभिधायक) पद। इस व्यङ्ग्यार्थ का जो व्यञ्जक अर्थ है वह एक कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध (क्योंकि कुसुम-शर और कुसुम-शरों में शक्तिस्थापन आदिरूप अर्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ नहीं तो और क्या?) अर्थ है और है वस्तुरूप अर्थ।

'संताप-पुरुषायित रति-में अधिकाधिक कामावेश के कारण-'कदर्थित' पीडित, हृदय ने भी बहुत रोका किन्तु भला मुक्ताहार-सर्वथा निर्दुष्ट मौक्तिकों का बना (मानों जन्म से उच्च जाति और उच्च कुल का हो!) हार अपने परम स्नेहपात्र कुचद्वय से (उसके दब जाने की पीडा का ध्यान रखते) क्योंकर अलग हटने लगा!

यहां 'न चलति'-इस पद की व्यञ्जकता-महिमा से जो व्यङ्ग्यार्थ निष्पन्न हो रहा है वह है-'पुरुषायित रति में नायिका के गले की मौक्तिक माला निरन्तर हिलती-डुलती एक विचित्र शोभा धारण कर रही है' और इस व्यङ्ग्यार्थ का जो कविप्रौढोक्तिसिद्ध (क्योंकि मुक्ता की शुद्धता और कुलकी शुद्धता का तादात्म्याध्यवसाय कविप्रौढोक्ति नहीं तो और क्या!) व्यञ्जक रूप अर्थ है वह हेतु-काव्यलिङ्ग-अलङ्कार रूप अर्थ है (काव्यलिङ्ग इसलिये क्योंकि स्तनों को छोड़कर हार के अलग न हट जाने का 'विशुद्ध जातित्व' रूप कारण भी तो काव्यात्मक ही कारण है!)

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में, कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की पद–व्यङ्ग्यता)

सो मुद्धसामलङ्गो धम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो ।
तीए खंधाहि बलं गहिअ सरो सुरअसङ्गरे जअइ ॥ ८७ ॥ १३ ॥

(स मुग्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः ।
तस्याः स्कन्धाद्बलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसङ्गरे जयति ॥ ८७ ॥)

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति खंधपदद्योत्या विभावना । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ॥

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की पद–व्यङ्ग्यता)

णवपुण्णिमामिअङ्कस्स सुहअ को त्तं सि भणसु मह सच्चम् ।
का सोहग्गसमग्गा पओसरअणि व्व तुह अज्ज ॥ ८८ ॥ १४ ॥

(नवपूर्णिमामृगाङ्कस्य सुभग ! कस्त्वमसि भण मम सत्यम् ।
का सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य ॥ ८८ ॥)

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं न तत इति णवेत्यादिपओसेत्यादिपदद्योत्यं वस्तु व्यज्यते ।

'किसी सुन्दरी का श्यामल केशपाश ही तो वह सुन्दर–श्यामल मन्मथ है जो कि सुरत–संगर (रति–युद्ध) में (स्कन्धावार–सैन्यशिविर–रूप) उस (सुन्दरी) के कन्धों का सहारा लेकर (कन्धों पर रति–प्रसङ्ग में बिखरी लटों से अधिकाधिक उद्दीप्त होकर) कामीजन को निरन्तर अपने वश में रखा करता है'

यहां जो व्यङ्ग्यरूप अर्थ है वह है अलङ्कार रूप अर्थ–वस्तुतः विभावनालङ्कार रूप अर्थ–क्योंकि यहां यही तो अन्त में प्रतीत होता है कि–'रति क्रीडा में केश की लटें बारम्बार खींची जाकर जब सुन्दरी के कन्धों पर छाने लगती हैं तब रतिसुखसंतृप्त भी कामुक व्यक्ति एक अद्भुत रति–लालसा से उद्विग्न हो उठता है' (रति–लालसा रूप हेतु के अभाव में भी रति की उत्कट उत्कण्ठा को निष्पत्ति–विभावना) और इस विभावनारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का निमित्त है 'स्कन्ध' इस पद की व्यञ्जकताशक्ति (क्योंकि रति–निवृत्ति के बाद भी केश–पाश की लटों के कन्धों पर लहराने का कुछ प्रयोजन–विशेष है)। यहां जो व्यञ्जकरूप अर्थ है वह कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप–वस्तुतः रूपकालङ्काररूप–अर्थ है (क्योंकि 'सुरत संगरे' और 'धम्मिल्लः स्मरः' में काल्पनिक अभेद ही अभिप्रेत है)।

इस प्रकार इन उपर्युक्त चारों उदाहरणों में व्यञ्जक अर्थ की कविप्रौढोक्तिमात्र-निष्पत्ति स्पष्ट है।

'अरे सुभग ! अरे सौभाग्यशाली युवा-प्रेमी ! सच सच बताओ कि नवोदित पूर्णिमा-चन्द्र के तुम कौन लगा करते हो ? क्या तुम्हारी वह सौभाग्यसुन्दरी कोई प्रदोष-रजनी तो नहीं ?

यहां यह स्पष्ट है कि जो व्यञ्जकरूप अर्थ है वह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्न अर्थ है और वस्तुरूप अर्थ है (क्योंकि यह कविनिबद्ध नायिका की प्रौढोक्ति ही तो है कि नायक को ऐसा ताना दिया जा रहा है जिसमें उसे 'पूर्णमाचन्द्र' और उसकी प्रेयसी को 'प्रदोष-रजनी' बनना पड़ रहा है) और जो व्यङ्ग्यार्थ है जिसका रूप है—'अरे ! तुम्हारा क्या

(अर्थ-शक्तिमूलध्वनि में, कविनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता)

सहि णवणिहुवणसमरम्मि अङ्कवाली सहीए णिविडाए।
हारो णिवारिओ विअ उच्छेरन्तो तदो कहं रमिअम् ॥ ८९ ॥ १५ ॥

(सखि ! नवनिधुवनसमरेऽङ्कपालीसख्या निबिडया।
हारो निवारित एवोच्छ्रियमाणस्ततः कथं रमितम् ॥ ८९ ॥)

अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत् तत्कथय कीदृगिति व्यतिरेकः कहंपदगम्यः।

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में, कविनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से निष्पन्न वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता)

पविसन्ती घरवारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहम्।
खंधे घेत्तूण घडं हाहा णट्ठो त्त रुअसि सहि किंति ॥ ९० ॥

(प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विलोक्य पन्थानम्।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हाहा नष्ट इति रोदिषि सखि ! किम् ॥ ९० ॥)

अत्र हेत्वलङ्कारेण सङ्केतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि तदाऽपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किंतिपदद्योत्यम्।

ठिकाना ! तुमने जैसे कभी मुझे चाहा वैसे आज किसी दूसरी को चाहने लगे ! तुम्हारे लिये यह कोई नयी बात तो है नहीं !, वह वस्तुरूप ही व्यङ्ग्यार्थ है किन्तु इसका जो प्रत्यायन हो रहा है वह वस्तुतः 'नवपूर्णिमामृगाङ्क' और 'प्रदोषरजनी' इन पृथक् पृथक् पदों की पृथक् पृथक् व्यञ्जकता-महिमा से ही हो रहा है।

'अरी सखी ! यह तो बता कि जब तूने अपना नया नया सुरत-संग्राम रचा जिसमें तेरी एक मात्र सहायिका, तेरी अङ्कपाली (आलिङ्गन-प्रत्यालिङ्गन-लीला) ने, तेरी विजय के विघातक, तेरे उछलते हार को, तोड़-मरोड़ डाला तब तुझे कैसा आनन्द आया ?'

यहां यह स्पष्ट है कि जो व्यङ्ग्यार्थ है अर्थात् 'यह बता कि हार के टूट जाने पर जो विचित्र रतिलीला हुई होगी' वह कैसी हुई !' वह व्यतिरेकालङ्काररूप (क्योंकि हार के टूटने के पहले की रतिलीला से हार के टूटने के बाद की रतिलीला का परस्पर औपम्य नहीं अपि तु पहली की अपेक्षा दूसरी का व्यतिरेक-वैशिष्ट्य ही तो यहां प्रतीत हो रहा है !) व्यङ्ग्यार्थ है और है 'कथम्' इस विस्मयबोधक पद की व्यञ्जकता-शक्ति से निष्पादित। इस व्यङ्ग्यार्थ का जो व्यञ्जकरूप अर्थ है वह कविनिवद्ध किसी रतिरसमर्मज्ञ सखी की प्रौढोक्ति से निष्पन्न अर्थ है और वस्तुरूप अर्थ है।

'अरी सखी ! कन्धे पर भरा घड़ा रखे, घर के द्वार से घर के भीतर जाते तू ने अपने ही आप तो रास्ते की ओर देखा और उधर ही आंखें जमालीं और जब घड़ा टूट गया, तब 'हाय हाय' मचाने से क्या लाभ !

यहां जो व्यङ्ग्यरूप अर्थ है वह एक वस्तुरूप अर्थ है जिसका स्वरूप है—'अब जब तूने संकेत भूमि पर पहुंचते उसे देख लिया, तब जाओ, दूसरा घड़ा ले जाओ और कर आओ आनन्द !, और जो व्यञ्जकरूप अर्थ है वह है कविनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप अर्थ-वस्तुतः हेत्वलङ्कार (काव्यलिङ्गालङ्कार) रूप अर्थ (क्योंकि 'रोने' का हेतु 'घड़े का फूटना' स्पष्ट प्रतिपादित है)। उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ में, यह निश्चित है कि, 'किमिति' इस पद की व्यञ्जकताशक्ति का ही हाथ है।

यथा वा—

विहलंखलं तुमं सहि दट्ठूण कुडेण तरलतरदिट्ठिम् ।
वारप्फंसमिसेण अ अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥ ६१ ॥ १६ ॥

(विशृङ्खलां त्वां सखि ! दृष्ट्वा कुटेन तरलतरदृष्टिम् ।
द्वारस्पर्शमिषेण चात्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्नः ॥ ६१ ॥)

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलया त्वया घटः स्फोटित इति मया चिन्तितम् , तत्किमिति नाश्वसिषि, तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समर्थयिष्ये इति द्वारस्पर्शनव्याजेनेत्यपह्नुत्या वस्तु ।

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से निष्पन्न अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता)

जोह्णाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्णउस्सुअमणा सा ।
बुड्ढा वि णवोढव्विअ परवहुआ अहह हरइ तुह हिअअम् ॥ ६२॥१७॥

(ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्योत्सुकमनाः सा ।
वृद्धाऽपि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥ ६२ ॥)

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलषसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः परवहूपदप्रकाश्यः ।

अथवा (यदि उपर्युक्त व्यञ्जकरूप अर्थ को 'प्रौढोक्तिसिद्ध' न माना जाय क्योंकि सम्भव है इसे लोग स्वतः सम्भवी ही कहें तब)

'अरी सखी ! तुम्हारे घड़े ने, अपने भार के कारण विह्वल और सम्भवतः इसी लिये चारों ओर आंखें घुमाती-फिराती, तुम्हे देखते ही जो दरवाजे की ठेस के बहाने अपने आपको फोड़ कर टुकड़े २ कर दिया, वह तो अच्छा ही किया !,

यहां यह स्पष्ट है कि जो व्यञ्जक रूप अर्थ है वह अलङ्कार रूप-वस्तुतः अपह्नुति अलङ्कार रूप-अर्थ तो है ही किन्तु ऐसा है जो कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है (क्योंकि अचेतन घट में अपने आप को नष्ट करने की बात का-चेतनता का-आरोप स्वतःसम्भवी अर्थ कहां !) यहां जो व्यङ्ग्यार्थ है, जिसका प्रत्यायन 'द्वारस्पर्शमिषेण' इस पद की व्यञ्जकता का ही सामर्थ्य है वह यह है—'अरी ! मैं तो पहले ही जान गयी कि तुझे नदी किनारे, लताकुञ्ज में, वह न मिला, वहां से लौट कर जब तू अपने घर आने लगी तो पीछे आता दीख पड़ा और फिर नदी किनारे जाने के लिये, दरवाजे की ठोकर के बहाने, तूने जान बूझ कर घड़ा फोड़ दिया ! मुझसे न घबड़ा जाओ, अपना काम बनाओ, मैं तेरी सास को समझा बुझा कर ठीक कर दूंगी !,

'वाह ! तुम्हारा भी क्या कहना ! तुम्हे तो कोई परकीया (दूसरे की स्त्री) चाहिये, चाहे वह बुढ्ढी ही क्यों न हो जो कि केवल कुछ चांदनी और कुछ मदिरा के उन्माद से ऐसी लगे जैसे रति-लीला के लिये उग्ररूप से उत्कण्ठित हो उठी हो ! बस तुम्हारे लिये वही नववधू का आनन्द देती है !,

यहां यह स्पष्ट है कि जो व्यञ्जक रूप अर्थ है वह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध काव्यलिङ्ग अलङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि वृद्धा परवधू को युवाप्रेमी के चित्ताकर्षण का कारण बताया जाना एक कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति रूप काव्य हेतु-वर्णन है !) और जो व्यङ्ग्य रूप अर्थ है अर्थात्—'अरे नीच ! मुझे छोड़ तू किसी दूसरे की बुढ्ढी भी स्त्री को चाहने

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः। वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम्। शब्दार्थोभयशक्त्युद्भववस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः।

(अर्थशक्तिमूलध्वनि-प्रवन्ध प्रकाश्य भी)

—(६०) प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ १२ ॥

लगा! तेरे चरित्र की कौन चर्चा करे!' वह भी एक अलङ्काररूप-वस्तुतः आक्षेपालङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि यहां यही जो प्रतीत होता है कि जब यह कहा जाय कि 'तुम्हारे किये का क्या बखान! तब 'ऐसा न किया करो' यह कहे जाने का एक प्रकार का निषेध ही अभिप्रेत है!) इस उपर्युक्त 'आक्षेप' अलङ्काररूप अर्थ का प्रकाशक वस्तुतः 'परवधू' पद ही है।

इन उपर्युक्त चारों उदाहरणों में यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यञ्जक अर्थ कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है।

इन उपर्युक्त ध्वनि-भेदों की वाक्य-व्यङ्ग्यता तो पहले (इसी उल्लास के प्रारम्भ में) सोदाहरण निरूपित ही की जा चुकी है (इसलिये यहां इसकी पुनरावृत्ति नहीं की जा रही है)। शब्दार्थोभयशक्तिमूलक जो ध्वनि-भेद है वह पद-व्यङ्ग्य तो हो ही नहीं सकता (क्योंकि एक ही पद को एक ही समय कैसे परिवृत्ति-सह भी कहें और परिवृत्त्यसह भी!) इस प्रकार यहां जिन २ ध्वनि-भेदों का विवेचन किया जा चुका है वे गणना में ३५ हुये (वाक्य प्रकाश्य—१८ पद प्रकाश्य-१७=३५ अर्थात्)

वाक्य-व्यङ्ग्य निम्न ध्वनि-भेदः—

१. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि
२. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि
३. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि
४. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि
५. " " " " अलङ्कारध्वनि
६-१७. " " अर्थशक्तिमूलद्वादश विध ध्वनि

पद-व्यङ्ग्य निम्न ध्वनि-भेदः—

१. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि
२. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि
३. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि
४. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यशब्दशक्तिमूल-वस्तुध्वनि
५. " " " अलङ्कारध्वनि
६-१७. " " अर्थशक्तिमूलद्वादशविधध्वनि

दोनों का योग=३४
शब्दार्थोभयशक्तिमूल
(वाक्यमात्रव्यङ्ग्यध्वनि)=१
३५

यह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि (केवल वाक्य और पद-व्यङ्ग्य ही नहीं अपि तु) प्रबन्ध-व्यङ्ग्य भी है।

टिप्पणी—(क) अर्थशक्त्युद्भवध्वनि की प्रबन्ध-व्यङ्ग्यता में 'प्रबन्ध' का अभिप्राय है परस्पर सम्बद्ध नाना वाक्यसमुदाय का। यह वाक्यसमुदाय सम्पूर्ण ग्रन्थरूप भी हो सकता है और उसका अवान्तर प्रकरणरूप भी। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'प्रबन्ध' का अभिप्राय यही लिया है। उनके अनुसार 'प्रबन्ध' है—'सङ्घटितवाक्यसमुदाय'-'**सङ्घटितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः**' (लोचन ३. २)

यथा गृध्रगोमायुसंवादादौ—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ६३ ॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥ ६४ ॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ।

अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥ ६५ ॥
आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत सांप्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥ ६६ ॥

इति निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं च वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते । अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः स्वयन्तु लक्षण-तोऽनुसर्त्तव्याः । अपिशब्दात्पदवाक्ययोः ।

(ख) यहां अर्थशक्त्युद्भवध्वनि की 'प्रबन्ध-व्यङ्ग्यता' ध्वनिकार की इस सूक्ति के आधार पर सिद्ध मानी गयी है:—

'अनुस्वानोपमात्माऽपि प्रभेदो य उदाहृतः । ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥'

'अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्ग्योऽपि यः प्रभेदः उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिद् द्योतते ।'''यथागृध्रगोमायुसंवादादौ महाभारते ।

अनुवाद—इस अर्थशक्तिमूल ध्वनि की प्रबन्ध-व्यङ्ग्यता के उदाहरण हैं 'गृध्रगोमायु-संवाद' तथा ऐसे अन्य (महाभारत आदि के) प्रकरण—

(महाभारत-शान्तिपर्व १५३ अध्याय के 'गृध्रगोमायुसंवाद में' स्वतः सम्भवीवस्तु-रूप व्यञ्जक अर्थ से, वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रबन्ध-प्रकाश्यता) '(गृध्र की उक्ति)' अरे शोक-सन्तप्त लोगो ! यह श्मशान है, गिद्धों और गीदड़ों जैसे जीवों का निवास-स्थान है, यहां, जिधर देखो उधर, केवल अस्थिपञ्जर ही दिखाई देता, कितना भीषण है यह स्थान ! यही वह स्थान है जहां प्राणिमात्र कांप उठता है, यहां तुम रुक कर क्या करोगे ? अरे ! जो एक बार मर चुका-और मरना तो एक दिन सभी को है—चाहे वह तुम्हारा प्रिय, शत्रु या तटस्थ रहा हो, वह यहां आकर जी तो नहीं उठेगा !'

यहां यह स्पष्ट है कि दिन में मृतक-मांस-भक्षण में शूर गृध्र की इस उक्ति से (जो वाक्यरूप नहीं और पद-रूप की तो बात ही क्या ! अपि तु वाक्यसमूहरूप है) एक व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है और वह है—लोगों को भगाने की एक युक्ति (जिससे दिन रहते २ गृध्र मृतक-मांस भरपेट खा सके)'

इसी प्रकार '(गोमायु (गीदड़) की उक्ति)—अरे मूर्खो ? इस गिद्ध के कहने भर से, इस सोने जैसे सुन्दर, इतने सुन्दर-सुकुमार, इस बालक को, यहां पटक कर भागे जा रहे हो ? अरे ! तुम्हें लोकलाज भी नहीं लगती ! अरे ! अभी दिन नहीं ढला ! ढलने की क्या बात ! इस मरे से लगते बालक को छोड़ कर न जाओ, क्या पता ! यदि इसे कोई भूत-प्रेत बाधा हो तो थोड़ी देर में उसके दूर होते ही यह जी भी उठे ।

यहां रात में मृतक-मांसभक्षण-शूर गीदड़ की इस उक्ति के वाक्य-समूह में 'लोगों को श्मशान न छोड़ने की एक युक्ति (क्योंकि रात होते ही गीदड़ ही मांस खा सकेगा, गीध तो भाग खड़ा होगा !) झलक उठती है । किन्तु इस प्रकार की यह ध्वनि केवल प्रबन्ध में ही अभिव्यक्त हो सकती है अन्यत्र नहीं । इस अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के और

(असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि (रसादिध्वनि) की पदैकदेश-रचना-वर्णादि-व्यङ्ग्यता)

(६१) पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ।

(रस की (पदैकदेशरूप-) प्रकृति-व्यङ्ग्यता)

तत्र प्रकृत्या यथा—

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वईपरिचुंविअं जअइ ॥ ६७ ॥

(रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ ६७ ॥)

अत्र जयतीति न तु शोभते इत्यादि । समानेऽपि हि स्थगनव्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोत्कृष्टम् । यथा वा—

११ प्रकारों की भी प्रवन्ध-व्यङ्ग्यता हुआ करती है किन्तु इसका उदाहरण यहां इसलिए नहीं दिया जा रहा क्योंकि ग्रन्थ बहुत अधिक लम्बा हो जायगा । जो चाहे वह इन अन्य अर्थशक्तिमूल ध्वनि-भेदों के उदाहरण स्वयं काव्यसाहित्य में ढूंढ सकता है ।

यहां ('कारिका में, प्रबन्धेऽपि' में) जो 'अपि'-'भी' शब्द प्रयुक्त है उसका यही अभिप्राय है कि यह अर्थशक्तिमूल ध्वनि पद और वाक्यव्यङ्ग्य भी है (जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है) ।

वह ध्वनि जिसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप रसादिध्वनि कहा करते हैं (और जिसकी पद-व्यङ्ग्यता और वाक्य-व्यङ्ग्यता पहले बतायी भी जा चुकी है) पदैकदेश—सुबन्त और तिङन्तरूप पदों के एकदेश अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय और उपसर्ग से, रचना-वैदर्भी आदि रीति अथवा असमास, मध्यमसमास और दीर्घसमास संघटना से और वर्णों और साथ ही साथ प्रबन्ध से भी अभिव्यङ्ग्य है ।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इस समीक्षा का अनुसरण किया है:—

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु । वाक्ये संघटनायाञ्च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥

और साथ ही साथ किया है इसकी लोचनकार-कृत इस व्याख्या का अनुसन्धान भीः—

'तुशब्दः पूर्वभेदेभ्योऽस्य विशेषद्योतकः । वर्णसमुदायश्च पदम् । तत्समुदायो वाक्यम् । संघटना पदगता वाक्यगता च । संघटितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः इत्यभिप्रायेण वर्णादीनां यथाक्रममुपादानम् । आदि पदेन पदैकदेशपदद्वितयादीनां ग्रहणम् । सप्तम्या निमित्तत्वमुक्तम् । दीप्यतेऽवभासते सकलकाव्यावभासकतयेति पूर्ववत् काव्यविशेषत्वं समर्थितम् ।'

(ध्वन्यालोक और लोचन ३. २)

अनुवाद—उदाहरण के लिये—

'अरी सखी ! (पार्वती के साथ) रतिलीला में पार्वती के परिधान को दूर हटाने वाले और लज्जावश पार्वती के करपल्लवों से बन्द की गयी दोनों आंखोंवाले देवाधिदेव महादेव के उस तृतीय नयन का स्मरण कर जो पार्वती के चुम्बनों से एक विचित्र ही शोभा धारण किया करता है !'

यहां सम्भोगशृङ्गाररूप रस की अभिव्यक्ति तो स्पष्ट ही है किन्तु इसमें 'जयति'-इस पद की एकदेशरूप 'जि'-इस धातुरूप प्रकृति की ही व्यञ्जकता-शक्ति का उन्मेष उत्कट रूप से दिखायी दे रहा है और इसी लिये तो कवि ने 'शोभते' आदि पदों का प्रयोग यहां नहीं किया ! यहां 'तृतीय नयन' के 'जयनशील' होने में जो रहस्य छिपा है वह यही है कि दोनों नेत्रों की भांति तृतीय नेत्र के बन्द करने की क्रिया अपने आप में भले ही एक सरीखी हो किन्तु दोनों हाथों से दोनों आंखों के बन्द करने में वह रतिरस कहां जो चुम्बन से-एक अलौकिक रसमय उपाय से-तृतीय नेत्र के बन्द करने की चेष्टा में है । अथवा—

(रस की (पदैकदेशभूत) 'नामरूप'-प्रकृति-व्यङ्ग्यता)

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मनाः ।
तावत्प्रत्युतपाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥ ९८ ॥

अत्र पदानीति न तु द्वाराणि । तिङ्सुपो यथा—

(रस की तिङ्-सुप्-प्रत्ययरूप पदैकदेशव्यङ्ग्यता)

पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
नरि नरि किरतिद्राक्सायकान् पुष्पधन्वा
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनी मानचर्चा ॥ ९९ ॥

अत्र किरतीति किरणस्य साध्यमानत्वम् । निवृत्तेति निवर्त्तनस्य सिद्धत्वं तिङा सुपा च तत्रापि क्तप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते । यथा वा—

(रस की तिङ्सुप् प्रत्ययरूप पदैकदेश-व्यङ्ग्यता ही)

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।

'सुन्दरी ने शपथ लेते हुये पैरों पर झुके भी अपने प्रियतम को झिड़क तो अवश्य दिया किन्तु इसके पहले कि वह (प्रियतम) दुःखित होकर रतिगृह से दो तीन कदम भी चल पड़े, वह (सुन्दरी) दौड़ पड़ी और अपने दोनों हाथों में खुलती नीवीं का भेंट लिये, उसके आगे नतमस्तक ही तो हो गयी ! अरे ! क्यों न हो, प्रेम की विचित्र चाल भला कौन जाने !

यहां भी सम्भोगश्रृङ्गाररूप रस ही अभिव्यक्त हो रहा है किन्तु इसकी अभिव्यक्ति का श्रेय है विशेष कर 'पदानि' के 'पद' इस नामरूपप्रकृत्यात्मक पदैकदेश का ही और इसीलिये तो कवि ने यहां 'द्वाराणि' आदि पद नहीं प्रयुक्त किये ! (क्योंकि दो तीन कदम भी न जाने देने में जो रति-रस-पारवश्य प्रतीत होता है वह दो तीन दरवाजे लांघ जाने पर रोकने में कहां !)

'अरे ! अब तो वसन्त आ पहुंचा ! मार्ग-मार्ग में नये नये अङ्कुरों की शुक-चञ्चु सरीखी हरीतिमा ! दिशा-दिशा में लता-नर्तकियों को लास्य सिखाने वाली समीर ! अब तो मनुष्य-मनुष्य पर मन्मथ के बाण चलने लगे हैं । अब तो नगर-नगर में (और ग्राम ग्राम में) मानिनियों की मानवार्ता समाप्त हो चली !'

यहां संभोग श्रृङ्गाररूप रस की प्रतीति तो सहृदयहृदय में निःसन्दिग्धरूप से हो रही है किन्तु इस प्रतीति का जो परमनिमित्त है वह है 'किरति' पद का एकदेशभूत 'तिङ्' रूप प्रत्यय और 'निवृत्त' पद का एकदेशभूत 'सुप्' रूप प्रत्यय । 'तिङ्' रूप प्रत्यय तो इसलिये कि इसी से यह अभिव्यक्त हो रहा है कि 'काम अपने बाणों को चला नहीं चुका अपि तु चलाने जा रहा है' किन्तु तभी सर्वत्र प्रेम-मान समाप्त होने लगा ! और 'सुप्' रूप प्रत्यय इसलिये कि इसी से तो यह प्रतीत हो रहा है कि मानिनी सुन्दरियों का मान समाप्त होने नहीं जारहा अपि तु समाप्त हो चला ! यदि ऐसी बात कवि के मन में न होती तो अतीतकाल वाचक 'क्त' प्रत्यय का प्रयोग भी क्यों किया गया होता ! यह 'क्त' तो इस बात का ही द्योतक है कि मानिनी सुन्दरियों का मान वसन्तागम के होते ही, काम-बाण के चलने के पहले ही, समाप्त हो चुका ! अथवा—

'अरी सखी ! तू इतनी निर्मम हो गयी ! अरी ! देख तो अपने प्राण-प्यारे को ! कैसे बाहर खड़ा-खड़ा, सिर झुकाये (पैर के नाखून से) जमीन कुरेद रहा है ! अपनी

परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥ १०० ॥

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति तथा आस्ते इति न त्वासित इति अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति; भूमिमिति न तु भूमाविति, न हि बुद्धिपूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सुब्विभक्तीनां व्यङ्ग्यम् ।

(पदैकदेशरूप षष्ठीविभक्ति प्रत्यय से रस की अभिव्यक्ति)

सम्बन्धस्य यथा—

गामारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण जाणामि ।
णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ १०१ ॥

(ग्रामरुहाऽस्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानामि ।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥ १०१ ॥)

अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्याः ।

सखियों को भी देख कि खाना-पीना छोड़े कैसी रोती-धोती फूली हुई आंखें लिये पड़ी हैं ! अपने पिंजड़ों में बन्द सुग्गों को भी देख कि कैसे हँसना-पढ़ना छोड़े पड़े हैं ! और अपनी यह दशा तो देख कि देखनेवाले लोगों को भी इससे कितनी पीड़ा हो रही है ! अब तो अपना मान छोड़ ! अब भी तो प्रसन्न हो जा !'

यहां यह स्पष्ट है कि विप्रलम्भश्रृङ्गाररूप रस अभिव्यक्त हो रहा है किन्तु इसकी अभिव्यक्ति में विशेष रूप से सहायक हैं यहां प्रयुक्त तिङ् विभक्तियाँ और सुप् विभक्तियां! जैसे कि 'लिखन्' इस पद का एकदेशभूत शतृप्रत्यय ही तो यह द्योतित करता है जो कि 'लिखति' इस पद से कभी भी सम्भव नहीं कि जब तक तुम्हारा प्रियतम ऐसे बैठा रहेगा, जमीन कुरेदता हुआ ही समय बिताता पड़ा रहेगा ! इसी प्रकार 'आस्ते' इस पद का एकदेशभूत वर्तमान तिङ् प्रत्यय ही तो यह अभिप्राय व्यक्त करता है कि जब तक तू प्रसन्न न होगी तब तक तेरा प्रियतम ऐसे ही रहता रहेगा ! भला यहां 'आसितः' इस भूतकाल-वाची तिङ् प्रत्यय के प्रयोग से यह रहस्य कैसे प्रतीत होता ! यह तो बात हुई तिङ् प्रत्यय की रस-व्यञ्जकता की। अब यहां जो सुप् प्रत्यय प्रयुक्त हैं वे भी रस के एकमात्र अभिव्यञ्जक होने के नाते ही प्रयुक्त हैं, जैसे कि 'भूमिम्' इस पद में द्वितीया विभक्ति का अम् रूप प्रत्यय। यह 'अम्' रूप कर्मत्व-प्रत्यायक प्रत्यय ही तो यह अभिप्राय प्रकाशित कर रहा है कि मानिनी नायिका का प्रियतम इतना किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा है कि उसे कुछ लिखने आदि का काम नहीं अपितु केवल दुःखवश ऐसे ही काल-यापना का ही काम करना रह गया है। भला 'भूमौ' पद के प्रयोग में सप्तमी विभक्ति के 'ङि' रूप प्रत्यय से यह अभिप्राय क्योंकर निकलता !

इसी प्रकार सम्बन्धबोधक षष्ठीरूप प्रत्यय की रस-व्यञ्जकता—

जैसे कि 'अरी नागरी ! मैं गांव में ही जन्मी हूँ, गांव में ही रह भी रही हूँ और यह भी नहीं जानती कि नगर और नगर का रहना क्या होता है। मुझे तू जो चाहे समझ, लेकिन इतना बताये देती हूँ कि नगर-युवतियों के जो लोग प्राण-प्यारे हुआ करते हैं उन्हें भी अपने वश में कर लेती हूँ।'

यहां जो श्रृङ्गार रस की अभिव्यक्ति है उसमें यह स्पष्ट है कि 'नागरिकाणाम्' इस पद के एकदेशभूत षष्ठीरूप सम्बन्धबोधक प्रत्यय का ही हाथ है (क्योंकि रतिकलाविदग्ध नगर-युवतिओं के सम्बन्ध से उनके पतियों की रति-कला-चातुरी की अभिव्यक्ति के लिये 'नागरिकान्' पद का प्रयोग तो निष्प्रयोजन ही है !)

(पदैकदेशभूत कालवाचक प्रत्यय से रस की अभिव्यक्ति)

रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीदिति कालस्य। एषा हि भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः।

(पदैकदेशभूत प्रत्ययरूप वचनविशेष से रस की अभिव्यक्ति)

वचनस्य यथा—

ताणं गुणग्गहणाणं ताणुक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स।
ताणं भणिआणं सुन्दर ! एरिसिअं जाअमवसाणम् ॥ १०२ ॥

(तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः।
तासाम्भणितीनां सुन्दर ! ईदृशं जातमवसानम् ॥ १०२ ॥)

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते।

(पदैकदेशभूत 'पुरुष'–विशेष के प्रयोग की रसाभिव्यञ्जकता)

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे ! चेतः ! प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि।
किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारान्निधौ ॥ १०३ ॥

अत्र प्रहासः।

'यह क्षत्रियकुमार (राम) तो बड़ा सुन्दर था !' (महावीरचरित–२ य अङ्क), यहां महादेव के अजगव पिनाक को तोड़ चुकने वाले राम के प्रति क्रुद्ध भार्गव परशुराम की इस उपर्युक्त उक्ति में अतीतकालार्थक लङ् प्रत्यय की व्यञ्जकता–महिमा स्पष्ट दिखायी दे रही है (क्योंकि इसी से तो यह प्रतीत होता है कि परशुराम अपनी क्रोध–ज्वाला में राम के सौन्दर्य को नष्ट कर उसे अतीत की ही वस्तु बना देना चाहते हैं !)

अथवा वचन की रस–व्यञ्जकता जैसे कि—

'अरे सुन्दर युवक ! क्या मेरे सम्बन्ध में, तुम्हारी उन उन गुण वर्णनाओं का, उन उन उत्कण्ठाओं का, तुम्हारे उस प्रेम का और तुम्हारी उन उन प्रेम–पगी बातों का यही अन्त होना था !'

यहां यह स्पष्ट है कि जिस विप्रलम्भश्रृङ्गार रस की यहां अभिव्यक्ति है उसमें वचन–व्यञ्जकता की ही महिमा छिपी है क्योंकि जहां 'गुणग्रहण', 'उत्कण्ठा' और 'भणिति' इन पदों के बहुवचन से प्रेम–हेतुओं की बहुविधता का प्रकाशन किया जा रहा है वहां 'प्रेम' इस पद के एकवचन से प्रेम की एकरसता भी, एक विचित्रता से द्योतित हो रही है।

'अरे मेरे मन ! अरे कटाक्ष मारने वाली सुन्दरियों के प्रेम के इच्छुक मेरे चित्त ! अरे, तू तो शाश्वत प्रेम–माहात्म्यरूप भगवान् को छोड़छाड़ कर, किसी मृगनयनी को देखने चला और देख देख कर नाचने भी लग पड़ा ! अरे ! अरे ! क्या 'तू' यह 'सोच बैठा' कि 'मैं' 'विहार करूंगा'। अरे, इस दुराशा को छोड़ ! देख, यह संसार है एक अपार पारावार, तुझे है इसे पार करना और यह 'मृगनयनी' है तेरे गले में बँधी पत्थर की सिल !'

यहां, शान्तरस की अभिव्यक्ति में, 'त्वम्' के योग में (मन्यसे) मध्यम पुरुष के बदले (मन्ये) उत्तम पुरुष का प्रयोग और 'अहम्' की अपेक्षा रखने वाले उत्तम पुरुष (विहरिष्ये) के बदले मध्यम पुरुष (विहरिष्यसे) का प्रयोग ही प्रधानतया अपने मन की हँसी उड़ाने का एक मात्र साधन है (जो कि अन्ततोगत्वा शान्त रस को पराकाष्ठा पर पहुँचा रहा है)।

(पूर्वनिपात की भाव-व्यञ्जकता)

पूर्वनिपातस्य यथा—

येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते सम्मतास्तैरपि
प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः ।
ये दमाशक्र ! पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-
स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते ।

(विभक्ति विशेष की भावध्वनि-व्यञ्जकता)

विभक्तिविशेषस्य यथा—

प्रधनाध्वनि धीरधनुर्ध्वनिभृति विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।
दिवसेन तु नरप ! भवानयुद्ध विधिसिद्धसाधुवादपरम् ॥ १०५ ॥

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गतृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

इसी प्रकार पूर्व निपात के द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप भाव-ध्वनि की व्यञ्जकता जैसे कि:—

'हे पृथ्वीन्द्र ! हे महाराज ! ऐसे राजा लोग, जिनमें बाहुबल ही है, वस्तुतः निर्बल हुआ करते हैं और ऐसे राजा लोग भी किस काम के जो एक मात्र राजनीति-निपुण ही रहा करें ! सच तो यह है कि आप सरीखे पराक्रम और राजनय-दोनों के द्वारा साम्राज्य-सञ्चालन करने वाले राजा लोग वैसे तो होते नहीं और यदि हों भी, तो भी दो या तीन से अधिक तो इस संसार में कदापि नहीं होंगे।'

यहां जो कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है उसमें 'पराक्रम' इस पद का 'नय' इस पद के पहले निपात (प्रयोग) विशेषरूप से व्यञ्जक है (अभिप्राय यह है कि 'अल्पाच् तरम्' (अष्टाध्यायी २.२.३४) इस सूत्र से पूर्व निपात के सामान्य-नियम में 'अभ्यर्हितं च' इस वार्तिक से सिद्ध अभ्यर्हित के पूर्व निपात के विशेष-नियम का अनुपालन करते हुये यहां जो 'पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमाः' इस समस्त पद में 'पराक्रम' पद का पूर्व निपात है वही तो, कवि के हृदय में, वर्ण्य राज विशेष के पराक्रम के प्रति, विशेष अनुरक्ति का द्योतन करा रहा है !)

इसी प्रकार किसी विशिष्ट विभक्ति के प्रयोग से भी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप ध्वनि की अभिव्यक्ति हुआ करती है जैसे कि:—

'महाराज ! संग्रामाङ्गण में, शूर-वीरों की धनुष्टङ्कार-ध्वनि से गूँजते रण-स्थल में, आपके शत्रु तो दिन भर लड़ते-भिड़ते रहे और आपने उसी दिन उनसे ऐसी लड़ाई की कि क्या ब्रह्मा और क्या साधु-सन्त सभी के सभी आप पर आशीर्वाद बरसाने लगे !'

यहां यह स्पष्ट है कि जो भावध्वनि अभिव्यक्त हो रही है (क्योंकि यहां कवि के हृदय का, अपने प्रतापी महाराज के प्रति, अनुराग ही तो प्रकट हो रहा है !) उसकी दृष्टि से 'दिवसेन' इस पद में प्रयुक्त अपवर्ग-तृतीया विभक्ति (ऐसी तृतीया विभक्ति जो फलप्राप्ति के द्योतन के लिये, काल और अध्वा-मार्ग-के अत्यन्त संयोग में, प्रयुक्त की जाती है, जिसके लिये भगवान् पाणिनि का 'अपवर्गे तृतीया' (२.३.६) सूत्र प्रमाण है) की ही व्यञ्जकता-महिमा झलक उठी है (क्योंकि तभी तो यह प्रतीत होता है कि वर्ण्य राजविशेष ने तो विजय पायी और शत्रुगण को दिन भर लड़ने-भिड़ने पर भी कुछ न मिला !)

(प्रत्ययरूप प्रकृत्येकदेश की रसाभिव्यञ्जकता)

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ।। १०६ ।।

अत्रानुकम्पावृत्तेः करूपतद्धितस्य ।

(उपसर्ग की भी रसाभिव्यञ्जकता)

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ।। १०७ ।।

अत्र प्रशब्दस्योपसर्गस्य ।

(निपात की भी रस-व्यञ्जकता)

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः ।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ।। १०८ ।।

अत्र तुल्ययोगिताद्योतकस्य 'च' इति निपातस्य ।

'ओह जब से अपने भवन के उच्च मण्डप के झरोखे पर बैठी मालती ने, बार बार, पास की नगरवीथी से पर्यटन करते माधव को देखा है और ऐसे देखा है जैसे साक्षात् रति मदन को देखे, तब से तो, इसकी देह एक उग्र उत्कण्ठा से इतनी ग्लान सी हो रही है और इसका मन इतना विह्वल हो उठा है कि कुछ कहा नहीं जा सकता ! (मालतीमाधव १ म अङ्क)'

यहां जो विप्रलम्भशृङ्गार अभिव्यक्त हो उठा है उसमें अनुकम्पा के भाव के द्योतक 'अङ्गकैः'-इस पद में प्रयुक्त 'क' इस तद्धित प्रत्यय का हाथ स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। (अभिप्राय यह है कि 'अनुकम्पायाम्' (अष्टाध्यायी ५.३.७६) इस सूत्र से विहित 'क' प्रत्यय का ही यह प्रभाव है कि माधव के प्रति प्रेम के कारण अभिलाषा-विरहिणी मालती की शोचनीय शरीर-दशा का चित्र सहृदयों की आंखों के सामने खिंच रहा है ।)

'मित्र मकरन्द ! पता नहीं चलता मुझे क्या हो रहा है ! मेरा हृदय ऐसे भाव से भरता जा रहा है जिसे, 'क्या है' नहीं बता सकता, जिसे, 'ऐसा है' यह कहना अत्यन्त कठिन है, जिसे 'ऐसा लग रहा है' यह बताना, जब कि न तो पहले किसी जन्म में ऐसा हुआ और न इसी जन्म में ऐसा हुआ, सर्वथा असम्भव है ! बस, यही बता सकता हूँ कि मुझे कुछ नहीं सूझ रहा, चारों ओर मन में अंधेरा ही अँधेरा छाते दीख रहा है किन्तु ऐसा लगता है कि बहुत अधिक आनन्द भी मिल रहा है और बहुत अधिक दुःख भी मिलता जा रहा है (मालतीमाधव १ म अङ्क)'

यहां जिस विप्रलम्भशृङ्गार रस की अभिव्यक्ति है उसमें ('विवेक प्रध्वंसात्' के) ध्वंस पद के पूर्व प्रयुक्त 'प्र' इस प्रकर्ष द्योतक उपसर्ग की व्यञ्जकता-शक्ति सर्वोपरि कार्यकर प्रतीत हो रही है ।

'महाराज ! जैसे ही आपने अपना मन अपने वीर्याभिमान के सामने किया, वैसे ही, और क्या कहा जाय, हमारे शत्रुगण मिट्टी में मिल गये ! सच ही तो है कि अन्धेरा तभी तक खड़ा रह सकता है जब तक सूर्य उदयाचल की चोटी पर न पहुंच जाय !

यहां जो वीर रस की अभिव्यक्ति है उसमें 'च' इस निपात की व्यञ्जकता-शक्ति स्पष्ट प्रतीत हो रही है क्योंकि इसी के द्वारा तो प्रकृत राज-विशेष के मन में स्वाभिमान के

(उपर्युक्त व्यञ्जकों के समुच्चय में रसाभिव्यक्ति)

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धि परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥ १०९ ॥

अत्रासाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनामप्रातिपदिकवचनानां न त्वदिति न मदिति अपि तु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः, भाग्यविपर्ययादित्यन्यथासंपत्तिमुखेन न त्वभावमुखेनाभिधानस्य ।

(उपर्युक्त व्यञ्जक-सामग्री की ही रसाभिव्यञ्जकता)

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥ ११० ॥

अत्र इमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य तरुणत्वे इति धनुषः

भाव के भरने और उससे शत्रु-संहार के होने में एककालिकता-समुच्चयदशा-की प्रतीति हो उठती है (जो कि वीर रस को पराकाष्ठा पर पहुंचा रही है) !

'राक्षसराज ! आपको पता होना चाहिये कि आप से लड़ने जो आ रहा है वह 'राम' है (संसार के हृदय का एक मात्र आकर्षक एक अलौकिक महापुरुष है) इस भुवन-मण्डल में अपने उन उन पराक्रम-गुणों से अत्यन्त अधिक प्रसिद्ध है, यह तो एक मात्र हम निशाचरों के भाग्य की ही उलट-फेर है कि आप सरीखे दिव्य ज्ञानवान् उसे न जान पाये हैं, अधिक क्या कहा जाय, यह चारों ओर चलती पवन कुछ गुनगुनाती सी जो लग रही है वह वस्तुतः उसी के (वालि-वध में) एक बाण के आघात से पंक्तिबद्ध विशाल ताल वृक्षों में बने छिद्रों से निकलते सातों के सातों स्वरों की झङ्कार लिये उसी का गुण गान कर रही है।

यहां वीर रस की अभिव्यक्ति तो स्पष्ट ही है किन्तु इसमें 'असौ' इस सर्वनाम, 'भुवनेषु' इस प्रातिपदिक, 'गुणैः' इस बहुवचन, 'त्वत्' अथवा 'मत्' इन आदेशों को छोड़ छाड़ कर अपने स्वरूप में प्रयुक्त और इसी लिये सर्व-संग्राहक 'अस्मत्' इस बहुवचनान्त पद और साथ ही साथ भाग्य के अभाव वाचक 'अभाग्य' पद को छोड़ कर भाग्य के अन्यथा भाव-दुर्भाग्य-के वाचक 'भाग्यविपर्यय' इस अभिधान-सभी की अपनी अपनी व्यञ्जकताओं की सम्मिलित अभिव्यञ्जना का हाथ भी निःसंदिग्ध दिखायी दे रहा है (क्योंकि 'असौ'-'वह' यह सर्वनाम राम के एक महापराक्रमी किंवा विलक्षण महापुरुष होने का ही द्योतक है, 'भुवनेषु' का यही अन्तिम अभिप्राय है कि किसी ग्राम अथवा नगर अथवा एक भुवन में नहीं अपि तु भुवन-सामस्त्य में वह प्रसिद्ध है जिसे 'राम' कहा करते हैं। 'गुणैः' का यही रहस्य है कि जिसे 'राम' नाम से स्मरण किया जाता है उसके गुण का परिच्छेद सम्भव नहीं, 'अस्मत्' का यही प्रयोजन-विशेष है कि समस्त राक्षस कुल की प्रतीति हो उठे और 'भाग्यविपर्यय' का अभिप्राय यही है कि राम के साथ वैरभाव अभाग्य का कौन कहे समस्त भाग्य-ध्वंस का लक्षण है)।

'इस चञ्चलाक्षी मृगनयनी सुन्दरी को तो संसार की समस्त सुन्दरियों का मुकुटमणि मानना चाहिये। क्यों न हो ! जब इसका विचित्र यौवन अपने उभार पर हो और इसकी भौंहें कामचाप सरीखे अपने आचार्य के चरणों में कटाक्ष-कला की शिक्षा-दीक्षा ले रहीं हों तब जो न हो जाय सब थोड़ा ही तो है ?,

यहां श्रृङ्गार रस की अभिव्यक्ति तो है ही किन्तु इसके निमित्त-रूप में उन उन व्यञ्जकों की शक्ति का महत्त्व कम नहीं। 'तरुणत्वे' के 'त्व' प्रत्यय और 'तरुणिमनि' के 'इमनिच्'

समीप इति मौलौ वसतीति त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे अस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम्। वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते। अपिशब्दात्प्रबन्धेषु नाटकादिषु। एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड् भेदाः।

(शुद्ध-ध्वनि-भेद-सङ्कलन)

(६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत्—

प्रत्यय का वाच्यार्थ भले ही एक ही हो किन्तु तब भी 'तरुणिमनि' पद का सहृदयहृदय-संवेद्य जो माधुर्य है वह 'तरुणत्वे' में कहां! यह सोच कर ही तो कवि ने 'तरुण' शब्द का इमनिच् प्रत्ययान्त रूप 'तरुणिमनि' प्रयुक्त किया! भले ही (मदनस्य) 'धनुषः समीपे' का वही मुख्यार्थ हो जो कि-'अनुमदनधनुः' का है किन्तु (मदनस्य धनुषः समीपे-इसी अर्थ में निष्पन्न) 'अनुमदनधनुः' पद के पूर्व-पदार्थ-प्रधान अव्ययीभाव का जो व्यञ्जन-स्वारस्य है (जिससे 'धनुष' के बदले 'मदन' पद और उसके रहस्य की विशेष प्रधानता झलक उठी है) वह 'धनुषः समीपे' का कहां! इसी प्रकार 'मौलौ वसति' और 'मौलिमधिवसति' का साक्षात् संकेतित अर्थ भले ही एक रूप रहा करे किन्तु 'मौलिमधिवसति' में 'आधार अर्थ में कर्म' का जो सौन्दर्य है (क्योंकि इसी से तो 'समस्त आधार में व्याप्त रूपता' का रहस्य प्रकट होता है!) वह 'मौलौ वसति' में कहां (क्योंकि 'मौलौ' 'वसति' इस उक्ति का 'एकदेशावस्थिति' के अतिरिक्त और तो कुछ अभिप्राय है नहीं!)

उपर्युक्त दृष्टि से पदैकदेश आदि की रसाभिव्यञ्जकता स्वयं देख लेनी चाहिये। वर्णों और रचनाओं की रस-प्रकाशकता तो आगे गुण-स्वरूप-विवेचन के प्रसङ्ग में (अष्टम उल्लास में) बतायी ही जायगी। यहां (कारिका में, 'पदैकदेशरचना वर्णेष्वपि' में) 'अपि' पद का जो अभिप्राय है वह यही है कि (पद-पदैकदेश-वर्ण और रचना के अतिरिक्त) प्रबन्ध-नाटक-मुक्तक आदि रूप काव्य-निर्माण भी रस की अभिव्यञ्जना में सर्वथा समर्थ रहा करते हैं।

इस प्रकार पूर्व प्रतिपादित वाक्य-व्यङ्ग्य और पद-व्यङ्ग्य रस-ध्वनि के दो भेदों के अतिरिक्त यहां निर्दिष्ट पदैकदेश-प्रकाश्य, रचना-प्रकाश्य, वर्ण-प्रकाश्य और प्रबन्ध—प्रकाश्य रस-ध्वनि के चार भेदों को मिला देने से यह सिद्ध हो गया कि असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि के ६ प्रकार के भेद-विशेष हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध हुआ कि ध्वनि के-ध्वनिकाव्य के-५१ प्रमुख भेद हुआ करते हैं।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट द्वारा परिगणित ध्वनिभेदों की संख्या का यह अभिप्राय है:—

(क) अविवक्षित वाच्यध्वनि—१. पद-प्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनि।
२. वाक्यप्रकाश्य „ „
३. पद-प्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत „
४. वाक्य-प्रकाश्य „ „
४

(ख) विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि)
१. पद-प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि
२. वाक्य-प्रकाश्य „ „
३. पदैकदेश-प्रकाश्य „ „
४. रचना-प्रकाश्य „ „
५. वर्ण-प्रकाश्य „ „
६. प्रबन्ध-प्रकाश्य „ „
६

व्याख्याताः ।

(संकीर्ण ध्वनि-भेद संकलन)

(६३)—तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥

संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति यावत्तेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयाऽऽस्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकतयैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन सङ्करेण परस्परनिरपेक्षरूपयैकप्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणने ।

(६४) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४)—

(ग) विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि)

१. शब्दशक्तिमूल पदप्रकाश्य वस्तुरूपव्यङ्ग्य ध्वनि
२. " " " अलङ्काररूप " "
३. " वाक्यप्रकाश्य वस्तुरूप " "
४. " " " अलङ्काररूप " "
४

अर्थशक्तिमूल पद-प्रकाश्य १२ श विध ध्वनि
" " वाक्य-प्रकाश्य १२ श "
" " प्रवन्ध-प्रकाश्य १२ श "
३६

शब्दार्थोभयशक्तिमूल ध्वनि - १
१

इस प्रकार शुद्ध ध्वनिकाव्य के सब मिल कर ५१ भेद हुये (४+६+४+३६+१)=५१

अनुवाद—इन ५१ ध्वनि-भेदों का स्पष्ट विवेचन अब तक कर दिया गया।

इन उपर्युक्त ५१ प्रकार के शुद्ध ध्वनि-भेदों में प्रत्येक भेद का अन्य सभी भेदों से परस्पर संमिश्रण भी हुआ करता है जिससे इनके परस्पर गुणन होने पर, सङ्कीर्ण ध्वनि की भेद-संख्या बढ़ जाती है। इन ५१ प्रकार की शुद्ध ध्वनियों का पारस्परिक सम्मिश्रण भी एकविध ही नहीं अपि तु चतुर्विध हुआ करता है अर्थात् त्रिविध सङ्कर और एकविध संसृष्टिरूप (इस प्रकार इस भेद-संख्या का बढ़ना तो निश्चित ही है)।

यहां (कारिका का) अभिप्राय यह है कि ध्वनि के केवल शुद्धभेद ही नहीं हुआ करते जो ५१ प्रकार के बताये जा चुके हैं अपि तु इनमें प्रत्येक ध्वनि-भेद का इन समस्त ध्वनि-प्रभेदों से परस्पर संयोजन भी हुआ करता है जिसके ये चार प्रकार हैं:—

(क) परस्पर सापेक्षसंयोगात्मक त्रिविध सङ्कर:—

१. संशयास्पदरूप संकर
२. अनुग्राह्यानुग्राहकरूप संकर
३. एकव्यञ्जकानुप्रवेशरूप संकर

परस्पर निरपेक्षसंयोगरूप एकविध संसृष्टि:—

४. संसृष्टि

इस प्रकार इनका परस्पर गुणन करने पर पता चलता है कि सङ्कीर्ण ध्वनि के कितने प्रकार हैं।

यह जो सङ्कीर्ण ध्वनिभेद-संख्या है वह है १०४०४।

टिप्पणी—(क) सङ्कीर्ण ध्वनिभेद-संख्या इस प्रकार समझी जा सकती है—चन्द्र = १, वियत् = ०, अब्धि = ४, ख = ० और वेद = ४ अर्थात् १०४०४ क्योंकि यहां 'अङ्कानां वामतो गतिः' की प्रक्रिया का अनुसरण किया गया है।

शुद्धभेदैः सह ।

(६५)—शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) ॥ ४४ ॥

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते ।

(संशयास्पद ध्वनि-द्वय-साङ्कर्य)

खणपाहुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥ १११ ॥

(क्षणप्राघुणिका देवर जायया सुभग ! किमपि ते भणिता ।
रोदिति गृहपश्चाद्भागवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥ ११ ॥)

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणेऽर्थान्तरे संक्रमितः किमनुरणनन्यायेनोपभोग एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति सन्देहः ।

(ख) यहां सङ्कीर्ण ध्वनि-भेदों की संख्या का निर्णय-प्रकार यह है—५१ शुद्ध ध्वनिभेद × ५१ शुद्ध ध्वनिभेद = २६०१ × ४ विध मिश्रण = १०४०४ सङ्कीर्ण ध्वनि-भेद ।

अनुवाद—अब इन सङ्कीर्ण १०४०४ प्रकार के ध्वनि भेदों और शुद्ध ५१ प्रकार के ध्वनि भेदों का योग करने पर समस्त ध्वनि-भेदसंख्या का निर्णय स्पष्ट किया जा सकता है ।

यह समस्त ध्वनिभेद-संख्या है-१०४५५ ।

टिप्पणी—यहां तात्पर्य यह है—

शुद्ध ध्वनि-भेद = ५१
सङ्कीर्ण ध्वनि-भेद = १०४०४
१०४५५

क्योंकि इन्दु = १, ख = ०, युग = ४, इषु = ५ और शर = ५ अर्थात् = १०४५५ संख्या है समस्त ध्वनि-भेद की संख्या ।

अनुवाद—यहां ध्वनि-साङ्कर्य के केवल निदर्शन के लिये ये उदाहरण दिये जा रहे हैं—

'अरे सुन्दर युवाप्रेमी ! अरे मेरे देवर ! जाओ और उस विचारी को मना आओ जो यहां आयी तो थी थोड़ी देर के लिये, एक अतिथि बन कर किन्तु, तेरी बहू के कुछ कह सुन देने पर, पता नहीं क्यों, घर के पिछवाड़े छज्जे पर बैठी, रोती-सिसकती लग रही है ।'

अब यहां जो ध्वनि है वह वस्तुतः ध्वनि-साङ्कर्य है और ऐसा ध्वनि-साङ्कर्य है जिसमें दो ध्वनियों में सन्देह बना हुआ है । बात यह है कि यहां अविवक्षितवाच्यध्वनिरूप अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिरूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि· इन दोनों ध्वनियों के सन्देह में एक अद्‌भुत ही चमत्कार उत्पन्न हो रहा है क्योंकि यहां जिस 'अनुनय'-'रोना-धोना बन्द करने के लिये मनाने' का निर्देश है उससे दोनों ही अभिप्राय प्रतीत हो सकते हैं—१. 'उपभोग'-'प्रेममिलन' का अभिप्राय क्योंकि 'घर के पिछवाड़े छज्जे पर बैठी रोती उपनायिका' के 'मनाने' के लिये प्रयुक्त 'अनुनय' पद अपने अर्थ में अनुपपन्न होकर, अपने अर्थ से भिन्न अर्थ-अभिनव मिलनरूप-अर्थ को ही तो लक्षित कर सकता है । और २. 'रोदननिवारण' रोना-धोना चुप कराने का अभिप्राय क्योंकि अन्त में इसी से तो यह पता चलता है कि वह देवर और उपनायिका रति-लीला कर चुके हैं । अब जब कि इन दोनों ध्वनियों में दोनों ही ऐसी हैं जिनमें किसी एक पर भी मन निश्चितरूप से नहीं टिक सकता तब तो यही मानना पड़ेगा कि यहां इनका सन्देहरूप साङ्कर्य ही वस्तुतः (कवि की दृष्टि से) अभिप्रेत है ।

(संसृष्टि किंवा अनुग्राह्यानुग्राहक तथा एकव्यञ्जकानुप्रवेशरूप सङ्कर)

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना-
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि ! धीरा भव ॥ ११२ ॥

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः । ताभ्यां सह रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावेन राम-

(उपर्युक्त उदाहरण तो सन्देह-साङ्कर्य का उदाहरण रहा) यह उदाहरण अर्थात्— 'ऊपर तो मेघ दिखाई पड़ रहे हैं—अपनी स्निग्ध और श्यामल शोभा से आकाश को स्निग्ध और श्यामल बना देने वाले और ऐसे जिनमें विचरने वाली बकपंक्ति की शोभा भी विचित्र ही है ! चारों ओर समीर के झोके भी शीतल और मन्द चल रहे हैं । मयूरों की-मेघों के मित्रों की-प्रसन्नता की सूचना देने वाली केका-ध्वनि भी बड़ी मीठी मीठी सुन पड़ रही है । किन्तु इनसे राम को क्या लेना-देना ? राम तो राम है—हृदय का कठोर ! सब कुछ सह लेगा । किन्तु सीता ! ओह उसकी क्या दशा होगी ? सीते ! जहां भी हो, धीरज धरना ।'

ऐसा उदाहरण है जिसे संसृष्टि और साथ ही साथ अनुग्राह्यानुग्राहक और एक-व्यञ्जकानुप्रवेशरूप सङ्कर के द्वारा ध्वनि-सम्मिश्रण के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है । 'संसृष्टि' तो इसलिये क्योंकि 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदाम्' की जो अपनी अपनी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनियां हैं—'लिप्त' में जो व्यङ्ग्य है वह भी अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यरूप व्यङ्ग्य है क्योंकि अमूर्त और कान्ति के अनाश्रयभूत आकाश के 'लेपन' की अन्ततोगत्वा 'व्यापन' रूप लक्ष्यार्थ में ही तो इतिश्री दिखाई देती है जिससे 'आकाश की अधिकाधिक श्यामता' का चमत्कारपूर्ण अर्थ निकल रहा है और 'पयोदसुहृदाम्' का भी व्यङ्ग्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूप ही व्यङ्ग्य है क्योंकि अचेतन मेघ को, उसमें सौहार्द्ररूप मनोवृत्ति के असम्भव होने पर भी, 'सुहृद्' कहने से एकमात्र 'केकाध्वनि के कारण होने का' लक्ष्यार्थ ही तो निकल सकता है जिससे मयूरों की 'अनवरत केका-ध्वनि' का चमत्कारजनक अर्थ निकल पड़ता है—वे परस्पर निरपेक्षरूप से संयुक्त हो रही हैं । 'अनुग्राह्यानुग्राहकरूप' सङ्कर इसलिये क्योंकि 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदाम्' की उपर्युक्त अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूपध्वनियां और 'रामोऽस्मि' से प्रतीत होने वाली 'राम की आत्मनिन्दा' की अर्थान्तरसंक्रमितवच्यरूपध्वनि-'रामोऽस्मि' में अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यरूपध्वनि इसलिये है क्योंकि 'राम' पदमें 'आत्म-निन्दा' का जो व्यङ्ग्यार्थ है वह 'राम' पद के 'दशरथपुत्र' रूप वाच्यार्थ से नहीं अपि तु 'राम' पद के 'दुःख भोगने के लिये ही उत्पन्न एक व्यक्ति' रूप लक्ष्यार्थ से ही तो निकल सकता है—परस्पर सापेक्षरूप से और वस्तुतः अनुग्राह्यानुग्राहकरूप से ही तो एक दूसरे के साथ मिल-जुल रही हैं । यहां 'राम' पद की 'आत्मनिन्दा' की ध्वनि तो 'अनुग्राह्य' हुई क्योंकि यहां ऐसी ही कवि-विवक्षा है और 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदाम्' की ध्वनियां हुईं, उसकी अनुग्राहकरूप ध्वनियां क्योंकि इन्हीं से तो राम के हृदय की रति उद्दीप्त होती हुई 'राम' पद के 'आत्म-निन्दनरूप' व्यङ्ग्यार्थ का परिपोष करती प्रतीत हो रही है ।

यहां 'एकव्यञ्जकानुप्रवेश'रूप संकर भी तो स्पष्ट ही है, क्योंकि एक ही 'राम' पद ऐसा है जिसकी व्यञ्जकता-शक्ति जहां एक ओर 'आत्मनिन्दन'रूप अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनि का प्रत्यायन कराती प्रतीत हो रही है वहां दूसरी ओर 'विप्रलम्भ शृङ्गाररूप रस-ध्वनि से भी सहृदय हृदय को भरती दिखाई दे रही है ।

पदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः। एवमन्यदप्युदाहार्यम्।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थोल्लासः।

उपर्युक्त निदर्शनों का संकेत समझलेने पर अन्यान्य सङ्कीर्णरूप ध्वनियों के उदाहरण स्वयं ढूंढ़ लिये जा सकते हैं।

टिप्पणी—(क) यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनि-सम्मिश्रण के जो उदाहरण दिये हैं और इनमें ध्वनि-सम्मिश्रण का जो विश्लेषण किया है उससे यह तो निःसन्दिग्ध प्रतीत होता है कि मम्मट की ध्वनि-दृष्टि ध्वनिकार के प्रसादरूप ध्वनि-सिद्धाञ्जन से सर्वथा निर्मल हो चुकी थी। 'शुद्ध-ध्वनि' के चमत्कार का विश्लेषण उतना कठिन नहीं, जितना कि 'मिश्रध्वनि' के चमत्कार का हो सकता है।

(ख) ध्वनिकार ने 'खणपाहुणिआ' (क्षणप्राघुणिका) आदि में 'ध्वनिप्रभेदद्वयसम्पातसन्देह' को इस प्रकार स्पष्ट किया था—

'अत्र ह्यनुनीयतामित्येतत्पदमर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन च सम्भाव्यते। न चान्यतरपक्षनिर्णये प्रमाणमस्ति।' (ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत, पृष्ठ ५०३) और 'स्निग्धश्यालकान्तिलिप्तवियतः' आदि में एकव्यञ्जकानुप्रवेशरूप साङ्कर्य का यह स्पष्टीकरण किया था—

'एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यङ्ग्यत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन सम्भवति। यथा–'स्निग्धश्यामल' इत्यादौ। स्वप्रभेदसंसृष्टत्वं च यथा पूर्वोदाहरण एव। अत्र ह्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च संसर्गः।'

(ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत, पृष्ठ ५०४)

(ग) 'स्निग्धश्यामल' आदि सूक्ति में 'राम' पद की ध्वनि-मीमांसा लोचनकार ने इन पंक्तियों में की है जो स्मरण-योग्य हैं—

'रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्यं (रामपदस्य) धर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयम्। तच्चासंख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम्। क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसंख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति।' (ध्वन्यालोक लोचन, उद्योत द्वितीय, पृष्ठ १६९)

चतुर्थ उल्लास समाप्त।



अथ पञ्चमोल्लासः

(व्यञ्जना-प्रतिष्ठापनात्मकः)

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

(६६) अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काकाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

अनुवाद— इस प्रकार (चतुर्थ उल्लास में) 'ध्वनि' संज्ञक (उत्तम) काव्य के स्वरूप-निरूपण कर चुकने पर अब 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक (मध्यम) काव्य का स्वरूपनिर्धारण करने के लिये उसके भेद-प्रभेदों का विवेचन किया जा रहा हैः—

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य के ये आठ प्रकार (ध्वनि-वादी काव्याचार्यों द्वारा) निर्दिष्ट किये गये हैं जैसे कि—

१. जहां व्यङ्ग्यार्थ गूढ न हो अर्थात् ऐसे लोगों द्वारा भी, जो सहृदय हों या न हों, शीघ्र ही पता चल जाय—'अगूढव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य ।

२. जहां व्यङ्ग्यार्थ अन्ततोगत्वा वाक्यार्थरूप से उपस्थित किसी अन्य प्रधानभूत अर्थ का उत्कर्षाधायक बन जाय—'अपराङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य ।

३. जहां व्यङ्ग्यार्थ तो अवश्य हो किन्तु किसी कारणवश अपने आप में पूर्ण न होने वाले वाच्यार्थ की ही सिद्धि अथवा पूर्णता के निदानरूप से रह जाय—'वाच्य-सिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य ।

४. जहां व्यङ्ग्यार्थ ऐसा हो जिसे सहृदय भी स्पष्टरूप से न समझ पावें—'अस्फुट-व्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य ।

५. जहां व्यङ्ग्यार्थ ऐसा हो जिसकी वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधानता सन्देहास्पद बनी रहे—'सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य ।

६. जहां व्यङ्ग्यार्थ ऐसा रहे जिसकी प्रधानता वाच्यार्थ की प्रधानता की अपेक्षा अधिक न प्रतीत हो—'तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य ।

७. जहां व्यङ्ग्यार्थ स्वभावतः नहीं किन्तु 'काकु' अथवा एक विशेष प्रकार के उच्चारण द्वारा (वाक्यार्थ की भांति) शीघ्र प्रकट हो जाय—'काकाक्षिप्तव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य ।

८. जहां व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कारपूर्ण प्रतीत हो—'असुन्दरव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य ।

टिप्पणी—(क) ध्वनि-दर्शन के विना काव्य-सौन्दर्य का साक्षात्कार असम्भव है। काव्य-सौन्दर्य तो व्यङ्ग्यार्थ में रहा करता है। व्यङ्ग्यार्थ यदि चमत्कारपूर्ण हो तब तो कहना ही क्या ! किन्तु यदि व्यङ्ग्यार्थ ऐसा न भी हो, केवल विद्यमान ही हो तब भी तो कवि की कृति सफल ही कही जायगी। वह काव्य जो 'ध्वनि' काव्य है इसीलिये एक विशिष्ट काव्य है, क्योंकि वहां रस-भावादिरूप व्यङ्ग्य की छत्र-छाया छाई रहा करती है। किन्तु 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक काव्य भी अनुपादेय नहीं, क्योंकि यहां वाच्यार्थ चमत्कारजनक भले ही रहे किन्तु उसका जो भी चमत्कार होगा वह वहां पड़े व्यङ्ग्यार्थ के किसी न किसी प्रकार के पुट के ही कारण होगा।

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य वस्तुतः वह काव्य है जिसमें वाच्यार्थ व्यङ्ग्य-विशिष्ट हुआ करता है। यद्यपि यह ठीक है कि 'ध्वनि' काव्य के प्रति सहृदयों का प्रेम स्वभावतः उत्कट हुआ करता है किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य में सहृदय-हृदय के आकर्षण की शक्ति नहीं। 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य तो वस्तुतः 'ध्वनि' का ही एक निष्यन्द है—चाहे व्यङ्ग्यार्थ प्रधान

होकर रहे अथवा अप्रधान होकर रहे–काव्य का आत्मतत्त्व तो है ही। इसमें किसी को क्या आपत्ति कि व्यङ्ग्यार्थ कभी डुबकी लगाले और वाच्यार्थ को सिर उठा कर अपनी सुन्दरता दिखाने दे!'–यह है 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य की सूक्ष्म–मीमांसा जो आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की कृति है।

(ख) आचार्य मम्मट ने इस मीमांसा की ही प्रवृत्तियों का अनुसन्धान करके 'ध्वनि' को उत्तम काव्य और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को मध्यम काव्य के रूप में निरूपित किया है। 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य के जिन आठ प्रकारों का उल्लेख मम्मट ने किया है उनकी रूपरेखा ध्वनिकार और लोचनकार द्वारा ही निर्दिष्ट की जा चुकी है। जैसे कि—

(१) अर्थात् 'अगूढव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य–प्रकार का स्वरूप ध्वनिकार और लोचनकार की इन पंक्तियों में उन्मीलित है:—

'यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहारा कवयो दृश्यन्ते।' (ध्वन्यालोक १. १४)

'वयं तु ब्रूमः–प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यानिगूढतेत्यर्थः। उत्तानेनाऽपि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासन्निगूढतां निधानवदपेक्षत इति भावः।' (ध्वन्यालोक लोचन १. १४)

(२) अर्थात् 'अपराङ्गव्यङ्ग्य' नामक गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का निरूपण इन पंक्तियों में किया गया है:—

'अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य कदाचिद् वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता। यथोदाहृतम्–'अनुरागवतीसन्ध्या' इत्येवमादि। तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशीकृतत्वेन गुणीभावः, यथोदाहृतम्–'सङ्केतकालमनसम्' इत्यादि। रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवदलङ्कारे दर्शितः। तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहनप्रवृत्तभृत्यानुयायि राजवत्। व्यङ्ग्यालङ्कारस्य गुणीभावे दीपकादिविषयः।' (ध्वन्यालोक ३. ३४)

'वाच्यस्यैव स्वात्मोन्मज्जनया निमज्जितव्यङ्ग्यजातस्य सुन्दरत्वेनावभानात्''''''नन्वत्यर्थं प्रधानभूतस्य रसादेः कथं गुणीभावः, गुणीभावे वा कथमचारुत्वं न स्यादित्याशङ्क्य प्रत्युत सुन्दरता भवतीति प्रसिद्धदृष्टान्तमुखेन दर्शयति।' (ध्वन्यालोकलोचन ३. ३४)

(३) अर्थात् 'वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य' नामक गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का संकेत इस विवेचन में स्पष्ट है:—

'येषु चालङ्कारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः।' (ध्वन्यालोक ३.३६)

'उपमा हि 'यथा गौ स्तथा गवयः' इति, रूपकं 'खले वाली यूपः' इति,''''''दीपकं 'गामश्वम्' इति, ससन्देहः 'स्थाणुर्वा स्यादि'ति, अपह्नुतिः 'नेदं रजतमि'ति,''''तुल्ययोगिता 'स्थाघ्वोरिच्च' इति''''अतिशयोक्तिः 'समुद्रः कुण्डिका''''''एवमन्यत् न चैवमादि काव्योपयोगीति, गुणीभूतव्यङ्ग्यतैवात्रालङ्काराणां मर्मभूता।' (लोचन ३.३६)

(४) अर्थात् 'अस्फुटव्यङ्ग्य'रूप गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यप्रकार का रूप यहाँ प्रदर्शित प्रतीत हो रहा है:—

'ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येनाऽप्रतीतिः स नाम मा भूद्ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रतीतिरस्ति''''''तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम्–'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति।''''व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत् समासोक्त्यादिष्वस्ति।'

(ध्वन्यालोक १.१३)

'वैशद्येनेति चारुतया स्फुटतया चेत्यर्थः।'''''' यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव तस्यालङ्कारता। ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति। यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न

रसोन्मुखीभवति, स्वातन्त्र्येणापि तु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं धावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता।' (ध्वन्यालोक लोचन १.१३)

अथवा यहाँ हीः—

'यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः॥' (ध्वन्यालोक ३.३१)

(५) और (६) अर्थात् 'संदिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य' और 'तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य' नामक गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्यप्रकारों का स्वरूप यहाँ उन्मीलित दिखाई दे रहा हैः—

'व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः। समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः॥ व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा। न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥' (ध्वन्यालोक, उद्योत १)

'यत्रेति काव्ये। अलङ्कृतय इति। अलङ्कृतित्वादेव च वाच्योपस्कारकत्वम्। प्रतिभा-मात्र इति। यत्रोपमादौ श्लिष्टार्थप्रतीतिः। वाच्यार्थानुगम इति। वाच्यार्थेनानुगमः समं प्राधान्यमप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः। न प्रतीयत इति। स्फुटतया प्राधान्यं न चकास्ति, अपि तु बलात् कल्प्यते, तथापि हृदये नानुप्रविशति।......तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनि-व्यवहारः, सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य अप्राधान्ये श्लिष्टप्रतीतौ वाच्येन समप्राधान्येऽस्फुटे प्राधान्ये च।' (लोचन, उद्योत १)

(७) अर्थात् 'काकाक्षिप्तव्यङ्ग्य'रूप गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का तो यहाँ स्पष्टतया प्रतिपादन ही किया हुआ हैः—

'अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता॥'

'या चैषा काक्वा क्वचिदर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यङ्ग्यस्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणी-भूतव्यङ्ग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते। यथा—'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः'। '........शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तकाकुसहाया सत्यर्थविशेषप्रतिपत्तिहेतुर्न काकुमात्रम्। विषयान्तरे स्वेच्छाकृतात् काकुमात्रात्तथाविधार्थप्रतिपत्त्यसम्भवात्। स चार्थः वाचक-काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽप्यर्थसामर्थ्यलभ्य इति व्यङ्ग्यरूप एव। वाचकत्वानुगमेनैव तु यदा तद्विशिष्टवाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यतया तथाविधार्थ-द्योतिनः काव्यस्य व्यपदेशः। व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिनो हि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्।' (ध्वन्यालोक ३.३८)

'ककलौल्ये'—इत्यस्य धातोः काकुशब्दः। तत्र हि साकाङ्क्षनिराकाङ्क्षादिक्रमेण पठ्यमानोऽसौ शब्दः प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छतीति लौल्यमस्याभिधीयते। यदि वा ईषदर्थे कुशब्दस्तस्य कादेशः। तेन हृदयस्थवस्तुप्रतीतेरीषद्भूमिः काकुस्तया याऽर्थान्तरगतिः स काव्यविशेष इमं गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारमाश्रितः। अत्र हेतुर्व्यङ्ग्यस्य तत्र गुणीभाव एव भवति।.....अन्ये त्वाहुः—व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽयं प्रकारः, अन्यथा तु तत्रापि ध्वनित्वमेवेति। तच्चासत्, काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन व्यङ्ग्यस्योन्मीलितस्यापि गुणीभावात्।...... स्वस्था इति, भवन्ति इति, मयि जीवति इति, धार्तराष्ट्रा इति च साकाङ्क्षदीप्तगद्गदतार-प्रशमनोद्दीपनचित्रिता काकुरसम्भाव्योऽयमर्थोऽत्यर्थमनुचितश्चेत्यमुं व्यङ्ग्यमर्थं स्पृशन्ती तेनैवोपकृता सती क्रोधानुभावरूपतां व्यङ्ग्योपस्कृतस्य वाच्यस्यैवाधत्ते।' (ध्वन्यालोकलोचन ३.३८)

और इसी प्रकारः—

(८) अर्थात् 'असुन्दरव्यङ्ग्य'रूप गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का निर्देश इन पङ्क्तियों द्वारा हुआ हैः—

'गुणवृत्तिर्हि व्यञ्जकत्वशून्यापि दृश्यते। व्यञ्जकत्वञ्च यथोक्तचारुत्वहेतुं व्यङ्ग्यं विना न व्यवतिष्ठते।' (ध्वन्यालोक ३.३४)

(प्रथम प्रकार–'अगूढव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य)

कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

अगूढं यथा—

(अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यरूप व्यङ्ग्य की अगूढता)

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ॥ ११२ ॥

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ।

'चारुरूपं विश्रान्तिस्थानं, तदभावे,सव्यञ्जकव्यापारो नैवोन्मीलति, प्रत्यावृत्त्यवाच्य एव विश्रान्तेः, क्षणदृष्टनष्टदिव्यविभवप्राकृतपुरुषवत् ।' (ध्वन्यालोक लोचन ३.३४)

(ग) यद्यपि जिस दृष्टि से 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' संज्ञक काव्य का निरूपण ध्वनिकार और लोचनकार ने किया है वही दृष्टि काव्यप्रकाशकार की नहीं, क्योंकि ध्वनिकार और लोचनकार का उद्देश्य 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' में तारतम्य-प्रदर्शन नहीं, अपितु व्यङ्ग्यभूत अर्थ की, उसकी सभी अवस्थाओं में, सारता और सुन्दरता का ही दिग्दर्शन है, किन्तु आचार्य मम्मट ने, इतना तो निस्सन्दिग्ध है कि, ध्वनिकार और लोचनकार द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का ही अनुगमन किया है:—

'वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः, येन ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरलङ्काराणाञ्चासङ्कीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति। अन्यथा तु प्रसिद्धालङ्कारविषय एव व्यामोहः प्रवर्त्तते ।' (ध्वन्यालोक ३.४०)

अनुवाद—व्यङ्ग्य के अगूढ होने का अभिप्राय है उसके स्पष्टरूप से प्रतीत होते रहने का अर्थात् वाच्य की ही भांति विशेष आकर्षक न लगने का। जो व्यङ्ग्य चमत्कारपूर्ण हुआ करता है वह तो अञ्चल में ढंके किसी सुन्दरी के कुचकलश की भांति गूढ रहा करता है। (जिससे उसका सौन्दर्य, घटने की बात तो दूर रहे, बढ़ा करता है), किन्तु इसके विपरीत जो व्यङ्ग्य स्पष्ट प्रकट रहा करे वह तो 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' ही है (क्योंकि या तो उसका अनुभव जिस-किसी को भी अनायास होता रहे या ऐसा हो जिसमें न तो कोई विचित्रता हो और न रञ्जकता)। ऐसे अगूढ व्यङ्ग्य का उदाहरण यह है:—

'कभी जिस मेरे सामने शत्रु राजगण अपने आप को धिक्कारते हुये, मुझ से अपने अपराधों की क्षमा-याचना के लिये, तपी लौह-शलाका से स्वयं अपने कानों को छेदा करते थे, वहीं मैं आज (राजकुमारियों को नृत्य सिखाने में) करधनी के गूंथने का काम उठाये हुये हूं ! मैं जी रहा हूँ, लेकिन अब तो मैं कुछ भी नहीं, मुझसे कुछ भी नहीं हो सकता ।'

यहां ('बृहन्नला' बने अर्जुन की द्रौपदी के प्रति इस युक्ति में) 'जीवन्' इस पद द्वारा प्रकाशित (अत्यधिक अनुतापरूप) जो अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्वरूप व्यङ्ग्य (क्योंकि विना इस व्यङ्ग्य के 'जीवन्न भवामि' 'जीते हुये भी नहीं जी रहा हूँ' ऐसी लाक्षणिक पद-योजना जहां 'जीवन' का अपना अर्थ अनुपपन्न होकर आत्म-सम्मान रक्षण रूप दूसरे अर्थ में परिणत हो रहा है, किस काम का !) वह वस्तुतः अगूढ है—सहृदय और असहृदय-सबके लिये अनायास संवेद्य है (जिससे यहां यह 'ध्वनि'रूप नहीं अपितु 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप ही पड़ा प्रतीत हो रहा है)।

अथवा यह:—

(अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूप व्यङ्ग्य की अगूढ़ता)

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बिबिम्बम् ॥ ११४ ॥

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

(अर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमरूप व्यङ्ग्य की अगूढता)

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि ! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥ ११५ ॥ (१)

अत्र केनाप्यत्रेत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य । 'तस्याप्यत्र' इति युक्तः पाठः ।

(द्वितीय-'अपराङ्गव्यङ्ग्य'-गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य)

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा।

'अरे ! अब तो खिले लाल कमलों के परागों से पीले २ लगने वाले भौंरे गृहवापियों में मधुर गुंजार मचाने लगे हैं और नव विकसित जपा पुष्प के पटल के समान सूर्यबिम्ब भी उदयाचल का चुम्बन करते इतना सुन्दर लगने लगा है।'

यहां 'चुम्बन' पद द्वारा प्रकाशित (उषःकालरूप) जो अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्वरूप व्यङ्ग्य है (क्योंकि अचेतन रवि-बिम्ब में चुम्बन का सम्बन्ध सर्वथा बाधित होकर केवल संयोग मात्र को लक्षित कर रहा है) वह 'अगूढ' है—वाच्यार्थ की भांति अचमत्कारक है—(जिससे यहां यह 'ध्वनि' नहीं, अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कहा जा सकता है)।

अथवा यह:—

'यह स्थान वह है जहां हमें नागपाश में बांधा गया था, यह वह स्थान है जहां तुम्हारे देवर (लक्ष्मण) के (मेघनाद के) शक्ति-अस्त्र द्वारा, वक्षस्थल में भयङ्कररूप से आहत होने पर, हनूमान ने द्रोणाचल को ही (न कि केवल संजीवनी बूटी को) ला पटका था, यह है वह स्थान, जहां लक्ष्मण के दिव्य बाणों द्वारा इन्द्रविजयी मेघनाद मृत्युलोक में पहुंचा दिया गया था और अरी मृगनयनी ! यही वह स्थान है जहां किसी ने राक्षसराज रावण की कण्ठाटवी को काट-छांट कर साफ कर दिया था,

यहां (राजशेखरकृत बालरामायण की इस सूक्ति में) 'केनाप्यत्र' इस पद द्वारा प्रकाश्य जो अर्थशक्तिमूल (रामरूप) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है, वह भी अगूढ ही है—वाच्य-वत् प्रकट है (जिससे इसे 'ध्वनि' नहीं, अपितु 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' ही कहना पड़ता है)। यहां 'तस्याप्यत्र' यह पाठान्तर सर्वथा उपयुक्त होता (क्योंकि तब 'तस्य' इस पद से अनिर्वचनीयरूप से पराक्रमी रावण के बोध से, उसके भी संहारक राम के पराक्रम का अभिप्राय गूढ़ रूप से अभिव्यक्त होता, जिससे यहां 'ध्वनि' की रूप-रेखा सुन्दर लगती।)

व्यङ्ग्य के 'अपराङ्ग' होने का अभिप्राय है उसके अर्थात् रसभावादिरूप असंलक्ष्य-क्रम किंवा वस्तु और अलङ्कार रूप संलक्ष्यक्रम-दोनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ के कहीं अपनी अपेक्षा प्रधानरूप से अवस्थित वाक्यतात्पर्यभूत अन्य किसी रसभावादि-रूप अथवा वस्तु और अलङ्कार रूप ध्वनि के अङ्ग अथवा उपकारक हो जाने का और जब ऐसी बात हो तब प्रधानतया चमत्कारक व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अप्रधानरूप से अवस्थित व्यङ्ग्यार्थ 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नहीं तो और क्या ?)

यथा—

(एक रस की अन्य रस के प्रति अङ्गरूपता)

(प्राचीन आलङ्कारिकों का 'रसवत्' अलङ्कार)

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥ ११६ ॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

(रस की भाव के प्रति अङ्गरूपता)

(प्राचीन आलङ्कारिकों का 'रसवत्' अलङ्कार)

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्त्तितालक्तक-
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥ ११७ ॥

अत्र भावस्य रसः ।

(एक भाव की अन्य भाव के प्रति अङ्गरूपता)

(प्राचीन आलङ्कारिकों का 'प्रेयस्' अलङ्कार)

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधयः
तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यन्नमः ।

उदाहरण के लिये :—

'यही वह हाथ है जो पहले कभी रतिलीला में करधनी खींचता रहा ! पीन कुचों को मसलता रहा ! नाभि, नितम्ब और जंघा का स्पर्श करता रहा ! नीवी को ढीला करने में उत्सुक रहता रहा ! और अब ! (अब तो केवल रुलाने-कलपाने के लिये कटा-पड़ा दीख रहा है ।),

यहां (महाभारत-स्त्रीपर्व अध्याय २४ की इस सूक्ति में) जो शृङ्गार रस-वस्तुतः मृत भूरिश्रवा की प्रेमिकाओं और पत्नियों का पूर्वानुभूत रतिभाव-उपनिबद्ध है वह यहां प्रधानतया विवक्षित (किंवा आस्वादगोचर) करुण रस के अङ्गरूप से-पोषकरूप से-ही उपनिबद्ध है (जिससे उसे 'ध्वनि' नहीं किन्तु 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' ही माना जा सकता है) ।

अथवा—

'पार्वती के चरण-नख की वह कान्ति, जिसमें अलक्तक की लाली (मानभङ्ग के लिये पैरों पर पड़े) कलासपति शङ्कर के तृतीय नेत्र की लाली से लगायी हुई सी लगा करती है, जिसके द्वारा पार्वती के नेत्रों की-(मान के कारण) लाल कमल सरीखे नेत्रों की-घनी लाली, एक होड़ में पड़कर, सहसा दूर भगायी जाया करती है, आप सबका सदा कल्याण करती रहे ।'

यहां (पार्वती-विषयक इस सूक्ति में) जोरस (अर्थात् पार्वतीविषयक शिवनिष्ठ शृङ्गार रस) है वह वस्तुतः (चमत्कारकारक) एक भाव के-कविनिष्ठ पार्वतीविषयक भक्तिभाव के-अङ्गरूप से अवस्थित है (इसलिये 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' ही कहा जायगा न कि 'ध्वनि') ।

अथवा—

'राजन् ! जैसे ही विस्मय-विभोर मैं पृथिवी की स्तुति प्रारम्भ करता हूँ—'हे सर्वधात्री ! चारों ओर इतने भारी भारी पहाड़, इतने बड़े बड़े समुद्र और इन सबको धारण करने वाली तू ! लेशमात्र भी तुझे कष्ट नहीं !' कि इतने में ही इस पृथिवी को भी धारण

आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुवः
तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥ ११८ ॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।

(रसाभास और भावाभास की एक भाव के प्रति अङ्गरूप से अवस्थिति)

(प्राचीन आलङ्कारिकों का 'ऊर्जस्वी' अलङ्कार)

बन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोनिपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥ ११९ ॥

अत्र भावस्य रसाभास-भावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ ।

(भावशान्ति की भाव के प्रति अङ्गरूपता)

(प्राचीन आलङ्कारिकों का 'समाहित' अलङ्कार)

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥ १२० ॥

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

करने वाले तुम्हारे भुजदण्ड का स्मरण हो उठता है और तब ? तब तो पृथिवी की स्तुति करने वाली मेरी वाणी सहसा स्तब्ध होकर रुक जाती है ।'

यहां जो भाव अर्थात् पृथिवी के प्रति कवि का भक्तिभाव निबद्ध है वह 'अपराङ्ग-व्यङ्ग्य'रूप से निबद्ध है क्योंकि वह वस्तुतः कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव का ही अन्त में परिपोष करता प्रतीत हो रहा है ।

अथवा—

'महाराज ! जब आपके सैनिक आपके शत्रु-नारियों को बन्दी बनाकर, उनके पतियों के सामने, उनके देखते हुये, अपने बाहु-पाश में बांधने लगते हैं, उनका मान दूर करने के लिये पैरों पर गिरकर रिझाने लगते हैं, अपने वश में करने के लिये पकड़ने लगते हैं और कामोन्मत्त होकर चूमने लगते हैं तब आपके शत्रु आप की स्तुति प्रारम्भ कर देते हैं—'राजन् ! आप के ऐसा न्यायोचित कर्त्तव्य-परायण भला और कौन ? कितने भाग हमारे कि दर्शन दिये और सारे ताप-सन्ताप हरण कर लिये ।'

यहां यह स्पष्ट है कि प्रथमार्ध (अर्थात् 'बन्दीकृत्य'''सैनिकाः') में प्रकाशित रसाभास (क्योंकि परस्त्रीविषयक रतिभाव रस नहीं अपितु रसाभास है) और द्वितीयार्ध 'अस्माकं''स्तूयसे' में प्रकाशित भावाभास (क्योंकि शत्रुनिष्ठ प्रकृतराजविषयक प्रीतिभाव भाव कहां ? वह तो भावाभास है)—दोनों वस्तुतः यहां (प्रधानतया अभिव्यङ्ग्य, प्रकृत राजविषयक) कविगत रतिभाव के परिपोषक होने के कारण,अङ्गरूप से-अप्रधानरूप से-ही उपनिबद्ध है ।

अथवा—

'राजन् ! आपके शत्रुओं का तलवार भांजने, भौंहे तानने, ललकार उठने और सिंहनाद करने का सारा घमण्ड आपके सामने पड़ते ही,एक क्षण में ही,पता नहीं, कहां चला गया !'

'यहां जो भावशान्ति अर्थात् शत्रुओं के 'मद' संज्ञक गर्वरूप भाव का प्रशम उपनिबद्ध है वह वस्तुतः भाव का-कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव का-ही चमत्कार-वर्धक है (इसलिये अर्थात् 'अपराङ्ग' होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप है न कि व्यङ्ग्य)।

अथवा—

(भावोदय का भाव के प्रति अङ्गभाव)

(प्राचीन आलङ्कारिकों का 'भावोदय' अलङ्कार)

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां
कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते।
अन्याभिधायि तव नाम विभो! गृहीतं
केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥ १२१ ॥

अत्र त्रासोदयः।

(भावसन्धि की भाव के प्रति अङ्गरूप से उपस्थिति)

(प्राचीन आलङ्कारिकों का 'भावसन्धि' अलङ्कार)

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः।
प्रमोदं वो दिश्यात्कपटबटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥ १२२ ॥

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः।

(भावशबलता की भाव के प्रति अङ्गरूपता)

(प्राचीन आलङ्कारिकों का 'भावशबलता' अलङ्कार)

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥ १२३ ॥

'राजन्! जैसे ही आपका शत्रु, अपने मित्रों को साथ लेकर, सुन्दरियों के संग, पान-गोष्ठी का आनन्द मनाने लगा कि किसी के द्वारा, किसी अन्य अभिप्राय में, आपके नाम के वाचक पद के बोलते ही, उसकी वहीं, ऐसी दशा हो गयी कि बस उससे बुरी दशा और क्या होगी।'

यहां यह स्पष्ट है कि जो भावोदय-वस्तुतः (शत्रुराजनिष्ठ) त्रासरूप भाव का उदय-उपनिबद्ध किया गया है वह (अन्ततोगत्वा) कविगत राजविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से ही उपनिबद्ध है (और इसलिये गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप ही है)।

अथवा—

'वे मदनान्तक महादेव, जो कोमलाङ्गी पार्वती के कष्टसाध्य तप का सहन न कर सकते हुये और पार्वती की सखी-गोष्ठियों में प्रकट अपने प्रति उसके प्रेम के भांपने में सदा उत्सुक रहते हुये, अपने कपट ब्रह्मचारी-वेश के दूर हटाने में एक साथ ही त्वरा और शिथिलता के वशीभूत रह चुके हैं, आप सबका आनन्द-मंगल करते रहें।'

यहां जो 'भावसन्धि' अर्थात् शिवगत (त्वरा और शैथिल्य इन-पदों द्वारा प्रकाशित) 'आवेग' और 'धैर्य' रूप भावों की सन्धि है वह अन्ततोगत्वा कविनिष्ठ शिवविषयक रति-भाव का ही चमत्कार-वर्धक है (जिससे अर्थात् 'अपराङ्ग' होनेके कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य है)।

अथवा—

'हे राजराजेश्वर! वनवास लेने वाले आपके शत्रु-राज की कोई राजकुमारी जब कोई फल अथवा पत्र-पुष्प (खाने अथवा अलङ्कार बनाने के लिये) लेना चाहती है तो किसी अजनवी से 'अरे! कोई देख लेगा; चलो-हटो यहां से, तुम इतने चञ्चल! ऐसा न करो अभी मैं कुमारी हूँ' ओह! थोड़ा हाथ का सहारा दो, आह! यह क्या कर दिया, अरे! अब छोड़ के कहां चल पड़े?, 'यह सब बोलती सुनायी पड़ती हैं।'

अत्र शङ्काऽसूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता ।

('अपराङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य में प्राचीन अलङ्कारशास्त्र सम्मत 'रसवत्' आदि अलङ्कारों का अन्तर्भाव)

एते च रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम् ।

(ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के निश्चय का नियामक)

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः, यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्रभेदा-

---

यहां यह स्पष्ट है कि जो भावशबलता अर्थात् 'शङ्का' ('पश्येत् कश्चित्' में प्रकट), 'असूया' ('चल चपल रे' में प्रकट), 'धृति' ('कारवरा' में विवक्षित), 'स्मृति' ('अहं कुमारी' में विवक्षित), 'श्रम' ('हस्तालम्बं वितर' में प्रकाशित), 'दैन्य' ('ह ह हा' में अभिव्यक्त) 'विबोध' ('व्युत्क्रम' में अभिव्यक्त) और औत्सुक्य ('क्वासि यासि' में प्रकाशित)–इन भावों में पूर्व पूर्ववर्ती भाव को दबा कर उत्तरोत्तरवर्ती भाव की स्पर्धा-उपनिबद्ध प्रतीत हो रही है वह एक मात्र कविनिष्ठ प्रकृतराजविषयक रतिभाव के ही परिपोष के लिये है (और इस प्रकार 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप है)।

यहां किसी एक रसभावादिरूप व्यङ्ग्य के, अन्य किसी रस भावादि रूप व्यङ्ग्य की प्रधानता में, गुणीभाव के जो ये प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं वे ही (प्राचीन अलङ्कार शास्त्र में) रसवत् आदि (अर्थात् प्रेय–ऊर्जस्वि और समाहित) अलङ्कार के रूप में प्रतिपादित होते रहे हैं। वैसे तो प्राचीन अलङ्कार शास्त्र में 'भावसन्धि' और 'भावशबलता' को अलङ्कार रूप में नहीं गिनाया गया (क्योंकि वहां रस के गुणीभूत होने से 'रसवत्', भाव के गुणीभाव में प्रेय, रसाभास और भावाभास के अप्रधान होने से 'ऊर्जस्वी' और भावशान्ति की अप्रधानता में 'समाहित'–ये चार ही अलङ्कार माने गये हैं) किन्तु यहां इन्हें भी अलङ्कार रूप से इसलिये बता दिया गया (और ऐसा बताकर इन्हें भी अपराङ्ग व्यङ्ग्यरूप गुणीभूत व्यङ्ग्य सिद्ध किया गया) कि सम्भव है कोई आलङ्कारिक (प्राचीन आलङ्कारिक–मान्यता के अनुसरण में) इन्हें अलङ्काररूप से प्रतिपादित करे अथवा करना चाहे।

टिप्पणी—प्राचीन अलङ्कार शास्त्र में 'अलङ्कार' और 'अलङ्कार्य' का विवेचन न किये जाने से रसभावादि को अलङ्काररूप ही माना गया था क्योंकि इनमें भी अलङ्कार की रूपरेखा–काव्य की शोभावर्द्धकता–मानली गयी थी। आचार्य दण्डी ने (काव्यानुशासन २. २७५ में) स्पष्ट कहा है—

'प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम् । ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम् ॥'

अलङ्कारसर्वस्वकार ने तो भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को भी अलङ्कार ही प्रतिपादित किया है—

'रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत् प्रेय ऊर्जस्विसमाहितानि' 'भावोदयो भावसन्धिर्भावशबलता च पृथगलङ्काराः।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २३२, २३८)

ध्वनि-दर्शन में, 'रसभाव' को, चाहे वह किसी अवस्था में हो, प्रधान रूप से उपनिबद्ध हो अथवा अप्रधान रूप से उपनिबद्ध हो–अलङ्कार की कोटि में रखना 'काव्य' की अनभिज्ञता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं माना गया। इसलिये यहां आचार्य मम्मट ने रसवदादि का गुणीभूत-व्यङ्ग्यकाव्य के 'अपराङ्ग' व्यङ्ग्य नामक प्रभेद में अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है जिसका तात्पर्य यही है कि रस–भाव यदि अप्रधानतया भी कहीं निबद्ध है तो भी उन्हें वहां अलङ्कार नहीं, अपितु 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' ही कहना उचित है।

अनुवाद—**यहां (प्रसक्तानुप्रसक्त्या) यह बता देना आवश्यक है कि वैसे तो कोई भी ऐसा सन्दर्भ नहीं जहां 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' में अर्थात् उनके अपने, अपने**

दिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति, तथाऽपि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती'ति क्वचित्केनचिद्व्यवहारः।

(शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की वाच्य के प्रति अङ्गरूपता)

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता॥ १२४॥

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः।

सजातीय और विजातीय भेद-प्रभेदों में 'संकर' (अङ्गाङ्गिभाव) अथवा 'संसृष्टि' (उभय-प्राधान्य में अवस्थिति) की सम्भावना न हो किन्तु तब भी किसी को 'ध्वनि' अथवा किसी को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' जो कहा जाया करता है (अथवा जैसा कि यहीं यथा स्थान कहा जा चुका है) वह इसी लिये कि जहां जिसकी प्रधानता हो, जिसका चमत्कार अधिक हो, वहां उसी का निश्चय और निरूपण करना उचित है क्योंकि सिद्धान्त है-'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' (इस प्रकार जहां प्रधानतया अवस्थित व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कार पूर्ण होगा वहां 'ध्वनि' और जहां गुणीभूत व्यङ्ग्य का ही अधिक सौन्दर्य होगा वहां 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य' कहना सर्वथा निर्विवाद सिद्ध है)।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इस मान्यता का अनुसरण किया है:—
'प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते। विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना॥'

'सङ्कीर्णो हि कश्चित् ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः। तत्र यस्य युक्ति सहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः। न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्। यथा—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहास पूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥

...इत्यत्र 'निर्वचनं जघान' 'न किञ्चिदूचे' इति प्रतिषेधमुखेन व्यङ्ग्यस्यार्थस्योक्त्या किञ्चिद् विषयीकृतत्वात् गुणीभाव एव शोभते। (ध्वन्यालोक ३. ३९)

अनुवाद—ओह! मैंने (स्वर्ण मृग-मारीच-के पाने की आशा की भांति) स्वर्ण-धन-सम्पति की मृगतृष्णा (निष्फल आशा) से अन्धा बन कर (जनस्थान-दण्डकारण्य के समान) ग्राम-ग्राम और नगर-नगर छान डाला, पग-पग पर रोनी सूरत बनाये (जैसे राम रो-रो कर सीता को 'वैदेहि!' पुकारा किये) मैंने भी वैदेहि' 'कुछ भी दे दो' बोल बोल कर सबको पुकारा, धनिकों की 'वदन परिपाटी' में व्यर्थ की बातों में, न जाने मैंने भी कितनी झूठ मूठ की बातें मिला डालीं (वैसे ही जैसे राम ने लङ्कापति रावण की मुखपङ्क्ति में अपनी इषु-घटना-बाण-योजना कर डाली) यह सब कुछ तो हुआ और मैंने राम का रूप भी पालिया किन्तु 'कुश-लवसुतो'! (कुश और लव जिसके सुत हों, उसकी सीता की भांति) सुखसाधनभूत धन समृद्धि! वह कभी न मिल पायी!'

यहां शब्दशक्ति की महिमा से (तीनों चरणों में प्रकाशित) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप प्रकृत-कवि का अपकृत-राम के साथ जो उपमानोपमेयभाव प्रतीत हो रहा है वह 'ध्वनि' नहीं अपि तु 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' ही है क्योंकि अन्ततोगत्वा यह 'वाच्य' का ही-वस्तुतः मयाप्तं रामत्वम्'-रामरूपता की प्राप्तिरूप वाच्यार्थ का ही-अङ्ग अथवा उपकारक बना दिखायी दे रहा है। इसी प्रकार यहां अर्थात्—

आगत्य संप्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।
एनां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि ! पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥ १२५ ॥

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः ।

(२ 'वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्य' गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य)

वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥ १२६ ॥

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।

यथा वा—

'अरी सुन्दरी ! यह देख, यह सहस्ररश्मि–सूर्य, पता नहीं रात कहाँ बिता कर, इस प्रभातवेला में लौटा हुआ, अपने वियोग में दीन–हीन बनी कमलिनी को, 'पादपतन' के द्वारा–पैरों पर गिर कर अनुनय–विनय करने के द्वारा (किरणों के बिखेरने के द्वारा) धीरे धीरे मनाता दिखाई दे रहा है—विकसित करता लग रहा है ।'

इसमें अर्थशक्ति की महिमा से जो वस्तुरूप संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य, नायक–नायिका का व्यवहार अभिव्यक्त हो रहा है वह 'ध्वनि' नहीं अपितु 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' ही कहा जायगा क्योंकि अन्ततोगत्वा यह सब यहां वस्तुतः इस व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा न रखने वाले रवि–कमलिनी वृत्तान्तरूप वाच्यार्थ में ही, आरोप्य–आरोप्यमाण–भाव सम्बन्ध से अङ्गरूप ही बना प्रतीत हो रहा है—अपराङ्ग व्यङ्ग्यरूप ही लग रहा है (क्योंकि यहां जो चमत्कार है वह व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत वाच्य का–समासोक्ति अलङ्कार रूप वाच्यार्थ का–चमत्कार है न कि आगे प्रतिपादित वाच्यसिद्ध्यङ्गरूप व्यङ्ग्य की यहां कोई सम्भावना है । वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्य की सम्भावना इसीलिये नहीं, क्योंकि यहां जो नायक–नायिका व्यवहाररूप व्यङ्ग्यार्थ है वह रवि–कमलिनी वृत्तान्तरूप वाच्यार्थ का शोभावर्धक मात्र है न कि ऐसा कि जिसके बिना वाच्यार्थ ही निष्पन्न न हो रहा हो !)

'व्यङ्ग्य' वहां भी 'गुणीभूत' ही रहा करता है (और मध्यम काव्यरूप ही माना जाया करता है) जहां 'वाच्यसिद्ध्यङ्ग' हो—वाच्य की ही प्रतीति का निश्चायक हो । जैसे कि—

'मेघरूप भुजङ्ग (सर्प) से उत्पन्न वे विषरूप वर्षा की बूँदे वियोगिनियों के लिये तो सहसा 'भ्रमि'–मानसिक अशान्ति 'अरति'–विषयभोग में अरुचि, 'अलसहृदयता'–उदासीनता, 'प्रलय'–निश्चेष्टता, 'मूर्च्छा'–चित्त की शून्यता, 'तम'–सर्वत्र अंधेरापन, 'शरीरसाद'–देह पीड़ा और अन्ततोगत्वा 'मरण'–प्राणनाश सब कुछ कर डालने में समर्थ हैं ।'

यहां यह अवश्य है कि 'विषम्'–इस पद में हालाहल रूप व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है किन्तु इसे 'ध्वनि' नहीं अपितु 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' ही कहा जायगा क्योंकि यह तो यहां प्रतिपादित वाच्य–वस्तुतः 'जलदभुजग' में रूपक–बन्ध–की ही (क्योंकि कवि का अभिप्राय यहां रूपक की ही सुन्दरता दिखाना है) सिद्धि–निष्पत्ति–का कारण बन गया है—वाच्यसिद्ध्यङ्ग बन गया है । (यदि व्यङ्ग्य को यहां रूपक का निश्चायक–वाच्यसिद्ध्यङ्ग न मानें तब तो 'जलद इव भुजगः' इस पूर्वपदार्थप्रधान उपमित समास में उपमा अलङ्कार की आपत्ति हो जायगी, जो यहां विवक्षित नहीं) ।

अथवाः—

गच्छाम्यच्युत ! दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन्पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥ १२७ ॥

अत्राच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य। एतच्चैकत्रैकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः।

(४ 'अस्फुटव्यङ्ग्य'-गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य)

अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥ १२८ ॥

अत्रादृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम्।

(५ 'सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य'-गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य)

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

'अरे अच्युत ! मुझे जाने दो, तुम्हारे दर्शन-मात्र से तो मुझे कुछ मिल नहीं जाता ! साथ ही साथ यहां इस एकान्त में मुझे और तुम्हें एक साथ देख कर ऐसे-वैसे लोग, न जाने, क्या क्या समझें !'-इस प्रकार आमन्त्रण (सम्बोधन) और भावभङ्गी द्वारा अपने व्यर्थ के लिये (क्योंकि सार्थकता तो रति सुख में होती) रुकने अथवा रोके जाने की वेदना से विह्वल देहवाली गोपी को बाहु-पाश में पकड़े और आनन्द से रोमाञ्चित अङ्ग वाले कृष्ण भगवान् आप सब का मङ्गल करते रहें।'

इस सूक्ति में भी 'अच्युत' आदि पदों द्वारा जो व्यङ्ग्य-वस्तुतः 'सम्भोग-कामना वाली सुन्दरी के प्रति वैमुख्य' रूप व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है वह 'ध्वनि' नहीं अपितु 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' ही है क्योंकि इसके द्वारा 'इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्' इस वाच्य की ही सिद्धि की जा रही है (क्योंकि बिना इस व्यङ्ग्यार्थ के यहां कवि द्वारा उपनिबद्ध गोपी का 'इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा'-यह विशेषण ही कहां सार्थक सिद्ध हो रहा है !)

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में अपनी अपनी एक विशेषता यह है कि जहां एक में अर्थात् 'अमिमरतिमलसहृदयताम्' आदि में कवि रूप एक ही वक्ता है वहां दूसरे में अर्थात् 'गच्छाम्यच्युत' आदि में दो दो वक्ता है क्योंकि पूर्वार्ध में जो 'वक्ता' है वह गोपी है और उत्तरार्ध में जो 'वक्ता' है वह कवि है। (किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का, वाच्यार्थ का निश्चायक—गुणीभूत व्यङ्ग्य—होना दोनों में एक समान ही है।)

'व्यङ्ग्य' वहां भी गुणीभूत-अप्रधानरूप व्यङ्ग्य ही कहा जाता है जहां वह स्वभावतः स्पष्टतया न प्रतीत हो पाय। जैसे कि यहां (अर्थात् इस सूक्ति में)

'प्रियतम ! जब तक तुम्हें न देखूं, देखने की लालसा लगी रहती है ! जब देख पाऊँ, वियोग का डर लग जाता है ! ऐसा लगता है कि न तो तुम्हें देखे शान्ति है और न बिना देखे ही।' जहां यह व्यङ्ग्यार्थ अर्थात् 'प्रियतम ! ऐसा करो कि दर्शन भी मिले और कभी वियोग भी न हो' निकलता तो अवश्य है किन्तु 'अस्फुट' है—सहृदय हृदय में भी कष्ट कल्पना द्वारा प्रतीत हो पाता है (जिससे इसे 'ध्वनि' नहीं किन्तु 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' ही कहना युक्तियुक्त है।)

'व्यङ्ग्य' वहां भी 'गुणीभूतव्यङ्ग' ही है (न कि ध्वनि) जहां उसकी और वाच्यार्थ की चमत्कारजनकता में सन्देह बना रहता है। जैसे कि यहां (अर्थात् कुमार-सम्भव, तृतीय सर्ग की इस सूक्ति में।

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ १२६ ॥

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

(६ 'तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य'–गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य)

तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ १३० ॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसः क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

(७ 'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य'–गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य)

काक्वाक्षिप्तं यथा—

'चन्द्रोदय के आरम्भ में अम्बुराशि के समान महादेव भी कुछ कुछ धैर्य खोने लगे और उमा के बिम्बाधर–सुन्दर मुख पर अपनी आंखों को घुमाते–फिराते दीख पड़ने लगे ।' यह सन्देह बना रह जाता है कि 'उमा के मुख को चूम लेने की इच्छा' का व्यङ्ग्यार्थ अधिक सुन्दर है—या 'उमा के मुख–दर्शन में नेत्रों की विविध चेष्टा का वाच्यार्थ अधिक सुन्दर है (क्योंकि कवि ने यहां कोई ऐसी साधक–बाधक युक्ति नहीं देनी चाही जिससे या तो यह सिद्ध हो कि यहां नेत्रचेष्टा और धैर्यच्युति के अनुभावों से चुम्बन में औत्सुक्यादि व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति होकर शिवनिष्ठ पार्वती विषयक रतिभाव की चर्वणा अभिप्रेत है या सीधे शिवनिष्ठ पार्वती विषयक रतिभाव के असाधारण अनुभाव रूप से वर्णित नेत्रचेष्टा और धैर्यच्युति के द्वारा ही शृङ्गार रसास्वाद विवक्षित है। दोनों में अर्थात् चुम्बनौत्सुक्य के व्यङ्ग्यार्थ में और नेत्र–चेष्टारूप अनुभाव के वाच्यार्थ में यह सन्देह है कि कौन अधिक सुन्दर है । इसलिये यहां चुम्बनौत्सुक्यरूप व्यङ्ग्य को कैसे प्रधान माना जा सके जिससे यहां 'ध्वनि' सिद्ध हो ! इसे तो गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कहना पड़ता है !)

'व्यङ्ग्य' वहां भी गुणीभूतव्यङ्ग्य है (ध्वनि नहीं) जहां उसके और वाच्यार्थ के चमत्कार में कोई भी न्यूनाधिकता न दिखाई दे । जैसे कि यहां (अर्थात् महावीरचरित में, परशुराम द्वारा रावण के प्रति प्रेषित पत्र की, इस उक्ति में):—

'राक्षसराज ! यह तो तुम्हारा ही गौरव है कि तुम ब्राह्मण का अपमान नहीं किया करो। नहीं तो तुम्हारा इतना बड़ा मित्र, यह परशुराम–क्षुब्ध हृदय न हो जाय ।' जहां 'मेरी बात न मानने से जैसे क्षत्रियों का मेरे द्वारा सर्वनाश किया गया वैसे ही राक्षसों का भी क्षण भर में सर्वनाश कर दिया जायगा' यह व्यङ्ग्यार्थ और 'राक्षसराज के गौरव-निवेदन तथा अपने सौहार्द–सूचन' का वाच्यार्थ–दोनों के दोनों समानरूप से ही चमत्कार-जनक प्रतीत हो रहे हैं (जिससे व्यङ्ग्य को गुणीभूत ही मानना उचित जान पड़ता है क्योंकि यहां कवि ने विग्रह और सन्धि के व्यङ्ग्यरूप और वाच्यरूप अभिप्रायों में किसी भी एक को गौण नहीं माना है ।)

वह व्यङ्ग्य जो काकु–ध्वनिविकार–के द्वारा शीघ्र ही प्रतीत हो जाय 'ध्वनि' नहीं अपितु 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' कहा जाता है जैसे कि यहां (अर्थात् वेणीसंहार नाटक, प्रथम अङ्क की इस सूक्ति में):—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥ १३१ ॥

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम्।

(८ 'असुन्दरव्यङ्ग्य'-गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य)

असुन्दरं यथा—

वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥ १३२ ॥

(वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वा सीदन्त्यङ्गानि ॥ १३२ ॥)

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम्।

('गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य के अन्य अवान्तर भेद)

(६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

'सहदेव! संग्राम में कौरवकुल का सहार मैं तो नहीं करूँगा न! दुःशासन के वक्षस्थल का रक्त मैं तो नहीं पीऊँगा न! दुर्योधन का जङ्घा-भङ्ग मैं तो गदा से नहीं करूँगा न! जाओ! तुम लोगों के राजा युधिष्ठिर को कर लेने दो पांच ग्रामों पर सन्धि!'

यहां 'काकु' के द्वारा 'अवश्य संहार करूँगा, 'अवश्य रक्त पीऊँगा और अवश्य जङ्घा भङ्ग करूँगा' यह व्यङ्ग्यार्थ निकल तो अवश्य रहा है (क्योंकि युधिष्ठिर की सन्धि-नीति से क्रुद्ध तथा कुरुकुल-विनाश की प्रतिज्ञा कर चुकने वाले भीम के लिये 'न मथ्नामि' आदि निषेधात्मक उक्तियां विरुद्ध हैं, जिससे 'न' पर सर्वत्र 'काकु'-ध्वनि विकार-स्पष्ट है जिसका परिणाम है निषेध के भाव का अभाव-'न मथ्नामीति न' अर्थात् 'मथ्नाम्येव' आदि रूप से कुरुकुल-संहार की प्रतिज्ञा पर अटल रहने का निर्णय) किन्तु इस काकु-व्यङ्ग्य (कुरुकुल-विनाश-व्रतरूप) अर्थ की प्रतीति जितनी अविलम्ब हो रही है उतनी ही अविलम्ब हो रही है यहां प्रतिपादित (कुरुकुल-विनाश-व्रत-भङ्गरूप) वाच्यार्थ की भी प्रतीति (और वस्तुतः बात तो यह है कि विना इस काकाक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ की अविलम्ब प्रतीति के यहां वच्यार्थ ही पूर्ण नहीं हो पा रहा क्योंकि भीम के द्वारा 'न मथ्नामि' आदि का कथन संगत कैसे ?)

वह व्यङ्ग्यार्थ भी गुणी भूतव्यङ्ग्य ही है जो कि वाच्य की अपेक्षा सुन्दर न प्रतीत हो जैसे कि यहां:—

'वेतसी-कुञ्ज से उड़ने वाले पक्षियों का कलरव सुनते ही, घरेलू काम काज में लगी, इस सुन्दरी के अङ्ग रह रह कर व्याकुल होते दिखाई दे रहे हैं।

जहां 'कोई कामुक युवक वेतसी-कुञ्ज में आ पहुंचा'-यह व्यङ्ग्यार्थ निकल तो निःसंदेह रहा है किन्तु इसका चमत्कार वैसा कहां जैसा कि यहां 'अङ्ग २ में सिहरन' के वर्णनरूप वाच्यार्थ का चमत्कार है! (तात्पर्य यह है कि यहां व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के बाद भी बिना इसकी किसी प्रकार की अपेक्षा के ही 'अङ्गावसाद' रूप वाच्यार्थ ही विप्रलम्भभाव का पोषक और इसलिये कवि की विवक्षा का विषय प्रतीत हो रहा है।

यहां यह जान लेना आवश्यक है कि 'ध्वनि' की ही भांति गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के भी (पूर्व-प्रतिपादित आठ प्रकारों के अतिरिक्त) यथासंभव कतिपय अन्य भेद

यथायोगमिति । 'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा । ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥' इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ॥

(गुणीभूतव्यङ्ग्य और ध्वनि के परस्पर संमिश्र अनेकानेक भेद-प्रभेद)

(६८) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः ।

सालङ्कारैरिति । तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः, तदुक्तं ध्वनिकृता—

भी हुआ करते हैं (अभिप्राय यह है कि जैसे 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्व' आदि की विशेषताओं से ध्वनिकाव्य के शुद्ध भेद-प्रभेद संभव हैं वैसे ही गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के भी, और जैसे 'संकर' अथवा 'संसृष्टि' की संभावनाओं में ध्वनि के अनेकों संकीर्णरूप अवान्तरभेद हो सकते हैं वैसे ही गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के भी ।)

यहां (कारिका में) 'यथायोगम्'-'यथासंभव का अभिप्राय यह है कि जैसे 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' की संभावना वहां नहीं की जासकती जहां वस्तु-केवल (अनलंकृत) वस्तुरूप वाच्य-के द्वारा अलङ्काररूप व्यङ्ग्य का प्रत्यायन हो रहा हो' क्योंकि ध्वनिकार की यहां यही धारणा है:—

'जब कि (अनलंकृत) वस्तुरूप वाच्य के द्वारा अलङ्कारों का अभिव्यञ्जन हो रहा हो तब यह निश्चय ही मान लेना चाहिये कि ये अभिव्यङ्ग्य अलङ्कार 'ध्वनि' हैं (न कि गुणीभूतव्यङ्ग्य) क्योंकि यहां जो भी काव्यगत सौन्दर्य है वह इन्हीं पर निर्भर है।'

(ध्वन्यालोक २.२९),

टिप्पणी—आचार्य मम्मट का यहां अभिप्राय यह है कि गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य के ४२ मुख्य भेद संभव हैं जब कि ध्वनिकाव्य के ५१ मुख्य भेद हुआ करते हैं क्योंकि गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य में वस्तुव्यङ्ग्य-अलङ्कार-निरूपित ९ भेद नहीं हो सकते। वस्तुव्यङ्ग्य-अलङ्कार-निरूपित ९ भेद का अभिप्राय है:—

१. पदगत-स्वतःसंभवि-वस्तुव्यङ्ग्यालङ्काररूप ।
२. वाक्यगत- ,, ,, ,,
३. प्रबन्धगत- ,, ,, ,,
४. पदगत-कविप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तु व्यङ्ग्यालङ्काररूप ।
५. वाक्यगत- ,, ,, ,,
६. प्रबन्धगत- ,, ,, ,,
७. पदगत-कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तु व्यङ्ग्यालङ्काररूप ।
८. वाक्यगत- ,, ,, ,, ,,
९. प्रबन्धगत- ,, ,, ,, ,,

इस प्रकार अष्टविध गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य में प्रत्येक के ४२ भेद होने से गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के शुद्ध भेद हो गये । (४२×८)=३३६ ।

अनुवाद—**साथ ही साथ यहां यह भी जानना आवश्यक है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य के इन शुद्ध भेद-प्रभेदों का, जो कि स्वयं अलङ्कार (जैसे कि समासोक्ति-रसवत् आदि काव्य-सौन्दर्याधायक) रूप भी हो सकते हैं और अलङ्कार सहित (उपमादि अलङ्कारों से युक्त) भी, 'संकर' (एक प्रकार) और 'संसृष्टि' (तीन प्रकार) की संभावनाओं में 'ध्वनि' के साथ (अर्थात् ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों के साथ) संमिश्रण भी संभव है ।**

यहां (कारिका में) 'सालङ्कारैः' का तात्पर्य है 'अलङ्काररूप' से अवस्थित (अलङ्कृतिरलङ्कारः अलङ्कारेण शोभया सहिताः सालङ्कारास्तैः) और साथ ही साथ अलङ्कारों के साथ उपस्थित (अलंक्रियतेऽनेनेत्यलङ्कार उपमादिः तेन सहिताः सालङ्का-

'स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सहप्रभेदैः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥' इति ॥

(६९) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ॥ ४७ ॥

एवमनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना, तथा हि–शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणानायामानन्त्यम् , का गणना तु सर्वेषाम् ।

रास्तैः) गुणीभूतव्यङ्ग्य प्रभेदों का, क्योंकि ध्वनिकार (आचार्य आनन्दवर्धन) का यहां यही कथन है:—

'ध्वनि' का जब कि सालङ्कार (अलङ्कारसहित) गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद–प्रभेदों के साथ 'संकर' और 'संसृष्टि' की संभावनाओं में संयोग हो जाय तब तो उसके अनेकानेक प्रकार प्रकट होने लगते हैं—(ध्वन्यालोक ३·४३),

इस दृष्टि से देखने से यही प्रतीत होता है कि 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के शुद्ध संसृष्ट किंवा संकीर्ण भेदों के परस्पर–सम्मिश्रण में जो भेद–प्रभेद होंगे उनकी संख्या अत्यधिक हो उठेगी ।

यहां (कारिका में) 'एवमन्योन्ययोगात्' का अभिप्राय है 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के शुद्ध–सजातीय और विजातीय संमिश्रण प्रकारों के परस्पर संयोग का। इस प्रकार के अवान्तरभेदों की गणना यदि की जाय तब तो भेद–प्रभेद–संख्या का कुछ कहना ही नहीं ! क्योंकि यदि एक 'शृङ्गाररस ध्वनि' को ही ले लें तो यह निस्सन्दिग्ध ही है कि इसी के भेद–प्रभेदों की संख्या का अन्त न मिल पायगा ! और यदि सभी ध्वनिभेदों और गुणीभूतव्यङ्ग्य भेदों की गणना की जाने लगे तब तो कहना ही क्या !

टिप्पणी—यद्यपि ध्वनिकार की दृष्टि ध्वनि–रहस्य के स्वरूपोन्मीलन में ही सर्वत्र लगी दिखायी देती है न कि ध्वनि–भेदगणना में, किन्तु यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनि–भेद–प्रभेदों की प्रभूतसंख्या का संकेत किया है। ध्वनिकार का तो यह एक संकेतमात्र था :—

'तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालङ्कारैश्च संकरसंसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते। तथा हि–स्वप्रभेदसंकीर्णः, स्वप्रभेदसंसृष्टः, गुणीभूतव्यङ्ग्यसंकीर्णः, गुणीभूतसंसृष्टः वाच्यालंकारान्तरसंकीर्णः, वाच्यालङ्कारान्तरसंसृष्टः, संसृष्टालङ्कारसंकीर्णः, संसृष्टालङ्कारसंसृष्टश्चेति बहुधा ध्वनिः प्रकाशते।' (ध्वन्यालोक ३·४३)

जिसे लोचनकार ने इस प्रकार स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया :—

'स्वभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येनालङ्कारैः प्रकाश्यत इति त्रयो भेदाः । तत्रापि प्रत्येकं संकरेण संसृष्ट्या चेति षट्। संकरस्यापि त्रयः प्रकाराः–अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन, संदेहास्पदत्वेनैकपदानुप्रवेशेनेति द्वादशभेदाः। पूर्वं च ये पञ्चत्रिंशद्‌भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः। स्वप्रभेदास्तावन्तोऽलङ्कार इत्येकसप्ततिः। तत्र संकरत्रयेण संसृष्ट्या च गुणने द्वे शते चतुरशीत्यधिके (२८४)। तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्तसहस्राणि चत्वारिंशतानि विंशत्यधिकानि भवन्ति (?) (ध्वन्यालोक लोचन ३·४३)

और जिसे काव्यप्रकाशकार ने 'अतिभूयसी भेदसंख्या' मानकर स्वीकार किया। किन्तु 'काव्यप्रकाश' के व्याख्याकारों ने इस 'अतिभूयसी भेदसंख्या' को भी गिनाकर ही दिखा दिया। उदाहरण के लिये, 'सुधासागर'कार के अनुसार 'अतिभूयसीभेदसंख्या' यह होगी:—

'शुद्धैः सहैकपञ्चाशद्‌भेदैर्भेदा यथा ध्वनेः ।
संकीर्णा हि समाख्याताः शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) ॥
शुद्धैः शरयुगव्यक्तैः (४५) सहात्रापि तथा बुधैः ।
गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदा बाणाब्धीन्दुगजाः (८१४५) स्मृताः ॥
मध्यमोत्तमयोरेवं भेदयोर्गुणने पुनः ।
भूताश्वाङ्केषुशरभूबाणस्तम्बेरमा मताः (८५१५५९७५) ॥

(व्यञ्जनावृत्ति-प्रतिष्ठापन-व्यङ्ग्यरूप अर्थ की वाच्यता असंभव)

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्, तथा हि—किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा, तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रम्, विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम्, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते। रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते, तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः।

चतुर्भिर्गुणने प्राग्वद् विज्ञेया गुणकोत्तमैः।
खाकाशाङ्काग्निपक्षर्तुव्योमवारिधिवह्नयः (३४०६२३९००) ॥
दिक्प्रदर्शनमेतच्चालङ्कारोद्भूतसंकरैः।
परार्धाधिकतां याति गणनेति न दर्शिता ॥'

अनुवाद—(उपर्युक्त दृष्टि से तो 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' की गणना ही असंभव है किन्तु) यदि संकलन (समष्टि-दृष्टि से देखा जाय तो 'ध्वनि' के (व्यङ्ग्यरूप अर्थ के) तीन ही प्रकार सम्भव हैं, क्योंकि वह अर्थ जो 'व्यङ्ग्य' रूप से विराजमान है तीन प्रकार का ही है—(अर्थात्-वस्तु-अलङ्कार और रसभावादि) एक तो ऐसा जिसे कदाचित् वाच्यरूप से भी प्रकट किया जा सके और दूसरा ऐसा जो इसके विपरीत रहा करे (अर्थात् जिसे कभी भी वाच्यरूप से प्रतिपादित न किया जा सके)। अब वह जो व्यङ्ग्यरूप अर्थ है जो कदाचित् 'वाच्यतासह' भी हो सकता है (वाच्यरूप से भी कभी उपनिबद्ध किया जा सकता है), दो प्रकार का दिखायी देता है—१. अविचित्र और २. विचित्र। यह १ अर्थात् अविचित्ररूप जो व्यङ्ग्य अर्थ है वह वस्तुमात्ररूप-अनलंकृत वस्तुरूप-अर्थ है और २ अर्थात् विचित्ररूप जो व्यङ्ग्य अर्थ है वह अलङ्काररूप अर्थ है। इस २ विचित्ररूप अर्थ से, जिसे यथास्थान प्रधानरूप से अवस्थित होने के कारण वस्तुतः 'अलङ्कार्य'—काव्यरूप कहना चाहिये, 'अलङ्कार' जो कहा जाया करता है, उसमें 'ब्राह्मण-श्रमण-न्याय' का भाव छिपा रहता है (जिसका तात्पर्य यह है कि जैसे किसी 'ब्राह्मण' को, उसके 'श्रमण' होने पर भी—बौद्धधर्म में दीक्षित होने पर भी—अन्य श्रमणों से कदाचित् पृथक् सूचित करने के लिये 'ब्राह्मण-श्रमण' कहा जाया करता है वैसे ही किसी 'अलङ्कार' को, उसके व्यङ्ग्यरूप से अवस्थित रहने पर भी और इस प्रकार वस्तुतः 'अलङ्कार्य' माने जाने पर भी, वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ से पृथक् प्रतिपादित करने के लिये, 'अलङ्कार-व्यङ्ग्य' अथवा 'अलङ्कार-अलङ्कार्य' अथवा संक्षेपतः 'अलङ्कार' भी कहा जा सकता है)। अब (इन दोनों वाच्यता-सह 'अविचित्र' और 'विचित्र'—वस्तुरूप और अलङ्काररूप-अर्थों के अतिरिक्त) वह अर्थ, जिसे रसादिरूप अर्थ कहते हैं, इस प्रकार का अर्थ है जो कदापि 'वाच्यता-सह' नहीं-न तो कभी वाच्यरूप बन ही सकता है और न बनाया ही जा सकता है। ऐसा क्यों? इसलिये कि इसे यदि वाच्य बनाया जा सके, तब या तो (सामान्यतः) रस-भाव आदि पदों के प्रयोग से ही यह प्रतिपादित समझ लिया जाय या (विशेषतः) शृङ्गार-निर्वेद आदि पदों के उपादान में प्रतीत मान लिया जाय? किन्तु ऐसा होता कहां है? क्योंकि जब तक विभावादि की वर्णना न हो, केवल 'रस' अथवा 'शृङ्गार' आदि (सामान्य अथवा विशेष) पदों के प्रयोग से भला रस की प्रतीति कहीं होती है? रस की प्रतीति तो, विभावादि की वर्णना होने पर, बिना किसी 'रस' अथवा 'शृङ्गार' आदि (सामान्य अथवा विशेष) पदों के उपादान के ही, स्वभावतः हो उठती है।

(त्रिविध व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का अपलाप असम्भव)

('वस्तुमात्र' और 'अलङ्कार' रूप व्यङ्ग्यार्थ भी लक्षणा-वेद्य नहीं)

अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपी व्यङ्ग्यं विना लक्ष-

अब जब कि विभावादि की वर्णना के होने पर रस की प्रतीति हुआ करती है। (अन्वय-यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः) और उसके नहीं होने पर नहीं हुआ करती (व्यतिरेक-यदभावे यदाभावो व्यतिरेकः), तब तो निष्कर्ष यही निकल सकता है कि रस की प्रतीति विभावादि की वर्णना पर ही संभव है न कि 'रस' अथवा 'श्रृङ्गार' आदि पदों के प्रयोग पर। इसीलिये तो यह मानना पड़ता है कि रसभावादिरूप अर्थ 'व्यङ्ग्य' अर्थ है—व्यञ्जनावृत्ति का विषयभूत अर्थ है-अलौकिक चमत्कार पूर्ण अर्थ है। (यह अर्थ 'वाच्यता-सह' कहां? अभिधा का विषय कहां? और इसीलिये तो) इसे लक्ष्य अथवा लक्षण का विषय भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें तो लाक्षणिकता-जैसे कि विभावादिरूप मुख्यार्थ की अनुपपत्ति, विभावादिरूप मुख्य और रसादिरूप लक्ष्य अर्थों में ज्ञाप्यज्ञापकभावरूप सम्बन्ध और रूढ़ि अथवा प्रयोजन आदि की कल्पना सर्वथा निर्मूल ही ठहरी।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट की यह विवेचना ध्वनिकार की इस समीक्षा का अनुसरण करती है :—

'स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्च···। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम्। तथा ह्याद्यस्तावत्' प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान् स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेध रूपः···। द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् विभिन्नः···। तृतीयस्तु रसादि लक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव······। न हि केवलश्रृङ्गारादिशब्दमात्रभाजिविभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः, केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः, तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्या मभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्।—(ध्वन्यालोक १.४)

और करती है लोचनकार की इस युक्तिपूर्ण मीमांसा का अनुसन्धान :—

'तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ-लौकिकः' काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरूपतयाऽन्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवाऽन्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वप्रत्यभिज्ञानवलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्दसमर्प्यमाण-हृदयसंवादसुन्दर-विभावानुभावसमुपचित-प्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापार-रसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति।,

'वस्त्वलङ्कारावपि शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावत्। रसभाव तदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चाऽस्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापाराहृते नास्ति कल्पनान्तरम्। स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्याऽनाशङ्कनीयत्वात्।' (ध्वन्यालोक लोचन १.४)

अनुवाद—('रसभावादि' रूप काव्यार्थ को तो व्यञ्जना-प्रतिपाद्य मानना ही पड़ेगा, किन्तु साथ ही साथ 'वस्तुमात्र' रूप और अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ भी अभिधा अथवा लक्षणा-गम्य नहीं अपितु व्यञ्जना-वेद्य ही अर्थ है क्योंकि) जैसा कि पहले (द्वितीय उल्लास में प्रयोजनवती लक्षणा के प्रतिपादन-प्रसङ्ग में, प्रयोजन की प्रतीति में रूढ़ि की असम्भावना और अन्य किसी प्रयोजन की कल्पना में अनवस्था के कारण) बताया जा

णैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम् , शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेना-नभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् ।

(वाक्यतत्त्वविद् मीमांसकों का 'अभिहितान्वयवाद' और व्यङ्ग्यार्थ की मान्यता)

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्त्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम् ।

चुका है, लक्षणा (प्रयोजनवती लक्षणा) भी, जैसे कि 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' में, (अर्थात् लक्षणामूलध्वनि में) तब तक स्वयं सम्भव नहीं जब तक वस्तुमात्र रूप व्यङ्ग्यार्थ की (जो कि व्यञ्जना द्वारा प्रतिपाद्य है न कि लक्षणा ही द्वारा, क्योंकि लक्षणा द्वारा इसका प्रतिपादन कैसे जब कि लक्षणारूप ज्ञान-विषय (तटादि) और प्रयोजन-प्रतीतिरूप लक्षणा ज्ञान-फल (शैत्यादि) परस्पर भिन्न हैं और भिन्न २ वृत्तियों द्वारा ही वेद्य हैं ?) प्रतीति न हो जाय। साथ ही साथ अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ भी, जैसे कि शब्दशक्तिमूल (अर्थात् अभिधामूल, उदाहरण के लिये, उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम् , आदि) ध्वनि में, जहां अभिधा स्वयं (प्रकरणादि द्वारा) नियन्त्रित रहा करती है किन्तु अभिधेय अर्थ के अतिरिक्त एक सर्वथा अनभिधेय अर्थ निकला करता है और हुआ करता है इन दोनों अर्थों में परस्पर उपमानोपमेय-भाव का अनुभव (उपमा ध्वनि), यदि सर्वथा व्यङ्ग्य-व्यञ्जनाप्रतिपाद्य-माना जाय तो इसमें विवाद कैसा – बखेड़ा किस बात का ?

टिप्पणी—आचार्य मम्मट की इन युक्तियों का आधार ध्वनिकार की यह उक्ति है:—

'अविवक्षितवाच्यस्तु ध्वनिर्गुणवृत्तेः कथं भिद्यते ? तस्य प्रभेदद्वये गुणवृत्तिप्रभेदद्वय-रूपता लक्ष्यत एव । यतः अयमपि न दोषः । यस्मादविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्गुणवृत्तिमार्गा-श्रयोऽपि भवति न तु गुणवृत्तिरूप एव। गुणवृत्तिर्हि व्यञ्जकत्वशून्यापि दृश्यते । व्यञ्ज-कत्वञ्च यथोक्तं—चारुत्वहेतुं व्यङ्ग्यं विना न व्यवतिष्ठते ।,

(ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ ४३२)

अनुवाद—जिसे 'अभिहितान्वयवाद' कहा करते हैं (अर्थात् वाक्यतत्त्वविद् कुमारिल-मतानुयायी मीमांसकों का वाक्यार्थ-विचार सम्बन्धी सिद्धान्त) जिसकी दृष्टि से 'वाक्यार्थ' का स्वरूप केवल 'पदार्थ' का स्वरूप नहीं क्योंकि 'पदार्थ' सामान्यरूप हुआ करता है और 'वाक्यार्थ' विशेषरूप-पदार्थ (पदों का अभिधा-प्रतिपाद्य [अपना-अपना अर्थ)] सामान्यरूप-जातिरूप-इसलिये क्योंकि विशेष में—व्यक्ति में (आनन्त्य और व्यभिचार-रूप दोषों के आ पड़ने से) संकेत का (अमुक शब्द का अमुक अर्थ है—इस सांकेतिकता का) ग्रहण करना-कराना भला कैसे सम्भव ? और 'वाक्यार्थ' विशेषरूप इसलिये क्योंकि वाक्यार्थ भला सामान्यरूप पदार्थ (अभिधाप्रतिपाद्य पृथक् २ पदों का अपना २ अर्थ मात्र) कैसे जब कि वह वस्तुतः सामान्य (जाति) वाचक पदों के अपने २ अर्थों का, आकाङ्क्षा , योग्यता और आसत्तिवश एक परस्पर संसर्ग-अन्वयरूप अर्थ है (तात्पर्यवृत्ति द्वारा वेद्य अर्थ है) उसमें यह तो बात ही नहीं उठ सकती कि व्यङ्ग्यरूप अर्थ, जैसे कि अर्थ-शक्तिमूल ध्वनि में, वस्तुरूप अथवा अलङ्काररूप अर्थ, अभिधेयरूप अर्थ है (अर्थात् ऐसा अर्थ है जो अभिधाप्रतिपाद्य हो) क्योंकि पदार्थसंसर्ग अथवा अन्वयरूप अर्थ भी जब अभिधेय-अभिधाबोध्य-अर्थ नहीं तब व्यङ्ग्यरूप अर्थ (वाक्यार्थ अथवा पदार्थों के परस्पर समन्वयरूप अर्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ ! विधिनिरूपक वाक्य में निषेधात्मक और निषेधनिरूपक वाक्य में विधिरूप अर्थ !) भला अभिधेय-अभिधाबोध्य-अर्थ कैसे।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने लोचनकार की जिस सूक्ष्म चिन्तन धारा का अन्वेषण किया है वह यह है:—

येऽप्याहुः—

(वाक्यतत्त्वविद् मीमांसकों का अन्विताभिधानवाद और व्यङ्ग्यार्थ की मान्यता)

शब्दवृद्धाभिधेयाँश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥ १ ॥
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्याऽवबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥ २ ॥

'यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नं, तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः ··· व्यापारश्च नाभिधात्मा, समयाभावात्; न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्···तस्मादभिधातात्पर्य लक्षणा व्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः······एवमभिहितान्वयवादिनामियदनपह्नवनीयम् ।

(ध्वन्यालोक लोचन १.४)

अनुवाद—इसी प्रकार जिसे 'अन्विताभिधानवाद' कहा जाता है जो कि (वाक्यतत्त्वविद् प्रभाकरमतानुयायी) मीमांसकों का मत है जिसके अनुसार अभिधा से ही स्वभावतः अन्वित-परस्परसम्बद्ध-पदार्थ प्रतीत हुआ करता है, उसमें जब वाक्यार्थ के भीतर पड़े हुये पदार्थ को भी अभिधेय-अभिधाबोध्य-नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यों पदार्थ भले ही 'सामान्यविशेषरूप' हो और संकेत का विषय हो-वस्तुतः अभिधाबोध्य हों-किन्तु वाक्यार्थ के अन्तर्वर्ती होने पर तो वह 'अतिविशेषरूप' ही होगा, संकेत का विषय भी नहीं होगा और न होगा अभिधा-प्रतिपाद्य ही ! तब भला व्यङ्ग्यरूप अर्थ-एक अत्यन्त भिन्न प्रकार का अर्थ, जैसे कि 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि में निषेधपरक वाच्यार्थ (अथवा वाक्यार्थ) से सर्वथा विलक्षण, विधिरूप अर्थ, क्योंकर अभिधेय-अभिधाबोध्य-अर्थ कहा जा सके ? ऐसा क्यों ? इसलिये कि 'अन्विताभिधान' का जो अभिप्राय है वह यह है :—

अपने अभिप्राय से दूसरे को अवगत कराने के लिये हमारा जो शब्द व्यवहार है उसमें 'वाक्य' ही प्रयोग-योग्य माना जा सकता है (न कि पद)। वैसे तो वाक्य और वाक्य का अर्थ-दोनों के दोनों ऐसे हैं जो वस्तुतः अखण्डरूप ही रहा करते हैं किन्तु इस अखण्ड वाक्य में हमारी जो व्युत्पत्ति है जैसा कि बचपन से भाषा सीखने के समय से ही देखा जाता है, वह तो ऐसी है जिसके लिये वाक्य और वाक्यार्थ में, वाचक और वाच्य का सम्बन्ध-निर्धारण अपेक्षित है। वाक्य और वाक्यार्थ में इस वाक्यवाचकभावरूप सम्बन्ध के निश्चय की जो बचपन से ही हमारी प्रक्रिया है वह यह है—'बड़े-बूढ़ों की बात चीत से ही कोई बालक बोलना-चालना सीखा करता है। कान से तो उसे शब्द अर्थात् 'देवदत्त गामानय' आदि वाक्यरूप शब्द और आंखों से उसके बोलने और उसे सुनकर उसके अनुसार कार्य करने वाले अर्थात् बालक की दृष्टि से प्रयोजक वृद्ध और प्रयोज्य वृद्ध का ज्ञान हुआ करता है। इसके बाद गवानयनादिरूप प्रयोज्य वृद्ध की चेष्टा द्वारा बालक को यह अनुमान हुआ करता है कि 'देवदत्त गामानय' आदि वाक्य का कुछ अर्थ है जो उसके सुनने वाले (बालक के लिये प्रयोज्य वृद्ध) की समझ में आ चुका है। फिर तो यह स्वाभाविक है कि वह बालक अन्यथानुपत्ति अथवा अर्थापत्ति से (इस बात से कि 'गामानय' आदि वाक्य के सुनने से प्रयोज्य वृद्ध को कुछ अर्थ प्रतीत हुआ है जिससे उसमें गवानयनादि रूप चेष्टा हो रही है) 'गामानय' आदि वाक्य और उसके अर्थ में-एक परस्पर सम्बन्ध जान जाय जो कि वाच्यवाचकभावरूप ही सम्बन्ध है (अर्थात् 'गामानय' यह वाक्य है वाचक और उसका विषयभूत अर्थ है वाच्य, जिससे प्रयोज्य वृद्ध में एक विशेष प्रवृत्ति उत्पन्न हुई)। अन्ततोगत्वा यह सिद्ध है कि क्रमशः प्रत्यक्ष-अनुमान और अर्थापत्ति के द्वारा उसके मन में यह बात बैठ जाय कि 'गामानय' आदि वाक्य का संकेत

इति प्रतिपादितदिशा—

देवदत्त गामानयेत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति अनेनास्माद्वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्न इति तच्चेष्टयाऽनुमाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यर्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्बन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते परतः चैत्र गामानय देवदत्त अश्वमानय देवदत्त गां नय इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तन्तमर्थमवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ।

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः सङ्केतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्य-

---

क्या है ('अर्थात् 'गामानय' इस वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद और उसके अर्थमें सम्बन्ध क्या है ? अथवा प्रत्येक पद जैसे कि 'गौ' और 'अम्' आदि का उसके अर्थ से संकेत क्या है ?)

अब इसी प्रक्रिया के अनुसार ऐसा हुआ करता है कि जब किसी बालक ने प्रयोजक वृद्ध का वाक्यरूप शब्द सुना–'देवदत्त गामानय' 'देवदत्त ! गाय लाओ' और प्रयोज्यवृद्ध द्वारा (देवदत्त द्वारा) एक सास्ना–लांगूल–ककुद् आदि से विशिष्ट वस्तु (अर्थात् गौरूप वस्तु) को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जायी जाती देखा और प्रयोज्य वृद्ध को उस वस्तु के ले आने की चेष्टाओं द्वारा यह अनुमान कर लिया कि उसे (प्रयोज्य वृद्ध को) इस वाक्य का ऐसा ही अर्थ (अर्थात् गौ का गौरूप 'अम्' का कर्मत्वरूप आदि) पता चल चुका होगा, तब स्वभावतः उसे (उस बालक को) उस अविभक्त वाक्य और वाक्यार्थ में, अर्थापत्ति द्वारा (इसलिये कि विना इस वाक्य और इसके अर्थ में कुछ सम्बन्ध जाने ऐसी प्रवृत्ति–गौ के ले आने की चेष्टा–प्रयोज्य वृद्ध में क्यों कर होती ?) यह ज्ञान हो ही जाया करता है कि 'गामानय' इस वाक्य में और उसके अर्थ में 'वाच्यवाचक भावरूप सम्बन्ध, अवश्य होगा। इस प्रकार यहां उसे जब यह सम्बन्ध पता चल चुका तब आगे भी जब उसे प्रयोजक वृद्ध के इन वाक्यों के जैसे कि—'चैत्र गामानय, देवदत्त अश्वमानय, देवदत्त गां नय'–'चैत्र ! गाय ले आओ' 'देवदत्त ! घोड़ा लाओ', 'देवदत्त ! गाय ले जाओ ।' आदि के सुनने का अवसर मिले तब उसके लिये इसका पता चल जाना स्वाभाविक ही है कि किस किस शब्द का क्या क्या अर्थ है। इससे क्या निष्कर्ष निकला ? यही कि अन्वय–व्यतिरेक के सिद्धान्त से (अर्थात् गौ आदि पदों के प्रयोग में ही गौ आदि के अर्थ की प्रतीति और उनके अप्रयोग में उनके अर्थ की अप्रतीति के कारण) केवल 'वाक्य' ही वस्तुतः भाषा–व्यवहार के रूप में प्रयुक्त हुआ करता है, क्योंकि किसी प्रकार की प्रवृत्ति (जैसे कि 'गामानय' में गौ के ले आने में प्रवृत्ति) और निवृत्ति (जैसे कि 'गां न आनय' में गौ के ले आने से निवृत्ति) का करवाया जाना वाक्य पर ही निर्भर है (न कि पदमात्र पर)। अब जब 'वाक्य' ही प्रयोग योग्य हुआ तो वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध भी तो वाक्य में बँधे तथा स्वभावतः परस्परसम्बद्ध अर्थों के अभिधायक पदों में ही (वस्तुतः वाक्य में ही) समझा जायगा। इसका अभिप्राय यही हुआ कि जिसे 'वाक्यार्थ' कहना चाहिये वह अपने अपने अर्थों के अभिधायक पृथक् २ पदों का (आकांक्षा, योग्यता और सन्निधिवश, तात्पर्यवृत्ति द्वारा बोध्य और इसीलिये अपदार्थभूत) अन्वय अथवा सम्बन्धरूप नहीं अपितु वस्तुतः वे 'पदार्थ' ही हैं जो स्वभावतः परस्पर संसृष्ट–अन्वित–रहा करते हैं (क्योंकि यदि ऐसी बात न हो तो कोई 'वाक्य' ही कैसे बन पाय ?) इस सम्बन्ध में यह आशङ्का कि जब प्रत्यभिज्ञा द्वारा

न्विताभिधानवादिनः। तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तरगतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा।

('अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद' का उपसंहार–
दोनों में व्यञ्जकत्वव्यापार का अविरोध)

अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः।

(व्यङ्ग्यार्थ केवल शब्दनिमित्तक नहीं–अभिधा द्वारा
व्यङ्ग्यार्थ का बोध असम्भव)

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इति, तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य

यही प्रतीत हुआ करता है कि 'गामानय' और 'अश्वमानय' आदि भिन्न भिन्न वाक्यों में प्रयुक्त होने वाले 'आनय' आदि पद एक रूप ही है, जिनका अर्थ भी आनयन–सामान्य ही है, तब विना तात्पर्यवृत्ति के क्योंकर 'गामानय' और 'अश्वमानय' आदि वाक्यों में 'आनय' पद का अर्थ गोसम्बद्ध और अश्वसम्बद्ध आनयन विशेष हुआ करे (क्योंकि 'गामानय' और 'अश्वमानय' आदि वाक्यों में 'गाम्' और 'अश्वम्' इस कर्मत्वरूप पदार्थ से अन्वित ही आनयन पदार्थ का बोध तात्पर्यवृत्ति द्वारा हुआ करता है) वस्तुतः ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि 'गामानय' और 'अश्वमानय' आदि वाक्यों में जो परस्पर सम्बद्ध अथवा परस्पर अन्वित पदार्थ हैं वे केवल सामान्यरूप नहीं अपितु स्वभावतः सामान्यरूप पदार्थ से आक्षिप्त विशेषरूप ही हुआ करते हैं क्योंकि संकेत का विषय सामान्यरूप पदार्थ नहीं अपितु स्वभावतः सामान्यविशेषरूप ही पदार्थ सर्वत्र रहा करता है।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट की यह विचारधारा लोचनकार के इस विचार–स्रोत से अनुप्राणित प्रतीत हो रही है:—

'योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः ? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ ? तद्विषयसंहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः। असजातीये चाऽस्मन्नय एव।

(ध्वन्यालोक लोचन १.४)

अनुवाद—(वाक्यतत्त्ववेत्ता मीमांसकों के वाक्यार्थविचारसम्बन्धी) इन दोनों विरुद्धवादों अर्थात् 'अभिहितान्वयवाद' और अन्विताभिधानवाद में एक बात जो वस्तुतः एक सी है वह यह है कि जो 'वाक्यार्थ' अर्थात् 'संसर्ग' अथवा परस्पर अन्वय है वह पदार्थ नहीं हो सकता–पद की वृत्ति का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि जहां 'अभिहितान्वयवाद' के अनुसार पद की वृत्ति का विषय 'अनन्वित' असंसृष्टरूप अर्थ है और 'अन्विताभिधानवाद' के अनुसार पद की वृत्ति का विषय है—परस्पर अन्वित–परस्पर–संसृष्टरूप अर्थ, वहां 'वाक्यर्थ' जो कि 'अन्वितविशेषरूप' हुआ करते हैं, अभिधेय क्योंकर होने लगे ? (और जब दोनों वाक्यार्थसम्बन्धीवादों में 'अभिधा' की पहुंच 'अन्वित·विशेष' रूप वाक्यार्थ तक भी नहीं तब भला व्यङ्ग्यार्थ तक उसकी पहुंच की चर्चा कौन चलावे ?)

यहां यदि वाक्यतत्त्वविद् मीमांसक लोग यह कहें कि जैसे वाच्यार्थ के लिये अभिधा के अतिरिक्त और किसी वृत्ति की कल्पना आवश्यक नहीं वैसे ही व्यङ्ग्यार्थ के लिये भी अभिधा के अतिरिक्त और किसी वृत्ति की कल्पना निर्मूल है क्योंकि 'नैमित्तिक की दृष्टि से ही निमित्त की कल्पना हुआ करती है' इस नियम के अनुसार व्यङ्ग्यार्थरूप

कथं, ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव स चान्वितमात्रे, एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम् ।

नैमित्तिक की प्रतीति भी शब्दरूप निमित्त के द्वारा ही हुआ करती है (क्योंकि शब्द और व्यङ्ग्यार्थ में-निमित्त और नैमित्तिक में-जब बोध्य बोधक भाव ठहरा तो अभिधा के अतिरिक्त अन्य वृत्ति की क्या आवश्यकता !) तो इसका समाधान यही है कि 'नैमित्तिक की दृष्टि से निमित्त की कल्पना हुआ करती है'-इस नियम को शब्द और व्यङ्ग्यार्थ में लागू मान लेना, वस्तुतः इसे बिना समझे-बूझे, बकते रहने के बराबर है। ऐसा क्यों ? इसलिये कि पहले तो यहां प्रश्न यह उठता है कि व्यङ्ग्यार्थरूप नैमित्तिक की दृष्टि से शब्द किस प्रकार का निमित्त है-क्या शब्द ऐसा निमित्त है जिसे व्यङ्ग्यार्थ का कारक (जनक अथवा उत्पादक) रूप निमित्त माना जाय ? या ऐसा जो व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञापक (प्रकाशक-बोधक) रूप निमित्त हो ? जहां तक शब्द को व्यङ्ग्यार्थ का जनकरूप निमित्त मानने का प्रश्न है वहां तक तो यह निर्विवाद है कि शब्द व्यङ्ग्यार्थ का बोधक भले ही माना जा सके जनक अथवा उत्पादक तो कभी नहीं हो सकता। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि शब्द व्यङ्ग्यार्थ का बोधकरूप ही निमित्त है। भला शब्द व्यङ्ग्यार्थ का बोधकरूप निमित्त कैसे जब कि पहले से व्यङ्ग्यार्थ का कोई पता न हो ! (और यदि स्वरूपमात्र से पता भी हो तो भी शब्द को व्यङ्ग्यार्थ का बोधकरूप निमित्त कैसे मान लिया जाय जब कि कोई भी यह नहीं मान सकता कि अव्युत्पन्न व्यक्ति को भी शब्द सुनते ही अर्थबोध हो जाया करता है ?) अब यहां यदि यह कहा जाय कि व्यङ्ग्यार्थ (अज्ञात नहीं और न स्वरूप मात्रतः ही ज्ञात है अपि तु) एक ज्ञात अर्थ है तब तो इसके साथ यह भी कहना पड़ेगा कि व्यङ्ग्यार्थ एक संकेतित अर्थ होने से (न कि अपने स्वरूप मात्र से) ही ज्ञात हुआ करता है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ को संकेतित अर्थ भी कैसे कहा जायगा ? कहां भला संकेतित अर्थ, जो 'अन्वितमात्र' हो (अन्वित विशेष भी नहीं ।) और कहां व्यङ्ग्यार्थ-'अन्वितविशेष' से भी परे-एक सर्वथा विलक्षण अर्थ ! फिर भी यदि व्यङ्ग्यार्थ को शब्द-निमित्तक ही मानने का दुराग्रह हो, तब भी यह तो पूछा ही जा सकता है कि शब्द यदि व्यङ्ग्यार्थ का निमित्त है तो नियत निमित्त (अव्यभिचरित निमित्त) है या नहीं । (यदि शब्द नियतनिमित्त नहीं है तो व्यङ्ग्यार्थ उसका नैमित्तिक कैसे ?) यदि शब्द व्यङ्ग्यार्थ का नियतनिमित्त है तो इसका निश्चय कहां से ? (कहां से पता चले कि अमुक शब्द अमुक रूप व्यङ्ग्यार्थ का बोधक है ?) और जब तक इसका निश्चय नहीं कि शब्द व्यङ्ग्यार्थ का नियतनिमित्त है तब तक-नैमित्तिक की-व्यङ्ग्यार्थ की-प्रतीति क्यों कर होने लगे ? (यह सब क्या है ? यही कि जब तक व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव न मान लिया जाय तब तक 'नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना' का 'वाद' व्यर्थ का ही तो वाद हुआ !)

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने यहां लोचनकार की इस चिन्तन-पदवी का अनुगमन किया है-'अथ योऽसौ चतुर्थकक्षानिविष्टोऽर्थः, स एव झटिति वाक्येनाभिधीयत इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम्, तर्हि तत्र संकेताकरणात् कथं साक्षात् प्रतिपत्तिः ? निमित्तेषु संकेतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थः (व्यङ्ग्यार्थः) संकेतानपेक्ष एवेति चेत्-पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षाभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिहितम् ।

अथोच्यते-पूर्वं तत्र संकेतग्रहणसंस्कृतस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुया वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थानाम्, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किञ्चिदप्युक्तं स्यात्। न चापि प्राक् पदार्थेषु संकेतग्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सर्वदा प्रयोगात्। आवापोद्वापाभ्यां तथा भाव इति चेत्-संकेतः पदार्थमात्र एवेत्यभ्युपगमे पाश्चात्त्यैव विशेषप्रतिपत्तिः। अथोच्यते-

(वाक्यतत्त्वज्ञों के लिये व्यञ्जनावृत्ति की मान्यता अत्यावश्यक)

ये त्वभिदधति सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति, तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः तथा हि 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमाना प्रधानक्रियानिर्वर्त्तकस्वक्रियाभिसंबन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते यथा ऋत्विक्-

दृष्टैव झटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुर्म इति ? तदिदं वयमपि न नाङ्गीकुर्मः। यद्वक्ष्यामः–

'तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते ॥' इति। (ध्वन्या. लो. १·४)

अनुवाद—वाच्यार्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ–जैसे कि 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' आदि में (निषेधरूप वाच्यार्थ से परे) विधिरूप अर्थ वस्तुतः व्यङ्ग्यरूप ही अर्थ है और वाक्यतत्त्वविद् अन्विताभिधानवादी मीमांसाचार्यों को भी इसे व्यङ्ग्य ही मानना पड़ेगा (और जब इसे व्यङ्ग्य मानना पड़ेगा तब व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूप निमित्त तथा व्यञ्जनारूपवृत्ति को भी स्वभावतः स्वीकार करना ही पड़ेगा)। यहां यदि वाक्यतत्त्वविद् लोगों के अनुयायी आलंकारिक लोग यह आग्रह करें कि व्यङ्ग्यार्थ भी तात्पर्यभूत अर्थ होने से वाच्यरूप ही अर्थ है क्योंकि जब कि सिद्धान्त यह है कि 'शब्द की शक्ति बाण की शक्ति की भांति दूरगामिनी है' (जैसे एक बलवान् धनुर्धर द्वारा चलाया गया बाण अपने वेगरूप व्यापार से शत्रु का कवचभेदन, मर्मकृन्तन और अन्त में प्राणहरण करने में समर्थ है वैसे ही कवि का प्रयुक्त शब्द ही अपने अभिधारूप व्यापार से पदार्थोंपस्थापन, अन्वयबोध और अन्त में व्यङ्ग्यार्थ-प्रत्यायन कराने में सर्वथा समर्थ है) और जब कि तात्पर्यभूत अर्थ का अभिप्राय यह है कि 'जो भी अर्थ परम अर्थ है प्रधानतया वेद्य है, तात्पर्यविषय है, वह सब शब्दाभिधेय ही है', वाच्य ही है, तब 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि का विधिरूप अर्थ तात्पर्य विषय होने से वाच्यरूप ही अर्थ है, तो उनके लिये यही कहा जा सकता है कि उन्हें मीमांसकों के 'तात्पर्यार्थ विषयक-' सिद्धान्त का 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम का 'तात्पर्य' ही पता नहीं और न वे लोग मीमांसा के इस सिद्धान्त को समझ ही सकते हैं। मीमांसा की इस 'तात्पर्यवाचोयुक्ति'–'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस उक्ति का तो वास्तविक तात्पर्य यह रहा–'जो विधेय है और जितने अंश में विधेय है उसी में तात्पर्य रहा करता है', अर्थात् 'विधेय' को 'तात्पर्य' इसलिये कहा जाया करता है कि उपात्त शब्द के द्वारा–वस्तुतः उच्चारित शब्द के द्वारा वही (विधेयरूप) अर्थ उस शब्द की वृत्ति से उपस्थापित हुआ करता है। यदि कोई पूछे–ऐसा क्यों ? तो इसका उत्तर यह है—'विधेय' का अभिप्राय केवल प्रवर्त्तनारूप विधि का विषय होना ही नहीं–केवल क्रियारूप होना ही नहीं–अपितु द्रव्यरूप होना भी है। यह कैसे ? इसलिये कि 'जहां 'भूत'—सिद्ध वस्तु जैसे कि कारक आदि और 'भव्य'–साध्यवस्तु जैसे कि क्रिया आदि–दोनों एक साथ उच्चरित अथवा उपात्त रहा करते हैं, वहां जो 'भूत' रूप कारकादि हैं, वे वस्तुतः 'भव्य' रूप–क्रियादि के लिये रहा करते हैं (क्योंकि जो अज्ञात है उसी का तो ज्ञापन अपेक्षित है।), इसका अभिप्राय यह हुआ कि केवल साध्यरूप–क्रियारूप–अर्थ ही नहीं अपितु कारकरूप अर्थ भी–सिद्धरूप अर्थ भी–साध्यरूप–विधेयरूप हुआ करते हैं। उदाहरण के लिये 'गामानय' आदि वाक्य में जो 'गाम्' आदि (सिद्धरूप) कारक पदार्थ हैं वे 'आनय' आदि (साध्यरूप) क्रियापदार्थों से जब परस्पर अन्वित–संबद्ध हुआ करते हैं तो इसलिये (उपचारतः) 'साध्य' भी कहे जाया करते हैं क्योंकि वे तो प्रधानभूत साध्यरूप क्रिया, जैसे कि 'गामानय' में 'आनयन' आदि की क्रिया का सम्पादन करने वाली अपनी भी क्रिया, जैसे कि 'गामानय' आदि में 'गौ' आदि कारक की 'गमन' आदि क्रिया–के भी तो

प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ती'त्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं हवनस्यान्यतः सिद्धेः' दध्ना जुहोतीत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम् ।

क्वचिदुभयविधिः क्वचित्त्रिविधिरपि यथा रक्तं पटं वयेत्यादौ एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे, एवं हि पूर्वो धावतीत्यादावपरार्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात् ।

यत्तु विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था इत्यत्र एतद्गृहे न भोक्तव्यमि-

---

आश्रय हैं! इसका निष्कर्ष यही निकला कि 'अदग्धदहनन्याय' से (जैसे कि जो लकड़ी नहीं जली उसे ही आग जलाया करती है) साध्य से अन्वित सिद्ध पदार्थों में-क्रिया से सम्बद्ध कारक पदार्थों में-जो 'विधेय' है वह 'सिद्ध' नहीं, 'प्राप्त' नहीं अपितु 'साध्य' ही है, 'अप्राप्त' ही है। इसीलिये तो 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति'-इस विधि-वाक्य में, जहां ऋत्विक् लोगों का 'प्रचरण'-उन उन कर्मों का अनुष्ठान-अन्य प्रमाण से, जैसे कि ज्योतिष्टोमरूप 'प्रकृति'-याग की विधियों के अतिदेश से (क्योंकि 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह वाक्य श्येनयाग के प्रकरण का वाक्य है और श्येनयाग है ज्योतिष्टोम भाग का विकृति-याग) सिद्ध है, जो 'विधेय' रूप तात्पर्य है वह (ऋत्विक् प्रचरण नहीं अपितु) केवल 'लोहितोष्णीषत्व'-'उष्णीष-शिरोवस्त्र-का लाल होना मात्र' है अथवा 'दध्ना जुहोति' आदि प्रवर्त्तनारूप विधिवाक्योंमें, जहां 'हवन'-'होम' अन्य प्रमाण से (जैसे कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस उत्पत्ति विधि-वाक्य से) सिद्ध है-प्राप्त है, जो 'विधेय' रूप वस्तु है वह (न तो 'होम' है और न 'दधि' है क्योंकि दधि भी तो होमसाधनरूप द्रव्य होने से सिद्ध ही है—प्राप्त ही है अपि तु) केवल दधि की 'साधकतमता' मात्र है। यहां वस्तुतः यह अभिप्राय नहीं कि प्रत्येक वाक्य में एक ही 'विधेय' हो, क्योंकि कहीं 'विधेय' दो भी संभव है और कहीं तीन तीन भी, जैसे कि ('सोमेन यजेत' इसी वैदिक विधिवाक्य में सोमरूप द्रव्य और याग-दोनों को उनके प्रमाणान्तर से अप्राप्त होने के कारण, 'विधेय' माना गया है अथवा 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इस वैदिक विधि-वाक्य में द्रव्य-देवता और याग तीनों को, उनके प्रमाणान्तर से अप्राप्त-अविहित-होने के कारण 'विधेय' कहा गया है अथवा) इस लौकिक विधि वाक्य अर्थात् 'रक्तं पटं वय'-'लाल कपड़ा बुनो' इस वाक्य में, यदि तीनों (लाल रंग, कपड़ा और बुनना) पहले से अविहित हों तो तीनों को 'विधेय', यदि एक पहले से विहित हो तो दो को 'विधेय' और यदि दो पहले से विहित हों तो एक को ही 'विधेय' माना जाया करता है। इसका सार यही निकलता है कि जो 'विधेय' है और 'विधेय' होने से शब्दतः उपात्त है वहीं शब्द का तात्पर्य रहा करता है न कि वहां भी जहां कोई अन्य उपाय कार्यकर हुआ करता है क्योंकि यदि शब्द का उस अर्थ में भी तात्पर्य मान लिया जाय जो कि शब्दतः नहीं अपितु अन्य प्रकार से प्रतीत हो रहा हो तब तो 'पूर्वो धावति'-'पहला व्यक्ति दौड़ रहा है' इस वाक्य में (जहां 'अपर'-'पिछले' की अपेक्षा से ही किसी को 'पूर्व' 'पहला' कहा जा सकता है) 'अपरो धावति'-'पिछला व्यक्ति दौड़ रहा है' यह अर्थ भी यदि (जैसा कि अर्थापत्ति से सम्भव है) प्रतीत होने लगे तो क्या इसे भी 'तात्पर्य' न कहा जायगा? (किन्तु 'पूर्वो धावति' का तात्पर्य 'अपरो धावति' तो नहीं हुआ करता। और जब ऐसी बात है तब व्यङ्ग्यार्थ को, जो कि न तो कभी 'शब्दोपात्तमात्र' अर्थ है और न 'विधेय' ही, क्योंकर 'तात्पर्य' कहा जासके? और क्योंकर अभिधाप्रतिपाद्य माना जा सके?)

यहां यह कहना कि प्रतीत मात्र अर्थ में भी (न कि केवल उपात्तशब्द के ही अर्थ में) तात्पर्य रहा करता है, क्योंकि बिना ऐसा माने ऐसे वाक्य जैसे कि 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'-विष खालो, इसके घर खाना न खाओ' में प्रतीत होने वाला यह अर्थ

त्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति उच्यते—तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः। न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्था इत्युपात्तशब्दार्थे एव तात्पर्यम्।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणीत्यादौ हर्षशोकादीना-

अर्थात् 'इसके घर कदापि भोजन न करो' (जो कि उपात्तशब्द का अर्थ नहीं अपितु अर्थापत्ति द्वारा वेद्य अर्थ है) तात्पर्य और वाक्यार्थ नहीं तो और क्या? वस्तुतः ठीक नहीं। क्यों? इसलिये कि यहां भी जो 'इसके घर कदापि भोजन न करो' यह अर्थ तात्पर्यरूप में प्रतीत हो रहा है वह इसीलिये 'तात्पर्यरूप' कहा जा सकता है कि वह (प्रतीतमात्र अर्थ नहीं-अर्थापत्ति द्वारा वेद्य अर्थ नहीं-अपितु) उपात्तशब्द का ही अपना अर्थ है और इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' यह जो वाक्य है वह वस्तुतः 'विषं भक्षय' और 'मास्य गृहे भुङ्क्थाः' इन दो वाक्यों का बना, क्योंकि यहां दोनों को समुचित करने वाला 'च' पद भी प्रयुक्त है, एक वाक्य है। वैसे तो 'विषं भक्षय' और 'मास्य गृहे भुङ्क्थाः'-ये दोनों के दोनों वाक्य पृथक् पृथक् क्रियाघटित होने से परस्पर निरपेक्ष वाक्य हैं और परस्पर निरपेक्ष होने से इनमें कोई अन्वय-कोई अङ्गाङ्गिभावरूप अथवा विशेष्यविशेषणभावरूप सम्बन्ध-नहीं हो सकता, किन्तु यह देखकर कि यह वाक्य किसी मित्र का, अपने किसी मित्र के लिये, प्रयुक्त वाक्य है और कोई मित्र अपने किसी मित्र को 'विषं भक्षय' 'विष खा लो' कदापि नहीं कह सकता, यहां यह मान लिया जायगा कि दोनों वाक्यों में परस्पर अङ्गाङ्गिभावरूप अन्वय छिपा है जो कि 'च' इस समुच्चयबोधक पद द्वारा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अब जब कि यहां 'अङ्गाङ्गिभाव' मान लिया गया (और यह अङ्गाङ्गिभाव तभी सिद्ध होगा जब कि 'विषं भक्षय' इस मित्रप्रयुक्त वाक्य का अर्थ 'विष खालो' यह मुख्यार्थ नहीं अपितु 'विषभक्षण में अनिष्ट कम है, किन्तु अमुक व्यक्ति के गृहभोजन में अनिष्ट अधिक है'-यह लक्ष्यार्थ लिया जाय) तब तो यह सिद्ध ही हो गया कि 'विषं भक्षय'-यह वाक्य 'मास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस वाक्य से, उसका हेतु बनकर, सम्बद्ध पड़ा है और जब दोनों वाक्य परस्पर सम्बद्ध होकर एक वाक्य हो गये तब तो यह अर्थ निकलेगा ही कि 'इसके घर का खाना विष खाने से भी बुरा है और इसलिये कभी भी इसके घर खाना न खाओ'! अब यह अर्थ अर्थापत्तिवेद्य अर्थ कैसे? यह तो वस्तुतः यहां उपात्त-प्रयुक्त अथवा उच्चारित-शब्द का ही अर्थ है!'

यह सब कुछ होने पर भी (अर्थात व्यङ्ग्यार्थ के तात्पर्यार्थरूप अथवा वाच्यार्थरूप न हो सकने पर भी) यदि मीमांसकमतानुसारी काव्याचार्य यह कहा करें कि शब्द-श्रवण के बाद जितना और जैसा भी अर्थ प्रतीत हो उतने और वैसे अर्थ में शब्द की अभिधाशक्ति-वही दीर्घ दीर्घतर व्यापार वाली-अभिधा शक्ति ही समर्थ है तब तो वे यह भी सम्भवतः मान लेंगे कि ऐसे वाक्य, जैसे कि 'ब्राह्मण! पुत्रस्ते जातः ब्राह्मण! कन्या ते गर्भिणी'-'ब्राह्मणदेवता! पुत्र जन्म की खुशी मनाइये, आपकी कन्या (अनूढा पुत्री) तो गर्भवती है' आदि के सुनने में जो हर्ष और विषाद झलक उठेंगे, उनमें भी अभिधा का ही व्यापार रहा करेगा! वैसे यदि वे कहें कि यहां हर्ष और विषाद की प्रतीति मुख-प्रसाद और मुखमालिन्य के लिङ्ग से अनुमानतः होगी, अभिधा का क्या काम? तब उनसे अब यह पूछना पड़ेगा कि वे 'लक्षणा' क्यों माना करते हैं जब कि दीर्घ दीर्घतर व्यापार वाली अभिधा के द्वारा ही लक्षणावेद्य ('गंगायां घोषः' आदि में तीर आदि रूप) अर्थ भी प्रतीत

मपि न वाच्यत्वम् , कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः । किमिति च श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वमित्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम् ।

(दोष की नित्यता-अनित्यता की व्यवस्था का आधार—व्यङ्ग्यार्थ की मान्यता)

किञ्च कुरु रुचिमिति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम् , न ह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात् ।

हो सकता है । उनका यहां यह भी कहना कि वे लक्षणा भी नहीं मानते क्योंकि लक्ष्यार्थ भी अभिधा द्वारा ही गतार्थ मान लिया जायगा, वस्तुतः एक दुराग्रह मात्र है । दुराग्रह इसलिये कि जब शब्द-श्रुति के उपरान्त समस्त प्रतीतियों का कारण अभिधा व्यापार ही हुआ करे तब मीमांसाशास्त्रकार क्योंकर 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां-समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इस सूत्र में यह सिद्ध कर जाते कि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन ६ विनियोग-नियामकों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तरवर्ती विनियोग-नियामक इसलिये दुर्बल हुआ करते हैं क्योंकि पूर्व पूर्ववर्ती विनियोग-नियामकों की अपेक्षा उत्तरोत्तरवर्ती विनियोग नियामकों द्वारा अर्थ प्रतीति में विलम्ब हुआ करता है ! (जब भला अभिधा के द्वारा ही समस्त अर्थोपस्थिति हो, तब क्या श्रुति, क्या लिङ्ग, क्या वाक्य-सभी विनियोग-नियामकों में निर्णीत अभिधेय अर्थ क्योंकर न समान रूप से ही प्रबल अथवा दुर्बल, अविलम्बतः प्रतीत अथवा विलम्बतः प्रतीत मान लिये गये ? 'श्रुति' की अपेक्षा 'लिङ्ग' द्वारा निर्णीत अर्थ दुर्बल है, 'लिङ्ग' की अपेक्षा 'वाक्य' द्वारा निर्णित अर्थ दुर्बल है—आदि मीमांसा शास्त्रकार का अभिमत तो यही अभिप्राय रखता प्रतीत होता है कि अभिधा ही सर्वत्र अर्थ का उपस्थापन नहीं किया करती ।) अब यह सब समझ कर भी कौन ऐसा मीमांसक अथवा मीमांसानुरागी आलङ्कारिक होगा जो 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि में अभिव्यङ्ग्यविधिरूप (अन्तिक-गमनरूप) अर्थ को भी 'वाच्य' कहने का दुराग्रह करेगा !

टिप्पणी—आचार्य मम्मट की यह मीमांसा लोचनकार की इस सूक्ष्म समीक्षा का सर्वथा समर्थन कर रही है :—

'निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्याश्रयणीयः, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद् भेदः, श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम् इत्यादि प्रक्रियाविघातः, निमित्ततावैचित्र्येणैवास्याः समर्थितत्वात् । निमित्ततावैचित्र्ये चाभ्युपगते किमपरमस्मास्वभ्यसूयया ?'

(ध्वन्यालोक लोचन १.४)

अनुवाद—(संभव है कि दीर्घ दीर्घतर व्यापारवती 'अभिधा' के समर्थक आलङ्कारिक यह कहें कि 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि में प्रतीत 'विधिरूप' व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ ही है क्योंकि जब तक इस विवक्षित अर्थ की प्रतीति न हो तब तक वाक्य की विश्रान्ति नहीं हो सकती और वक्ता आदि के वैशिष्ट्य का उपयोग अभिधा के लिये मानने में भी आपत्ति क्या ! किन्तु) इसे भी ध्यान रखना चाहिये कि विना व्यञ्जना के माने कोई भी आलङ्कारिक यह कैसे कह सकता है कि यदि कहीं किसी काव्यबन्ध में 'कुरु रुचिम्' इस पद का उलट-फेर होकर 'रुचिङ्कुरु' ऐसा प्रयोग हो जाय तो यह 'साधु प्रयोग' नहीं अपितु 'दुष्टप्रयोग' होगा ! यह तो सभी कहेंगे कि 'रुचिङ्कुरु' प्रयोग दुष्ट प्रयोग है क्योंकि यहां (सन्धि होने से) जो 'चिङ्कु' शब्द सुनाई पड़ता है उसमें एक असभ्य अर्थ (अर्थात् स्त्री का योन्यङ्कुररूप अश्लील अर्थ) निकल पड़ता है । अब जब अभिधा केवल अन्वित अर्थ को ही देने वाली हुई तो क्या यह अश्लील अर्थ भी अभिधेय ही

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्, न चानुपपन्नं सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासाद् वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात्क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था।

हुआ! किन्तु इसे अभिधेय कौन कह सकता? भला यह अर्थ (जो वस्तुतः 'कुरु रुचिम्' इन पदों को उलटकर 'रुचिम्-कुरु' कर देने पर केवल 'चिम्-कु' 'चिङ्कु' इस सन्धि में अभिव्यक्त हो उठता है) 'रुचिम्' और 'कुरु' इन पदार्थों का परस्पर अन्वित अर्थ कहां जो अभिधा-बोध्य होने लगे? अश्लीलता का अभिप्राय मानकर ही तो 'रुचिङ्कुरु' का प्रयोग परित्याज्य माना जाता है किन्तु जब तक इस अभिप्राय को व्यङ्ग्यार्थ-सर्वथा पदार्थों का अनन्वित अर्थ-न माना जाय और 'व्यञ्जना' द्वारा ही इसे उपस्थापित न स्वीकार किया जाय तब तक इसे क्योंकर दुष्ट और दुष्ट होने से परित्याज्य कहा जा सकेगा।

इतना ही क्यों? आलङ्कारिकों की यह दोष-विभाग व्यवस्था, जिसकी दृष्टि से पदों के 'असाधुत्व' व्याकरण की व्युत्पत्ति से राहित्य-आदि को नित्यदोष और 'कष्टत्व'-'श्रुतिकटुत्व' आदि को अनित्य दोष माना गया है क्योंकर तब तक युक्तियुक्त हो सकेगी जब तक वाच्यवाचक-भाव के अतिरिक्त (अर्थात् अभिधा के अतिरिक्त) व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव (अर्थात् व्यञ्जना) को न माना जाय? दोषों की नित्यानित्य-विभाग-व्यवस्था को युक्तियुक्त तो कहना ही पड़ेगा क्योंकि जब कि काव्य के सभी सहृदय पाठकों का अनुभव ही इसे ऐसा सिद्ध किया करता है तो और कुछ कहने-सुनने की क्या बात? किन्तु ऐसा कहना (दोषों की नित्यानित्य-विभाग-व्यवस्था को युक्तियुक्त कहना) तभी संगत है जब व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-व्यञ्जनाव्यापार-को मान लिया जाय और यह समझ लिया जाय कि यह ऐसी वस्तु है जो वाच्यवाचकभाव-अभिधा व्यापार-से सर्वथा भिन्न-सर्वथा विलक्षण-वस्तु है। जो अभिधाबोध्य अर्थ है अर्थात् परस्पर अन्वित पदार्थ, वह तो एक प्रकार का ही हुआ करता है। यह तो व्यञ्जना-प्रतिपाद्य अर्थ है जिसके नानारूप हैं (कहीं रस-कहीं भाव-कहीं रसाभास-कहीं भावाभास आदि)। और व्यङ्ग्यार्थ के नानारूप होने ही के कारण यह कहना संगत हो सकता है कि कोई दोष (जैसे कि श्रुतिकटुत्व) कहीं पर (जैसे कि श्रृङ्गार आदि रस में) तो परित्याज्य है और कहीं पर (जैसे कि रौद्र आदि रस में) उपादेय भी है क्योंकि यह तो व्यङ्ग्यार्थों (जैसे कि श्रृंगार और रौद्र) के अभिव्यञ्जन के प्रति अनुकूलता और प्रतिकूलता ही है जिससे कुछ दोषों (जैसे कि श्रुतिकटुत्व आदि) को अनित्य कहा जाता है और कुछ दोषों (जैसे कि असाधुत्व आदि) को नित्य कहा जाता है (जो कि सर्वत्र हो हेय हैं)।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की, इस मान्यता अर्थात्—

'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव श्रृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः॥'

'अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः, सूचितास्तेऽपि न वाच्ये अर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये श्रृंगारव्यतिरेकिणि, श्रृंगारे वा ध्वनेरनात्मभूते, किं तर्हि? ध्वन्यात्मन्येव श्रृंगारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात्। (ध्वन्यालोक२·१२)

इत्यादि और लोचनकार की, इसकी इस व्याख्या अर्थात्—

'नित्यानित्यदोषविभागोऽप्यस्मत्पक्ष एव सङ्गच्छत इति दर्शयितुमाह—श्रुतिदुष्टादय इत्यादि'·····। श्रुतिदुष्टा अर्थदुष्टा वाक्यार्थबलादश्लीलार्थप्रतिपत्तिकारिणः। यथा'·····

(पद-प्रयोग का औचित्य-नियामक-व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव)

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ॥

इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम् ।

(वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में भेद)

(वाच्यार्थ नियत-एक रूप और व्यङ्ग्यार्थ अनियत-नाना रूप)

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ । न हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति । प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते । तथा च 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति,

कल्पना दुष्टास्तु द्वयोः पदयोः कल्पनया, यथा 'कुरु रुचिम्' इत्यत्र क्रमव्यत्यासे ।
(ध्वन्यालोक लोचन २.११)

इत्यादि के आधार पर व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता सिद्ध की है ।

अनुवाद—आलङ्कारिक लोग कहीं किसी पद को काव्यसौन्दर्यवर्द्धक कहा करते हैं जैसे कि इस सूक्ति (कुमारसंभव, पञ्चम सर्ग) अर्थात्—

'कपाली (खप्परधारी) शिव की प्राप्ति-कामना ने तो दोनों की दुर्दशा कर दी-पहले तो चन्द्रमा की कला की और अब प्राणिमात्र की नेत्रकौमुदी उमा की' । में अब यदि सभी काव्यार्थ अभिधेयार्थ ही हो तो क्योंकर यहां 'कपाली' पद को अधिक उपयुक्त कहा जाय ? अभिधेयार्थ की दृष्टि से तो क्या 'कपाली' क्या 'पिनाकी' सभी पर्याय-पद काव्यानुकूल ही हैं । यह तो व्यङ्ग्यार्थ (अर्थात् यहां अभिव्यङ्ग्य-कपाल-खप्पर के संयोग से शिव की निन्दा के अर्थ) की महिमा है कि यहां 'कपाली' पद ही अन्य पर्यायवाचक 'पिनाकी' आदि पदों की अपेक्षा (क्योंकि 'पिनाकी' का अभिधेयार्थ तो शिव ही है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ है वीरभावाविष्ट व्यक्ति-वस्तुतः प्रशंसापरक अर्थ) अधिक उपयुक्त-अधिक काव्यानुगुण कहा जा सके । (अब आलङ्कारिक लोग जब तक व्यञ्जना-व्यापार न माने तब तक पदों की काव्यानुकूलता का तारतम्य क्योंकर बता पांय ?)

व्यङ्ग्यार्थ को अभिधेयार्थ माना भी जाय तो कैसे माना जाय ? जब कि व्यङ्ग्यार्थ तो रहे एक अनियत अर्थ और ऐसा अर्थ जो उन २ प्रकरणों, उन २ वक्ताओं और उन २ श्रोताओं आदि की वैयक्तिक विशेषताओं के आधार पर नाना प्रकार का हुआ करे और अभिधेयार्थ हो वह अर्थ जो नियत रूप ही (क्योंकि संकेतित अर्थ को तो निश्चित रूप का अर्थ होना ही पड़ेगा ! ।) रह जाय और सभी लोगों के लिये (सहृदय और असहृदय के लिये तथा विदग्ध और अविदग्ध के लिये भी) समान रूप का ही प्रतीत हुआ करे ! इसके उदाहरण के लिये 'गतोस्तमर्कः'-'सूर्य अस्त हो गया' यही पर्याप्त है, जहां जो वाच्यार्थ है अर्थात् 'सूर्यास्त का होना' वह तो सब के लिये एक समान और वस्तुतः नियत अर्थ है, किन्तु जो व्यङ्ग्यार्थ है वह है नाना प्रकार का और सर्वथा अनियत-कभी तो इसका व्यङ्ग्यार्थ है (यदि कोई सेनापति वक्ता हो) 'चढ़ाई कर दो यही समय है शत्रुओं पर टूट पड़ने का ?, कभी (यदि दूती अभिसारिका से बोल रही हो)—'चल पड़ो अपने प्रियतम से मिलने ?' कभी (यदि सखी वासकसज्जा नायिका से कह रही हो)—'अब तेरे वे तो आने ही वाले हैं ?' कभी (यदि कामकाज करने वाले लोग बोल रहे हों)'अब काम बन्द कर देना चाहिये !',कभी (यदि कोई किसी धर्म-कर्म-निरत व्यक्ति से कह रहा हो)—'अब सांयकाल का अनुष्ठान प्रारम्भ कर देना चाहिये'

प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, साध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, सन्तापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्याऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति।

(वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूप-काल आश्रय-निमित्त-कार्य-संख्या और विषय हेतुक भेद)

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥ १३३ ॥

इत्यादौ संशय-शान्त-श्रृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण—

कथमवनिप ! दर्पो यन्निशातासिधारा-
दलनगलितमूर्ध्ना विद्विषां स्वीकृता श्रीः।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥ १३४ ॥

कभी (यदि कोई किसी कार्य वश बाहर जाने वाले से कह रहा हो)—'दूर न निकल जाना।' कभी (यदि कोई किसी गोचारक-चरवाहे-से कहे)—'गायों को घर में ले जाया जाय।' कभी (यदि दिन की गर्मी से ऊबा हुआ कोई बोलने वाला हो)—'अब गर्मी नहीं।' कभी (यदि किसी दिन सन्ध्या समय व्यापारी लोगों में से कोई बोलने अथवा सुनने वाला हो)—'अब दूकानें उठा दी जांय।' कभी (यदि किसी प्रोषित पतिका नायिका से कहा जाय)—'अभी भी वे न आये।' कभी कुछ और कभी कुछ—जिसकी न तो कोई सीमा हो और न गणना हो !

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट की यह वाच्य-व्यङ्ग्यभेद-मीमांसा ध्वनिकार की इस विचार-धारा का आधार लेकर चल रही है:—

'वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात् स तु (व्यञ्जकत्वलक्षणः व्यापारः) अनियतः, औपाधिकत्वात्। प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथात्वप्रतीतेः। ननु यद्यनियतः तत्किं तस्य स्वरूपपरीक्षया ? नैष दोषः, यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यलक्षणे।'

(ध्वन्यालोक उद्योत ३)

अनुवाद—जब कि वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों का स्वरूप भी परस्पर विलक्षण हो जैसे कि 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि में वाच्य यदि निषेध रूप हो तो व्यङ्ग्य हो विधि रूप, अथवा जैसे कि—

'अरे महानुभाव लोगो ! निष्पक्ष रूप से विचार करो और ठीक २ बताओ कि करूँ तो क्या करूं—क्या पर्वतों के नितम्बों की (पहाड़ों की उपत्यकाओं की) शरण लूं या शरण लूं हावभाव से हंसती-हंसाती सुन्दरियों के नितम्बों की।'

इत्यादि में वाच्य यदि संशयात्मक हो तो व्यङ्ग्य हो शान्त-प्रकृति अथवा श्रृंगार-प्रकृति के वक्ता के नाते निश्चयात्मक, अथवा जैसे कि :—

'राजन् ! यदि आपको यह अभिमान हो कि आपने अपनी तीक्ष्ण खड्ग-धार से क्षत-विक्षत शत्रुओं की लक्ष्मी हाथ में कर ली तो इसे भी ध्यान रखिये कि उन कटे-पिटे अङ्ग वाले शत्रुओं द्वारा भी आप के शत्रुमर्दन होने की प्यारी कीर्ति, अपने साथ साथ स्वर्ग में खींच ले जायी गयी।'

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य, पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्धव्यपदेशयोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च कारणात् कार्यस्य गतोऽस्तमर्क इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः—

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं।
सभमरपउमग्घाइणि वरिअवामे सहसु एण्हिं ॥ १३५ ॥

(कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥ १३५ ॥)

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं तत्कचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्तं हि—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च'—इति।

इत्यादि में वाच्य यदि निन्दारूप हो तो व्यङ्ग्य हो स्तुति रूप; जब कि वाच्य प्रतीति और व्यङ्ग्यप्रतीति में कालभेद स्पष्ट हो, जैसे कि वाच्य की प्रतीति यदि पहले हो तो व्यङ्ग्य की प्रतीति उसके बाद में हुआ करे, जब कि वाच्यार्थ का आश्रय और व्यङ्ग्यार्थ का आश्रय परस्पर भिन्न हो, जैसे कि वाच्यार्थ का आश्रय यदि शब्दमात्र हो तो व्यङ्ग्यार्थ का आश्रय शब्द, शब्दांश, शब्दार्थ, वर्ण और रचना भी हो, जब कि वाच्यावगम का जो निमित्त हो वही व्यङ्ग्यावबोध का न हो जैसे कि 'वाच्य यदि जान लिया जाया करे, व्याकरण-कोश आदि की सहायता से उत्पन्न बोधकत्व-ज्ञान-मात्र से तो व्यङ्ग्य पता चल सके, प्रकरणादि की विशेषता के अनुभव से उद्बुद्ध भावयित्री प्रतिभा के वैशद्य से विशिष्ट बोधकत्वरूप ज्ञान से; जब कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का कार्य परस्पर भिन्न हुआ करे, जैसे कि वाच्यार्थ की प्रतीति कर चुकने पर हमें कहा जाय, 'बोधवाला' और व्यङ्ग्यार्थ की अनुभूति से हमें समझा जाय 'सहृदय', वाच्यार्थ का हमारा ज्ञान कहा जाय 'प्रतीति' तो व्यङ्ग्यार्थ का माना जाय, 'चमत्कार', जब कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की संख्या में इतना भेद हो कि वाच्यार्थ रहे एक और व्यङ्ग्यार्थ हो अनेक, जैसा कि 'गतोऽस्तमर्कः' में देख ही लिया गया और वस्तुतः जब कि वाच्यार्थ का विषय हो कुछ और व्यङ्ग्यार्थ का विषय हो कुछ, जैसे कि—(प्रेयसी के अधरों पर, किसी अन्य प्रेमी के दन्त क्षत को देखकर, किसी रुष्ट प्रेमी के प्रति चतुर सखी की इस उक्ति में)—'अपनी प्रेयसी के अधर पर कटने का चिह्न देख कर भला कौन प्रेमी रुष्ट न हो जाय? अरी! तुझे कितनी वार मना किया कि ऐसे कमल को न सूंघ जिसमें भौंरा बैठा हो, किन्तु तू क्यों मानने लगी? अब भुगतो अपनी करनी का फल!; इत्यादि में, वाच्यार्थ का (बात न मानने का) यदि विषय हो 'प्रेमिका' जिसे उसकी सखी झिड़क रही हो तो व्यङ्ग्यार्थ का (इसने कुछ नहीं किया का) विषय हो 'प्रेमी' अथवा कोई पड़ोसिन (जिसके प्रति प्रेमिका की चतुर सखी अपनी चालाकी का दम भरी हों) अथवा कोई सौत (जिसके प्रति चतुर सखी कह रही हो कि डाह करने से कुछ नहीं बिगड़ा) अथवा सास (जिसके प्रति चतुर सखी कह रही हो कि उसकी बहू पर सन्देह करना व्यर्थ है) आदि आदि, तब भी यदि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ को एक ही माना जाने लगे तब तो यह भी माना जाने लगेगा कि संसार में कहीं कोई भेद नहीं, जो नीला है वही पीला है और जो पीला है वही नीला है! किन्तु 'भेद' को 'अभेद' कैसे मान लिया जाय जब कि पुराने लोग कहते आ रहे हैं कि 'एक वस्तु का दूसरी वस्तु से जो भेद है वह

(वाच्य और व्यङ्ग्य में ही नहीं वाचक और व्यञ्जक में भी परस्पर भेद)

वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम् । किं च वाणीरकुडङ्गेत्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं स्वरूपे एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति ।

(व्यञ्जकता का लाक्षणिकता से भी भेद)

ननु—'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति,

यह है कि एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु में नहीं देखा जाया करता और यह सब इसलिये है कि एक वस्तु का कारण दूसरी वस्तु का कारण नहीं बन सकता ।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इन मान्यताओं का अनुमोदन किया है—

'यस्मान्न तद्वाचकत्वैकरूपमेव, क्वचिल्लक्षणाश्रयेण वृत्तेः । न च लक्षणैकरूपमेवान्यत्र वाचकत्वाश्रयेण व्यवस्थापनात् । न चोभयधर्मत्वेनैव तदेकैकरूपं न भवति यावद्वाचकत्वलक्षणादिरूपरहितशब्दधर्मत्वेनापि ।'

'अयं चान्यः स्वरूपभेदः-यद्गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वमेवोच्यते, व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव ।' इत्यादि (ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत)

अनुवाद—(यहां यह भी जानना आवश्यक है कि केवल 'वाच्य' और 'व्यङ्ग्य' में ही परस्पर भेद नहीं किन्तु वाचकता और व्यञ्जकता में भी परस्पर भेद है क्योंकि) जिसे वाचकता कहा जाता है उसे ही व्यञ्जकता नहीं कहा जा सकता । क्यों ? इसलिये कि जो 'वाचक' हैं उन्हें तो संकेतित अर्थ की अपेक्षा रहा करती है और जो 'व्यञ्जक' हैं उन्हें ऐसे अर्थ की अपेक्षा नहीं हुआ करती (अर्थात् अभिधा का व्यापार तो संकेतित अर्थ के क्षेत्र में कार्यकर हुआ करता है और व्यञ्जना का व्यापार ऐसे अर्थ के क्षेत्र में, जहां किसी संकेत की कोई प्रतीति नहीं हुआ करती ।)

जब तक व्यञ्जकता और वाचकता को परस्पर सर्वथा भिन्न-सर्वथा विलक्षण-न मान लिया जाय तब तक व्यङ्ग्यार्थ को-तात्पर्यवृत्ति के सर्वथा अविषयभूत अर्थ को-किस व्यापार का विषय कहा जाय ? और (वहां क्यों जहां वह स्वतन्त्र हो किन्तु) वहां (ही) कहा जाय जहां वह अपने प्रत्यायन के निमित्त किन्तु अपने से अधिक सुन्दर और चमत्कारक वाच्यार्थ-तात्पर्य के सर्वथा विषयभूत अर्थ-को अपने साथ रखते स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है । उदाहरण के लिये ? इसके लिये तो 'वानीरकुञ्जोड्डीन' आदि दिया ही जा चुका है जिसे 'गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य' कहते हैं, जहां वाच्यार्थ-तात्पर्य के विषयभूत अर्थ (अर्थात् (प्रेमिका के अङ्गों की विषण्णता के शब्दोपात्त अर्थ) के द्वारा एक व्यङ्ग्यरूप अर्थ (वस्तुतः पूर्वसंकेतानुसार प्रेमी के लताकुञ्ज में प्रवेश करने के सर्वथा शब्दतः अनुपात्त और इसलिये अतात्पर्यभूत अर्थ) की प्रतीति की जाया करती है और जहां अन्ततोगत्वा वाच्यार्थ ही, चाहे, अधिक सुन्दर क्यों न हो, जैसा कि वस्तुतः है भी, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ, असुन्दर होते हुये भी अवश्य रहा करता है । यहां तात्पर्यभूत अर्थ को वाचकता-शक्ति का विषय कहना तो ठीक ही है किन्तु अतात्पर्यभूत अर्थ को, जिसकी प्रतीति में तनिक भी सन्देह नहीं, किस शक्ति का विषय कहा जाय यदि व्यञ्जकताशक्ति न मानी जाय ? (विना व्यञ्जकता माने और वाचकता से सर्वथा विलक्षण माने ऐसे प्रसङ्गों में वाच्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त सर्वथा निःसंदिग्ध रूप से प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यरूप अतात्पर्यभूत अर्थ को क्या किया जाय ? इस अर्थ के लिये-तात्पर्य से अत्यन्तबहिर्भूत अर्थ के लिये-यदि कोई भी शक्ति मानी गयी तो वह वाचकता से भिन्न ही होगी और व्यञ्जकता ही होगी ।)

(यह तो सिद्ध ही हो चुका कि वाचकता में व्यञ्जकता के भ्रम का कोई

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति।'

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' इत्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ? उच्यते, लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव न खलु मुख्येनार्थेनाऽनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविषयवशेन नियतसम्बन्धः अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते।

न च—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ इत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
मा पहिअ ! रतिअन्धअ ! सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥ १३६ ॥

(श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राऽहं दिवसके प्रलोकय।
मा पथिक ! रात्र्यन्धक ! शय्यायामावयोर्निमंक्ष्यसि ॥ १३६ ॥)

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः तत्कथमत्र लक्षणा लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम्।

कारण नहीं किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि 'लाक्षणिकता' में 'व्यञ्जकता' का भ्रम होने लगे क्योंकि) जिसे व्यञ्जकता कहते हैं वह लाक्षणिकता से भी सर्वथा भिन्न एक विलक्षण व्यापार है। यहां यह कहना कि व्यङ्ग्यरूप अर्थ कोई विलक्षण–नवीन–अर्थ नहीं क्योंकि जो भी व्यङ्ग्यार्थ-वैचित्र्य है वह वस्तुतः विचित्र लक्ष्यार्थ ही है जैसे कि 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' में, 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' में और 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' इत्यादि में एक ही 'राम' पद से प्रतीत होने वाला नाना प्रकार का (कहीं दुःख भोग में निरत, कहीं दारुणाचरण में तत्पर, कहीं महावीर–चर्या में प्रसिद्ध व्यक्ति रूप) लक्ष्यार्थ–ऐसा लक्ष्यार्थ जो एक विशिष्ट नामरूप का (जैसे कि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य अथवा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य प्रकार का) लक्ष्यार्थ हो और जिसका कारण हो शब्द ('राम' रूप लाक्षणिक शब्द) अर्थ ('राम' का मुख्य दशरथ–पुत्र रूप बाधित अर्थ) तथा प्रकरण किंवा वक्तृ–वैशिष्ट्य आदि—वस्तुतः युक्तियुक्त नहीं। क्यों ? इसलिये कि लक्ष्यार्थ का रूप–वैविध्य भले ही सिद्ध हो किन्तु इसमें व्यङ्ग्यार्थ की सी अनियतरूपता तो कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती। लक्ष्यार्थ तो विविध प्रकार का होते हुये भी अभिधेयार्थ की ही भांति, जैसे कि अनेकार्थकवाचक पद के अभिधेय रूप अर्थ की ही भांति, वस्तुतः एक नियतरूप का ही अर्थ है क्योंकि ऐसे अर्थ को तो कभी लक्ष्यार्थ कहा ही नहीं जा सकता जिसका अभिधेयार्थ से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध (चाहे वह सम्बन्ध सामीप्यरूप, सादृश्यरूप, वैपरीत्यरूप या और रूप का ही क्यों न हो) नियमतः प्रतीत न हो पाय ! व्यङ्ग्यरूप अर्थ की जो बात है वह इससे सर्वथा विलक्षण है। व्यङ्ग्यरूप अर्थ को यदि कहीं प्रकरण–वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से मुख्यार्थ से सम्बद्ध देखा जाय, जैसा कि सम्भव है, तो यह भी समझ लेना चाहिये कि यह सम्बन्ध कभी तो नियतरूप, कभी अनियतरूप और कभी सम्बद्ध सम्बन्ध रूप भी है। लक्ष्यार्थ भला ऐसा कहां ? क्या इस सूक्ति अर्थात्—

'अरे रतौंधीवाले बटोही ! दिन में ही ठीक ठीक देख लो कि मेरी सास कहां सोती है और मैं कहां सोती हूं। ऐसा कहीं न कर बैठना कि मेरे बिछावन पर गिर पड़ो !' में जो वस्तुतः 'विवक्षितान्यपरवाच्य' (लक्षणामूलक) ध्वनिरूप अर्थ (अर्थात् मेरे ही बिछावन पर लेट रहने का अर्थ) प्रतीत हो रहा है वह विवक्षितान्यपरवाच्यरूप

यथा च समयसव्यपेक्षाऽभिधा । तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः । न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम् । तदनुगमेन तस्य दर्शनात् । न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्, न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः, न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेरित्यभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्त्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपल-

लक्ष्यार्थ कहा जा सकता है ? भला इस व्यङ्ग्यरूप अर्थ को लक्ष्यरूप अर्थ कैसे मान लिया जाय जब कि यहां न तो मुख्यार्थ अनुपपन्न ही है और न इसलिये बाधित ही हो सकता है ! यहां तो लाक्षणिकता-व्यापार की कोई सम्भावना ही नहीं दिखायी देती ! और जब पहले (द्वितीय उल्लास पृ०...... में) यह बता ही दिया जा चुका है कि व्यञ्जकता का व्यापार लक्ष्यार्थ के लिये भी (जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' आदि में जहां शैत्यपावनत्वरूप व्यङ्ग्यभूत अर्थ की प्रतीति को छोड़कर लक्ष्यार्थ की प्रतीति का कोई प्रयोजन नहीं) अत्यन्त आवश्यक है तब तो यह सिद्ध ही है कि व्यञ्जकता लाक्षणिकता से सर्वथा एक भिन्न व्यापार है । लाक्षणिकता को तो वाचकता की पूंछ सी कहा जाया करता है क्योंकि जैसे वाचकता (अभिधाशक्ति) को संकेत की अपेक्षा बनी रहती है वैसे ही लाक्षणिकता (लक्षणाशक्ति) को भी संकेत की आवश्यकता पड़ी रहती है । अब यदि दोनों में (अर्थात् अभिधा और लक्षणा में) भेद किया जाता है तो इसीलिये कि अभिधा को संकेत-सामान्य की अपेक्षा है और लक्षणा को अपेक्षा है मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और रूढि अथवा प्रयोजन-इस त्रिविधरूप संकेत-विशेष की । (इससे तो यही सिद्ध है कि व्यञ्जकता, जिसे मुख्यार्थबाधादि रूप संकेत-विशेष की भी कोई अपेक्षा नहीं, लाक्षणिकता से एक सर्वथा विलक्षण व्यापार है !)

भला 'व्यञ्जना' 'लक्षणा'-रूप कैसे जब कि व्यञ्जकता का व्यापार लाक्षणिकता के व्यापार का अनुसरण करे (जैसे कि लक्षणामूल ध्वनि में) ? किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि व्यञ्जना सदा लक्षणा का ही सहारा लिया करे ! व्यञ्जना तो अभिधा का भी सहारा लिया करती है (जैसे कि अनेकार्थ शब्द के व्यङ्ग्यरूप अर्थ में अर्थात् 'भद्रात्मनः' इत्यादि में) ! किन्तु इससे यह भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि व्यञ्जना सदा 'अभिधा' अथवा 'लक्षणा' का ही अनुगमन किया करती है । 'व्यञ्जना' तो सर्वथा अवाचक वर्णमात्र पर भी उपजीवित रह सकती है (क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक कोमल अथवा परुष वर्ण भी तो रसभावादि को अभिव्यक्त करते स्पष्ट प्रतीत हुआ करते हैं !) और अवाचक वर्ण पर ही क्यों ! इसे तो कटाक्ष-भुजाक्षेप आदि पर भी जो न वर्णात्मक न पदात्मक हैं और अवलम्बित देखा जाया करता है (क्योंकि नर्तकी के केवल कटाक्ष ही, न जाने किन किन भावों को प्रकट किया करते हैं ?) अन्तिम निष्कर्ष यही निकला कि व्यञ्जना व्यापार, जिसे ध्वनन कहें, प्रत्यायन कहें, या अभिव्यञ्जन कहें, ऐसा व्यापार है जो अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों व्यापारों से सर्वथा भिन्न-सर्वथा विलक्षण-व्यापार है और जिसका अपलाप वस्तुतः असंभव है (क्योंकि 'अभिधा' के द्वारा व्यञ्जना का अपलाप कैसा, जब कि व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा असंकेतिक अर्थ हो ? 'तात्पर्यवृत्ति' क्यों कर व्यञ्जना को गतार्थ कर सके, जब कि व्यङ्ग्यार्थ अन्वित अर्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ रहे ? और 'लक्षणा' में 'व्यञ्जना' का अन्तर्भाव कहां, जब कि व्यङ्ग्यार्थ में मुख्यार्थबाधादि की कोई संभावना नहीं ?)

यह व्यञ्जना का ही व्यापार है जो कहीं तो ऐसे व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायक हुआ करता है जो 'नियत सम्बन्ध' रूप हो-अर्थात् ऐसा हो जिसका मुख्यार्थ से कोई न कोई सम्बन्ध

पनीय एव। तत्र अत्ता एत्थ इत्यादौ नियतसम्बन्धः कस्स वा ण होइ रोसो इत्यादावनियतसम्बन्धः।

विपरीअरए लच्छी वह्मं दट्ठूण णाहिकमलट्ठं।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥ १३७ ॥

(विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥ १३७ ॥)

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः। अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः तेन पद्मस्य सङ्कोचः ततो ब्रह्मणः स्थगनं तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनियन्त्रणं निधुवनविलसितमिति।

नियमतः प्रतीत हुआ करे—जैसे कि 'अत्ता एत्थ' (श्वश्रूरत्र) आदि पूर्वोदाहृत सूक्ति में (जहां 'शय्या पर न लेटने की चेतावनी' के वाच्यार्थ और 'शय्या पर लेटाने की अभिलाषा' के व्यङ्ग्यार्थ में विरोधिता रूप सम्बन्ध स्पष्ट है)। कहीं कहीं व्यञ्जना-व्यापार ऐसे भी व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायन-साधन है जो 'अनियत सम्बन्ध' रूप हो-अर्थात् ऐसा हो जिसका मुख्यार्थ के साथ कोई भी प्रसिद्ध सम्बन्ध न पता चल सके-जैसे कि 'कस्स वाण होइ रोसो' ('कस्य वा न भवति रोषः') इत्यादि पूर्वोद्धृत सन्दर्भ में, (जहां 'नायिका के अविनय' के वाच्यार्थ और 'अधर की भ्रमर द्वारा न कि उपपति द्वार क्षति' के व्यङ्ग्यार्थ में कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता)। इतना ही क्यों? व्यञ्जना-व्यापार के द्वारा कहीं तो ऐसे भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति सम्भव है जो 'सम्बद्ध सम्बन्ध रूप' हुआ करता है-जैसे कि-'पुरुषायितरतिलीला का आनन्द लेती हुई लक्ष्मी नाभिनलिन पर विराजमान ब्रह्मा को क्या देखे वह तो और भी रसावेश में पड़ी अपने प्रियतम विष्णु का दक्षिण-नेत्र ही तुरत बन्द कर दिया करती है।, इत्यादि में, जहां अन्तिम व्यङ्ग्यार्थ-अर्थात् लक्ष्मी का स्वच्छन्द रतिरभसरस रूप अर्थ-मुख्यार्थ से परम्परया सम्बद्ध है क्योंकि मुख्यार्थ और इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के बीच इतने व्यङ्ग्यार्थ पड़े हुये हैं—'हरि' पद के द्वारा दक्षिण नयन की 'सूर्यरूपता' का व्यङ्ग्यार्थ, दक्षिण नयन के निमीलन के द्वारा 'सूर्यास्त-वेला का व्यङ्ग्यार्थ, सूर्यास्तवेला के द्वारा 'पद्म-सङ्कोच' का व्यङ्ग्यार्थ, पद्मसङ्कोच के द्वारा 'ब्रह्मा के तिरोधान का व्यङ्ग्यार्थ और ब्रह्मा के तिरोधान के द्वारा मदनास्त्र भूतगोपनीय अङ्गों के अदर्शन का व्यङ्ग्यार्थ!

टिप्पणी—(क) यहां आचार्य मम्मट ने व्यञ्जकता-व्यापार को वाक्यविद् मीमांसकों के लिये भी मान्य सिद्ध किया है और ध्वनिकार के इस निर्णय अर्थात्—

'तथा दर्शितभेदत्रयरूपं तात्पर्येण द्योत्यमानमभिप्रायरूपमनभिप्रायरूपञ्च सर्वमेव ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकमिति यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषे ध्वनिलक्षणेनातिव्याप्तिर्न चाव्याप्तिः। तस्माद् वाक्यतत्त्वविदां मतेन तावद् व्यञ्जकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते।, (ध्वन्यालोक उद्योत ३) को ही उन उन युक्तियों के द्वारा परिपुष्ट किया है।

(ख) 'व्यञ्जना' को अभिधा-तात्पर्य और लक्षणा वृत्तियों से सर्वथा विलक्षण सिद्ध करने का आचार्य मम्मट का जो आधार है वह लोचनकार की यह सूक्ष्म समीक्षा है:—

'तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादि सोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः। यद् वक्ष्यति—

'मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥' इति।

तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः। तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधन-

(पदतत्त्वविद् वैयाकरणों का नित्यशब्द ब्रह्मवाद और व्यञ्जना)

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम् इति येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव।

(प्रमाणतत्त्ववित् नैयायिकों और न्यायमतानुसारी आलङ्कारिकों का 'अनुमितिवाद' और व्यञ्जना)

ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गाद् एवं च सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं तद्रूपः पर्यवस्यति। तथा हि—

शक्तिस्तात्पर्यशक्तिः। मुख्यार्थबाधादि सहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः। तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजातत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः, स च प्रागवृत्तं व्यापारत्रयं न्यक् कुर्वन् प्रधानभूतः...... ।

(ध्वन्यालोक लोचन १.४)

अनुवाद—नित्य शब्द ब्रह्मवादी–वेदान्ती वैयाकरणों को भी, जिनका यह सिद्धान्त है कि तात्त्विक दृष्टि से वाक्य अखण्ड हैं और विना पदपदार्थ–विभाग के अखण्ड स्फोटरूप वाक्यार्थ के बोधक हैं और इसलिये अखण्ड वाक्य ही वाचक है और अखण्ड वाक्यार्थ ही वाच्य है, पूर्वोक्त 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि उदाहरणों में 'विधि' आदि को सर्वथा व्यञ्जनावृत्तिवेद्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि (उनकी पारमार्थिक दृष्टि में भले ही यह सब व्यङ्ग्यार्थ अखण्ड वाक्यगम्य हो और वाक्य शक्ति–वेद्य होने से वाच्य रहा करे) जब संसार दशा में–अविद्यारूप प्रक्रियानिरूपण में–उन्हें भी पद–पदार्थ की कल्पना करनी ही है तब व्यङ्ग्यार्थ के लिये व्यञ्जनावृत्ति को मानलेने में क्या हिचक है।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने वैयाकरणों के लिये ध्वनिकार के इस व्यञ्जना–मान्यता–विषयक सुझाव का अर्थात्—

'परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैस्सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते।' (ध्वन्यालोक उद्योत ३) इत्यादि का समर्थन किया है और साथ ही साथ लोचनकार की इन युक्तियों अर्थात्—

'येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थञ्चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्तां तावत्।' (ध्वन्यालोक लोचन १.४) का बड़े मनोयोग से अनुसरण भी किया है।

अनुवाद—(पदतत्त्ववित् किंवा वाक्यतत्त्ववित् लोगों और उनके अनुयायी आलङ्कारिकों के लिये 'व्यञ्जना' तो अब मान्य सिद्ध हो ही चुकी किन्तु) प्रमाण तत्त्ववित् लोगों और उनके अनुयायी आलङ्कारिकों के लिये भी 'व्यञ्जना' को 'अनुमिति' से सर्वथा विलक्षण व्यापार मानना आवश्यक ही है। वैसे तो प्रमाणतत्त्ववेत्ता लोग यही सिद्ध करना चाहते हैं कि जब व्यङ्ग्यरूप अर्थ ऐसा अर्थ है जो वाच्य से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हुआ करता, क्योंकि वाच्य से असम्बद्ध होने का तो यही अर्थ है कि जिस किसी भी शब्द से जिस किसी भी व्यङ्ग्य की प्रतीति हुआ करे !, जब कि वाच्य और व्यङ्ग्य में सम्बन्ध होने का अभिप्राय यह है कि जिसे व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव कहा जाता है वह वाच्यवाचकभाव से नियमतः सम्बद्ध रहा करता है और अन्ततोगत्वा जब कि व्यङ्ग्यरूप अर्थ वस्तुतः अनुमानरूप ही रहा करता है और इसलिये रहा करता है क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ–

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअ सीहेण ॥ १३८ ॥

(भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ १३८ ॥)

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति । यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वम् , गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।

प्रतीति यदि साध्य (लिङ्गी) का ज्ञान है तो वाच्यार्थ-प्रतीति उसका ऐसा साधन (लिङ्ग) है जिसमें हेतु-विषयक त्रिविध वैशिष्ट्य अर्थात् सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व और पक्षवृत्तित्व सर्वथा विराजमान रहा करता है, तब व्यञ्जनावृत्ति अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसीलिये इन अनुमितिवादियों ने (एक अभिसारिका की अपने अभिसार-स्थान पर आने-जाने वाले एक पुजारी के प्रति) इस उक्ति अर्थात्—'अरे पुजारी महाराज ! अरे, अब तो गोदावरी की कछार की कुञ्जवीथी में डेरा डाले पड़े दुर्दान्त सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है—अब तो यहां निडर विचरा करो देवता !' में जो 'भ्रमणनिषेधरूप' व्यङ्ग्यार्थ है, उसे 'अनुमिति' सिद्ध किया है, क्योंकि उनकी युक्ति यहां यह है कि 'सिंह के द्वारा कुत्ते के मार दिये जाने से घर में पुजारी के स्वच्छन्द विचरण का जो विधान है' उससे तो यह अनुमान स्वभावतः सम्भव ही है कि 'गोदावरी के कछार में सिंह के डेरा डाले पड़े रहते वहां पुजारी को भ्रमण नहीं करना चाहिये'। यहां उन्होंने यह व्याप्ति भी बता रखी है—जो भीरुभ्रमण है वह भयकारण के अभाव के ज्ञानपूर्वक है' और इसलिये जब कि यहां इसके विरुद्ध बात दिखाई दे रही है अर्थात् कहां तो भीरुभ्रमण ! और कहां भयकारण के अभावज्ञान के विरुद्ध भयकारण के सद्भाव का ज्ञान ! तब तो यही अनुमान हो सकता है कि 'गोदावरी का कछार भीरुभ्रमण के अयोग्य है क्योंकि वहां सिंह रहा करता है और वह स्थान जहां ऐसी बात नहीं (अर्थात् जहां सिंह नहीं) भीरुभ्रमण के अयोग्य नहीं (अपितु योग्य है) जैसे कि घर ।'

किन्तु प्रमाणतत्त्ववित् लोगों का यहां यह अनुमान अनुमान नहीं अपितु अनुमानाभास है। क्यों ? इसलिये कि सब से पहले तो यह व्यतिरेक व्याप्ति कि 'यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्—' जो जो भीरुपुरुषसम्बन्धी कहीं विचरण है, वह सब वहां भयकारण के अभाव के ज्ञानपूर्वक है—वस्तुतः व्यभिचारदोषग्रस्त प्रतीत हो रही है और इसलिये हो रही है क्योंकि भयकारण के सद्भाव में भी भीरुपुरुष का भ्रमण संभव है जैसे कि गुरु-निदेश से अथवा राजादेश से अथवा प्रियानुराग से अथवा अन्य किसी कारणवश जिससे यही सिद्ध हुआ कि 'भीरुभ्रमण' का 'भयकारणनिवृत्तिज्ञान' रूप हेतु 'अनैकान्तिक' है। किन्तु 'अनैकान्तिक' अथवा 'व्यभिचारी' ही क्यों, यह हेतु तो 'विरुद्ध' हेतु भी है क्योंकि यहां यह भी तो सम्भव है कि 'कुत्ते से (जैसे कि उसके स्पर्श से) डरनेवाला भी कोई व्यक्ति वीर होने के कारण सिंह से सदा निडर रहे, (अर्थात् भीरुभ्रमणाभाव और सिंहसद्भाव में व्याप्ति कहां!) और इतना ही क्यों ? यह हेतु 'असिद्ध' भी तो है! भला गोदावरी के तीर पर सिंह का सद्भाव जबतक प्रत्यक्षतः अथवा अनुमानतः निश्चित न हो तब तक इस हेतु को असिद्ध-संदिग्धासिद्ध-नहीं कहा जाय तो और क्या कहा जाय! यहां इस हेतु की सिद्धि वचनमात्र से निर्भर है और किसके वचनमात्र से! एक कुलटा के वचनमात्र से ! भला जब किसी कुलटा के वचन का ही कोई विश्वास न हो तब उसकी बतायी बात का ही कौन विश्वास ! इन सब बातों से क्या निष्कर्ष निकला ? यही कि इस प्रकार के हेतु से, जो अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध भी हो, साध्य

अत्रोच्यते—भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियाऽनुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः, शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात् न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च, तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।

तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव

क्योंकर सिद्ध होने लगे ! (किन्तु इस भ्रमणनिषेधरूप अर्थ को जब अभिव्यङ्ग्य व्यञ्जनावृत्तिवेद्य—माना जाय, तब यहां कोई भी दोष नहीं, क्योंकि यहां न तो कोई साध्य-साधन भाव का बखेड़ा है और न व्याप्तिग्रह के निश्चय-अनिश्चय का तूल-तवाल है!)

टिप्पणी—वैसे तो ध्वनिकार ने ही प्रमाणतत्त्ववित् लोगों के अनुमितिवाद से अभिव्यञ्जनावाद की गतार्थता की आशङ्का की है और इस आशंका का युक्तियुक्त समाधान भी कर दिया है जैसा कि उनकी इन पङ्क्तियों से स्पष्ट है—

'द्विविधो विषयः शब्दानाम्-अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च। तत्रानुमेयो विवक्षालक्षणः। विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा, शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा। तत्राद्या न शाब्दव्यवहाराङ्गम्। सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला। द्वितीया तु शब्दविशेषावधारणावसितव्यवहिताऽपि शब्दकरणव्यवहारनिमित्तम्। ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम्। प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः। स च द्विविधः-वाच्यो व्यङ्ग्यश्च। प्रयोक्ता हि कदाचित् शब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते, कदाचित् स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित्। स तु द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गितया स्वरूपेण-प्रकाशते अपि तु कृत्रिमेणाऽकृत्रिमेण वा सम्बन्धान्तरेण। विवक्षाविषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैः लिङ्गितया प्रतीयते न तु स्वरूपम्। यदि हि लिङ्गितया तत्र शब्दानां व्यापारः स्यात्तच्छब्दार्थे सम्यङ्मिथ्यात्वादिविवादा एव न प्रवर्त्तेरन् धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्तरवत्। व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धीभवत्येव।' (ध्वन्यालोक उद्योत ३)

किन्तु आचार्य मम्मट ने यहां व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट के इस व्यञ्जनाक्षेप को लक्ष्य किया है—

'भ्रम धार्मिक' इति ·····अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः, तयोर्धूमाग्न्योरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात्। तत्राद्यस्तावत् अविवेकसिद्धः स्पष्ट एव भ्रमणविधिलक्षणस्य साध्यस्य तत्परिपन्थि क्रूरकुक्कुरमारणात्मनः साधनस्य चोभयोरप्युपादानात्। द्वितीयस्त्वत एव हेतोः पर्यालोचितणिजर्थस्य विवेकिनः प्रतिपत्तुः प्रयोजकस्वरूपनिरूपणेन सामर्थ्यात् प्रतीतिमवतरति। तच्च सामर्थ्यं मृतेऽपि कौलेयके क्रूरतरस्य सत्त्वान्तरस्य तत्र सद्भावावेदनं नाम नापरम्। तदेव च साधनम्। तयोश्च साध्यसाधनयोरविनाभावनियमो विरोधमूलः। स चानयोर्लोकप्रमाणसिद्ध इत्युक्तम्।

(व्यक्तिविवेक ३ य विमर्श)

अनुवाद—इसीप्रकार 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि में भी (जिससे 'तदन्तिकमेव रन्तुं गतासि'–'उसी के पास रमण करने गयी थी'–यह व्यङ्ग्यरूप अर्थ सहृदयहृदयवेद्य हुआ करता है) अनुमितिवादियों द्वारा व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का अनुमाप्यानुमापकभाव माना जाना कदापि युक्तिसिद्ध नहीं क्योंकि यहां जिन चन्दनच्यवन-रागराहित्य आदि को (संभोग के) गमक-अनुमापक-हेतुरूप से माना जा सकता है वे ऐसे हैं जो वस्तुतः

प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि । व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम् । नचात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम् । एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम् ।

इति श्रीकाव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णयो नाम पञ्चमोल्लासः ॥ ५ ॥

अनैकान्तिक व्यभिचरित सिद्ध हो रहे हैं। क्यों? इसलिये कि इन्हें निश्चितरूप से संभोग का ज्ञापक कैसे मान लिया जाय जब कि ये अन्य कारणों से भी संभव है और जिन कारणों से संभव है उन्हें ढूंढ़ने की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि यहीं इन्हें स्नान के द्वारा सम्भव होते स्पष्ट बताया हुआ है। इसलिये जब इनमें और उपभोग में किसी प्रकार की व्याप्ति नहीं तब इनसे उपभोग की अनुमिति कैसी!

यहां तो 'अधम' पद की महिमा से 'चन्दनच्यवन' आदि वस्तुतः व्यञ्जकरूप से पड़े प्रतीत हो रहे हैं जैसी कि ध्वनिवादियों की मान्यता है। अनुमितिवादियों का यहां यह कहना कि 'अधम' पद की ही महिमा से 'चन्दनच्यवन' आदि अनुमापक लग रहे हैं, सर्वथा अनुचित है क्योंकि जब तक यहां वर्णित नायक के अधम होने का निर्णय प्रत्यक्षतः अथवा अनुमानतः न हो जाय—कुपित नायिका के कथनमात्र का क्या विश्वास!—तबतक तो अधमत्वरूप यह हेतु संदिग्धासिद्ध ही हुआ और संदिग्धासिद्ध हेतु से अनुमान कैसा!

यह तो ध्वनिवाद की ही विशेषता है कि बिना किसी उपपत्ति-बिना किसी व्याप्य-व्यापक-भावादि की मान्यता-के ही (सहृदयहृदय के प्रमाण पर) कह दिया जाय कि 'इस प्रकार के वाच्यार्थ से—जैसे कि नायिका के कुपित होकर नायक को 'अधम' कहने के साथ साथ दूती के चन्दनच्यवन आदि के चिह्नों के उद्घाटन से-इस प्रकार का व्यङ्ग्यरूप अर्थ—जैसे कि दूती का नायक के साथ रतिलीला का अर्थ-प्रतीत हुआ करता है। अब भला जब व्यञ्जनावाद में 'व्यञ्जक' को 'गमक' ही नहीं माना गया, तब अनैकान्तिकता और संदिग्धासिद्धि आदि दोषों की उद्भावना ही कैसे उठे!

टिप्पणी—आचार्य मम्मट की इस 'व्यञ्जनावृत्तिसिद्धि' को काव्यप्रकाश के व्याख्याकार बड़े मनोयोग से स्मरण करते आ रहे हैं। 'सुधासागर'कार ने इस सम्बन्ध में यह कहा है:—

'एवं चावाग्गोचरब्रह्मबोधिकेयमलौकिकीवृत्तिः वाग्देवता(मम्मट)ऽङ्गीकृता व्यञ्जना ब्रह्मणाप्यपलपितुमशक्येति सुधीभिर्मन्तव्यम्।'

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने यहां इसप्रकार अपना अभिमत प्रकट किया है—

'प्रतीतावन्यथोपपत्तेरेव व्यक्ति(व्यञ्जना)कल्पनादिति काव्यपुरुषावतारस्य [निखिलशास्त्रतत्त्ववेदिनः श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यस्य पृथग्व्यञ्जनव्यापारस्थापनमिति सर्वमवदातमिति।'

पञ्चम उल्लास समाप्त

अथ षष्ठोल्लासः

(चित्रकाव्य-निरूपणात्मकः)

(७०) शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥ ४८ ॥

न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वम् अर्थचित्रे वा शब्दस्य । तथा चोक्तम्—

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानम् ॥
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ।

अनुवाद—'शब्द-चित्र' और 'अर्थचित्र' नामक जो दो काव्य-प्रकार (अवर काव्य के दो भेद) पहले ही (प्रथम उल्लास पृ०……में) उदाहरण-पूर्वक निरूपित किये जा चुके हैं उनमें गौण-मुख्य-भाव से अर्थ-वैचित्र्य और शब्द-वैचित्र्य की भी अवस्थिति हुआ करती है।

टिप्पणी—अवर-काव्य के 'शब्द-चित्र' और 'अर्थ-चित्र' भेदों का प्रथम उल्लास में निर्देश इसलिये किया गया कि काव्य के प्रकारों में इनकी भी स्थिति का निश्चय हो जाय। आगे नवम और दशम उल्लास में भी इन्हीं के अनेकानेक भेद-प्रभेदों का जो क्रमशः विशद वर्णन किया जायगा वह इसलिये कि प्राचीन अलङ्कार-शास्त्र की अलङ्कार-सम्बन्धी मान्यतायें एक व्यवस्था में व्यवस्थित हो कर सुरक्षित रहें। यहां छठे उल्लास में इनका संक्षिप्त प्रतिपादन जिस उद्देश्य-विशेष के कारण हुआ है वह है इनमें शब्दार्थ वैचित्र्य के तारतम्य का निर्णय। अर्थात् 'स्वच्छन्दोच्छलत्' इत्यादि को जो शब्द-चित्र कहा गया है वह इसलिये नहीं कि यहां अर्थ-वैचित्र्य का अभाव है क्योंकि यहां भी व्यतिरेक अलङ्कार का स्वरूप प्रतीत हो रहा है किन्तु इसलिये कि यहां कवि का हृदय शब्द में विचित्रता के आधान की ओर अधिक उत्सुक है। अर्थ की अपेक्षा शब्द की विचित्रता का प्राधान्य जहां भी हो वहां शब्द-चित्र ही समझना चाहिये। इसी प्रकार 'विनिर्गतं मानदम्' इत्यादि में, जहां शब्द-वैचित्र्य भी अनुप्रास के रूप में स्पष्ट प्रतीत होता है, प्राधान्य अर्थ-वैचित्र्य का ही है जिसकी दृष्टि से इसे 'अर्थ-चित्र' काव्य मानना आवश्यक है।

इस प्रकार 'शब्द-चित्र' अथवा 'अर्थ-चित्र' की व्यवस्था का निदान कवि-हृदय का शब्द अथवा अर्थ के वैचित्र्य के प्रति संरम्भविशेष ही है जिसका सम्बन्ध शब्द-चित्र में अर्थ-वैचित्र्य की गौणता और अर्थ-चित्र में शब्द-वैचित्र्य की गौणता से है। कवि की विवक्षा ही यहां भी अन्तिम निर्णायक है। यह बात अलङ्कार-वादी आचार्य नहीं कह पाये। इसे तो ध्वनि-वादी आचार्य ही कह सकते हैं जिनकी दृष्टि काव्य के शब्द-रूप किंवा अर्थ-रूप उपकरणों से ऊपर पहुंच कर कवि के अन्तस्तल तक जा पहुंचती है।

अनुवाद—यहां (शब्दार्थ-वैचित्र्य के गुण-प्रधान-भाव से रहने का) अभिप्राय यही है कि शब्दचित्र में न तो अर्थ-वैचित्र्य का अभाव है और न अर्थ-चित्र में शब्द-वैचित्र्य का। और ऐसा ही कहा भी गया है—'कुछ आलङ्कारिक प्रायः ऐसा प्रतिपादन करते रहे हैं कि काव्य की शोभा के आधायक रूपक आदि (अर्थालङ्कार) ही हैं क्योंकि स्त्री का सुन्दर भी मुख विना अलङ्कार के आनन्ददायक नहीं लगा करता। दूसरे आलङ्कारिक ऐसे हैं जो यह कहते रहे हैं कि रूपक आदि (अर्थ के) अलङ्कार काव्यार्थ-प्रतीति की दृष्टि से बहिरंग है (अन्तरंग नहीं) क्योंकि काव्य में सौन्दर्य के आधायक तो शब्दालङ्कार हैं जो कि सुप्-व्युत्पत्ति और तिङ्-व्युत्पत्ति में (क्योंकि अनुप्रासादि अलङ्कार पद-वैचित्र्य में ही हैं)

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः ॥ इति ॥

(अवर काव्य के भेद-शब्द-चित्र १)

शब्दचित्रं यथा—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभः
तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।
उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥ १३६ ॥

सबके लिये अभिप्रेत हैं क्योंकि वस्तुतः सुन्दर शब्द-रूप काव्य का सौन्दर्य इन्हीं में है जिनके आगे अर्थ के चमत्कार फीके हैं । यहां हमारी दृष्टि में निर्णय यही है कि काव्य के लिये शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों अपेक्षित हैं क्योंकि जो भी सौन्दर्य है वह शब्द-बोधित अर्थ और अर्थबोधक शब्द में विभक्त होने के कारण उभय-गत है ।

(भामह-काव्यालङ्कार १.१३-१५)

टिप्पणी—(क) यहां 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवति' के सिद्धान्त के अनुसार 'चित्र' के दोनों भेदों-शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र का नामकरण हुआ है। यदि काव्य-चारुत्व की उत्कटता शब्द-निर्माण-सौष्ठव के कारण हो तो काव्य 'शब्द-चित्र' और यदि अर्थ-व्युत्पत्ति-सौष्ठव के कारण हो तो वह अर्थचित्र कहा जायगा ।

(ख) काव्यप्रकाश की 'उद्योत' टीका के रचयिता ने यहां इसीलिये कहा है:—

'अलङ्कृतशब्दव्यङ्ग्यस्यास्वादस्य विभावाद्यप्राप्तौ शृङ्गारादिविशेषानाश्रयत्वेनाऽकिञ्चित्करत्वादलङ्कृतार्थोपजीव्यत्वाच्छब्दानामप्यावश्यकत्वेन द्वयोरप्यास्वादोपकारकत्वात् कविसंरम्भगोचरत्वाच्चोपादेयता तत्र यो यदन्वयव्यतिरेकानुविधायी स तेन व्यपदिश्यते इति भावः'

अर्थात् यद्यपि शब्द-सौष्ठव के द्वारा काव्यानन्द अभिव्यक्त हुआ करता है किन्तु इस शब्द-सौष्ठव के विभावादि-सामग्री में सम्मिलित न हो सकने के कारण इस पर शृङ्गारादि रस की अभिव्यक्ति निर्भर नहीं हुआ करती और इस प्रकार रसास्वाद में इसका कोई विशेष हाथ नहीं रहा करता । किन्तु विना शब्द के अर्थ-सौष्ठव का कोई आधार न होने से यही मानना आवश्यक है कि दोनों अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य-सौन्दर्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है और दोनों के निर्माण-सौन्दर्य पर कवि का प्रयत्न समान होनेसे दोनों ही उपादेय है। अब इन दोनों में चारुत्व का निर्णय 'अन्वय-व्यतिरेक' के सिद्धान्तानुसार होने से एक को शब्द-चित्र और दूसरे को अर्थ-चित्र कहा करते हैं ।

अनुवाद—**जिसे शब्द-चित्र कहते हैं उसका उदाहरण यह है 'रात्रि के आरम्भ में चन्द्रमा निकल रहा है-अभी अभी अरुण-वर्ण, अभी स्वर्ण-सदृश, अब विरह-क्लान्त कामिनी के कपोल-फलक की कान्ति लिये, अब स्निग्ध. कमलिनी-कन्द के खण्ड-सदृश धवल और अब तो तमस्तोम के विदारण में सर्वथा समर्थ !,**

टिप्पणी—यहां कवि वस्तुतः शब्द-चित्रण में दत्तचित्त दिखाई दे रहा है । 'म', 'त', 'क', ध, क्ष, छ, स, और ल व्यञ्जनों के विन्यास-सौष्ठव में 'अनुप्रास' अलङ्कार का सौन्दर्य यहां जितना चमत्कारजनक है उतना 'स्वभावोक्ति' और 'उपमा' का सौन्दर्य नहीं । काव्यप्रकाश की 'सुधासागर' व्याख्या के रचयिता का इसलिये ऐसा यहां निर्णय है:—

'अत्र क्रमेण तत्तद्वर्णतास्वभावोक्तिः । यद्यपि किञ्चिद्व्यङ्ग्यमपि संभवति तथाहि प्रथमं तावदरुणच्छायः अरुणस्येव छाया रक्तदीप्तिर्यस्य तथाभूतः । ननु स्वोत्कर्षा सहिष्णोरनु-

अर्थचित्र-२

अर्थचित्रं यथा—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥१४०॥

(काव्य की चित्रता-अव्यङ्ग्यता-का नियामक)

यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया पर्यवसानम्, तथापि स्फुटस्य

कारोऽनुचित इति विचार्य तदनन्तरं कनकप्रभः। ननु प्रतिस्पर्द्धिकान्तामुखमण्डनमेतदि· त्यस्यानुकारोऽनुचित इति तदनुविरहोत्ताम्यत्तन्वी कपोलतलद्युतिः। ननु यत्सम्बन्धात्कन· कप्रभा त्यक्ता तदनुकारोऽत्यन्तानुचित इति ततोऽनन्तरं ध्वान्तध्वंसेत्यादिबोधितरूपान्तर· माश्रित इति। तथाप्यत्र न कवेस्तात्पर्यमित्यधमकाव्यत्वम्।

अर्थात् कवि के तात्पर्य की दृष्टि से यदि यहां देखा जाय तो यही दिखाई देगा कि यह काव्य-सूक्ति एक शब्द-चित्र है। यद्यपि यहां चन्द्रोदयवर्णन में 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार का भी सौन्दर्य झलक जाता है किन्तु कवि की दृष्टि इस ओर उतनी नहीं जितनी शब्द-विन्यास-सौष्ठव की ओर। यहां एक प्रकार का व्यङ्ग्य भी प्रतीत हो सकता है जैसे कि चन्द्रमा का सौन्दर्य की दौड़ में क्रमशः एक के बाद एक अपने प्रतिस्पर्द्धी पदार्थों को पीछे छोड़ देना और अपने ज्योत्स्नामय स्वरूप में अन्त में प्रकट हो जाना, किन्तु इस ओर भी कवि का हृदय उतना उन्मुख नहीं जितना वर्ण-विन्यास की विचित्रता की ओर। अन्ततोगत्वा सहृदयपाठक को भी कवि की दृष्टि से ही देखना पड़ता है और जो काव्यगत सौन्दर्य यहां दिखाई देता है वह है शब्द-चित्रण का सौन्दर्य।

अनुवाद—**'अर्थचित्र' का उदाहरण जैसे—'पक्ष्मलाक्षी रमणियों के वे (सब के वशीकरण) नीचे तक लटकने वाले, सदा ही एक विचित्रता के साथ ललाट-फलक पर झूलने वाले और अपने घुंघरालेपन की भांति अपने कालेपन को कभी न छोड़ने वाले केश कलाप, उन नीच, निरन्तर किसी न किसी प्रकार मिथ्याभाषण में निरत और कुटिलता की भांति हृदय की कालिमा को कभी न छोड़ने वाले दुष्टों के समान, भला दिखाई पड़ते ही, किसके चित्त को व्याकुल नहीं कर देते ?'**

टिप्पणी—यहां जो काव्य-सौन्दर्य है उसका एक मात्र कारण अर्थ-व्युत्पत्ति का ही चमत्कार है। यहां कवि ने चित्त को क्षुब्ध करने में अलकावली और खल-मण्डली दोनों को एक ही साथ निदानरूप से बताया है। वैसे यहां कुछ ऐसे शब्दों का चयन है जो श्लिष्ट हैं और साथ ही साथ 'उपमा' की छटा भी दिखाई पड़ जाती है किन्तु ये दोनों आरम्भ से अन्त तक उपर्युक्त अर्थ को ही परिपुष्ट करने वाले हैं जो कि एक अलङ्कृत अर्थ है और जिसे 'समुच्चय अलंकार' कहते हैं। इस प्रकार कवि का हृदय-संरम्भ यहां समुच्चयालंकार की ओर ही स्पष्ट दिखाई दे रहा है जिसके कारण इस रचना में अर्थचित्रण का ही सौन्दर्य चमत्कार-जनक प्रतीत हो रहा है।

अनुवाद—**यहां (शब्दचित्र और अर्थचित्र-रूप) ये दोनों काव्य 'अव्यङ्ग्य' अवर इसलिये कहे गये हैं कि अन्ततोगत्वा भले ही ये सब सर्वत्र काव्य में विभावादि-योजनारूप में परिणत हो जांय किन्तु इनमें, इतना तो निश्चित है कि, स्पष्टतया रस (व्यङ्ग्यार्थ) की प्रतीति (कवि की दृष्टि से) अभिप्रेत नहीं। इन दोनों काव्यों के अनेक भेद-प्रभेद हैं क्योंकि शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के अनेक भेद-प्रभेद हैं। इन भेद-प्रभेदों का निर्णय अलङ्कार-निर्णय के प्रसङ्ग में किया ही जा रहा है।**

टिप्पणी—(क) किसी काव्य के उत्तम अथवा अधम कहे जाने का जो एकमात्र कारण है वह है व्यङ्ग्यार्थ की चारुता की प्रतिपत्ति अथवा अप्रतिपत्ति। इस दृष्टि से उत्तम काव्य तो वह हुआ जिसमें व्यङ्ग्यार्थ के सौन्दर्य का चमत्कार स्पष्ट प्रतीत हो और अधम काव्य वह है जिसका चमत्कार व्यङ्ग्यार्थ के कारण नहीं अपितु शब्द या अर्थ अथवा शब्दार्थ-वैचित्र्य के कारण

रसस्यानुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत्काव्यद्वयमुक्तम् । अत्र च शब्दार्थालङ्कारभेदाद्बहवो भेदाः ते चालङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते ।

इति श्रीकाव्यप्रकाशे शब्दार्थचित्रनिरूपणं नाम षष्ठोल्लासः ।। ६ ।।

हो । इन दोनों के बीच की काव्य-श्रेणी जिसे मध्यम काव्य कहते हैं वह है जिसमें व्यङ्गयार्थ का सौन्दर्य उतना चमत्कार-जनक नहीं हुआ करता जितना कि वाच्य-का वैचित्र्य ।

(क) चित्र-काव्य के निर्णय में आचार्य आनन्दवर्धन ने जो प्रश्न उठाया है और जैसा उसका समाधान किया है वही प्रश्न और उसका वैसा ही समाधान यहां भी दिखायी दे रहा है। ध्वनिकार का प्रश्न और उसका समाधान इस प्रकार है:—

'प्रतीयमानोप्यर्थस्त्रिभेदः प्राक् प्रदर्शितः। तत्र यत्र वस्तु, अलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः । यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न संभवत्येव । यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता तावत्काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गत-मवश्यं कस्यचिद्रसस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते । विभावत्वेन चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किंचिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् । कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते ?

अत्रोच्यते—सत्यम् न तादृक्काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतिपत्तिः । किंतु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षा-पेक्षया रसादिशून्यताऽर्थस्य परिकल्प्यते । विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः । वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परि-दुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते ।

(ध्वन्यालोक, ३ य उद्योत, पृष्ठ २२०-२२१)

अर्थात् यदि शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र की यही पहचान हो कि उनमें सुन्दर रस-रूप व्यङ्गयार्थ नहीं रहा करता तब यह कैसे संगत है कि उन्हें 'काव्य' कहा जाय ? कोई रचना काव्य कही जाय और रसभावादि के संस्पर्श से भी शून्य हो—सर्वथा असंगत सी बात है। संसार की ऐसी कौन सी वस्तु है जो किसी न किसी चित्तवृत्ति को प्रभावित न कर सके! किसी न किसी रसभावादि का अंग न हो जाय ! यदि कोई ऐसी वस्तु है जो मानव की चेतना और संवेदना से अछूती है तो उससे कवि का क्या सम्बन्ध !

कवि की कला का वह विषय, जिसे शब्दचित्र अथवा अर्थचित्र कहा जाता है, अन्ततोगत्वा भले हि रस-कलश में ही समा जाय किन्तु कवि उसे जिस दृष्टि से रस से विविक्त रखना चाहता है वह है उसके हृदय का एकमात्र शब्द-चित्रण अथवा अर्थ-चित्रण के प्रति संरम्भ । काव्यकला के उपकरणभूत शब्दों अथवा अर्थों की पहुंच तो कवि द्वारा ही निर्धारित की जाया करती है । यदि कवि ही अपने शब्दों अथवा अर्थों से कोई चित्र बनाना चाहता हो तो सहृदय की भी दृष्टि उसी के सौन्दर्य-निरूपण में अपनी सार्थकता ढूंढ़ सकती है । यह ठीक है कि शब्द और अर्थ के सामर्थ्य की कोई रोक नहीं हो सकती और सहृदय का चित्त यहां भी रसार्द्र हो जाय, किन्तु यह रसार्द्रता उतनी प्रबल नहीं हो सकती जितनी वह जिसे कवि का हृदय स्वयं उत्पन्न करता है । इसलिये 'चित्र-काव्य' वह काव्य-प्रकार हुआ जिसमें रसभावादि-काव्य की सी रस-प्रतीति नहीं हो सकती । यदि इसी दृष्टि से 'चित्र-काव्य' को नीरस-रसभावादि विवक्षारहित-कहा जाय तो क्या आपत्ति !

षष्ठ उल्लास समाप्त



अथ सप्तमोल्लास:

(दोष-निरूपणात्मकः)

(दोष-स्वरूप और प्रकार-विवेचन)

(दोष-स्वरूप विचार)

काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सामान्यलक्षणमाह—

(७१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥ ४९ ॥

अनुवाद—**काव्यके स्वरूप-निरूपण के बाद काव्य के दोषों का सामान्य-रूप प्रतिपादित किया जा रहा है :—**

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने काव्य का स्वरूप जिसप्रकार निर्दिष्ट किया है—**'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'** उसके अनुसार ही यहां दोष का निरूपण अपेक्षित है जिससे शब्दार्थ युगल की अदोषता का परिचय मिल सके। प्राचीन आलङ्कारिक जिस दृष्टि से 'दोष' का निरूपण करते आरहे हैं वही मम्मट की दृष्टि नहीं। यद्यपि आचार्य भामह का यही कथन है:—

'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्षमणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥' (काव्यालंकार १.११)

जिसका अभिप्राय यह है कि एक भी दूषित पद काव्य के सौन्दर्य का विघातक है किन्तु यहां वह मूलभूत सिद्धान्त नहीं निर्दिष्ट प्रतीत होता जिसके आधार पर किसी 'दूषितपद' के दोष का स्वरूप पहचाना जा सके। दण्डी ने भी दोष-विशेष का तो विवेचन किया है किन्तु दोष-स्वरूप का नहीं। दोष-स्वरूप का विचार वामन ने अवश्य किया है जिनकी दृष्टि में 'दोष' का अभिप्राय 'गुण' का विपर्यय है: —

'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः । अर्थतस्तदवगमः । सौकर्याय प्रपञ्चः ।
(काव्यालङ्कारसूत्र २.१-३)

काव्य में ध्वनि-तत्त्व के स्वरूपोन्मीलन के बाद आलङ्कारिकों में 'दोष' के स्वरूप-विवेचन की प्रेरणा उत्पन्न होती दिखायी देती है। वामन के गुण विपर्यय-रूप दोष से ध्वनि-वादी काव्याचार्यों को संतोष नहीं। ध्वनिवादी काव्याचार्य तो बिना ध्वनितत्त्व की मान्यता के प्राचीन आलङ्कारिकों की दोष-सम्बन्धी 'नित्यत्वानित्यत्वव्यवस्था' को भी निराधार ही सिद्ध करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के अनुसार 'दोष' को 'गुण' का व्यतिरेक नहीं कहा जा सकता—**'नाऽपि गुणेभ्यो व्यतिरिक्तं दोषत्वम्'** (लोचन, पृष्ठ ८३)। आचार्य आनन्दवर्धन ने कवि की 'अशक्ति' और 'अव्युत्पत्ति' में काव्य-दोष की उत्पत्ति स्वीकार की है और अभिनवगुप्त पादाचार्य ने 'दोष' का अभिप्राय 'काव्यास्वाद में चमत्कार के विघात' को लिया है। आचार्य मम्मट ने यहां जो दोष-स्वरूप का विचार आवश्यक माना है वह वस्तुतः वामन-सम्मत दोष-मत के निराकरण और ध्वनिदर्शन-सम्मत दोष-स्वरूप के उन्मीलन के लिये ही माना है।

अनुवाद—**'दोष' वह है जिसे (काव्य के) मुख्य अर्थ का 'विघात' अथवा 'अपकर्ष' कहा जाता है (अथवा जो काव्य के मुख्य अर्थ का विघातक या अपकर्षक हुआ करता है)।**

यह दोष १. उस रसादिरूप अर्थ का विघात अथवा अपकर्ष है जो काव्य का मुख्य अर्थ है, २. उस वाच्य (अर्थात् वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यरूप त्रिविध शब्दलभ्य अर्थ) का 'अपकर्ष' अथवा 'विघात' है जो (विभावादि वर्णनारूप होने से) रस के लिये अपेक्षित है और ३. उस शब्द आदि (अर्थात् वर्ण और रचना) का भी 'अपकर्ष' अथवा 'विघात' है जो रस और वाच्य-दोनों के (व्यञ्जक-वाचक आदि होने से) उपायभूत हैं।

टिप्पणी—प्राचीन अलंकारशास्त्र में तो पद-वाक्यादि के ही दोषों का विश्लेषण हुआ था

हतिरपकर्षः । शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचने ।

(दोष-प्रकार-विचार)

विशेषलक्षणमाह—

(पद-दोष)

(७२) दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥ ५० ॥
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत्समासगतमेव ॥ ५१ ॥

किन्तु ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन और स्थापन के बाद दोष-सम्बन्धी मान्यताओं का भी पुनर्विचार हुआ और 'दोष' का वास्तविकस्वरूप पहचाना गया। यहां मम्मट ने दोष को वस्तुतः रस के विघातक अथवा अपकर्षक होने के कारण जो दोष कहा है वह रस-ध्वनितत्त्व की मान्यता की दृष्टि से हो, जिसके न होने से प्राचीन आलङ्कारिक अनेक भेद-प्रभेद-भिन्न दोष का लक्षण-निरूपण करते हुए भी काव्य में दोष की दूषकता का स्वरूप और हेतु-विश्लेषण न कर पाये थे। दोष के इस वास्तविक स्वरूप के दर्शन कर लेने के बाद ही वाच्यदोष, पद-दोष, वाक्यदोष, वर्ण-दोष और रचना-दोष आदि दोषों की प्राचीन अलंकारशास्त्रसम्मत मान्यता कोई अर्थ रखती है। 'ध्वन्यालोक' और 'ध्वन्यालोकलोचन' के मनन-चिन्तन ने ही मम्मट को 'दोष' के इस स्वरूप केदर्शन की दृष्टि दी है

अनुवाद—**यहां 'मुख्यार्थहतिर्दोषः' में 'हति का अभिप्राय (विनाश नहीं अपितु) अपकर्ष है। साथ ही साथ 'शब्दादि' का तात्पर्य है शब्द के अतिरिक्त वर्ण तथा रचना का।**

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट ने दोष के 'मुख्यार्थविघात' का जो 'मुख्यार्थापकर्ष' अभिप्राय लिया है वह सर्वथा युक्तियुक्त है। क्योंकि यदि 'मुख्यार्थविघात' का अर्थ 'मुख्यार्थनाश' लिया जाय तो किसी दोष से दूषित किन्तु सरस काव्य-सन्दर्भ में रसानुभव असम्भव हो जाय जो कि वस्तुतः सम्भव है। 'मुख्यार्थ-विघात' का अभिप्राय 'मुख्यार्थ की अनुत्पत्ति' भी नहीं हो सकता क्योंकि श्रुतिदुष्टादि काव्य-सूक्तिया में भी रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार 'मुख्यार्थ-विघात' का अर्थ मुख्यार्थ का अपकर्ष ही है अन्य कुछ नहीं। सरस काव्य में दोष के 'अपकर्ष' अथवा अपकर्षक रूप होने का अभिप्राय है उसके द्वारा रस की अविलम्ब किंवा उत्कट प्रतीति में बाधा उपस्थित होना, नीरस काव्य में (चित्र-काव्य में) दोष के अपकर्षक होने का अर्थ है उसके द्वारा अर्थ की अविलम्ब तथा चमत्कारपूर्ण प्रतीति में विघ्न पड़ना, और इस प्रकार जो भी दोष हैं उनका यही अभिप्राय है कि वे अभीष्ट अर्थ की प्रतीति के बाधक हुआ करते हैं, विनाशक नहीं। सरसकाव्य में यदि दोष हो तो या तो रस की प्रतीति नहीं होगी या उसकी ऐसी प्रतीति होगी जो अपकृष्ट होगी, नीरस (चित्र) काव्य में यदि दोष रहे तो या तो अर्थ प्रतीत नहीं होगा या विलम्ब से प्रतीत होगा या प्रतीत होने पर भी चमत्कार से शून्य होगा। कुछ दोष तो ऐसे हैं जो साक्षात् रस की प्रतीति में विघ्न पहुंचाते हैं किन्तु वर्ण-रचना-शब्द और अर्थ के दोष ऐसे हुआ करते हैं जो परम्परया रस की प्रतीति में विलम्ब अथवा बाधा उत्पन्न किया करते हैं।

(ख) दोष को 'मुख्यार्थापकर्ष' रूप मानने से ही नित्य और अनित्य दोष की व्यवस्था भी युक्तियुक्त हो सकती है अन्यथा यदि 'दोष' मुख्यार्थविनाशक हुआ तो कोई भी दोष अनित्य नहीं और सभी दोष नित्य हैं।

अनुवाद—**(दोष-स्वरूप के प्रकाशन के बाद) अब दोषों का विवेचन किया जारहा है। पददोष (जो कि समासगत तथा केवल पदगत हुआ करते हैं) ये हैं—१. श्रुतिकटु, २. च्युतसंस्कृति, ३. अप्रयुक्त, ४. असमर्थ, ५. निहतार्थ, ६. अनुचितार्थ,**

(१ पददोष-श्रुतिकटु)

१-श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं यथा—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥ १४१ ॥

अत्र कार्तार्थ्यमिति ।

(२ च्युतसंस्कृति)

२-च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं यथा—

---

७. निरर्थक, ८. अवाचक, ९. त्रिविध अश्लील, १०. संदिग्ध, ११. अप्रतीत, १२. ग्राम्य और १३. नेयार्थ (और जो केवल समासगत हुआ करते हैं वे हैं), १४. क्लिष्ट, १५. अविमृष्टविधेयांश, १६ विरुद्धमतिकृत् ।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने दोष-भेद का निरूपण रस के परम्परया अपकर्षक दोष-भेद अर्थात् पद-दोष से प्रारम्भ किया है । पद-दोष त्रिविध शब्द-दोषों अर्थात् पद-पदैकदेश और वाक्य-दोषों में से प्रथम दोष है । यहां कारिका में पद-दोष के नाम और लक्षण दोनों एक साथ ही दिये हैं । जैसे कि दोष का नाम है 'श्रुतिकटु' और इसका लक्षण है 'श्रुतिकटु होना' अर्थात् श्रुति अथवा श्रवण में उद्वेगजनक होना । इसी प्रकार अन्य भी दोषों के नाम और उनके लक्षण दोनों यहां अभिप्रेत हैं ।

प्राचीन आलङ्कारिकों ने इन दोषों के नाम और लक्षण पृथक् पृथक् दिये हैं जैसे कि भामह ने पहले तो पद-दोषों के नाम गिनाये:—

'श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि । श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम् ॥

(काव्यालंकार १. ४७)

और तब इनका लक्षण दिया:—

'विड्वर्चोविष्ठितक्लिन्नच्छिन्नवान्तप्रवृत्तयः । प्रचारधर्षितोद्गारविसर्गह्रादयन्त्रिताः ॥
हिरण्यरेताः सम्बाधपेलवोपस्थिताण्डजाः । वाक्काटवादयश्चेति श्रुतिदुष्टा मता गिरः ॥'

(काव्यालङ्कार १. ४८, ४९)

यही बात वामन की भी है क्योंकि उन्होंने भी पहले तो पद-दोषों के नाम दिये हैं:—

'दुष्टं पदमसाधु कष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकं च'

और तब उनके लक्षण बताये हैं:—

'शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु । श्रुतिविरसं कष्टम्' आदि ।

मम्मट ने कारिका में दोनों काम एक साथ किया—अर्थात् पद-दोष के निरूपण में लक्ष्य और लक्षण एक साथ ही उपस्थित किया है ।

अनुवाद—'श्रुतिकटु' दोष वह दोष है जिसे पद में परुषवर्णता का दोष कहते हैं । उदाहरण के लिये:—

'ऐसा कब होगा जब कि वह (प्रेमी युवक) अनङ्ग-मङ्गलगृहरूप अपाङ्ग (कटाक्ष) की नानाप्रकारों की विचित्रताओं से भरी इस तन्वङ्गी सुन्दरी के आलिङ्गन में बंध कर कार्तार्थ्य (कृतार्थता) को पायेगा ।'

यहां 'कार्तार्थ्य' पद 'श्रुतिकटु' पद है (क्योंकि शृङ्गाररस की इस रचना में इसकी कर्कश वर्ण-ध्वनि उद्वेजक है न कि उपयुक्त) ।

'च्युतसंस्कृति' दोष वह दोष है जिसे किसी पद का व्याकरण के नियम के विरुद्ध रहना कहा जाता है । जैसे कि—'अरी पल्लीपति (क्षुद्र ग्राम के स्वामी) की पुत्री ! भिल्लकुमारी ! अपने इस कुछ कुछ पके तिन्दुक-फल के श्याम और पीतवर्ण के मध्यभाग सरीखे तथा किसी शबर युवक के कर-स्पर्श के सर्वथा उपयुक्त स्तनों को, अच्छा

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत् पल्लीपतिपुत्रि ! कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः ॥ १४२ ॥

अत्रानुनाथते इति सर्पिषो नाथते इत्यादाविवाशिष्येव नाथतेरात्मनेपदं विहितम् (आशिषि नाथ इति) अत्र तु याचनमर्थः । तस्मादनुनाथतिस्तनयुगमिति पठनीयम् ।

(३ अप्रयुक्त)

३—अप्रयुक्तन्तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम् । यथा—

यथाऽयं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथ वा ॥ १४३ ॥

अत्र दैवतशब्दो दैवतानि पुंसि वा इति पुंस्याम्नातोऽपि न केनचित्प्रयुज्यते ।

(४ असमर्थ)

४—असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः । यथा—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः ।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥ १४४ ॥

अत्र हन्तीति गमनार्थम् ।

हो, दिखायी देने दे और पत्तों से मत ढक क्योंकि कुञ्जरकुल (हाथियों का झुण्ड) भी तो अपने कुम्भस्थल की रक्षा के लिये तुम्हारे इन स्तनों के ही आगे हाथ जोड़े खड़ा है !'

यहां ('एतन्मंद' आदि सूक्ति में) 'अनुनाथते' पद 'च्युतसंस्कृति' दोष से दूषित है क्योंकि यह व्याकरण के इस नियम के विरुद्ध है कि याचनार्थक 'नाथ्' धातु से यदि 'आत्मनेपद' विहित हो तो वह 'आशंसा' के अर्थ में ही हो जैसे कि 'सर्पिषो नाथते' आदि में, जहां 'नाथते' का अभिप्राय मांगना–याचना करना–नहीं किन्तु (मेरे पास भी हो ऐसी) आशंसा करना ही हुआ करता है। किन्तु यहां 'अनुनाथते' का अर्थ याचना करना ही है और इसलिये (व्याकरण–विरुद्ध होने से) यह पद 'च्युतसंस्कृति' है। यहां (अनुनाथते कुचयुगम् के बदले) यदि 'अनुनाथति स्तनयुगम्' कर दिया जाय तो यह दोष नहीं रहता।

'अप्रयुक्त' दोष वह दोष है जिसे किसी पद का, उसके कोश–व्याकरणादि से सिद्ध होने पर भी, कवियों द्वारा अप्रयुक्त होना कहा जाता है। जैसे कि:—

'जैसा कि यह व्यक्ति निरन्तर क्रूराचरणतत्पर रहा करता है, पता यही चलता है कि इसका उपास्य देवता (दैवतः) या तो कोई पिशाच हो या राक्षस हो।'

यहां 'दैवत' शब्द, जो कि पुल्लिंग में प्रयुक्त है, भले ही 'दैवतानि पुंसि वा' इस अमरकोश (प्रथम काण्ड–प्रथम वर्ग) के अनुसार ठीक हो किन्तु किसी भी कवि द्वारा पुल्लिंग में प्रयुक्त न होने से 'अप्रयुक्त' दोष से दूषित है।

'असमर्थ' दोष वह दोष है जिसे किसी पद का, उसके एक किसी अर्थ में (कोशादि, में) परिपठित होने पर भी उस अर्थ के प्रत्यायन में असामर्थ्य कहा करते हैं। जैसे कि–

'यह व्यक्ति अन्य पवित्र नदी–जलों में स्नान करके पुण्य का उपार्जन कर चुकने पर अब बड़ी श्रद्धा के साथ भगवती भागीरथी के लिये स्नानार्थ चला जारहा है।'

यहां 'सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति' में जो 'हन्ति' का प्रयोग है वह गमन अर्थ में व्याकरण–पठित होने पर भी (हन् हिंसागत्योः) 'गमन' अर्थ का सामर्थ्य नहीं रखता

(५ निहतार्थ)

५—निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्। यथा—

यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा ॥ १४५ ॥

अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरलक्षणेनार्थेनोज्ज्वलीकृतत्वरूपोऽर्थो व्यवधीयते।

(६ अनुचितार्थ)

६—अनुचितार्थं यथा—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥ १४६ ॥

अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम्।

(७ निरर्थक)

७—निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम्। यथा—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! मम हि गौरि !।
अभिवाञ्छितं प्रसिद्ध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥ १४७ ॥

अत्र हिशब्दः।

जिससे यहां यह 'अप्रयुक्त' दोष से दूषित हो रहा है। (तात्पर्य यहां यह है कि हन् धातु में 'पद्धति' (पादाभ्यां हन्यते गम्यते इति पद्धतिर्मार्गः) 'जघन' (वक्रं हन्ति गच्छतीति जघनम्) 'जङ्घा' (जङ्घन्यते कुटिलं गच्छतीति जङ्घा) इत्यादि में भले ही गमन के अर्थ-बोध का सामर्थ्य हो किन्तु केवल 'हन्ति' के रूप में गमनार्थबोधन का सामर्थ्य नहीं)।

'निहतार्थ' दोष वह दोष है जिसे किसी पद का, अपने प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों अर्थों के बोधन में समर्थ होने पर भी, अप्रसिद्ध (अविवक्षित) अर्थ में ही प्रयुक्त होना कहा करते हैं। जैसे कि:—

'इस प्रेमी युवक ने, जिसका केश अपनी प्रेमिका के अलक्तक-रस से गीले पैरों के प्रहार से 'शोणित' कुछ कुछ लाल हो गया था—जैसे ही उस मुग्धा को भयविह्वल देखा वैसे ही उसका (भय दूर करने के लिये) चुम्बन कर लिया।'

यहां 'शोणित' शब्द इसलिये 'निहतार्थ' है क्योंकि इसका प्रसिद्ध अर्थ तो है 'रुधिर' जिसके द्वारा, वह अर्थ जो यहां विवक्षित है, अर्थात् 'कुछ कुछ लाल' रूप अर्थ, विलम्ब से प्रतीत हो पाता है (क्योंकि यह अर्थ अप्रसिद्ध अर्थ है)।

'अनुचितार्थ' दोष वह दोष है जिसे किसी पद की, अपने विवक्षित अर्थ में ही, किसी प्रकार की तिरस्कार-बोधकता कहा करते हैं। जैसे कि:—

'वह गति, जिसे तपस्वी भी बहुत देर से पाया करते हैं और जिसकी खोज में यज्ञादि-कर्म-निरत लोग भी बड़े प्रयत्न पूर्वक रहा करते हैं, उन यशस्वी पुरुषों को अनायास मिल जाया करती है जो कि संग्रामरूपी अश्वमेध में 'पशुता' पाया करते हैं (मरा करते हैं)।

यहां 'पशुता' पद 'अनुचितार्थ' दोष से इसलिये दूषित है क्योंकि इसके द्वारा यहां वर्णित शूरवीर पुरुषों में भी (बलिदान के) पशु की भांति कातरता-अधीरता-का अभिप्राय संगत होने लगता है जो कि यहां अपेक्षित नहीं और न उचित ही है।

'निरर्थक' दोष वह है जिसे किसी पद का—जैसे कि च, हि आदि का, केवल पादपूर्ति मात्र के ही लिये प्रयुक्त होना कहा जाता है। जैसे:—

'फूले कमल के केसर की धूलि सरीखी शुभ्र देहद्युतिवाली, भगवती गौरी ! तुम्हारी दया चाहिये, मेरा मनोरथ पूर्ण हो जाय।'

यहां (नागानन्द नाटक की इस सूक्ति में) जो 'हि' पद प्रयुक्त है वह निरर्थक है

(८ अवाचक)

८—अवाचकं यथा—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥ १४८ ॥

अत्र जन्तुपदमदातर्यर्थे विवक्षितन्तत्र च नाभिधायकम् ।

यथा वा—

हा धिक् सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा
तद्विच्छेदरुजाऽन्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम् ।
किं कुर्मः कुशले सदैव विधुरो धाता न चेत्तत्कथं
तादृग्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना ॥ १४९ ॥

अत्र दिनमिति प्रकाशमयमित्यर्थेऽवाचकम् ।

(क्योंकि इसका उद्देश्य एकमात्र पादपूर्ति है। अभिप्राय यह है कि यहां 'हि' का हेतु-रूप अर्थ) हि हेतौ—अमरकोष (इसलिये विवक्षित नहीं क्योंकि इसका यहां कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी देता। इसका जो 'अवधारण' रूप अर्थ है उसकी यहां अपेक्षा इसलिये नहीं हो सकती क्योंकि गौरी से यह प्रार्थना करना कि 'मेरा ही मनोरथ पूरा हो' गौरी की स्तुति नहीं अपितु निन्दा है क्योंकि वह तो संसार का मनोरथ पूर्ण करने वाली देवी है।)

'अवाचक' दोष वह है जिसे किसी पद का, उसकी विशिष्ट वाचकता से (अर्थात् उसके विवक्षित धर्मरूप अर्थ की वाचकता से अथवा धर्मिरूप अर्थ की वाचकता से अथवा धर्म-धर्मि-रूप अर्थ की वाचकता से) रहित होना कहा करते हैं। जैसे किः—

'महाराज ! युधिष्ठिर ! उस मनुष्य के वश में तो लोग अनायास हुआ करते हैं जिसका क्रोध कभी निष्फल नहीं जाता (अर्थात् जो शूरवीर हो) और जो लोगों को संकटों से उबार सकता है (अर्थात् दानी हो) क्योंकि न तो अवन्ध्यकोपशून्य (अर्थात् डरपोक) किसी व्यक्ति के बिगड़ खड़े होने से ही किसी को कोई डर होता है और न विपत्प्रतीकार में अशक्त किसी व्यक्ति के स्नेही होने से ही उससे किसी को कोई स्नेह होता है।

यहां (किरातार्जुनीय १ म सर्ग की इस सूक्ति में) प्रयुक्त जो 'जन्तु' पद है उसमें 'दान न देने वाले व्यक्ति' का अर्थ विवक्षित भले ही हो (क्योंकि 'विहन्तुरापदाम्' के अर्थ का व्यतिरेक ही यहां अभिप्रेत हो सकता है), किन्तु इसके द्वारा 'दान न देने वाले व्यक्ति' का अर्थ वस्तुतः निकल नहीं सकता।

[तात्पर्य यहां यह है कि 'जन्तु' का अर्थ (जायते इति) 'जो उत्पन्न हो वह' अवश्य है और इस प्रकार 'दान देने में अशक्त व्यक्ति' भी 'जन्तु' कहा जा सकता है किन्तु 'जन्तु' शब्द किसी व्यक्ति के 'दान के असामर्थ्यरूप धर्म' का, जिसकी यहां विवक्षा है, कभी भी वाचक नहीं कहा जा सकता।] अथवा जैसेकिः—

'कितने दुःख की बात है कि वह समय जब मैंने उस चन्द्रमुखी सुन्दरी को देखा विधाता के द्वारा अंधेरे के रूप में मेरे सामने लाया गया और यह समय जब कि उस सुन्दरी के विरह से मेरे लिये चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा है, प्रकाश के रूप में प्रकट किया जा रहा है ! किया भी क्या जाय ! यदि दैव मनुष्य के मनोरथ के प्रतिकूल न चलता तभी तो ऐसा होता कि मेरे जीवन का सारा समय एक अंधेरी रात बन जाता—वही प्रिया-दर्शन की घड़ी वाली अंधेरी रात !

यहां प्रयुक्त जो 'दिन' शब्द है, उसमें (तमोमयता से वैपरीत्य-प्रदर्शन के लिये) 'प्रकाशमयता' का अर्थ विवक्षित अवश्य है किन्तु इसके द्वारा यह अर्थ निकल नहीं सकता।

यच्चोपसर्गसंसर्गादर्थान्तरगतम् । यथा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥ १५० ॥

अत्र दधदित्यर्थे विदधदिति ।

(९ त्रिविध अश्लील)

९—त्रिधेति व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वाद् यथा—

(व्रीडा-व्यञ्जकता)

साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते ।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम् ॥ १५१ ॥

(जुगुप्सा-व्यञ्जकता)

लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदष्टाधरः
कश्चित्केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः ।

[पूर्वोदाहरण में जो 'जन्तु' पद था वह 'अपेक्षितयोग' अवाचक पद था क्योंकि 'जायते' के योग-सम्बन्ध की अपेक्षा से 'जन्तु' पद उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति-दानी अथवा अदानी-रूप अर्थ का तो वाचक था किन्तु दान के असामर्थ्य का बोध कराते हुये 'दान न देने वाले' का अर्थ नहीं रख सकता था। यहां इस उदाहरण में जो 'दिन' पद है वह 'अनपेक्षितयोग अवाचक' पद है क्योंकि इसकी-दिनरूप अर्थ की-वाचकता तो रूढितः अवश्य सिद्ध है किन्तु 'प्रकाशमयता' रूप अर्थ की वाचकता कभी भी सिद्ध नहीं।]

साथ ही साथ उपसर्ग के संसर्ग से किसी पद की (अपने विवक्षित अर्थ के अतिरिक्त) अन्यार्थपरकता भी 'अवाचक' दोष ही है। जैसे कि:—

'नटराज शङ्कर के ताण्डव-नर्तन' के अभ्यास में 'दण्डपाद' (प्रसह्योर्ध्वीकृतः पादो दण्डपादोऽभिधीयते-संगीतरत्नाकर) की मुद्रा में उत्क्षिप्त देवी पार्वती के वे चरण-कमल, सुन्दर जांघों के रूप में बड़े बडे नालवाले ! नख-कान्ति के रूप में केसर-पंक्ति से भरे ! लिप्त अलक्तक रस के कान्ति-प्रसर के रूप में कोमल किसलयवाले ! मंजुमञ्जीर के रूप में गूंजते भ्रमरों से विभूषित ! और सौन्दर्य-वापिकारूप देह में निरन्तर विकसित ! सदा शोभित हुआ करें।

यहां 'संभृताम्भोजशोभां विदधत्' में जो 'विदधत्' पद है वह 'दधत्' के अर्थ में 'अवाचक' है क्योंकि 'वि' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु (डुधाञ् धारणपोषणयोः) का प्रयोग (विधान-सम्पादन अर्थ का ही वाचक है) 'धारण' अर्थ का कदापि वाचक नहीं।

'अश्लील' दोष वह है जिसे किसी पद की (अपनी अर्थबोधकता के अतिरिक्त) व्रीडा, जुगुप्सा और अमङ्गल के भावों की व्यञ्जकता का दोष कहते हैं। जैसे कि:—

'जिस महाबुद्धि राजा का 'साधन' सैन्यबल-इतना बड़ा है जितना और किसी का नहीं दीखता, भला उसका भ्रुकुटि-भङ्ग कौन सह सकता है !'

'कोई प्रेमी युवक, किसी दूसरी सुन्दरी के अधर पर, निडर हो, अपना दन्तक्षत लगा देने के बाद, अपनी प्रेमिका द्वारा लीला-कमल से मार खाकर, कमल-पराग से आंखें भरी हुई सी दिखाते हुये, हाथों से आंखें मूंद, खड़ा रहा और वह मुग्धा प्रेयसी खड़ी हुई अपने कमल-कोरक सरीखे मुंह से उसकी आंखों को फूंककर ठीक करती हुई कि इतने में ही, इस भ्रम से कि प्रेमिका प्रसन्न हो गई या अपनी धूर्तता के कारण, उस युवक ने, बिना उसे मनाये हुये ही, बहुत देर तक, उसका बार-बार चुम्बन करना प्रारम्भ कर दिया।'

मुग्धा कुड्मलिताननेन ददती वायु स्थिता यत्र सा
भ्रान्त्या धूर्त्ततयाऽथ वा नतिभृते तेनानिशं चुम्बिता ॥ १५२ ॥

(अमङ्गल-व्यञ्जकता)

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घनरुचिरकलापो नि सपत्नोऽद्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्हीं ॥ १५३ ॥

एषु साधन-वायु-विनाशशब्दा व्रीडादिव्यञ्जकाः ।

(१० सन्दिग्ध)

१०—सन्दिग्धं यथा—

आलिङ्गितस्तत्र भवान्सम्पराये जयश्रिया ।
आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥ १५४ ॥

अत्र वन्द्यां किं हठहृतमहिलायां किंवा नमस्यामिति सन्देहः ।

(११ अप्रतीत)

११—अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम् । यथा—

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः ।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्म बन्धनम् ॥ १५५ ॥

'अब जब कि मेरी प्यारी सुकेशी (उर्वशी) सदा के लिये चल बसी, तब भला मयूर का, मन्द-समीर के झोंके से छिट-पुट होने वाला, सघन सुन्दर कलाप (पिच्छ) क्योंकर नहीं निर्द्वन्द्व-निःशङ्क दिखाई देने लगे ! और नहीं तो उस (प्यारी) के रतिलीला-शिथिल-बन्ध किंवा फूल गूंथे केशपाश के रहते मयूर की क्या शक्ति जो किसी को भी अपनी ओर आकृष्ट कर ले !,

यहां 'साधनं सुमहद्' आदि में 'साधन' शब्द पुरुषेन्द्रियरूप व्रीडास्पद वस्तु के व्यञ्जक होने से, 'लीलातामरसाहतः' आदि में 'वायु' शब्द अपानवायुरूप जुगुप्सास्पद अर्थ के व्यञ्जक होने से और 'मृदुपवनविभिन्नः' आदि में 'विनाश' शब्द मृत्युरूप अमङ्गलास्पद अभिप्राय के व्यञ्जक होने से 'अश्लील' दोष से दूषित हैं ।

'संदिग्ध' दोष वह है जिसे किसी पद का, ऐसे दो अर्थों का, उपस्थापक होना कहा जाता है । जिनमें यह संदेह बना रहता है कि दोनों में से कौन वस्तुतः तात्पर्यभूत अर्थ है, जैसे कि :—

'महाराज ! समरभूमि में विजयलक्ष्मी के बाहुपाश में बंधे आप 'वन्द्यां आशीः परम्परां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु'-अपनी प्रशंसा से भरी शत्रुओं द्वारा दी गयी आशीर्वाद-परम्परा सुनें और उन पर कृपा करें (अथवा-आशीःपरम्परा कर्णे कृत्वा वन्द्यां कृपां कुरु'-आशीर्वाद-सूक्तियों को कान में लाते हुये अपनी बन्दीभूत सुन्दरी पर दया करें)।

यहां 'वन्द्या' पद 'संदिग्ध' दोष से दूषित है क्योंकि यह अपने दोनों अर्थों-'वन्दनीय' और 'बलात् पकड़ी गयी सुन्दरी' को, जिनमें यह संदेह बना रहता है कि कौन यहां तात्पर्यभूत है और कौन नहीं, उपस्थित करता दिखाई दे रहा है ।

'अप्रतीत' वह दोष है जिसे किसी पद की, केवल किसी शास्त्र-प्रसिद्ध (पारिभाषिक) अर्थ की बोधकता कहा करते हैं (न कि लोक-प्रसिद्ध सामान्य अर्थ की) । जैसे कि :—

'ऐसे पुरुष के लिये' जिसका 'आशय'-मिथ्या ज्ञान और उसका संस्कार-तत्त्वज्ञान के प्रचण्ड आलोक से नष्ट हो चुका है, कोई निषिद्ध भी, कभी किया गया, कर्म संसाररूप बन्धन का कारण नहीं हुआ करता ।

अत्राशयशब्दो वासनापर्यायो योगशास्त्रादावेव प्रयुक्तः।

(१२ ग्राम्य)

१२—ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम्। यथा—

राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम्।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः॥ १५६॥

अत्र कटिरिति।

(१३ नेयार्थ)

१३—नेयार्थम्—

निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥

इति यन्निषिद्धं लाक्षणिकम्। यथा—

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम्।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम्॥ १५७॥

यहां जो 'आशय' शब्द है वह केवल योगशास्त्रप्रसिद्ध 'वासना' रूप अर्थ (क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः–योगसूत्र १.२४) का वाचक होने से 'अप्रतीत' है (क्योंकि काव्यरसिकों की यहां अर्थ–प्रतीति योगशास्त्र की इस पारिभाषिकता के जानने के बाद ही संभव है अन्यथा नहीं)।

'ग्राम्य' वह दोष है जिसे किसी पद की, केवल पामरजनप्रसिद्ध अर्थ की वाचकता कहा करते हैं। जैसे कि:—

'अरी सुन्दरी! पूर्णिमा की रात्रि के प्रियतम चन्द्र को भी कान्ति का दान देनेवाला यह तेरा मुख और सोने की सील सरीखी यह तेरी कटि (नितम्ब)–दोनों ने तो मेरा मन चुरा ही लिया है।

यहां जो 'कटि' शब्द है वह इसलिये 'ग्राम्य' है क्योंकि (विदग्ध-गोष्ठी में इसका नितम्ब के अर्थ में प्रचलन नहीं) इसे ग्रामीण लोग ही नितम्ब के अर्थ में प्रयुक्त किया करते हैं।

'नेयार्थ' दोष वह है जो कि किसी निषिद्ध लाक्षणिक शब्द के प्रयोग में दिखाई दिया करता है क्योंकि बहुत से ऐसे पद हैं जो रूढि अथवा प्रयोजन के अभाव में लाक्षणिक रूप से प्रयोग–योग्य नहीं है जैसा कि (कुमारिलभट्टकृत तन्त्रवार्तिक के) इस कथन से सिद्ध है—'कुछ लाक्षणिक पद तो ऐसे हुआ करते हैं (जैसे कि 'कर्मणि कुशलः' में 'कुशल' पद) जो प्रयोग–प्रवाह में आकर 'वाचक' पद सरीखे हो जाते हैं, कुछ पद ऐसे हैं जो किसी प्रयोजनवश यथासमय लाक्षणिक बन जाया करते हैं (जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' पद) किन्तु कुछ ऐसे भी पद हुआ करते हैं जो किसी रुढि अथवा किसी प्रयोजन के सर्वथा अभाव में कभी भी लाक्षणिक नहीं बनाये जा सकते अर्थात् निषिद्ध लाक्षणिक पद कहे जाया करते हैं (जैसे कि 'रूपो घटः' में 'रूप' पद जो 'रूपवान्' अर्थ में कभी भी लाक्षणिक नहीं कहा जा सकता)।

उदाहरण के लिये:—

'अरी सुन्दरी। तेरा यह मुख तो ऐसा है जो सुन्दर शरत्पूर्णिमानिशा के प्रियतम (चन्द्र) को भी 'चपेटापातन' (थप्पड़) का 'पात्र' बना रहा है (उससे भी अधिक सुन्दर है)।

अत्र चपेटापातनेन निर्जितत्वं लक्ष्यते।

अथ समासगतमेव दुष्टमिति सम्बन्धः। अन्यत्केवलं समासगतं च।

(१४ क्लिष्ट)

१४—क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता। यथा—

अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल! तव चेष्टितम्॥ १५८॥

अत्राऽत्रिलोचनसम्भूतस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमेन भासिभिः कुमुदैरित्यर्थः।

(१५ अविमृष्टविधेयांश)

१५—अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तद् यथा—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा-
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां

यहां 'चपेटापातन' शब्द 'नेयार्थ' दोषयुक्त शब्द है क्योंकि इसके द्वारा (चन्द्रमा का) 'पराजय' रूप जो लक्ष्यार्थ निकल रहा है उसमें न तो कोई रूढ़ि है और न कोई प्रयोजन ही।

अब तक ये जो दोष गिनाये गये हैं वे तो 'समास' तथा 'असमास' दोनों अवस्थाओं में पद के दोष हैं, किन्तु आगे अर्थात् 'क्लिष्ट' से लेकर 'विरुद्धमतिकृत्' तक जो दोष हैं वे 'समास' में पद के दोष समझे जाने चाहिये।

'क्लिष्ट' दोष वह है, जिसे किसी पद का, विलम्ब से, अपने अर्थ का प्रत्यायन करना कहा जाता है। जैसे कि:—

'महाराज। आप का यश तो महामुनि अत्रि के लोचन से उद्भूत ज्योति-स्वरूप वस्तु-'चन्द्रमा' (चन्द्रः अभिनेत्रसमुद्भवः) के उदय में विकसित होने वाले-कुमुदों के समान अत्यन्त शोभित दिखायी दे रहा है।,

यहां 'अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः, इस समस्त पद के द्वारा जो 'कुमुद' रूपी अर्थ प्रतीत होता है वह बहुत विलम्ब से प्रतीत होता है (क्योंकि पहले तो 'अत्रिलोचनसम्भूत' पद से चन्द्रमा का ही अर्थ देर से निकलता है और उसके बाद 'कुमुद' के अर्थ में भी इसलिये विलम्ब होता है क्योंकि चन्द्रोदय में केवल कुमुद की ही नहीं अपितु और दूसरे भी खिले फूलों की प्रतीति हो उठती है) इसलिये यह समस्त एक पद 'क्लिष्ट' है।

'अविमृष्टविधेयांश' दोष वह दोष है जिसे किसी, विधेयांश के प्रत्यायक भी, पद का, समास में पड़े रहने के कारण, प्रधानतया विधेयांश का निर्देशक न होना कहा जाता है। जैसे कि:—

'ओह! इन मस्तकों का-इन ऐसे उद्धत रूप से काटे जाने के कारण, कण्ठ से निकलती अविरलप्रवाहित रुधिरधार के अर्घ्य द्वारा प्रसन्न किये गये देवाधिदेव से प्राप्त त्रैलोक्य—विजय की महिमा से, व्यर्थ के लिये सर्वत्र संसार में प्रसिद्ध इन मस्तकों का और इन बाहु-दण्डों का, इन कैलास पर्वत को उखाड़ कर उठा लेने की अनवरत महत्त्वाकांक्षाओं के परिणाम-स्वरूप, इतने भयङ्कर अभिमान में चूर बाहुदण्डों का क्या यही अन्तिम फल कि (राम की वानर-सेना से आक्रान्त) लङ्का की रक्षा का प्रयास करना पड़ा।, यहां मस्तकों और भुजाओं की 'महिमा का मिथ्याभूत होना' ही विधेय रूप से विवक्षित था किन्तु इसकी प्रतीति तभी सम्भव थी जब 'महिमा मिथ्या' 'महिमा झूठ है' इस प्रकार इसका उद्देश्य और विधेय रूप से पृथक् पृथक् प्रतिपादन किया हुआ होता।

दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ॥ १५६ ॥

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम्। अपि तु विधेयम्।

यथा वा—

स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥ १६० ॥

अत्र द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यं मौर्वीं द्वितीयामिति युक्तः पाठः।

यथा वा—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ १६१ ॥

अत्रालक्षिता जनिरिति वाच्यम्।

यथा वा—

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्त-
सन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता।

यहां तो अन्य पदार्थप्रधान 'बहुव्रीहि'—समास में पड़ कर 'मिथ्या' रूप विधेयांशवाचक पद गौण हो गया है जिससे 'अविमृष्टविधेयांश' दोषके कारण विवक्षित—प्रतीति नहीं होती।

अथवा जैसे किः—

'धरोहर रखने की जगह के जानकार कामदेव की धरोहर रूप से रखी गयी धनुष की दूसरी प्रत्यञ्चा सरीखी, नितम्ब भाग से गिरती अपनी मौलश्री की मेखला को बार बार ठीक करती हुई पार्वती (भी महादेव का तपोभङ्ग करने चल पड़ी),

यहां (कुमारसम्भव की इस सूक्ति में) काम के द्वारा अपने धनुष की एक प्रत्यञ्चा के अतिरिक्त, पार्वती की मौलश्री-मेखला के रूप में, अपनी दूसरी प्रत्यञ्चा के धरोहर रखने की सम्भावना की गयी है। किन्तु 'द्वितीयमौर्वीम्' इस परपदार्थप्रधान 'कर्मधारय'—समास में 'द्वितीयां' 'दूसरी' इस विधेयांश वाचक पद को जो गौण कर दिया गया है उससे यह उत्प्रेक्षित अर्थ, जो कि यहां विवक्षित है, निर्विघ्न रूप से नहीं प्रतीत होता जिससे 'अविमृष्टविधेयांश' दोष उत्पन्न हो उठता है। यहीं यदि 'मौर्वीद्वितीयामिव' यह पाठान्तर कर दिया जाय तो यह दोष हट जायगा।

अथवा जैसे किः—

'अरी मृगशावकनयनी पार्वती! क्या तूने कभी यह भी सोचा है कि वर के सम्बन्ध में जो भी बातें होनी चाहिये उनमें से एक भी, आधी भी, कुछ भी, इस त्रिलोचन शिव में, जिसका शरीर हो तीन आंखें होने से विकट रूप से भयङ्कर, जिसके जन्म का कुछ पता नहीं (कुल और गोत्र की बात तो दूर रहे) और जिसका धन इसी से पता चल सकता है कि यह दिगम्बर है, है भी या नहीं!

यहां (कुमारसम्भव की इस सूक्ति में) जो 'अलक्ष्य जन्मता' पद है वह 'अविमृष्टविधेयांश' दोष से दूषित है क्योंकि यहां विधेय तो है जन्म का 'अलक्ष्य-अलक्षित होना' और उसे बना दिया गया है गौण, क्योंकि अन्यपदार्थप्रधान 'बहुव्रीहि' समास में अर्थात् 'अलक्ष्यम् अज्ञातं जन्म यस्य स अलक्ष्यजन्मा तस्य भावस्तत्ता 'अलक्ष्यजन्मता' इस रूप में, तद्धित प्रत्ययार्थ प्रधान नहीं रह सकता। यहीं यदि 'अलक्षिता जनिः' (जन्म ऐसा जिसका पता न हो) यह पाठान्तर कर दिया जाय तो यह दोष दूर हो जायगा।

अथवा जैसे कि :—

'हमलोगों को—हम सरीखे मित्रों को—धिक्कार है कि तुम्हें उस प्रेयसी सुन्दरी के, उस आनन्द की स्रोतस्विनी के, उस तुम्हारे चञ्चल चित्त की एकाग्रता की केन्द्रभूत हमारी सखी

या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्ता-
तान्तिं तनोति तव सम्प्रति धिग् धिगस्मान् ॥ १६२ ॥

अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः । यथा—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥ १६३ ॥

इत्यत्र, न त्वमुक्ततानुवादेनान्यदत्र किञ्चिद्विहितम् , यथा—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥ १६४ ॥

इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि ।

के, जो क्षण भर के लिये भी तुमसे अलग न रही, समाचार जानने की चिन्ता इतनी दीन हीन बनाये जाय (और हम कुछ न कर पांय) ।

यहां 'न मुक्ता' 'छोड़ी न गयी' यह निषेध परक अभिप्राय (और उसका वाचक यह पद) ही विधेय रूप से रखा जाना चाहिये था क्योंकि-निषेध अर्थ यदि विधेय रूप से विवक्षित हो तो वहां नञ् समास का प्रयोग नहीं किया जाया करता जैसे कि यहां अर्थात् (विक्रमोर्वशीय की) इस सूक्ति-'यह संनद्ध नवजलधर कोई क्रुद्ध राक्षस नहीं लगता, यह खींचा इन्द्रधनुष उस राक्षस का धनुष भी नहीं लगता, यह तीव्र आसारवर्षण उस (राक्षसी) धनुष का बाण-वर्षण भी तो नहीं प्रतीत होता और ऐसा भी तो नहीं कि कनक की कषण-रेखा सी दीप्ति वाली यह विद्युत् ही मेरी प्रिया उर्वशी हो !'

में (जहां 'न' का निषेध रूप अर्थ प्रधानतः विवक्षित होने से अविमृष्टविधेयांश की सम्भावना नहीं रह सकती)। किन्तु 'आनन्दसिन्धुः' इत्यादि सूक्ति में 'अमुक्ता' के अतिरिक्त और तो कोई विधेय है नहीं और 'अमुक्ता' इत्यादि उद्देश्य (अनुवाद्य) रूप से ही हैं जिससे यहां 'अविमृष्टविधेयांश' दोष नञ् समास के कारण अवश्य उपस्थित है ।

इस (रघुवंश महाकाव्य की) सूक्ति अर्थात्—'महाराज दिलीप वे थे जो निर्भीक हो अपनी शरीर-रक्षा करते रहे, नीरोग रह धर्माचरण में लगते रहे, निर्लोभी रह कर धन-सञ्चय करते रहे और अनासक्त हो सुख भोगते रहे।'

में भी, जहां 'अत्रस्त' आदि में निषेध का अभिप्राय नञ् समास में गौण भले ही प्रतीत हो, 'अविमृष्टविधेयांश' की कोई सम्भावना नहीं क्योंकि यहां तो 'अत्रस्त' आदि उद्देश्य भूत हैं जिनके लिये 'जुगोप'-'रक्षा करते रहे' आदि विधेय रूप से उपनिबद्ध हैं। किन्तु 'आनन्दसिन्धुः' आदि में 'अमुक्ता' के लिये, जो कि उद्देश्यभूत है, कोई भी अन्य विधेय ढूंढे नहीं मिलता जिससे यहां 'अविमृष्टविधेयांश' का हटना असम्भव है ।

टिप्पणी—वाक्य के दो अंश हुआ करते हैं—१ ला उद्देश्यभूत अंश और २ रा विधेयभूत अंश । इनमें मीमांसादर्शन की दृष्टि से विधेयभूत अंश अथवा साध्यांश की प्रधानता रहा करती है । उद्देश्य-विधेयभाव का निर्णय महामीमांसक आचार्य कुमारिल भट्ट ने इस प्रकार किया हैः—

'यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता ।
तच्छब्दयोग औत्तर्यं साध्यत्वं च विधेयता ॥ (तन्त्रवार्तिक)

जिसका तात्पर्य यह है कि उद्देश्य और विधेय-दोनों अंशों का पृथक् पृथक् पदों द्वारा उपस्थापन आवश्यक है न कि समासादि द्वारा इन्हें गौण बनाकर इनका उपादान । उद्देश्यविधेयभाव' यद्यपि पृथक् पृथक् पदों के अर्थ रूप से प्रतीत नहीं हुआ करता, किन्तु वाक्यार्थप्रतीति में इसकी विशेष्य विशेषणभाववत् प्रतीति अवश्य हुआ करती है जैसा कि कहा गया है—'अनूद्य विधेयभावः

(१६ विरुद्धमतिकृत्)

१६—विरुद्धमतिकृद्यथा—

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः ।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥ १६५ ॥

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम् । अकार्ये मित्रमिति तु प्रतीतिः ।

यथा वा—

चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः ।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम् ॥ १६६ ॥

अत्र कण्ठग्रहमिति वाच्यम् ।

(उद्देश्य विधेयभावः) 'संसर्गो विशेष्यविशेषणभाव इवापदार्थोऽपि वाक्यार्थप्रतीतौ भासते—(चक्रवर्ति भट्टाचार्य)'। इन अंशों में उद्देश्यभूत अंश की पहचान है—इसकी 'यत्' शब्द से प्रतिपाद्यता, उसकी सिद्धरूप से प्रतीयमानता और उसकी अनुवाद्यता और विधेयभूत अंश की पहचान है—उसकी 'तत्' शब्द से प्रतिपाद्यता किंवा उद्देश्य से सम्बद्ध रूप से, उद्देश्य बोध के बाद उसकी बोधविषयता। उद्देश्य-विधेयभाव के लिये 'यत्'-'तत्' शब्द का प्रयोग सर्वत्र आवश्यक नहीं, उसके लिये 'यत्'-'तत्' रूप अर्थ की प्रतीति ही अपेक्षित है जो कि विना शब्द-प्रयोग के भी स्वभावतः हुआ करती है। उद्देश्यविधेयभाव की दृष्टि से वाक्यरचना होनी चाहिये जिसके लिये आवश्यक यह है कि विना उद्देश्य (अनुवाद) के अभिधान के विधेय का अभिधान न किया जाय-'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदरियेत्'।

वैसे तो कवि जन अपने काव्यवाक्यों में वाक्य के इस अनिवार्य सिद्धान्त का अनुपालन किया ही करते हैं किन्तु वृत्तरचना की सीमाओं के कारण कभी कभी ऐसा भी हो जाया करता है कि यह सिद्धान्त उल्लंघित हो जाय। वृत्तविन्यास की दृष्टि से ही प्रायः विधेयांश समर्पक पदों को समास में समस्त कर दिया जाया करता है। किन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि ऐसा होना 'अविमृष्टविधेयांश' दोष को गले लगाने के बराबर है। आचार्य मम्मट ने इसीलिये इसका यहां विशद विवेचन किया है।

अनुवाद—'विरुद्धमतिकृत्' वह दोष है जिसे किसी पद का, प्रकृत अर्थ के प्रतिबन्धक रूप से अवस्थित अप्रकृत अर्थ का प्रत्यायन करना कहा जाता है। जैसे कि:—

'उस अनुपम व्यक्ति का गुण-गान कैसे किया जाय जिसका आचार-व्यवहार चन्द्र के किरण-कलाप के समान शुद्ध-पवित्र हो और जो 'अकार्यमित्र'-विना किसी स्वार्थ के ही सौजन्य-सम्पन्न हो।

यहां 'अकार्यमित्रम्' पद में जो बात वस्तुतः अभिप्रेत है वह तो है 'कार्यं विना मित्रम्' (कार्यस्य प्रयोजनस्याभावोऽकार्यम्—अव्ययीभावसमास) अकार्यं मित्रमकार्यमित्रम् (मयूरव्यंसकादि समास) 'विना किसी स्वार्थ के मित्र होने'-की बात किन्तु जो बात प्रतीत हो जाती है वह है 'अकार्य मित्रम्'-'दुष्कर्म में मित्र होने की बात (क्योंकि यहां न कार्यमकार्यम् तत्र मित्रम् अकार्यमित्रम्-इस नञ् समास को भी माना जा सकता है) जिससे यह पद 'विरुद्धमतिकृत्' दोष से दूषित हो गया है।'

अथवा जैसे कि :—

'कोई भी प्रेमिका बहुत दिनों के बाद आये हुये किंवा अपने नेत्रों के आनन्ददायक अपने प्रियतम का 'गलग्रह'-कण्ठालिङ्गन सहसा ही किया करती है।'

यहां 'गलग्रह' पद 'विरुद्धमतिकृत्' इसलिये है क्योंकि यहां जो अभिप्राय विवक्षित है वह तो है 'कण्ठग्रह'-'कण्ठ का आलिंगन'-'गले लगने की वात, किन्तु जो बात प्रतीत हो उठती है वह है 'गलग्रह' नामक एक रोग-विशेष अथवा 'गर्दनिया देकर बाहर

(महाक्रोधीरुद्र)

यथा वा—

न त्रस्तं यदि नाम भूतकरुणासन्तानशान्तात्मनः
तेन व्यारुजता धनुर्भगवतो देवाद्भवानीपतेः ।
तत्पुत्रस्तु मदान्धतारकवधाद्विश्वस्य दत्तोत्सवः
स्कन्दः स्कन्द इव प्रियोऽहमथ वा शिष्यः कथं विस्मृतः ।। १६७ ।।

अत्र भवानीपतिशब्दो भवान्याः पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति ।

यथा वा—

गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः ।
सविधे निरहङ्कारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ।। १६८ ।।

अत्राम्बिकारमण इति विरुद्धां धियमुत्पादयति ।

निकालने' की बात (क्योंकि यहां 'गलग्रह' का कण्ठालिंगनरूप अभिप्राय तो उस अवस्था में संभव है जब कि इस पद को यौगिक पद माना जाय, किन्तु इसे रूढपद भी माना जा सकता है और उस अवस्था में इसका अभिप्राय 'गलग्रह' नामक रोग ही होगा और 'रूढिर्योगमपहरति' 'योग की अपेक्षा रूढि प्रबल है' के सिद्धान्त के अनुसार यहां रूढ अर्थ गलग्रह रोग की प्रतीति ही योगार्थ–कण्ठालिंगन की प्रतीति की अपेक्षा प्रबल होगी)।

अथवा जैसे कि:—

'महाविजयी भगवान् भवानीपति के (अजगव नामक) धनुष को तोड़ने वाला राम यदि उनसे न डरा तो संभवतः इसलिये कि जीव–दया की अनवरत दीक्षा से शान्त–स्वभाव शिव से क्या डरना ! और उनके पुत्र स्कन्द से सारे संसार के आस्कन्दन समर्थ देवगणनायक से भी यदि न डरा तो इसीलिये कि मदान्ध तारकासुर के संहारक से क्या डरना जो समस्त विश्व का आनन्ददायक हो किन्तु महादेव के लिये उनके स्कन्द के समान परमप्रिय अथवा उनके धनुर्वेद के एक मात्र शिष्य मुझ परशुराम को वह क्योंकर भूल गया ।

यहां (भवभूति के महावीर चरित की इस सूक्ति में) 'भवानीपति' पद 'विरुद्ध-मतिकृत्' है क्योंकि यहां जो विशेष अभिप्राय विवक्षित है अर्थात् दक्षयज्ञविध्वंसक शिव के रौद्ररूप का अभिप्राय उसमें तो यह पद व्यर्थ है क्योंकि इसके द्वारा एक ऐसा अभिप्राय निकल पड़ा है जो यहां कदापि विवक्षित नहीं और वह अभिप्राय है 'भवानी' भव–पत्नी अर्थात् शिवपत्नी–पार्वती के एक अन्य किसी पति के होने का अभिप्राय (क्योंकि जब 'भवानी' शब्द की व्युत्पत्ति से ही यह सिद्ध है कि भव अर्थात् शिव की पत्नी भवानी हैं अथवा दूसरे शब्दों में पार्वती के पति ही भव हैं तब 'भवानी के पति' का क्या अर्थ !)

अथवा जैसे कि:—

'वे अम्बिकारमण (शिव) आप सब का कल्याण करें जिनके वाहनभूत (नन्दी) वृषभ के समीप वह (भयङ्कर) गिरिसुता (का वाहन) सिंह भी सौम्यप्रकृति हो जाया करता है ।'

यहां 'अम्बिकारमण' पद 'विरुद्धमतिकृत्' है क्योंकि यद्यपि इसका एक अभिप्राय 'गौरीपति शिव' का ही अभिप्राय है किन्तु इससे एक दूसरा भी अभिप्राय निकल सकता है, जो यहां कदापि विवक्षित नहीं और वह अभिप्राय है—अम्बिका 'माता' के 'रमण' उपपति का अभिप्राय ।

(समास में भी श्रुतिकटु आदि पददोष)

श्रुतिकटु समासगतं यथा—

सा दूरे च सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना ।
बर्हिनिर्ह्लादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः ॥ १६९ ॥

एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

(वाक्यगत श्रुतिकटुत्व आदि दोष)

(७४) अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥ ५२ ॥

केचन न पुनः सर्वे । क्रमेणोदाहरणम् ।

(वाक्यगत १ 'श्रुतिकटुत्व')

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनतार्प्सीत्सममंस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च ॥ १७० ॥

(जिस प्रकार 'श्रुतिकटु' आदि १३ पद-दोष असमासगत पद के दोषरूप में बताये जा चुके हैं उसी प्रकार ये समासगत पद के भी दोष हुआ करते हैं जैसे कि) समासगत श्रुतिकटु 'वह अमृतरस में पगी और प्रेम की हिलोरों से भरी आंखों वाली तो दूर रही और पास पहुंच आया यह काल-यह 'बर्हिनिर्ह्लादन' (मयूर की केका) का उत्पादक वर्षा काल !'

[यहां जो 'बर्हिनिर्ह्लादनार्ह' पद है वह समस्त पद है और श्रुतिकटु पद है ।]

'श्रुतिकटु' की ही भांति अन्य १२ पद-दोष भी (जो असमासगत पद-दोष के रूप में निर्दिष्ट किये जा चुके) समासगत पददोष के रूप में (स्वयं यथास्थान) समझ लेने चाहिये।

'च्युतसंस्कृति', 'असमर्थ' और 'निरर्थक'—इन तीन पद-दोषों को छोड़कर अन्य जो १३ पददोष हैं वे वाक्य के भी दोष हुआ करते हैं और इनमें कुछ ऐसे भी दोष हैं जो पदांशपद के एक देश के भी दोष कहे जाते हैं ।

यहां 'केचन' का अभिप्राय यह है कि श्रुतिकटु आदि जितने दोष गिनाये जा चुके हैं वे सभी नहीं अपि तु इन दोषों में कुछ ऐसे हैं जो पदैकदेश अथवा पदांश के भी दोष हुआ करते हैं ।

टिप्पणी—प्राचीन अलंकार शास्त्र में पद-दोष की ऐसी मीमांसा नहीं जो यहां आचार्य मम्मट ने की है । समासगत और असमासगत पद-दोष विभाग आचार्य मम्मट का ही किया है । 'श्रुतिकटु' आदि पद-दोषों की पदांशवृत्तिता और वाक्यवृत्तिता का भी विचार जिस वैज्ञानिक ढंग से यहां किया गया है वैसा रुद्रट आदि प्राचीन आलंकारिकों के काव्यालङ्कार ग्रन्थों में नहीं । 'श्रुतिकटु' आदि की 'पदवृत्तिता' और 'वाक्यवृत्तिता' का जो नियामक है वह संक्षेपतः यह है—एक (समस्त अथवा असमस्त) पदगत श्रुतिकटुत्व आदि तो पददोष है किन्तु अनेक पदगत श्रुतिकटुत्व आदि वाक्यदोष है । प्रत्येक पद तो परस्पर निराकाङ्क्ष हुआ करते हैं और इसलिये उनके दोष भी उनके प्रातिस्विक दोष हैं किन्तु वाक्य वह है जिसमें अनेक साकांक्ष पद प्रयुक्त रहा करते हैं और इसके लिये वाक्यगत श्रुतिकटुत्वादि दोष ऐसे हैं जो साकांक्ष-एकाधिक-पदवृत्तिदोष कहे जाते हैं । इस दृष्टि से 'च्युतसंस्कृति', 'असमर्थ और' निरर्थक' ये तीनों पद दोष वाक्य-दोष नहीं माने जा सकते क्योंकि एक पद में ही व्याकरण-संस्कार-प्रच्यव को 'च्युतसंस्कृति', एक पद की ही शक्यार्थ की अनुपस्थापकता को 'असमर्थ' और पृथक् पृथक् च, हि आदि पदों के निष्प्रयोजन प्रयोग को ही 'निरर्थक' कहा जाता है ।

अनुवाद—**क्रमशः वाक्यगत दोषों के उदाहरण ये हैं । जैसे कि (श्रुतिकटु का उदाहरण)—**

(वाक्यगत २. 'अप्रयुक्तत्व')

स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम् ।
अनेडमूकताद्यैश्च द्यतु दोषैरसम्मतान् ॥ १७१ ॥

अत्र दुश्च्यवन इन्द्रः अनेडमूको मूकबधिरः ।

(वाक्यगत ३. निहतार्थत्व)

सायकसहायबाहोर्मकरध्वजनियमितक्षमाधिपतेः ।
अब्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिपश्लोकः ॥ १७२ ॥

अत्र सायकादयः शब्दाः खड्गाब्धिभूचन्द्रयशःपर्यायाः शराद्यर्थतया प्रसिद्धाः ।

(वाक्यगत ४ 'अनुचितार्थत्व')

कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च नग्नास्तव विभो ! ।
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा
तथापि त्वत्कीर्त्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥ १७३ ॥

'वे रहे महाराज दशरथ, जिन्होंने वेदों का अध्ययन किया था, देवों की पूजा की थी, पितरों को तृप्त किया था, बन्धुओं का संमान किया था, अन्तरङ्ग शत्रु-षट्क (काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद और मात्सर्य) को जीता था, राजनीति में रमण किया था और किया था (वहिरंग) शत्रुओं का समूलोन्मूलन !'

(यहां भट्टिकाव्य की इस सूक्ति में अनेकानेक पद कर्णकटु हैं जिससे यहां वाक्यगत 'श्रुतिकटु' दोष स्पष्ट है ।)

'वह दुश्च्यवन-इन्द्र आप सबका सतत कल्याण करते रहें और आप सबके शत्रुओं को उनमें मूकता और बधिरता आदि के दोषों को उत्पन्न कर, नष्ट करते रहें ।'

यहां अप्रयुक्तरूप वाक्यगत दोष है क्योंकि (कोश में पठित भी) 'इन्द्र' वाचक 'दुश्च्यवन' पद तथा 'मूक-बधिर' वाचक 'अनेऽमूक' पद कवियों द्वारा 'इन्द्र' और 'मूकबधिर' के अभिप्राय में प्रयुक्त नहीं किये जाते ।

'महाराज ! सायक (खड्ग)-विभूषित बाहुदण्ड वाले तथा मकरध्वज (समुद्र) वेष्टित क्षमा (पृथिवी) के अधिराज आपका यह अब्ज (चन्द्र) की कान्ति के समान कान्तिमान् श्लोक (यश) सर्वत्र प्रकाशमान दिखाई दे रहा है ।'

यहां 'सायक' आदि (अर्थात् मकरध्व, क्षमा, अब्ज और श्लोक) पद, जो कि क्रमशः खड्ग, समुद्र, पृथिवी, चन्द्रमा और यश के पर्याय शब्द के रूप में प्रयुक्त हैं, 'निहतार्थ' हैं क्योंकि इनके ये अर्थ इनके लोक प्रसिद्ध अर्थों-बाण, कामदेव, सहनशीलता, कमल और पद्य-के द्वारा दवा दिया करते हैं (अथवा कुचले जाया करते हैं) ।

'महाराज! आप 'कुविन्द' (कुं पृथिवीं विन्दति लभते कुविन्दः भूपतिः) पृथिवी के स्वामी हैं (किन्तु 'कुविन्द' का अर्थ है जुलाहा 'तन्तुवाय' भी) आप सर्वत्र 'गुण-ग्राम' विद्या-शौर्य आदि गुण-गण का यथोचित संमान-सत्कार द्वारा प्रसार किया करते हैं, (किन्तु 'गुणग्रामं पटयसि' का अर्थ है 'सूत का कपड़ा बनाते हैं') जिधर देखिये उधर ही लोग 'नग्नाः' चारण (स्तुतिपाठक) बने हुये आपका यशोगान कर रहे हैं (किन्तु 'नग्नाः' का अर्थ है 'नङ्गे लोग' भी) किन्तु यह सब कुछ होते हुये भी आपकी 'शरज्ज्योत्स्नागौर-स्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा' शारदी चन्द्रिका सरीखे निर्मल किं वा प्रकाशमान समस्त अङ्गों से सुन्दर (किन्तु 'शरज्ज्योत्स्ना' आदि का अर्थ है शारदी चन्द्रिका की भांति गौरवर्ण के तथा स्पष्ट परिलक्षित होनेवाले सभी गुप्त अङ्गों की सुन्दरता से भरी हुई भी) जो कीर्ति

अत्र कुविन्दादिशब्दोऽर्थान्तरं प्रतिपादयन् उपश्लोक्यमानस्य तिरस्कारं व्यनक्तीत्यनुचितार्थः ।

(वाक्यगत ५ 'अवाचकत्व')

प्राभ्रभ्राड्विष्णुधामाप्य विषमाश्वः करोत्ययम् ।
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम् ॥ १७४ ॥

अत्र प्राभ्रभ्राड्-विष्णुधाम-विषमाश्व-निद्रा-पर्ण-शब्दाः प्रकृष्टजलद-गगन-सप्ताश्व-सङ्कोच-दलानामवाचकाः ।

(वाक्यगत ६ त्रिविधा श्लीलत्व)

(व्रीडाव्यञ्जक अश्लील)

भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना ।
तत्तत्प्रहरणोत्साहवती मोहनमादधौ ॥ १७५ ॥

अत्रोपसर्पण-प्रहरण-मोहनशब्दा व्रीडादायित्वादश्लीलाः ।

है वह इस लोक में 'विगताच्छादनं' स्पष्ट परिलक्षित होती हुई (किन्तु इसका अर्थ है विना कपड़ा पहने हुये ही) विचरण करती दिखायी दे रही है ।'

यहां 'कुविन्द' आदि शब्द 'अनुचितार्थ' हैं क्योंकि इनके जो यहां (व्यञ्जना से) अन्य अर्थ (अर्थात् तन्तुवाय आदि) निकल रहे हैं वे ऐसे हैं जिनसे यहां प्रशंसा के विषय प्रकृत भूपाल का तिरस्कार ही प्रकाशित किया जा रहा है (क्योंकि वाच्यार्थभूत 'भूपाल' और व्यङ्ग्यार्थभूत 'तन्तुवाय' का उपमानोपमेयभाव एक अनुचित अर्थ नहीं तो और क्या है !)

यह 'विषमाश्व'-सप्ताश्व-सूर्य 'प्राभ्रभ्राड्विष्णुधाम' (अभ्रे आकाशे भ्राजते शोभते यः स अभ्रभ्राट् प्रकृष्टश्चासौ अभ्रभ्राट् यत्र तत् विष्णुधाम आकाशम्) मेघाच्छन्न आकाश में 'आप्य' पहुंचते ही, 'सहस्रपर्णानां निद्रां पलायनपरायणां करोति' सहस्रदल कमलों की नींद को तुरत भाग जाने के लिये व्यग्र बना दिया करता है ।'

यहां 'प्राभ्रभ्राट्' (जो 'आकाशस्थित' का वस्तुतः वाचक है), 'विष्णुधाम' (जिसका अर्थ विष्णु का स्थान है) 'विषमाश्व' (जो विषम संख्या वाले अश्वों का अर्थ रखता है), 'निद्रा' (जो पुरीतत् नाम की नाडी में मनोयोग का वाचक है) और 'पर्ण' (जिसका अर्थ है पत्ते) ये शब्द ऐसे हैं जो प्रकृष्ट मेघ, गगन, सप्त अश्व, पत्र सङ्कोच और दलरूप अर्थों के लिये (जो यहां वस्तुतः विवक्षित है) 'अवाचक' ही प्रतीत हो रहे हैं ।

'भूपतेः' इस राजा की 'तत्तत्प्रहरणोत्साहवली' नाना भांति के अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में उत्साह से भरी, 'वामलोचना' शत्रुओं पर (उनका संहार करने के लिये) दृष्टि गड़ाये पड़ी, 'उपसर्पन्ती' रणभूमि में बढ़ती हुई 'कम्पना' इस सेना ने 'मोहनमादधौ' शत्रुगण को वस्तुतः मूर्छित कर दिया ।'

यहां 'उपसर्पण' 'प्रहरण' और 'मोहन' शब्द इसलिये 'अश्लील' हैं कि ये व्रीडा व्यञ्जक हैं (अर्थात् इनके द्वारा यह लज्जास्पद अर्थ भी निकलता है—'उपसर्पन्ती'-रति लीला में तत्पर, 'कम्पना' रति-प्रसङ्ग में आनन्द से कांपती हुई 'तत्तत्प्रहरणोत्साहवती' कामशास्त्र सम्मत उन-उन जघनताडन आदि कार्यों में उत्साह से भरी 'वामलोचना' किसी नायिका ने 'भूपतेः मोहनमादधौ' इस राजा को अत्यधिक रति-सुख में विभोर कर दिया !)

(जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील)

तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गञ्च भुञ्जते ।
इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात्प्रवर्त्तनम् ।। १७६ ।।

अत्र वान्तोत्सर्गप्रवर्त्तनशब्दा जुगुप्सादायिनः ।

(अमङ्गलव्यञ्जक अश्लील)

पितृवसतिमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे ।
भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशेषितशोकशल्यकम् ।। १७७ ।।

अत्र पितृगृहमित्यादौ विवक्षिते श्मशानादिप्रतीतावमङ्गलार्थत्वम् ।

(वाक्यगत ७ सन्दिग्धत्व)

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः ।
मार्गणप्रवणो भास्वद्भूतिरेष विलोक्यताम् ।। १७८ ।।

अत्र किं सुरादिशब्दा देव-सेना-शर-विभूत्यर्थाः किं मदिराद्यर्था इति सन्देहः ।

(वाक्यगत ८ अप्रतीतत्व)

तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुषः ।
दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे ।। १७९ ।।

'वे कवि, जो किसी दूसरे कवि द्वारा वर्णित अर्थ के 'ग्रहण' (अपहरण) में प्रवृत्त हुआ करते हैं, वस्तुतः किसी के 'वान्त'-वमन-को खाया करते हैं और 'परोत्सर्ग'-पुरीष (मल)-का भोग लगाया करते हैं ।'

यहां 'वान्त' 'उत्सर्ग' और 'प्रवर्तन' शब्द इसलिये अश्लील हैं क्योंकि ये जुगुप्सा व्यञ्जक हैं (अर्थात् 'वान्त' तो 'उलटी की गयी चीज़' का अर्थ रखता है, 'उत्सर्ग' का अर्थ है मल-पाखाना-का त्याग और 'प्रवर्त्तन' का अर्थ है मलत्याग में प्रवृत्त होना ये तीनों अर्थ घृणास्पद हैं !)

'मैं तो अब अपने परिवार (बालबच्चों) के साथ उस अपने 'पितृवसति' पीहर (पिता के घर) को चली जाऊंगी, जहां 'पावकान्वय' पूज्य माता-पिता के सम्पर्क में मेरा यह हृदय तत्काल शोक-शल्यों से रहित हो जायगा ।'

यहां 'पितृवसति' 'पावकान्वय' और 'अशेषित शोक शल्यक' शब्द अमङ्गलव्यञ्जक हैं क्योंकि ये यहां विवक्षित ('पीहर' 'पूज्य लोगों के सम्पर्क' और 'शोक-शल्य से रहित' इन) अर्थों के बोधन काल में ही 'श्मशान' 'अग्नि-सम्बन्ध' और 'भस्मीभूत होने'-इन अमङ्गलास्पद अर्थों का भी अभिव्यञ्जन कर रहे हैं ।

'ये हैं वे महाराज-'सुरालयोल्लासपर'-देवगृहों के उत्सवायोजन में तत्पर, 'प्राप्तपर्याप्तकम्पन'-शत्रुविनाश में समर्थ सैन्यबल से युक्त, 'मार्गणप्रवण'-बाण-वर्षण में दत्तचित्त और 'भास्वद्भूति'-सर्वत्र प्रकाशमान ऐश्वर्य से विभूषित !'

यहां 'सुरादि' पद ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में यह सन्देह बना रहता है कि यहां इनका अर्थ क्रमशः 'देव', 'सेना', 'बाण' और 'विभूति' ही है या 'मदिरा', 'कम्प' 'याचन' और 'भस्म' भी है (क्योंकि यदि इनका मदिरादि अर्थ हुआ तब वाक्यार्थ होगा—यह है वह राजा-'सुरालयोल्लासपर' मदिरागृह में आनन्द मनाने वाला, 'प्राप्तपर्याप्तकम्पन'-अत्यधिक कांपने वाला, 'मार्गणप्रवण' भीख मांगने में न हिचकने वाला और 'भास्वाद्भूति'-भस्म रमाये अवधूत बना !)

'अरे भाई ! उस तीव्र संवेग (विकट वैराग्य) वाले तथा 'अधिमात्रोपाय' स्थिर ज्ञान

अत्राधिमात्रोपायादयः शब्दाः योगशास्त्रमात्रप्रयुक्तत्वादप्रतीताः।

(वाक्यगत ९ ग्राम्यत्व)

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥ १८० ॥

अत्र गल्लादयः शब्दा ग्राम्याः।

(वाक्यगत १० नेयार्थत्व)

वस्त्रवैदूर्यचरणैः क्षतसत्त्वरजःपरा।
निष्कम्पा रचिता नेत्रयुद्धं वेदय साम्प्रतम् ॥ १८१ ॥

अत्राम्बररत्नपादैः क्षततमा अचला भूः कृता नेत्रद्वन्द्वं बोधयेति नेयार्थता।

(वाक्यगत ११ क्लिष्टत्व)

धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥ १८२ ॥

अत्र धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति सम्बन्धे क्लिष्टत्वम्।

समर्थ यम-नियम वाले (योगी) का अपनी 'प्रियप्राप्ति'-आत्मवेदिता में 'दृढ़भूमि' अविचल 'यत्न' निदिध्यासनादि रूप प्रयत्न अब तो सफल होता दिखाई दे रहा है।

यहां 'अधिमात्र' 'उपाय' आदि शब्द ऐसे हैं जो 'अप्रतीत' हैं अर्थात् योगशास्त्र की परिभाषा से परिचित के लिये भले ही प्रतीतार्थक हों, काव्यरसिक के लिये तो अप्रतीतार्थक ही हैं।

'यह 'मानुष' यह व्यक्ति भले ही 'खादन-पान' खाना-पीना जैसे-तैसे करता हो किन्तु 'ताम्बूलभृतगल्ल' मुंह में पान रख कर गाल फुलाये 'भल्लजल्पन'-बातचीत तो अच्छी तरह किया करता है।'

यहां 'गल्ल', 'भल्ल', 'मानुष', 'खादन' और 'पान' शब्द ग्राम्य हैं (क्योंकि सहृदय इनका प्रयोग करना असभ्यता समझा करते हैं)।

'अरी सखी ! अब तो यह 'निष्कम्पा' यह पृथिवी, 'वस्त्रवैदूर्यचरणैः'-'वस्त्र' आकाश के 'वैदूर्य'-रत्न (सूर्य) के 'चरण' किरण-समूह द्वारा 'क्षतसत्त्वरजःपरा' 'सत्त्वरजः-पर' सत्त्व और रजः के अतिरिक्त तमोगुण-अन्धकार से सर्वथा रहित बना दी गयी। अब तो 'नेत्रयुद्ध'-नेत्रद्वन्द्व-अपने दोनों नेत्रों का 'वेदन'-उद्घाटन करो (आंखें खोलो)।

यहां 'नेयार्थता' इसलिये है क्योंकि 'वस्त्रवैदूर्य चरण' आदि शब्दों के द्वारा पहले तो 'अम्बररत्नपाद' आदि शब्द लक्षित होते हैं और तब 'आकाशमणिकिरण' आदि अर्थ उपस्थित किये जाते हैं जिनके बाद यह अर्थ प्रतीत होता है कि 'अम्बर रत्नपाद' आकाश मणि सूर्य की किरणों से 'अचला' पृथिवी 'क्षततमा' अन्धकाररहित कर दी गयी (प्रातः काल हो गया) और अब 'नेत्रद्वन्द्व' दोनों आंखों का 'बोधन' उन्मीलन करो (जाग पड़ो) (अब इस किसी प्रकार निकले-निकाले अर्थ में न तो कोई रुढ़ि है और न कोई प्रयोजन, जो बात है वह है केवल 'नेयार्थता' की बात !)

'कुरङ्गशावाक्ष्याः' इस मृगनयनी सुन्दरी के 'अपूर्वबन्धव्युत्पत्तेः' बन्ध-वैचित्र्य के कारण सुन्दर 'धम्मिल्लस्य' केशपाश की 'शोभां प्रेक्ष्य' सुन्दरता को देखकर 'कस्य मानसं निकामं न रज्यति' भला कौन है जिसका मन मुग्ध न हो जाय !'

यहां 'क्लिष्टत्व' इसलिये है क्योंकि 'धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मनो न रज्यति'-'केश पाश की सुन्दरता को देख कर किसका मन ललचा नहीं जाता' यह अन्वय (आसत्ति के अभाव में) विलम्ब से प्रतीत हो पाता है।

(वाक्यगत १२ अविमृष्ट विधेयांशत्व)

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग् धिग् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।। १८३ ।।

अत्रायमेव न्यक्कार इति वाच्यम् । उच्छूनत्वमात्रं चानुवाद्यम् न वृथात्वविशेषितम् । अत्र च शब्दरचना विपरीता कृतेति वाक्यस्यैव दोषो न वाक्यार्थस्य ।

यथा वा—

अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितं दृशोर्भ्रुवोररालान्तविलासि वेल्लितम् ।
विसारिरोमाञ्चनकञ्चुकं तनोस्तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः ।। १८४ ।।

'धिक्कार की बात तो यह है कि मेरे भी शत्रु खड़े हो गये ! इससे बढ़ कर धिक्कार की बात क्या कि शत्रुओं में शत्रु हो मानव एक तपस्वी मनुज ! वह करे हमारी इस लङ्का में ही राक्षस-वंश का संहार और मैं रावण जीवित कहां जाऊं ! धिक्कार है मेरे इन्द्र-विजयी मेघनाद को ! नींद से जगाये गये अब उस कुम्भकर्ण से भी क्या ! और इस क्षुद्र ग्राम सरीखे स्वर्ग की लूट-पाट करने में, व्यर्थ के लिये फूली मेरी इन भुजाओं से क्या !,

यहां ('न्यक्कारो ह्ययमेव'-'धिक्कार की बात तो है यह' कहा गया किन्तु) कहा जाना चाहिये था—'अयमेव न्यक्कारः' 'यह रही धिक्कार की बात' ! (क्योंकि 'अयम्' इस 'उद्देश्य' के बाद ही यदि 'न्यक्कारः' इस 'विधेय' का ग्रहण हो तभी वस्तुतः 'अयम्' और 'न्यक्कार' में उद्देश्यविधेय भाव की प्रतीति सम्भव हो अन्यथा भला कहां ! इन दोनों पदों में उद्देश्य और विधेय के पूर्वापरभाव का विपर्यय यदि हो गया तो 'अविमृष्टविधेयांश' रूप वाक्यगत दोष तो लग ही गया !) साथ ही साथ यहां उद्देश्य रूप से रखा जाना चाहिये था 'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनोच्छूनैः' न कि 'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः' जिसमें 'वृथा' रूप 'विधेय' को 'उच्छून' का बना दिया जाय विशेषण और जब 'विधेय' की खोज करनी पड़े तो हाथ लगे कुछ नहीं । (क्योंकि आगे आने वाले 'किम्'-'क्या' को यदि विधेय माना जाय तो 'वृथा' विशेषण हो जाय सर्वथा व्यर्थ क्योंकि 'किम्' का अभिप्राय 'वृथा' नहीं तो और क्या ! यदि 'वृथा' को ही विधेय अन्ततोगत्वा समझा जाय तब 'अविमृष्टविधेयांशत्व' कैसे हटाया जाय) ।

यहां जो (अविमृष्टविधेयांशत्व) दोष है वह ('वृथोच्छूनैः' इस समासगत पद का दोष नहीं और उद्देश्य और विधेयभूत अर्थ के विपर्यय के अनुभव में) वाक्यार्थ का भी दोष नहीं अपि तु वस्तुतः उद्देश्य और विधेयबोधक पदों के विपरीत विन्यास में वाक्य का ही दोष है ।

टिप्पणी—हनुमन्नाटक (अंक ४ र्थ) की इस सूक्ति में आचार्य मम्मट ने 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष का दर्शन किया कराया तो अवश्य है किन्तु यदि इस दृष्टि से इसे देखा जाय कि अधिक्षेप और अमर्ष से उन्मत्त किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के अभिव्यञ्जन में **'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् । न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ॥'** के सिद्धान्त का अनुपालन स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक है तो यहां कोई दोष नहीं प्रत्युत जो दोष प्रतीत हो रहा है वह 'गुणवीथीं विगाहते'-गुण की श्रेणी में खड़ा हुआ दिखाई दे रहा है ।

अनुवाद— अथवा जैसे कि:—

'अरी सुन्दरी ! देख तेरा वह आ पहुंचा जो तेरी आंखों में कटाक्ष का सौन्दर्य उत्पन्न किया करता है, तेरी भौंहों में वक्रता की विचित्रता प्रकाशित किया करता है और किया करता है तेरी देह में प्रसन्नता की पुलकावली की सुन्दर सृष्टि !'

अत्र योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यमात्रप्रतीतिकृत् । तथा हि । प्रक्रान्तप्रसिद्धाऽनुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते ।

क्रमेणोदाहरणम्—

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ १८५ ॥

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥१८६॥

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षिताऽसि ॥ १८७ ॥

यहां भी 'अविमृष्टविधेयांशत्व' है क्योंकि 'योऽसौ' (जो वह) ये दोनों पद यहां उद्देश्य और विधेयरूप से नहीं (क्योंकि 'यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्धः' के नियम के अनुसार 'यः' और 'असौ' में परस्पर साकांक्षता नहीं अपि तु 'यः' और 'सः' में परस्पर साकांक्षता हुआ करती है और इस दृष्टि से यहां 'यः' को उद्देश्य मान कर 'असौ' को विधेय माना ही नहीं जा सकता।) अपि तु केवल अनुवाद्य (उद्देश्य) मात्र के प्रत्यायक होने से उद्देश्य रूप से ही उपस्थित हैं (ऐसा इसलिये क्योंकि 'योऽसौ' में 'असौ' पद 'यः' के अर्थ का ही विशेषण है न कि अतिरिक्त विधेयपद है और जब ऐसी बात है तब उद्देश्य विधेयभाव का यहां अवगमन कैसे ! और जब यही नहीं तो 'अविमृष्टविधेयांशत्व' न हो तो और क्या हो !)

'यत्' और 'तत्' पद की परस्पर साकांक्षता (जिससे इनमें उद्देश्य विधेयभाव सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से रहा करता है) स्पष्ट है (ऐसा नहीं कि कहीं केवल 'यत्' पद अथवा कहीं केवल 'तत्' पद का प्रयोग देख लेने से इन्हें परस्पर निराकाङ्क्ष मान लिया जाय और 'अपाङ्क्संसर्गि' आदि में दोष का निराकरण हो जाय) क्योंकि वहीं 'तत्' शब्द 'यत्' शब्द की अपेक्षा नहीं किया करता जहां वह किसी किसी 'प्रक्रान्त' (पूर्वप्रतीति के विषय), अथवा 'प्रसिद्ध' (लोकविदित) अथवा 'अनुभूत' (स्पष्टतः अनुभव के विषय) अर्थ का बोधक हुआ करता है जैसे कि प्रक्रान्त परामर्शक 'तत्' शब्द यहां अर्थात् (रघुवंश १७. ४२) की 'केवल (शौर्यरहित) राजनीति भीरुता है और केवल (नीतिरहित) शौर्य पशुता है यह देख इन दोनों (अर्थात् नीति और शौर्य के) सहयोग द्वारा वे (महाराज अतिथि) अपनी कार्यसिद्धि में सतत तत्पर रहते रहे।'

इत्यादि सूक्ति में 'यत्' शब्द की आकांक्षा नहीं कर रहा, अथवा जैसे कि प्रसिद्धार्थक 'तत्' शब्द यहां (अर्थात् कुमारसंभव की 'मुण्डमाली' की समागम-प्रार्थना से तो दोनों शोचनीय स्थिति में पड़ गयीं कलामय चन्द्र की वह कान्तिमती कला और इस लोक की नेत्र-कौमुदी तुम (पार्वती)!'

इस सूक्ति में 'यत्' शब्द से सर्वथा निराकाङ्क्ष रूप से विराजमान है, अथवा जैसे कि अनुभूतार्थक 'तत्' शब्द यहां अर्थात्—

'ओह ! प्यारी ! तू कांपती हुई, भय से विवस्त्र, उन आंखों को चारों ओर निराशा में फेरती हुई, सहसा क्रूर किंवा धूमसमूह से अन्धे दहन (अग्निदाह) द्वारा, विना देखे हुए ही, ऐसी निर्दयता से जला डाली गयी !'

इस सूक्ति में 'यत्' शब्द की आकांक्षा में नहीं पड़ता दिखाई दे रहा है।

यच्छब्दस्तूत्तरवाक्यानुगतत्वेनोपात्तः सामर्थ्यात्पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते यथा—

साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥ १८८ ॥

प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विना साकांक्षः । यथा तत्रैव श्लोके आद्यपादयोर्व्यत्यासे द्वयोरुपादाने तु निराकांक्षत्वं प्रसिद्धम् । अनुपादानेऽपि सामर्थ्यात्कुत्रचिद्द्वयमपि गम्यते यथा—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ १८९ ॥

टिप्पणी—'यत्' और 'तत्' पदों की परस्पर अर्थापेक्षता वस्तुतः स्वाभाविक है। इसीलिये यह नियम है—**'यत्तदोर्नित्यमभिसंबन्धः'** अर्थात् 'यत्' और 'तत्' का परस्पर सम्बन्ध एक नियम है। किन्तु ऐसा नहीं कि 'यत्' और 'तत्' का सर्वत्र अभिसंबन्ध शाब्द ही हुआ करे। कई स्थानों पर इनका सम्बन्ध आर्थ भी हुआ करता है। जहां इन दोनों का प्रयोग किया हुआ होता है जैसे कि—**'स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः'** आदि में, वहां तो इनका अभिसंबन्ध शाब्द है किन्तु जहां ऐसा नहीं होता अर्थात् या तो केवल 'यत्' प्रयुक्त रहा करता है या केवल 'तत्' वहां इनका सम्बन्ध आर्थ रहा करता है क्योंकि एक के द्वारा दूसरे का आक्षेप स्वाभाविक है। इस प्रकार 'यत्-तत्' की उद्देश्य-विधेय भावरूपता सिद्ध है जिसके विपर्यय में वाक्यगत 'अविमृष्टविधेयांशत्व' रूप दोष की उपस्थिति आवश्यक है।

अनुवाद—इसी प्रकार 'यत्' शब्द भी 'तत्' शब्द की आकांक्षा नहीं किया करता, किन्तु वहां ही, जहां वह उत्तर वाक्य (बाद के वाक्य) में प्रयुक्त रहा करता है और अर्थ सामर्थ्य से 'तत्' शब्द के अर्थ का आक्षेप किया करता है। जैसे कि यहां:—

'अपने से अधिक सुन्दर चन्द्रमा के उदय लेने पर कमलों के लिये यह तो अच्छा ही हुआ कि वे बन्द पड़े रहे किन्तु अपने से अधिक मनोरम कामिनी-मुख के रहते जो वह चन्द्रमा निकल पड़ा वह तो उसका दुःसाहस ही हुआ।'

(यहां उत्तर वाक्य-गत 'यन्मीलितम्' में प्रयुक्त 'यत्' शब्द पूर्व वाक्य में 'तत्साधुकृतम्' इस रूप में 'तत्' शब्द के प्रयोग की आकांक्षा नहीं कर रहा है क्योंकि 'तत्' का अर्थ तो आक्षेप-लभ्य हो ही रहा है।)

किन्तु यदि यही 'यत्' शब्द पूर्व वाक्य में प्रयुक्त रहे (उत्तर वाक्य में कहीं) तब तो बिना 'तत्' शब्द के प्रयोग के यह निराकांक्ष नहीं रह सकता। जैसे कि 'साधुचन्द्रमसि' आदि श्लोक में ही प्रथम पंक्ति के दोनों पादों-चरणों-के विपर्यास अर्थात् 'मीलितं यदभिरामताधिके साधुचन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्'—इस प्रकार के उलट-फेर में पूर्व वाक्यगत 'यत्' शब्द उत्तर वाक्य में 'तत्' शब्द के अप्रयोग में साकांक्ष ही बना है।

यह तो निःसंदिग्ध ही है कि 'यत्' और 'तत्' दोनों का यदि प्रयोग हो तो ये परस्पर निराकांक्ष हो जाते हैं (और 'अविमृष्टविधेयांशत्व' की संभावना नहीं रह पाती)। ऐसा भी संभव है कि दोनों का ही प्रयोग न हो और दोनों का अभिप्राय पता चल जाय, किन्तु सर्वत्र नहीं, अपि तु वहीं जहां इनका आर्थ-सम्बन्ध रहा करे। जैसे कि यहां:—

जो लोग हमारी इस (मालतीमाधव की) कृति को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं

अत्र य उत्पत्स्यते तं प्रतीति । एवं च तच्छब्दानुपादानेऽत्र साकांक्षत्वम् । न चासाविति तच्छब्दार्थमाह—

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः ।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥ १९० ॥

अत्र हि न तच्छब्दार्थप्रतीतिः ।

प्रतीतौ वा—

करवालकरालदोः सहायो युधि योऽसौ विजयार्जुनैकमल्लः ।
यदि भूपतिना स तत्र कार्ये विनियुज्येत ततः कृतं कृतं स्यात् ॥ १९१ ॥

अत्र स इत्यस्यानर्थक्यं स्यात् । अथ—

वे कुछ जानते भी हैं । अरे उनके लिये यह कृति नहीं । यह तो उसके लिये है जो कभी उत्पन्न होगा और मेरा समशील होगा अथवा अभी भी है किन्तु मेरा समान धर्मा (मेरे हृदय के समान हृदय का) है । अनन्त रहे यह समय और व्यापक रहे यह पृथिवी !'

जहां (पूर्वार्द्ध में 'ये' 'ते' के रूप में 'यत्' और 'तत्' दोनों प्रयुक्त होने से निराकांक्ष हैं ही, किन्तु उत्तरार्द्ध में भी जहां 'यत्' और 'तत्' सर्वथा अप्रयुक्त है) यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि 'उत्पत्स्यते' का अभिप्राय है 'य उत्पत्स्यते' 'जो उत्पन्न होगा' इसका और तब 'कं प्रति' किसके लिये की जिज्ञासा भी 'तं प्रति' 'उसके लिये' के आक्षेप से शान्त ही हो जाती है । इस विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि यहां अर्थात् 'तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः' में बिना 'तत्' शब्द के उपादान के 'योऽसौ' शब्द साकांक्ष ही पड़ा हुआ है (और 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष से इस उक्ति का छुटकारा नहीं हो सकता क्योंकि 'असौ' शब्द जो यहां प्रयुक्त है, 'तत्' शब्द का अभिप्राय रखता कभी नहीं प्रतीत हो रहा है । जैसे कि यदि इस सूक्ति में अर्थात्:—

'मरुच्चुम्बितचारुकेसर' मलयानिल के झोकों से मौलश्री को छूता (हनुमान् के पक्ष में-पितृभूत पवनदेव द्वारा चुम्बित शिखा वाले) 'प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणी' कान्तिमान् चन्द्रबिम्ब को आगे किये (हनुमान् के पक्ष में प्रसन्न सुग्रीव द्वारा अपने राष्ट्र में नायक रूप से नियुक्त) और 'वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षित' वियोगिनी युवतियों द्वारा व्याकुलता से देखा जाता हुआ (हनुमान् के पक्ष में सीतावियुक्त रामद्वारा उत्सुकता से देखे गये) हनुमान् की भांति स्पष्ट दीख पड़ता वसन्त आ ही पहुंचा ।' को देखें तो यहां 'असौ' में जो 'अदस्' शब्द है उसका अभिप्राय 'प्रत्यक्षरूप से अनुभूत वस्तु' है न कि 'सः' वह, क्योंकि 'असौ' से 'तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं हुआ करती (और इसलिये यहां भी 'अविमृष्टविधेयांशत्व' की आशंका निर्मूल ही है) ।

साथ ही साथ यदि कहीं 'अदस्' शब्द 'तत्' शब्द के समानार्थक प्रतीत होता माना जाय जैसे कि यहां अर्थात्:—

'खड्गधारण से भयंकर बाहुदण्डमात्र पर विश्वास रखने वाला और संग्राम में अर्जुन सरीखा एक धुरन्धर यदि वह सर्वत्र प्रसिद्ध कर्ण राजा दुर्योधन के द्वारा सेनापति पद पर नियुक्त किया गया होता तो सब किया कराया ठीक भी हो पाता !' इस उक्ति में तो भला कौन ऐसा होगा जो (उत्तरार्द्ध में 'यदि भूपतिना स तत्र कार्ये विनियुज्येत' आदि में प्रयुक्त) 'स' इस पद को निरर्थक न कह देगा । (इससे क्या सिद्ध हुआ ? यही कि 'अदस्' शब्द 'पुरोदृश्यमान मात्र' का वाचक भले ही हो 'तत्' शब्द का समानार्थक नहीं हो सकता) ।

यहां यह भी कहना ठीक नहीं कि जैसे 'इदम्' शब्द (अनेकार्थक होने के नाते) 'तत्' शब्द का समानार्थक हो सकता है, जैसे कि यहां अर्थात्:—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश ! निखिलं भवद्वपुः ।
आत्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥ १६२ ॥

इतीदंशब्दवदद:शब्दस्तच्छब्दार्थमभिधत्ते इति उच्यते तर्ह्यत्रैव वाक्यान्तरे उपादानमर्हति न तत्रैव ! यच्छब्दस्य हि निकटे स्थितः प्रसिद्धिं परामृशति—यथा—

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः ।
दीव्यताऽक्षैस्तदाऽनेन नूनं तदपि हारितम् ॥ १६३ ॥

इत्यत्र तच्छब्दः ।

ननु कथं—

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते !
धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि देव ! प्रसीद ।
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ ! नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन् ! भूयसे मङ्गलाय ॥ १६४ ॥

'सर्वशक्तिमान् प्रभो ! वह जो कि इस समस्त चराचर जगत् को, निस्संदिग्धरूप से, आप के स्वरूप से अभिन्न देखा करता है, उसे उस आत्मैकदर्शी-नित्य सुखी को, इस आत्मस्वरूपमय विश्व-प्रपञ्च में कैसा भय ! किससे भय !'

इस (श्री उत्पलाचार्यकृत स्तोत्र) सूक्ति में, वैसे ही 'अदस्' शब्द भी 'तत्' शब्द का समानार्थक हो सकता है (जिससे 'तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः' आदि में 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष की संभावना नहीं।) क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो जैसे 'योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलम्' आदि सूक्ति में 'यः' और 'अदस्' (अस्य) शब्द भिन्न २ वाक्य में उपात्त हैं वैसे ही 'तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः' आदि में भी 'यः' और 'असौ' का भिन्न २ वाक्य में प्रयोग दिखाई देता न कि एक ही वाक्य में (जैसा कि यहां स्पष्ट प्रतीत हो रहा है)।

वस्तुतः यहां समझने की बात यह है कि 'यत्' शब्द के सन्निकट (एक ही लिङ्ग, एक ही विभक्ति और एक ही वचन में) प्रयुक्त ('अदस्' शब्द को कौन कहे) 'तत्' शब्द भी प्रसिद्धि मात्र का ही बोध करा सकता है (न कि विधेयस्वरूप का समर्थक हो सकता है) जैसे कि यहां अर्थात्:—

इस राजा युधिष्ठिर का वह (सर्वत्र प्रसिद्ध) जो उग्र क्षात्र तेज रहा उसे भी उन्होंने उस समय द्यूतक्रीडा करते खो दिया। इस (वेणीसंहार की) सूक्ति में जो ('यत्तदूर्जितम्' में यत् के सन्निकट प्रयुक्त) 'तत्' शब्द है वह (विधेय-समर्पक नहीं अपि तु) केवल प्रसिद्धि मात्र का परामर्शक है।

इस प्रसङ्ग में (अर्थात् 'यत्' और 'तत्' पद की शाब्दी अथवा आर्थी नित्य-साकांक्षता के प्रसङ्ग में) इस (भवभूतिकृत-मालतीमाधव की) सूक्ति अर्थात्:—

हे विश्वमूर्ते ! हे सर्वात्मक सूर्यदेव ! आप ही वे हैं जो मंगलमय तेजःसमूह के एक निधान हैं। हे देव ! कृपा कीजिये और मुझ दास में (जो कि नृत्य का आरम्भ कर रहा है) उस लक्ष्मी का प्रदान कीजिये जो मेरे कार्य को संपन्न कर सके। हे जगन्नाथ ! आप, मुझ अपने भक्त के जो २ पाप हों, दूर करें। भगवन् ! कल्याण कीजिये, मङ्गल कीजिये, जिसमें मेरा कार्य अधिक से अधिक निर्विघ्नरूप से संपन्न हो।

अत्र यद्यदित्युक्त्या तन्मे इत्युक्तम् । उच्यते यद्यदिति येन केन चिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्त्वाक्षिप्तम् तथाभूतमेव तच्छब्देन परामृश्यते ।

यथा वा—

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथ वा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥ १६५ ॥

इत्यादि को भी अपवादरूप से उपस्थित करना, क्योंकि 'यद् यद्' रूप से दो 'यत्' पद का प्रयोग होने पर भी 'तन्मे' के प्रयोग में एक ही बार 'तत्' पद प्रयुक्त है जिसका यही संकेत है कि 'यत्' पद 'तत्' पद की नित्य आकांक्षा नहीं किया करता, युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। यहां वस्तुतः जो बात है वह यही है कि 'यद् यत्' का अभिप्राय ज्ञात रूप से अथवा अज्ञात रूप से, उपपातक रूप से अथवा महापातक रूप से समस्त पापरूप वस्तु है (न कि दो दो बार उद्देश्य-समर्पण) और इसलिये इसी रूप से, केवल एक बार ही 'तत्' शब्द के प्रयोग द्वारा, उसका परामर्श किया जा रहा है।

टिप्पणी—मालतीमाधव की 'कल्याणानाम' आदि सूक्ति में प्रयुक्त 'यद् यत् पापं-तन्मे प्रति जहि' में द्विरुक्त 'यत्' पद और एक बार प्रयुक्त 'तत्' पद की उद्देश्य-विधेयभावता की सिद्धि में आचार्य मम्मट का यह अभिप्राय है—यद्यपि नियम यही है कि यत् शब्द का अर्थ तत् शब्द द्वारा परामृष्ट हुआ करता है क्योंकि सिद्धान्त है **'यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्धः'** किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि जितने 'यत्' पद प्रयुक्त हों उतने ही 'तत्' पद भी प्रयुक्त किये जांय। यदि कोई ऐसा ही हठ करे कि जितने भी 'यत्' पद प्रयुक्त किये जांय उतने ही 'तत्' पद भी प्रयुक्त हों तब **'कल्याणानाम्'** आदि में दो बार प्रयुक्त 'यत् यत्' पद का अभिप्राय 'ज्ञातत्व-अज्ञातत्व' रूप ले लिया जाय और ऐसा करने में कोई दोष नहीं रहेगा। 'प्रदीप' और 'उद्योत'कार का यहां एक अन्य प्रकार का समाधान है और वह यह है:—

'वस्तु तस्तु यद् यदिति न पदद्वयम् किन्तु नित्यवीप्सयोः (अष्टाध्यायी ८. १. ४.) इति पाणिनिसूत्रेण वीप्सायां यदो द्वित्वापन्नोऽयमादेशः। तथा चादेशिनैकेन यत्पदेन तत्पदेन च द्वाभ्यामप्येकेनैव रूपेण पापपरामर्शः। आदेशस्तु साकल्येन सम्बन्धपरताग्राहकः।

अनुवाद—(इस प्रकार बिना समास के वाक्यगत 'अविमृष्टविधेयांशत्व' के उदाहरणों के बाद) अब समास में वाक्यगत 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष यहां देखा जा सकता है जैसे कि:—

'क्या वे (ऐसे विनीत और भक्त) भरत लोभ के फेर में पड़ गये जो उन्होंने अपनी माता-कैकेयी द्वारा यह सब (राम बनवास आदि) काम कर डाला। या ऐसा तो नहीं कि मेरी मँझली मां-कैकेयी ने ही स्त्री की स्वभाव सिद्ध क्षुद्रता प्रकट कर दी। किन्तु इन बातों-अर्थात् भाई भरत के लोभ और मां कैकेयी की क्षुद्रता का सोच-विचार भी तो मेरे लिये व्यर्थ है, जब कि भरत हैं हमारे 'आर्यानुज' राम के छोटे भाई होने के नाते पूज्य और मँझली मां हैं पिता (दशरथ) की धर्मपत्नी ! अरे यह सब तो दुर्दैव का किया कराया है।'

इत्यादि सूक्ति में जहां कहना तो चाहिये था 'आर्यस्य (अनुजः)' और 'तातस्य (कलत्रम्)' किन्तु कहा गया 'आर्यानुजः' और तातकलत्रम्' जिससे हुआ यह कि जो बात यहां विधेय रूप से विवक्षित थी अर्थात् 'अनुज' (छोटे भाई) में 'आर्य' (राम) के सम्बन्ध और 'कलत्र' (रानी-कैकेयी) में 'तात' (पिता) के सम्बन्ध होने से दोनों की पूजनीयता की बात वह हो गयी इन पदों में षष्ठी तत्पुरुष-समास कर देने से गौण (और तब 'अविमृष्ट विधेयत्व' न हो तो और क्या हो)।

अत्रार्यस्येति तातस्येति च वाच्यं न त्वनयोः समासे गुणीभावः कार्यः। एवं समासान्तरेऽप्युदाहार्यम् ॥

(वाक्यगत १३ विरुद्धमतिकृत्)

विरुद्धमतिकृद्यथा—

श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालिङ्गितमूर्त्तयः।
विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः ॥ १६६ ॥

अत्र क्षमादिगुणयुक्ताः सुखमासते इति विवक्षिते हता इति विरुद्धा प्रतीतिः।

(पदैकदेशगत-श्रुतिकटुत्वादि दोष)

पदैकदेशे यथासम्भवं क्रमेणोदाहरणम्—

(१ पदैकदेशगत श्रुतिकटुत्व)

अलमतिचपलत्वात्स्वप्नमायोपमत्वात्
परिणतिविरसत्वात्सङ्गमेनाङ्गनायाः।
इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-
स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥ १६७ ॥

अत्र त्वादिति।

इसी दृष्टि से अन्य प्रकार के समासों में 'अविमृष्य विधेयांशत्व' रूप वाक्य-दोष स्वयं समझ लेना चाहिये।

(वाक्यगत) 'विरुद्धमतिकृत्' दोष का उदाहरण यह है:—

आज वे राजा लोग, जब कि उन्होंने युद्ध करना छोड़ दिया है, क्षमाशील, प्रजारंजक, मङ्गलमय शरीर और शान्त-निर्द्वन्द्व बने सुख की नींद सो रहे हैं।

यहां 'विरुद्धमतिकृत्' दोष इसलिये है क्योंकि जो बात वस्तुतः यहां अभिप्रेत है अर्थात् 'क्षमा आदि गुणों से युक्त हुये सुख से रहने की बात-वह प्रतीत भले ही हो, किन्तु उसके साथ २ उसके सर्वथा विरुद्ध अभिप्राय (अर्थात् वे राजा लोग 'विग्रहक्षपण'-युद्ध के संहार के द्वारा आज 'श्रितक्षमाः'-भूशय्या पर लेटे, 'रक्तभुवः'-खून से लथपथ, 'शिवालिङ्गितमूर्तयः' गीदड़ों द्वारा नोचे-खसोटे जाते हुये 'गतासुखाः' प्राण और चेतना से सर्वथा शून्य मरे पड़े हैं इत्यादि) की भी प्रतीति हो उठती है!

टिप्पणी—उपर्युक्त रचना में दूषकता का बीज है प्रकृत अर्थ की प्रतीति से उत्पन्न चमत्कार का अपकर्ष जिसका विश्लेषण काव्यप्रकाश के व्याख्याकार श्री चक्रवर्ति भट्टाचार्य आदि इस प्रकार कर चुके हैं:—

'अत्र पृथक् सिद्धयोरागन्तुकः संबन्धः श्रयणम् तस्य क्षान्तौ गुणविशेषे वाधात्, तथा रक्तत्वस्य रुधिरत्वस्य भूस्थजने वाधात्, एवमालिङ्गनकर्तृत्वस्य शिवे शुभादृष्टे वाधात्, तद्वत् क्षपणस्य नोदनस्य युद्धे वाधात् लक्षणातः प्रागेव झटिति धरण्याद्युपस्थित्योपश्लोक्यमानस्याऽनुचितशुभविरोध्यशुभप्रतिपादनया विरुद्धमतिकारिता।'

अनुवाद—ये उपर्युक्त दोष पदैकदेश अथवा पदांश में भी यथासंभव देखे जाते हैं। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

'सैकड़ों बार इस वास्तविकता को सोचते हुये भी कि स्त्री का संग-सुख क्षणिक होने से, स्वप्नवत् मिथ्या होने से, माया की भांति आपातरम्य होने से और अन्त में दुःख रूप होने से सर्वथा व्यर्थ है, समझ में नहीं आता कि मन मृगनयनी में क्यों कर ? चाहता है!

यहां पदैकदेशगत 'श्रुतिकटुत्व' है क्योंकि (शान्तरस का उपमर्दन क मनोरम रूप में उदित होने वाले यहां के मुख्य रस-शृंगार के लिये' 'चपलत्व

यथा वा—

तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥ १६८ ॥

अत्र द्ध्यै ब्ध्यै इति कटुः ।

(२ पदैकदेशगत निहतार्थत्व)

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्त्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ १६९ ॥

अत्र मत्ताशब्दः क्षीबार्थे निहतार्थः ।

(३ पदैकदेशगत निरर्थकत्व)

आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासित-
प्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशाम् ।
संप्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो
भल्लीनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरङ्गेक्षणा ॥ २२० ॥

अत्र दृशामिति बहुवचनं निरर्थकम् कुरङ्गेक्षणाया एकस्या एवोपादानात् । नचालसवलितैरित्यादिवद् व्यापारभेदाद्बहुत्वम् व्यापाराणामनुपात्तत्वात् । नच

मायोपमत्वात्' आदि पदों के एक देश में सुन पड़ने वाली) 'त्वात्' की ध्वनि कर्ण-कटु नहीं तो और क्या !

अथवा यहां:—

'कामदेव ! जाओ अपना काम बनाओ, देवताओं के कार्य में लग पड़ो, यद्यपि यह स्कन्दजन्म रूप कार्य पार्वती-परमेश्वर के संगम द्वारा ही संभव है किन्तु वस्तुतः अपनी उत्पत्ति में अन्ततोगत्वा यह उसी प्रकार तुम्हें कारण रूप से खोज रहा है जिस प्रकार बीज से उत्पन्न होने वाला अंकुर उससे निकलने के पहले पानी खोजता रहता है।

यहां (कुमारसंभव' में शिव-पार्वती-संगम के लिये कामदेव को उद्यक्त करने में देवराज इन्द्र के इस निवेदन में, जहां मधुर वर्णश्रुति अपेक्षित थी वहां) 'सिद्ध्यै' और 'लब्ध्यै' पदों के अंशभूत 'द्ध्यै' और 'ब्ध्यै' वर्णों की ध्वनि श्रुति-कर्कश नहीं तो और क्या !

'यही हिमालय है जो अपने शिखरों पर अप्सराओं के अंग-सौन्दर्य के प्रसाधनों को संपन्न करने वाली उस 'धातुमत्ता'-धातु-सम्पत्ति-शालिता-को धारण किया करता है जिसका रंग मेघ-खण्डों में भिन्न २ रूप से प्रतिबिम्बित होकर बिना सायंकाल के भी चारों ओर सायंकाल का दृश्य उपस्थित किया करता है।

यहां 'धातुमत्ता' में (जहां 'मतुप्' प्रत्यय का अभिप्राय सम्पन्न होना विवक्षित है) 'मत्ता' रूप पदांश 'निहतार्थ' है क्योंकि इससे 'उन्मत्ता' 'उन्माद वाली'-का जो अर्थ प्रतीत होता है वह ऐसा है जिससे 'मतुप्' प्रत्यय का अभिप्राय तिरोहित दिखाई देता है।

'यह मृगनयनी सुन्दरी अञ्जनपुंज के लेप से पहले काले किये गये और शोकोच्छ्वास के द्वारा सर्वत्र व्याप्त विरहानल से बाद में तपाये गये अपने नेत्रों का, अपने अश्रुजल से निषेक क्या कर रही है कामदेव के बाणों को सान चढ़ा कर पानी में बुझा रही है।'

यहां जब वर्णनीय रूप से उपात्त मृगनयनी नायिका की दो ही आंखें हो सकती हैं तब 'दृशाम्' में बिना किसी अर्थविशेष की विवक्षा ही के बहुवचन का प्रयोग (वृत्त पूर्ति के लिये भले ही हो) सार्थक कभी नहीं माना जा सकता। यहां ऐसी भी कोई संभावना नहीं कि जैसे 'अलसवलितैः' आदि (अर्थात् 'अमरुकशतक' की इस सूक्ति—

अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुहुर्मुकुलीकृतैः क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः ।
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाद्य विलोक्यते ॥'

व्यापारेऽत्र दृक्शब्दो वर्त्तते। अत्रैव कुरुते इत्यात्मनेपदमप्यनर्थकम्, प्रधानक्रियाफलस्य कर्त्रसम्बन्धे कर्त्रभिप्रायक्रियाफलाभावात्।

(४ पदैकदेशगत अवाचकत्व)

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्त्तिकेयो विजेयः।
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः॥ २०१॥

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः।

(५ पदैकदेशगत त्रिविधाश्लीलत्व)

(पदैकदेशगत व्रीडाव्यञ्जक अश्लीलत्व)

अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः।

'अरी मुग्धे! यह तो बता कि अलसाये किन्तु चंचल, प्रेम-रस भीने, बारंबार मुकुलित, क्षणभर के लिये संमुख, क्षणभर में लज्जा के परवश, अपलक और हृदय के समस्त गूढ़ रहस्य को प्रकट करने वाले इन 'ईक्षणों'-दृष्टिपातों से, वह कौन सौभाग्यशाली है, जिसे आज कृतार्थ कर रही हो।'

में 'ईक्षणैः' यह बहुवचन दर्शन के विविध प्रकारों का प्रत्यायक होने से सार्थक है वैसे ही 'आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां' आदि में भी 'दृशाम्'-यह बहुवचन निरर्थक नहीं। क्योंकि यहां 'दृशाम्' में 'देखने के विविध प्रकारों' का न तो कोई अभिप्राय विवक्षित है और न वस्तुतः 'दृश्' शब्द ही दर्शन-व्यापार का वाचक है (दृक् शब्द तो 'दृश्यतेऽनया इति दृक्' इस दृष्टि से केवल नेत्र परक है।)

इसी सूक्ति में 'कुरुते'-यह आत्मनेपद-प्रयोग भी 'निरर्थक' है क्योंकि जब कि यहां प्रधानरूप से अभिप्रेत-(युवक-हृदय-विजय रूप) क्रिया फल का 'कुरङ्गेक्षणा'रूप कर्तृकारक से कोई संबन्ध नहीं तब 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (पाणिनि १. ३. ७२) के अनुसार कर्तृगामी क्रियाफल के विवक्षित रहने पर ही जो आत्मनेपद प्रयुक्त हुआ करता है उसका यहां प्रयोग किस काम का। 'अभिप्राय यह है कि यहां 'कुरुते' इस क्रिया का फल तो 'कामदेव' से सम्बन्ध रखता है न कि 'मृगेक्षणा' से। यदि कामदेवगत विजयरूप क्रिया फल का मृगनयनी में आरोप भी माना जाय जिससे 'दृशाम्' इस बहुवचनान्त पद का समर्थन यथाकथंचित् किया जाय तो भी निरर्थकता का दोष इसलिये नहीं हटाया जा सकता क्योंकि यहां इस प्रकार के आहार्यारोप का कोई प्रयोजन नहीं। अन्ततोगत्वा 'कुरुते' में आत्मनेपद निरर्थक ही रहा!)

(पदैकदेशगत 'अवाचकत्व' जैसे इस सूक्ति)—

'परशुराम! यह सब तो ठीक है कि त्रिपुरविजयी महादेव तुम्हारे धनुर्विद्यागुरु रहे, कुमार कार्तिकेय भी तुमसे पराजित हुये, तुम्हारे शस्त्र द्वारा सर्वत्र आलोडित समुद्र तुम्हारे निवासस्थान बने और यह सारी पृथिवी (समस्त क्षत्रिय-वंश के विनाश में) तुम्हारे ग्रास के अतिरिक्त और कुछ न रह पायी, किन्तु हमारा यह चन्द्रहास (रावण की तलवार) अब तुम्हारे इस परशु (फरसे) से, जिसने तुम्हारी माता रेणुका का गला काटा हो, स्पर्द्धा करने में क्यों कर न लज्जित हो!;

में, जहां 'विजेयः' में (कृत्यसंज्ञक) 'यत्' प्रत्यय से विवक्षित तो है 'क्त' प्रत्यय का अभिप्राय अर्थात् 'विजितः' का अभिप्राय किन्तु ऐसा होना इसलिये सम्भव नहीं क्योंकि (अर्हार्थक-भाविकाल विषयक योग्यता सम्बन्धी) 'यत्' प्रत्यय को अतीतकाल विषयक 'क्त' प्रत्यय का वाचक नहीं माना जाया करता।

'दुष्ट व्यक्ति बोली तो बोलता है अत्यन्त कोमल प्रतीत होने वाली, बहुत थोड़े

परमार्थतः स हृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव ॥ २०२ ॥

अत्र पेलवशब्दः ।

(जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलत्व)

यः पूयते सुरसरिन्मुखतीर्थसार्थ-
स्नानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन ।
सौजन्यमान्यजनिरूर्जितमूर्जितानां
सोऽयं दृशोः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥ २०३ ॥

अत्र पूयशब्दः ।

(अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलत्व)

विनयप्रणयैककेतनं सततं योऽभवदङ्ग ! तादृशः ।
कथमद्य स तद्वदीयतां तदभिप्रेतपदं समागतः ॥ २०४ ॥

अत्र प्रेतशब्दः ।

(६ पदैकदेशगत संदिग्धत्व)

कस्मिन्कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम् ।
अयं साधुचरस्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह ॥ २०५ ॥

अत्र किं पूर्वं साधुः उत साधुषु चरतीति सन्देहः ।

शब्दों में और (सचाई दिखाने के लिये) थोड़ी सी ही किन्तु उसका हृदय !—वह तो सचमुच ऐसा रहा करता है मानो कालकूट विष से ही बना हो !'

यहां 'अतिपेलवम्'में 'पेलव' पद का एकदेश 'पेल' अश्लील है क्योंकि इसके द्वारा शिश्नेन्द्रिय का स्मरण हो जाता है जो कि सभ्यसमाज के लिये व्रीडादायक है।

'वह महापुरुष, जो गङ्गा प्रभृति पवित्र तीर्थों में स्नान करने तथा वेदान्तादि शास्त्रों के परिशीलन में सुन्दर संस्कारों को सुदृढ़ बनाने से पवित्र हो चुका है, जिसका कुल सौजन्य के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध है और जो बलवानों का भी बल है, भले ही सौभाग्य से किसी को कहीं मिल जाय, सब को सर्वत्र नहीं मिला करता !'

यहां 'पूयते' में 'पूय' रूप पदांश अश्लील है क्योंकि इसके द्वारा व्रणक्लेद (घाव के मवाद) का जुगुप्सित अर्थ अभिव्यक्त हो उठता है ।

'अरे मित्र ! आज किसी नीच व्यक्ति के योग्य स्थान पर पड़ा हुआ भी वह (भला मानुस) उस नीच की भांति कैसे मान लिया जाय जब कि अबतक उसमें विनय और प्रेम ही दिखाई दे रहे हैं ।'

यहां 'तदभिप्रेतपदं' में 'प्रेत' रूप पदांश अश्लील है क्योंकि यह 'मृतक' रूप अमङ्गल अर्थ का व्यञ्जक है। (अर्थात् 'अभिप्रेतपदम्' में 'प्रेत' से जब 'मृतक' रूप अर्थ की स्मृति हो जाय तब 'अभिप्रेतपदं गतः' का अर्थ 'श्मशान में पहुंचा हुआ' (अभितः सर्वतः प्रेताः कुणपाः यस्मिन् तच्च तत्पदं स्थानं च-अभिप्रेतपदं श्मशानमिति) कैसे रुक जाय ! और यह अर्थ अमङ्गलरूप अर्थ नहीं तो और क्या !)

'कौन सा ऐसा कार्य है जिसमें इस व्यक्ति का सामर्थ्य चमक नहीं उठता ! इसके आगे हाथ जोड़ने में क्या आपत्ति जब कि यह एक 'साधुचर'—सत्सङ्ग प्रेमी—व्यक्ति है ।'

यहां 'साधुचरः' पद में 'चरः' रूप पदांश यह संदेह उत्पन्न कर देता है कि यह व्यक्ति 'सत्सङ्गी' (साधुषु चरतीति साधुचरः) है अथवा 'पहले कभी भलामानुस (भूतपूर्वः साधुः साधुचरः—भूतपूर्वे चरट् (अष्टाध्यायी ५.३.५३) रह चुका है (और अब वैसा नहीं है)।

(७ पदैकदेशगत नेयार्थत्व)

किमुच्यतेऽस्य भूपालमौलिमालामहामणेः ।
सुदुर्लभं वचोबाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते ॥ २०६ ॥

अत्र वचः शब्देन गीःशब्दो लक्ष्यते । अत्र खलु न केवलं पूर्वपदं यावदुत्तरपदमपि पर्यायपरिवर्तनं न क्षमते । जलध्यादावुत्तरपदमेव वडवानलादौ पूर्वपदमेव ।

('अप्रयुक्त–अवाचकत्वा'दि दोषों का असमर्थत्व रूप दोष से पृथक् परिगणन)

यद्यप्यसमर्थस्यैवाप्रयुक्तादयः केचन भेदाः तथाप्यन्यैरलङ्कारिकैर्विभागेन प्रदर्शिता इति भेदप्रदर्शनेनोदाहर्त्तव्या इति च विभज्योक्ताः ।

'भूपालों की मौलिमाला के महामणि इस भूपाल का भला क्या बखान किया जाय जिसका तेज 'वचोवाण'–गीर्वाण–देवगण के लिये भी सुदुर्लभ ही है ।'

यहां 'वचोवाण' पद का 'वचः' रूप पदांश नेयार्थ है क्योंकि इसके साथ इसके अभिधेय के वाचकत्व रूप सम्बन्ध से इसके द्वारा 'गीः' शब्द लक्षित होता है (और तब होता है 'गीर्वाण' शब्द का लाक्षणिक ज्ञान जो कि यहां रुढि अथवा प्रयोजन अथवा वस्तुतः दोनों के अभाव में अकिञ्चित् कर ही है)। यहां यह बात ध्यान देने की है कि (देववाचक) 'गीर्वाण' पद (जिसके लिये 'वचोवाण' रूप नेयार्थ पद यहां प्रयुक्त है) ऐसा है जिसका न तो पूर्वपद अर्थात् 'गीः' पद, इसके किसी अन्य पर्यायवाचक पद द्वारा, बदला जा सकता है (जैसे कि यहां 'वचः' पद के द्वारा किया गया है) और न उत्तर पद अर्थात् 'वाण' पद ही किसी अन्य पर्याय वाचक 'शर' आदि पद में परिवर्तित किया जा सकता है। इसी प्रकार कुछ ऐसे पद हैं जिनमें उनके अशंभूत उत्तर पद का अन्यपर्यायवाचक पद में परिवर्त्तन नहीं हो सकता जैसे कि 'जलधि' पद (क्योंकि यदि यहां 'धि' के बदले 'धर' कर दें तो 'जलधर' पद 'जलधि'–समुद्र का वाचक नहीं अपि तु इस अर्थ में नेयार्थ दोष से दूषित हो जायगा) और कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें उनके अंशभूत पूर्वपद को किसी अन्य समानार्थक पद द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता जैसे कि 'वडवानल पद' (जहां इस पद के अंशभूत 'वडवा' इस पूर्व पद को 'अश्व' इस पर्यायवाचक पद में नहीं बदला जा सकता अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता कि 'अश्वानल' कहें और बोध हो जाय वेखटके 'वडवानल' का)।

यहां यह आशंका हो सकती है कि जब (प्राचीन आलङ्कारिक रुद्रट के अनुसार) 'अप्रयुक्त' 'अवाचक' और 'निहतार्थ' आदि दोष 'असमर्थत्व' के अवान्तर भेद हैं तब इनका पृथक्–पृथक् लक्षण निरूपण किस लिये ? किन्तु इसका समाधान यह है कि जब अन्य प्राचीन आलङ्कारिकों ने भी इन दोषों को 'असमर्थत्व' से अलग कर पृथक्–पृथक् रूप से प्रदर्शित किया है तब यहां इन्हें परस्पर भिन्न–भिन्न रूप से अवस्थित मान कर विवेचन करने में क्या आपत्ति ! (क्योंकि यदि 'असमर्थत्व' में इनका अन्तर्भाव ही अभिप्रेत हो तब तो इससे भी अधिक अभिप्रेत होगा समस्त दोष–भेद का 'रसापकर्षकत्व' रूप दोष–सामान्य में ही अन्तर्भाव !)

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने रुद्रट की इस मान्यता अर्थात्—

'पदमिदमसमर्थं स्याद्वाचकमर्थस्य तस्य न च वक्तुम् ।
तं शक्नोति तिरोहिततत्सामर्थ्यं निमित्तेन ॥
धातुविशेषोऽर्थान्तरमुपसर्गविशेषयोगतो गतवान् ।
असमर्थः सत्त्वार्थे भवति यथा प्रस्थितः स्थास्नौ ॥

(वाक्यमात्रगत दोष)

(७५) प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥ ५३ ॥
अर्धान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।
अपदस्थपदसमासं संकीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥ ५४ ॥
भग्नप्रक्रममक्रममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।

इदमपरमसामर्थ्यं धातोर्यत् पठ्यते तदर्थोऽसौ ।
न च शक्नोति तमर्थं वक्तुं गमनं यथा हन्ति ॥
शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यप्यसमर्थमेव रुढिवलात् ।
यौगिकमर्थविशेषं पदं यथा वारिधौ जलभृत् ॥
निश्चीयते न यस्मिन् वस्तुविशिष्टं पदे समानेन ।
असमर्थं तच्च यथा मेघच्छविमारुरोहाश्वम् ॥ (काव्यालङ्कार ६.३-७)

इत्यादि की, जिसके अनुसार अप्रयुक्त, अवाचक और निहतार्थ असमर्थत्व में ही अन्तर्भूत हैं, आलोचना की है। बात वस्तुतः ठीक भी है क्योंकि जब तत्त्वदृष्ट्या दोषों में रसापकर्षकत्व रूप सामान्य की दृष्टि से भेद-भाव न होने पर भी पद-पदैकदेश-वाक्य-अर्थ आदि के अनेकों दोष गिने-गिनाये जा रहे हैं तब अप्रयुक्त आदि कतिपय दोषों के ही 'असमर्थत्व' में अन्तर्भाव कर देने में कौन सा बुद्धि-वैशद्य है !

अनुवाद—ये दोष केवल वाक्यगत दोष हैं क्योंकि इनका लक्षण-समन्वय वाक्य में ही सम्भव है (अन्यत्र नहीं):—

१ प्रतिकूलवर्णत्व
२ उपहतविसर्गत्व
३ लुप्तविसर्गत्व
४ विसन्धित्व
५ हतवृत्तता
६ न्यूनपदता
७ अधिक पदता
८ कथित पदता
९ पतत् प्रकर्षता
१० समाप्तपुनरात्तता
११ अर्धान्तरैकवाचकत्व
१२ अभवन्मतयोगत्व
१३ अनभिहितवाच्यत्व
१४ अपदस्थपदता (अस्थानस्थपदता)
१५ अपदस्थसमासता (अस्थानस्थ समासता)
१६ सङ्कीर्णता
१७ गर्भितत्व
१८ प्रसिद्धिहतत्व
१९ भग्नप्रक्रमता
२० अक्रमता और
२१ अमतपरार्थता

टिप्पणी—अन्य प्राचीन आलङ्कारिकों ने तो इन दोषों के नामकरण और लक्षण-निरूपण पृथक्-पृथक् किये हैं। जैसे कि रुद्रट ने जब वाक्य-दोषों का इस प्रकार नाम-निर्देश किया—

'वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णं गर्भितं गतार्थं च ।
यत्पुनरनलङ्कारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम् ॥ (काव्यालङ्कार ६.४०)

तो इनमें से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् लक्षण भी बताया—

'वाक्येन यस्य साकं वाक्यस्य पदानि सन्ति मिश्राणि ।
तत्सङ्कीर्णं गमयेदनर्थमर्थं न वा गमयेत् ॥ (काव्यालङ्कार ६.४१)

किन्तु आचार्य मम्मट ने 'प्रतिकूलवर्णम्' 'उपहतविसर्गम्', लुप्तविसर्गम्' इत्यादि जो पद चुने हैं उनमें दोष-नाम और दोष-लक्षण दोनों का अभिप्राय रखा है। 'प्रतिकूलवर्णता' आदि रुढि की दृष्टि से दोष-नाम हैं और योग की दृष्टि से दोष-लक्षण भी हैं।

(१ प्रतिकूलवर्णत्व)

रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम् ।

यथा शृङ्गारे—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमकण्ठं कलकण्ठि ! माम् ।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्त्तिमुद्धर ॥ २०७ ॥

रौद्रे यथा—

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथा विधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ।
तान्येवाहितहेतिघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे ।
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः कोपनः ॥ २०८ ॥

अत्र हि विकटवर्णत्वं दीर्घसमासत्वं चोचितम् । यथा—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्
क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात् ।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥ २०९ ॥

अनुवाद—'प्रतिकूलवर्णत्व' कहते हैं (आगे ८ वें उल्लास में प्रतिपादित) रसाभिव्यञ्जक वर्णों के विपरीत (अर्थात् रसास्वाद के उद्बोध के प्रतिबन्धक) वर्णों के सद्भाव को (जिनसे रसात्मक भी वाक्य खटकने लगता है)। उदाहरण के लिये शृङ्गार रस सम्बन्धी इस सूक्तिः—

'अरी कलकण्ठी कोयल ! अकुण्ठ (अत्यधिक) उत्कण्ठा से पूर्ण मुझे आकण्ठ (अच्छी तरह) उस कम्बुकण्ठी सुन्दरी के कण्ठ से (गले से) थोड़ी देर के लिये भी मिला दे। दूर कर दे क्षण भर के लिये भी हमारे कण्ठ की (उसके कण्ठ के वियोग से उत्पन्न) पीडा को ।,
में, प्रतिकूल वर्णत्व स्पष्ट है क्योंकि (जहां कोमल वर्णों का उच्चारण रसाभिव्यञ्जक है वहां) टवर्ग के परुष वर्णों का बाहुल्य रस के प्रतिकूल वर्णों का विन्यास नहीं तो और क्या है !

इसी प्रकार रौद्ररससम्बन्धी (वेणीसंहार की) इस रचनाः—

'यही वह कुरुक्षेत्र है जहां (भार्गव परशुराम के द्वारा) शत्रुओं के रक्त से कभी जलाशय भर डाले गये हैं, ओह ! और यहां हुआ हमारे पूज्य पिता द्रोण का केशाकर्षण रूप अपमान और वह भी एकक्षुद्र क्षत्रिय से-धृष्टद्युम्न से ! अरे ! चिन्ता नहीं, मैं द्रोण का पुत्र हूं, क्रोध का अवतार हूं और मेरे शस्त्र ! वे हैं शत्रुओं के शस्त्रास्त्रों के भक्षक मृत्यु तुल्य भयङ्कर ! अभी-अभी यहां वह कर दिखाता हूं, जिसे कभी परशुराम ने कर दिखाया है !,
में 'प्रतिकूलवर्णत्व' है। क्योंकि बात यह है कि रौद्र-परिपोष के लिये जो अपेक्षित है वह तो है विकट वर्णों का बाहुल्य और विकट समास-बन्ध जैसा कि (महावीरचरित की) इस सूक्तिः—

'अरे क्षत्रियकुलाङ्कुर ! राम ! देख मेरा यह परशु-मेरा यह जाज्वल्यमान अस्त्र, जिसकी महिमा से सारे संसार में देवाधिदेव महादेव भी 'खण्डपरशु' ही कहे गये और जिसे कभी भी न झुकने वाले शाङ्कर-पिनाक के तोड़-मरोड़ से क्रुद्ध हो कर, मुझ यमराज-भयङ्कर भार्गव के ये बाहुपरिघ चलाना ही चाहते हैं, क्षण भर में तुम्हारे कण्ठ पीठ पर कैसे कस कर जमता है !

यत्र तु न क्रोधस्तत्र चतुर्थपादाभिधाने तथैव शब्दप्रयोगः ।

(२ उपहतविसर्गत्व और ३ लुप्तविसर्गत्व)

उपहत उत्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत् यथा—

धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः ।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः ॥ २१० ॥

(४ विसन्धित्व)

विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम् , विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च । तत्राद्यं यथा—

(ऐच्छिक और आनुशासनिक विश्लेषरूप विसंधि)

राजन् ! विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः ।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः ॥ २११ ॥

में स्पष्ट है जहां (क्रोधावेश के प्रकाशन में तो कठोर वर्णों के विन्यास और दीर्घ समासबन्ध के सद्भाव का, किन्तु क्रोधावेश के अभाव में, जैसे कि चतुर्थ पाद के विन्यास में कठोर वर्णता और दीर्घ समासता के अभाव का औचित्य परिलक्षित है, किन्तु यहां (अर्थात् देशः सोऽयम् आदि में) जो बात है वह है इसके सर्वथा विपरीत !

'उपहतविसर्गत्व' का अभिप्राय है विसर्ग के 'उ' अथवा 'ओ' के रूप में उपघात का और 'लुप्तविसर्गत्व' का तात्पर्य है विसर्जनीय के अर्थात् अच् के आगे विन्दुद्वयरूप वर्ण के अदर्शन का। जैसे कि:—

'वही राजा धीर, विनीत, निपुण और सुन्दराकृति है जिसके सेवक बल के अभिमान और बुद्धि के प्रभाव से युक्त तथा भक्त हुआ करते हैं।'

(यहां पूर्वार्द्ध में 'धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र' में 'उपहत विसर्गत्व' है क्योंकि इनमें जो विसर्ग था उसका–'नृपोऽत्र' में तो 'अतोरोप्लुतादप्लुते' इस सूत्र–नियम से और अन्यत्र 'हशि च' इस सूत्र–नियम से उत्व हो गया है जिससे बन्ध–शैथिल्य और बन्ध–शैथिल्य से सहृदयों का हृदयोद्वेग स्वाभाविक है। 'उत्तरार्द्ध में 'भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः' में सकार का 'ससजुषो रुः' (८.२.६) से रुत्व 'भोभगोअघोपूर्वस्य योऽशि' (८.३.१७) से 'यत्व' और 'हलि सर्वेषाम्' (८.३.२२) से यलोप हुआ जिससे रचना–शैथिल्य और उससे चमत्काराभाव स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।)

'विसंधि' का अभिप्राय है विश्लेष (संधि के अभाव), अश्लीलता और श्रुतिकटुता के कारण 'संधि' के–वर्णों की अतिशयित संनिधि के–वैरूप्य का। जैसे कि प्रथम अर्थात् 'विश्लेष' (वस्तुतः ऐच्छिक और प्रगृह्यहेतुक आनुशासनिक विश्लेष) के कारण संधि–वैरूप्य जैसे कि:—

'राजन् ! आपके वे सुकर्म सर्वत्र शोभित हो रहे हैं जो पाताल में पहुंच कर चन्द्रमा की भांति प्रकाशमान हैं और आपके बुद्धिबल और बाहुबल ! वे तो विजयलक्ष्मी को पाकर सर्वत्र व्यापक हो रहें हैं और अपने २ योग्य अवसरों पर परस्पर एक दूसरे का साहाय्य करते चल रहे हैं।'

यहां पूर्वार्द्ध में 'तानि इन्दोः' इस स्थान पर ऐच्छिक 'विश्लेष' अथवा 'संध्यभाव' विसंधिरूप दोष है साथ ही साथ उत्तरार्द्ध में 'धीदोर्बले अतितते, 'अतितते 'उचितानुवृत्ती और 'उचितानुवृत्ती आतन्वती' में 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१.१.११) के अनुसार द्विवचनरूप प्रगृह्यसंज्ञक का 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६.१.१२५) के अनुसार प्रकृति-

(आनुशासनिक असिद्धिहेतुक विश्लेषरूप विसंधि)

यथा वा—

तत उदित उदारहारहारिद्युतिरुच्चैरुदयाचलादिवेन्दुः ।
निजवंश उदात्तकान्तकान्तिर्बत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्घः ॥ २१२ ॥

संहितां न करोमीति स्वेच्छया सकृदपि दोषः । प्रगृह्यादिहेतुकत्वे त्वसकृत् ।

(अश्लीलत्वहेतुक संधिवैरूप्य में विसंधि)

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः ।
अयमुत्तपते पत्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु ॥ २१३ ॥

अत्र सन्धावश्लीलता ।

(श्रुतिकटुत्वहेतुक संधि-वैरूप्य में विसंधि)

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः ।
नात्रर्जुयुज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ॥ २१४ ॥

वद्भाव होने में जो आनुशासनिक विश्लेष अथवा संध्यभाव है वह भी विसंधिरूप ही दोष है ।)

अथवा जैसे कि—ये हैं वे महाराज जो अत्युच्च उदयाचल से उदित होने वाले चन्द्रमा की भांति महान् राजवंश से उदित हुये है, 'उदारहार हारिद्युति' हैं अर्थात् महान् मुक्ताहार से मनोहर लग रहे हैं और अपने वंश में मुक्तामणि की भांति बहुमूल्य (सर्वपूज्य) किंवा उत्कट कान्ति-पूर्ण हैं ।

(यहां 'तत उदित' में, 'उदित उदार' में और 'निजवंश उदात्त' में जो असिद्धि हेतुक आनुशासनिक संध्यभाव है उससे बन्ध-शैथिल्य है; जिसमें 'विसंधि' दोष का स्वरूप स्पष्ट है । असिद्धिहेतुक आनुशासनिक संध्यभाव का अभिप्राय यह है कि यहां 'लोपः शाकल्यस्य' (८.३.१९) इस सूत्र-विहित लोप के 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८.२.१) सूत्र नियमानुसार 'आद्गुणः' (६.१.८७) द्वारा विहित गुण के प्रति असिद्ध होने से संधि का व्याकरण-सम्मत अभाव हो गया है ।)

यहां इस 'संधि-वैरुप्य' का वास्तविक अभिप्राय है संधि को ऐच्छिक मानकर संधि न करने से संध्यभाव का (जैसे कि 'तानि इन्दोः' में) जो कि यदि एक बार भी हो तो भी दोष है और साथ ही साथ इसका तात्पर्य है प्रगृह्यहेतुक और असिद्धिहेतुक संध्यभाव का (जैसे कि 'धी दोर्वल्ले अतितते' आदि में अथवा 'तत उदित' आदि में) जो कि अनेक बार होने से दोष है । (संध्यभाव में दूषकता का मूल कारण वन्ध-शैथिल्य ही है जो कि सहृदय हृदय का उद्वेजक हुआ करता है ।)

अथवा जैसे कि—

'अरी सखी ! जब तक यह पक्षी (बाज) वेग से उड़कर आकाश में विचरण करते हुये विकट दृश्य उपस्थित कर रहा है और अपने गर्व में चूर है तब तक यही अच्छा है कि यहीं इसी स्थान पर तू ठहर जा ।'

यहां 'चलन्+डामर चेष्टितः' और 'रुचिम्+कुरु' में, 'चलण्डामरचेष्टितः' और 'रुचिङ्कुरु' रूप संधि में 'शिश्नेन्द्रिय' और 'योनि' रूप अश्लील अर्थ क्रमशः अभिव्यक्त हो उठता है जिससे 'विसंधि' दोष की उत्पत्ति स्वभावतः प्रतीत हो रही है ।

अथवा जैसे कि—

इस 'मर्वन्त' में-मरुभूमि के समीप-'चार्ववस्थिति' बड़ी सुन्दर अवस्था में पड़ी हुई 'उर्वी तर्वाली'-बहुत बड़ी वृक्षपंक्ति-दीख रही है और वहां सिर सीधा किये रास्ता चलना भी संभव नहीं । इसलिये अच्छा है (चलते समय) सिर कुछ झुकाये चलो ।'

(५ हतवृत्तता)

हतं लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु, रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम् । क्रमेणोदाहरणम्—

(लक्षणानुसरण में भी यतिभङ्गहेतुक अश्रव्यत्वरूप हतवृत्तता)

अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात्प्रियादशनच्छदात् ॥ २१५ ॥

अत्र यदिहान्यत्स्वादु स्यादित्यश्रव्यम् ।

(लक्षण के घटित होने पर भी मात्रावृत्त में स्थानविशेष में गणविशेष के योग से अश्रव्यत्व)

यथा वा—

जं परिहरिउं तीरइ मणअं पिण सुन्दरत्तणगुणेण ।
अह णवरं जस्स दोसो पडिपक्खेहिं पि पडिवण्णो ॥ २१६ ॥

(यत्परिहर्तुं तीर्यते मनागपि न सुंदरत्वगुणेन ।
अथ केवलं यस्य दोषः प्रतिपक्षैरपि प्रतिपन्नः ॥ २१६ ॥)

अत्र द्वितीयतृतीयगणौ सकारभकारौ ।

(यहां 'उर्व्यसौ' 'मर्वन्ते' 'तर्वाली' आदि में संधि में श्रुतिकटुता सिद्ध ही है जिससे श्रुतिकटुत्वहेतुक 'विसंधि' दोष उत्पन्न हो रहा है ।)

'हतवृत्तता' का अभिप्राय है ऐसी वृत्तरचना का होना जो कि छन्दःशास्त्र में प्रतिपादित वृत्त-लक्षण के अनुसार ठीक होने पर भी या तो 'अश्रव्य' हो (सुनने में खटका करे) या 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' हो (जिसके पादान्त में ऐसा लघु हो जो गुरु, जैसा कि उसे चाहिये, न हो रहा हो) या हो 'रसाननुगुण' प्रकृतरस के प्रतिकूल । क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

'इसमें संदेह क्या कि अमृत अमृत होता है (सुन्दरतर स्वादयुक्त है) मधुररस आम्र फल भी बहुत मीठा होता है ! किन्तु क्या ऐसे लोग, जो कि रसों के तारतम्यवेत्ता हैं, पक्षपातरहित होकर एक बार भी कह सकते हैं कि किसी प्रेयसी के अधरपान से बढ़कर कोई भी वस्तु अधिक मधुर हो सकती है !'

यहां 'वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात्' अश्रव्य है (क्योंकि यहां 'हरिणी' छन्द में, जहां प्रत्येक चरण में, षष्ठ अक्षर पर यति होनी चाहिये, चतुर्थ चरण ऐसा है, जिसमें—'ह' यह षष्ठ अक्षर 'अन्यत्' इस अग्रवर्ती पद के अनुसंधान की अपेक्षा करने के कारण, यतिभङ्ग होने से 'अश्रव्य' है) जिससे यहां 'हतवृत्तता' दोष स्पष्ट है । (यहीं यदि 'वदतु मधुरं यत्-स्यादन्यत् प्रियादशनच्छदात्' कर दें तो यह दोष नहीं रह सकता ।)

अथवा जैसे कि (आनन्दवर्धनकृत विषमवाणलीला की 'कामविलास यह गाथा) कुछ ऐसी रमणीय वस्तु है कि इससे अपने आप को कुछ भी अलग रखना असंभव है क्योंकि यतिजन भी, इसके इस दोष का बखान ही किया करते हैं सर्वथा परिहार नहीं कर सकते ।'

यहां इस 'जं परिहरउं' आदि गाथा में द्वितीय अर्थात् 'हरिउं' इस अन्तगुरु सगण और तृतीय अर्थात् 'तीरइ' इस आदि गुरु भगण का जो विना व्यवधान के श्रवण है उसमें 'अश्रव्यत्व' अनुभव-सिद्ध ही है ।

('अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' रूप हतवृत्तत्व)

विकसितसहकारतारहारि परिमलगुञ्जितपुञ्जितद्विरेफः ।
नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥ २१७ ॥

अत्र हारिशब्दः । हारिप्रमुदितसौरभेति पाठो युक्तः ।

यथा वा—

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा ।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थलात्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च ॥ २१८ ॥

अत्र वस्त्राण्यपि इति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते ।

(रसाननुगुणता-हेतुक हतवृत्तता)

हा नृप ! हा बुध ! हा कविबन्धो ! विप्रसहस्रसमाश्रय ! देव ! ।
मुग्ध विदग्ध ! सभान्तररत्न ! क्वासि गतः क्व वयं च तवैते ॥ २१९ ॥

हास्यरसव्यञ्जकमेतद्वृत्तम् ।

अथवा जैसे कि—

'वह वसन्त, जिसमें आम्र-मञ्जरियों के उत्कट किं वा मनोहर सौरभ से झुण्ड बांधे गूञ्जते भौंरों की भरमार रहा करती है और जो चारु चामर रूप नवपल्लवों से निरन्तर सुन्दर लगा करता है वस्तुतः मुनियों का भी मन अपने वश में कर लिया करता है।'

यहां (पुष्पिताग्रावृत्त में 'विकसितसहकारतारहारि' इस प्रथम पाद के 'हारि' पद में 'रि'कार के गुरुत्व रूप से अनुशिष्ट-छन्दःशास्त्रानुमोदित-होने पर भी वस्तुतः यहां गुरुत्वरूप कार्यनिर्वाहक न होने से) 'हारि' पद अश्रव्य है क्योंकि यहां बन्ध-शैथिल्य अनुभव-सिद्ध है। यहीं यदि 'हारिप्रमुदितसौरभ' आदि कर दिया जाय तो यह दोष हट जाता है ।

अथवा जैसे कि—

'विधाता ने इस सुन्दर युवक की, जिसके दर्शनमात्र से एक ओर तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ बने समृद्ध तथा तेजस्वी शत्रुओं के हाथ से हथिआर छूट पड़ते हैं और दूसरी ओर काम-परायण बनी सुन्दर किंवा सौभाग्यवती युवतियों के नितम्ब भाग से कपड़े गिर पड़ते हैं, जिन सामग्रियों से सृष्टि की है वे कुछ और ही हैं, उनकी मिट्टी भी कुछ विचित्र ही है और उनकी खान-उन गुणरत्नों की खान-भी कुछ सर्वथा अद्‌भुत ही है'।

यहां 'वस्त्राणि च' के बदले (जहां छन्दःशास्त्र के नियमानुसार लघ्वक्षर 'च' पादान्त में पड़ने के कारण गुर्वक्षर भले ही मान लिया जाय, गुर्वक्षर का श्रुति-सौन्दर्य रखता नहीं प्रतीत होता) यदि 'वस्त्राण्यपि' कर दिया जाय तो लघ्वक्षर भी 'च' (संयुक्त 'ण्य' के आगे आने में, बन्धदार्ढ्य होने के कारण, स्वर-वृद्धि होने से) गुर्वक्षर का कार्य सम्पन्न कर देता है (और यहां इस 'शार्दूलविक्रीडित' में 'हतवृत्तता' का दोष भी नष्ट हो जाता है।)

अथवा जैसे कि—

'हा महाराज ! हा बुधप्रवर ! हा कविजनप्रिय ! हा विप्रसहस्रशरण्य ! हा देव ! हा सौन्दर्यसार ! हा पण्डितसमाजरत्न ! कहां चल दिये तुम ! अब हमलोग तुम्हारे कहां जांय, क्या करें !

यहां जो वृत्त है अर्थात् दोधक (दोधकवृत्तमिदं भभभाद्‌गौ) वह यहां के रसभाव

(६ न्यूनपदता)

न्यूनपदं यथा—

तथा भूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥ २२० ॥

अत्रास्माभिरिति खिन्ने इत्यस्मात्पूर्वमित्थमिति च ।

(७ अधिक पदता)

अधिकं यथा—

(समास में पदाधिक्य)

स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसंक्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वः ।
अविरुद्धसमन्वितोक्तियुक्तिः प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि ॥ २२१ ॥

अत्राकृतिशब्दः ।

अर्थात् शोक के सर्वथा विपरीत है क्योंकि यह हास्य रस की अभिव्यक्ति के लिये ही उपयुक्त है । (इसलिये यहां भी 'हतवृत्तता' स्पष्ट प्रतीत हो रही है ।)

वाक्य के 'न्यूनपद' होने का अभिप्राय है उसमें अभिप्रेत अर्थ के वाचक किसी पद के अप्रयोग का । जैसे कि—

'युधिष्ठिर तो हमारे पूज्य ठहरे, भला राजसभा में द्रुपदराजतनया की वह सब दुर्दशा देखकर, वन-वन में, वल्कल पहने, व्याधों के साथ, इतने दिनों तक, हमलोगों का मारे-मारे फिरना देखकर और विराट के घर में उन उन नीच कर्मों में चुपचाप लगे हुये हमारा जीवनयापन देखकर भी उन्हें कौरवों पर क्योंकर क्रोध हो ! उन्हें तो इन सब बातों से खिन्न मुझ (भीम) पर क्रोध है !'

यहां (वेणीसंहार की इस सूक्ति में) 'न्यूनपदता' का दोष है क्योंकि ('वल्कलधरैः' रूप विशेषण के लिये विशेष्यरूप से तथा 'उषितम्' और 'स्थितम्' के लिये कारकरूप से अपेक्षित) 'अस्माभिः' यह पद, जो कि यहां आवश्यक है, अनुपात्त है । साथ ही साथ 'खिन्ने' इस पद के पहले 'इत्थम्' (इस प्रकार से) इस पद का भी, जिसका उपादान यहां आवश्यक है, अभाव ही दिखायी दे रहा है ।

'अधिक पदता' का अभिप्राय है (वाक्य में) किसी ऐसे पद का होना जो अविवक्षितार्थ हो । जैसे कि—

'यह कोई असाधारण व्यक्ति है जिसका हृदय स्फटिक की आकृति जैसा स्वच्छ है, जिसमें गूढ रहस्य-पूर्ण समस्त शास्त्रतत्त्व स्पष्टतया प्रतिबिम्बित हैं, जिसकी उक्ति और युक्ति दोनों अकाट्य और परस्पर समन्वय रखनेवाली हैं और जो कि प्रतिवादी विद्वानों को सदा पराजित किया करता है ।, यहां 'आकृति' पद अधिक है (क्योंकि निर्मलता में केवल 'स्फटिक' ही उपमान रूप से विवक्षित है । 'आकृति' के रहते हुये भी उपमानोपमेयभाव जब 'स्फटिक' और वर्णनीय व्यक्ति में ही हो तो 'आकृति' पद की क्या आवश्यकता !)

'बुढ़ापा में भी जो लोगों में काम-सम्बन्धी विकार उत्पन्न हुआ करते हैं वे लोकविरुद्ध और साथ ही साथ शास्त्रविरुद्ध-दोनों हैं । इसी प्रकार विधाता ने स्त्रियों का जीवन अथवा कामसेवन जो स्तनों के ढीले होने तक ही बनाया वह भी अनुचित है और बहुत बुरा है ।, यहां 'कृतम्' यह पद अधिक है (क्योंकि इसके न होने पर भी पूर्वार्द्ध की

यथा वा—

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः।
यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा॥ २२२॥

अत्र, कृतमिति, कृतं प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति तथा च 'यदपि च न कुरङ्ग-लोचनानामिति पाठे निराकाङ्क्षैव प्रतीतिः।

(८ कथितपदता)

कथितपदं यथा—

(समास में पदाधिक्य)

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला-
परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु! कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम्॥ २२३॥

अत्र लीलेति।

(९ पतत्प्रकर्षता)

पतत्प्रकर्ष यथा—

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः।

भांति 'जीवन' और 'कामसेवन' का अनौचित्य निराकाङ्क्ष रूप से प्रतीत हो जाता है।) वस्तुतः इसके अतिरिक्त 'कृतम्' के उपादान में 'प्रक्रमभंग' दोष भी यहां झलक उठता है (क्योंकि पूर्वार्द्ध में तो पुरुषों के लिये वृद्धावस्था में कामभाव के अनौचित्य का प्रदर्शन और उत्तरार्द्ध में, स्त्रियों के सम्बन्ध में, उनके जीवन और कामसेवन के, स्तनों के ढीले होने तक ही न बनाने में अनौचित्य का अप्रदर्शन 'प्रक्रमभंग' नहीं तो और क्या हो। इस प्रकार 'कृतम्' इस निष्प्रयोजन शब्द की क्या आवश्यकता।)

यहीं यदि 'यदपि च न कुरङ्गलोचनानां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा' कर दिया जाय तो अनौचित्य की प्रतीति निराकाङ्क्ष हो जायगी।

'कथितपदता' का अभिप्राय है (किसी वाक्य में) विना किसी प्रयोजन के समानार्थक किंवा एक समान वर्णों की आनुपूर्वी वाले किसी पद के उपादान का। जैसे कि—

'अरी सुन्दरी! यह तो बता कि वह कौन सौभाग्यशाली युवा है।जसे, तुम्हारे करतल-रूपी पर्यंक पर, शयनलीला के कारण, अपने पीलापन का परित्याग करती हुई, तुम्हारी यह कपोलस्थली, सहसा कामलीला के यौवराज्य-पद पर अभिषिक्त करना चाह रही है।' यहां इस वाक्य में दो 'लीला' पदों में, जो कि एक वार 'स्वापलीला' में तथा दूसरी बार 'स्मर-नरपतिलीला' में प्रयुक्त हैं, 'कथितपदता' है (क्योंकि इसमें कवि की अशक्ति ही प्रतीत होती है। इस पिष्टपेषण से कोई प्रयोजन नहीं निकलता। दो बार प्रयुक्त एक ही पद उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्यरूप से परस्पर अभेद की ही प्रत्यभिज्ञा का कारण हुआ करता है जिससे यहां 'स्वापलीला' में प्रयुक्त लीला की ही प्रत्यभिज्ञा 'स्मरनरपतिलीला' में प्रयुक्त लीला के द्वारा संभव है और इस प्रकार स्वापलीला के यौवराज्यपद पर अभिषेक की प्रतीति स्वभावतः हो रही है जो कि यहां कदापि विवक्षित नहीं। यहां तो कामनृपलीला-चुम्बनादि-के यौवराज्य में युवक नायक का अभिषेक अभिप्रेत है जिसकी दृष्टि से 'स्मरन-रपतिलक्ष्मी' पद का प्रयोग आवश्यक है अन्यथा तो 'कथितपदता' है ही)।

'पतत्प्रकर्षता' का तात्पर्य है (वाक्य में) प्रकर्ष के, चाहे वह अलंकार सम्बन्धी हो या बन्ध-विन्यास सम्बन्धी हो, उत्तरोत्तर शिथिल हो जाने का। जैसे कि—

'जब कि सिंह अपनी सिंहनी के प्रेमविलास में लिप्त रहने के कारण अपने आप को

के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्त्तते ॥ २२४ ॥

(१० समाप्त पुनरात्तता)

समाप्तपुनरात्तं यथा—

क्रेङ्कारः स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवो
झङ्कारो रतिमञ्जरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनिः ।
तन्व्याः कञ्चुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कङ्कणः
क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः ॥ २२५ ॥

(११ अर्धान्तरैकवाचकत्व)

द्वितीयार्धगतैकवाचकशेषप्रथमार्धं यथा—

मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि धर्मः कठोरः ।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ॥ २२६ ॥

भूल जाय तब भला घुर्घुर ध्वनि से फड़कती नाक वाला कौन २ सूअर कहां २ न घुर्घुर करता फिरे ! कौन २ हाथी किस २ कमलवन को न तोड़ता-मरोड़ता फिरे ! और कौन २ वन्यमहिष किस २ वन का समूलोन्मूलन न करने लग जाय !

(यहां सूकर-वर्णन की अपेक्षा गज-वर्णन और उसकी अपेक्षा सिंह-वर्णन में जो उचित बन्ध-दार्ढ्य होता उसका क्रमशः पतन ही प्रतीत हो रहा है जिसमें कवि की अशक्ति दिखायी दे रही है जो अन्ततोगत्वा सहृदय पाठक में अरुचि उत्पन्न कर देती है ।)

'समात्तपुनरात्तता' वह दोष है जिसे किसी वाक्य में, उसके क्रिया-कारक आदि से समन्वित रहने पर भी, बिना किसी विशेष विवक्षा के, पुनः उससे समन्वय की आकांक्षा रखने वाले पदों का उपादान कहा जाता है । जैसे कि :—

'प्रेमी लोगो ! अपनी २ सुन्दरी प्रेमिकाओं की चोलियों के निकालते समय, उनकी बांहों के हिलने से, क्वणित कङ्कणों की वह मधुर ध्वनि, जो स्मर-कार्मुक की प्रत्यञ्चा की झंकार है, रति लीलारूप कोयलों की कूक है, कामक्रीडा रूप मञ्जरी के भौरों की गुंजार है, और प्रणयलीला रूप चकोरी की चुलबुलाहट है, तुम्हारे हृदय में प्रेम ही प्रेम भर दे । वही ध्वनि जो नवयौवन के नचाने की वंशी की टेर है ।'

(यहां 'समाप्तपुनरात्तता' है क्योंकि इस काव्य-वाक्य में, जो कि 'क्रेङ्कारः' से प्रारम्भ होकर 'क्वाणः प्रेम तनोतु वः' तक वस्तुतः अपने आप में सर्वथा समाप्त है, 'नववयोलास्याय वेणुस्वनः' आदि पदों की पुनः योजना एक विशेषण-वृद्धि भले ही हो, किसी आकांक्षा की पूर्ति तो कभी नहीं करती प्रतीत होती ।)

'अर्धान्तरैकवाचकत्व' का अभिप्राय है किसी वाक्य के प्रथमार्ध का ऐसा होना जो कि द्वितीयार्धगत किसी पद के द्वारा पूर्ण हुआ करे । (यह 'अर्धान्तरैकवाचकत्व' दो दृष्टिओं से देखा जा सकता है, पहली वह-जिसमें प्रथमार्ध वाक्य ऐसा लगे जो द्वितीयार्धगत किसी वाचक पद की आकांक्षा करता प्रतीत हो और दूसरी वह, जिसमें द्वितीयार्ध वाक्य ऐसा प्रतीत हो जिसे प्रथमार्धगत किसी वाचक पद की आवश्यकता रहा करे) जैसे कि (राजशेखर कृत बालरामायण के षष्ठ अंक का यह काव्य-वाक्य):—

'मार्ग में पथिक वधुओं ने आंसू भरी आंखों से जनकपुत्री (सीता) को देखा भी और यह कहा भी—राजकुमारी ! रास्ते में कुश के अङ्कुर बिछे हैं, धीरे २ पैर रखते चलना; धूप तेज होगी, सिर पर आंचर (अंचल) रख लेना ।'

(१२ अभवन्मतयोगत्व)

अभवन्मत इष्टो योगः सम्बन्धो यत्र तत् यथा—

(विभक्तिभेद निबन्धन अभवन्मतयोगत्व)

येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि-
र्लीलापानभुवश्च नन्दनवनच्छायासु यैः कल्पिताः ।
येषां हुंकृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणां
किन्तैस्त्वत्परितोषकारि विहितं किञ्चित्प्रवादोचितम् ॥ २२७ ॥

अत्र 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्या'दित्युक्तनयेन यच्छब्दनि-

(यहां—'मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा । विरचयसिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः॥' यह प्रथमार्धगत वाक्य ऐसा है जिसे द्वितीयार्धगत 'तत्' पद की आकांक्षा है जिसके बिना यह पूरा नहीं हो रहा है क्योंकि 'भूः सदर्भा तत् (तस्मात्) मसृणचरणपातं गम्यताम्' यह है पूर्ण वाक्य जिसमें 'तत्' पद द्वितीयार्धगत 'तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः' से लिया जा रहा है। वैसे तो यहां 'मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा' यह वाक्य निराकांक्ष है क्योंकि व्यञ्जना द्वारा ही 'भूः सदर्भा' तथा 'मसृणचरणपातं गम्यताम्' में हेतुहेतुमद्भाव प्रतीत हो जाता है किन्तु तब भी यदि 'तत्' 'तस्मात्' इस वाचक पद का प्रयोग किया गया तो इसे इसी वाक्य में रहना चाहिये न कि अन्य वाक्य से यहां खींच कर लाया जाना चाहिये।)

'अभवन्मतयोगत्व' का अभिप्राय है किसी वाक्य में पदार्थों के परस्पर अभीष्ट सम्बन्ध के अविद्यमान रहने का। ('अभवन्मतयोगत्व की जिन कारणों से संभावना हुआ करती है वे ये हैं—कहीं विभक्ति भेद, कहीं न्यूनता, कहीं आकांक्षाविरह, कहीं वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में विवक्षित सम्बन्ध का अभाव, कहीं समास में किसी पद की उपस्थिति में अन्य पद के साथ उसके अभीष्ट सम्बन्ध का विरह और कहीं व्युत्पत्ति विरोध) जैसे कि—

'राक्षसराज ! उन राक्षसों ने, जिनके प्रताप की ज्वाला ने देवों के मदवारण ऐरावत की मद-धाराओं को पी लिया, जिन्होंने नन्दनवन के निकुञ्जों को अपने मद्यपान की लीलाभूमि बनाकर छोड़ दिया और जिनके वीर-गर्व से भरे हुंकारों ने अमरपति इन्द्र को भी दहला दिया, कौन सा ऐसा काम कर दिखाया जिससे या तो तुम्हें प्रसन्नता हो या जिसका और लोग ही कोई वर्णन करें।'

यहां 'अभवन्मतयोगत्व' स्पष्ट है क्योंकि विशेष्यभूत (षष्ठी विभक्त्यन्त पद) 'क्षपाचारिणाम्'-के साथ विशेषणभूत (तृतीया विभक्त्यन्त पद) 'यैः' का सम्बन्ध, जो कि यहां वस्तुतः अभिप्रेत है, विभक्ति-भेद के कारण नहीं हो रहा। वस्तुतः पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में जो नियामक है वह तो उनका गुण-प्रधान भाव है जैसा कि 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात् (मीमांसा सूत्र ३. १. १२. २२.)' इस सिद्धान्त से सिद्ध है (क्योंकि जो गुण हैं, विशेषणभूत पदार्थ हैं वे प्रधान रूप से अवस्थित विशेष्यभूत पदार्थ से सम्बन्ध खोजा करते हैं। विशेषणों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता भला दो विशेषणभूत पदार्थों में सम्बन्ध कैसा जब कि दोनों विशेष्य की मुखापेक्षिता में पड़े रहने के कारण अप्रधान हों !) यहां 'येषां प्रतापोष्मभिस्तास्त्रिदेशेभदान सरितः पीताः' 'येषां हुङ्कृतयः कृतामरपतिक्षोभाः' और 'यैः नन्दनवनच्छायासुलीलापानभुवश्च कल्पिता' इन तीनों 'यत्' पद से निर्दिष्ट पदार्थों में तो कोई परस्पर सम्बन्ध हो नहीं सकता जिससे ये एक साथ समन्वित होकर 'क्षपाचारिणाम्' इस विशेष्यभूत पदार्थ से सम्बद्ध हो जांय ! इनका तो यहां पृथक् २ रूप से 'क्षपाचारिणाम्' इस पद से निर्दिष्ट प्रधान रूप से अवस्थित विशेष्यभूत अर्थ से ही सम्बन्ध संभव है किन्तु तब भी 'येषाम्'

देश्यानामर्थानां परस्परमसमन्वयेन यैरित्यत्र विशेष्यस्याप्रतीतिरिति। 'क्षपाचारिभिरि'ति पाठे युज्यते समन्वयः।

(न्यूनत्व निबन्धन अभवन्मतयोगत्व)

यथा वा—

त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं यत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया॥ २२८॥

अत्र यदित्यत्र तदिति तदानीमित्यत्र यदेति वचनं नास्ति। चेत्स्यादिति युक्तः पाठः।

(आकांक्षाविरह निबन्धन अभवन्मतयोगत्व)

यथा वा—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम्॥ २२९॥

इन उद्देश्य भूत दो षष्ठ्यन्त पदों के साथ 'क्षपाचारिणाम्' का सम्बन्ध भले ही हो, 'यैः' इस तृतीयान्त पद के साथ तो यह सर्वथा असंभव ही है। अब यह दोष तभी दूर किया जा सकता है जब कि (तृतीय चरण के) 'क्षपाचारिणाम्' इस पद के बदले 'क्षपाचारिभिः' यह पद प्रयुक्त कर दिया जाय क्योंकि तब (चतुर्थ चरण में प्रयुक्त) 'तैः' इस (विशेषण भूत) पद के साथ 'क्षपाचारिभिः' इस (विशेष्यभूत) पद के सम्बन्ध के स्वभावतः घटित होने के कारण अन्य समस्त 'यत्' पद द्वारा निर्दिष्ट पदार्थों से विशेष्य रूप से निरूपित राक्षस रूप पदार्थ का भी सम्बन्ध घटित ही हो जायगा। (अभिप्राय यह है कि यदि यहां 'तैः क्षपाचारिभिः किं·····विहितम् येषां प्रतापोष्मभि······पीताः, यैः······ लीलापानभुवः कल्पिता, येषां च हुंकृतयः कृतामरपतिक्षोभा!' इस प्रकार का वाक्य हो तब विशेष्यविशेषणभाव अथवा उद्देश्यविधेयभाव में व्यवस्थित पदार्थों का अभिमत सम्बन्ध सिद्ध हो जायगा)।

अथवा जैसे कि—'अरी सखी! तुम हो ऐसी सुन्दर और तुम्हारे वे हैं सौन्दर्य में ही सिद्ध! तुम दोनों की ही जोड़ी ऐसी है जो कलाओं का मर्म जानती है! वस्तुतः बात तो यह है कि तुम्हीं दोनों एक दूसरे के सर्वथा उपयुक्त हो। अब इसके बाद जो चाहिये (अर्थात् तुम दोनों का मिलन) वह भी यदि हो जाय तब तो यही कहा जायगा कि संसार में सौन्दर्य की विजय सदा ही हुआ करती है।'

यहां 'अतः शेषं यत् स्यात्' में होना तो चाहिये था 'अतः शेषं यत् तत् यदा स्यात्' किन्तु है नहीं अर्थात् 'यत्' के लिये आवश्यक रूप से अपेक्षित न तो 'तत्' पद प्रयुक्त है और न 'जितमिह तदानीं गुणितया' में 'तदानीं' के लिये अभिप्रेत 'यदा' पद का प्रयोग है। इस प्रकार न्यूनपदत्व के कारण यहां 'यत्' और 'तदानीं' का, इन के परस्पर निरपेक्ष रह जाने के कारण, जो सम्बन्ध यहां अभीष्ट है वह नहीं हो रहा है।

यहीं यदि 'अतः शेषं चेत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया' पाठ कर दिया जाय तो 'चेत्' का अभिप्राय 'यदा'-'जब' हो जायगा और पदन्यूनता हट जायगी जिससे 'अभवन्मतयोगत्व' भी स्वयं परिहृत हो जायगा।

अथवा जैसे कि—'महाराज! संग्रामाङ्गण में विराजमान आप ने जब अपने धनुष की डोर चढ़ाई तब सुनिये कि किस २ के द्वारा सहसा क्या २ पा लिया गया—धनुष ने पाये

अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादिवाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम् न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि। न च केन केनेत्यादिप्रश्नः।

बाण, बाणों ने पाया शत्रुओं का सिर, शत्रुओं के सिर ने पाया भूमण्डल (भूतल), भूमण्डल ने पाया आप को, आपने पायी कीर्ति और कीर्ति ने क्या पाया? त्रैलोक्य!'

यहां प्रथमार्धगत वाक्य के अर्थ के साथ उत्तरार्द्धगत वाक्य के अर्थ का सम्बन्ध विवक्षित है किन्तु वह हो नहीं रहा है। कारण यह है कि 'आकर्णय–'सुनिये' इस क्रिया के साथ 'कोदण्ड', 'शर' आदि सभी प्रातिपदिकों के अर्थों का कर्मरूप से सम्बन्ध यदि माना जाय, जो कि अपेक्षित है, तब तो (कर्मणि द्वितीया, अष्टाध्यायी २. ३. २. के नियम के अनुसार) 'कोदण्डं शरान्' इत्यादि ही प्रयुक्त होने चाहिये। अथवा यदि 'कोदण्डेन शराः' आदि रूप समुचित वाक्यार्थ को ही कर्म मानें जिससे प्रातिपदिक से प्राप्त द्वितीया-विधान यहां लागू न हो, तब 'कोदण्डेन शराः' के स्थान पर 'कोदण्डः शराः' का प्रयोग ही किया जाना चाहिये (जिससे 'कोदण्डः', 'शराः' आदि जो परस्पर अनन्वितार्थक हैं, शुद्ध प्रतिपदिक के अर्थ में, प्रथमा विभक्त्यन्त रूप से प्रयुक्त होकर, वाक्यार्थ के रूप में एक साथ कर्म का अभिप्राय प्रकट कर सकें)।

यहां 'यत्' शब्द के अर्थ को कवि के मन में रहने वाले कोदण्ड आदि समस्त अर्थों का वाचक मानकर 'यत्' से 'आकर्णय' क्रिया के सम्बन्ध के साथ २, कोदण्ड आदि पदार्थों का भी, जिनका अर्थ 'यत्' पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं, उससे (आकर्णय क्रिया से) सम्बन्ध सिद्ध करना ठीक नहीं क्योंकि 'यत्' पद और कोदण्ड आदि पदों के अर्थ में अभेद कैसे? ऐसा कैसे कि 'यत्' पद कोदण्ड आदि अर्थों का बोधक हो जाय!

यहां यह भी संभावना निरर्थक है कि कोदण्ड आदि को 'यत्' शब्दार्थ के विशेषण अथवा 'यत्' शब्दार्थ को कोदण्ड आदि के विशेषण रूप से मान लेने पर 'अभवन्मतयोग' हटाया जा सकता है क्योंकि तब तो 'कोदण्डेन येन शराः, यत् समासादितं तदाकर्णय' अथवा 'येन कोदण्डेन यत् शराः समासादितं तदाकर्णय' इस रूप से वाक्यार्थ के प्रतीत होने पर 'केन कोदण्डेन के शराः'–'किस धनुष से कौन बाण' आदि की आकांक्षा प्रश्नरूप में उठ खड़ी होगी और यदि यहां यह प्रश्न भी प्रतीयमान मान लें, जो कि वस्तुतः है नहीं, तब इस काव्य-वाक्य की एकवाक्यता ही नष्ट हो जायगी।

टिप्पणी—यहां 'प्रदीप'कार की यह मीमांसा ध्यान देने योग्य है—

'अत्र पूर्वार्धार्थेन उत्तरार्धस्य योगो विवक्षितः न च कथञ्चित् सम्पद्यते। तथाहि—अर्थानां वाक्यार्थे योगः (१) क्रियात्वेन वा, (२) कारकत्वेन वा, (३) सम्बन्धित्वेन वा, (४) एषां विशेषणतया वा, (५) हेतुत्व लक्षणत्वादिना वा, (६) तदादिना पूर्ववाक्यार्थमनूद्य वाक्यान्तरावष्टम्भाद्वाक्यैकवाक्यतया वा भवेत्। तत्र कोदण्डादेः प्रथमतृतीयपञ्चमषष्ठाः पक्षास्तद्विशेषणता चाऽसंभाविता एव। कारकत्वमपि कर्मकर्तृभावाभ्यमन्यन्न घटते। तत्राकर्णनक्रियायां पदार्थमात्रस्य कर्मत्वे विवक्षिते 'कोदण्डं शरान्' इत्यादि स्यात्। अथ परस्परानन्विताः मिलिताः पदार्थाः कर्म न प्रत्येकम् अतो न प्रत्येकवाचकात् कोदण्डादिशब्दात् द्वितीयेति चेत् तर्हि शुद्धप्रातिपदिकार्थमात्रार्थत्वात् 'कोदण्डः शराः' इत्यादि प्रथमा स्यात् 'माहिषं दधि सशर्करं पयः' इत्यादिवत्। अथ समासादनक्रियायां कोदण्डादीनां कर्तृतया शरादीनां तु कर्मभावेनान्वय इति चेन्न। 'शराः समासादितम्' इत्यनन्वयात्। किं च 'येन यत् समासादितम् कोदण्डेन शराः समासादितास्तदाकर्णये'ति पर्यवसाने कर्त्रोः कर्मणोश्च भेदः प्रतीयेत, न चाकांक्षानिवृत्तिः स्यात्। अथ यच्छब्दस्य बुद्धिस्थवाचकतया कोदण्डादिपदार्थ एव यच्छब्दार्थः, तथा च यच्छब्दार्थस्य क्रियान्वये कोदण्डादीनामन्वयो जात एवेति चेन्न। एवं हि कोदण्डादीनां पुनरुपादानं व्यर्थमेव स्यात्।······ अथ कर्तृकर्मणोर्विशेषणानि कोदण्डादीनीति चेन्न। कोदण्डेन येन शराः यत् समासादितं

(विवक्षितव्यङ्ग्य-सम्बन्धाभावनिबन्धन अभवन्मतयोगत्व)

यथा वा—

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी ॥ २३० ॥

इत्यादौ भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यम्, कृतवतेति, परशौ सा प्रतीयते कृतवत इति तु पाठे मतयोगो भवति ।

(समासच्छन्नतानिबन्धन अभवन्मतयोगत्व)

यथा वा—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान्कर्मोपदेष्टा हरिः
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता ।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं हतो दुन्दुभिः ॥ २३१ ॥

अत्राध्वरशब्दः समासे गुणीभूत इति न तदर्थः सर्वैः संयुज्यते ।

तदाकर्णयेति वाक्यार्थपर्यवसाने पुनर्विशेषानुक्तावाकांक्षाया अनिवृत्तिप्रसङ्गात्, शरा यत् इत्याद्यन्वयबाहुल्यप्रसङ्गाच्च । अत एव कोदण्डादिशरादिकर्तृकर्मणी तद्विशेषणं तु यच्छब्दार्थ इत्यपि व्युदस्तम् । अथ येन यदिति सामान्यतोऽवगमात् केन किमिति विशेषप्रश्ने कोदण्डेन शरा इत्याद्युत्तररूपाणि वाक्यान्तराणीति चेन्न । तादृशप्रश्नाश्रवणात् । अथासाबुन्नीयते एवमुत्तरालंकारोऽपि लभ्यत इति चेन्न । येन यदासादितं तदाकर्णयेति प्रतिज्ञाय प्रश्नं विनापि कोदण्डादिनिर्देशसंभवेन तदुन्नयनाऽसिद्धेः । ननु चासादितमित्यस्य क्रियापदस्य वचनादिविपरिणामेनानुषङ्गे 'कोदण्डेन शराः समासादिताः' इत्यादि वाक्यान्तरारम्भे को दोष इति चेद् वाक्यभेदः पूर्वापरार्धयोरनन्वयतादवस्थ्यात् ।'

अनुवाद—अथवा जैसे कि—

'चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी' आदि । यहां विवक्षित तो है भार्गव परशुराम की निन्दा का व्यङ्ग्य अर्थ किन्तु 'कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां । बद्धस्पर्धस्तव परशुना' इत्यादि रूप वाक्य में 'कृतवता' रूप विशेषण और उसके अर्थ के 'परशु' मात्र से सम्बद्ध रहने से यहां जो भी निन्दा होगी वह 'परशु' की ही निन्दा प्रतीत होगी न कि परशुराम की । (शस्त्र की निन्दा से शस्त्रधारी की निन्दा का क्या सम्बन्ध ?) अब यदि यहीं 'कृतवता' (इस तृतीयान्त पद) के बदले 'कृतवतः' (यह षष्ठ्यन्त पद) कर दिया जाय तो परशुराम का तिरस्कार, जो कि वस्तुतः यहां अभिप्रेत है, संगत हो जायगा ।

अथवा जैसे कि (वेणीसंहार प्रथम अङ्क)—

'जब हम (भीम-अर्जुन-नकुल-सहदेव) चारों भाई इस समर-यज्ञ के ऋत्विक् हैं, वे सर्वज्ञ भगवान् कृष्ण हमारे कर्मों के उपदेष्टा (उपद्रष्टा अथवा सदस्यरूप ऋत्विग् विशेष) हैं, महाराज युधिष्ठिर संग्रामाध्वर के लिये दीक्षित यजमान हैं, द्रौपदी (दुर्योधन आदि के मरने तक) केशसंयमन आदि विषय भोगों से विरति का व्रत ले चुकी है, दुर्योधन आदि सैकड़ों कौरव यज्ञीय पशु हैं और प्रिया (द्रौपदी) के अपमान रूप क्लेश की शान्ति ही इस महान् क्रतु का फल है, तब बजाओ—बजने दो नगाड़ों को, और बुलाओ—बुलाने दो राजन्य-गण को ! (देख लें वे भी इस अद्भुत अश्वमेध को !)

यहां संग्राम-यज्ञरूप अर्थ का सम्बन्ध विवक्षित तो है सभी (ऋत्विक्, उपद्रष्टा, दर्शक आदि) के साथ किन्तु 'अध्वर' शब्द के-संग्रामाध्वरदीक्षितः' इस समास में पड़ जाने के कारण, केवल 'दीक्षित' के साथ ही लग रहा है अन्य किसी के साथ नहीं ।

(व्युत्पत्तिविरोधनिबन्धन अभवन्मतयोगत्व)

यथा वा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मंजुमंजीरभृङ्गः।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥ २३२ ॥

अत्र दण्डपादगता निजतनुः प्रतीयते भवान्याः सम्बन्धिनी तु विवक्षिता ॥

(१३ अनभिहितवाच्यत्व)

अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र, यथा—

(उद्देश्यविधेयभावादिबोधक विभक्ति न्यूनत्व-
निबन्धन अनभिहितवाच्यत्व)

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टै-
रत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेय-
सौन्दर्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥ २३३ ॥

अत्रापहृतोऽस्मि इत्यपहृतत्वस्य विधिर्वाच्यः। तथापीत्यस्य द्वितीयवाक्यगतत्वेनैवोपपत्तेः।

अथवा जैसे कि—'जङ्घाकाण्डोरुनालः' आदि।

यहां 'निजतनुस्वच्छलावण्यवापीसम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः' इस काव्य-वाक्य में 'निजतनु' का सम्बन्ध विवक्षित तो है भवानी (पार्वती) के साथ किन्तु ('ससंबन्धिनां-सम्बन्धिनामित्यर्थः-निजस्वात्मादिपदार्थानां प्रधानक्रियान्वयिकारकपदार्थे एवान्वयः' इस नियम,-नियम=व्युत्पत्ति-के अनुसार) प्रतीत हो रहा है 'दण्डपाद' के साथ जो कि वस्तुतः यहां अनिष्टकर है।

'अनभिहितवाच्यत्व' का अभिप्राय है (वाक्य में) आवश्यकरूप से प्रयोगयोग्य (उद्देश्यविधेयभावादि द्योतक विभक्ति अथवा निपात आदि रूप) पद के अप्रयुक्त रहने का। जैसे कि (महावीरचरित द्वितीय अङ्क)—

'इस असाधारण व्यक्तित्व वाले राम के, देखे-दिखाये अथवा सुने-सुनाये अतिमानुष पराक्रमों से आकृष्ट हृदय भी मेरा (मुझ परशुराम का) उन (पराक्रमों) के प्रति तो कोई विश्वास है नहीं। किन्तु तब भी मेरे सामने जो यह (रामरूप पदार्थ) दिखाई पड़ रहा है वह एक वीर बालक के रूप में अवतीर्ण कोई अचिन्तनीय किं वा अलौकिक-सौन्दर्य-सार-समुदाय रूप तत्त्व ही दीख रहा है।'

यहां 'तथापि' में जो 'तत्' शब्द का अर्थ छिपा है उसके लिये इसके पूर्ववर्ती 'वाक्य' में वर्णित किसी अर्थ की अपेक्षा है और यह तभी सम्भव है जब कि यहां एक वाक्य के स्थान पर दो वाक्य बन जांय—'अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैराकर्णितैरपहृतोऽस्मि तथापि नास्था।' जिसमें 'अपहृतोऽस्मि' 'अपहृतोऽहम्' (अस्मीत्यहमर्थे विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्) इस रूप से अस्मि (अहम्) और 'अपहृतः' में उद्देश्य विधेय भाव सम्पन्न हो जाय। ऐसा यहां नहीं किया गया और इसलिये उद्देश्य विधेय भाव द्योतक विभक्ति की न्यूनता में 'अनभिहित वाच्यत्व' हो कर ही रहा।

[अथवा—'तथापि' का प्रयोग जहां भी हो वाक्य का दो होना आवश्यक है (क्योंकि 'तथापि' का अभिप्राय 'यद्यपि' के अभिप्राय की आकांक्षा किया करता है) और इसलिये

(निपातन्यूनत्व निबन्धन अनभिहितवाच्यत्व)

यथा वा—

एषोऽहमद्रितनयामुखपद्मजन्मा
प्राप्तः सुरासुरमनोरथदूरवर्त्ती ।
स्वप्नेऽनिरुद्धघटनाधिगताभिरूप-
लक्ष्मीफलामसुरराजसुतां विधाय ॥ २३४ ॥

अत्र मनोरथानामपि दूरवर्त्तीत्यर्थो वाच्यः ।

(असमास में निपातादिन्यूनत्व निबन्धन अनभिहितवाच्यत्व)

(विक्रमोर्वशीय ४र्थ अङ्क)

यथा वा—

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि ! दासजनं यतः ॥ २३५ ॥

अत्रापराधस्य लवमपीति वाच्यम् ।

(१४ अस्थानस्थपदता)

अस्थानस्थपदं यथा—

यहां भी 'यद्यप्यपहृतः, तथापि नास्था' इस प्रकार ही वाक्य रख कर, अपहृत होने-आकृष्ट होने को विधेय रूप से रखना आवश्यक था जिसके न होने से यहां 'अनभिहित वाच्यत्व' दोष हटाये नहीं हटता ।]

अथवा जैसे कि (उषाहरण में 'वर' 'वरदान' की, उषा की सखी चित्रलेखा के प्रति उक्ति):—

'भगवती पार्वती के मुखकमल से उत्पन्न किं वा देवों और दानवों के मनोरथों से भी परे मैं ही वह वरदान हूं जो स्वप्न में ही अनिरुद्ध (श्री कृष्ण-पौत्र) के सहवास सुख से राक्षसराज बाणासुर की पुत्री उषा के सौन्दर्य को सार्थक कर अब लौट आया हूं ।'

यहां 'सुरासुरमनोरथदूरवर्ती' के बदले 'सुरासुरमनोरथानामपि दूरवर्ती' का प्रयोग आवश्यक है क्योंकि बिना इसके समुच्चय का जो अभिप्राय यहां विवक्षित है, वह नहीं निकल सकता (और यदि यह न निकले तो अर्थ का अनर्थ हो जाय । 'सुरासुरमनोरथ-दूरवर्ती' इतने मात्र से तो यहां वह अर्थ निकल रहा है, जो अनिष्टकर है क्योंकि सुरों और असुरों के मनोरथों से अतिक्रान्त होने का अभिप्राय है इनके अतिरिक्त अन्यों अर्थात् मनुष्य आदि के मनोरथ के वशवर्ती रहने का ।) 'अपि' इस निपात के बिना यहां 'अनभिहितवाच्यत्व' का निवारण सम्भव कहां ?)

अथवा जैसे किः—

'प्रिये ! उर्वशी ! तुम में प्रगाढ अनुराग रखने वाले, तुमसे सदा प्रिय भाषण करने वाले और तुम्हारी अप्रसन्नता से निरन्तर दूर भागने वाले मुझ (पुरुरवा) सरीखे तुम्हारे दास का, कौन सा लेश मात्र अपराध तुम्हें दीख गया जो इस प्रकार अप्रसन्न होकर नेह नाता छोड़ चली !'

यहां कहा गया—'कमपराधलवं मम पश्यसि' किन्तु कहा जाना चाहिये था-'कमपराधस्य लवमपि पश्यसि' (क्योंकि बिना 'अपि' के प्रयोग के यहां जो अभिप्राय निकल जायगा—अर्थात् अपराध-लेश के देखने के बदले महापराध के देखने का-वह अर्थ नहीं अपि तु अनर्थ ही होगा)।

'अस्थानस्थ पदता' का अभिप्राय है किसी पद के (किसी वाक्य में) अपने उचित स्थान के अतिरिक्त अन्यत्र प्रयुक्त किये जाने का। जैसे कि (किरातार्जुनीय ८म सर्ग)।

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधा-
वुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां
वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ॥ २३६ ॥

अत्र काचिन्न विजहाविति वाच्यम्।

यथा वा—

लग्नः केलिकचग्रहश्लथजटालम्बेन निद्रान्तरे
मुद्राङ्कः शितिकन्धरेन्दुशकलेनान्तः कपोलस्थलम्।
पार्वत्या नखलक्ष्मशंकितसखीमर्मस्मितह्रीतया
प्रोन्मृष्टः करपल्लवेन कुटिलाताम्रच्छविः पातु वः ॥ २३७ ॥

अत्र नखलक्ष्मेत्यतः पूर्वं कुटिलाताम्र इति वाच्यम्।

(१५ अस्थानस्थसमासता)

अस्थानस्थसमासं यथा—

'किसी नायिका ने, सपत्नी के सामने, अपने प्रियतम के द्वारा गूंथी गयी और अपने उन्नत उरोजों से सुन्दर वक्षःस्थल पर रखी गयी फूल की माला को, जलक्रीडा में, जल से उसके म्लान पड़ जाने पर भी, फेका नहीं। क्योंकि विशेषता तो प्रेम में रहा करती है वस्तु में कहां? कोई वस्तु प्रेम के कारण भली लगती है न कि स्वयं !'

यहां कहा तो गया 'न काचिद् विजहौ' किन्तु कहा जाना चाहिये था—'काचिन्न विजहौ' (क्योंकि 'न काचिद् विजहौ' में 'न' पद का जो प्रयोग है वह यहां के अभिप्राय के अनुरूप उपयुक्त स्थान पर नहीं है। अभिप्राय तो रहा-'काचिन्न विजहौ'-'किसी (नायिका) ने फेका नहीं' इसका किन्तु कहा गया-'न काचिद् विजहौ' अर्थात् एक ने नहीं सब ने फेक दिया-यह !)

टिप्पणी—यहां 'न काचिद् विजहौ' में 'अस्थानस्थपदता' के दोष का अभिप्राय यह है—'नञ्' उसीके निषेध का अभिप्राय रखता है जिसे वह अपने साथ समभिव्याहृत-सम्बद्ध देखता है (नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वम्)। यहां 'न' है सम्बद्ध 'काचित्' से, इसलिये 'काचित्' पदार्थ के निषेध अर्थात् 'सर्वाः' इस पदार्थ के प्रत्यायन में ही इसकी सार्थकता है। किन्तु यहां यह अर्थ कभी भी विवक्षित नहीं। यहीं यदि 'काचिन्न विजहौ' कर दें तो 'न' उपयुक्त स्थान पर चला जाता है और त्याग के निषेध का अभिप्रेत अर्थ विना किसी दोष के प्रतीत होने लगता है।

अनुवाद—अथवा जैसे कि:—

'रतिलीला में केशाकर्षण से शिथिल-वन्ध जटाजूट की लटकन से ढीली महादेव की चूड़ा-चन्द्रकला की वह छाप, जो सोयी पार्वती की कपोल स्थली पर लगा करती है, जिसे, नखक्षत समझने वाली सखिओं की मन्द मुसकान से लजा कर, पार्वती अपने कर विकलय से पोंछा करती हैं और जिसकी टेढ़ी कि वा कुछ २ लाली ली हुई सुषमा का कुछ कहना नहीं, आप (सामाजिकों किं वा सहृदयपाठकों) का सदा कल्याण करती रहे।'

यहां 'कुटिलाताम्रच्छविः' पद अस्थानस्थ है, अनुपयुक्त स्थान पर प्रयुक्त है क्योंकि इसे वस्तुतः 'नखलक्ष्यशङ्कित' इत्यादि के पहले ही रखा जाना चाहिये था जिसमें 'नखक्षत की शङ्का' और 'कुटिल तथा ईषद्रक्त चन्द्रकला की छाप' में हेतुहेतुमद्भाव की प्रतीति, जो कि यहां अपेक्षित है, अविलम्ब हो सके।

'अस्थानस्थ समासता' का तात्पर्य है (वाक्य में) समास का ऐसे स्थान पर प्रयोग जिसमें अनौचित्य हो। जैसे कि:—

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥ २३८ ॥

अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः । कवेरुक्तौ तु कृतः ।

(१६ संकीर्णता)

संकीर्णं यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति । यथा—

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणेमम् ।
ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ॥ २३९ ॥

अत्र पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि इमं कण्ठे गृहाण मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्चेति । एकवाक्यतायां तु क्लिष्टमिति भेदः ।

(१७ गर्भितत्व)

गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति । यथा—

(स्वभावतः एक वाक्यता में)

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः ।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥ २४० ॥

'देखो, यह चन्द्रमा, संभवतः यह जान कर कि उसके सामने भी प्रणयकोप, अपने आपको, युवतिजन के उरोजों के शैलदुर्ग में सुरक्षित देख, उनके हृदय से बाहर न भाग खड़े होने की धांधली मचा रहा है, क्रोध से मानो तमतमाया हुआ, दूर तक अपने रश्मि-करों को फैलाये, कितनी शीघ्रता के साथ, अपने विकसित-कुमुद-कुड्मलकोश से भ्रमरपंक्ति की कटार खींचता दिखाई पड़ रहा है ।'

यहां 'प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः' तथा 'फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणीकृपाणम्' में जो समास है (जिसका अभिप्राय बन्धदार्ढ्य है) वह अनुपयुक्त स्थान पर है क्योंकि यह सब तो कवि का किया चन्द्रमा का वर्णन है । यहां समास तो क्रुद्ध चन्द्रमा की उक्तिः—'अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि । स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति' आदि में होता तो अच्छा था क्योंकि क्रोध के भाव के प्रकाशन में ही तो दीर्घ समासता और ओजस्वी दृढ़बन्ध का औचित्य है ।

'संकीर्णता' का अर्थ है किसी वाक्य के पदों का किसी दूसरे वाक्य में प्रविष्ट होते प्रतीत होने का । (अर्थात् किसी वाक्य की ऐसी रचना जिसके पद का किसी दूसरे वाक्य के पद से व्यवधान दिखाई दिया करे)। जैसे कि (रुद्रटकृत काव्यालङ्कार का उद्धरण):—

'अरी मानिनी ! अपने पैरों पर पड़े, इतने भले, अपने हृदयेश्वर को देख तो भला ! अरे लगा लो इसे अपने गले से ! छोड़ो अपने मन के इस तमोगुणरूप मान को !'

यहां तीन वाक्य हैं—१ला-'पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि', २रा-'इमं कण्ठे गृहाण', और ३रा-मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्च, किन्तु इन तीनों के पदों को एक दूसरे के साथ मिला कर जो एक वाक्य बनाया गया है उसमें अभिप्राय की प्रतीति बहुत विलम्ब से हो रही है । यह परस्पर पद-सांकर्य वाक्य का दोष नहीं तो और क्या ! यह 'संकीर्णता' 'क्लिष्टत्व' से एक भिन्न दोष है क्योंकि 'संकीर्णता' तो अनेक वाक्यता में हुआ करती है और 'क्लिष्टत्व' एक वाक्य में ही संभव है ।

'गर्भितत्व' का अभिप्राय है किसी वाक्य की ऐसी रचना के होने का जिसके बीच में कोई दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो रहा हो । जैसे किः—

'परापकारनिरत दुर्जनों के साथ सम्बन्ध, तुमसे वास्तविकता बता रहा हूँ, कभी भी नहीं रखना चाहिये ।'

अत्र तृतीयपादो वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टः । यथा वा—

(हेतुहेतुमद्भावपूर्वक वाक्यैकवाक्यता में)

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥ २४१ ॥

अत्र 'विदितं तेऽस्तु' इत्येतत्कृतम् । प्रत्युत लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकृत् ।

(१८ प्रसिद्धिहतत्व)

'मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति ।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥ २ ॥'

यहां 'गर्भितत्व' इसलिये है क्योंकि इस श्लोक के प्रथम वाक्य अर्थात्—'परापकारनिरतैर्दुर्जनैस्सह संगतिः न विधेया कदाचन' के ही बीच में 'वदामि भवतस्तत्त्वम्'—यह तृतीय चरण, जो कि एक पृथक् ही वाक्य है, घुसा पड़ा दिखाई दे रहा है ।

[यहां दोष का स्वरूप यह है–'परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः' के बाद 'वदामि भवतस्तत्त्वम्' के पड़े रहने से यह संदेह मन में उत्पन्न हो जाता है कि यहां दुष्ट-संगति को श्लाघ्य बताया जा रहा है या अश्लाघ्य और साथ ही साथ 'न विधेया कदाचन' रूप अन्त्यपाद में कर्म की आकांक्षा, जो स्वाभाविक है, तब तक शान्त नहीं होती जब तक 'वदामि भवतस्तत्त्वम्' इसके बाद में न आवे । यहीं यदि ऐसा कर दें:—

'वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन । परापकारनिरतैर्दुर्जनैस्सह संगतिः ॥'

तो कोई दोष नहीं रह जाता ।]

अथवा जैसे कि:—

'ये रहे वे महाराज जिनकी (राजलक्ष्मी की दूती बनी) कीर्ति राजलक्ष्मी (नायिका) की आज्ञा से इसलिये समुद्र (लक्ष्मी के पिता) के पास पहुँची कि वहां जाकर यह कहे कि महाराज ने राजलक्ष्मी का (अपनी पाणिगृहीता पत्नी का) ध्यान छोड़ दिया है और अपने भृत्यों को उसे सौंपना प्रारम्भ कर दिया है क्योंकि उनका मन तो उस असिलता (प्रतिनायिका) में निरन्तर रमण कर रहा है जो समरभूमि में रक्त (प्रेम) से रंजित होकर शत्रुओं के गले (काटने से लिये और आलिङ्गन के लिये) लगा करती है और जिसे लोगों ने (शत्रुओं ने और तटस्थ व्यक्तिओं ने) मातङ्गों (हाथिओं और अन्त्यजों) के भी ऊपर (काटने और रतिलीला के लिये) गिरते-पड़ते देखा है ।'

यहां 'गर्भितत्व' इसलिये है क्योंकि 'लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह······दत्ताऽस्मि' इस हेतुहेतुमद्भावप्रयोज्य अनेक वाक्यों से बने एक वाक्य में 'विदितंतेऽस्तु' यह वाक्य घुस पड़ा है जिसमें न तो कोई विशेष कारण है और न कोईविशेष प्रयोजन । परिणाम यह होता है कि यहां विवक्षित एकवाक्यता की प्रतीति तो दूर रहे उलटे अविवक्षित अभिप्राय की प्रतीति गले लग पड़ती है क्योंकि 'विदितं तेऽस्तु' से तो यही अर्थ निकलता है कि 'स्वापराधेन नाहमपसरामि किन्तु पत्यपराधेनैव' और इस प्रकार यहां जहां राजा की स्तुति अभिप्रेत है उलटे निन्दा प्रतीत होने लगती है ।

'प्रसिद्धिहतत्व' का अर्थ है कवि-प्रसिद्धि अर्थात्:—

'मञ्जीरादि के वर्णन में 'रणित', 'शिञ्जित', 'गुञ्जित' आदि, पक्षियों के वर्णन में 'कूजित', 'रव', 'वासित' आदि, रतिक्रीडा के वर्णन में 'स्तनित' 'मणित' 'भणित' आदि और मेघ आदि के वर्णन में 'गर्जित' 'रसित' आदि' की प्रयोग-प्रसिद्धि के विपरीत (ऐसे प्रसङ्गों में) वाक्य की रचना किये जाने का । जैसे कि (वेणीसंहार ३य अंक):—

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम् । यथा—

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥ १४२ ॥

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषे सिंहनादे ।

(१९ भग्नप्रक्रमता)

भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र । यथा—

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तंगते हन्त निशाऽपि याता ।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ॥ १४३ ॥

अत्र 'गते'ति प्रक्रान्ते यातेति प्रकृतेः । 'गता निशाऽपि' इति तु युक्तम् ।

'क्यों ! क्यों ऐसा है कि महाप्रलय-वाही झंझानिल से विक्षुब्ध प्रचण्ड पुष्करावर्तक मेघों के भयङ्कर गर्जन-तर्जन के प्रतिध्वान का अनुकरण करता, कर्णकठोर, भूलोक और स्वर्गलोक में सर्वत्र व्याप्त यह 'रव' जो अब तक कभी न सुन पड़ा, आज संग्राम-सागर से निकलता सामने सुन पड़ने लगा !'

यहां 'प्रसिद्धिहतत्व' इसलिये है क्योंकि श्रवणभैरवता आदि की विशेषताओं से विशिष्ट सिंहनाद के प्रसङ्ग में (जहां 'गर्जित' आदि पद प्रसिद्ध रहे) 'रव' का प्रयोग किया गया, जिसे मेंडक आदि के प्रसङ्ग में ही कविजन प्रयुक्त किया करते हैं ।

टिप्पणी—रुद्रट के काव्यालङ्कार (६.२५-२६) में ग्राम्य दोष के निरूपण-प्रसङ्ग में ये पङ्क्तियां आती हैं:—

'मञ्जीरादिषु रणितप्रायान् पक्षिषु च कूजितप्रभृतीन् ।
मणितप्रायान् सुरते मेघादिषु गर्जितप्रायान् ॥
दृष्ट्वा प्रयुज्यमानानेवं प्रायांस्तथा प्रयुञ्जीत ।
अन्यत्रैतेऽनुचिताः शब्दार्थत्वे समानेऽपि ॥'

जिन्हें आचार्य मम्मट ने, कुछ पाठ-भेद के साथ, कवि-प्रसिद्धि के निदर्शन में उद्धृत किया है । यहां कवि-प्रसिद्धि का अभिप्राय है कविजन के प्रयोग नियम का । और इस प्रयोग नियम का उल्लंघन है 'प्रसिद्धिहतत्व' ।

अनुवाद—'भग्नप्रक्रमता' का अभिप्राय है (वाक्य के) प्रक्रम अर्थात् प्रस्ताव के भंग हो जाने का (क्योंकि वाक्य-रचना के नियम अर्थात् 'येन रूपेणोपक्रमस्तेनैवोपसंहारः'—जिस रूप से वाक्य का शाब्द अथवा आर्थ उपक्रम हो उसी रूप से उसका शाब्द अथवा आर्थ उपसंहार हो'-का यदि पालन न हो तो प्रक्रमभंग क्योंकर न हो !)

जैसे कि (प्रकृति-प्रक्रम के भङ्ग में):—

'नियति के नियोग से निशानाथ (चन्द्रमा) के अस्त हो जाने पर रात्रि (वधू) भी जो अस्त हो गयी वह तो अच्छा ही हुआ क्योंकि कुलाङ्गनाओं के लिये इससे बढ़ कर कल्याण क्या कि पति के अनुरूप ही उनकी भी अवस्था (सुख की अथवा दुःख की) हो जाय !'

यहां वाक्य का उपक्रम है ('अस्तंगते' में) 'गम्' रूप प्रकृति से किन्तु उपसंहार होता है ('अस्तं याता' के) 'या' रूप प्रकृति से जिसमें काव्य-वाक्य के प्रक्रम-नियम का उल्लंघन स्पष्ट प्रतीत हो रहा है । यहीं यदि 'गता निशापि' कर दिया जाय तो 'प्रक्रम भंग' रूप दोष हट जाता है । (अभिप्राय यह है कि शाब्दबोधात्मक ज्ञान में, शब्द के भी विशेषण रूप से प्रतीत होने से, आवश्यक यह है कि एक अर्थ के प्रत्यायन के लिये शब्द में यथासंभव भेद न किया जाय । यदि शब्द में भेद कर दिया गया तो अर्थ, चाहे

ननु 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इत्यन्यत्र कथितपदं दुष्टमिति चेहैवोक्तम् तत्कथमेकस्य पदस्य द्विः प्रयोगः । उच्यते–उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनिषेधस्य तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः। तथा हि—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।। २४४ ।।

अत्र रक्त एवास्तमेतीति यदि क्रियते तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति । यथा वा—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्त्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ।। २४५ ।।

वह एक ही क्यों न हो, भिन्नवत् आभासित होने लगेगा । यहां चन्द्र के अस्त गमन और रात्रि के चन्द्रानुगमन का तात्पर्य अभिप्रेत है । यद्यपि 'या' धातु से भी गमन का ही अर्थ विवक्षित है किन्तु 'अनुगमन' रूप से नहीं। इसलिये 'या' धातु के बदले 'गम्' का ही प्रयोग रात्रि के चन्द्रानुगमनरूप अर्थ के प्रत्यायन के लिये आवश्यक है। यहां ऐसा नहीं किया गया, इसलिये शाब्द उपक्रम ('गम्' रूप प्रकृति के उपक्रम) का भंग स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

यहां यह कहा जा सकता है कि जब प्राचीन अलंकार शास्त्र (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति) का मत यह रहा कि 'यथासंभव एक पद का दो बार प्रयोग नहीं करना चाहिये' और जब कि यहीं (अर्थात् काव्यप्रकाश में, 'कथितपदता' दोष निरूपण-प्रसङ्ग में) ऐसा प्रतिपादन किया गया कि 'निष्प्रयोजन एक ही पद का दो बार प्रयोग अनुचित है' तब 'नाथे निशाया' आदि में 'गम्' रूप प्रकृति के दो बार प्रयोग के उपदेश का क्या अर्थ ? किन्तु इसका समाधान यह है–एक पद के दो बार प्रयोग का जो निषेध (पूर्वाचार्य मत में अथवा स्वमत में) अभिप्रेत है उसका क्षेत्र उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य (उद्देश्य-वक्तव्य अर्थ, प्रतिनिर्देश्य-पुनः आवश्यक रूप से वक्तव्य अर्थ, अर्थात् पूर्वोक्त किंवा परोक्त अर्थों की एक रूपता की रक्षा के लिये जहां पूर्वनिर्दिष्ट अर्थ का उसी शब्द तथा उसी रूप से पुनर्निर्देश आवश्यक हो) के क्षेत्र से सर्वथा पृथक् है। इसलिये जहां उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य का क्षेत्र है (जैसे कि 'नाथे निशाया' आदि) वहां तो पूर्व निर्दिष्ट पद का अथवा (उसके) उपयुक्त सर्वनाम का प्रयोग ही नितान्त आवश्यक है और ऐसा न करना ही दोष है। उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यभाव में तो 'कथितपदता' अथवा 'एक पद का दुबारा प्रयोग' दोष नहीं, अपितु उलटे गुण हैं, जैसे कि—

'सूर्य जब उगे तब भी लाल और जब डूबे तब भी लाल ! जो महापुरुष हैं वे क्या सम्पत्ति और क्या विपत्ति, सदा एकरूप ही रहा करते हैं।'

आदि सूक्ति में, (जहां एकरूपता के अर्थसौन्दर्य की प्रतीति के लिये 'ताम्र' 'लाल' पद की भी एकरूपता ही अपेक्षित है)। क्योंकि यदि यहां ('उदेति सविता ताम्रः' कह के) 'रक्त एवास्तमेति च' कह दिया जाय, तब अर्थ एक भले ही प्रतीत हो (क्योंकि 'ताम्र' और 'रक्त' पद समानार्थक हैं) किन्तु पद-भेद के कारण ('ताम्र' और 'रक्त' इन भिन्न २ पदों के प्रयोग के कारण) यह अवश्य है कि उसमें भेद का अवभास होने लगेगा और यहां जिस एकरूपता की प्रतीति, अपेक्षित है वह छिप जायगी (यही बात 'नाथे निशाया' आदि में भी लागू है क्योंकि वहां भी प्रियतम और प्रियतमा के अवस्था-सादृश्य का ही अभिप्राय विवक्षित है जिसकी दृष्टि से 'गम्' धातु का ही दुबारा प्रयोग उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य भाव में अपेक्षित है)।

अथवा जैसे कि (प्रत्यय-प्रक्रम के भङ्ग में किरातार्जुनीय ३य सर्ग की सूक्ति)—

'नाम पाने के लिये अथवा सुख-प्राप्ति की इच्छा से अथवा मनुष्यों की गणना से परे

अत्र प्रत्ययस्य । सुखमीहितुं वा इति युक्तः पाठः ।

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥ २४६ ॥

अत्र सर्वनाम्नः । अनेन विसृष्टा इति वाच्यम् ।

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥ २४७ ॥

अत्र पर्यायस्य । महीभृतोऽपत्यवतोऽपीति युक्तम् । अत्र सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये स्नेहोऽभूदिति केचित्समर्थयन्ते ।

पहुंचने के लिये (अलौकिक असाधारण कार्य कर दिखाने के लिये) जो लोग अनासक्त रहते हुये सतत प्रयत्नशील रहा करते हैं उनकी गोद में तो सिद्धि स्वयं उत्कण्ठित हो कर बैठने आया करती है।'

यहां ('यशोधिगन्तुम्' आदि में क्रिया की प्रधानता की विवक्षा से) 'तुमुन्' प्रत्यय का उपक्रम रहा, किन्तु (सुखलिप्सया में) 'सन्' प्रत्यय के प्रयोग से (जिसमें क्रिया की प्रधानता नहीं अपितु इच्छा की प्रधानता आ गयी) इसका भंग हो गया। यहां ही यदि 'सुखमीहितं वा' का पाठ-भेद कर दिया जाय (जिसमें उपक्रम से उपसंहार तक ऐकरूप्य की प्रतीति हो जाय) तो कितना अच्छा हो!

अथवा जैसे कि (कुमारसंभव ६ठे सर्ग की सूक्ति में सर्वनाम-प्रक्रम का भङ्ग)

'मरीचि आदि मुनि हिमालय से पूछताछ करने के बाद महादेव से मिलकर, उन्हें (महादेव को) पार्वती-विवाह की निर्धारित बात बताकर, उन (महादेव) की आज्ञा पा गगनमार्ग की ओर चल पड़े।'

यहां ('सिद्धं चास्मै' में) 'इदम्' रूप (पूर्वानुभूत किंवा पुरोवर्ति विषयक) सर्वनाम के उपक्रम का आगे ('तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः' में) 'तत' रूप (पूर्वानुभूत किन्तु अप्रत्यक्ष विषयक) सर्वनाम के प्रयोग द्वारा भङ्ग स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। (अभिप्राय यह है कि 'अस्मै' का निर्देश तो 'महादेव' से ही रहा किन्तु 'तत्' का निर्देश 'महादेव' से भी हो सकता है और हिमालय से भी। इस संदेह में अभिप्रेत-प्रतीति स्थगित न हो तो क्या हो!) अब यहीं यदि (अनेन विसृष्टाः) कहा जाय तो सर्वनाम-प्रक्रम की सुरक्षा में (महादेव अथवा हिमालय रूप अर्थों में) संदेह भी हट जाय।

अथवा जैसे कि (कुमारसंभव-१म सर्ग की सूक्ति में पर्याय-प्रक्रम का भङ्ग)—

'पुत्रवान् भी पर्वतराज (हिमालय) की दृष्टि उस (गौरीरूप) अपत्य (के दर्शन) में अतृप्त ही रहती रही क्योंकि अनन्तपुष्पसम्पन्न वसन्त की (दृष्टिरूपिणी) भ्रमरमाला आम्र-मंजरी में ही तो आसक्त रहा करती है।'

यहां पर्याय-प्रक्रमभंग स्पष्ट है (क्योंकि दृष्टान्त वाक्य में-अर्थात् 'अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमालासविशेपसङ्ग' में-जिस प्रकार पुष्पसामान्य और पुष्पविशेष और उनमें स्नेह-तारतम्य का अभिप्राय प्रदर्शित किया गया उसी प्रकार दार्ष्टान्तिक वाक्य में-अर्थात् 'महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्' में, 'तस्मिन्नपत्ये' में विवक्षित गौरीरूप अपत्यविशेष में स्नेह-विशेष की दृष्टि से पहले भी अपत्य-सामान्य और उसमें स्नेह-सामान्य के अभिप्राय-प्रदर्शन के लिये 'अपत्य' रूप पद का ही प्रयोग उपयुक्त रहा क्योंकि बिना इसके 'अपि' शब्द द्वारा बोधित विरोध का चमत्कार स्वरसतः कैसे प्रतीत हो) यहीं यदि 'महीभृतः पुत्रवतोऽपि' के बदले 'महीभृतोऽपत्यवतोऽपि' कर दिया जाय तो सब ठीक हो जाय! कुछ लोग 'महीभृतः पुत्रवतोऽपि' इस पद-विन्यास का (क्योंकि महाकवि का पद-विन्यास ठहरा!) समर्थन इस प्रकार करते हैं कि यहां जो अभिप्राय कवि द्वारा विवक्षित है वह 'पुत्र' (मैनाक) के रहते हुये भी कन्यारूप

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥ २४८ ॥

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च । 'तदभिभवः कुरुते निरायतिं। लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रिय' इति युक्तम्।

काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः।
भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः ॥ २४९ ॥

अत्र वचनस्य, 'काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभा निःश्रीका' इति, कम्पमाना इत्यत्र कम्पमापुरिति च पठनीयम्।

अपत्य में स्नेह के होने का अभिप्राय है। (किन्तु इनका समर्थन वस्तुतः अकिञ्चित्कर ही है क्योंकि यहां तो महाकवि ने 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है जिसमें स्वारस्य तभी रह सकता है जब कि अपत्य-सामान्य और अपत्य-विशेष तथा स्नेह-सामान्य और स्नेह-विशेष में विरोध परिलक्षित होता रहे और इसके लिये यही आवश्यक है कि पर्याय-प्रक्रम का भंग न किया जाय!)

अथवा जैसे कि (किरातार्जुनीय २य सर्ग की सूक्ति में-उपसर्ग तथा पर्यायप्रक्रम दोनों का भङ्ग)—

'विपत्तियां पराक्रमहीन को धर दबाती है, आपद्ग्रस्त हुये का साथ मंगलमय भविष्य छोड़ देता है, जिसका भावी बिगड़ गया, उसका पतन निश्चित है और जो गिर चुका है, उसे भला राजलक्ष्मी कैसे मिले?'

यहां 'विपदः' के 'वि' उपसर्ग के उपक्रम का 'आपदुपेतम्' के 'आङ' उपसर्ग से भंग और 'लघुता' इस पर्याय-प्रक्रम का 'अगरीयान्' इस पर्यायान्तर के प्रयोग से भङ्ग स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। यहीं यदि ऐसा पाठान्तर कर दिया जाय—

'विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं तदभिभवः कुरुते निरायतिम्।
लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रियः ॥'

तो सब ठीक हो जाय।

अथवा जैसे कि (शिशुपालवध, १५वें सर्ग की सूक्ति में वचन-प्रक्रम का भङ्ग)—

'शिशुपाल के पक्षवर्ती राजगण की युद्ध-यात्रा तो हुई बाद में, पहले तो स्त्रियों ने ही-भावी अमङ्गल की सूचना दे दी-एक यदि (वैधव्य की आशंका से) धूल में लोटती हुई, मुखचन्द्र की म्लान शोभा लिये, धूल भरे, कान्तिहीन नक्षत्रों वाले आकाश की भांति उत्पात की सूचना देने लगी, तो दूसरी हतप्रभ किंवा व्याकुलहृदयर मणियां अन्धकार-पूर्ण किंवा त्रस्त जीव-जन्तुओं से भरी दिशाओं की भांति भयंकर अनर्थ का आभास देने लगीं; कुछ यदि पग २ पर वात्या की भांति चक्कर खा-खाकर गिरती पड़तीं अशुभ बताने लगीं तो कुछ (भूकम्प में) कांपती पृथिवी की भांति कांपती हुई अनिष्ट का संकेत करने लगीं।'

यहां 'काचित्' के एक वचन के प्रक्रम का 'काश्चित्' इस बहुवचन द्वारा भङ्ग दिखाई दे रहा है। यहीं यदि—

'काश्चित् कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभाः।
निःश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः ॥'

कर दें तो कोई दोष नहीं खटकता। साथ ही साथ यहां 'कम्पमानाः' के बदले 'कम्पमापुः' कर दिया जाय तो ठीक रहे (क्योंकि 'अनुविदधुः' के आख्यात-प्रक्रम का 'कम्पमानाः'

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यताम् ।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले ।
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ।। २५० ।।

अत्र कारकस्य । विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिमित्यदुष्टम् ।

अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि यशोनिधा-
ववितथमदाध्माते रोषान्मुनावभिगच्छति ।
अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसङ्ग्रहणाय च ।। २५१ ।।

अत्र क्रमस्य । पादोपसङ्ग्रहणायेति पूर्वं वाच्यम् एवमन्यदप्यनुसर्त्तव्यम् ।

(२० अक्रमता)

अविद्यमानः क्रमो यथा—

के शानच्प्रत्ययान्त नामपद के प्रयोग में जो भङ्ग हो रहा है उससे बचने का और उपाय क्या ?)

अथवा जैसे कि (अभिज्ञानशाकुन्तल, २य अङ्क की सूक्ति में, कारक-प्रक्रम का भङ्ग) 'आज वन्य-महिष सींगों से बार-बार ताल का जल पीटें और लोटें, आज छांह में झुण्ड बनाये हिरनों के गोल निश्चिन्त हो जुगाली करें, आज जंगली सूअरों के द्वारा तलैयों में बेखटके मोथा की जड़ें खोदी जाय और आज हमारा यह धनुष, अपने प्रत्यञ्चा-बन्ध को शिथिल किये, विश्राम कर ले ।'

यहां 'गाहन्ताम्' के कर्तृकारक वाचक 'तिङ्'-प्रक्रम का 'क्रियताम्' इस कर्मकारक-वाचकपद के उपादान में भङ्ग दिखायी दे रहा है। इस दोष को तभी दूर किया जा सकता है जब कि ('विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले' के बदले) यहां यह पाठ अर्थात्—

'विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिं पल्वले' कर दिया जाय ।

अथवा जैसे कि (महावीरचरित, २य अङ्क की सूक्ति में, क्रम-प्रक्रम का भङ्ग)—

'जब कि अचिन्त्य तपोबल और बाहुबल में विराजमान और साथ ही साथ कभी निष्फल न हुये अहंकार में फूले ये महायशस्वी महामुनि (परशुराम) इस प्रकार रोष में चढ़े आ रहे हैं, तब भला मेरा यह हाथ उनके आगे अपनी अद्भुत धनुर्विद्या के अभ्यास-गर्व के उचित कुछ चमत्कार दिखाने के लिये और उनके पैरों को छूने के लिये व्यग्रता न दिखावे तो क्या करे !'

यहां क्रम-प्रक्रम का भंग स्पष्ट है क्योंकि जब कि श्लोक के प्रथम तथा द्वितीय पादों के अर्थ क्रमशः चरणवन्दन और बाणाकर्षणरूप अर्थों के हेतुरूप से उपनिबद्ध हुये तब (तृतीय चरण में) 'पादोपसंग्रहणाय' पहले कहा जाना चाहिये (न कि 'अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे')

इसी भांति अन्यत्र भी भग्नप्रक्रमता का स्वरूप स्वयं देख लेना चाहिये ।

'अक्रमता' का अभिप्राय है (वाक्य में) जिस पद के बाद जिस पद का रखना उचित हो, उसे वहां न रख कर, अन्यत्र रखना (अभिप्राय यह है कि 'अक्रमता' वह दोष है जिसके रहने से पदसंनिवेशरूप रचना प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति नहीं कर पाती । 'अक्रमता' से 'अस्थानस्थपदता' में भेद है क्योंकि 'अस्थानस्थपदता' में प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति तो होती है किन्तु पदनिवेश अनुचित लगा करता है । 'अक्रमता' और 'दुष्क्रमत्व' भी एक नहीं, क्योंकि 'दुष्क्रमत्व' में अर्थक्रम का अनौचित्य खटका करता है न कि

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥ २५२॥

अत्र त्वंशब्दानन्तरं चकारो युक्तः।

यथा वा—

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ ! दोषाकरश्री-
र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः।
आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुरः किं मया वृद्धया ते
प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम्॥ २५३॥

अत्रेत्थं प्रोच्येवेति वाच्यम्। तथा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या॥ २५३॥ इत्यादौ 'इति श्रीनियोगादि'ति वाच्यम्।

(२१ अमतपरार्थता)

अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र। यथा—

पदनिवेश का। यह दोष वस्तुतः निपातविषयक है और निपातप्रयोग के नियमों के उल्लंघन में स्वभावतः झलक उठता है)। जैसे कि (कुमारसंभव ५म सर्ग)—

'मुण्डमाली के संग-साथ की कामना से अब वस्तुतः दोनों शोचनीय दशा को पहुँच गये-एक तो वह अर्थात् कलाधर (चन्द्रमा) की कान्तिमती कला और दूसरी तू समस्त लोक की नयन-चन्द्रिका पार्वती।'

यहां 'त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी' में 'लोकस्य' इस पद के बाद जो 'च' इस निपात-पद का प्रयोग है उसमें 'अक्रमता' स्पष्ट है क्योंकि यहां 'च' के द्वारा अभिप्रेत समुच्चय 'कला' और 'त्वम्' (पार्वती) की शोचनीयता से सम्बन्ध रखता है न कि लोक पदार्थ की शोचनीयता से। यहां वस्तुतः (समुच्चयार्थक) 'च' का प्रयोग 'त्वम्' पद के बाद होना चाहिये।

अथवा जैसे कि—

'ये रहे वे महाराज जिनकी चन्द्रज्योत्स्ना सरीखी शुभ्र कीर्ति, क्रुद्ध होकर, यह बक-झक कर भाग खड़ी हुई-राजन्! अब तो तुम्हारे भुजयुगल में यह निस्त्रिंशजा (खड्ग-सम्बन्धिनी तथा वेश्यापुत्रीवत्) शक्ति रमण करने लगी, प्रियतम! अब तो दोषाकरश्री (चन्द्र-कान्ति किंवा नीच लक्ष्मी) तुम्हारे मुंह लगने लगी, नाथ! अब तो यह महा कुट्टनी (भयंकरसंहारकारिका किंवा शंभली) खड्गलता तुम्हारी दोनों ओर झूलने लगी, और अब मुझ वृद्धा (महती किंवा जराग्रस्त) से तुम्हें क्या? तुम्हारे तो सामने अब सर्वगा (सर्वत्र व्याप्त किंवा कुलटा) राजाज्ञा सदा इठलाती फिरा करती है।'

यहां वाक्य में, इत्थं पद के प्रयोग में 'अक्रमता' है क्योंकि पूर्व परामर्शक 'इत्थम्' पद का सम्बन्ध तीनों चरणों से है न कि 'प्रोच्येव' इस पद से। यहां वस्तुतः 'इत्थं प्रोच्येव-कोपात्' इत्यादि रूप से ही पदनिवेश करना उचित है।

अथवा जैसे कि—'लग्नं रागावृताङ्ग्या' इत्यादि, जहां 'भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः' में 'गता' पद के बाद 'इति' पद के निवेश में 'अक्रमता' है क्योंकि यहां अव्यवहित पूर्व परामर्शक इति पद का सम्बन्ध 'लग्नं''भृत्येभ्य' इस श्लोक-वाक्य से रहा न कि 'गता' इस पद से। यहां वस्तुतः 'भृत्येभ्यः इति श्रीनियोगात्' आदि रूप से पद-निवेश ही ठीक है।

'अमतपरार्थता' का अभिप्राय है (वाक्य में) 'परार्थ'-द्वितीयार्थ-के 'अमत'-प्रकृतविरुद्ध अर्थात् प्राकरणिक-रस-विरुद्ध रस-के अभिव्यञ्जक होने का। (परस्पर विरुद्ध रस ये रहे—'श्रृंगार' और 'बीभत्स', 'वीर' और 'भयानक', 'रौद्र' और 'अद्भुत', तथा

रामसन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ २५४ ॥

अत्र प्रकृते रसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः ॥

(अर्थगत दोष)

अर्थदोषानाह—

(७६) अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥ ५५ ॥
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ॥
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः ॥ ५६ ॥
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ॥
विध्यनुवादायुक्तत्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः ॥ ५७ ॥

दुष्ट इति सम्बध्यते।

(१ अपुष्टत्व)

क्रमेणोदाहरणम् ।

'हास्य' और 'करुण' जैसा कि कहा गया है—

'ज्ञेयौ शृङ्गारबीभत्सौ तथा वीरभयानकौ।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः॥'

उदाहरण के लिये (रघुवंश-११ सर्ग की यह सूक्ति)—

'दुःसह रामरूपी कामदेव के वाणों से हृदय में विद्ध और गन्धयुक्त रक्तरूपी चन्दन से चर्चित अङ्ग वाली वह निशाचरी (अभिसारिकारूपिणी) ताटका जीवितेश· (प्रियतमरूप यम) सदन में जा पहुँची।'

यहां 'अमतपरार्थता' स्पष्ट है क्योंकि प्रकृत (वीभत्स) रस के वर्णनारूप वाक्य में जो परार्थ-शृंगार रसरूप अर्थ-प्रतीत हो रहा है वह 'अमत' है, विरुद्ध है, प्रकृत रस का अपकर्षक है।

अर्थ के दोष ये हैं:—

१. अपुष्टत्व
२. कष्टत्व
३. व्याहतत्व
४. पुनरुक्तत्व
५. दुष्क्रमत्व
६. ग्राम्यत्व
७. संदिग्धत्व
८. निर्हेतुत्व
९. प्रसिद्धिविरुद्धत्व
१०. विद्याविरुद्धत्व
११. अनवीकृतत्व
१२. सनियमपरिवृत्तत्व
१३. अनियमपरिवृत्तत्व
१४. विशेषपरिवृत्तत्व
१५. अविशेषपरिवृत्तत्व
१६. साकाङ्क्षत्व
१७. अपदयुक्तत्व
१८. सहचरभिन्नत्व
१९. प्रकाशितविरुद्धत्व
२०. विध्ययुक्तत्व
२१. अनुवादायुक्तत्व
२२. त्यक्तपुनः स्वीकृतत्व और
२३. अश्लीलत्व

यहां ('दुष्टं पदम्' आदि पद-दोष के लक्षण-वाक्य से, लिङ्ग विपरिणामपूर्वक) 'दुष्टः' यह पद 'अर्थः' इस पद से सर्वत्र सम्बद्ध समझना चाहिये।

क्रमशः इन अर्थदोषों के उदाहरण ये हैं। जैसे कि ('अपुष्टत्व' अर्थात् अर्थतः प्रतिपन्न के ही पुनः प्रतिपादनरूप दोष का उदाहरण)—

(१) अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविश्रमानन्दः ॥
मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति ॥ २५५ ॥

अत्रातिविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतिपाद्यमानमर्थं न बाधन्त इत्यपुष्टा न त्वसङ्गताः पुनरुक्ता वा ॥

(२ कष्टत्व)

(२) सदा मध्ये यासामियममृतनिस्यन्दसुरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।
प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥ २५६ ॥

'अत्यन्त विस्तृत आकाश मार्ग में गमनागमन करने में विश्राम-सुख का परित्याग करने वाले किंवा पवन द्वारा सर्वत्र प्रसारित-सौरभ कमलवन को विकसित करने वाले सूर्य (भगवान्) ही एक मात्र महामहिम हो विर

यहां 'अतिविततत्व', 'मार्गत्व' और 'मरुदुल्लासितसौरभत्व' रूप जो अर्थ प्रतिपादित किये गये हैं वे 'अपुष्ट' है क्योंकि इनके प्रतिपादन के विना भी यहां विवक्षित अर्थ में कोई क्षति नहीं पहुँचती। (अभिप्राय यह है कि 'आकाश' को 'अत्यन्त विस्तृत' कहें या न कहें उसमें तो, अग्नि में उष्णता की भांति, महाविस्तार का धर्म है ही। साथ ही साथ इसे 'सरणि'-मार्ग-कहने से भी कोई बात बनती नहीं दिखायी देती। इसी प्रकार 'कमलवन के विकासकरूप' अर्थ के लिये 'मरुदुल्लसित सौरभत्व' रूप-अर्थ का भी कोई प्रयोजन नहीं।) इस 'अपुष्टत्व' दोष को न तो (रुद्रट-निर्दिष्ट) असंगतत्व-'असंबद्धत्व' माना जा सकता है और न (यहां परिगणित) 'पुनरुक्तत्व' ही (क्योंकि यह एक स्वतन्त्र रूप से अवस्थित अर्थ-दोष है)।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने रुद्रट की 'असंबद्धत्व' तथा 'तद्वान्' रूप अर्थदोष की आलोचना की है। रुद्रट के अनुसार अर्थ-दोष ये रहे—

'अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसंबद्धः।
ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टोऽर्थः ॥' (काव्यालङ्कार ११. २)

जिनमें 'असंबद्धत्व' रूप अर्थ-दोष का स्वरूप यह रहा—

'प्रक्रान्तानुपयोगी प्राप्तो यस्तत्क्रमादसंबद्धः।
स इति गता ते कीर्तिर्बहुफेनं जलधिमुल्लङ्घ्य ॥' (काव्यालंकार ११. ८)

और 'तद्वान्' रूप अर्थदोष का यह—

'यो यस्याऽव्यभिचारी सगुणादिस्तद्विशेषणं क्रियते।
परिपूरयितुं छन्दो यत्र स तद्वानिति ज्ञेयः ॥' (काव्यालंकार ११. १५)

मम्मट की दृष्टि में 'अपुष्टत्व' रूप अर्थदोष में ही 'असंबद्ध' तथा 'तद्वान्' ये दोनों अर्थ-दोष अन्तर्भूत हो जाते हैं। वस्तुतः रुद्रट निर्दिष्ट इन दोनों दोषों के स्वरूपों के विवेक से ही मम्मट ने 'अपुष्टत्व' रूप एक अर्थदोष का नामकरण तथा लक्षण-निरूपण किया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है।

अनुवाद—('कष्टत्व' अर्थात् दुरूहता का उदाहरण):—

'महाकवियों (बड़े बड़े कवियों और द्वादश आदित्यों) की वे रुचियां (कवितारूपी अभिलाषायें तथा किरणें) जिनके भीतर 'अमृतनिस्यन्दसुरसा' (सुधारस सरीखे शृङ्गारादि रसों से भरी और मधुर जलप्रवाह वाली), 'उद्दामा' (प्रौढ तथा बहुत बड़ी) तथा 'बहुमार्गा' (सुकुमार-विचित्र और मध्यम मार्ग वाली और त्रिपथगामिनी) 'सरस्वती' (कविभारती किंवा गङ्गा) एक विचित्र 'परिमल' (चमत्कार तथा पुण्यरूप सौरभ) संजोये रहा करती है, और जो 'घनपरिचित' (प्रयत्नपूर्वक अभ्यस्त किंवा मेघ-संवद्ध) होने पर 'स्फुरितमधुर' (रसानुभव से रमणीय तथा विद्युत् स्फुरण से

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति ताः गम्भीरकाव्यपरिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना भवन्तु। यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ताः मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति सङ्क्षेपार्थः।

(३ व्याहतत्व)

(३) जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥ २५७ ॥

अत्रेन्दुकलादयो यं प्रति पस्पशप्रायाः स एव चन्द्रिकात्वमुत्कर्षार्थमारोपयतीति व्याहतत्वम्।

(४ पुनरुक्तत्व)

(४) कृतमनुमतमित्यादि ॥ २५८ ॥

अत्रार्जुनार्जुनेति भवद्भिरिति चोक्ते सभीमकिरीटिनामिति किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः॥

सुन्दर) लगा करती है भला क्योंकर अनायास ही इस अनन्त महाकाव्याकाश में (अत्यन्त अपरिच्छेद्य काव्यमार्ग में और व्योममार्ग में) सब की दृष्टि में प्रसादपूर्ण (सुबोध किंवा स्वच्छ) लगने लगें।'

यहां दुरूहता स्पष्ट है क्योंकि प्रकृत अर्थ यह निकला-'वे गम्भीर काव्यसम्बद्ध कवि रुचियां (कवितायें) जिनके भीतर सुकुमार-विचित्र और मध्यमात्मक मार्गत्रयगामिनी वाणी एक चमत्कार रखा करती है, किस प्रकार काव्य-सामान्य की भांति अनायास सबके लिये सुबोध हो जांय !' और अप्रकृत अर्थ निकला यह-'वे आदित्यरश्मियां जिनके भीतर त्रिपथगा गंगा विराजती हैं भला मेघ-सम्बद्ध होने पर कैसे स्वच्छ लगने लगें !' (और तब निकला इन दोनों अर्थों में उपमानोपमेयभाव का व्यङ्ग्य अर्थ ! यह सब प्रतीति-क्लेश नहीं तो और क्या !)

'व्याहतत्व' अथवा—

'उत्कर्षो वापकर्षो वा प्रागयस्यैव निगद्यते।
तस्यैवाथ तदन्यश्चेद्व्याहतोऽर्थस्तदा भवेत्॥'

इस रूप से उपलक्षित विरोधी अर्थ के उपनिबन्ध का उदाहरणः—

'चांदनी आदि वस्तुयें संसार को अच्छी लगती हैं तो लगा करें, स्वभावतः सुन्दर और भी वस्तुयें यदि लोगों का मन प्रसन्न करती हैं तो किया करें किन्तु मेरे (माधव के) लिये तो यह मालती ही वस्तुतः इन आंखों की चांदनी है और इन आंखों के द्वारा इसका देखना ही इस जन्म का एक मात्र आनन्द-एक मात्र प्रयोजन है।'

यहां (भवभूतिकृत-मालतीमाधव-१म अङ्क की इस सूक्ति में) 'व्याहतत्व' स्पष्ट है क्योंकि पहले जिस इन्दुकला आदि को माधव के लिये हेय बताया जा चुका है, उसी को बाद में माधव के द्वारा मालती में आरोपित करने में, उपादेय माना जा रहा है !

('पुनरुक्तत्व' अथवा शब्दतः प्रतिपन्न अर्थ के ही पुनः शब्दतः प्रतिपादनरूप दोष का उदाहरण)-'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्' आदि (वेणीसंहार ३य अङ्क की) सूक्ति।

यहां 'पुनरुक्तत्व' है क्योंकि पहले ही अर्जुन को 'अर्जुन ! अर्जुन !!' इस प्रकार सम्बोधन करके और अर्जुन का भी 'भवद्भिः' इस पद से परामर्श करके 'सभीमकिरीटिनाम्' में पुनः किरीटी अथवा अर्जुनरूप पदार्थ का प्रतिपादन निष्प्रयोजन नहीं तो और क्या !

यथा वा—

अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन्मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम्।
कर्णाऽलं सम्भ्रमेण व्रज कृप ! समरं मुञ्च हार्दिक्यशङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्यावकाशः ॥ २५९ ॥

अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः ।

(५ दुष्क्रमत्व)

(५) भूपालरत्ननिर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सवः ।
विश्राणय तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥ २६० ॥

अत्र मातङ्गस्य प्राङ्निर्देशो युक्तः ।

(६ ग्राम्यत्व)

(६) स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।
तदयि ! साम्प्रतमाहर कूर्परं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चितम् ॥ २६१ ॥

एषोऽविदग्धः ॥

अथवा जैसे कि (वेणीसंहार ३य अङ्क की यह सूक्ति):—

'अरे कर्ण ! अपने महास्त्रों की अग्निज्वाला से प्रतिपक्ष सैन्य-सागर में वडवाडल सरीखे विराजमान किंवा समस्त धनुर्धरों के परमाचार्य मेरे पूज्य पिता (द्रोणाचार्य) जब सेनापति हैं तब घबराहट कैसी ? कृप ! संग्राम से क्यों भागना ? कृतवर्मा ! सन्देह किस बात का ! अरे ! धनुर्मात्रसहाय मेरे पिता जब रणधुरा का वहन कर रहे हों तो डरने का क्या काम ?'

यहां चतुर्थपादगत वाक्यार्थ में 'पुनरुक्तत्व' है क्योंकि यह स्पष्ट है कि 'अलं संभ्रमेण', 'मुञ्च शङ्काम्' आदि द्वारा प्रतिपादित अर्थ ही पुनः 'को भयस्याऽवकाशः' के द्वारा बिना किसी प्रयोजन विशेष के प्रतिपादित किया गया है ।

('दुष्क्रमत्व' अथवा अनुचित अर्थ-क्रम का उदाहरण):—

'हे नृपश्रेष्ठ ! हे निःसंकोच महादान-महोत्सव-परायण ! दया कीजिये । मुझे एक तुरंग दीजिये और न हो तो एक मदवारण गजराज दीजिये ।'

यहां 'दुष्क्रमत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'तुरङ्गं मातङ्गं वा' में जो याचनारूप अर्थ का क्रम है वह लोकविरुद्ध है । यहां पहले 'मातङ्ग' का और बाद में ही 'तुरङ्ग' का निर्देश उचित है ।

('ग्राम्यत्व' अर्थात् अविदग्धोक्तिरूप अर्थ के दोष का उदाहरण):—

'जब तक यह सोया हुआ है तब तक मैं तेरे साथ लेट रहूँ तो इसमें तेरा क्या बिगड़ जायगा ! अरी ! अपनी कोहनी तो जल्दी से हटा ले और सिकुड़ी हुई अपनी जांघों को भी जल्दी फैला दे ।'

यहां 'ग्राम्यत्व' स्पष्ट है क्योंकि एक अविदग्ध (अनाड़ी) व्यक्ति रतिलीला के लिये ऐसी बात कर रहा है जिसमें सहृदय हृदय बिना उद्विग्न हुये नहीं रह सकता ।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट के ध्यान में रुद्रट के 'ग्राम्यत्वनिरूपण' की ये पंक्तियां हैं :—

'ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम् ।
देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेषु ॥
प्रागल्भ्यं कन्यानामव्याजो मुग्धता च वेश्यानाम् ।
वैदग्ध्यं ग्राम्याणां कुलजानां धौर्त्यमित्यादि ॥
एतद्विज्ञाय बुधैः परिहर्त्तव्यं महीयसो यत्नात् ।
न हि सम्यग् विज्ञातुं शक्यमुदाहरणमात्रेण ॥' (काव्यालंकार ११. ९-११)

(७ संदिग्धत्व)

(७) मात्सर्यमुत्सार्येत्यादि ॥ २६२ ॥

अत्र प्रकरणाद्यभावे सन्देहः शान्तशृङ्गार्यन्यतराभिधाने तु निश्चयः ।

(८ निर्हेतुत्व)

(८) गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयाद्
विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥ २६३ ॥

(९ प्रसिद्धिविरुद्धत्व)

अत्र शस्त्रविमोचने हेतुर्नोपात्तः ।

इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने !
यदेतस्मिन्हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम् ।
इदं तद्दुःसाधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥ २६४ ॥

अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

अनुवाद—('संदिग्धत्व' अर्थात् प्रकरणादि के अभाव में दो अर्थों में संदेह का उदाहरण):—

'मात्सर्यमुत्सार्य' आदि (पञ्चम उल्लास में उद्धृत सूक्ति)—

यहां 'संदिग्धत्व' दोष दिखायी दे रहा है क्योंकि प्रकरण आदि की नियामकता के अभाव में 'भूधरनितम्ब' के सेवन और 'कामिनी-नितम्ब' के सेवनरूप परस्पर विरुद्ध अर्थों में सहृदय पाठक का मन किसी एक में नहीं जम पाता। यहीं यदि शमप्रधान वक्ता अथवा रतिप्रधान वक्ता में से किसी एक के वर्णन का निश्चय हो जाता तो संदिग्धता दूर हो जाती और अर्थ निश्चित रूप से प्रतीत हो जाता ।

('निर्हेतुत्व' अथवा बिना हेतु के किसी विवक्षित अर्थ के उपादान के दोष का उदाहरण):—

'अरे शस्त्र ! जिस तुझे मेरे उन पूज्य पिता ने कुलाचार के विरुद्ध होने पर भी, क्षात्र परिभव से अपनी रक्षा के लिये, धारण किया और जिस तेरे लिये, उन मेरे पूज्य पिता के प्रभाव से, संसार का कोई भी योद्धा अजेय न रहा और जिस तुझे, उन मेरे पूज्य पिता ने, मुझ सरीखे पुत्र के प्रेम से, न कि डर से, फेंक दिया, अब मैं भी फेंक रहा हूं, जा, अब तू विश्राम कर ।'

यहां (वेणीसंहार ३य अंक की इस सूक्ति में, अश्वत्थामा के द्वारा उसके शस्त्र के परित्याग के वर्णन में) 'निर्हेतुत्व' इसलिये है क्योंकि यहां शस्त्र-परित्याग का कोई भी हेतु (जैसा कि द्रोणकृत शस्त्रपरित्याग के वर्णन में यहीं प्रतिपादित है) नहीं प्रतिपादित किया गया (जिससे सहृदय पाठकों अथवा सहृदय सामाजिकों को, यहां विवक्षित अर्थ की प्रतीति, निराकाङ्क्षरूप से, जैसी कि होनी चाहिये, नहीं हो पाती)।

('प्रसिद्धिविरुद्धत्व' अर्थात् लोकप्रसिद्ध अथवा कविप्रसिद्ध अर्थ से विरुद्ध अर्थ के उपनिबन्धन के दोष का उदाहरण):—

'अरी कमल को आतङ्कित करने वाले मुखवाली (चन्द्रमुखी) ! यह तो बता कि किसने तुझे ऐसा कह दिया कि तूं अपनी कलाई के इस वृत्ताकार चिह्न को सोने का कंगन समझ बैठी । अरी ! यह तो कामदेव का, बड़े-बड़े जितेन्द्रिय तरुणों का वशीकरण, वह चक्र है जिसे उसने प्रसन्नतापूर्वक स्वयं तेरे करकमल के मूल में बांध छोड़ा है ।'

यहां 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' (लोकप्रसिद्धिविरुद्धत्व) इसलिये है क्योंकि कामदेव के

यथा वा—

उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः !
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेद्यताम् ।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥ २६५ ॥

अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो न पुनरङ्कुरोद्गमः ।

सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ता शंका क नासि शुभप्रदः ॥ २६६ ॥

अत्रामूर्तापि कीर्तिः ज्योत्स्नावत्प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम् ।

संबन्ध में चक्र रूप अस्त्र का वर्णन किया गया है जो कि लोक में सर्वथा अप्रसिद्ध है। (कामदेव का तो लोकप्रसिद्ध अस्त्र पुष्प-बाण है चक्र कहां ?)

अथवा जैसे कि (कविप्रसिद्धिविरुद्धत्व का उदाहरण):—

'अरे पथिको ! गोदावरी के तट के पास का वह मार्ग अब छोड़ो। अरे ! अब कोई दूसरा मार्ग पकड़ो। अरे ! यहां तो किसी स्वैरिणी ने अपने चरणकमल के आघात से रक्ताशोक को ऐसा कर दिया है कि उसमें नये-नये अङ्कुरों का कवच बंधा दीख रहा है ! (भला अब इस सुन्दर दृश्य को कौन विरही सह सकता है ?)'

यहां 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' (कविप्रसिद्धिविरुद्धत्व) स्पष्ट है क्योंकि कविजनगोष्ठी में रमणी के पादाघात से अशोक का पुष्पोद्गम प्रसिद्ध है न कि अङ्कुरोद्गम (जिसका यहां वर्णन किया गया है)।

'प्रसिद्धिहतत्व' की आशंका वहां नहीं की जा सकती जहां ऐसे अर्थ का निबन्ध किया गया हो जो लोकविरुद्ध होने पर भी कविप्रसिद्ध हो, जैसे कि यहां—

'राजन् ! कभी ऐसा हुआ कि किसी धवलवसना किंवा निर्मलभूषणा नायिका के, छिटकती चांदनी में, अभिसार करते समय, चन्द्रमा अस्त हुआ और जैसे ही किसी ने आप का कीर्तिगान गाया (कि सर्वत्र ज्योत्स्ना ही ज्योत्स्ना छिटक पड़ी जिससे) वैसे ही वह नायिका निःशङ्क हो कर अपने प्रियतम के घर जा पहुंची। भला आप कल्याण करते कहां नहीं दिखायी देते ?,

यहां 'प्रसिद्धिहतत्व' दोष की सम्भावना नहीं, क्योंकि अमूर्त कीर्ति के, ज्योत्स्ना की भांति प्रकाशमय होने का वर्णन, लोकप्रसिद्धिविरुद्ध भले ही हो, कविप्रसिद्धिविरुद्ध कदापि नहीं।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने यहां 'कविसमय' का संकेत किया है जिसका वर्णन अन्य आलङ्कारिक विशद रूप से कर चुके हैं। जैसे कि 'अलंकार शेखर' (मरीचि १५) में आलङ्कारिक केशवमिश्र ने कवि समय सम्बन्धी सिद्धान्त का यह उल्लेख—

'असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात् ।
नियमस्य पुरस्कारात् सम्प्रदायस्त्रिधा कवेः ॥'

करके 'कविसमय' का ऐसा वर्णन किया है—

(क) असदुपनिबन्ध—

'रत्नानि यत्र तत्राद्रौ हंसाद्यल्पजलाशये ।
जलेभाद्यं नभो नद्यामम्भोजाद्यं नदीष्वपि ॥
तिमिरस्य तथा मुष्टिग्राह्यत्वं सूचिभेद्यता ।
शुक्लत्वं कीर्तिपुण्यादौ कार्ष्ण्यं चाकीर्त्यघादिषु ॥

(१० विद्याविरुद्धत्व)

सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः ।
नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ॥ २६७ ॥

अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम् ॥

अनन्यसदृशं यस्य बलं बाह्वोः समीक्ष्यते ।
षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना ॥ २६८ ॥

एतद् अर्थशास्त्रेण ।

विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गणमङ्गना ।
बभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम् ॥ २६९ ॥

अत्र केयूरपदे नखक्षतं न विहितमिति, एतत्कामशास्त्रेण ।

प्रतापे रक्ततोष्णत्वे रक्तत्वं क्रोधरागयोः ।
ज्योत्स्नापानं चकोराणां प्रवालं सर्ववारिषु ॥
केसराशोकयोः सत्स्त्रीगण्डूषात् पादघाततः ।
मासान्तरेऽपि पुष्पाणि रोमालिस्त्रिवलिः स्त्रियाम् ॥

(ख) सदनुपनिबन्ध—

'वसन्ते मालतीपुष्पं फलपुष्पे च चन्दने ।
कामिदन्तेषु कुन्दानां कुड्मलेषु च रक्तता ।
नारीणां श्यामतापातस्तनयोर्यश्च वा ह्रिये ॥,

(ग) नियमपुरस्कार—

'हिमवत्येव भूर्जत्वक् चन्दनं मलये परम् । हेमन्तशिशिरौ त्यक्त्वा सर्वदा कमलस्थितिः ॥
सामान्यग्रहणे शौक्ल्यं पुष्पाम्भश्छत्रवाससाम् । ध्वजचामरहंसानां हारस्य बकभस्मनोः ॥
कृष्णत्वं शैलवृत्तादि मेघवारिधिवीरुधाम् । भिल्लिकाचासुराणाञ्च धूमपङ्कशिरोरुहाम् ॥
लौहित्यं धातुमाणिक्यजपारत्नविवस्वताम् । पद्मपल्लवबन्धूकदाडिमीकरजादिषु ॥
पीतत्वं शालिमण्डूकवल्कलेषु परागके । वर्षास्वेव शिखिप्रौढिर्मधावेव पिकध्वनिः ॥'

अनुवाद—('विद्याविरुद्धत्व' अर्थात् उन-उन शास्त्रों के विरुद्ध अर्थ के उपनिबन्धन के दोष का उदाहरण):—

'जो पण्डित है वह प्रतिदिन रात में स्नान करके नानाविध शास्त्रों का प्रवचन किया करता है और श्रवण किया करता है ।'

यहां 'विद्याविरुद्धत्व' रूप दोष स्पष्ट है क्योंकि विना ग्रहण आदि के रात्रि-स्नान का वर्णन, जैसा कि यहां किया हुआ है, धर्मशास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है ।

अथवा यहां अर्थात्—

'उस पुरुष के लिये, जिसमें असाधारण बाहुबल है, संधि-विग्रह-यान-आसन-द्वैध और संश्रयरूप षाड्गुण्य का अनुसरण वस्तुतः व्यर्थ है ।' इस रचना में 'विद्याविरुद्धत्व' इसलिये है क्योंकि यहां अर्थशास्त्र के विरुद्ध बात कही गयी है । (भला अर्थशास्त्र षाड्गुण्य को बाहुबल से गतार्थ कैसे माने ?)

अथवा यहां अर्थात्—

'कामक्रीडा की लीलाभूमि उस सुन्दरी ने केयूर को तो अलग हटाया और अपने प्रियतम के द्वारा दी गयी नखक्षत शोभा को धारण करने लगी ।' इस रचना में 'विद्याविरुद्धत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहां कामशास्त्र में विहित नखक्षत-स्थान—

('नखक्षतस्य स्थानानि कक्षौ वक्षस्तथागलः ।
पार्श्वौ जघनमूरू च स्तनगण्डललाटिकाः ॥)

के विरुद्ध अन्यत्र नखक्षत का वर्णन किया गया है ।

अष्टाङ्गयोगपरिशीलनकीलनेन दुःसाध्यसिद्धिसविधं विदधद्विदूरे।
आसादयन्नभिमतामधुना विवेकख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः॥२७०॥

अत्र विवेकख्यातिस्ततः सम्प्रज्ञातसमाधिः पश्चादसंप्रज्ञातस्ततो मुक्तिर्न तु विवेकख्यातौ, एतत् योगशास्त्रेण। एवं विद्यान्तरैरपि विरुद्धमुदाहार्यम्।

(११ अनवीकृतत्व)

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्॥ २७१॥

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम्।

अथवा यहां अर्थात्—

'योगधनियों के शिरोमणि इस महायोगी ने अष्टाङ्ग (यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि) रूप योग के सतत दृढ़ अभ्यास से दुर्लभ (मुक्तिरूप) सिद्धि के समीपवर्ती (असंप्रज्ञातरूप) योग को तो अलग हटाया और योगसर्वस्वभूत प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेकख्याति को पाकर अब वस्तुतः मुक्ति पाली।'

इस रचना में जो बात कही गयी है वह योगदर्शन के इस सिद्धान्त अर्थात्—'पहले विवेकख्याति, उसके बाद संप्रज्ञातसमाधि, तदनन्तर असंप्रज्ञातसमाधि और अन्त में मुक्ति' के सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि योगदर्शन ऐसा कहीं नहीं कहता कि 'विवेकख्याति' के बाद 'मुक्ति' सिद्ध हुआ करती है।

इसी दृष्टि से अन्य शास्त्रों के विरुद्ध अर्थों के उपनिबन्ध के उदाहरण स्वयं यथासंभव अन्यत्र देख लेना चाहिये।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट-सम्मत विद्याविरुद्धत्व' रूप अर्थ दोष में 'प्रत्यक्षादिविरुद्धत्व' रूप अन्य अनेकों अर्थदोष समन्वित हैं जिनका निर्देश भोजराज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण (१ मपरिच्छेद) में इस प्रकार किया है—

१ देशविरुद्धत्व—

'सुराष्ट्रेष्वस्ति नगरी मथुरानाम विश्रुता। आक्षोटनालिकेराढ्या यदुपान्ताद्रिभूमयः॥'

२ कालविरुद्धत्व—

'पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा स्फुटत्यह्नि कुमुद्वती। मधुरुत्फुल्लनिचुलो निदाघो मेघनिस्वनः॥'

३ लोकविरुद्धत्व—

'आधूतकेसरो हस्ती तीक्ष्णशृङ्गस्तुरङ्गमः। गुरुसारोऽयमेरण्डो निःसारः खदिरद्रुमः॥'

४ प्रतिज्ञाविरुद्धत्व—

'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी च मे पिता।
माता च मम वन्ध्याऽसीत् स्मराभोऽनुपमो भवान्॥' इत्यादि।

अनुवाद—('अनवीकृतत्व' अर्थात् 'पिष्टपेषण' अर्थात् अनेक अर्थों के एक प्रकार के ही उपनिबन्ध में वैरस्य का उदाहरण):—

'सकल मनोरथपूरक सम्पत्तियां यदि मिलीं भी तो क्या मिला! शत्रुजन के मस्तक पर पैर रखने को मिला भी तो क्या मिला! धन-धान्य से प्रेमीजनों को संतृप्त करने का अवसर मिला भी तो क्या मिला! और शरीरधारी जीवों को कल्पान्त तक अपना शरीर सुरक्षित मिला भी तो मिला क्या!' यहां 'ततः किम्' ('उससे क्या!' अथवा 'हुआ क्या!' अथवा 'मिला क्या!') बार बार जो कहा गया उसमें नवीनता कहां? (और जब नवीनता नहीं तो सुन्दरता कहां?)

तत्तु यथा—

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः ॥
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥ २७२ ॥

(१२ सनियमपरिवृत्तत्व)

यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा ।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लंघ्य यत्संपद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥ २७३ ॥

अत्र 'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता' इति सनियमत्वं वाच्यम् ।

(१३ अनियमपरिवृत्तत्व)

वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।

अर्थ का नवीकृत रूप से अभिधान तो इस प्रकार हुआ करता है जैसा कि इस सूक्ति अर्थात्—

'यदि आग जलाया करती है तो आश्चर्य क्या ! यदि पर्वत भारी हुआ करते हैं तो हुआ क्या ! यदि समुद्र का पानी खारा हुआ करता है तो कोई नयी बात नहीं ! जो महापुरुष हुआ करते हैं उनमें विषण्णता का न होना तो उनका स्वभाव है !'

(यहां 'किमद्भुतम्' में प्रतिपादित अर्थ 'ततः किम्' के रूप में एक नवीनता से प्रकट किया गया, 'ततः किम्' में प्रतिपन्न अर्थ 'सदैव' के रूप में एक विचित्रता से प्रकाशित किया गया और अन्त में 'ततः किम्' में अभिप्रेत अर्थ भी 'प्रकृतिः' के रूप में एक पृथक चमत्कार के ही साथ उपनिबद्ध हुआ ।)

('सनियमपरिवृत्तत्व' अर्थात् 'सनियमत्व' रूप से वर्णन योग्य अर्थ के 'अनियमत्व' रूप से उपनिबन्ध का उदाहरण):—

'अच्छा है, चिन्तामणि, जिसके रहते हुये विधाता की समस्त सृष्टि निष्प्रयोजन है, जिसके उत्कर्ष की अवधि की कल्पना भी निन्दनीय है और जिसकी सम्पत्ति प्राणिमात्र के मनोरथों के लिये सदा अगोचर है, अपने आभासमात्र से मणिरूप में परिवर्तित पत्थर के टुकड़ों के बीच, पत्थर का टुकड़ा ही माना जाय !'

यहां 'सनियमपरिवृत्तत्व' रूप दोष इसलिये है क्योंकि यहां जिस चिन्तामणि का उल्लेख 'यत्रानुल्लिखितार्थमेव' आदि में किया जा चुका है, उसका 'सनियमत्व' रूप से अर्थात्—छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता' इस रूप से ही उपनिबन्ध होना चाहिये था जिसमें 'आभासमात्रेण मणीकृतेषु' इस रूप से अन्य निन्दनीय प्रस्तर खण्डों का बोध नियमतः हो जाय अन्यथा अन्य प्रस्तर खण्डों में चिन्तामणि के गुणों के न होने की प्रतीति और तब भी चिन्तामणि को प्रस्तरखण्डों में गिने जाने के उपालम्भरूप अभिप्राय का अवबोध क्योंकर होने लगे ! (वस्तुतः 'तस्याभासमणिकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम्' में चिन्तामणि और अन्य मणिओं का तारतम्य कहां प्रतीत हो रहा ! यहां तो अपकृष्ट प्रस्तरखण्डों के बीच चिन्तामणि का भी एक अपकृष्ट प्रस्तरखण्ड के रूप में परिगणन ही विवक्षित सा लग रहा है !)

('अनियमपरिवृत्तत्व' अर्थात् 'अनियमत्व' पूर्वक वर्णनीय अर्थ के 'सनियमत्व' पूर्वक (निर्धारणरूप से) वर्णन का उदाहरण):—

वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते ! तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥२७४॥

अत्र शोण एव इति नियमो न वाच्यः।

(१४ विशेषपरिवृत्तत्व)

श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः ! सान्द्रैर्मषीकूर्चकैः
मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम्।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्रांकिताः ॥ २७५ ॥

अत्र 'ज्यौत्स्नीम्' इति श्यामाविशेषो वाच्यः।

(१५ अविशेषपरिवृत्तत्व)

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै
रत्नान्यमूनि मकरालय ! मावमंस्थाः
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम।
याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥ २७६ ॥

'महाराज ! जब सरस्वती (वाणीरूपा सरस्वती नदी) आपके मुख-कमल में निवास कर रही है, जब आपका अधर शोण (लाल तथा शोणनदरूप) ही है, जब आपका राम-पराक्रम की स्मृति उत्पन्न करनेवाला दान-दक्ष किंवा राजमुद्रा-सनाथ बाहु दक्षिण सागर है, जब आपकी सेनायें नदियां बनीं निरन्तर आपकी पार्श्ववर्तिनी हो रही हैं और जब कि आपका मनरूपी मानसरोवर, स्वयं इतना स्वच्छ, आपके साथ विराजमान है, तब भला आपको जल पीने की अभिलाषा क्योंकर हो !'

यहां 'शोण एव' 'आपका अधर शोण ही है'-ऐसा कहने में 'अनियमपरिवृत्तत्व' दोष है क्योंकि इस अवधारण से (जिसका अभिप्राय अन्य जलाशयों की व्यावृत्ति है) जलपानाभिलाष के अनौचित्य की कोई विशेष प्रतीति तो होनी दूर रही, उलटे अनौचित्य की ही प्रतीति हो उठती है (जो कि अभिप्रेत नहीं)। इसलिये यहां 'शोण एव' इस अवधारण-इस नियम-का अभिधान उचित नहीं, प्रत्युत अनुचित है।

('विशेषपरिवृत्तत्व' अर्थात् 'विशेषत्व' रूप से किसी अर्थ के अभिधान के बदले 'सामान्यत्व' रूप से उसके अभिधान का उदाहरण):—

'अरे लोगो ! काली चटकीली कजली की कूंचिओं से पोत पोत कर श्यामा (रात) को और भी श्याम (काली) बना दो, मन्त्र अथवा तन्त्र का प्रयोग कर श्वेत कमलों की श्वेतिमा को, जैसे भी हो, बिगाड़ डालो, और पत्थर की चट्टान पर, जितनी शीघ्रता से हो सके, चन्द्रमाको चूर चूर कर दो, जिससे मुझे कुछ देर के लिये, उस प्रेयसी के मुख से मुद्राङ्कित (अपनी भावना में निरन्तर विद्यमान उसके मुख से चिह्नित) दशों दिशाओं के देख सकने का साहस हो सके !

यहां ('राजशेखर'कृत विद्धशालभञ्जिका, ३ य अंक की इस सूक्ति में) विशेषपरिवृत्तत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'ज्यौत्स्नीं श्यामलिमानमानयत' इस रूप से एक विशेष प्रकार की रात-चांदनी रात-का अभिधान उचित है न कि 'श्यामा' का-सामान्य रात्रि का (क्योंकि 'श्यामा' का अभिप्राय शुक्लपक्ष की ही रात नहीं अपितु कृष्णपक्ष की भी रात है।)

('अविशेषपरिवृत्तत्व' अर्थात् किसी अर्थ के 'सामान्यत्व' रूप से अभिधान के बदले 'विशेषत्व' रूप से उसके अभिधान का उदाहरण):—

'अरे मकरालय सागर ! अपनी उत्ताल तरङ्गों से इतस्ततः फेंके गये पत्थर के टुकड़ों

अत्र 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति सामान्यं वाच्यम् ।

(१६. साकांक्षत्व)

अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभो ! प्रत्युत-
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षञ्च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नञ्च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते ॥ २७७ ॥

अत्र स्त्रीरत्न 'मुपेक्षितुं' इत्याकांक्षति । नहि परस्येत्यनेन सम्बन्धो योग्यः ।

(१७ अपदयुक्तत्व)

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी ।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥ २७८ ॥

की मार से तू अपने आश्रित रत्नों का अनादर न कर तो अच्छा ! अरे, यह तो सोच कि कभी कौस्तुभ (रत्नविशेष) ने पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु को भी तेरे आगे हाथ पसारने को बाध्य किया ।'

यहां 'अविशेषपरिवृत्तत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहां विवक्षित रत्न-सामान्य के अपमान के अनौचित्यरूप 'अर्थ' के लिये कौस्तुभ (रत्नविशेष) का अभिधान अनुचित है। यहां तो 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम । याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥' ऐसा वस्तुतः होना चाहिये था (जिससे यह अभिप्राय निकले कि इन्हीं रत्नों में से एक ने जब इतना उपकार किया तो सभी रत्न आदर के पात्र हुये) अन्यथा 'कौस्तुभ', जो एक रत्नविशेष है, रत्न-सामान्य में अन्तर्भूत प्रतीत न होकर, कवि-विवक्षित रत्न-सामान्य की आदरणीयता के अर्थ का क्योंकर प्रत्यायन करने लगे !

('साकांक्षत्व' अर्थात् ऐसे अर्थ के अभिधान का होना जिसमें किसी अनुपात्त अर्थ की आकांक्षा बनी रहे) 'हम सरीखे अमात्य की मन्त्रणा से याचक भी बनने वाले हमारे राक्षसराज (रावण) को फल तो कुल मिला नहीं, फल तो मिला उसे, हमारे उस द्रोही को, हमसे सर्वथा विरुद्ध आचरण करने वाले, उस (किसी) दशरथ के पुत्र को! किन्तु अब हमारे राक्षसराज, अपने शत्रु के मान और यश के इस उत्कर्ष और अपने इस अपमान और साथ ही साथ इस स्त्रीरत्न (सीता) को कभी भी सहन नहीं करने वाले हैं !'

यहां 'साकांक्षत्व' है क्योंकि 'स्त्रीरत्नं कथं मृष्यते'-'स्त्री रत्न के सहन न करने' का यहां कोई अभिप्राय विवक्षित नहीं। यहां तो 'स्त्रीरत्न की उपेक्षा के सहन न करने' का अभिप्राय विवक्षित रहा जिसकी दृष्टि से 'उपेक्षितुम्' के अभिप्राय की अकांक्षा बनी हुई है। यहां ऐसा भी कहना अनुचित ही है कि (तृतीय चरण के) 'परस्य' के साथ 'स्त्री रत्नम्' के अन्वय करने से 'उपेक्षितुम्' इस अर्थ की आकांक्षा नहीं रह जाती क्योंकि 'परस्य' के साथ 'स्त्रीरत्नम्' का अन्वय इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि 'परस्य' का अन्वय 'मानयशसोः' के साथ पहले ही हो चुका है जिससे किसी अन्य के साथ अन्वय में यह सर्वथा निराकाङ्क्ष बना हुआ है। (तात्पर्य यह है कि साकांक्ष अर्थ निर्दुष्ट अर्थ नहीं क्योंकि जब तक सम्पूर्ण अर्थ अभिहित न हो तब तक निराकांक्ष प्रतीति की संभावना कहां ?)

('अपदयुक्तत्व' अर्थात् प्रकृत अर्थ के विरुद्ध अर्थ रखने वाले पद से युक्त अर्थ का उदाहरण):—

'जिसकी आज्ञा देवराज इन्द्र के लिये शिरोधार्य हो, जिसके लिये शास्त्र ही नवीन दिव्य-दृष्टि हो, जिसकी देवाधिदेव महादेव में भक्ति हो, जिसकी राजधानी लङ्का नाम की

अत्र 'स्याच्चेदेष न रावणः' इत्यत एव समाप्यम्।

(१८ सहचरभिन्नत्व)

श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा॥
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता॥ २७६॥

अत्र श्रुतादिभिरुत्कृष्टैः सहचरितैर्व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम्।

(१९ प्रकाशितविरुद्धत्व)

लग्नं रागावृताङ्ग्या॥ २८०॥

इत्यत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन श्रीस्तस्मादपसरतीति विरुद्धं प्रकाश्यते।

(२० विध्ययुक्तत्व)

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम्।
इयं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशालिना-
मपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः॥ २८१॥

दिव्य पुरी हो और जिसका जन्म साक्षात् ब्रह्मा के वंश में हो, भला उसके समान और कोई दूसरा वर कहां मिल सकता है? किन्तु यह सब तो तब होता जब यह रावण (प्राणिमात्र का उत्पीडक) न होता। किन्तु ऐसा हो भी तो कैसे हो! सब गुण सब में होते कहां हैं?'

यहां (कविराज राजशेखरकृत बालरामायण प्रथम अंक-की इस सूक्ति में) 'अपद-युक्तत्व' है क्योंकि यहां विवक्षित रावण की उपेक्षा का अभिप्राय जब 'स्याच्चेदेष न रावणः' इस अभिधान से ही समाप्त हो रहा है तब पुनः 'क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः' इत्यादि अभिधान (जिसके द्वारा जगदुत्पीडक रावण की उपेक्षा के अभिप्राय का समाधान विवक्षित है) किस काम का (जब कि यह प्रकृत अर्थ अर्थात् रावण की वर रूप से उपेक्षणीयता के अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ रखने वाले पद से युक्त है)।

('सहचरभिन्नत्व' अर्थात् ऐसे अर्थ के अभिधान का उदाहरण जो अन्य समभिव्याहृत सजातीयभूत अर्थों में विजातीय रूप से प्रतीत हो)

'बुद्धि भूषित होती है शास्त्र से, मूर्खता भूषित होती है व्यसन से, नारी भूषित होती है यौवन-मद से, नदी भूषित होती है जल से, रात्रि भूषित होती है चन्द्रमा से, धृति भूषित होती है समाधि से और नरेन्द्रता (राजत्व)! वह भूषित होती है राजनीति से।'

यहां 'सहचरभिन्नत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहां बुद्धि और शास्त्र आदि के भूष्य-भूषक-भावरूप उत्कृष्ट सजातीय अर्थों से मूर्खता और व्यसन के भूष्य-भूषकरूप निकृष्ट अर्थ का कैसा मेल?

('प्रकाशितविरुद्धत्व' अर्थात् ऐसे अर्थ के अभिधान का उदाहरण जो कि एक विरुद्ध व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायक हो रहा हो):—

'लग्नं रागावृताङ्ग्या' आदि पूर्वोदाहृत सूक्ति। यहां 'प्रकाशितविरुद्ध' स्पष्ट है क्योंकि— यहां 'विदितं तेऽस्तु' 'तुम्हें यह सब पता रहे'—यह वाक्यार्थ ऐसा है जिससे यहां विवक्षित अर्थ के सर्वथा विरुद्ध अर्थ अर्थात्—राजलक्ष्मी के वर्णनीय नृप से सम्बन्ध-विच्छेदरूप अर्थ की अभिव्यक्ति हो उठती है। ('प्रकाशितविरुद्धत्व' में तो विरुद्ध अर्थ की प्रतीति अर्थसामर्थ्यमूलक हुआ करती है किन्तु 'विरुद्धमतिकृत्त्व' में विरुद्ध अर्थ की प्रतीति शब्दशक्तिमूलक रहा करती है और इस प्रकार दोनों का भेद स्पष्ट है।)

('विध्ययुक्तत्व' अर्थात् अविधेय अर्थ का ही विधेय अर्थ के रूप में व्युत्क्रम-पूर्वक अभिधान)

'राजन् (दुर्योधन)! देख लो, आज संसार को, कैसे कृष्ण और पाण्डव और पाञ्चाल—

अत्र 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे'–इति विधेयम् ।

यथा वा—

वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः ।
तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकै
र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ॥२८२॥

अत्र वाताहारादित्रयं व्युत्क्रमेण वाच्यम् ।

(२१ अनुवादायुक्तत्व)

अरे रामाहस्ताभरणभसलश्रेणिशरण !
स्मरक्रीडाव्रीडाशमन ! विरहिप्राणदमन !
सरोहंसोत्तंस ! प्रचलदलनीलोत्पलसखे !
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना ॥ २८३ ॥

अत्र 'विरहिप्राणदमन' इति नानुवाद्यम् ॥

सबसे शून्य बना डालता हूँ, देख लो, आज बाहुबल के अभिमानियों की रणचर्चा का कैसे अन्त कर देता हूँ और देख लो, आज संसार से शत्रुकानन का बोझ कैसे दूर हटा दिया जाता है ! आज से ही तुम ऐसी नींद ले सकोगे कि बन्दिओं के स्तुति–पाठ से ही उठ पाओगे।'

यहां (वेणीसंहार-तृतीय अंक की इस सूक्ति में) 'अयुक्तविधित्व' इसलिये है क्योंकि यहां जो विधेय अर्थ है अर्थात् 'निःशङ्करूप से नींद में पड़े तुम वैतालिकों के स्तुति–पाठ से जगा करोगे' उसे अविधेयरूप से अर्थात् 'स्तुति पाठकों द्वारा जगाये गये सोते रहोगे' इस रूप से प्रतिपादित किया गया है (जिसमें विवक्षित अर्थ का निर्वाह संभव नहीं किन्तु यहीं यदि 'सुखेन शयितश्चिरादुषसि बोध्यसे मागधैः' कर दिया जाय तो यह दोष नहीं रह सकता)।

अथवा जैसे कि—

'विषधर सर्पों ने तो अपने वायुमात्र-भक्षण के व्रत से सबको विश्वास दिला कर सबका नाश कर दिया, मयूरों ने अपने मेघनिर्मुक्त जलमात्रभक्षण के उग्र व्रत से विश्वास दिला कर विषधरों का संहार कर दिया और इन मयूरों का अन्त कर दिया कड़े मृगचर्म मात्र के परिधान का व्रत लेने वाले व्याधों ने ! यह सब हो कैसे नहीं जब कि अविवेकी लोग दम्भ-(शठता)-गर्भ-धर्माचरण की करतूतें जानते हुये भी दाम्भिकों (में धर्म) का विश्वास करने लग जांय !'

यहां (भल्लटशतक-८७ की इस सूक्ति में) विधेयरूप से विवक्षित अभिप्राय तो था मृगचर्मवसन, मेघजलविन्दुपान और वायुभक्षण के उत्तरोत्तर उग्र व्रतों का अभिप्राय (जिसमें उत्तरोत्तर तीव्र–तीव्रतर और तीव्रतमरूप से दम्भाधिक्य की प्रतीति चमत्कारपूर्ण हो सके) किन्तु इसे व्युत्क्रमपूर्वक अभिधान में बिगाड़ डाला गया !

('अनुवादायुक्तत्व' अर्थात् विधेय के अननुगुण (प्रतिकूल) अनुवाद्य (उद्देश्य) का कथन):—

'अरे नीलकमल ! उस सुन्दरी के हाथ के आभरण ! शरणागत भ्रमरपङ्क्ति के रक्षक ! रतिलीला की लज्जा के निवारक ! विरहिजन के प्राण के संत्रासक ! सुन्दर सरोवर के किसलय वाले नीलोत्पल ! मेरे दुःख का अन्त नहीं, बता दो वह चन्द्रमुखी कहां गयी, मोहवश मुझे उसका पता नहीं, दूर कर दो मेरा मोह !'

यहां 'अनुवादायुक्तत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'कथय क्वेन्दुवदना' इस विधेयरूप से अभिप्रेत

(२२ त्यक्तपुनःस्वीकृतत्व)

लग्नं रागावृताङ्ग्येत्यादि ॥ २८४ ॥

अत्र विदितं तेऽस्तु इत्युपसंहृतोऽपि तेनेत्यादिना पुनरुपात्तः ।

(२३ अश्लीलत्व)

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ॥
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥ २८५ ॥

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः ।

(उक्त उदाहरणों में निर्दिष्ट दोषों का समन्वय)

यत्रैको दोषः प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति तथापि तेषां तत्राप्रकृतत्वात्प्रकाशनं न कृतम् ।

(उपर्युक्त दोषों का यथासंभव समाधान)

(अर्थदोष का यथास्थान समाधान)

(७७) कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः । सन्निधानादिबोधर्थम् ॥

अवतंसादीनि कर्णाद्याभरणान्येवोच्यन्ते, तत्र कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थितिप्रतिपत्तये ।

अर्थ के लिये 'विरहिप्राणदमन'-यह अनुवाद्य (उद्देश्य) भूत अर्थ अनुकूल नहीं, अपितु सर्वथा प्रतिकूल है (क्योंकि नीलोत्पल के प्रति, विरही की, अपनी मोह-शान्ति के लिये की गयी इस प्रार्थना में, विरहिप्राण-संत्रासकरूप से नीलोत्पल के संबोधन में, अर्थ का अनर्थ नहीं तो और क्या !)

('त्यक्तपुनःस्वीकृतत्व' अर्थात् निराकांक्षरूप से समाप्त भी वाक्यार्थ का पुनः किसी अन्य कारकादि प्रयोग से उपादान)–'लग्नं रागावृताङ्ग्या' आदि सूक्ति, यहां 'त्यक्तपुनः-स्वीकृतत्व' इसलिये है क्योंकि 'विदितं तेऽस्तु' ऐसा कह चुकने पर, यहां उत्प्रेक्षित राजापराधरूप अर्थ के समाप्त हो जाने पर भी पुनः उसे 'तेनाऽस्मि दत्ता भृत्येभ्यः' आदि रूप से कहा जाने लगा !

('अश्लीलत्व' अर्थात् अभिहित अर्थ में व्रीडादि समर्पण) 'हिंसाचरण में प्रवृत्त, परदोषान्वेषी किंवा उद्दण्ड किसी दुष्ट पुरुष का जैसा पतन हुआ करता है वैसा उत्थान नहीं।'

यहां 'अश्लीलत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहां पुरुष के लिङ्ग की प्रतीति हो उठती है (जो कि सुरतक्रियारूप योनि-ताडन में प्रवृत्त हो, नारी के वराङ्ग का अन्वेषण किया करे, स्तब्ध हो उठा हो और जिसकी वीर्यत्याग से शिथिलता जैसी शीघ्र हो वैसी रागोद्रेक से पुनः दृढ़ता शीघ्र न हो) ।

उपर्युक्त (दोषों के) सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि जहां एक दोष का प्रकाशन किया गया है वहां अन्य दोष भी संभव हैं (जैसे कि 'लग्नं रागावृताङ्ग्या' आदि में ही) किन्तु वहां अन्य दोषों का प्रकाशन इसलिये नहीं किया गया क्योंकि एक दोष के निरूपण के प्रसङ्ग में दूसरे दोष के निरूपण का औचित्य कैसा ! (अभिप्राय यह है कि एक उदाहरण में, जिसमें एक से अधिक दोष हों, यदि एक दोष का प्रकाशन किया गया, जो कि प्रसङ्गवश किया जाना चाहिये, और दूसरे का नहीं जो कि वहां है अवश्य, किन्तु उसका निरूपण वहां नहीं, अपितु उसके प्रसङ्ग में किया गया, तो आपत्ति क्या ! आपत्ति तो तब होती जब दोष-साङ्कर्य होने पर एक ही दोष बताया गया होता ! इसमें क्या आपत्ति कि एक प्रसङ्ग में एक ही दूषकताबीज का प्रकाशन किया जाय और दूसरे प्रसङ्ग में दूसरे दूषकताबीज का !)

'कर्णावतंस' आदि पदों में (जहां वस्तुतः 'अवतंस' आदि से ही 'कर्णाभरण' आदि का बोध हुआ करता है) 'कर्ण' आदि पदों का प्रयोग 'अपुष्टत्व' अथवा 'पौनरुक्त्य'

यथा—

(अपुष्टत्व' अथवा 'पौनरुक्त्य)

अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् ।
तथैव शोभतेऽत्यर्थमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥ २८६ ॥
अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्ततः ।
आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥ २८७ ॥

अत्र कर्ण-श्रवण-शिरःशब्दाः सन्निधानप्रतीत्यर्थाः ।

विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे ।
धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरितं तव ॥ २८८ ॥

अत्र धनुःशब्द आरूढत्वावगतये—

अन्यत्र तु—

दोष नहीं यदि उनके द्वारा कर्णादि में उनकी अवस्थिति आदि का बोधन अभिप्रेत हुआ करे।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने प्राचीन काव्याचार्य वामन की दृष्टि अपनायी है। वामन कृत काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (२.२) में 'उक्तार्थपदता'-दोष की अदोषता के निमित्तों का ऐसा प्रतिपादन है—

'न विशेषश्चेदेकार्थं दुष्टम् ।' 'धनुर्ज्याध्वनौ धनुः श्रुतिरारुढेः प्रतिपत्त्यै ।'
'कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु कर्णादिनिर्देशः सन्निधेः ।'
'मुक्ताहरशब्दे मुक्ताशब्दः शुद्धेः ।' 'पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदमुत्कर्षस्य ।'
'करिकलभशब्दे करिशब्दस्ताद्रूप्यस्य । विशेषणस्य च ।'

जिसे आचार्य मम्मट ने 'अपुष्टत्व' दोष की यथास्थान अदोषता के निमित्त के रूप में यहां स्वीकार किया है।

अनुवाद—वैसे तो 'अवतंस' आदि का ही अभिप्राय कर्ण (कान) आदि का आभूषण हुआ करता है किन्तु तब भी यदि (अवतंस आदि के बदले) 'कर्णावतंस' आदि पद प्रयुक्त किये जांय तो इसमें कोई 'अपुष्टता' अथवा 'पुनरुक्ति' दोष की सम्भावना इसलिये नहीं हुआ करती क्योंकि इनके द्वारा उन-उन अङ्गों में उन-उन आभूषणों की अवस्थिति (विद्यमानता) का विशेष अभिप्राय विवक्षित रहा करता है। उदाहरण के लिये—

'इस सुन्दरी के कर्णावतंस (कर्णाभरण) से तो सभी आभरण हार खा चुके हैं और इसका जो श्रवण-कुण्डल है उसकी तो शोभा ही निराली है। और इसके बाद शिरःशेखरों से सुशोभित, एक अद्भुत मनोमोहक सौरभ से चारों ओर आनन्द बिखेरते और भ्रमरों की गुञ्जार साथ लिये एक के बाद एक बहुत से लोग आ पहुंचे।

यहां 'कर्णावतंस' में 'कर्णशब्द' 'श्रवणकुण्डल' में 'श्रवण' शब्द और 'शिरःशेखर' में 'शिरस्' शब्द इन अंगों में इन आभरणों के अवस्थान-सौन्दर्य की प्रतीति के लिये हैं (और इसलिये यहां कोई 'अपुष्टता' अथवा 'पुनरुक्ति' नहीं।) यहां अर्थात्—

'राजन्! ऐसे संग्राम में जिसकी भयङ्करता क्षतविक्षत हो हो कर वशवर्ती बने शत्रुओं से बढ़ती रहा करती है, आप का बाहुदण्ड धनुर्ज्या (धनुष की प्रत्यञ्चा) की चोट के चिह्न से विभूषित होकर, एक विचित्र ढंग से फड़क उठता है।'

इस सूक्ति में 'ज्या' (मौर्वी ज्या शिञ्जिनीगुणः) 'प्रत्यञ्चा' के लिये जो 'धनुर्ज्या' शब्द का प्रयोग दिखाई दे रहा है उसमें 'अपुष्टता' अथवा 'पुनरुक्ति' नहीं, क्योंकि इसके द्वारा धनुष पर चढ़ायी गयी प्रत्यञ्चा का बोध हो रहा है (जो कि केवल 'ज्या' के द्वारा यहां सम्भव नहीं)

किन्तु जहां धनुष पर आरुढ रहने का अभिप्राय विवक्षित न हो जैसे कि यहां अर्थात्—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥ २८९ ॥

इत्यत्र केवलो ज्याशब्दः ।

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥ २९० ॥

अत्र मुक्तानामन्यरत्नामिश्रितत्वबोधनाय मुक्ताशब्दः ।

सौन्दर्यसम्पत्तारुण्यं यस्यास्ते ते च विभ्रमाः ।
षट्पदान् पुष्पमालेव कान् नाकर्षति सा सखे ! ॥ २९१ ॥

अत्रोत्कृष्टपुष्पविषये पुष्पशब्दः । निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते ।

(दोष-समाधान महाकवि-प्रयोगों में न कि सर्वत्र)

(७८) स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥ ५८ ॥

न खलु कर्णावतंसादिवज्जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते ।
जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम् ॥ २९२ ॥

'(कार्तवीर्य वह था) जिसके कारागार में इन्द्रविजयी लङ्केश्वर (रावण) भी प्रत्यञ्चा के बन्धन से निश्चेष्ट भुजदण्ड लिये, दसों मुखों से आह भरते, तब तक पड़ा रहता था जब तक उसपर छुटकारे की आज्ञा की कृपा न हुआ करती थी ।'—(रघुवंश, षष्ठसर्ग की) इस सूक्ति में, वहां केवल 'ज्या' शब्द का ही प्रयोग उचित है (जैसा कि महाकवि ने किया ही है) इसी प्रकार यहां अर्थात्—

'इस सुन्दरी के स्तनद्वय,ऐ सा लगता है जैसे, प्रियतम के आलिङ्गन में, उन-उन हाव-भावों की स्मृति में, अपने सुन्दर मुक्ताहार के बहाने, हंस से रहे हों ।'

इस 'सूक्ति' में 'हार' के बदले जो 'मुक्ताहार' शब्द का प्रयोग है (और 'हार' और 'मुक्ता' एक ही वस्तु है—'मुक्ता ग्रैवेयकं हारः') उसमें भी कोई 'अपुष्टत्व' अथवा 'पौनरुक्त्य' नहीं क्योंकि यहां 'मुक्ताहार' से एक विशेष अर्थ की अर्थात् अन्य रत्नों से अमिश्रित शुद्ध मौक्तिकगुम्फित माला की प्रतीति अभिप्रेत है । इसी प्रकार यहां अर्थात्—

'अरे मित्र ! भला वह रमणी, जिसके पास सौन्दर्य की सम्पत्ति हो, तारुण्य हो और वैसे-वैसे हाव-भाव हों, भला भौंरों को आकृष्ट करने वाली पुष्पमाला की भांति, किन्हें अपनी ओर आकृष्ट नहीं किया करती !'

इस सूक्ति में 'माला' के बदले जो 'पुष्पमाला' शब्द का प्रयोग है उसमें भी 'पुष्प' शब्द 'अपुष्टत्व' दोषग्रस्त नहीं, क्योंकि इसके द्वारा माला में सुन्दर से सुन्दर फूलों के गुथे हुये होने का अभिप्राय विवक्षित है । यहां ऐसी शङ्का तो निर्मूल ही समझी जानी चाहिये कि 'रत्न' आदि की 'माला' की सम्भावना को दूर करने के लिये 'पुष्पमाला' पद का प्रयोग किया गया क्योंकि बिना किसी विशेषण के ही 'माला' शब्द पुष्प की ही माला का वाचक हुआ करता है । (तात्पर्य यह है कि यहां 'पुष्पमाला' का अभिप्राय उत्कृष्ट पुष्पों की माला है और इसलिये 'पुष्प' शब्द अपुष्ट अथवा पुनरुक्त नहीं) ।

इस दोष-समाधान का वास्तविक अभिप्राय यह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति ऐसा ही प्रयोग किया करे और कोई दोष न हो, अपितु यह कि महाकवियों ने जहां ऐसे पद प्रयुक्त किये हैं, जो आपाततः अपुष्ट अथवा पुनरुक्त प्रतीत हो सकते हैं, उनमें अभिप्राय-विशेष की विवक्षा से दोष की सम्भावना दूर की जा सकती है ।

इसलिये आवश्यक यही है कि महाकवियों द्वारा प्रयुक्त 'कर्णावतंस' ।आदि पदों की देखा-देखी से सभी लोग ऐसे ही प्रयोग न किया करें क्योंकि महाकवि लोग भी, किसी

इत्यादौ क्रियाविशेषणत्वेऽपि विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धौ 'गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं क्वचित्प्रयोगः कार्यः'—इति न युक्तम्। युक्तत्वे वा,

चरणत्रपरित्राणरहिताभ्यामपि द्रुतम्।
पादाभ्यां दूरमध्वानं व्रजन्नेव न खिद्यते ॥ २६३ ॥

इत्युदाहार्यमिति—

('निर्हेतुत्व' का समाधान)

(७९) ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता।

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुंक्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ २६४ ॥

विशेषाभिप्राय की विवक्षा से, भले ही 'कर्णावतंस' आदि पद प्रयुक्त कर दें, ऐसा नहीं कि मनमाना 'जघनकाञ्ची' आदि अपुष्ट अथवा पुनरुक्त पदों का प्रयोग किया करते हैं अथवा करें भी तो कोई दोष न हो। इसीलिये ऐसी रचना अर्थात्—

'उसने विशदाक्षरयुक्त मधुर वाणी बोली, आदि में, जहाँ प्राचीन आलंकारिक वामन ने 'उक्तार्थपदता' दोष का परिहार इस दृष्टि से किया है कि 'गतार्थ रहने पर विशेष्य का प्रयोग भले ही न हो किन्तु यदि उसके लिये विशेषण प्रयुक्त किये जांय तो उसका प्रयोग कहीं किया भी जाय तो ठीक है', वस्तुतः बात यह है कि 'अपुष्टत्व' अथवा 'पौनरुक्त्य' दोष हटाया नहीं जा सकता क्योंकि जब कवि-विवक्षित सभी अभिप्राय क्रियाविशेषण के प्रयोग में भी अर्थात् 'जगाद मधुरं विद्वान् विशदाक्षरशालि च' इस प्रकार प्रतिपादन में भी (जिसमें दोष की सम्भावना ही नहीं) स्पष्ट झलक उठें, तो 'उवाच मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम्' इस अपुष्ट पदयुक्त रचना के प्रति क्या आग्रह! वस्तुतः 'किसी विशेष्य के गतार्थ रहने पर भी उसे विशेषण से युक्त करने के लिये उसके प्रयोग का औचित्य वहां ही है जहां विना ऐसा किये (विना विशेष्य का प्रयोग किये), विशेषण प्रयोग के असंभव हो जाने से, विवक्षित अर्थ की ही प्रतीति न हो रही हो जैसे कि यहां—

'यह व्यक्ति ऐसा है जो जूते की सुरक्षा से शून्य भी पैरों से, चाहे कितनी दूर और कितना शीघ्र भी क्यों न हो, चलते दुःख नहीं उठाया करता।' (जहां 'पादाभ्याम्' इस गतार्थ भी विशेष्य के प्रयोग की आवश्यकता है क्योंकि बिना इसके 'चरणत्रपरित्राणराहित्य' रूप विशेषण से विवक्षित अर्थ की संगति नहीं बैठती। 'चरणत्रपरित्राणराहित्य' को क्रिया विशेषण तो बनाया नहीं जा सकता क्योंकि 'चरणत्र' (जूते के द्वारा) 'परित्राण' (संरक्षण) की आवश्यकता चलने की क्रिया के लिये नहीं अपितु पैरों के ही लिये हुआ करती है)

'निर्हेतुत्व' दोष वहां नहीं हुआ करता, जहां हेतुरूप से अवस्थित कोई वस्तु प्रसिद्ध वस्तु हुआ करती है।

जैसे इस सूक्ति अर्थात् 'सुन्दरता, जो कि यदि चन्द्रमा के साथ रहे तो कमल की विशेषता (सौरभ आदि) नहीं पा सके और यदि कमल के साथ रहे तो चन्द्रमा की विशेषता (ज्योत्स्ना आदि) न पा सके, पार्वती के मुख में रहती हुई, चञ्चल होने पर भी, दोनों (चन्द्रमा और कमल) की द्विविध सुषमा से सुशोभित होती हुई एक अपूर्व संतोष पाने लगी।'

में, सुन्दरता के लिये, पद्मगुण और चन्द्रगुण के उपभोगाभाव (न भुङ्क्ते) के किसी हेतु के अभिधान के न होने में 'निर्हेतुत्व' की आशंका नहीं, क्योंकि (यहां हेतुरूप से

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति 'न भुङ्क्ते' इति हेतुं नापेक्षते ।

(पद-दोष का यथास्थान समाधान)

(८०) (अ)नुकरणे तु सर्वेषाम् ॥

सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम् ।

यथा—

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादिकथयत्ययम् ।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥ २६५ ॥

(वक्त्रादिवैशिष्ट्य में दोष के औपचारिक गुणत्व अथवा अकिञ्चित्करत्व की संभावना)

(८१) वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ ॥५२॥

(वक्तृ-बोद्धव्य-व्यङ्ग्यार्थ-वैशिष्ट्य से 'कष्टत्वादि' की गुणरूपता)

वक्तृ-प्रतिपाद्य-व्यङ्ग्य-वाच्य-प्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद्-

---

उपयुक्त) रात में कमल के संकोच और दिन में चन्द्रमा की निष्प्रभता-दोनों ऐसे हैं जो लोकप्रसिद्ध है (और इसलिये जिनका उपादान ही अकिञ्चित्कर है) ।

जितने भी पदादि दोष प्रतिपादित किये जा चुके हैं उन्हें वहां दोष नहीं माना जाया करता जहां परोक्त का 'अनुकरण' अभिप्रेत रहा करता है ।

यहां 'सर्वेषाम्' से अभिप्राय है श्रुतिकटु प्रभृति पद-पदांश-वाक्यादि-गत दोषों से । उदाहरण के लिये—

'देखो, यह क्या कहता है ? यह कहता है—'मृगचक्षुषमद्राक्षम्'-'मृग के चक्षुओं के समान चक्षुओं वाली (सुन्दरी) को मैंने देखा' । देखो, यह और क्या कहता है ? यह कहता है 'गविति'-यह गौ है और 'सुत्रामाणं यज'-सुत्रामा (इन्द्र) का भजन करो ।'

(यहां यह स्पष्ट है कि 'मृगचक्षुषमद्राक्षम्' में (जहां शृङ्गारव्यञ्जक मधुर वर्ण उचित हैं) 'अद्राक्षम्' यह पद श्रुतिकटुत्व का दृष्टान्त नहीं, क्योंकि यह वक्ता की उक्ति नहीं अपि तु वक्ता द्वारा अन्य की उक्ति की अनुकृति है । इसी प्रकार 'गविति' (गो + इति) में 'च्युतसंस्कृतित्व' नहीं, क्योंकि (भले ही यहां व्याकरण के नियम अर्थात् 'न केवला (प्रत्ययरहिता) प्रकृतिः प्रयोक्तव्या'-इस सिद्धान्त का उल्लंघन हो किन्तु) यह केवल परोक्त का अनुकरण है । इसी प्रकार 'सुत्रामाणम्' में 'अप्रयुक्तत्व' इसलिये नहीं क्योंकि यहां भी परोक्तानुकरण ही अभिप्रेत है । तात्पर्य यह है कि 'पुरोवाद' अथवा 'अनुकार्य' की स्थिति में तो यहां दोष होगा ही किन्तु यहां 'अनुवाद' अथवा 'अनुकरण' है और 'अनुवाद' अथवा 'अनुकरण' में जो पद जैसा हो उसे वैसा ही रखना अनिवार्य है, इसलिये यहां दोष नहीं माना जायगा ।)

उपर्युक्त दोष ही वक्तृ-स्वभाव आदि के औचित्य के अनुसंधान में कहीं (प्रकृत रस-भावादि के उत्कर्षक होने के कारण) उपचारतः गुण मान लिये जाते हैं और कहीं ऐसा भी संभव है कि (प्रकृत रसभावादि के उत्कर्षक अथवा अपकर्षक कुछ भी न होने से) ये न तो गुण माने जांय और न दोष ही ।

वक्ता-बोद्धव्य-रसभाव-वाच्य और प्रकरण आदि (जिनका स्वरूप तृतीय उल्लास में प्रतिपादित है) के वैशिष्ट्य की शक्ति से, कहीं ऐसा भी संभव है कि (उपर्युक्त) दोष गुण रूप प्रतीत हों और कहीं यह भी संभव है कि वे न तो गुण सरीखे लगें और न दोष सरीखे ।

गुणः कचिन्न दोषो न गुणः। तत्र वैयाकरणादौ वक्तरि प्रतिपाद्ये च, रौद्रादौ च रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः। क्रमेणोदाहरणम्।

(वक्तृ-वैशिष्ट्य से 'कष्टत्व' की गुणरूपता)

दीधीङ्वेवीङ्समः कश्चिद्गुणवृद्ध्योरभाजनम्।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते॥ २६६॥

(बोद्धव्य वैशिष्ट्य से 'कष्टत्व' की गुणरूपता)

यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम्।
उपाध्यायं तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च सम्मदम्॥ २६७॥

(रसभावादि व्यङ्ग्यार्थ-वैशिष्ट्य से 'श्रुतिकटुत्व' की गुणरूपता)

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कंकण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस-
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति॥ २६८॥

तात्पर्य यह है कि यदि वक्ता वैयाकरण हो (व्याकरणशास्त्र का प्रगाढ विद्वान् हो या न हो अपने व्याकरण-विज्ञान के प्रदर्शन का इच्छुक हो) अथवा यदि बोद्धव्य (श्रोता) वैयाकरण हो अथवा यदि व्यङ्ग्यरसभाव रौद्रादि (वीर और वीभत्स)-रूप हो तब, वह दोष, जिसे 'कष्टत्व' कहते हैं, दोष नहीं, अपितु गुण माना जाया करता है। क्रमशः जैसे कि-

'यहां कोई तो ऐसा है जो 'दीधीङ्' और 'वेवीङ्' धातुओं के समान न तो गुण (पाण्डित्य, दान, शौर्य आदि) का पात्र है और न वृद्धि (समृद्धि-धनसम्पदा) का ही। (जैसे दीधीङ् धातु-दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः-में 'गुण' और वेवीङ् धातु-वेवीङ् वेतिनातुल्ये-में 'वृद्धि' का 'दीधीवेवीटाम्' १·१·६—इस सूत्र से निषेध हुआ करता है वैसे ही यहां कुछ ऐसे लोग हैं जो पाण्डित्यादिरूप गुण और धनधान्यादि रूप वृद्धि-समृद्धि के अपवाद हैं) और कोई क्विप् प्रत्ययवत् ऐसा (सर्वलुप्त) है कि उसके समीप रहते किसी दूसरे में भी न तो गुण (पाण्डित्यादि रूप) ही फटक पाता है और न वृद्धि (धनादि समृद्धि) ही फटक पाती है। (जैसे पाणिनि सूत्र 'क्ङिति च' से विहित 'क्विप्' प्रत्यय के योग में सर्वत्र गुण और वृद्धि निषिद्ध हैं वैसे ही ऐसे व्यक्ति के संयोग से अन्यत्र भी पाण्डित्यादि गुण और धन धान्यादि वृद्धि असंभव ही है।

उपर्युद्धृत सूक्ति में यद्यपि 'कष्टत्व' स्पष्ट है किन्तु यह देखते कि यहां वक्ता के वैयाकरण होने से और उसकी व्याकरणसम्बन्धी व्युत्पत्ति की प्रतीति होने से सहृदय पाठक उद्विग्न नहीं होते, इसे दोष के बदले, गुण ही मानना ठीक है।]

'जब मैंने शब्दानुशासनशास्त्रनिष्णात आप का दर्शन किया तब वस्तुतः मुझे अपने उपाध्याय की ही स्मृति हो आयी और एक अपूर्व आनन्द मिलने लगा,

[यहां भी जो 'कष्टत्व' है वह वस्तुतः, इस वचन के एक महावैयाकरण के प्रति निर्दिष्ट होने से, किसी प्रकार का उद्वेग नहीं उत्पन्न करता और इसलिये इसे दोष भी नहीं माना जा सकता।]

'यह कौन है जो अंतडियों में पिरोयी बड़ी-बड़ी खोपडियों और जांघ की हड्डियों के बने, भयङ्कर रूप से खनखनाते कंगनों और ऐसे ही दूसरे नाना प्रकार के गहनों की विकराल ध्वनि से आकाश मण्डल को प्रतिध्वनित करती हुई और पी पीकर उगले गये रक्त के कीचड़ में सने शरीर के ऊपरी भाग पर डरावने से दिखाई पड़ने वाले, लम्बे-लम्बे

(वाच्य की महिमा से 'कष्टत्व' का गुणभाव)

वाच्यवशाद्यथा—

मातङ्गाः ! किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः !
सारङ्गा ! महिषा ! मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के ।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः
सिन्धुध्वानिनि हुङ्कृते स्फुरति यत्तद्गर्जितं गर्जितम् ॥ २६६ ॥

अत्र सिंहे वाच्ये परुषाः शब्दाः ।

(प्रकरण की महिम्न से 'कष्टत्व' का गुणभाव)

प्रकरणवशाद्यथा—

रक्ताशोक ! कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः ।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छद-
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कृतः ॥ ३०० ॥

अत्र शिरोधूननेन कुपितस्य वचसि ।

(रसभावादि-राहित्य में दोष का न तो दोष होना और न गुण होना)

(शब्दचित्र में 'कष्टत्व' का दोष-गुणाभाव)

क्वचिन्नीरसे न गुणो न दोषः । यथा—

लटकते, हिलते-डुलते स्तनों के बोझ से भयङ्कर लगती हुई, बड़े घमण्ड से, विकट रूप से, दौड़ती चली आरही है।'

[यहां, भवभूतिकृत महावीरचरित-१ म अङ्क की इस सूक्ति में, 'श्रुतिकटुत्व' स्पष्ट है किन्तु वीभत्स रस के व्यङ्ग्य रहने से इसे दोष कहना तो दूर रहे गुण ही मानना पड़ता है ।]

वाच्य के औचित्य से 'कष्टत्व' के गुण भाव का उदाहरण—'अरे गजराजगण ! तुम्हारे गर्जन से क्या ! अरे शृगालों के झुण्ड ! तुम्हारे व्यर्थ के चिल्लाने से क्या ! अरे मृग समूह और महिष वृन्द ! तुम्हारे उन्मत्त प्रलाप से क्या ! अरे, जहां कोई वलिष्ठ न हो वहां तो सभी शूर हुआ करते हैं ! अरे वही गर्जन तो गर्जन है जो क्रोधोद्रेक से विकटाकार केसर-कलाप वाले, समुद्र से गम्भीर निनाद वाले, मातङ्ग-विनाशी सिंह के सामने किया जाय।'

यहां सिंह रूप वाच्य के औचित्य से सिंह-वर्णन में प्रयुक्त समासवहुल विकट वर्णों में 'कष्टत्व' कोई दोष नहीं अपि तु गुण है ।

प्रकरण के औचित्य से 'कष्टत्व' के गुणभाव का उदाहरण—

'अरे रक्ताशोक ! मुझ स्निग्धजन को छोड़, बता, वह कृशोदरी सुन्दरी किधर चली गयी ! क्या वायु वेग से कांपते सिर से तुमने यों ही कह दिया कि तुझे वह दीख न पड़ी ! अरे विना उसके पादाघात के तुम्हारे ये फूल, जिनकी पंखुड़ियां ललचाये भौंरों के झुण्ड के झुण्ड के टूट पड़ने से टूट-टूट कर गिरती-पड़ती दिखाई दे रही हैं, कहां से निकड़ पड़े ?'

यहां (विप्रलम्भ श्रृंगाररूप मुख्य रस की व्यञ्जकता की दृष्टि से अनुचित भी) जो विकट वर्ण विन्यास है वह दोष नहीं अपि तु (रक्ताशोक के) शिरोधूनन से उत्पन्न (विरही वक्ता के) क्रोध के प्रकाशक होने से गुण ही है (क्योंकि अङ्गभूत कोप के प्रकर्ष में अङ्गी रूप से अवस्थित विप्रलम्भ भी प्रकृष्ट रूप से ही व्यक्त हो रहा है) ।

रस शून्य सन्दर्भ के लिये 'दोष' न तो कोई दोष है और न गुण । जैसे कि (मयूरकृत सूर्यशतक की यह स्तव-सूक्ति):—

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥ ३०१ ॥

(श्लेषादि में 'अप्रयुक्त' तथा 'निहतार्थ' की अदोषता)

अप्रयुक्तनिहितार्थौ श्लेषादावदुष्टौ। यथा—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गंगां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥ ३०२ ॥

'उन उष्णकिरण भगवान् भास्कर की, जो अपने हृदय में भरपूर पड़ी कृपा के द्वारा प्राणिमात्र के विघ्न-विनाश में निरन्तर निरत रहा करते हैं, जो गले हुये नाकों और पैरों और हाथों वाले, घावों से घृणाजनक अङ्ग-प्रत्यङ्गों वाले, घर्घर शब्द से भरे कण्ठों वाले और पाप-संताप-संघात से भयङ्कर रूप से घिरे हुये कुष्ठग्रस्त लोगों को नीरोग कर सुन्दर बनाया करते हैं, वे किरणें, जिनकी सिद्धसंघों द्वारा सदा अर्चा-पूजा हुआ करती है, शीघ्र हम-आप सबके पाप का नाश करें।,

[जहां, कवि का हृदय एकमात्र शब्द-चित्रण में रम रहा है, जो भी 'कष्टत्व' है उसमें न तो कोई दोष है (क्योंकि जब रस विवक्षित नहीं तो अपकर्ष किसका!) और न कोई गुण (क्योंकि अनुप्रास मात्र के संपादक होने से विकट-वर्णों में गुण-व्यञ्जकता कैसी!)]

श्लेषादि-बन्ध में 'अप्रयुक्तत्व' और 'निहतार्थत्व' कोई दोष नहीं। जैसे कि—

(विष्णु-पक्ष में)

'वे 'माधव' (मा लक्ष्मी स्तस्याः धवः पतिः) लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु, 'येन अनः ध्वस्तम्' जो शकट (शकटासुर) का विध्वंस कर चुके हैं, 'येन अभवेन 'बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतः' जो अजन्मा होते हुये भी मोहिनी रूप में बलिदैत्यविजयी शरीर प्रकट कर चुके हैं, 'यश्चोद् वृत्तभुजंगहा'-जो दुराचार कालियनाग का वध कर चुके हैं, 'रवलयः' जो नामरूपात्मक जगत के अवसान हैं, 'यः अगं गां च अधारयत्'-जो (कृष्णरूप में) गोवर्धन पर्वत का उत्तोलन और (वराह-रूपमें) वसुन्धरा का संरक्षण कर चुके हैं, 'अमराः यस्य शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं नाम आहुः' जो देवों के द्वारा शशिमथन-राहु के मस्तक-निकृन्तक रूप से सदा पूजनीय रहा करते हैं, 'स्वयमन्धकक्षयकरः' जो यादवों की वास भूमि (द्वारका) के निर्माता हो चुके हैं और जो 'सर्वद' चतुर्वर्ग के प्रदाता हैं, स्वयं साक्षात् तुम्हारी रक्षा करते रहें।'

(शिव-पक्ष में)

'वे 'उमाधव' पार्वती पति भगवान् शङ्कर 'येन ध्वस्तमनोभवेन पुरा बलिजित्कायः अस्त्रीकृतः' जो मन्मथमर्दन हैं और त्रिपुरासुर-वध में भगवान् विष्णु के शरीर को अपना बाण बना चुके हैं, 'यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयः' जो भयङ्कर भुजङ्गों को हार और वलय रूप से धारण किया करते हैं, 'यश्च गङ्गामधारयत्' जो (गंगावतरण में) मस्तक पर भगवती भागीरथी को रख चुके हैं, 'यस्य शिरः शशिमत्' जो सिर पर चन्द्रकला को भूषण रूप से बैठाये रहा करते हैं, 'यस्य च नाम अमरा हर इत्याहुः' जो देवों द्वारा हर इस नाम से निरन्तर पूजे जाया करते हैं, 'अन्धकक्षयकरः' जो अन्धकासुर के हन्ता हैं और 'सर्वदः' अभ्युदय और निःश्रेयस सब के प्रदाता है स्वयं साक्षात् तुम्हारा कल्याण करते रहें।,

अत्र माधवपक्षे शशिमदन्धकक्षयशब्दावप्रयुक्तनिहतार्थौ।

('अश्लीलत्व' का यथा सम्भव गुणभाव)

अश्लीलं क्वचिद्गुणः। यथा सुरतारम्भगोष्ठ्याम्,
'द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु'

इति कामशास्त्रस्थितौ—

(वाक्यगत व्रीडाव्यञ्जक अश्लीलत्व की गुणरूपता)

करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते॥ ३०३॥

(वाक्यगत जुगुप्साव्यञ्जक 'अश्लीलत्व' की गुणरूपता)

शमकथासु—

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते॥ ३०४॥

(वाक्यगत अमङ्गलव्यञ्जक 'अश्लीलत्व' की गुणरूपता)

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।

उपर्युक्त सूक्ति में माधव (विष्णु) पक्ष में 'शशिमत्' पद, जो कि 'राहु' रूप अर्थ में 'अप्रयुक्तत्व' दोष-ग्रस्त है और 'अन्धकक्षय' पद, जिसमें यादव-'वासभूमि' रूप अर्थ की दृष्टि से 'निहतार्थत्व' है वस्तुतः इसलिये दुष्ट नहीं माने जाया करते क्योंकि विना इनके यहां श्लेष का निर्वाह सम्भव नहीं।

'अश्लीलत्व' भी स्थान-विशेष में गुण ही है जैसे कि रतिक्रीडा-विषयक वार्तालाप में, क्योंकि कामशास्त्र की मर्यादा है कि 'रहस्य-गोपनीय-कामवार्ता द्व्यर्थक पदों द्वारा सूचित की जानी चाहिये'। उदाहरण के लिये—

'वीर पुरुष का वीरध्वज, गजघटा के शुण्डादण्डों से विलोडित तुमुल शत्रु-सेना के बीच पहुंच कर, चारों ओर फहराते हुये, कितना सुन्दर लग रहा है!,

[यहां व्रीडा व्यञ्जक 'अश्लीलत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहां यह अभिप्राय प्रतिपादित हो रहा है—'कामी पुरुष का लिङ्ग 'करिहस्त'–योनिशैथिल्यापादक अङ्गुलि प्रयोग से विलोडित रमणी के मदन-मन्दिर (योनिदेश) में पहुंच कर रति लीला करते हुये विराजमान है।' किन्तु यहां सुरतगोष्ठी की वार्ता होने से और काम विषयक व्युत्पत्ति के प्रकाशन किये जाने से इसे गुण ही माना जाता है।]

इसी प्रकार शम-कथा (वैराग्यजनक वार्तालाप) में भी 'अश्लीलत्व' गुण रूप से रहा करता है जैसे कि—

'केवल कीड़े को छोड़ कर भला ऐसा और कौन है जो उलटे मरे पड़े फूले हुये मेंढक के पेट के समान दीख पड़ने वाले, रजः स्राव से भरे नारी के योनि रूप फोड़े में आसक्त होना चाहे।,

[यहां वैराग्य-जनक घृणा के अनुभव के लिये जो जुगुप्साव्यञ्जक वाक्य है उसमें 'अश्लीलत्व' दोष नहीं अपि तु गुण है]

अथवा जैसे कि—

'अब, जब कि शत्रुओं (कौरवों) का कलह शान्त कर दिया जायगा, शत्रुता की आग बुझाये पाण्डव तो कृष्ण के साथ आनन्द करें और अनुचर-परिचर-समेत कुरु-पुत्रगण (दुर्योधन आदि) प्रजाजन को अनुरक्त और वशंवद बनाये, पारस्परिक वैर-विरोध दूर

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥ ३०५ ॥

अत्र भाव्यमङ्गलसूचकम् ।

('संदिग्धत्व' (वाक्यगत) की गुणरूपता)

सन्दिग्धमपि वाच्यमहिम्ना क्वचिन्नियतार्थप्रतीतिकृत्त्वेन व्याजस्तुतिपर्यवसायित्वे गुणः यथा—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ! ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति समभावयोः सदनम् ॥ ३०६ ॥

('अप्रतीतत्व' का गुणभाव)

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीतत्वं गुणः ।

यथा—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।

हटाये स्वस्थ हो जांय ।' यहां (वेणीसंहार १ म अङ्क की इस सूक्ति में) जो 'अश्लीलत्व' है (अर्थात् 'रक्तप्रसाधितभुवः' कट-मर कर भूतल को लोहूलुहान किये, 'क्षतविग्रहाः' टुकड़े-टुकड़े हुये अंग प्रत्यङ्ग वाले सभृत्य कौरवगण 'स्वस्थाः भवन्तु' मर जायेंगे—इस रूप का वाक्यार्थ) वह दोष नहीं अपि तु भावी कौरवगण-सम्बन्धी अमङ्गलाशासन के सूचक होने से गुण है ।

'संदिग्धत्व' भी कहीं तब गुण ही हो जाया करता है जब उसका अन्त वहां हुआ करता है जहां वाच्य (वर्णनीय विषय) की शक्ति से प्रकृत अर्थ के प्रत्यायन के साथ २ व्याजस्तुति हुआ करती है । जैसे कि—

'महाराज ! (मुझे क्या चाहिये) मेरा तो सदन (घर) अब राजभवन बन रहा है । आपका राजभवन यदि 'पृथु+कार्त स्वर+पात्र' है (बड़े बड़े स्वर्णपात्रों से भरपूर है) तो मेरा भी 'पृथुक+आर्तस्वर+पात्र' है (भूख प्यास के मारे चिल्लाते-विलविलाते बच्चों से भरा है), आपका राजभवन जैसे 'भूषित-निःशेष+परिजन' है (आभूषणों से लदे अनुचर-परिचरों से व्याप्त है) वैसे ही मेरा भी भवन 'भू+उषित+निःशेष+परिजन' (भूमि पर ही लेटने वाले बाल-बच्चों आदि से व्याप्त) है । और इतना ही क्यों ? आपका राजभवन यदि 'विलसत्करेणु-गहन' है (सुन्दर सुन्दर हाथी-हथिनियों से भरा है) तो मेरा भी भवन 'विलसत्क-रेणु-गहन' ही है (विलों में डेरा-डण्डा डाले चूहों की धूल से धूसर है) ।

[यहां 'पृथुकार्तस्वरपात्र' आदि विशेषण-पद संदिग्ध हैं क्योंकि यहां क्या 'पृथूनि कार्तस्वरस्य पात्राणि यत्र तत्' आदि अर्थ लिया जाय या 'पृथुकाना मार्तस्वरस्य पात्रम्' आदि अर्थ लिया जाय—यह संदेह बना हुआ है । किन्तु तब भी यहां का 'संदिग्धत्व' दोष के बदले गुण ही है क्योंकि इसके द्वारा अन्ततोगत्वा प्रकृत नृप की ही व्याजस्तुति हो रही है जिससे कविगत नृपविषयक रतिभाव ही व्यक्त हो रहा है ।]

'अप्रतीतत्व' भी तब गुण ही हुआ करता है जब कि वक्ता और श्रोता दोनों में से किसी में भी अभिप्राय की अप्रतीति की संभावना नहीं रहा करती । जैसे कि—

'यह मोहान्ध (दुर्योधन) भला उन परात्पर भगवान् कृष्ण को कैसे जान सके जिन्हें चिदानन्दैकतान, निर्विकल्पयोगनिरत आत्मसाक्षात्कार से मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार का नाश कर चुकनेवाले और एकमात्र सत्त्वनिष्ठ योगीजन तमोगुण और रजोगुण से सर्वदा अस्पृष्ट रूप में, अपनी नित्यविभूति में विराजमान, देखा करते हैं ।'

यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥ ३०७ ॥

स्वयं वा परामर्शे यथा—

षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा
हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः ।
अविचलितमनोभिः साधकैर्मृग्यमाणः
स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः ॥ ३०८ ॥

('ग्राम्यत्व' की गुणरूपता)

अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः ।

यथा—

फुल्लुक्करं कलमकूरणिहं वहन्ति
जे सिन्धुवारविडवा मह वल्लहा दे ।
जे गालिदस्स महिसीदहिणो सरिच्छा
दे किं च मुद्धविअइल्लपसूणपुञ्जा ॥ ३०६ ॥

(पुष्पोत्करं कलमभक्तनिभं वहन्ति
ये सिन्धुवारविटपा मम वल्लभास्ते ।
ये गालितस्य महिषीदध्नः सदृक्षा-
स्ते किञ्च मुग्ध विचकिलप्रसूनपुंजाः ॥ ३०६ ॥)

[यहां (वेणीसंहार १ म अङ्क की इस सूक्ति में) 'निर्विकल्प' आदि पद योगशास्त्र के पारिभाषिक पद होने से सर्वसाधारण के लिये अप्रतीत हैं किन्तु भीम और सहदेव के लिये जो कि यहां वक्ता और श्रोता हैं और योगशास्त्रमर्मज्ञ हैं, इनमें 'अप्रतीतत्व' कहां ! और इसी लिये सहृदय सामाजिक भी, साधारणीकरण की महिमा से, यहां रस-प्रतीति किया ही करते हैं ।]

इसी प्रकार वक्ता के 'स्वयं परामर्श'–'तत्त्वपर्यालोचन' में भी 'अप्रतीतत्व' दोष के बदले, गुण ही हुआ करता है । जैसे कि—

'वही ज्ञान, इच्छा और कृति-शक्ति से खचित 'शक्तिनाथ'–'पार्वतीपति महादेव' सबसे बड़े, सर्वत्र विराजमान हैं जो षोडशनाडी–चक्र (इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, अपराजिता, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुसा, कुहू, शङ्खिनी, तालुजिह्वा, इभजिह्वा, विजया, कामदा, अमृता, और बहुला–इन सोलह नाडिओं के मण्डल से बने मणिपूर नामक चक्र) के मध्य में आत्मतत्त्व रूप से अवस्थित हैं, जिनका ज्योतिर्मयस्वरूप हृदय में निरन्तर विद्यमान है, जो इस रहस्य के जानने वालों के लिये आठों सिद्धिओं के प्रदाता हैं और जो कि विषयान्तरव्यावृत्तचित्त वाले साधकों के अनुसंधान के विषय हैं ।'

[यहां मालतीमाधव, पञ्चम अङ्क की इस सूक्ति में आगममात्र प्रसिद्ध भी नाड़ीचक्र आदि पद 'अप्रतीतत्व' दोष–ग्रस्त नहीं अपितु गुण ही हैं क्योंकि यहां योगिनी कपालकुण्डला इनके प्रतिपाद्य विषयों का स्वयं पर्यालोचन करती उपस्थित की गयी है ।]

अधमप्रकृति अर्थात् विट–चेट–विदूषक आदि नीच पात्रों की उक्तियों में 'ग्राम्यत्व' भी गुण ही हुआ करता है । जैसे कि—

'सिन्धुवार के वे पौधे मुझे बड़े सुन्दर लगते हैं जिनपर साठी चावल् के भात के समान फूलों के गुच्छे झूलते रहा करते हैं और मल्लिका के वे फूल भी लुभावने लगा करते हैं जो थक्का वांधे दही के समान दीख पड़ा करते हैं ।'

अत्र कलम-भक्त-महिषी-दधिशब्दा ग्राम्या अपि विदूषकोक्तौ।

(न्यूनपदता का गुणभाव)

न्यूनपदं क्वचिद्गुणः। यथा—

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भूतरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा।
मा मा मानद माऽति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्॥ ३१०॥

क्वचिन्न गुणो न दोषः।

यथा—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥ ३११॥

अत्र पिहितेत्यतोऽनन्तरं 'नैतद्यतः' इत्येतैर्न्यूनैः पदैर्विशेषबुद्धेरकरणान्न गुणः। उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां प्रतिपत्तिं बाधते इति न दोषः।

यहां (राजशेखर कृत कर्पूरमञ्जरी के प्रथम जवनिकान्तर की इस सूक्ति में) 'कलम-भक्त' और 'महिषीदधि' शब्द यद्यपि ग्राम्य हैं किन्तु विदूषक की उक्ति होने से इनमें 'ग्राम्यत्व' दोष नहीं अपि तु (हास्यपरिपोषकता के कारण) गुण ही हो रहा है।

'न्यूनपदता' भी कहीं-कहीं गुण ही है जैसे कि—'गाढ़ालिङ्गन से दबे स्तनयुग वाली, आनन्द के रोमाञ्चों से भरी, सान्द्र प्रणयानन्द के उद्रेक के कारण सुन्दर नितम्ब से गिरे-पड़े परिधान वाली और अस्पष्ट मुग्ध शब्दों में 'प्रियतम! बस करो, अब रहने दो' इत्यादि बोलती हुई वह सुन्दरी, पता नहीं उस समय नींद लेने लगी या सदा के लिये सोने लगी या मेरे मन में लीन होने लगी या मुझमें बिलकुल घुल-मिल गयी!'

यहां (अमरुकशतक की इस सूक्ति में) 'मा-मा' (नहीं, नहीं) इस स्थान पर 'आयासय' (तंग करो) और 'माति' (अधिक नहीं) इस स्थान पर 'पीडय' (दुख दो) ये पद जो अपेक्षित थे, नहीं हैं, किन्तु इनका यहां न होना ही अच्छा है क्योंकि तभी तो यहां नायिका के आनन्द-संमोह के आधिक्य की अभिव्यक्ति हो रही है।

कहीं ऐसा भी है कि 'न्यूनपदता' न तो गुण हो और न दोष ही। जैसे कि—

'क्या ऐसा तो नहीं कि अप्सरा होने के कारण मेरी प्यारी उर्वशी क्रोध में आकर यहीं कहीं अन्तर्हित हो गयी हो? किन्तु ऐसा भला कैसे! बहुत देर तक तो उसने कभी मुझ पर क्रोध किया नहीं! तब क्या स्वर्ग में जाने के लिये ऊपर उड़ गयी? किन्तु ऐसा कैसे! उसका मन तो निरन्तर मुझमें रमना चाहता है! भला मेरे सामने दानवों की भी क्या शक्ति जो उसे हरण कर ले जांय! किन्तु वह तो कहीं दिखायी नहीं पड़ती! अरे भगवान्! यह सब क्या हो गया! क्या होने को है!'

यहां (विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक की इस सूक्ति में) 'तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभाव-पिहिता' इसके बाद 'नैतद् यतः' (ऐसा नहीं? क्योंकि) ये पद न्यून हैं (और इसी प्रकार 'स्वर्गायोत्पतिता भवेत्' के बाद भी 'नैतद् यतः' यह पद, जो अपेक्षित है, नहीं है) किन्तु इनकी न्यूनता यहां कोई गुण नहीं क्योंकि इनके द्वारा, यहां जो वितर्क विवक्षित है उसमें, कोई विशेषता नहीं उत्पन्न की जाती। किन्तु ऐसा भी नहीं कि इन पदों की न्यूनता यहां दोष हो क्योंकि यहां जो उत्तरभाविनी प्रतीति है (अर्थात् 'दीर्घं न सा

('अधिकपदता' की गुणरूपता)

अधिकपदं क्वचिद्गुणः । यथा—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥ ३१२ ॥

अत्र 'विदन्ति'—इति द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदपरम् ।

यथा वा—

वद वद जितः स शत्रुर्न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति ।
चित्रं चित्रमरोदीद्धा हेति परं मृते पुत्रे ॥ ३१३ ॥

इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि ।

('कथितपदता' का गुणरूप से रहना)

कथितपदं क्वचिद्गुणः लाटानुप्रासे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये विहितस्यानुवाद्यत्वे च । क्रमेणोदाहरणम् ।

कुप्यति' और 'मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः' की प्रतीति) उसके द्वारा पूर्वभाविनी प्रतीति (अर्थात् 'तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता' और 'स्वर्गायोत्पतिता भवेत्' की प्रतीति) स्वयं ही (बिना 'नैतद् यतः' इस निषेधपरक पद के उपादान के ही) बाधित दिखायी दे रही है। (तात्पर्य यह है कि जब 'दीर्घं न सा कुप्यति' अथवा 'मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः' की उक्ति से ही 'तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता' अथवा 'स्वर्गायोत्पतिता भवेत्' का निषेध वाच्यवत् प्रतीत हो रहा है तब 'नैतद् यतः' (ऐसा नहीं, क्योंकि) इन पदों के न होने पर भी हानि क्या !)

कहीं-कहीं 'अधिकपदता' भी गुण है जैसे कि—

'अपने स्वार्थसाधन में लगे किंवा प्रतारण में दत्तचित्त दुष्ट लोग जो चाटुकारिता की बातें बनाया करते हैं उन्हें, ऐसा नहीं कि भले लोग न समझते हों, वे समझते सब कुछ हैं, किन्तु कुछ करते इसलिये नहीं कि प्रेम, चाहे बनावटी क्यों न हो, है तो प्रेम ही !'

यहां 'न न विदन्ति' के बाद भी जो 'विदन्ति' पद प्रयुक्त किया गया उसमें 'अधिकपदता' का दोष भी गुण ही है क्योंकि इसके द्वारा यहां 'अन्ययोग व्यवच्छेदरूप' (अर्थात् स्वयं अनुभव करने के अभिप्राय के अतिरिक्त दूसरों को कहने-सुनाने के अभिप्राय के व्यावर्त्तनरूप) एक विशेष अभिप्राय की प्रतीति हो रही है।

अथवा जैसे कि—

'बोलो, बोलो क्या वह शत्रु हारा या नहीं ? 'तुम्हारी, तुम्हारी शरण में हूँ' ऐसा बोलते हुये उसे छोड़ दिया ! किन्तु वह अपने पुत्र के मारे जाने पर 'हाय ! हाय !' करके, बुरी-बुरी तरह, रोने-बिलखने लगा ।'

यहां 'वद वद जितः स शत्रुः' में हर्ष, तव तवास्मीति' में भय, चित्रं चित्रमरोदीत्' में विस्मय और 'हा हेति' में विषाद से व्याप्त हृदय वक्ता के होने से अधिकपदता भी गुण ही है दोष नहीं।

'कथितपदता' भी कहीं-कहीं गुण ही है जैसे कि लाटानुप्रास में (क्योंकि तभी लाटानुप्रास का निर्वाह संभव है), अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि में (क्योंकि इसके द्वारा विशेषाभिप्राय की अभिव्यक्ति अभिप्रेत रहा करती है) और पूर्ववाक्य के विधेय के उत्तर वाक्य में अनुवादरूप से रहने में (क्योंकि तभी अभिमत अभिप्राय का निर्वाह हो सकता है)। क्रमणः उदाहरण ये हैं:—

(लाटानुप्रास में)

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥ ३१४ ॥

(अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि में)

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति ।
रइकिरणणुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥ ३१५ ॥

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥

(विहित के अनुवाद्यत्व में)

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ ३१६ ॥

(पतत्प्रकर्षता की गुणरूपता)

उदाहृते 'प्रागप्राप्ते'त्यादौ ॥ ३१७ ॥

('समाप्तपुनरात्तता' का अपवाद)

पतत्प्रकर्षमपि क्वचिद्गुणः । यथा—

'हे 'विभाकराकार'–सूर्य सदृश प्रतापी ! 'धरणिधर' महाराज ! आपकी कीर्ति वस्तुतः 'सितकरकररुचिरविभा' चन्द्रमा की किरणों की भांति आह्लादजनक कान्ति वाली है और आपकी 'पौरुषकमला' पराक्रमलक्ष्मी तथा 'कमला' राजलक्ष्मी दोनों ऐसी हैं जो किसी दूसरे की नहीं ।'

(यहां 'कर कर', 'विभा विभा' 'कमला कमला' इत्यादि में जो लाटानुप्रास है उसके निर्वाहकरूप से 'कथितपदता' को गुण ही कहा जायगा ।)

'गुण तो तभी गुण हैं जब उन्हें सहृदय अपने में आधान करें, उनका मर्म समझें। वे ही कमल वस्तुतः कमल हैं जिन्हें सूर्य किरण की कृपा प्राप्त है ।'

(यहां 'कमलानि कमलानि' में कथितपदता स्पष्ट है किन्तु दूसरा 'कमलानि' पद असाधारण सौन्दर्य का व्यञ्जक होने से अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है जो कि बिना 'कथितपदता' के संभव नहीं । इसलिये यहां 'कथितपदता' गुण है दोष नहीं ।)

'जितेन्द्रियता तो कारण है नम्रता का और नम्रता कारण है गुण महिमा का। गुण महिमा से ही लोगों का प्रेम प्राप्त होता है और लोगों के प्रेम प्राप्त होने से सारी संपदा प्राप्त होती है ।'

(यहां पूर्व वाक्य में जो विहित है वह उत्तर वाक्य में अनुवाद्यरूप से उपात्त है अर्थात् पूर्व वाक्य में 'जितेन्द्रियता' के कारणरूप से जिस नम्रता को विधेयरूप से रखा गया उसे ही उत्तर वाक्य में गुणमहिमा के कारण भात्र से अनुवाद्य (उद्देश्य) रूप से उपस्थित किया गया और यह सब इसलिये जिससे यहां जो 'कारणमाला' अलंकार है उसकी रूप–रेखा निखर जाय । इस प्रकार यहां 'कथितपदता' अपेक्षित होने से गुण है न कि कोई दोष ।)

'पतत्प्रकर्षता' भी कहीं–कहीं गुण ही है जैसे कि पहले उदाहरण रूप से उद्धृत 'प्रागप्राप्तनिशुम्भशांभवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्' आदि सूक्ति में (जहां चतुर्थपाद में भगवान् शङ्कर की, गुरुरूप से स्मृति में, क्रोधभाव के न होने से, मसृणपदबन्ध में जो 'पतत्प्रकर्षता' है वह गुण ही है दोष नहीं ।)

समाप्तपुनरात्तं क्वचिन्न गुणो न दोषः। यत्र न विशेषणमात्रदानार्थं पुनर्ग्रहणम् अपि तु वाक्यान्तरमेव क्रियते। यथा अत्रैव 'प्रागप्राप्तेत्यादौ'॥ ३१८॥

('अस्थानस्थसमासता' की गुणरूपता)

अपदस्थसमासं क्वचिद्गुणः। यथा—उदाहृते 'रक्ताशोकेत्यादौ'॥ ३१९॥

(गर्भितत्व की गुणरूपता)

गर्भितं तथैव यथा—

हुमि अवहत्थिअरेहो णिरङ्कुसो अह विवेअरहिओवि।
सिविणे वि तुमम्मि पुणो पत्तिहि भत्तिं ण पसुमरामि॥ ३२०॥

भवाम्यपहस्तितरेखो निरंकुशोऽथ विवेकरहितोऽपि।
स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्तिं न प्रस्मरामि॥

अत्र प्रतीहीति मध्ये दृढप्रत्ययोत्पादनाय। एवमन्यदपि लक्ष्याल्लक्ष्यम्।

(रस–दोष)

(८२) व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः॥ ६०॥

'समाप्तपुनरात्तता' भी कहीं ऐसा होता है कि न तो कोई दोष हो और न गुण ही बने और ऐसा वहां संभव है जहां पूर्वसमाप्त का पुनः ग्रहण विशेषण मात्र के देने के लिये नहीं अपि तु एक सर्वथा भिन्न वाक्य की रचना के लिये हो। जैसे कि इसी 'प्रागप्राप्तनिशुंभशांभवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्' आदि सूक्ति में (जहां 'येनानेन जगत्सु-खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते' में जो 'समाप्तपुनरात्तता' है उसमें दोष इसलिये नहीं क्योंकि यह एक भिन्न वाक्य है न कि पूर्व समाप्त विषय का, एक प्रकार का, विशेषण रूप से पुनः उपादान। किन्तु ऐसा भी नहीं कि इसे यहां गुण मान लें क्योंकि इसके द्वारा किसी विशेष अभिप्राय की प्रतीति होती नहीं दिखायी देती।)

'अस्थानस्थसमासता' भी कहीं–कहीं गुण है जैसे कि पूर्वोदाहृत 'रक्ताशोक कृशोदरी क्वनुगता' इत्यादि सूक्ति में (जहां शृङ्गार में अनुचित भी दीर्घ समास–बन्ध क्रोधोन्माद के परिपोषक होने से दोष नहीं अपि तु गुण रूप से अवस्थित है)।

'गर्भितत्व' भी कहीं–कहीं गुण ही है जैसे कि—'महाराज! चाहे कभी मैं निमर्याद हो जाऊँ, उच्छृङ्खल बन जाऊं या विवेकशून्य लगा करूं किन्तु स्वप्न में भी, ऐसा निश्चय जान रखिये, ऐसा नहीं हो सकता कि आप की भक्ति भूल बैठूं।' यहां (आनन्दवर्धनाचार्य की 'विषमबाणलीला' में काम के प्रति यौवन की इस उक्ति में) जो एक वाक्य के बीच में ही 'प्रतीहि' (जान रखिये) यह दूसरा वाक्य पड़ा है उसमें 'गर्भितत्व' तो अवश्य है किन्तु इसमें दूषकता नहीं अपि तु भूषकता है क्योंकि इसके द्वारा 'दृढ़प्रत्यायन' रूप अभिप्रायविशेष की प्रतीति हुआ करती है जो कि यहां विवक्षित हैं। इसी प्रकार अन्य दोषों की भी गुणरूपता अथवा अकिञ्चित्करता काव्य–साहित्य में यथासंभव स्वयं समझ लेनी चाहिये।

ये दोष हैं रस के दोष—

१. व्यभिचारिभावों, रसों और स्थायिभावों की स्वशब्दवाच्यता,
२. अनुभावों और विभावों की अभिव्यक्ति में कष्टकल्पना
३. प्रकृतरस के विरुद्ध विभाव–अनुभाव और व्यभिचारिभाव की वर्णना
४. अङ्गभूत रस की पुनः पुनः दीप्ति
५. अनवसर में रस–वर्णना

प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥ ६१ ॥
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥ ६२ ॥

(१. व्यभिचारिभावादि की स्वशब्दवाच्यता)

(क—व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता)

स्वशब्दोपादानं व्यभिचारिणो—
यथा—

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
सेर्ष्या जन्हुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः ॥ ३२१ ॥

अत्र व्रीडादीनाम् ।

व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कंम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे,

इत्यादि तु युक्तम् ।

---

६. अनवसर में रस-विच्छेद
७. अप्रधान (प्रतिनायक आदि रसवर्णना के उपकरणों) का अत्यन्त विस्तृतवर्णन
८. प्रधान (रस-वर्णना के मुख्य उपकरणों) का विस्मरण
९. प्रकृति-गत औचित्य के प्रतिकूल वर्णन और
१०. रस के अनुपकारक का वर्णन ।

व्यभिचारिभाव के पारिभाषिक शब्दों द्वारा व्यभिचारी भाव का वर्णन भी रस का दोष है । जैसे कि—

'भगवती पार्वती की वह दृष्टि, जो कि प्रियतम शिव के सम्मुख व्रीडा से भरी, उनके गजचर्म के परिधान के सामने करुणा से भरी, उनके आभूषणभूत सर्प के दर्शन में त्रास-युक्त, उनके सुधास्यन्दी शेखररूप चन्द्र के दर्शन में विस्मय रस में पगी, उनके जटाजूट पर बैठी जाह्नवी के आगे ईर्ष्या से कलुषित, उनके हाररूप मुण्डमाल को देखते दैन्य टपकाती और उनसे नवमिलन में प्रणयमयी रहा करती है, आप सब का कल्याण करती रहे।'

यहाँ 'व्रीडा' आदि व्यभिचारिभावों का उनके पारिभाषिक संज्ञापदों से जो अभिधान है वह एक रस-दोष है (क्योंकि इन संज्ञा-पदों से रसानुभव का सम्बन्ध कहां ! वस्तुतः वात तो यह है कि इन पारिभाषिक संज्ञा-पदों के एक के बाद एक सुनने से मन तो व्यभिचारिभावों के नाम-स्मरण में लग जाता है और इनकी जो भी अभिव्यञ्जना है वह स्फुरित नहीं हो पाती और जब यह स्फुरित न हो तो रस-प्रतीति का विघात तो हुआ ही हुआ है)। किन्तु यहीं यदि यह पाठान्तर कर दें—

'व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे ।
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ॥
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे ।
पार्वत्या नवसंगमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु वः ॥'

तो (यह रस-दोष नष्ट हो जाय और) सब ठीक हो जाय !

(ख–रस की स्वशब्दवाच्यता)

रसस्य स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(सामान्यतः रस शब्द द्वारा रस का अभिधान)

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम् ।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥ ३२२ ॥

(विशेषतः शृङ्गारादि शब्द द्वारा रस का अभिधान)

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्त-
व्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम् ।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः
शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति ॥ ३२३ ॥

(ग–स्थायिभावों की स्वशब्द–वाच्यता)

स्थायिनो यथा—

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणाम्परस्परम् ।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥ ३२४ ॥

रस का सामान्यतः अपने वाचक शब्द द्वारा अथवा विशेषतः शृंगारादि शब्द द्वारा अभिधान भी रस का दोष है। जैसे कि क्रमशः—

'काम सम्बन्धी विजय की मङ्गल लक्ष्मी किंवा कुछ–कुछ उठी अपनी भुजाओं के मूल–देश (कुच–सन्धि–देश) को दिखा देने वाली उस सुन्दरी को, आंखों में बसाते ही, जो अविच्छिन्न रस (रति–रस) उत्पन्न हुआ उसका भला वर्णन कैसे किया जाय !'

[यहां 'रस' शब्द का जो उपादान है जिसके द्वारा शृंगाररस की अभिव्यक्ति विवक्षित है वह एक दोष है क्योंकि इसके द्वारा आस्वाद का अपकर्ष प्रतीत होता है, उत्कर्ष नहीं। यहीं यदि 'कोऽप्यजायत विकार आन्तरः' कर दिया जाय तो उचित विभावादि के आक्षेप से शृंगार की अभिव्यक्ति भी हो जाय और आस्वाद का उत्कर्ष भी बना रहे।]

'देखो, यह यौवन, इस सुन्दर रूप वाली किं वा कोमल कपोलों पर (रोमाञ्च आदि के द्वारा) अभिव्यक्त रति–कामना से और भी सुन्दर लगने वाली, इस सुन्दरी को देख देख कर, अपने बाल्यभाव का उल्लंघन करता प्रतीत हो रहा है और शृंगार की सीमा में खेलने में निरन्तर लगा दिखायी दे रहा है।'

[यहां यद्यपि यह ठीक है कि शृङ्गार पद के द्वारा, संभोगोचित विभावादि के आक्षेप में, संभोग शृङ्गार अभिव्यक्त हुआ करता है किन्तु इतना तो निश्चित है कि 'शृङ्गार' पद इसके आस्वाद को बढ़ाने के बदले घटाने का ही काम करता है।]

इसी प्रकार स्थायीभावों का भी उनके पारिभाषिक शब्दों द्वारा अभिधान रस–दोष ही है जैसे कि—

संग्राम में, अस्त्र–शस्त्रों के परस्पर प्रहार से उत्पन्न झंकारों की भयङ्कर ध्वनि ने, उस शूरवीर योद्धा के हृदय में जो उत्साह भाव भरा, उसका वर्णन करना असंभव है।' इस सूक्ति में 'उत्साह' रूप वीररस के स्थायी भाव का उसके पारिभाषिक 'उत्साह'–शब्द से अभिधान अनुचित है क्योंकि इसके द्वारा वीररस की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति संभव नहीं (किन्तु यहीं यदि 'प्रमोदस्तस्य कोऽप्यभूत्' कर दिया जाय, तो यह दोष नहीं रह सकता)।

अत्रोत्साहस्य ।

(२ अनुभावादि की अभिव्यक्ति में कष्टकल्पना)

(४) कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौत-
दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः ।
लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्ति-
व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नवयौवना सा ।। ३२५ ।।

अत्रोद्दीपनालम्बनरूपाः शृङ्गारयोग्या विभावा अनुभावपर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टकल्पना ।

(ख–विभाव की कष्टसाध्य अभिव्यक्ति)

(५) परिहरति रतिं मतिं लुनीते
स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः ।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं
परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ।। ३२६ ।।

अत्र रतिपरिहारादीनामनुभावानां करुणादावपि सम्भवात्कामिनीरूपो विभावो यत्नतः प्रतिपाद्यः ।

(३ प्रकृत रस–विरुद्ध विभावादि वर्णना)

(क–प्रकृतरस–विरुद्ध विभाव तथा व्यभिचारिभाव की वर्णना)

(६) प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं
प्रिये ! शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः ।

(अनुभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति भी रस का एक दोष है जैसे कि)—

'जब कि शिशिरकिरण चन्द्रमा ने अपनी कर्पूर–धूलि सी धवल चन्द्रिका से सारी दिशाओं को धो–पोंछ कर निर्मल बना दिया, तब वह नवयुवती, अपने शिरोंशुक के एक विचित्र ढंग से संभालने में, अपने उन्नत उरोजों को दिखाती हुई' उस युवा–प्रेमी के नेत्रों की गोचर–भूमि में आविराजी (दिखाई पड़ी)।

यहां अनुभाव की जो अभिव्यक्ति है वह अविलम्ब नहीं अपि तु कष्टकल्पनापूर्वक है क्योंकि यहां संभोगशृङ्गारोचित चन्द्र–चन्द्रिका–रूप उद्दीपन विभाव और नवयुवती–रूप आलम्बन विभाव–दोनों होते हुये भी ऐसे हैं जो स्तम्भ–स्वेदादि रूप (नायकगत) अनुभाव के अनायास अभिव्यञ्जक नहीं हो पाते।

(विभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति भी रस–दोष ही है। जैसे कि)—

'यह विरह की दशा इस युवा–प्रेमी की देह की ऐसी दुर्दशा कर रही है कि न तो इसमें किसी वस्तु के लिये कोई रुचि रह गयी है, न यह किसी वस्तु को पहचान पाता है, न यह अपने को सम्हाल सकता है और निरन्तर इसका हाल बिगड़ता ही जारहा है। क्या किया जाय, कुछ पता नहीं चलता !'

यहां रति–परिहार (सर्वत्र अरुचि भाव) आदि अनुभाव ऐसे वर्णित हैं कि ये करुण आदि (अर्थात् भयानक और वीभत्स रस) में भी संभव है जिससे यहां प्रस्तुत (नायक निष्ठ विप्रलम्भ शृङ्गार) रस का कान्ता रूप आलम्बन विभाव अविलम्ब प्रतीत नहीं हो पाता (और जब ऐसा न हो तो आस्वाद–विघ्न भला कैसे न हो !)

(प्रकृत रस–विरुद्ध विभाव और व्यभिचारि भाव के वर्णन में रस-दोष, जैसे कि)

'प्रिये ! अब तो कृपा कर, प्रसन्नता दिखा, क्रोध छोड़, मेरे इस सूखते शरीर पर अपनी वचन–सुधा का छिड़काव कर दे और क्षण भर के लिये, कम से कम, अपना मुंह तो मेरे

निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे ! प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥ ३२७ ॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्तः ।

(ख–प्रकृतरस–विरुद्ध अनुभाव की वर्णना)

णिहुअरमणम्मि लोअणपहम्मि पडिए गुरुअण मज्झम्मि ।
सअलपरिहारहिअआ वणगमणं एव्व महइ वहू ॥ ३२८ ॥
(निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये ।
सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः ॥ ३२८ ॥)

अत्र सकलपरिहार–वनगमने शान्तानुभावौ । इन्धनाद्यानयनव्याजेनोपभोगार्थं वनगमनं चेत् न दोषः ।

(४ अङ्गभूतरस की पुनः पुनः दीप्ति)

(७) दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे ।

सामने रख, वह मुंह जो मेरे सुख का एक मात्र निधान है। अरी मुग्धे ! यह तो सोच कि एक बार यदि यह समयरूपी हिरन चौकड़ी भर दे तो फिर लौट कर आने का नहीं !'

यहां जो प्रकृत शृंगार रस है उसके विरुद्ध शान्तरस के उद्दीपन विभाव का अर्थात् समय की क्षण–भङ्गुरता का वर्णन किया गया है जो कि (रसास्वाद से विघ्नभूत होने से) यहां रस का विघातक है और साथ ही साथ इस उद्दीपन विभाव से प्रकाशित निर्वेद रूप (शान्तरस का स्थायी भाव) जो व्यभिचारी भाव है, वह भी यहां प्रकृत शृंगार रस का विघातक ही है।

(प्रकृत रस–विरुद्ध अनुभाव के उपादान में रस–दोष, जैसे कि)

'यह वधू अपने गुप्त प्रेमी को, अपने बड़े–बूढ़ों के बीच देखती हुई, घर का सारा काम–काज छोड़, बस, उसके साथ वनगमन करना ही चाह रही है।' यहां 'सकल–परिहार' 'सब काम–काज का छोड़ना' और 'वनगमन' 'वन में जाने के लिये तयार हो जाना' वस्तुतः शान्त रस के अनुभाव हैं जिनका उपादान यहां प्रकृत विप्रलम्भ शृङ्गार का विच्छेद ही कर रहा है न कि पोषण। किन्तु यदि यहां वर्णित वनगमन इन्धन आदि के लाने के बहाने से गुप्त प्रेमी के साथ रति–लीला के लिये माना जाय तो यहां यह रस–दोष–प्रकार नहीं रह सकता।

अङ्गभूत रस–भावादि का अविच्छिन्न रूप से प्रकाशन भी आस्वाद–वैरस्य का ही कारण है जैसा कि 'कुमारसम्भव' में, रतिविलाप–प्रसङ्ग में, स्पष्ट प्रतीत होता है।

टिप्पणी—महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव (४ र्थ सर्ग) में वर्णित रतिविलाप में रस–ध्वनि–दार्शनिकों को जो दोष दिखायी दिया करता है वह दोष है अङ्गभूत रस की अभिव्यक्ति की अविच्छिन्न धारावाहिकता का दोष। आनन्दवर्धनाचार्य की उक्ति है—

'पुनश्चायमन्यो रसभङ्ग हेतुरवधारणीयो यत्
परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनः पुन्येन दीपनम् ।
उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्धपरिपोषः पुनः
पुनः परामृश्यमाणः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते ॥

(ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत–कारिका १९ की वृत्ति)

जिसे अभिनवगुप्ताचार्य ने कालिदास के कुमारसम्भव के रतिविलाप के दृष्टान्त पर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(५ अनवसर में रस-वर्णना)

(८) अकाण्डे प्रथनं यथा-वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम् ।

(६ अनवसर में रस-विच्छेद)

(९) अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तौ ।

'ननु कालिदासः परिपोषंगतस्यापि करुणस्य रतिविलापेषु पौनः पुन्येन दीपनमकार्षीत्, तत्कोऽयं रसविरोधिनां परिहारनिर्बन्ध इत्याशङ्क्याह-पूर्वे (विश्रृङ्खलगिर) इति-न हि वसिष्ठादिभिः कथञ्चिद् यदि स्मृतिमार्गस्त्यक्तस्तद्वयमपि तथा त्यजामः।

(ध्वन्यालोकलोचन पृ० ३६५ चौखम्बा)

यहां आचार्य मम्मट ने रसध्वनि-तत्त्वज्ञानियों की इसी मान्यता का पुष्टीकरण किया है। किन्तु जहां आचार्य अभिनवगुप्त कालिदास के महाकवि होने के कारण उनकी रतिविलाप-वर्णना के इस दोष का यथा कथञ्चित् परिहार करना चाहते हैं वहां आचार्य मम्मट इसे स्पष्टतया रस-दोष मान लेते हैं।

अनुवाद—**विना अवसर के रस-विस्तार भी एक प्रकार का रस का विघातक ही है जैसे कि 'वेणीसंहार' के द्वितीय अङ्क में, जहां बड़े-बड़े वीरों (भीष्म आदि) के विनाश का प्रसङ्ग है, भानुमती और दुर्योधन का शृङ्गार-वर्णन किया जाना।**

टिप्पणी—आचार्य आनन्दवर्धन ने इस रस दोष-प्रकार का उल्लेख इस प्रकार किया है—

'अयं चापरो रसभङ्गहेतुरवगन्तव्यो यत्······अकाण्ड एव प्रकाशनं (रसस्य) अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृत्तविविधवीरसंक्षये कल्पसंक्षयकल्पे संग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृंगारकथायामवतारवर्णने । न चैवं विधे विषये दैवव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारो यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्तिनिबन्धनं युक्तम् ।,

ध्वन्यालोक-तृतीयोद्योत, पृ० ३६३ (चौखम्बा)

जिसमें आचार्य अभिनवगुप्त ने वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क का भी आक्षेप देखा है जैसा कि उनकी इस उक्ति से स्पष्ट है—

'अपि तावदिति शब्दाभ्यां दुर्योधनादेस्तद्वर्णनं दूरापास्तमिति वेणीसंहारे द्वितीयाङ्कमेवोदाहरणत्वेन ध्वनति । (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३६३ चौखम्बा)

यहां आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्ताचार्य की मान्यता का ही स्पष्टीकरण किया है।

अनुवाद—**विना अवसर के रस का विच्छेद कर देना भी एक प्रकार का रस-दोष है जैसे कि (भवभूति कृत) महावीर चरित के द्वितीय अङ्क में जहां राम और परशुराम का युद्धोत्साह अविच्छिन्न रूप से अभिव्यक्त हो रहा है, राम का 'कङ्कणमोचन' (विवाह के दशम दिन के उत्सव) के लिये जा रहा हूं'—कह कर युद्धोत्साह से विरत हो जाना (जिससे रामगत वीररस के आस्वाद में विघ्न पड़ गया)।**

टिप्पणी—आनन्दवर्धनाचार्य ने 'अनवसर में रस-विच्छेद' को 'अकाण्ड एक विच्छित्तिः' (ध्वन्यालोक ३.१९) कहा है और इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'तत्रानवसरे विरामो रसस्य यथा नायकस्य कस्यचित् स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित् परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे विदिते च परस्परानुरागे समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने'

यहां आचार्य मम्मट ने इसी 'अकाण्ड-विच्छित्ति' रूप रस-दोष को महावीरचरितनाटक के द्वितीय अङ्क के दृष्टान्त पर स्पष्ट किया है।

(७ अङ्ग अथवा अप्रधान (प्रतिनायक आदि) का अतिविस्तृत वर्णन)

(१०) अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य।

(८ अङ्गी अर्थात् प्रधान (नायकादि) का अपरामर्श)

(११) अङ्गिनोऽननुसंधानम् यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः।

(९ प्रकृतिगत औचित्य के प्रतिकूल वर्णन)

(१२) प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्रशृङ्गारशान्तरस-

अनुवाद—अङ्ग अथवा अप्रधान (प्रतिनायक आदि रस-वर्णना के उपकरणों) का आवश्यकता से अधिक विस्तार से वर्णन करना भी रस-दोष है जैसे कि 'हयग्रीववध' महाकाव्य में (प्रधान नायक विष्णु के बदले) हयग्रीव का (प्रतिनायक का) अत्यधिक विस्तृत वर्णन।

टिप्पणी—काश्मीरक मेण्ठकृत 'हयग्रीववध' आजकल उपलब्ध नहीं, किन्तु प्राचीन आलङ्कारिक इससे पूर्णतया परिचित हैं। मम्मट ने इस महाकाव्य को अन्यत्र भी उद्धृत किया है। इस महाकाव्य में अप्रधान (प्रतिनायक) वर्णन रूप रस-दोष भी मम्मट ने ही दिखाया है। 'काव्यप्रकाश' की 'सारबोधिनी' व्याख्या के रचयिता ने 'हयग्रीववध' सम्बन्धी इस रस-दोष का इस प्रकार निरूपण किया है—

'हयग्रीवस्य जलकेलि-वनविहार-रतोत्सवादेर्नायकापेक्षया विस्तरेण वर्णनं हयग्रीवस्य नायकत्वमेव प्रत्याययति न प्रतिनायकत्वमिति दोषः। न च 'वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि' इत्यादिना विरोध इति वाच्यम्। यद्गुणवत्वेन रिपोर्वर्णनेन नायकोत्कर्षप्रतिपादनं तत्रैवाऽस्य तात्पर्यात् न तु बनविहारादावपि। अत एवाह-'तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः' इति।'

अनुवाद—अङ्गी अर्थात् प्रधान रूप से अवस्थित नायकादि को (अवान्तर विषयों के वर्णन में) भूल सा जाना भी रस-दोष ही है जैसे कि 'रत्नावली' के चतुर्थ अङ्क में बाभ्रव्य (महाराज सिंहलेश्वर के कञ्चुकी) के आगमन से सागरिका (मुख्यनायिका रत्नावली) का (नायक वत्सराज द्वारा) एक प्रकार से विस्मरण (जिससे नाटिका का प्रतिपाद्य शृङ्गार रस विच्छिन्नप्राय सा हो गया है)।

टिप्पणी—आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध की रसव्यञ्जकता के निमित्तों में 'अङ्गी के अनुसंधान' को भी एक निमित्त माना है जैसा कि उनका स्पष्ट कथन है—

'इदं चापरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा रसस्य, यथा रत्नावल्यामेव। पुनरारब्धविश्रान्ते रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च, यथा तापसवत्सराजे।'

(ध्वन्यालोक पृष्ठ ३४१ चौखम्बा)

और जिस पर अभिनवगुप्ताचार्य की यह व्याख्या है—

'रसस्येति रसाङ्गभूतस्य कस्यापीति यावत्। तापसवत्सराजे हि वासवदत्ताविषयो जीवितसर्वस्वाभिमानात्मा प्रेमबन्धस्तद्विभावाद्यौचित्यात् करुणविप्रलम्भादिभूमिका गृह्णन् समस्तेतिवृत्तव्यापी। राज्यप्रत्यापत्त्या हि सचिवनीतिमहिमोपनतया तदङ्गभूतपद्मावतीलाभानुगतयाऽनुप्राण्यमानरूपा परमामभिलषणीयतमतां प्राप्ता वासवदत्ताधिगतिरेव तत्र फलम्। निर्वहणे हि 'प्राप्ता देवी भूतधात्री च भूयः संबन्धोऽभूद्दर्शकेन' इत्येवं देवीलाभ प्राधान्यं निर्वाहितम्।···तेन स एव वासवदत्ताविषयः प्रेमबन्धः कथावशादाशङ्क्यमानविच्छेदोऽप्यनुसंहितः।'

यहां आचार्य मम्मट ने प्रबन्ध की रस-व्यञ्जकता की इस विशेषता के विपर्यय को ही अङ्गी के विस्मरणरूप (अङ्गिनोऽननुसंधानम्) रस-दोष के रूप में मान लिया है।

अनुवाद—(जिस प्रकृति के लिये जो वर्णन अनुचित हो, उसका वहां वर्णन प्रकृति-

प्रधाना धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरप्रशान्ताः, उत्तमाधममध्यमाश्च। रतिहासशोकाद्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि। किन्तु रतिः सम्भोग-श्रृङ्गाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्।

क्रोधं प्रभो! संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥ ३२९॥

इत्युक्तवद् भ्रुकुट्यादिविकारवर्जितः क्रोधः सद्यः फलदः स्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लङ्घनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव। अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम्। अधिकं तु निबध्यमानमसत्यप्रतिभासनं नायकवद्वर्तितव्यम् न प्रतिनायकवद् इत्युपदेशेन पर्यवस्येत्।

विपर्यय रूप रस-दोष है) तात्पर्य यह है कि प्रकृति (अर्थात् नायकादि) के तीन प्रकार हुआ करते हैं—दिव्य (देवतारूप इन्द्र आदि), अदिव्य (मनुष्यरूप वत्सराज आदि) और दिव्यादिव्य (मनुष्यरूप से अवतीर्ण देवभूत रामकृष्णादि)। और इन तीनों के धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त ये चार भेद हैं जो कि वस्तुतः वीररस-प्रधान, रौद्ररस-प्रधान, शृंगाररस-प्रधान और शान्तरस-प्रधान-इन चार प्रबन्धनायक-भेदों से संबन्ध रखते हैं। पुनः यह द्वादशविध प्रकृति-भेद (गुणोत्कर्ष-गुणापकर्ष और गुणोत्कर्षापकर्ष के कारण) उत्तम, मध्यम और अधम रूप से ३६ प्रकार का है। इस प्रकृतिगत औचित्य के निर्वाह के लिये आवश्यक यह है कि रति, हास, शोक और अद्भुत आदि का वर्णन दिव्य प्रकृतिओं (इन्द्रादि नायकों) के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार किया जाना चाहिये जिस प्रकार अदिव्य किंतु उत्तम (मनुष्यरूप वत्सराज आदि) प्रकृति के सम्बन्ध में किया जाया करता है। किन्तु दिव्यप्रकृतिओं (देवरूप नायकों) में भी जो उत्तम दिव्य प्रकृतिभेद है, उसके प्रसङ्ग में, संभोग श्रृङ्गार रूप रति का वर्णन कदापि नहीं किया जाना चाहिये। क्यों? इसलिये कि उत्तमदिव्य-प्रकृतिगत संभोग का वर्णन उतना ही अनुचित है जितना कि अपने माता-पिता के संभोग का वर्णन!

साथ ही साथ, क्रोधादि का भी वर्णन जैसा कि (कालिदास के कुमारसंभव, ३ य सर्ग की) इस सूक्ति अर्थात्—

'जैसे ही आकाश में देववृन्द की यह वाणी कि 'देवाधिदेव! क्रोध अब शान्त कीजिये' सुन पड़ी वैसे ही महादेव की नेत्र-वह्नि ने मदन को जलाकर राख कर दिया।'

में स्पष्ट है, जहां (मनुष्यों की भांति) भ्रुकुटि-भंग आदि विकारों की छूआछूत भी नहीं और जिसका परिणाम अविलम्ब अनिवार्यरूप से प्रतीत हो रहा है, दिव्य प्रकृतिओं के प्रसङ्ग में किया जा सकता है। इसी प्रकार दिव्य प्रकृतियों के संबन्ध में स्वर्गगमन, पाताल गमन समुद्रलंघनादि रूप अतिमानुष उत्साह का भी वर्णन उचित ही है। किन्तु इनका वर्णन यदि अदिव्य (मानवरूप) प्रकृतियों के सम्बन्ध में किया जाय तो यह सब उसी हद तक किया जाना चाहिये जिस हद तक उनका अवदान (भूतपूर्व चरित अथवा वृत्त) जा सके अथवा जिस हद तक (उनके सम्बन्ध की) लोक-प्रसिद्धि जा सके अथवा जिसमें वस्तुतः औचित्य हो। अब यदि इस मर्यादा के विरुद्ध अदिव्य प्रकृति-वर्णन में अतिशयोक्ति की गयी तो परिणाम यही होगा कि जो कुछ अतिमानुष-वर्णन है वह असत्य प्रतीत होगा और जब यह सब असत्य प्रतीत हो जायगा तब यह उपदेश कि 'नायक के समान आचरण करना चाहिये न कि प्रतिनायक के समान' (जो कि सरस काव्य का परम प्रयोजन है) कैसे मिल सकेगा!

दिव्यादिव्येषु उभयथाऽपि। एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिव धीरोदात्तादीनामप्यन्यथावर्णनं विपर्ययः। तत्रभवन् भगवन्नित्युत्तमेन न अधमेन मुनिप्रभृतौ न राजादौ, भट्टारकेति नोत्तमेन राजादौ प्रकृतिविपर्ययापत्तेर्वाच्यम्। एवं देशकालवयोजात्यादीनां वेषव्यवहारादिकमुचितमेवोपनिबद्धव्यम्।

इसी प्रकार जो दिव्यादिव्य प्रकृति भेद है उसके संबन्ध में इन भावों की वर्णना दिव्य और अदिव्य, दोनों प्रकृतियों के औचित्य का निर्वाह करते हुये की जानी चाहिये।

निष्कर्ष इसका यह निकला कि जिस प्रकार दिव्यादिप्रकृतिभेदगत औचित्य के विरुद्ध वर्णन में प्रकृति-विपर्यय रूप दोष उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार इनके धीरोदात्तादि रूप अवान्तर भेदों के सम्बन्ध में भी औचित्य-विरुद्ध वर्णन प्रकृति-विपर्यय ही है, अन्य कुछ नहीं। एक प्रकृति-विपर्यय यह भी है कि आमन्त्रण (सम्बोधन) सम्बन्धी औचित्य का उल्लंघन किया जाय। इसीलिये आमन्त्रण के इस सम्प्रदाय की रक्षा में उत्तम प्रकृति के द्वारा ही न कि अधम प्रकृति के द्वारा भी, मुनि प्रभृति के ही सम्बन्ध में, न कि राजा आदि के सम्बन्ध में भी, 'तत्र भवन्' अथवा 'भगवन्' आदि सम्बोधन प्रयुक्त किये जाने चाहियें और यदि 'भट्टारक'-यह सम्बोधन प्रयुक्त किया जाय तो इसका भी राजा आदि के सम्बन्ध में उत्तम प्रकृति के द्वारा प्रयोग अनुचित ही मानना चाहिये।

प्रकृति-विपर्यय और प्रकार का भी है और इसलिये जिस देश, जिस काल, जिस अवस्था और जिस जाति के जिस किसी वेष-आचार-व्यवहार आदि का वर्णन किया जाय वह उनके औचित्य के अनुरूप ही किया जाना चाहियें।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने 'प्रकृति-विपर्यय' रूप रसदोष को आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा निर्दिष्ट प्रबन्ध सम्बन्धी रस-व्यञ्जकता के निमित्त 'भावौचित्य' के प्रतिकूल आचरण करने में माना है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक (तृतीय उद्योत) की १० वीं कारिका अर्थात्—

'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः। विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य च॥
... ... प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्॥'

की वृत्ति में भावौचित्य के प्रसङ्ग में 'प्रकृति' निरूपण (जो कि आचार्य भरत-सम्मत है) इस प्रकार किया है—

भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिर्ह्युत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी। तां यथायथमनुसृत्यासंकीर्णः स्थायीभाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग् भवति। अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य, केवलदिव्याश्रयेण वा केवलमानुषस्योत्साहादय उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति। तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादि-लक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति, तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः।

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते, तदलोकसामान्यप्रभावातिशयवर्णने किमनौचित्यं सर्वोर्वीभरणक्षमाणां क्षमाभुजामिति? नैतदस्ति। न वयं ब्रूमो यत्प्रभावातिशयवर्णनमनुचितं राज्ञाम्, किन्तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम्। दिव्यमानुष्यायां तु कथायामुभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव। यथा पाण्डवादिकथायाम्। सातवाहनादिषु तु येषु यावदवदानं श्रूयते तेषु तावन्मात्रमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते। व्यतिरिक्तं तु तेषामेवोपनिबध्यमानमनुचितम्।...

ननु यद्युत्साहादिवर्णने कथञ्चिद्दिव्यमानुष्याद्यौचित्यपरीक्षा क्रियते, तत्क्रियताम्, रत्यादौ तु तया किं प्रयोजनम्? रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः? नैवम्। तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः। तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृते श्रृंगारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता! त्रिविधं प्रकृत्यौचित्यं भारतवर्षेऽप्यस्ति

(१० रस के अनुपकारक का वर्णन)

(१३) अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनम्। यथा-कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम्। 'ईदृशा' इति। नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम्। उक्तं हि ध्वनिकृता—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥ इति ॥

श्रृंगारविषयम्।·······'तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत् पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवतादिविषयम्। न च सम्भोगश्रृंगारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते! तस्मादुत्साहवद्रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्त्तव्यम्। यत्त्वेवं विधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव।,

यहां यह स्पष्ट है कि रस-दोष-प्रसंग में 'प्रकृतिविपर्यय' रूप रसदोष-प्रकार का जो अनुसन्धान मम्मट ने किया है उसमें उनकी ध्वनिमर्मज्ञता और रसतत्त्ववेदिता वस्तुतः झलक उठी है। 'प्रकृति-विपर्यय' रूप रस-दोष के सद्भाव में, कान्तासम्मित काव्य में 'उपदेशयोग' रूप प्रयोजन भी सुरक्षित नहीं रह सकता-यह जो मम्मट का निर्देश है वह है काव्य-रहस्य-वेदी आचार्य अभिनवगुप्त की इस मान्यता अर्थात्—

'एतदुक्तं भवति—यत्र विनेयानां प्रतीतिखण्डना न जायते तादृग् वर्णनीयम्। तत्र केवलमानुषस्य एकपदे सप्तार्णवलङ्घनमसम्भाव्यमानतयाऽनृतमिति हृदये स्फुरदुपदेश्यस्य चतुर्वर्गोपायस्याप्यलीकतां बुद्धौ निवेशयति। रामादेस्तु तथाविधमपि चरितं पूर्वप्रसिद्धिपरम्परोपचितसम्प्रत्ययोपारूढमसत्यतया न चकास्ति।,

(लोचन ३३१ पृ०, चौखम्बा) का नैष्ठिक अनुवर्तन!

अनुवाद—'अनङ्ग' अर्थात् अमुख्य अथवा रस के अनुपकारक का वर्णन भी एक रस-दोष ही है, जैसे कि 'कर्पूरमञ्जरी' (प्रथमजवनिकान्तर) में नायिका (विभ्रमलेखा) द्वारा और स्वयं (नायक चण्डपाल द्वारा) किये गये वसन्त वर्णन की उपेक्षा करके चारण-वर्णित वसन्त वैभव की ही राजा (नायक चण्डपाल) द्वारा प्रशंसा (जिससे प्रकृत संभोग श्रृंगार रूप रस की अभिव्यक्ति में कोई सहायता नहीं मिलती)। यहां कारिका में 'ईदृशाः' 'इस प्रकार के' का अभिप्राय यह है कि परिगणित रस-दोष तो प्रदर्शनार्थ हैं और भी ऐसे ही अनौचित्य-मूलक रस-दोष सम्भव है जैसे कि नायिका द्वारा नायक पर पाद-प्रहार करने और नायक द्वारा नायिका पर क्रुद्ध होने आदि का वर्णन करना। 'अनौचित्य' ही रस विघातक है—इसका तो ध्वनिकार ने ही स्पष्ट प्रतिपादन कर दिया है—

'अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कौन सा कारण! और औचित्य का अनुपालन! वही तो वस्तुतः रस का परम रहस्य-वास्तविक मर्म-है,

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने रस-दोष का जो विशद विचार किया है वह आनन्दवर्धनाचार्य और आचार्य अभिनवगुप्त की प्रबन्ध-रस-ध्वनि-मीमांसा का एक समीचीन और वैज्ञानिक अध्ययन है। मम्मट के पूर्ववर्ती आलङ्कारिक रुद्रट ने भी 'विरस' नामक एक अर्थगत दोष का उल्लेख अवश्य किया है जैसा कि काव्यालङ्कार (११.१२-१४) की इन पंक्तियों अर्थात्—

'अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग् ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः ॥
तव वनवासोऽनुचितः पितृमरणशुचं विमुञ्च किं तपसा।
सफलय यौवनमेतत् सममनुरक्तेन सुतनु मया ॥

(रस-दोषों का यथास्थान अपवाद)

इदानीं क्वचिददोषा अप्येते-इत्युच्यन्ते ।

(व्यभिचारी भाव की 'स्वशब्दवाच्यता' के दोष का अपवाद)

(८३) न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित् ।

यथा—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यवर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥ ३३० ॥

अत्रौत्सुक्यशब्द इव तदनुभावो न तथा प्रतीतिकृत । अत एव 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादौ व्रीडाप्रेमाद्यनुभावानां विवलितत्वादीनामिवोत्सुकत्वानुभावस्य सहसा प्रसरणादिरूपस्य तथा प्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमिति कृतम् ।

यः सावसरोऽपि रसो निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु ।
अतिमहतीं वृद्धिमसौ तथैव वैरस्यमायाति ॥,

से स्पष्ट है किन्तु मम्मट की ध्वनिवाद-सम्मत रस-दोष-मीमांसा बहुत दूर पहुंची हुई है । यद्यपि मम्मट की रस दोष-समीक्षा में ध्वनिकार की इन कारिकाओं अर्थात्—

'विरोधिरस सम्बन्धि विभावादिपरिग्रहः । विस्तारेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् । परिपोषं गतस्यापि पौनः पुन्येन दीपनम् ॥
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥ (ध्वन्यालोक ३.१८,१९)

का आधार अवश्य प्रतीत हो रहा है किन्तु इस आधार पर 'रस-दोष' का स्वरूप निरूपण अलङ्कार शास्त्र के 'दोष-वाद' में मम्मट की एक देन है ।

अनुवाद—उपर्युक्त रस-दोषों में से कुछ ऐसे भी हैं जो कहीं-कहीं दोष नहीं माने जाया करते । इनका प्रतिपादन अब किया जा रहा है—

कहीं-कहीं व्यभिचारी भाव की स्वशब्द-वाच्यता दोष नहीं हुआ करती ।

उदाहरण के लिये—'नव-मिलन के लिये प्रियतम के पास जाने की उत्कण्ठा से शीघ्रता में पड़ी, नवोढ़ा की स्वाभाविक लज्जा से पीछे मुड़ने में भी लगी, अपने बन्धु-वधूजन के समझाने-बुझाने से आगे बढ़ती हुई, अपने पति शंकर को आगे देख भयभीत, किन्तु हंसते हुये उनके द्वारा आलिङ्गित हो कर रोमाञ्च से भरी पार्वती आप सब का कल्याण करती रहें।'

यहां (रत्नावली नाटिका के नान्दी पद में) 'औत्सुक्य' रूप व्यभिचारी भाव का उसके पारिभाषिक शब्द द्वारा अभिधान तो अवश्य है किन्तु इसमें 'स्वशब्दवाच्यता' का दोष नहीं क्योंकि यहां जो इस व्यभिचारीभाव का 'त्वरा' (शीघ्र गमन) रूप अनुभाव है वह ऐसा असाधारण अनुभाव नहीं जिसके द्वारा उत्सुकतारूप व्यभिचारी भाव ही अभिव्यक्त हो सके (क्योंकि 'त्वरा' रूप अनुभाव तो भय का भी व्यञ्जक हो सकता है !) और इसी लिये साक्षात् 'औत्सुक्य' रूप पारिभाषिक व्यभिचारिभाव-बोधक पद का उपादान करना पड़ा है । एक और प्रसङ्ग के देखने से भी यही सिद्ध होता है कि कहीं-कहीं व्यभिचारिभाव का स्वशब्दोपादान आवश्यक हुआ करता है, जैसे कि—

'दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णं क्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥'

इस (चतुर्थ उल्लास में, पूर्वोदाहृत महाकवि अमरुक की) सूक्ति में, जहां 'व्रीडा' 'प्रेम'

(विरुद्ध विभावादि ग्रहण की यथास्थान अदोषता)

(८४) सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥ ६३ ॥

(विरुद्ध व्यभिचारिभाव के उपादान की गुणरूपता)

बाध्यत्वेनोक्तिर्न परमदोषः, यावत्प्रकृतरसपरिपोषकृत् ।

यथा—

काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्—इत्यादौ ॥ ३३१ ॥

अत्र वितर्कादिषु उद्गतेष्वपि चिन्तायामेव विश्रान्तिरिति प्रकृतरसपरिपोषः ।

आदि रूप व्यभिचारिभावों का तो 'विवलन' आदि रूप असाधारण अनुभावों द्वारा अभिव्यक्त हो सकने के कारण स्वशब्दोपादान नहीं दिखायी देता, किन्तु उत्सुकता (औत्सुक्य) रूप व्यभिचारीभाव का, उसके 'त्वरा' रूप अनुभाव द्वारा निःसन्दिग्ध रूप से अभिव्यञ्जन होता न देख कर (क्योंकि 'त्वरा' द्वारा भयादि भी प्रकाशित हुआ करते हैं) साक्षात् ('दूरादुत्सुकमागते' इस रूप से) स्वशब्दोपादान द्वारा अभिधान किया गया है ।

कहीं कहीं प्रकृत रस-विरुद्ध भी रस के अङ्गभूत व्यभिचारी आदि (विभाव और अनुभाव) का उपादान तब दोष होना तो अलग रहे, गुण हो जाया करता है जब कि वह इस प्रकार से निर्दिष्ट हो कि बाधक न हो कर बाध्य हो जाय ।

प्रकृत रस के विरोधी भी व्यभिचारी भाव की यदि ऐसी वर्णना की जाय कि वह (बाधक न होकर) बाध्य रूप से प्रतीत हुआ करे तो उसे केवल दोष का अभाव ही नहीं अपि तु एक गुण कहा जायगा क्योंकि वह तो प्रकृत रस का और भी अधिक परिपोषक है । जैसे कि—'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्' आदि (चतुर्थ उल्लास में उद्धृत विक्रमोर्वशीय नाटक की सूक्ति) में, क्योंकि यहां 'वितर्क' आदि (जो कि शमभाव के व्यभिचारीभाव हैं) प्रकाशित होकर भी अन्ततोगत्वा 'चिन्ता' रूप (शृङ्गाररस के अङ्गभूत) व्यभिचारी भाव द्वारा बाधित होकर उसी में विलीन होते प्रतीत हो रहे हैं और परिणाम यह होता है कि (शान्त रस की प्रतीति तो होती नहीं, अपि तु) प्रकृत रस-वस्तुतः भावशबलता-की ही प्रतीति और भी अधिक चमत्कार पूर्ण हो उठती है ।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इस मान्यता अर्थात्—

'विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् । बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां मुक्तिरच्छला ॥'

(ध्वन्यालोक ३.२०)

का अनुसरण किया है । ध्वनिकार ने प्रकृत रस-विरुद्ध रस के अङ्गों का बाध्यत्व रूप से वर्णन वस्तुतः प्रकृतरस का परिपोष माना है जैसा कि उनकी इस उक्ति अर्थात्—

'तत्र लब्धप्रतिष्ठे तु विवक्षिते रसे विरोधिरसाङ्गानां बाध्यत्वेनोक्तावदोषो यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥,

से सिद्ध है और जैसा कि इसके अभिनवगुप्त कृत इस व्याख्यान अर्थात्—

'वितर्क औत्सुक्येन, मतिः स्मृत्या, शङ्का दैन्येन, धृतिश्चिन्तया च बाध्यते । एतच्च द्वितीयोद्योतारम्भ एवोक्तमस्माभिः—(अत्र हि वितर्कौत्सुक्ये, मतिस्मरणे, शङ्कादैन्ये धृतिचिन्तने परस्परं बाध्यबाधकभावेन द्वन्द्वशो भवन्ती, पर्यन्ते तु चिन्ताया एव प्रधानतां ददती परमास्वादस्थानम् ।) से निःसंदिग्धरूप से स्पष्ट है ।

(ध्वनिकार से मतभेद)

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥ ३३२ ॥

इत्यादौ साधारणत्वं पाण्डुतादीनामिति न विरुद्धम् ।

(प्रकृतरस-विरुद्ध विभाव की वाध्यत्वरूप से उक्ति में गुण)

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥ ३३३ ॥

इत्यत्राद्यमर्धं बाध्यत्वेनैवोक्तम् । जीवितादपि अधिकमपाङ्गभङ्गस्यास्थिरत्व-

---

अनुवाद—(ध्वनिकार ने, प्रकृतरस विरुद्ध रस के व्यभिचारी भाव आदि की वाध्य-रूप से और स्वभावतः अङ्गभावप्राप्ति रूप से उक्ति में जो रस-दोष के बदले रसपरिपोष माना है, वह तो सर्वथा युक्तियुक्त है किन्तु) इस प्रकार की सूक्ति जैसे कि—'अरी सखी ! तुम्हारा यह पीला-पीला सूखा हुआ मुंह, तुम्हारा यह सरस (प्रेममय किंवा कफ-युक्त) हृदय और तुम्हारी यह अलसायी देह-यह सब बस एक ही ओर संकेत कर रहे हैं और वह है तुम्हारे हृदय के भीतर एक असाध्य (यक्ष्मारूप) प्रेम का रोग !' इत्यादि के लिये भी यह कहना कि यहां भी प्रकृत (शृंगार) रस विरुद्ध रस (करुण) केअंग अर्थात् पाण्डुता आदि अनुभावों की 'समारोपित अङ्गभाव प्राप्ति' के कारण कोई दोष नहीं, अपि तु गुण है, ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यहां पाण्डुता, क्षामता आदि अनुभाव ऐसे नहीं जो एकान्ततः करुणरस के ही उपयुक्त हों, अपि तु ऐसे हैं, जो विप्रलम्भशृङ्गार के भी उपयुक्त हैं और जब ऐसी बात है तब इन्हें 'प्रकृतरस विरुद्ध रस का अङ्ग' क्योंकर मान लिया जाय ! और जब कि वस्तुतः ये प्रकृतरस के प्रतिकूल नहीं, अपि तु सर्वथा अनुकूल हैं, तब यहां प्रतिकूलता के समाधान का क्लेश किस काम का !

टिप्पणी—ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने 'पाण्डु क्षामं वदनम्' आदि में प्रतिकूल-विभावादि-ग्रहण रूप रस-दोष का समाधान किया है जैसा कि उनका स्पष्ट कथन है—

'समारोपितायामप्यविरोधो यथा—पाण्डुक्षाममित्यादौ ।'

(ध्वन्यालोक, ३य उद्द्योत, पृष्ठ ३६८)

और जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त का इस प्रसङ्ग में व्याख्यान है—

'समारोपितायामिति—अङ्गभावप्राप्ताविति शेषः ।
पाण्डुक्षामं वक्त्रं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः । आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥
अत्र करुणोचितो व्याधिः श्लेषभङ्ग्या स्थापितः ।'

किन्तु मम्मट का यहां जो ध्वनिकार से मतभेद है वह भी असंगत नहीं अपि तु युक्तियुक्त है क्योंकि नाट्यशास्त्र की परम्परा के अनुसार 'व्याधि' करुण रस का ही नहीं अपि तु विप्रलम्भ शृङ्गार का भी अङ्ग ही है—

'व्याध्युन्मादापस्मारजाड्यप्रसरणादिभिर्विप्रलम्भोऽभिनेतव्यः ।'

अनुवाद—(प्रकृत रस के प्रतिकूल रस के विभाव की वाध्यत्वरूप से वर्णना भी प्रकृतरस का एक परिपोष ही है, जैसे कि) इस सूक्ति अर्थात्—

'यह ठीक है कि रमणियां एक मनोमोहक वस्तु हैं और इसमें भी क्या सन्देह कि सभी वैभवविलास मनोहर हुआ करते हैं ! किन्तु यह जीवन ! यह तो सदा तरुणीकटाक्षवत् चञ्चल-अस्थिर-रहा करता है !
में, जहां पूर्वार्ध, जो कि शृंगार का विभाव है, उत्तरार्द्ध के द्वारा, जिसमें शान्त का विभाव स्पष्ट है, वाधित होकर शान्त का और भी अधिक चमत्कारपूर्वक परिपोष करता प्रतीत हो रहा है ।

मिति प्रसिद्धभङ्गुरोपमानतयोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति न पुनः शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गाप्रतिपत्तेः। न तु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः, शान्त-शृङ्गारयोर्नैरन्तर्यस्याभावात्। नापि काव्यशोभाकरणम्, रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथाभावात्।

यहां यह आशंका कि पूर्वार्धप्रतिपाद्य (मनोरम रमणी और मनोहर विलासरूप) श्रृंगार-विभाव के वाध्यरूप से अवस्थित रहने पर भी उत्तरार्धगत 'मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्ग'-रूप शृङ्गार के अनुभाव द्वारा पुनः श्रृंगार की प्रतीति के साथ शान्त के विरोध की संभावना जागरूक है' ठीक नहीं क्योंकि यहां जो 'मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्ग' रूप पद का उपादान है—और यह ठीक भी है क्योंकि जीवन की चञ्चलता से भी नारी-कटाक्ष ही वस्तुतः अधिक चञ्चल हुआ करता है—उसके द्वारा श्रृंगार की प्रतीति तो असंभव ही है क्योंकि अस्थिरता के इस लोक-प्रसिद्ध उपमान के उपादान से श्रृंगार के अङ्गभूत विभावादि का क्या सम्बन्ध! (श्रृंगार से तो इसका सम्बन्ध तब होता जब कि इसे रतिरूप स्थायीभाव के अनुभाव के रूप में प्रतिपादित किया गया होता!) यहां तो इस उपमान के द्वारा एकमात्र शान्त-रस का ही परिपोष किया जारहा है (और तब शान्त-शृङ्गार का यहां विरोध कैसा! और जब विरोध नहीं तब यहां ध्वनिकार (ध्वन्यालोक, पृष्ठ ३९९) की विरोध-परिहार सम्बन्धी कष्ट-कल्पना किस काम की!) यहां यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि श्रृंगार के अङ्गभूत विभावादि की प्रतीति होने से शृङ्गार की प्रतीति स्वाभाविक है और शान्त-शृङ्गार का विरोध भी अवश्यंभावी है तब भी यह कैसे मान लिया जाय कि इसका ध्वनिकार-सम्मत जो 'विनेयोन्मुखीकरणरूप' परिहार है (जिसका अभिप्राय यह है कि कवि ने काव्य-प्रेमियों को 'गुड़जिह्विका' न्याय से-चीनी में लपेटी कड़ुवी औषध के दृष्टान्त से-श्रृंगार की प्रतीति कराकर शान्त की ओर उन्मुख करना चाहा है।) वह युक्ति-युक्त है! यहां तो इस प्रकार के विरोध-परिहार की संभावना भी नहीं उठती क्योंकि यहां ऐसा कहां कि श्रृंगार और शान्त दो परस्पर विरोधी रस-भाव विना किसी व्यवधान-बीच-विचाव-के ही साथ साथ उपस्थित हों! (यहां तो शृङ्गार की प्रतीति ही असंभव है। शृङ्गार की यदि प्रतीति हो जाय तो शान्त तो दूर भाग खड़ा हो!) यहां ऐसी भी कल्पना (जैसी कि ध्वनिकार ने की है) कि सकलजनमनोहर शृङ्गार के अङ्ग के समावेश से इस काव्य का सौन्दर्य द्विगुणित हो रहा है जिससे शान्त-शृङ्गार का विरोध स्वयं हट गया है, निष्प्रयोजन ही है क्योंकि यहां जो काव्य-सौन्दर्य है वह (शृङ्गार के अङ्ग के समावेश के कारण नहीं, अपि तु) श्रृंगार से सर्वथा भिन्न शान्तरस के विराजमान रहने से है अथवा यदि चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि कोमल अनुप्रास-बन्ध के कारण यह काव्य एक रमणीय काव्य है।

टिप्पणी—'सत्यं मनोरमा रामाः' आदि सूक्ति में आचार्य मम्मट ने प्रतिकूल विभावादि का वाध्यरूप से उपादान मान कर दोष के वदले रस-परिपोष सिद्ध किया है किन्तु ध्वनिकार की धारणा इस प्रसङ्ग में दूसरी है। ध्वनिकार का यहां यह कथन है—

(ध्वन्यालोक, ३ य उद्योत, कारिका ३०)

'विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा। तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति॥'

शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गानां यः स न केवलमविरोधलक्षणयोगे सति न दुष्यति यावद्विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति। शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति।······किं च शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात्तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी। ततश्च—

'सत्यं मनोरमाः··········'जीवितम्॥, इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः।'

(रस-विरोध के परिहार के उपाय)

(८५) आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥ ६४ ॥

(आश्रयैक्य-विरोध और नैरन्तर्य-विरोध-दोनों का समाधान)

वीर-भयानकयोरेकाश्रयत्वेन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन भयानको निवेशयितव्यः। शान्तशृङ्गारयोस्तु नैरन्तर्येण विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्यम्। यथा—नागानन्दे शान्तस्य जीमूतवाहनस्य 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्'-इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृङ्गारो निबद्धः।

जिसका आचार्य अभिनवगुप्त ने ऐसा पुष्टीकरण किया है—

'अत्र हि शान्तविभावे सर्वस्यानित्यत्वे वर्ण्यमाने न कस्यचिद्विभावस्य शृङ्गारभङ्ग्या निबन्धः कृतः, किन्तु सत्यमिति परहृदयानुप्रवेशेनोक्तम्। न खल्वलीकवैराग्यकौतुकरुचिं प्रकटयामः, अपि तु यस्य कृते सर्वमभ्यर्थ्यते तदेवेदं चलमिति, तत्र मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गस्य शृंगारं प्रतिसंभाव्यमानविभावानुभावत्वेनाङ्गस्य लोलतायामुपमानतोक्तेति प्रियतमाकटाक्षो हि सर्वस्याभिलषणीय इति च तत्प्रतीत्या प्रवृत्तिमान् गुडजिह्विकया प्रसक्तानुप्रसक्तवस्तुतत्त्वसंवेदनेन वैराग्ये पर्यवस्यति विनेयः।' (ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ ४००)

यहां आचार्य मम्मट की जो ध्वनिकार के मत की आलोचना है वह युक्तियुक्त है। यहां ध्वनिकार की दृष्टि में शृंगार के अंगों का, उनके सहृदय हृदयावर्जक होने और काव्यशोभाधायक होने के कारण शृंगार-विरुद्ध शान्त में समावेश रसपरिपोष का कारण सिद्ध हो रहा है किन्तु काव्यप्रकाशकार ने इसके विपरीत यह सिद्ध किया है कि यहां मनोरम रमणी और वैभवविलासरूप शृङ्गार के विभाव का शान्त द्वारा बाध्यत्वरूप से जो वर्णन है उसकी दृष्टि से यहां 'प्रतिकूलविभावादि ग्रह' रूप रस-दोष नहीं फटक पाता। 'मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्ग'-पद के कारण ध्वनिकार और आचार्य अभिनवगुप्त को जो यहां शृङ्गार और शान्त का विरोध दिखाई पड़ा है उसे काव्यप्रकाशकार ने जिस प्रकार निर्मूल सिद्ध किया है वह भी सर्वथा समीचीन है।

अनुवाद—यदि आश्रय अथवा आलम्बन के एक होने के कारण दो रसों में परस्पर विरोध हो तो इसका परिहार यह है कि एक का आश्रय (आलम्बन) बदल दिया जाय और यदि ऐसा हो कि दो रस, एक के बाद एक, अव्यवहितरूप से रहने में विरुद्ध हो रहे हों तो उनके विरोध का शमन इस प्रकार किया जा सकता है कि उनके बीच में किसी एक दूसरे रस का व्यवधान डाल दिया जाय।

आश्रयैक्य के कारण रस-विरोध संभव है जैसे कि वीर और भयानक में (क्योंकि एक ही व्यक्ति में उत्साह और भय भला एक साथ कैसे रह सकें!) किन्तु इस विरोध की शान्ति का एक सहज उपाय है और वह यह है कि भयानक रस का वर्णन प्रतिपक्ष (प्रतिनायकादि) के सम्बन्ध से कर दिया जाय (जिससे पक्ष-नायकादि-गत वीर का और भी अधिक परिपोष हो जाय)।

इसी प्रकार नैरन्तर्य-अव्यवहित सान्निध्य-के कारण भी रस-विरोध हुआ करता है जैसे कि शान्त और शृंगार का, किन्तु इसके परिहार का भी उपाय है और वह है इन दोनों रसों के बीच में एक दूसरे रस का समावेश कर देना, जैसा कि 'नागानन्द' नाटक में स्पष्ट है,-जहां नायक जीमूतवाहन के सुखभोगवैरस्य-विषयक शमभाव और मलयवती विषयक रतिभाव में, इनके अव्यवहितरूप से प्रकाशन के कारण जो विरोध होता, उसे इन दोनों के बीच में 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्'-'कैसा सुन्दर गाना, कितना सुन्दर बजाना' आदि रूप से अद्भुत रस अर्थात् विस्मयभाव के संनिवेश द्वारा, दूर कर दिया गया है।

(प्रबन्ध के अतिरिक्त मुक्तक काव्य में रस-विरोध और उसका समाधान)

न परं प्रबन्धे यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तरव्यवधिना विरोधो निवर्तते। यथा—

भरेणुदिग्धान् नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः॥ ३३३॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान्।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः॥ ३३४॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम्।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन्॥ ३३५॥
अत्र बीभत्स-शृङ्गारयोरन्तर्वीररसो निवेशितः।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने यहाँ ध्वनिकार की इन सूक्तियों का अनुवर्तन किया है—

'विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्। स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता॥'

'ऐकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी, तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाऽङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षयाविरुद्धैकाश्रयो यो विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्यः। तस्य वीरस्य य आश्रयः कथानायकस्तद्विपक्षविषये सन्निवेशयितव्यः। तथा सति च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः स निर्दोषः। विपक्षविषये हि भयातिशयवर्णने नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत् सुतरामुद्योतिता भवति।'

'एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्। रसान्तरव्यवधिना रसोव्यङ्ग्यः सुमेधसा॥

यः पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्तरव्यवधानेन प्रबन्धे निवेशयितव्यः। यथा शान्तशृंगारादौ नागानन्दे निवेशितौ।

और साथ ही साथ किया है लोचनकार की इस समीक्षा का समर्थन—

'यस्तु स्थायी स्थाय्यन्तरेणाऽसंभाव्यमानैकाश्रयत्वाद् विरोधी भवेद् यथोत्साहेन भयं स विभिन्नाश्रयत्वेन नायकविपक्षादिगामित्वेन कार्यः। तस्य विरोधिनोऽपि तथा कृतस्य तथानिबद्धस्य परिपुष्टतायाः प्रत्युत निर्दोषता नायकोत्कर्षाधानात्। अपरिपोषणं तु दोष एवेति यावत्।'

'एकाश्रयत्वेन निमित्तेन यो निर्दोषः न विरोधी किन्तु निरन्तरत्वेन निमित्तेन विरोधमेति स तथाविधविरुद्धरसद्वयाविरुद्धेन रसान्तरेण मध्ये निवेशितेन युक्तः कार्यः। प्रबन्ध इति बाहुल्यापेक्षं, मुक्तकेऽपि कदाचिदेवं भवेदपि, यद्वक्ष्यति एकवाक्यस्थयोरपि।

(ध्वन्यालोक तथा लोचन, ३८७–३८८ पृष्ठ)

अनुवाद—केवल प्रबन्ध काव्य में ही नहीं अपितु एक वाक्य में भी रस-विरोध हो सकता है और उसका भी निवारण-प्रकार यही है कि दो विरुद्ध रसों के बीच एक और रस का प्रकाशन किया जाय (जो दोनों से अविरुद्ध हो)। उदाहरण के लिये—

'देवत्व-प्राप्ति के बाद, देव-विमान के पर्यङ्क पर बैठे शूर-वीर योद्धा लोग एक ओर तो अपने वक्षस्थल पर लटकती पारिजात की माला से सुरभित-सुशोभित होने, लगे और दूसरी ओर अप्सराओं की अंगुलिओं के संकेत से दिखाये गये, युद्धभूमि में पड़े, अपने धूलिधूसरित शरीर को भी देखने लगे, एक ओर तो सुराङ्गनाओं के आलिङ्गन का आनन्द लेने लगे और दूसरी ओर गीदड़ों द्वारा नोची-खसोटी जाती अपनी देह पर भी दृष्टिपात करने लगे और इतना ही क्यों एक ओर जब चन्दन जल के छिड़काव से शीतल सुगन्धित कल्पलता के पंखों की हवा खाने लगे तो दूसरी ओर मांसभक्षी पक्षिओं के बड़े बड़े रक्तरञ्जित डैनों की, अपने शवों पर फड़फड़ाहट भी देखने लगे। कैसा कौतूहल रहा होगा उनका !'

(रस-विरोध-परिहार का एक अन्य निमित्त)

(८६) स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥ ६५ ॥

(विरुद्ध रस के स्मृतिरूप से उपनिबन्ध में दोष-परिहार)

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥ ३३६ ॥

एतद् भूरिश्रवसः समरभुवि पतितं हस्तमालोक्य तद्वधूरभिदधौ । अत्र पूर्वावस्थास्मरणं शृङ्गाराङ्गमपि करुणं परिपोषयति ।

(विरुद्ध रसों की साम्यविवक्षा में अविरोधिता)

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलकैर्भवतः शरीरे ।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥ ३३७ ॥

जहां यह स्पष्ट है कि वीभत्स और शृङ्गार के बीच वीररस का समावेश किया हुआ है और वह इसीलिये जिसमें इन विरुद्ध रसों का विरोध शान्त हो जाय (और अन्ततोगत्वा वीर की एक विचित्रता के साथ और भी अधिक उत्कट अभिव्यक्ति हो उठे।)

टिप्पणी—काव्यप्रकाशकार ने यहां ध्वनिकार की इस मान्यता का अनुमोदन किया है—
'रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि । निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥'
रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धस्थयोर्विरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद्भ्रान्तिः । यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्या विरुद्धता निवर्तते यथा–भूरेणुदिग्धान्...... इत्यादौ । अत्र हि शृङ्गारवीभत्सयो स्तदङ्गयोर्वा वीररसव्यवधानेन समावेशो न विरोधी ।
(ध्वन्यालोक, पृष्ठ ३९५)

अनुवाद—प्रकृत रस का विरोधी भी रस यदि प्रकृत रस के साथ स्मृति-रूप से उपनिबद्ध हो तो इसमें कोई रस-दोष नहीं, साथ ही साथ प्रकृत रस-विरुद्ध भी यदि कोई रस प्रकृत रस के साथ साम्यभाव से विवक्षित हो, तो भी कोई रस-दोष नहीं और इसके अतिरिक्त यदि परस्पर विरुद्ध भी दो रस किसी प्रकृतप्रधान रस-भाव के अङ्ग-उपकारक बन जायँ तब तो रस-दोष की सम्भावना ही कहां !

(प्रकृत रस-विरुद्ध रस के स्मृतिरूप से समावेश में कोई रस-दोष नहीं हुआ करता जैसा कि):—

'ओह ! यही वह हाथ है जो कभी कटिमेखला खींचा करता था ! पीन कुचों का मर्दन किया करता था ! नाभि और नितम्ब का स्पर्श किया करता था ! नीवी-बन्ध को ढीला किया करता था ! किन्तु अब ! अब तो उसकी याद ही बच रही है,' यहां (महाभारत स्त्रीपर्व, २४ अध्याय की इस सूक्ति में) भूरिश्रवा की वधू का, संग्राम में मरे पड़े भूरिश्रवा के हाथ को देख देखकर करुण-क्रन्दन वर्णित है। यहां यह स्पष्ट है कि रशनाकर्षणादि रूप शृङ्गार के अनुभावों का, करुण से विरुद्ध होने पर भी, स्मरण दशा में जो वर्णन है उससे यहां करुण का विरोध होना तो दूर रहे, प्रत्युत, परिपोष ही किया जा रहा है।

(साम्यरूप से विवक्षित होने पर भी दो विरुद्ध रसों का विरोध शान्त रहा करता है जैसे कि)

'हे भगवान् बोधिसत्व ! आपके 'प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलक'-शरणागतरक्षण के लिये (और पक्षान्तर में-अनुरागाधिक्य के कारण) आनन्द से रोमांचित शरीर में मुनियों ने 'मृगराजवधू'-सिंहनी द्वारा 'रक्तमनसा' रुधिरपान की इच्छा से (पक्षान्तर में प्रेमार्द्र

अत्र कामुकस्य दन्तक्षतादीनि यथा चमत्कारकारीणि तथा जिनस्य। यथा वापरः शृङ्गारी तदवलोकनात्सस्पृहस्तद्वद् एतद्दृशो मुनय इति साम्यविवक्षा।

(परस्पर विरुद्ध रसों की, एक रस–भाव के अङ्गरूप से उपस्थिति में, अविरोधिता)

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥ ३३८ ॥

अत्र चाटुके राजविषया रतिः प्रतीयते। तत्र करुण इव शृङ्गारोऽप्यङ्गमिति तयोर्न विरोधः। यथा—

हृदय से) किये गये 'दन्तक्षत'–दांतों के घाव (पक्षान्तर में प्रणयलीला के दन्तक्षत) और 'नख–क्षत'–नखों के खरोच (पक्षान्तर में रतिकेलि के नखक्षत) को बड़ी लालसा से (इस भाव से कि उनका कब सौभाग्य होगा कि ऐसी करुणा की सिद्धि उन्हें भी होगी!) देखा।' इस सूक्ति में, जहां शान्त और शृङ्गार का पारस्परिक विरोध शान्त प्रतीत हो रहा है। इस विरोध–शान्ति का कारण है शान्त–और शृङ्गार की साम्य–विवक्षा क्योंकि यहां जो प्रतीति है वह इस प्रकार की है—एक दृष्टि से तो शान्त और शृङ्गार की अनुभाव–साम्यविवक्षा अर्थात् किसी कामुक के हृदय में नायिका–प्रदत्त दन्तक्षत और नखक्षत से आनन्द की अनुभूति और बोधिसत्त्व के हृदय में, सिंहिनी द्वारा उनके शरीर पर किये गये दांतों के घाव और नखों के खरोच से परमानन्द की प्राप्ति का परस्पर साम्य और दूसरी दृष्टि से शान्त और शृङ्गार की उद्दीपन विभाव–साम्य–विवक्षा अर्थात् किसी कामुक के हृदय में दूसरे किसी कामुक के शरीर पर दृष्टिगोचर होने वाले दन्तक्षत आदि दर्शन से रतिविषयक अभिलाषा और मुनिजन के हृदय में बोधिसत्त्व के शरीर पर दिखाई देने वाले सिंहिनी के दांतों और नखों के आघात के दर्शन से स्वविषयक करुणवेदिता अथवा प्रशमभावना की अभिलाषा का परस्पर साम्य।

(अभिप्राय यह है कि यहां परस्पर विरुद्ध भी शृङ्गार और शान्त बोधिसत्त्वरूप आलम्बन–माहात्म्य से अपना पारस्परिक विरोध छोड़ कर साम्यभाव से रह रहे हैं और कवि ने इन विरुद्ध रसों का साम्य समासोक्ति–संसृष्ट विरोधाभास अलंकार की महिमा से उपनिबद्ध कर दिखाया है।)

(दो परस्पर विरुद्ध रसों की भी विरोध–शान्ति सम्भव है यदि वे एक प्रधान रस–भाव के अङ्ग रूप से उपनिबद्ध हों, जैसे कि, यह सूक्ति—

'राजन्! आप के शत्रुओं की अब यह दशा है कि उनकी स्त्रियां दर्भाङ्कुरों से भरी बनस्थली पर (पक्षान्तर में कुशास्तरण से युक्त विवाह–होम की वेदी पर) अपनी क्षत–विक्षत कोमल अङ्गुलिओं से लोहूलुहान, मानो अलक्तक की लाली लिये, पैरों से भटकतीं–फिरतीं, निरन्तर गिरते शोक के आंसुओं (पक्षान्तर में होम धूम के आंसुओं) से भीगे मुंह लिये, आप के सैनिकों से घबरायीं (पक्षान्तर में वर के नव मिलन से भयभीत) और अपने पतियों के हाथों का सहारा लिये (पक्षान्तर में पाणि–ग्रहण हो चुकने पर) जङ्गलों में लगी आग के आस पास (वैवाहिक अग्नि के चारों ओर) ऐसे घूमती दिखाई दे रही हैं जैसे उनका पुनः विवाह होने जा रहा हो।', जहां, राजविषयक स्तुति होने से, राजविषयक रति भाव ही प्रधानतया, आस्वाद का विषय है जिसकी अपेक्षा परस्पर–विरुद्ध भी करुण और शृङ्गार, अङ्गरूप से उपनिबद्ध हो कर (उसी प्रकार अङ्ग रूप से साथ साथ निबद्ध हो कर जिस प्रकार एक राजा के आगे उसके दो सेनापति अपना वैर–वैमनस्य छोड़ कर साथ–साथ रहा करते हैं) निर्विरोध पड़े हैं। वस्तुतः जैसे इस सूक्ति अर्थात्—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ।। ३३६ ।।

इत्यत्र एहीति क्रीडन्ति गच्छेति क्रीडन्तीति क्रीडनापेक्षयोरागमन-गमनयोर्न विरोधः ।

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शांभवो वः शराग्निः ।। ३४० ।।

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुणोऽङ्गम् तस्य तु शृङ्गारः तथापि न करुणे विश्रान्तिरिति तस्याङ्गतैव । अथवा प्राक् यथा कामुक आचरति स्म तथा शराग्निरिति शृङ्गारपोषितेन करुणेन मुख्य एवार्थ उपोद्बल्यते । उक्तं हि—

'कुछ मिलने की आशा-पिशाची के फेर में पड़े याचक लोगों के साथ धनी लोग यह खेल खेला करते हैं—एक बार 'आओ' कह कर बुलाते हैं; फिर 'जाओ' कह कर हटाते हैं, एक बार 'बैठो' कह कर बैठाते हैं; फिर 'उठो' कह कर उठाते हैं और एक बार जब 'बोलो' कह कर बुलवाते हैं तो दूसरी बार 'चुप रहो' कह कर चुप भी करा देते हैं !, में, परस्पर विरुद्ध भी गमनागमनादि की क्रियायें क्रीडा के अङ्गरूप से रहने के कारण अविरुद्ध प्रतीत हो रही हैं वैसे ही उपर्युक्त 'क्रामन्त्यः' आदि सूक्ति में स्वभावतः विरुद्ध भी करुण और शृङ्गार राज-विषयक रतिभाव के अङ्गरूप से रहने के कारण, परस्पर निर्विरुद्ध रूप से पड़े हैं । अथवा यह सूक्ति अर्थात्—

'त्रिपुर दाह में प्रवृत्त महादेव शङ्कर का वह शर-दहन-बाणाग्नि-वर्षण जो आंखों में आंसू लिये त्रिपुरवधुओं के द्वारा, एक आर्द्रापराध (पहली बार ही अपराध करने वाले) कामी की भांति, हाथ से हटाने पर भी हाथ पकड़ लेने वाला, मना किये जाने पर भी बलात्कार पूर्वक अञ्चल छूता हुआ, धक्के खाकर भी केशपाश को बिना छूए न मानने वाला, पैरों पर पड़ने पर भी सम्भ्रमवश बिना देखे दुतकारा गया और आलिङ्गन कर लेने पर भी फटकारा गया ऐसी लीलाओं में बिना लगे नहीं मानता, आप सब के पाप-सन्ताप को जला कर राख कर दे ।,

यहां त्रिपुरान्तक शिव के महाप्रभाव के प्रति कविनिष्ठ रतिभाव का प्राधान्य स्पष्ट है जिसकी अपेक्षा करुण (वस्तुतः त्रिपुर-सुन्दरियों की व्याकुलता का करुणोद्दीपन विभाव) अङ्गरूप से उपनिबद्ध है और जो शृङ्गार (वस्तुतः करालम्बनादि रूप शृङ्गार का अनुभाव) प्रतीत हो रहा है वह करुण के अङ्गरूप से प्रतीत हो रहा है और अन्ततोगत्वा परस्पर विरुद्ध भी करुण और शृंगार शिवविषयक कविगत रतिभाव के आगे (किसी राजा के आगे उसके सेनापति और उस सेनापति के किसी सेवक की भांति) निर्विरोध सहायक रूप से उपस्थित प्रतीत हो रहे हैं । वैसे शृङ्गार की अपेक्षा यहां करुण अवश्य प्रधान है किन्तु शिवविषयक रतिभाव के आगे करुण भी अप्रधान ही है जिससे करुणरस की उत्कट प्रतीति यहां असंभव है क्योंकि यहां तो शृङ्गार द्वारा परिपुष्ट करुण भी वस्तुतः त्रिपुर-रिपुविषयक रतिभाव को ही, जो कि प्रधान है, प्रबल रूप से प्रकाशित करने में तत्पर दिखायी दे रहा है और ऐसा इसलिये क्योंकि यहां किसी कामुक द्वारा किये गये किसी रमणी के करालम्बन आदि के समान शंभु-शराग्नि द्वारा त्रिपुर-सुन्दरियों के करालम्बन आदि के वर्णन में शृङ्गार के अनुभावों को करुण के विभावों के उपमान रूप से प्रस्तुत किया गया है ।

यहां यदि यह कहा जाय कि करुण के अंगरूप से अवस्थित शृङ्गार त्रिपुरान्तक-विषयक

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ।। इति ।

कविनिष्ठ रतिभाव का अंग कैसे हो जाय तो इसके लिये यह प्राचीन युक्ति ही निर्णायक है-
'वह गुण अथवा अप्रधान वस्तुतः अधिकाधिक रूप से किसी प्रधान का उपकारक सिद्ध हुआ करता है जो कि अपने किसी अंग अथवा उपकारक द्वारा उपकृत होकर उस प्रधान का अङ्ग बना करता है ।'

टिप्पणी—(क) यहां प्रकृत-विरुद्ध रस के स्मर्यमाण रूप से उपनिबन्ध में प्रकृतरस के परिपोष की जो यक्ति है उसका आधार यह है **'वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित् करुणरस विषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते । यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं शोकावेशमुपजनयन्ति । यथा—'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादौ ।** (ध्वन्यालोक पृष्ठ ३७६)

यद्यपि ध्वनिकार ने रसाविरोध के निमित्तों में स्मर्यमाण रूप से विरुद्ध रस के समावेश को कोई स्थान नहीं दिया क्योंकि ध्वनिकार का यह कथन, **'क्षिप्तो हस्तावलग्नः'** आदि सूक्ति में जो दो विरुद्ध रसों के अन्यपरक होने में विरोधाभाव है उसी का एक समर्थन-प्रकार है किन्तु आचार्य मम्मट ने इस युक्ति को विरुद्ध रसों के अविरोध के एक निमित्तरूप से मान लिया है जिसमें कोई अनौचित्य नहीं ।

(ख) साम्य-विवक्षा के निमित्त से विरुद्धरसों की अविरोधिता का जो मम्मट ने प्रतिपादन किया है उसका आधार ध्वनिकार आनन्दवर्धन की यह उक्ति है—

'उत्कर्षसाम्येऽपि तयोर्विरोधासंभवात् यथा,
एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥' (ध्वन्यालोक पृष्ठ ३८३)

(ग) एक अङ्गी रस के उपकारक रूप से दो परस्पर विरुद्ध रसों के समावेश में जो रसाविरोध है उसका ध्वनिकारकृत प्रतिपादन यह है—

'इयं चाङ्गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात् प्रधान एकस्मिन् वाक्यार्थे रसयोर्भावयोर्वा परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्गभावगमनं तस्यामपि न दोषः। यथोक्तं क्षिप्तो हस्तावलग्न इत्यादौ । कथं तत्राऽविरोधः इति चेत् द्वयोरपि तयोरन्यपरत्वेन व्यवस्थानात् । अन्यपरत्वेऽपि विरोधिनोः कथं विरोधनिवृत्तिरिति चेत्, उच्यते-विधौ विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वं नानुवादे ।'..........

किञ्च नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यत इत्यतस्तस्य कुण्ठशक्तिकत्वात्तद्विरोधविधायिनो न कश्चिद्दोषः ।........

तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शांभवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति स्म तथा व्यवहृतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम् । तस्माद् यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषाभावः । (ध्वन्यालोक पृ० ३६९-३७७)

(घ) आचार्य मम्मट ने परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध दो रसों के एक प्रकृत रस के उत्कर्षकरूप से उपस्थित रहने में मीमांसादर्शन की युक्ति का प्रमाण दिया है । मीमांसा में **'गुणानां च परार्थत्वात्'**-यह एक 'न्याय' है जिसका अभिप्राय यह है कि दो अङ्गभूत पदार्थों में, उनके साम्य के कारण, अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध असंभव है किन्तु यह एक सामान्य विषय है जिसका अपवाद है—**'गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते ।'** जिसका अभिप्राय यह है कि एक गुण भी कभी कभी दूसरे गुण से (गुण = अङ्ग अथवा विशेषण = अप्रधान पदार्थ) सम्बद्ध होकर प्रधान का उत्कर्षाधायक हुआ करता है ।

(रस के विरोधाविरोध का वास्तविक अभिप्राय)

प्राक्प्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधो नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति इति रसशब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते ।

इति काव्यप्रकाशे दोषदर्शनो नाम सप्तमोल्लासः ॥ ७ ॥

अनुवाद—यहां एक रस के दूसरे रस के साथ विरोध अथवा अविरोध अथवा अङ्गाङ्गिभाव का अभिप्राय है एक स्थायीभाव के दूसरे स्थायीभाव से विरोध अथवा अविरोध अथवा अङ्गाङ्गिभाव का। रस के विरोध और विरोध-परिहार के प्रसङ्ग में रस शब्द का प्रयोग विगलितवेद्यान्तरस्पर्शरूप उस रस (अस्वाद-ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द) के लिये नहीं जिसका पहले (चतुर्थ उल्लास में) प्रतिपादन किया जा चुका है और जिसमें विरोध और विरोध-समाधान और अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना भी नहीं उठ सकती, अपि तु उसके लिये-उसका उपलक्षण (संकेत) है—जिसे वस्तुतः स्थायीभाव कहना चाहिये।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र के आचार्य विगलितवेद्यान्तरस्पर्शरूप रस और स्थायीभाव-दोनों के परस्पर विरोध को 'रस-विरोध, के रूप में मानते रहे हैं। ध्वनिकार ने रस-विरोध के इन दोनों अभिप्रायों को इस प्रकार स्पष्ट किया है:—

'एतच्च सर्वं (अविरोधिनां विरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेष्वविरोधित्वादि) येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारी भवति इति दर्शनं तन्मतेन उच्यते। मतान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावाः उपचाराद्रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव।'

(ध्वन्यालोक पृष्ठ ३८७)

और लोचनकार का भी ऐसा ही अभिमत है:—

'एतदुक्तं भवति—अङ्गभूतान्यपि रसान्तराणि स्वविभावादिसमाग्र्या स्वावस्थायां यद्यपि लब्धपरिपोषाणि चमत्कारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, तथापि स चमत्कारस्तावत्येव परितुष्य न विश्राम्यति किंतु चमत्कारान्तरमनुधावति। सर्वत्रैवाङ्गाङ्गिभावेऽयमेवोदन्तः। यथाह तत्र भवान्—

'गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्त्तते॥'

(ध्वन्यालोक, पृष्ठ ३७९)

किन्तु आचार्य मम्मट ने यहां रस-विरोध और रसाविरोध का अभिप्राय 'स्थायी-विरोध' और 'स्थाय्यविरोध' ही लिया है।

सप्तम उल्लास समाप्त।

अथाष्टमोल्लासः

(गुणनिरूपणात्मकः)

एवं दोषानुक्त्वा गुणालङ्कारविवेकमाह—

('गुण और अलङ्कार' का वैधर्म्य)

(८७) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ ६६ ॥

अनुवाद—**इस प्रकार (सप्तम उल्लास में) दोषों का निरूपण कर चुकने पर (काव्य-लक्षण का अनुसरण करते हुये) अब 'गुण' और 'अलङ्कार' का वैधर्म्य बताया जा रहा है (जिससे गुण-स्वरूप स्पष्टतया प्रतीत हो सके)—**

जिस प्रकार शरीर में प्रधानतया विराजमान (चित्स्वरूप) आत्मा के शौर्य आदि धर्म आत्मा के साथ अपृथक् सिद्ध अथवा नियतावस्थित रहा करते हैं और आत्म-तत्त्व की ही श्री-वृद्धि किया करते हैं उसी प्रकार काव्य में प्रधानतया विराजमान (आनन्दरूप) रस के भी माधुर्य, ओज और प्रसाद रूप धर्म, रस के साथ अपृथक् सिद्ध किंवा नियमतः अवस्थित रहते हुये, रस-तत्त्व की ही श्री-वृद्धि किया करते हैं और इसीलिये रस के गुण कहे जाया करते हैं।

टिप्पणी—(क) सम्भवतः अलङ्कारशास्त्र के उद्भव-काल से ही 'गुण' को काव्य की एक विशेषता माना जाता आ रहा है। किन्तु जहां प्राचीन आलङ्कारिक 'गुण' को शब्द और अर्थ के शोभावह धर्म के रूप में देखते-दिखाते आये हैं वहां अलङ्कारशास्त्र के नवीन आचार्य-ध्वनिवादी आचार्य-'गुण' को रसरूप काव्यार्थ का अपृथक् सिद्ध धर्म सिद्ध कर चुके हैं। आचार्य मम्मट की गुण-सम्बन्धी मान्यता ध्वनिवाद के प्रवर्तक और प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनव-गुप्त की गुण-सम्बन्धी मान्यता का समर्थन है। ध्वनिवादी आचार्य रसरूप काव्यार्थ और गुण में द्रव्य-गुण-भाव नहीं अपितु धर्मि-धर्म-भाव मानते हैं क्योंकि द्रव्य-गुण भाव मानने में समवाय-सम्बन्ध का मानना अनिवार्य हो जाय और समवाय-सम्बन्ध के मानने पर यह भी मानना आवश्यक हो जाय कि द्रव्यभूत रसरूप काव्यार्थ, नैयायिकों की इस मान्यता के अनुसार कि द्रव्य अपनी उत्पत्ति के क्षण में निर्गुण है, (क्षणं द्रव्यमगुणं तिष्ठति) क्षणभर गुण-शून्य रहा करता है! 'रस' और 'गुण' में ध्वनिवादी आचार्य 'अपृथक् सिद्धि' 'नियतावस्थिति' का सम्बन्ध मानते हैं जिसका अभिप्राय यही है कि 'रस' और 'गुण' का बौद्धिक विश्लेषण भले ही किया जा सके किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि 'रस' क्षणभर भी गुण से पृथक् रह सके अथवा 'गुण' ही 'रस' से क्षणभर भी अलग रह जाय।

(ख) आचार्य आनन्दवर्धन की जिस गुण-सम्बन्धी मान्यता का यहां आचार्य मम्मट ने अनुसरण किया है वह ध्वन्यालोक (पृष्ठ २०४) की इन पङ्क्तियों में स्पष्ट झलक रही है—

'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।' ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्।,

जिनका यही अभिप्राय है कि गुण काव्यरूप अर्थात् रसरूप अङ्गी-धर्मी से सम्बन्ध रखने वाले हुआ करते हैं न कि काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ से।

आचार्य अभिनव गुप्त की गुण-सम्बन्धी दृष्टि भी, जो कि वस्तुतः ध्वनिकार की उपर्युक्त दृष्टि से ही प्रभावित है, गुण को रस के धर्म-रस से अपृथक् सिद्ध-रूप में ही देखती है—

'ते च (माधुर्यौजः प्रसादा एव त्रयो गुणाः) प्रतिपत्रास्वादमयाः मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति' (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ २१३)

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात्, 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण 'शूर' इति क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेरमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि रसपर्यन्तविश्रान्तप्रतीतिबन्ध्या व्यवहरन्ति। अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः। यथैषां व्यञ्जकत्वं तथोदाहरिष्यते।

अनुवाद—माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये गुण (क्योंकि अन्तिम विश्लेषण में ये ही तीन गुण बच रहते हैं) यहां 'रस-धर्म' इसलिये कहे गये हैं क्योंकि ये 'रस' के ही गुण हैं न कि वर्णों के, क्योंकि शौर्य आदि धर्म भी तो आत्मा के ही गुण हुआ करते हैं शरीर के कहाँ? काव्य-तत्त्व-ज्ञानिओं के लिये तो 'गुण' रस-धर्म ही है और वैसे ही हैं जैसे आत्म-तत्त्व-ज्ञानिओं के लिये 'शौर्य' आदि आत्म-धर्म हैं। यह तो आत्म-याथात्म्य के अनुभव में अशक्त लोगों की बात है कि कहीं (आत्म-धर्म) शौर्यादि का अभिव्यञ्जक कोई लम्बा-चौड़ा आकार-प्रकार दिखाई दिया और उसी को कह दिया—'कितना शूर है यह आकार!' अथवा कहीं वस्तुतः डरपोक किसी व्यक्ति की लम्बी-चौड़ी डील-डौल दिखायी दी और उस व्यक्ति को कह दिया—'यह तो बड़ा शूर है' अथवा कहीं वस्तुतः शूर वीर भी किसी व्यक्ति की छोटी-ठिगनी देह देख कर कह दिया कि—'यह तो डरपोक है'! इसी प्रकार (रस के धर्म) माधुर्य, ओज आदि के अभिव्यञ्जक सुकुमार, कठोर आदि वर्णों को ही मधुर (माधुर्य गुणपूर्ण) ओजस्वी (ओज गुण से समन्वित) आदि कह बैठना अथवा वस्तुतः ओजस्वी रौद्र-वीरादि रसों के भी अभिव्यञ्जक वर्णों को, उनकी केवल (आपाततः प्रतीत) सुकुमारता-मसृणता आदि के देखते, माधुर्ययुक्त आदि कह देना अथवा वस्तुतः मधुर शृङ्गारादि रसों के भी अभिव्यञ्जक वर्णों को, केवल उनकी असुकुमार श्रुति के कारण, अमधुर आदि कह चलना उन्हीं लोगों की बाते हैं जो 'रसपर्यन्तविश्रान्तिप्रतीतिबन्ध्य' है अर्थात् ऐसे हैं जिनकी काव्यानुभूति रसरूप काव्यतत्त्व तक पहुंचने में असमर्थ है। वस्तुस्थिति तो यही है कि माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं, रस से सर्वथा अपृथक् सिद्ध हैं न कि वर्णों के धर्म हैं, वर्णों में नियतावस्थित हैं। वर्ण तो रसधर्मभूत माधुर्य आदि गुणों के अभिव्यञ्जन-साधन हैं और किस प्रकार वर्णों के द्वारा माधुर्य आदि अभिव्यक्त हुआ करते हैं इसका तो आगे विशद सोदाहरण विवेचन किया ही जा रहा है।

टिप्पणी—(क) वर्ण नहीं मधुर हुआ करता, रस मधुर हुआ करता है—यह मान्यता आचा आनन्दवर्धन की मान्यता है और उन सभी सहृदय काव्य-भावकों की मान्यता है जिनक काव्यानुभूति काव्य के परमार्थ-रस-तक पहुँचा करती है। आचार्य आनन्दवर्धन का इसीलिये कहना है—

'शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति॥'
'शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः।' (ध्वन्यालोक २.८)

अर्थात् सभी रसों की अपेक्षा शृङ्गाररस ही परम मधुररस है और ऐसा इसलिये है क्योंकि इसके अनुभव में मन जितना उल्लसित होता है उतना और किसी रस के अनुभव में कहां! श्रव्यता अथवा श्रुतिसुखदता के कारण किन्हीं शब्दों को मधुर कहना, जैसा कि प्राचीन आलङ्कारिक आचार्य भामह का मत है—(श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते—काव्यालङ्कार २.२.३) इसलिये अनुपपन्न है क्योंकि श्रव्यता अथवा श्रुतिसुखदता का सम्बन्ध केवल 'माधुर्य' से ही नहीं

(अलङ्कार : शब्दार्थशोभाधायक)

(८८) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ६७ ॥

अपितु 'ओज' से भी जहां-तहां (जैसे कि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' आदि वेणीसंहार नाटक की सूक्ति में) दिखाई पड़ा करता है । आचार्य मम्मट ने यहां ध्वनिकार की इस माधुर्यगुण-मीमांसा का सर्वथा अनुसरण किया है ।

(ख) अजोस्वी तो रस हो सकता है वर्ण कहां ?–यह समीक्षा ध्वनि-दार्शनिक आनन्दवर्धनाचार्य की ही समीक्षा है जैसा कि ध्वन्यालोक (२.९) की इन पङ्क्तिओं से स्पष्ट है—

'रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्योजो व्यवस्थितम् ॥'

जिनका यही अभिप्राय है कि ओजस्वी रस तो रौद्ररस है अथवा वीररस है क्योंकि इन रसों का ही अनुभव ऐसा है कि सहृदय सामाजिक का हृदय उद्दीप्त हो उठता है । श्रुति-कठोरता के कारण शब्दों को ओजस्वी मानना सर्वथा असंगत है ।

ध्वनिकार की इस ओज-समीक्षा का भी यहां आचार्य मम्मट ने स्मरण किया है ।

अनुवाद—जिन्हें 'अलङ्कार' कहना चाहिये जैसे कि शब्द के अलङ्कार-अनुप्रास आदि और अर्थ के अलङ्कार-उपमा आदि, वे उसी भांति हैं, जिस भांति हार आदि आभूषण हुआ करते हैं । अर्थात् जैसे हार आदि आभूषण कण्ठ आदि अङ्ग के सौन्दर्यवर्द्धक हुआ करते हैं वैसे ही अनुप्रास और उपमा आदि अलङ्कार शब्द और अर्थरूप अङ्ग के सौन्दर्यवर्द्धक हुआ करते हैं । यह एक दूसरी बात है कि कभी जैसे किसी सुन्दरी के कण्ठ का आभूषण उसके वास्तविक सौन्दर्य-उसके सुन्दर व्यक्तित्व-में चारचांद लगा दे वैसे ही कभी किसी कविता के शब्द अथवा अर्थ का अलङ्कार उसके वास्तविक सौन्दर्य-उसके रसरूप आत्मतत्त्व-के भी चमक उठने में हाथ बँटा दे ।

टिप्पणी—(क) आचार्य आनन्दवर्धन ने अलङ्कारों को रसरूप काव्यात्मतत्त्व पर नहीं अपितु वाच्य-वाचकरूप अङ्ग पर अवलम्बित सिद्ध किया है । उनका यह कथन है—

'अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥'

'वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनः (अवलम्बन्ते) तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।' (ध्वन्यालोकलोचन २.६)

जिसका तात्पर्य यह है कि अनुप्रास और उपमा आदि शब्द और अर्थ के अलङ्कार साक्षात् तो अङ्गों के अलङ्कार है—वाचक और वाच्य रूप काव्याङ्गों के शोभावर्धक हैं और वैसे ही हैं जैसे कि कामिनी-शरीर के कटक-कुण्डल आदि आभूषण ।

ध्वनिकार की इस उपर्युक्त धारणा का ही विश्लेषण लोचनकार ने इन पङ्क्तिओं में किया है—

'अलङ्कार्यव्यतिरिक्तश्चालङ्कारोऽभ्युपगन्तव्यः, लोके तथासिद्धत्वात् यथा गुणिव्यतिरिक्तो गुणः । गुणालङ्कारव्यवहारश्च गुणिन्यलङ्कार्ये च सति युक्तः । स चास्मत् पक्ष एवोपपन्नः ।'

(ध्वन्यालोकलोचन २. ६)

जिनका निष्कर्ष यही है कि प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में 'गुण' और 'अलङ्कार' की चर्चा तो होती आ रही थी किन्तु 'गुण' और 'अलंङ्कार' की यह चर्चा निराधार थी क्योंकि न तो प्राचीन आलङ्कारिक रसरूप 'गुणी' से परिचित थे, जिसकी दृष्टि से माधुर्य आदि गुण वस्तुतः 'गुण' पता चलते और न रसरूप 'अलङ्कार्य' से, जिसकी अपेक्षा अनुप्रास आदि अलङ्कार वस्तुतः 'अलङ्कार' के रूप में दिखाई देते । 'गुण' और 'अलङ्कार' बिना 'गुणी' और 'अलङ्कार्य' के विवेक के कोई अभिप्राय रखने नहीं प्रतीत हो सकते । 'गुण' तो 'गुणी' से सदा अपृथक् सिद्ध होगा किन्तु 'अलङ्कार' के लिये 'अलङ्कार्य' से साक्षात् सम्बद्ध होना आवश्यक नहीं । अलङ्कार तो रसरूप काव्यात्मतत्त्व के अङ्गभूत वाच्य-वाचक को ही साक्षात् अलंकृत कर सकेगा । अङ्ग के अलङ्कार

('अलङ्कार' का रस से परम्परया सम्बन्ध-यह सम्बन्ध नियत नहीं अपितु अनियत)

ये वाच्य-वाचक-लक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यरसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः। यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः। क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति।

यथाक्रममुदाहरणानि—

यदि अङ्गी को अलंकृत दिखावें तब तो वस्तुतः 'अलङ्कार' हुये। किन्तु ऐसी बात सदा होती नहीं। तभी तो महाकवि ने कहा है—

'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।' (अभिज्ञानशाकुन्तल-१)

इसलिये 'गुण' और 'रस' में धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध तथा 'रस' और 'अलङ्कार' में भूष्यभूषक-भाव सम्बन्ध मानना अनिवार्य है। 'धर्म' और 'धर्मी' तो सदा नियमतः सहावस्थित होंगे किन्तु 'भूष्य' (अलङ्कार्य) और 'भूषक' (अलङ्कार) परम्परया सम्बद्ध होंगे। जिसे 'अलङ्कार्य' कहते हैं वह न तो शब्द है और न अर्थ अपितु शब्दार्थशरीर 'काव्य' है-'रस' है। शब्द के अलङ्कार रसरूप अलङ्कार्य के वाचकरूप अङ्ग और अर्थ के अलङ्कार रसरूप अलङ्कार्य के वाच्यरूप अङ्ग के अलङ्कार है। जैसे हार-केयूर आदि को कामिनी-व्यक्तित्व का नहीं अपितु कामिनीकलेवर का ही अलङ्कार कहा जाता है वैसे ही अनुप्रास-उपमा आदि को भी कविता-व्यक्तित्व का नहीं अपितु कविता-कलेवर-शब्द और अर्थ-का ही अलङ्कार कहा जाना चाहिये।

आचार्य मम्मट ने ध्वनिवाद की इसी 'गुण' और 'अलङ्कार'-सम्बन्धी मान्यता का यहां समर्थन किया है और इसी दृष्टि से अपनी काव्य की परिभाषा में **'पुनः क्वापि अनलंकृती शब्दार्थौ तत् (काव्यम्)'** यह कहा है।

अनुवाद—**(जिन्हें कविता के 'अलङ्कार' कहा करते हैं वे तो 'गुण' से सर्वथा भिन्न हुआ करते हैं क्योंकि) कविता के 'अलङ्कार' वे हुआ करते हैं जो कविता के 'वाचक' और 'वाच्य'-शब्द और अर्थ-रूप अङ्गों के सौन्दर्य की वृद्धि किया करते हैं और उसी प्रकार किया करते हैं जिस प्रकार हार आदि आभूषण किसी सुन्दरी के कण्ठ आदि अङ्गों की। किन्तु अलङ्कारों से वाच्य-वाचक-रूप अङ्गों की सौन्दर्यवृद्धि तभी सम्भव है जब कि कविता का व्यक्तित्व, कविता का रसरूप आत्मतत्त्व सुन्दर हो क्योंकि आभूषणों से भी कण्ठ आदि अङ्गों की सौन्दर्य-वृद्धि तभी हुआ करती है जब कि उन्हें धारण करने वाली स्त्री सुन्दर हुआ करे-सुन्दर व्यक्तित्व वाली रहा करे। अन्यथा तो जैसे किसी कुरूप स्त्री के हार आदि आभूषण देखने वालों के लिये केवल दृष्टि-वैचित्र्य से लगने लगते हैं वैसे ही कुरूप कविता-नीरस कविता के अनुप्रास आदि अलङ्कार पढ़ने वालों के लिये केवल उक्ति-वैचित्र्य से प्रतीत हुआ करते हैं। 'अलङ्कारों' के सम्बन्ध में एक और भी बात है और वह यह है कि अलङ्कार कभी कभी रसमयी कविता में भी किसी शोभा का आधान नहीं किया करते (जिससे यह स्पष्ट है कि कविता में गुण का जो महत्त्व है वह अलङ्कार का नहीं)।**

यहां उदाहरणों के द्वारा क्रमशः यह स्पष्ट किया जा रहा है कि अलङ्कार (१) किस प्रकार शब्द और अर्थरूप अङ्गों की शोभावृद्धि द्वारा किसी सुन्दर कविता के व्यक्तित्व-रस के शोभावर्द्धक हुआ करते हैं, (२) किस प्रकार किसी कविता के असुन्दर-नीरस-रहने पर केवल उक्ति-वैचित्र्य-प्रकार लगा करते हैं और (३) किस प्रकार कभी कविता के रसरूप व्यक्तित्व के लिये सर्वथा अकिञ्चित्कर भी दिखायी दिया करते हैं—

१—(अर्थात् अलङ्कार का शब्द और अर्थ में सौन्दर्याधान करते हुये 'रस' रूप काव्यात्मतत्त्व का उत्कर्षावह होना)—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालिमृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥ ३४१ ॥

इत्यादौ वाचकमुखेन ।

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतम्
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव ।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती ॥ ३४२ ॥

इत्यादौ वाच्यमुखेनालङ्कारौ रसमुपकुरुतः ।

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसुं
सेज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसुं ।
बोलम्मि बट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे
झाणेण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥ ३४३ ॥

(चित्ते विघटते न त्रुट्यति सा गुणेषु
शय्यासु लुठति विसर्पति दिङ्मुखेषु ।
वचने वर्तते प्रवर्तते काव्यबन्धे
ध्यानेन त्रुट्यति चिरं तरुणी प्रगल्भा ॥ ३४३ ॥)

जैसे कि 'वह असहाय मुग्धा तो दिन रात यही बोला करती है—अरी सखी ! कर्पूर का क्या काम, हार हटा दे, कमल किस लिये लायी, मृणाल मेरे पास मत रख !'

इस (दामोदरगुप्तकृत कुट्टनीमत १०२ की) उपर्युक्त सूक्ति में जो 'अनुप्रास' हैं (क्योंकि 'अपसारय घनसारं कुरु हारं' तथा 'अलमलमालिमृणालैः' में र और ल की आवृत्ति बड़ी कोमल है) वह इसीलिये 'अलङ्कार' है क्योंकि इसके द्वारा इस सूक्ति के वाचकरूप-शब्दरूप-अङ्ग की जो शोभावृद्धि हो रही है वह अन्त में इस सूक्ति के व्यक्तित्व-विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस-की उत्कर्ष वृद्धि में सहायक दिखायी दे रही है ।

और जैसे कि (मालतीमाधव २य अङ्क की) इस सूक्ति अर्थात्—

'अरी सखी ! (माधव के प्रति) मेरे मन का राग अभी यदि एक तीव्र विष की भांति मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्याप्त हो रहा है तो अभी वायु-वेग से झकझोरी भयङ्कर आग की भांति मुझे जला देना चाहता है । और अभी तो ऐसा लग रहा है जैसे सन्निपात ज्वर की भांति कभी एक, कभी दूसरे अङ्ग-अङ्ग को शून्य बना रहा हो । अब क्या पिता और क्या माता-कोई भी मुझे नहीं बचा सकता !' में जो उपमा है (क्योंकि 'विषमिव', 'पावक इव', 'ज्वर इव' सर्वत्र उपमा ही उपमा तो है ।) वह इसीलिये 'अलङ्कार' है क्योंकि यह, इस सूक्ति के वाच्यरूप-अर्थरूप-अङ्ग की शोभा बढ़ाती, अन्त में इसके वास्तविक व्यक्तित्व-विप्रलम्भ श्रृङ्गार रूप रस-का भी उत्कर्ष बढ़ाती प्रतीत हो रही है ।

२—(अर्थात् अलङ्कार का कविता में रस भाव के अविवक्षित होने पर उक्तिवैचित्र्यमात्र प्रतीत होना—जैसे कि प्रथम उल्लास में उदाहृत 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छ' आदि रचना)।

३—अर्थात् अलङ्कार का कहीं किसी रसमयी सूक्ति के लिये अकिञ्चित्कर बने रहना जसे कि—(राजशेखरकृत 'कर्पूरमञ्जरी' के द्वितीय जवनिकान्तर की) इस सूक्ति अर्थात्—

'यह कर्पूरमञ्जरी क्या प्रत्यक्ष और क्या चित्र-दोनों में अद्भुत रूप से ही सुन्दर है, जितनी यह प्रत्यक्षतः गुणवती है उतनी चित्र में भी लग रही है । अभी यदि यह मेरी शय्या पर मेरे साथ है तो अभी जिधर देखता हूँ उधर ही दिखायी दे रही है । मेरे गीत के बोल और मेरे काव्य के बन्ध में तो वह आ जाती है किन्तु मेरे ध्यान में यदि अभी

इत्यादौ वाचकमेव ।

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥ ३४४ ॥

इत्यादौ वाच्यमेव न तु रसम् । अत्र बिसलता न जीवं रोद्धुं क्षमेति प्रकृताननुगुणोपमा ।

(गुणालङ्कारवैधर्म्य–समीक्षा का निष्कर्ष)

एष एव च गुणालङ्कारप्रविभागः ।

(भट्टोद्भट–सम्मत गुणालङ्कार–विवेक का निराकरण)

एवं च 'समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः' इत्यभिधानमसत् ।

आयी हुई है तो तुरत उससे बाहर चली जाती दीख रही है ।' में जो अलङ्कार है अर्थात् परुषानुप्रास (टवर्ग की यत्र-तत्र-सर्वत्र आवृत्ति) उसके द्वारा इस सूक्ति के वाचकरूप अङ्ग में भले ही कोई विचित्रता उत्पन्न हो जाय, किन्तु इससे इसके विप्रलम्भ श्रृङ्गाररूप रसमय व्यक्तित्व को क्या लाभ !

और इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—'जैसे ही प्रियावियोगविधुर चक्रवाक ने (सायंकाल के समय) सारसी के साथ सारस को देखा और उसका मित्र–सूर्य इस दुःखद दृश्य को देखते ही, कहीं अन्यत्र चल पड़ा, उसका पड़ोसी कमल-बन अपना मुँह बन्द किये शोकमग्न होने लगा और उसके देखने वाले भ्रमर गुञ्जन करते रो उठे कि उसके मुंह की मृणाल लता न तो खायी ही गयी और न फेंकी ही गयी, बस, ऐसी दीखने लगी मानों उसके निकलते प्राण को रोकने के लिये, गले के द्वार पर लगी अर्गला (सिटकनी-किल्ली) हो !' में जो उपमा है (क्योंकि 'बिलसता अर्गला इव निहिता' तो उपमा–बन्ध ही है) वह इस सूक्ति के वाच्यरूप अङ्ग में कोई विचित्रता भले ही झलका जाय किन्तु इसके विप्रलम्भ श्रृङ्गाररसरूप वास्तविक व्यक्तित्व में तो कोई भी विशेषता नहीं झलका सकती । यह उपमा तो वस्तुतः इस सूक्ति के विप्रलम्भश्रृङ्गाररूप रसमय व्यक्तित्व के सर्वथा प्रतिकूल पड़ती दीख रही है क्योंकि कहां तो चक्रवाक के विप्रलम्भ की यह उत्कटता और कहां चक्रवाक का, अपने निकलते प्राण को रोकने के लिये, अर्गला की भांति, बिसलता का गले में लगा लेना ! (विप्रलम्भ में प्राण के निकलने का वर्णन रस–परिपोष है न कि प्राण के रोकने का वर्णन ।)

अब यह स्पष्ट हो गया कि 'गुण' और 'अलङ्कार' में जो परस्पर भेद है वह यही है कि जहां 'गुण' रस के धर्म हैं और रस से अपृथक् सिद्ध रहा करते हैं वहां अलङ्कार न तो रस के धर्म हैं और न रस से अपृथक् सिद्ध ही रहा करते हैं ।

'गुण' और 'अलङ्कार' के इस उपर्युक्त वैधर्म्य से प्राचीन आलङ्कारिकों (भट्टोद्भट आदि) का यह मत कि 'लौकिक 'गुण' और 'अलङ्कार' भले ही परस्पर भिन्न हुआ करें क्योंकि लौकिक 'गुण' जैसे कि 'शौर्य' आदि तो समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध रहा करते हैं और लौकिक 'अलङ्कार' जैसे कि हार आदि संयोगसम्बन्ध से सम्बद्ध रहने वाले हुआ करते हैं किन्तु काव्य के 'गुण' और 'अलङ्कार' में परस्पर भेद मानना तो केवल गतानुगतिकतामात्र है क्योंकि क्या ओज आदि काव्य के 'गुण' और क्या अनुप्रास–उपमा आदि

(वामन-सम्मत गुणालङ्कार-वैधर्म्य भी असंगत)

यदप्युक्तम् 'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति तदपि न युक्तम् यतः किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहार, उत कतिपयैः। यदि समस्तैः तत्कथमसमस्तगुणा गौडी पाञ्चाली च रीतिः काव्यस्यात्मा। अथ कतिपयैः, ततः—

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः ॥ ३४५ ॥

इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः।

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम् ॥ ३४६ ॥

इत्यादौ विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रवर्त्तकौ।

काव्य के 'अलङ्कार'—दोनों ऐसे हैं जो कि काव्य के साथ-शब्द और अर्थ के साथ-समवाय वृत्ति से-अपृथक्सिद्धि रूप सम्बन्ध से-ही सम्बद्ध दिखाई दिया करते हैं, सर्वथा असंगत ही सिद्ध हो रहा है।

टिप्पणी—यहां आचार्य मम्मट ने भट्ट उद्भट के जिस गुणालङ्कार-साम्यविषयक वचन का उद्धरण दिया है वह भट्ट उद्भट के 'काव्यालङ्कार-सारसंग्रह' में तो कहीं नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'वचन' भट्ट उद्भट के 'भामह विवरण नामक ग्रन्थ का उद्धरण है जो कि मम्मट के समय प्राप्य था, किन्तु आज अलभ्य है।

अनुवाद—**इसी प्रकार प्राचीन आलङ्कारिकों (जैसे कि भट्ट वामन आदि) की यह मान्यता थी कि 'गुण' और 'अलङ्कार' इसलिये परस्पर भिन्न हैं क्योंकि जहां 'गुण' (शब्द और अर्थ के) ऐसे धर्म हैं जिनसे काव्य में सौन्दर्य का आधान हुआ करता है वहां 'अलङ्कार' ऐसे हैं जो गुण द्वारा निष्पन्न काव्य-सौन्दर्य के बढ़ाने वाले हुआ करते हैं।' वस्तुतः ठीक नहीं जंचती। क्यों ? इसलिये कि यदि (शब्दार्थ-धर्म) 'गुण' से काव्य में शोभाधान हुआ करता है, तो यह पूछा जा सकता है कि 'क्या सभी के सभी गुण मिलकर काव्य में शोभा का आधान किया करते हैं या एक आध ही ? यदि इसका यह उत्तर हो कि 'सभी के सभी गुण मिलकर काव्य में शोभा का आधान किया करते हैं' तब फिर इस प्रश्न अर्थात् 'गौणी रीति' अथवा 'पाञ्चाली रीति' अर्थात् ऐसी पदरचना, जिसमें सभी के सभी गुण नहीं रहा करते, क्योंकर काव्य की आत्मा मानी गयी ? का क्या उत्तर !**

अब यदि इस संकट से बचने के लिये यह कहा जाय कि 'एक आध ही गुण काव्य में शोभा का आधान कर दिया करते हैं' तब तो इसका यही अभिप्राय होगा कि ऐसी पद रचना अर्थात्—'यहां इस अद्रि (पर्वत) पर अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित हो रही है और यह वह धूम-समूह है जो ऊपर उठता दिखाई दे रहा है' इत्यादि, भी (जो रसभाव शून्य होने से कदापि कविता नहीं हो सकती) इसलिये कविता मान ली जाया करेगी क्योंकि इसमें शब्द और अर्थ के धर्म माने गये एक-आध ओज आदि गुण तो मान ही लिये जायेंगे !

साथ ही साथ 'अलङ्कार' को 'गुण द्वारा निष्पन्न काव्य-सौन्दर्य का वर्द्धक' कहना भी तो सर्वथा असंगत ही है क्योंकि ऐसी भी पद-रचना काव्य ही (चित्रकाव्य ही सही) कही जाया करती है जिसमें 'गुण' शोभाधायक' भले ही न हों, 'अलङ्कार' शोभावर्धक अवश्य हुआ करते हैं। उदाहरण के लिये यही पद-रचना—

'एक सुन्दर स्त्री का पाना सचमुच मनुष्य-शरीर से ही स्वर्ग-सुख का पाना है क्योंकि तभी तो इस सुन्दरी का अधर-रस सुधा-रस को भी मात कर रहा है।'

जिसमें किसी भी माधुर्य आदि गुण द्वारा सौन्दर्याधान नहीं किया जा रहा, किन्तु जिसे काव्य ही (चित्र काव्य ही सही) कहेंगे और इसलिये कहेंगे क्योंकि दो-दो अलङ्कार

अर्थात् विशेषोक्ति और व्यतिरेक ('विशेषोक्ति' तो इस दृष्टि से कि वरवर्णिनी में दिव्य देहाभाव-रूप एक गुण की न्यूनता की कल्पना करके भी स्वर्ग-साम्य सिद्ध किया गया है—'एकगुणहानिकल्पनया साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' वामन-काव्यालङ्कार सूत्र ४.३.२३, और व्यतिरेक इस दृष्टि से कि अधर रस-रूप उपमेय का सुधारस-रूप उपमान से आधिक्य वर्णित है—'उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः'-वामन-काव्यालङ्कार सूत्र ४.३.२२) शोभाधायक और शोभावर्धक दोनों लग रहे हैं।

टिप्पणी—(क) 'गुण' और 'अलङ्कार' में भट्टोद्भट आदि प्राचीन आलङ्कारिक साधर्म्य ही मानते रहे हैं। अलङ्कार सर्वस्वकार रुय्यक ने भी इन आलङ्कारिकों को 'गुणालङ्कारसाम्यवादी' ही कहा है—'उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः'—अलङ्कार सर्वस्व पृष्ठ ३, 'गुण' और 'अलङ्कार' का वैधर्म्य-वाद तो सर्वप्रथम भट्ट वामन का ही प्रवर्तित 'वाद' है। भट्ट वामन ने 'रीति' को-गुण विशिष्ट पदरचना को-काव्य की आत्मा कहा है—

'रीतिरात्मा काव्यस्य।'

'रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्यशेषः। किं पुनरियं रीतिरित्याह—

'विशिष्टा पदरचना रीतिः।'

'विशेषवती पदानां रचना रीतिः।' कोऽसौ विशेष इत्याह—

'विशेषो गुणात्मा।'

'वक्ष्यमाण गुणरूपो विशेषः।'

'सा त्रेधा वैदर्भी गौडी पाञ्चाली चेति।' तासां गुणभेदाद्भेदमाह—

'समग्रगुणोपेता वैदर्भी।'

'समग्रैरोजः प्रसादप्रभृतिभिः गुणैरुपेता वैदर्भी नाम रीतिः।' अत्र श्लोकः—

'अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता। विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते॥'

'ओजः कान्तिमती गौडीया।'

अत्र श्लोकः—

'समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामपि गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः॥'

'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।'

तथा च श्लोकः—

'आश्लिष्टश्लथभावां तु पुराणच्छाययान्विताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥'

(काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १. २. ६-१३)

और 'गुण' को काव्यशोभा का निदान शब्दार्थ-धर्म माना है जिससे 'अलङ्कार' जो कि गुण द्वारा शोभासमन्वित काव्य में अतिशय-उत्कर्ष के आधायक बताये गये हैं, स्पष्टतया गुण-भिन्न सिद्ध किये गये हैं—

'तत्रौजः प्रसादादयो गुणाः' यमकोपमादयस्त्वलङ्कारा इति स्थितिः काव्यविदाम्। तेषां किं भेदनिबन्धनमित्याह—

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः'

'ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति, ते गुणाः, ते चौजः प्रसादादयः, न यमकोपमादयः, कैवल्ये तेषां (यमकोपमादीना) मकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजः प्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति।'

'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।'

तस्याः काव्यशोभाया अतिशयस्तदतिशयः तस्य हेतवः। तु शब्दो व्यतिरेके। अलङ्काराश्च यमकोपमादयः। अत्र श्लोकौ—

(गुण-प्रकार-निरूपण)

इदानीं गुणानां भेदमाह—

(८६) माधुर्य्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

'युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥'

'पूर्वे नित्याः ।'

'पूर्वे गुणा नित्याः, तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ।'

(काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति ३. २. १-३)

यहां आचार्य मम्मट ने वामन के 'गुणालङ्कारभेदवाद' को उन्हीं के 'रीतिवाद' से असमञ्जस दिखाया है और वस्तुतः युक्ति पूर्वक असमञ्जस दिखाया है क्योंकि समग्रगुणविशिष्ट पदरचना अर्थात् 'वैदर्भी' रीति यदि काव्य की आत्मा हुई तो असमग्रगुण विशिष्ट पदरचना 'गौडी' और 'पाञ्चाली' रीति तो काव्य की आत्मा कदापि नहीं कहीं जा सकती । 'वैदर्भी' के साथ 'गौडी' और 'पाञ्चाली' को भी काव्य की आत्मा मानने से यही निष्कर्ष निकलता है न तो रीति काव्य की आत्मा है और न 'गुण' ही शब्द और अर्थ के धर्म हैं । अब जब कि 'गुण' शब्द और अर्थ के धर्म नहीं तब 'गुण' का यह स्वरूप-विवेक गुण काव्यशोभाधायक है, किस काम का !

(ख) 'गुण' और 'अलङ्कार' का यह भेद-वाद भी कि 'गुण' तो काव्यशोभाकारक नित्य शब्दार्थ-धर्म हैं और 'अलङ्कार' हैं काव्यशोभा के अतिशयाधायक अनित्यशब्दार्थ-धर्म, वस्तुतः अनुपपन्न ही है क्योंकि तब या तो गौडी' और 'पाञ्चली' को, जिन्हें रीति मानकर काव्य की आत्मा कही गयी है, रीति ही नहीं मानना पड़ेगा या 'चित्रकाव्य' को काव्य की श्रेणी से बाहर निकाल देना पड़ेगा जो असंभव है । ऐसी भी पद-रचनायें, जिनमें नित्य शब्दार्थ-धर्म गुण न भी हों, अलङ्कार द्वारा सुन्दर बना दी जाया करती हैं और काव्य-श्रेणी में स्थान पाया करती हैं । इससे तो यही सिद्ध है कि जब तक रस रूप 'धर्मी' का-''गुणी' का अस्तित्व न जाना जाय तब तक माधुर्य-प्रसाद आदि 'गुण' निराधार और निराश्रय ही रहेंगे । इसी भांति रस रूप 'अलङ्कार्य' में विश्वास रखे बिना अनुप्रास और उपमा आदि अलंकार भी निरर्थक और निरुद्देश्य ही रहा करेंगे ।

अनुवाद—**('गुण' और 'अलङ्कार' के ध्वनिवाद-सम्मत भेद के निर्धारित हो चुकने पर) अब यह बताया जारहा है कि गुण कितने प्रकार के हैं—**

गुण (जो कि वस्तुतः रस-धर्म हैं) तीन ही हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज और (३) प्रसाद, न कि दस (जैसा कि भट्ट वामन आदि आचार्य मानते आये हैं) ।

टिप्पणी—रीति-वाद के प्रवर्त्तक आचार्य भट्ट वामन ने गुण' को, जो कि उनके अनुसार नित्य शब्दार्थ-धर्म है, दश प्रकार का माना है—(१) ओज, (२) प्रसाद, (३) श्लेष, (४) समता, (५) समाधि (६) माधुर्य, (७) सौकुमार्य, (८) उदारता, (९) अर्थ व्यक्ति और (१०) कान्ति क्योंकि उनका स्पष्ट कथन है—

'ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः ।'
'बन्धः—पदरचना, तस्य गुणाः बन्धगुणाः-ओजःप्रभृतयः ।

(काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति ३.२-४)

ये उपर्युक्त १० गुण शब्द के भी गुण हैं और अर्थ के भी गुण हैं । शब्द-गुण होने में नाइक स्वरूप कुछ और है और अर्थगुण होने में कुछ और । शब्द-गुण होने में इनका स्वरूप यह है—

(क्रमशः गुणत्रय-निरूपण)

एषां क्रमेण लक्षणमाह—

(माधुर्य-स्वरूपनिरूपण)

(६०) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥ ६८ ॥

१. ओजः—पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः ।
एतेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम् ॥
२. प्रसाद— श्लथत्वमोजसा मिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते ।
अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्यपद्धतिः ॥
३. श्लेष—यत्रैकपदवद्भावः पदानां भूयसामपि ।
अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥
४. समता—प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः ।
दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः ॥
५. समाधि—आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत् ।
समाधिर्नाम सगुणस्तेन पूता सरस्वती ॥
६. माधुर्य—बन्धे पृथक् पदत्वं च माधुर्यमुदितं बुधैः ।
अनेन हि पदन्यासाः कामं धारामधुरच्युतः ॥
७. सौकुमार्य-बन्धस्याजरठत्वं च सौकुमार्यमुदाहृतम् ।
एतेन वर्जिता वाचो रूक्षत्वान्न श्रुतिक्षमाः ॥
८. उदारता—विकटत्वं च बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारताम् ।
वैचित्र्यं न प्रपद्यन्ते यया शून्याः पदक्रमाः ॥
९. अर्थव्यक्ति—पश्चादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः ।
यत्रार्थव्यक्तिहेतुत्वात्सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः ॥
१० कान्ति—औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः ।
पुराणचित्रं स्थानीयं तेन वन्ध्यं कवेर्वचः ॥
यथा विच्छिद्यते रेखाचतुरं चित्रपण्डितैः ।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ॥ (काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति ३.१)

और अर्थ गुण होने में यह—

१. ओज—अर्थस्य प्रौढिरोजः ।
२. प्रसाद—अर्थवैमल्यं प्रसादः ।
३. श्लेष—घटना श्लेषः ।
४. समता—अवैषम्यं समता ।
५. समाधि—अर्थदृष्टिः समाधिः ।
६. माधुर्य—उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।
७. सौकुमार्य—अपारुष्यं सौकुमार्यम् ।
८. उदारता—अग्राम्यत्वमुदारता ।
९. अर्थव्यक्ति—वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ।
१०. कान्ति—दीप्तरसत्वं कान्तिः ।

(का० सूत्रवृत्ति ३.२.१-१४)

ध्वनिवादी आचार्य इस 'दशगुणवाद' को निराधार सिद्ध करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में 'गुण' रस-धर्म हैं और तीन ही हैं क्योंकि रसास्वाद में सामाजिक हृदय की तीन ही अवस्थायें जैसे कि (१) द्रुति, (२) दीप्ति और (३) प्रसन्नता सम्भव हैं। माधुर्य गुण शृङ्गारादि रसास्वाद में सहृदय हृदय की 'द्रुति' से सम्बद्ध है, ओज गुण रौद्रादि रसास्वाद में सामाजिकचित्त की 'दीप्ति' से सम्बद्ध है और प्रसाद गुण सर्व रससाधारण गुण है क्योंकि मन की प्रसन्नता सभी रसों के आस्वाद में सिद्ध है।

अनुवाद—**अब (रसधर्मभूत माधुर्य-ओज और प्रसाद) इन तीनों गुणों का स्वरूप बताया जा रहा है—**

जिसे 'माधुर्य' कहते हैं वह एक ऐसा आह्लाद अथवा आनन्द है, जैसे कि शृङ्गार रस

शृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे द्रुतिर्गलितत्वमिव । श्रव्यत्वं पुनरोजः प्रसादयोरपि।

(माधुर्य का तारतम्य)

(६१) करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

(तारतम्य का कारण)

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् ।

(सम्भोग शृङ्गार रस) के आस्वाद का आनन्द जिसमें (काव्य और नाट्य के) सहृदय सामाजिक का मन पिघलता सा प्रतीत हुआ करता है—ऐसा लगा करता है जैसे उसमें कोई अलौकिक कोमलता व्याप्त हो गयी हो ।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने यहां 'माधुर्य' का जो स्वरूप बताया है वह ध्वनिकार की माधुर्य-समीक्षा के ही अनुसार है । ध्वनिकार ने शृङ्गार को परम मधुर-परमाह्लादमय रस कहा है और माधुर्य को इसी में प्रतिष्ठित माना है । तात्पर्य यह है कि शृङ्गार के आस्वाद में माधुर्य का आह्लाद है क्योंकि शृङ्गार की अनुभूति सामाजिक हृदय को एक अलौकिक द्रुति-कोमलता से भर दिया करती है । लोचनकार ने इसीलिये स्पष्ट कहा है—

'रतौ हि समस्तदेवतिर्यङ्नरादिजातिष्वविच्छिन्नैव वासनास्त इति न कश्चित्तत्र तादृग् यो न हृदयसंवादमयः, यतेरपि हि तच्चमत्कारोऽस्त्येव । अत एव मधुर इत्युक्तम् । मधुरो हि शर्करादिरसो विवेकिनोऽविवेकिनो वा स्वस्थस्यातुरस्य वा झटिति रसनानिपतितस्तावदभिलषणीय एव भवति ।, (ध्वन्यालोकलोचन २.७)

जिसका अभिप्राय यह है कि शृङ्गार के आस्वाद में जो सर्वजन साधारण की अधिकाधिक तन्मयता है वही शृङ्गार का माधुर्य है ।

अनुवाद—यहां (कारिका में) 'शृङ्गार' में (माधुर्य) का अभिप्राय है 'सम्भोगशृङ्गार' में (माधुर्य) का (क्योंकि सम्भोगशृङ्गार रस ही मधुर रस है और इसी की अपेक्षा माधुर्य के तारतम्य का निर्धारण सम्भव है) । यहां जिसे 'द्रुति' कहा गया है वह है 'सामाजिक हृदय का पिघल उठना' अद्भुत सुकुमारता से भर उठना । 'माधुर्य' को 'श्रव्यता' 'श्रुतिसुखदता' मानना (जैसा कि आचार्य भामह का मत है—श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते (काव्यालङ्कार) वस्तुतः अनुपपन्न है क्योंकि 'श्रव्यता' अथवा 'श्रुतिसुखदता' माधुर्य में ही नहीं अपि तु 'ओज' और 'प्रसाद' में भी रहा करती है (जो कि माधुर्य से सर्वथा भिन्नस्वरूप के गुण हैं) ।

(सम्भोग शृङ्गार तो मधुर है ही किन्तु) सम्भोग शृङ्गार में जो माधुर्य है उसकी अपेक्षा अधिक माधुर्य करुण रस में है, करुण रस के माधुर्य से बढ़ कर माधुर्य है विप्रलम्भ शृङ्गार में और शान्त रस में जो माधुर्य है वह तो विप्रलम्भ शृङ्गार के माधुर्य से भी बढ़ा-चढ़ा है ।

यहां (संभोगशृङ्गार, करुण-विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रस में) जो माधुर्य का तारतम्य बताया गया है वह इसीलिये क्योंकि सहृदयहृदय की सुकुमारता सम्भोग शृङ्गार से अधिक करुण में, करुण से अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार में और विप्रलम्भ शृङ्गार से भी अधिक शान्त रस में देखी जाया करती है ।

टिप्पणी—माधुर्य का क्रमशः प्रकर्ष ध्वनिकार की दृष्टि से इस प्रकार है—

'शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥, (ध्वन्यालोक २.८)

जिसका यही अभिप्राय है कि सम्भोग शृङ्गार यदि मधुर है तो विप्रलम्भ शृङ्गार मधुरतर है और करुण है मधुरतम ।

किन्तु आचार्य मम्मट की दृष्टि यहां कुछ और है । आचार्य मम्मट ने सम्भोग को मधुर, करुण को मधुरतर, विप्रलम्भ को मधुरतम और शान्त को माधुर्य की पराकाष्ठा माना है । ऐसा

(ओजः स्वरूप-निरूपण)

(९२) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥ ६९ ॥

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः ।

(ओज-तारतम्य)

(९३) बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।

(तारतम्य का कारण)

वीराद्वीभत्से, ततो रौद्रे सातिशयमोजः ।

(प्रसाद-स्वरूप निरूपण)

(९४) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥ ७० ॥

व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

प्रतीत होता है कि जैसे ध्वनिकार ने अपने वैयक्तिक अनुभव के आधार पर माधुर्य-प्रकर्ष का निर्देश किया, वैसे ही काव्यप्रकाशकार ने भी अपने वैयक्तिक अनुभव की दृष्टि से माधुर्य-तारतम्य का निरूपण किया। यहां ध्वनिकार और उनके परमानुयायी आचार्य मम्मट का कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं अपि तु केवल दृष्टिभेद ही दिखाई देता है।

अनुवाद—'ओज' वह गुण है जिसे सामाजिक हृदय का प्रज्वलन-धधक उठना कहा जा सकता है जो कि वीर रस में स्वभावतः हुआ करता है और जिससे ऐसा लगा करता है जैसे चित्त की सारी शीतलता अकस्मात् नष्ट हो गयी और बदले में चित्त उद्दीप्त हो उठा।

यहां (कारिका में) ओज के 'आत्मविस्तृति के हेतु' होने का अभिप्राय है ओज के सामाजिक चित्त के विस्तार अथवा प्रज्वलन अथवा धधक उठने के निमित्त होने का।

टिप्पणी—आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार 'ओज' का स्वरूप चित्त की दीप्ति का ही स्वरूप है। चित्त की दीप्ति का अभिप्राय है चित्त की उज्ज्वलता का-चित्त के जल उठने का। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी लिये कहा है—

'दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्वलनस्वभावा। सा च मुख्यतया ओजः शब्द-वाच्या।, (ध्वन्यालोकलोचन २.९)

यहां आचार्य मम्मट ने 'आत्मविस्तृति' का 'चित्तविस्तार' अथवा 'चित्त-प्रज्वलन' अर्थ वस्तुतः ध्वन्यालोकलोचन के ही अनुसरण पर लिया है। ध्वनिकार और लोचनकार की दृष्टि से तो 'दीप्ति' सर्वप्रथम रौद्ररसास्वाद में है किन्तु काव्यप्रकाशकार की दृष्टि से इसे वीररसास्वाद में अनुभव किया जा सकता है।

अनुवाद—वीररस तो ओजस्वी है ही किन्तु उससे अधिक ओजस्वी है वीभत्सरस और वीभत्सरस से भी अधिक ओजस्वी रस है रौद्र रस।

वीररस की अपेक्षा वीभत्सरस के और वीभत्सरस की भी अपेक्षा रौद्र रस के अधिक ओजस्वी होने का जो कारण है, वह यही है कि वीररस की अपेक्षा वीभत्स में और वीभत्स की अपेक्षा रौद्र में सामाजिकजन का चित्त अधिक धधक उठा करता है।

टिप्पणी—ध्वनिकार और लोचनकार में ओज का तारतम्य कुछ और है और काव्यप्रकाशकार में कुछ और। 'ध्वनिकार तो रौद्र को ओजस्वी और वीर को रौद्र से अधिक ओजस्वी मानते हैं।' किन्तु काव्यप्रकाशकार ने वीर की अपेक्षा वीभत्स और वीभत्स की अपेक्षा रौद्र को अधिक ओजस्वी माना है। यहां भी सिद्धान्त का भेद नहीं। जो भी भेद है स्वानुभव-विश्लेषण का भेद है।

अनुवाद— जिसे 'प्रसाद' गुण कहते हैं वह सभी रसों का एक ऐसा धर्म है जिससे सामाजिक हृदय इस प्रकार भर उठता है जिस प्रकार अग्नि के द्वारा सूखा इन्धन अथवा जल के द्वारा साफ कपड़ा।

(प्रसाद–सर्वरससाधारण गुण)

अन्यदिति । व्याप्यमिह चित्तम् । सर्वत्रेति । सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च ।

(रसधर्म रूप गुण उपचारतः शब्द और अर्थ के गुण कहे जासकते हैं ।)

(६५) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ ७१ ॥

गुणवृत्त्या उपचारेण । तेषां गुणानाम्–आकारे शौर्यस्येव ।

अनुवाद—यहां (कारिका में) जो 'अन्यत्' पद है उसका अभिप्राय है 'व्याप्य' का (क्योंकि 'व्याप्नोति' से 'प्रसाद' रूप 'व्यापक' का निर्देश किया जा चुका है) और 'व्याप्य' का अभिप्राय है सहृदय हृदय का (क्योंकि सहृदय हृदय ही प्रसाद से व्याप्त हुआ करता है—प्रसन्न हुआ करता है) । 'सर्वत्र' से अभिप्राय है सभी रसों और साथ ही साथ सभी (रसमयी) रचनाओं से क्योंकि 'प्रसाद' सभी रसों और सभी रसमयी रचनाओं का धर्म है ।

वस्तुतः तो माधुर्य-ओज और प्रसाद ये तीनों गुण रस के ही धर्म अथवा गुण है । इन्हें शब्द और अर्थ का भी गुण कहा जा सकता है किन्तु ऐसा कहना उपचारतः ही कहना होगा (मुख्यतः कदापि नहीं) ।

यहां (कारिका में) 'गुणवृत्ति' का अभिप्राय हैः उपचारतः' का । 'तेषाम्'–का अभिप्राय है माधुर्य, ओज और प्रसाद–इन तीनों गुणों का । तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मा के धर्म शौर्य आदि उपचारतः शरीर धर्म कहे जा सकते हैं वैसे ही रस–धर्म भी माधुर्य आदि उपचारतः शब्द–गुण और अर्थगुण कहे जा सकते हैं ।

टिप्पणी—(क) ध्वनिकार और लोचनकार–दोनों आचार्यों ने माधुर्य-ओज और प्रसाद को रस–धर्म सिद्ध कर यही सिद्ध किया है कि इन गुणों को यदि शब्द गुण और अर्थ–गुण कहा जाय तो यह समझ कर कहा जाय कि 'उपचार' का आश्रय लिया जा रहा है । ध्वनिकार का कहना है—

'तत् (माधुर्य) प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः ।'

(ध्वन्यालोक २·७)

और इस पर लोचनकार का कहना है—

वस्तुतः माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुणः । तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयो- रुपचरितं मधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम् ।'

(ध्वन्यालोकलोचन २·७)

ओज के सम्बन्ध में भी यही बात है क्योंकि ध्वनिकार की यही मान्यता है—

'रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्योजो व्यवस्थितम् ॥ (ध्वन्यालोक २·९)

और इस पर लोचनकार की भी यही धारणा है—

'सा (दीप्तिः) च मुख्यतया ओजश्शब्दवाच्या । तदास्वादमया रौद्राद्याः । तया दीप्त्या आस्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपया लक्ष्यन्ते रसान्तरात् पृथक्तया । तेन कारणे कार्योपचारात् रौद्रादिरेवौजः शब्दवाच्यः । ततो लक्षितलक्षणया तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनावाक्यरूपोऽपि दीप्तिरित्युच्यते ।'·····'तत्प्रकाशनपरश्चार्थः प्रसन्नैर्गमकै- र्वाचकैरभिधीयमानः समासानपेक्ष्यपि दीप्तिरित्युच्यते ।' (ध्वन्यालोकलोचन २·९)

यही बात प्रसाद के सम्बन्ध में भी है । ध्वनिकार ने इसी लिये कहा है—

'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥' (ध्वन्यालोक २·१०)

और इसी लिये लोचनकार का भी यह कथन है—

'समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं

(वामन-सम्मत 'दशगुण' वाद का खण्डन)

कुतस्त्रय एव न दश इत्याह—

(९६) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥ ७२ ॥

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः । तेषामोजस्यन्तर्भावः । पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम् प्रसादेनार्थ-

---

झटिति शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन अकलुषोदकदृष्टान्तेन च । तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः ॥
(ध्वन्यालोकलोचन २·१०)

यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनि-दार्शनिकों की इस उपर्युक्त गुण-विवेचना का ही पुष्टीकरण किया है ।

(ख) आचार्य मम्मट ने इसी गुण सम्बन्धी मान्यता के अनुसार 'सगुण' शब्द और अर्थ को काव्य कहा है क्योंकि सगुण शब्द और अर्थ का अभिप्राय गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ है और शब्द और अर्थ के गुणाभिव्यञ्जक होने का अभिप्राय है रसाभिव्यञ्जन-समर्थ होने का ।

अनुवाद—गुण दश नहीं अपितु तीन ही हो सकते हैं—इसका विचार किया जा रहा है—

गुण तीन ही हो सकते हैं अर्थात् माधुर्य, ओज और प्रसाद न कि दस । क्यों ? इस लिये कि दस गुणों में से कुछ तो ऐसे हैं जो इन तीनों में अन्तर्भूत देखे जा सकते हैं, कुछ ऐसे हैं जो गुण नहीं, अपि तु दोषाभाव मात्र हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो कहीं कहीं गुण होना तो दूर रहे दोष बने प्रतीत हुआ करते हैं ।

(भट्ट वामन का) दश-शब्द गुणवाद और दश-अर्थ गुणवाद सर्वथा अनुपपन्न है क्योंकि शब्द के और अर्थ के इन दस गुणों में कुछ का तो माधुर्य आदि तीन ही गुणों में अन्तर्भाव, कुछ की गुणरूपता के बदले दोषाभाव रूपता और कुछ की गुणता के स्थान पर दोषता ही युक्ति संगत है । जैसे कि—

(क) शब्द के इन गुणों का ओज आदि में अन्तर्भाव स्पष्ट है—

१ 'श्लेष' का—(संधिसौष्ठव किं वा एकस्थानीयवर्णोपन्यास के कारण) अनेक पदों की एक पदवत् प्रतीति को जो 'श्लेष' कहा गया है (मसृणत्वं श्लेषः यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते का. ३.१.१०) वह 'ओज' अर्थात् गाढबन्धता अर्थात् ओज गुण की अभिव्यञ्जक रचना में ही समा जाता है ।

२ 'समाधि' का–'आरोह'–गाढबन्धता और 'अवरोह' बन्धशैथिल्य के सुन्दर संमिश्रित विन्यास को जो 'समाधि' कहा गया है (आरोहावरोहक्रमः समाधिः का. ३.१.१२) वह वस्तुतः 'ओज' अर्थात् ओजोव्यञ्जक पद विन्यास में सर्वथा अन्तर्भूत है ।

(३) 'उदारता' का–पदों की विकटता अथवा सुन्दर विच्छेद के कारण नृत्यस्थायता को जो 'उदारता' गुण कहा गया है (विकटत्वमुदारता यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तत् विकटत्वं लीलायमानत्वम् का. ३.१.२२) वह तो 'ओज' में–ओजोव्यञ्जक रचना में–ही समाया दिखायी देता है । और इसी भांति—

(४) 'प्रसाद' का–गाढबन्धता के अंश लिये बन्धशैथिल्य को जो 'प्रसाद' गुण माना गया है ('शैथिल्यं प्रसादः' । बन्धस्य शैथिल्यं शिथिलत्वं प्रसादः । नन्वयमोजो विपर्ययात्मा दोषः तत्कथं गुण ? इत्यत आह–'गुणः संप्लवात्' । गुणः प्रसादः ओजसा सह संप्लवात् । शुद्धस्तु दोष एव ।···'सत्वनुभवसिद्धः' । स तु संप्लवस्तु अनुभवसिद्धः तद्विदां

व्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। तथा हि 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः' इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात्तन्निराकरणेनापारुष्यरूपं सौकुमार्यम् औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।

रत्नादिविशेषवत् का. ३.१. ६–८) वह ओज में–ओज गुण का अभिव्यञ्जक पद रचना में–अन्तर्भूत होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता।

(५) 'माधुर्य' का–पृथक्पदता–असमस्तपदता अथवा अदीर्घसमस्तपदता को जो 'माधुर्य' कहा गया है (पृथक् पदत्वं माधुर्यम्। बन्धस्य पृथक् पदत्वं यत्, तत् माधुर्यम्। ······समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत् का. ३.१.२०) उसे तो मधुररसव्यञ्जक असमस्त अथवा अदीर्घ समस्त पदबन्ध के औपचारिक माधुर्य गुण में स्पष्टतया ले ही लिया गया है।

(६) क—'अर्थव्यक्ति' का–पदों की अविलम्बतया अर्थोपस्थापकता को जो 'अर्थव्यक्ति' गुण कहा गया है (अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः–यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वम् स गुणः अर्थव्यक्तिरिति–का. ३.१.२३) वह सर्वरससाधारण किं वा सर्वरचनासाधारण 'प्रसाद' गुण से कोई अतिरिक्त गुण नहीं दिखाई दे सकता।

ख—शब्द का एक गुण ऐसा भी माना गया है जो कहीं 'गुण' के बदले 'दोष' लगा करता है जैसे कि—

'समता'–'मार्गाभेद' को—'जिस वैदर्भी आदि रीति से उपक्रम हो, उसी से उपसंहार' को–जो 'समता' नामक गुण माना गया है (मार्गाभेदः समता–मार्गस्य अभेदः मार्गाभेदः समता। येन मार्गेणोपक्रमः तस्य अत्याग इत्यर्थः, श्लोके प्रबन्धे चेति–का. ३.१.११) वह सर्वत्र गुण नहीं अपितु यत्र-तत्र 'दोष' ही हुआ करता है। उदाहरण के लिये—

'मातङ्गाः किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः
सारङ्गा महिषा मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः
सिन्धु ध्वानिनि हुङ्कृते स्फुरति यत् तद् गर्जितं गर्जितम्॥'

इत्यादि (सप्तम उल्लास में उद्धृत सूक्ति) में यदि मार्ग के अभेद–समता गुण–का कवि ने ध्यान दिया होता तब तो यहां कोई गुण नहीं अपि तु दोष ही हुआ होता। इस सूक्ति के रचयिता ने यहां सिंहवर्णन में जो अपने मार्ग का–मसृण वर्णयुक्त पद रचना का परित्याग किया उसमें तो वाच्यौचित्य के कारण एक सौन्दर्य दिखाई दे रहा है! 'समतागुण' तो यहां 'दोष' हो गया होता!

(ग) कतिपय शब्द गुण ऐसे भी हैं जो गुण नहीं अपि तु दोषाभाव रूप हैं जैसे कि–

(१) 'सौकुमार्य'–'सौकुमार्य' को 'अपारुष्य'–'श्रुतिसुखदत्व' कहा गया है (अजरठत्वं सौकुमार्यम्–बन्धस्य अजरठत्वं अपारुष्यं यत्, तत् सौकुमार्यम्–का. ३.१.२१) किन्तु यह 'सौकुमार्य' कष्टत्व अथवा श्रुतिकटुत्व नामक दोष के अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होता (अपारुष्य = श्रुति पारुष्य, श्रुतिकटुत्व का अभाव)। इसी प्रकार—

(२) 'कान्ति'–'कान्ति' कहा गया है 'औज्ज्वल्य' को–सहृदयहृदयहारिणी पदशोभा को (औज्ज्वल्यं कान्तिः–बन्धस्योज्ज्वलत्वं नाम यत् असौ कान्तिरिति, तदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते–का. ३.१.२५) किन्तु यह स्पष्ट है कि यह 'कान्ति' 'ग्राम्यत्व' नामक दोष के अभाव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

अर्थ के दस गुणों में भी यही बात दिखायी देती है क्योंकि कतिपय अर्थ गुण ऐसे हैं जो माधुर्य आदि में ही अन्तर्भूत हैं, कतिपय ऐसे हैं जो गुण होने के बदले दोष हैं और कतिपय ऐसे भी हैं जो गुण नहीं अपि तु दोषाभाव मात्र हैं। जैसे कि—

(१) 'ओज'–जिसे 'ओज' नामक अर्थ गुण कहा गया है जिसका अभिप्राय यह (निम्नलिखित) पञ्चविध प्रौढि' अथवा 'प्रौढता' (का. ३.२.२) है, जैसे कि—

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यासससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥

इति या प्रौढिः ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः। तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः। अपुष्टार्थत्वाधिकपदत्वानवीकृतत्वानवीकृतत्वासङ्गलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यं, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृ-

(क) पदार्थ के लिये वाक्यरचना (एक पदार्थ का अनेक पदोपादानपूर्वक प्रतिपादन, उदाहरण के लिये—'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः', अत्र चन्द्रपदवाच्येऽर्थे 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः' इति वाक्यं प्रयुक्तम्)

(ख) वाक्यार्थ के लिये पदरचना—(एक पद के उपादान से अनेक पदार्थों का अभिधान–उदाहरण के लिये–'दिव्येयं न भवति, किंतु मानुषी'ति वक्तव्ये 'निमिषति' इत्याहेति)

(ग) व्यास (एक वाक्यार्थ का अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपादन–उदाहरण के लिये—

'अयं नानाकारो भवति सुखदुःखव्यतिकरः
सुखं वा दुःखं वा न भवति भवत्येव च ततः।
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति सुखदुःखं किमपि तत्-
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दुःखं न च सुखम् ॥

जहां 'सुखदुःखव्यतिकरः नानाकारो भवति' इस एक वाक्यार्थ को २ य, ३ य और ४ र्थ चरणों में अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया है।)

(घ) समास (एक वाक्य के द्वारा अनेक वाक्यार्थों का अभिधान–जैसे कि—

'ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥'

जहां पूरा श्लोक एक वाक्य है किन्तु अनेकों वाक्यार्थों का संक्षेप कर रहा है।) और

(ङ) साभिप्रायत्व (ऐसा पद प्रयोग, जो अन्य पदों से भी, चाहे वे अप्रयुक्त ही क्यों न हों, विवक्षित अभिप्राय प्रकाशित कर दे–उदाहरण के लिये—

'रतिविगलितवन्धे केशपाशे सुकेश्याः'

जहां 'सुकेशी' यह एक पद केशसौन्दर्य की विचित्रता और शक्तिमत्ता का अभिप्राय प्रकाशित करने में समर्थ है।) वह वस्तुतः अर्थ का गुण नहीं अपि तु एकमात्र एक उक्ति-वैचित्र्य है क्योंकि कहां तो 'गुण' का काव्य–व्यवहार का निदान होना और कहां इस 'ओज' नामक अर्थ गुण का–'प्रौढि' के प्रथम भेदचतुष्टय का अन्ततोगत्वा उक्तिवैचित्र्य मात्र बन जाना जिसके होने से न तो कोई रचना 'काव्य' हो सके और न तो होने से 'अकाव्य'! अन्तिम 'साभिप्रायत्व' रूप 'प्रौढि' भी ओज नामक अर्थ गुण क्यों होने लगी क्योंकि यह तो 'अपुष्टार्थत्व' नामक दोष का अभाव मात्र है!

(२) 'प्रसाद'—जिसे 'प्रसाद' नामक अर्थगुण कहा गया है जिसका अभिप्राय है अर्थ का वैमल्य अथवा विवक्षित अर्थ के समर्पक पद–प्रयोग में अर्थ की प्रसन्नता ('अर्थवैमल्यं प्रसादः'–अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपदपरिग्रहे प्रसादः, यथा—'सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भ शालिनी।' का. ३.२.३) वह अर्थ का गुण नहीं अपि तु केवल 'अधिक पदत्व' नामक दोष का अभाव रूप ही है।

(३) 'माधुर्य'—जिसे 'माधुर्य' नामक अर्थ गुण बताया गया है जिसका अभिप्राय है 'उक्तिविचित्रता' का ('उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्' यथा—

'रसवदमृतं कः संदेहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।

तानि। अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। क्रम-कौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम् अवैषम्य-

सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्ञनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्॥ —का. ३.२.१०)

वह 'अनवीकृतत्व' दोष के अभाव के अतिरिक्त और क्या!

(४) 'सौकुमार्य'—'सौकुमार्य' नामक अर्थ गुण, जिसका अभिप्राय और कुछ नहीं अपि तु 'अपारुष्य' है ('अपारुष्यं सौकुमार्यम्'–परुषेऽर्थेऽपारुष्यं सौकुमार्यमिति। यथा मृतं यशः शेषमित्याहुः, एकाकिनं देवताद्वितीयमिति, गच्छेति साधयेति च–का. ३.२.११) वस्तुतः 'गुण' नहीं अपि तु अमङ्गल रूप 'अश्लीलत्व' दोष का अभावमात्र ही है। इसी प्रकार—

(५) 'उदारता'—'उदारता' को जो अर्थ गुण कहा गया है जिसका अभिप्राय है 'अग्राम्यता' का ('अग्राम्यत्वमुदारता'–ग्राम्यत्वप्रसङ्गे अग्राम्यत्वमुदारता यथा—

'त्वमेवं सौन्दर्या स च रुचिरतायां परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं चेत्स्याजितमिह तदानीं गुणितया॥ का. ३.२.१२)

वह 'ग्राम्यत्व' नामक दोष के अभाव के अतिरिक्त और क्या!

(६) 'अर्थव्यक्ति'—'अर्थव्यक्ति' को जो एक अर्थगुण माना गया है जिसका अभिप्राय है वस्तु स्वभाव की स्फुटता का ('वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः'। वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यत् असौ अर्थव्यक्तिः यथा—

'प्रथममलसैः पर्यस्ताग्रं स्थितं पृथुकेसरैर्विरलविरलैरन्तः पत्रैर्मनाङ्मिलितं ततः।
तदनुवलनामात्रं किञ्चिद् व्यधायि बहिर्दलैर्मुकुलनविधौ वृद्धाब्जानां बभूव कदर्थना॥'

का. ३.२.१३) वह तो स्पष्टरूप से 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार में ही, जिसका स्वरूप–निरूपण यहां आगे (१० स उल्लास में) किया ही जा रहा है, अन्तर्भूत है (क्योंकि 'स्वभावोक्ति' का अभिप्राय है वर्णनीय वस्तुमात्र के स्वभाव-रूप-वर्ण-संस्थान-की स्पष्टोक्ति का!)

(७) 'कान्ति'–जिसे 'कान्ति' नामक अर्थगुण माना गया है, जिसका अभिप्राय है 'दीप्तरसता' का ('दीप्तरसत्वं कान्तिः'–दीप्ताः रसाः श्रृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः, तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः यथा—

'प्रेयान् सायमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत् प्रच्युतपाणिसंपुटलसन्नीवीनितम्बं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणाममहहा प्रेम्णो विचित्रा गतिः॥ (का. ३. २. १४)

उसका तो यथासंभव 'रसध्वनि' अथवा 'रसवदलङ्काररूप अपराङ्गव्यङ्ग्य गुणीभूत-व्यङ्ग्य' में अन्तर्भाव अनायास किया जा सकता है।

(८) 'श्लेष'–यह 'श्लेष' नामक अर्थगुण, जिसे एक ऐसी 'घटना' अथवा 'अर्थ-योजना' कहा गया है जिसमें 'क्रम' और 'कौटिल्य' एक परिपाटी–अनुसरण और उसके उल्लंघन–दोनों का ऐसा युक्तिपूर्ण संयोग दिखायी दिया करता है जिसमें न तो एक बढ़ा दिखाई दे और न दूसरा घटा ('घटना श्लेषः'। क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगो घटना। स श्लेषः यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंगते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरादेकस्याः नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकंधरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसामन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति।
(का. ३. २. ४)

स्वरूपा समता दोषाभावमात्रं न पुनर्गुणः। कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात्। अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् कथं काव्यम्—इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः।

(दश अर्थगुणवाद के खण्डन का उपसंहार)

(६७) तेन नार्थगुणा वाच्याः ॥

वाच्याः वक्तव्याः।

(रसधर्मरूप गुणत्रय)

(६८) प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये ॥

वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः ॥ ७३ ॥

(क्रमशः गुणत्रय के अभिव्यञ्जकों का निरूपण)

के कस्य इत्याह—

वह कोई गुण नहीं क्योंकि इससे रसभाव का क्या उपकार! वह तो केवल कवि-चातुर्यमात्र है (जो कि रसभाव के प्रतिकूल ही लगा करता है!

(९) 'समता'–'समता' को, जिसका अभिप्राय है 'अविषमता' का ('अवैषम्यं समता'। अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः समता। क्वचिद्धि प्रक्रमोऽपि भिद्यते यथा—

'कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥' (का. ३. २. ५)

अर्थगुण क्यों कहा जाय! इसे तो एकमात्र प्रक्रमभङ्गरूप दोष का अभाव ही मानना युक्तिसंगत है क्योंकि कोई भी व्यक्ति, जब तक वह उन्मत्त न हो, ऐसा कभी नहीं किया करता कि कहना तो प्रारम्भ करे कुछ और उसे छोड़कर कहने चल पड़े कुछ और! इसी प्रकार

(१०) 'समाधि'–'समाधि' को जिसका अभिप्राय है 'अयोनि'–नवीन अथवा अन्यच्छायायोनि'–प्राचीन काव्यार्थ के दर्शन का ('अर्थदृष्टिः समाधिः'। अर्थस्य दर्शनं दृष्टिः। समाधिकारणत्वात् समाधिः। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात्। अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिश्च।''अयोनिः अकारणः अवधानमात्रकारणः इत्यर्थः। अन्यस्य काव्यस्य च्छाया अन्यच्छाया, तद्योनिः॥—का. ३. २. ७) अर्थगुण मानना इसलिये निरर्थक है क्योंकि वह काव्य ही क्या जो न तो कवि का नवीन अर्थदर्शन हो और न प्राचीन अर्थदर्शन! (अयोनि रूप अथवा अन्यच्छायायोनिरूप काव्यार्थ तो काव्यशरीर निर्वाहक अर्थमात्र है अर्थगुण कैसे!)

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अर्थगुणवाद एक निरर्थक किं वा निराधार 'वाद' है। यहां (कारिका में) 'वाच्याः' का अभिप्राय है 'वक्तव्याः' का, न कि 'वक्तुं शक्याः' का, क्योंकि वामन आदि आलङ्कारिकों ने अर्थगुणों का प्रतिपादन तो किया ही है जिसके सम्बन्ध में, यहां, उपर्युक्त विवेचन से, यह सिद्ध किया जारहा है कि ऐसा प्रतिपादन न किया जाना चाहिये क्योंकि गुण तीन ही हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद और ये तीनों ही रस-धर्म हैं न कि और कुछ।

माधुर्य-ओज और प्रसाद का अभिप्राय यह है कि वस्तुतः तो ये तीनों गुण आस्वादरूप हैं जिन्हें उपचारतः रस रूप आस्वाद्य का गुण कह सकते हैं और उपचारतः ही रसाभिव्यञ्जक शब्द गुण भी कह सकते हैं। अब इन्हें शब्दगुण कहने का जो अभिप्राय है वह यह है कि शब्द अर्थात् वर्ण-समास और रचना इनके अभिव्यञ्जन-साधन हैं।

कौन शब्द अर्थात् कैसे वर्ण, कैसे समास और कैसे पदविन्यास किस-किस गुण के अभिव्यञ्जक हैं—इसका विचार किया जा रहा है—

(माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक)

(९९) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥ ७४ ॥

(पद रचना अथवा संघटना)

ट-ठ-ड-ढ वर्जिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः तथा रेफलकारौ ह्रस्वान्तरिताविति वर्णाः समासभावो मध्यमः समासो वेति समासः तथा माधुर्यवती पदान्तरयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका ।

उदाहरणम् ,—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ॥ ३४७ ॥

('ओज' के अभिव्यञ्जक)

(१००) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।

'माधुर्य' के जो अभिव्यञ्जक हैं वे ये हैं—

(१) वर्ण—जैसे कि ट, ठ, ड और ढ को छोड़ कर वे स्पर्श संज्ञक ('क' से 'म' पर्यन्त) वर्ण, जो कि अपने अपने वर्ग के अन्त्यवर्ण जैसे कि ङ, ञ, ण, न और म से संयुक्त होकर मधुर वर्णध्वनि के उत्पादक हुआ करते हैं (जैसे कि अनङ्ग, कुञ्ज इत्यादि) और साथ ही साथ, लघु अर्थात् ह्रस्वस्वर से व्यवहित रेफ और णकार भी ।

(२) समास—जैसे कि असमास अथवा मध्यम समास-अवृत्ति या मध्यवृत्ति और

(३) रचना—जैसे कि उपर्युक्त माधुर्यव्यञ्जकवर्णादि वाली ।

यहां (कारिका में) 'अटवर्गाः' का अभिप्राय है ट, ठ, ड और ढ के अतिरिक्त वर्णों का, 'स्पर्शाः' का अभिप्राय है 'क' से लेकर 'म' तक के वर्णों का (कादयोमावसानाः स्पर्शाः), 'मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः' का अभिप्राय है क से म पर्यन्त वर्णों के, अपने अपने आगे, अपने अपने वर्गों के अन्तिम वर्णों से, संयुक्त हुये रहने का, 'रणौ लघू' का अभिप्राय है ह्रस्वस्वर से व्यवहित रेफ और णकार का । इस प्रकार ये तो हुये माधुर्य-व्यञ्जकवर्ण । 'अवृत्ति' का अभिप्राय है समास के अभाव का और 'मध्यवृत्ति' का अभिप्राय है मध्यम समास का–इस प्रकार यह हुई समास की माधुर्यव्यञ्जकता । 'तथा घटना' का अभिप्राय है मधुर अर्थात् उपर्युक्त माधुर्यव्यञ्जकवर्णादि वाली रचना अथवा पदसंघटना का–इस प्रकार यह हुई रचना अथवा संघटना की माधुर्यव्यञ्जकता ।

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'हाव भावों ने उस आनताङ्गी (स्तनभार से झुकी) सुन्दरी की अनङ्ग की रङ्गभूमि बनी देहलता को इस भांति अपना लिया कि नवयुवकों के हृदय अन्य विषयों की चिन्ता भूल भाल कर उसी में रमने लगे ।'

जहां वर्ण जैसे कि अपने अपने वर्गों के अन्त्यवर्णों से संयुक्त 'ग' और 'त' वर्ण (जैसे कि 'अनङ्ग' 'रङ्ग' आदि में और 'शान्त', 'चिन्तन' आदि में) और ह्रस्वस्वर से व्यवहित रेफ (जैसे कि 'अनङ्गरङ्गप्रतिमम्' आदि में), 'समास' जैसे कि 'अनङ्गरङ्गप्रतिमम्' का मध्यमसमास तथा रचना (जैसे कि 'प्रतिमं तदङ्गम्, भङ्गीभिरङ्गीकृतम्' आदि में माधुर्यव्यञ्जक वर्णों वाली पदसंघटना)-तीनों की माधुर्यव्यञ्जकता स्पष्ट है क्योंकि यहां जो विप्रलम्भ श्रृंगाररस है वही माधुर्यस्रोत के रूप में विराजमान है ।

अनुवाद—ओज के जो अभिव्यञ्जन-साधन हैं वे ये हैं—

(१) वर्ण—जैसे कि कवर्ग आदि वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प) और तृतीय

टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥ ७५ ॥

वर्गप्रथमतृतीयाभ्यामन्त्यया: द्वितीय-चतुर्थयोः रेफेण अध उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यचित् तुल्ययोस्तेन तस्यैव सम्बन्धः टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः शकारषकारौ दीर्घसमासः विकटा सङ्घटना ओजसः ।

उदाहरणम्—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्तेत्यादि ॥ ३४८ ॥

('प्रसाद' गुण के अभिव्यञ्जक)

(१०१) श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ ७६ ॥

(ग, ज, ड, द, ब) वर्णों का उनके अपने अपने अन्त्य (वर्गों के प्रथम वर्णों के अन्त्यवर्ण ख, छ, ठ, थ, फ और वर्गों के तृतीय वर्णों के अन्त्य वर्ण घ, झ, ढ, ध, भ) वर्णों से संयोग अथवा नैरन्तर्य (जैसे कि 'पुच्छ', 'वद्ध' आदि में), रेफ का नीचे, ऊपर अथवा दोनों ओर से किसी वर्ण से संयोग जैसे कि वक्त्र, निर्ह्राद आदि में), समान वर्णों काप रस्पर संयोग (जैसे कि वित्त, चित्त आदि में), ट, ठ, ड और ढ वर्ण तथा शकार और षकार ।

(२) वृत्ति—जैसे कि दीर्घवृत्ति अथवा दीर्घ समास और—

(३) रचना—जैसे कि उपर्युक्तवर्णादि वाली उद्धत पदसंघटना ।

यहां (कारिका में 'आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययोः योगः' का अभिप्राय है 'वर्गों के प्रथम वर्गों का अपने अन्त्य वर्णों अर्थात् द्वितीय वर्णों और वर्गों के तृतीय वर्णों का अपने अन्त्य वर्णों अर्थात् चतुर्थ वर्णों से संयोग' का, 'रेणयोगः' का अभिप्राय है ऊपर, नीचे अथवा दोनों ओर से रेफ के किसी वर्ण से संयोग का, 'तुल्ययोः योगः' का अभिप्राय है उस वर्ण के उसी वर्ण से संयोग का, 'टादिः' का अभिप्राय है णकार को छोड़कर टवर्ग अर्थात् ट, ठ, ड और ढ का और 'शषौ' का अभिप्राय है तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' का—इस प्रकार ये हुये ओज के अभिव्यञ्जक वर्ण । यहां 'वृत्तिदैर्घ्य' का अभिप्राय है दीर्घसमास का—यह हुई 'वृत्ति' अथवा समास की ओजोव्यञ्जकता । इसी प्रकार जो ओज की अभिव्यञ्जक रचना है अर्थात् उपर्युक्त वर्णादि वाली विकट पदसंघटना उसी को यहां (कारिका में) 'उद्धत गुम्फ' कहा गया है । उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा-
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम् ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणाम्
दोष्णां चैषां किमेतत् फलमिह नगरीरक्षणे यत् प्रयासः ॥'

(सप्तम उल्लास में अनूदित)

जहां क्या वर्ण (जैसे कि उस वर्ण का उसी से संयोग–उद्वृत्त, कृत्त आदि में; रेफ का ऊपर, नीचे और दोनों ओर से वर्णों से संयोग–जैसे कि 'उत्सर्पि', 'दर्प', 'गलद्रक्त' आदि में; वर्गों के प्रथम और तृतीय वर्णों का द्वितीय और चतुर्थ वर्णों से संयोग–जैसे कि 'कैलासोल्लासनेच्छा' 'दर्पोद्धुर' आदि में और मूर्धन्य ष आदि) क्या वृत्ति–दैर्घ्य (जैसे कि उद्वृत्तकृत्त···महिम्नाम् आदि का लम्बा समास) और क्या विकट पदसंघटना ? सभी के सभी ओज का ही अभिव्यञ्जन करते प्रतीत हो रहे हैं ।

'प्रसाद' गुण के अभिव्यञ्जक ये हैं—

(१) वर्ण—वे सुकुमार अथवा विकट सभी शब्द जिनके श्रवणमात्र से अर्थ-प्रतीति हो जाय ।

(२) वृत्ति—वह वृत्ति अथवा समास जो श्रुतिमात्र से अर्थप्रत्यायक हो जाये और

समग्राणां रसानां सङ्घटनानां च ।

उदाहरणम्—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥ ३४९ ॥

(वर्ण-वृत्ति-संघटना के उपर्युक्त गुणाभिव्यञ्जन-नियम का अपवाद)

यद्यपि गुणपरतन्त्राः सङ्घटनादयस्तथापि,

---

(३) रचना—वह रचना जो श्रवणमात्र से अर्थप्रतीति करा दे।

यहां (कारिका में) 'समग्राणां साधारणो गुणः' का अभिप्राय है (प्रसाद गुण के) सभी रसों किं वा सभी रसमयी पदरचनाओं के सामान्य गुण होने का।

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'यह कमलिनी-किसलय की शय्या जो पीन कुचयुग किं वा नितम्ब भाग के सम्पर्क से दोनों ओर मिसली दिखाई दे रही है, स्तनों के मध्यभाग से स्पर्श न पाकर हरी भरी लग रही है और धीरे धीरे हिलती-डुलती भुजलता से जहां-तहां छू जाने से अस्तव्यस्त भी प्रतीत हो रही है, कृशाङ्गी (रत्नावली) की विरह-व्यथा को वस्तुतः बताती दीख रही है।'

[जहां माधुर्योचित वर्ण, मध्यम समास किंवा अनुद्धत गुम्फ सभी के सभी प्रसाद का ही अभिव्यञ्जन करते लग रहे हैं।]

टिप्पणी—(क) यहां आचार्य मम्मट ने वर्ण, वृत्ति और रचना (संघटना) की गुणत्रय-व्यञ्जकता का जो प्रतिपादन किया है वह ध्वनिकार और लोचनकार की मान्यताओं का एक युक्तिपूर्ण समर्थन है। ध्वनिकार के अनुसार वर्ण की रसव्यञ्जकता यह है—

'शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा। विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः ॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा। तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युतः ॥

(ध्वन्यालोक २. ३-४)

जिसका विश्लेषण लोचनकार ने इस प्रकार किया है—

'एतदुक्तं भवति—यद्यपि विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिसम्पदेव रसास्वादे निबन्धनम्, तथापि विशिष्टश्रुतिकशब्दसमर्प्यमाणास्ते विभावादयस्तथा भवन्तीति स्वसंवित्सिद्धमदः। तेन वर्णानामपि श्रुतिसमयोपलक्ष्यमाणार्थानपेक्ष्यपि श्रोत्रैकग्राह्यो मृदुपरुषात्मा स्वभावो रसास्वादे सहकार्येव।'

जिसका तात्पर्य यह है कि वैसे तो रसास्वाद में विभावादि से अभिव्यक्त वासनास्थित रत्यादि स्थायीभाव का ही आस्वाद मिला करता है किन्तु विभावादि जब मृदु अथवा परुष वर्णों वाले शब्दों द्वारा उपनिबद्ध हों तब तो यह स्वाभाविक ही है कि अर्थनिरपेक्ष वर्णस्वभाव-वर्णमार्दव अथवा वर्णपारुष्य-भी रसास्वाद के साथ-साथ आस्वादविषय हो जांय।

आचार्य मम्मट ने वर्णों की इस रसव्यञ्जकता को ही यहां गुणव्यञ्जकता के रूप में दिखाया है।

(ख) वृत्ति अथवा समास किंवा संघटना की रसव्यञ्जकता, जिसके आधार पर आचार्य मम्मट ने यहां वृत्ति अथवा समास और संघटना की गुणव्यञ्जकता सिद्ध की है, ध्वनिकार और लोचनकार के अनुसार यह है—

'असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता। तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥
कैश्चित्.
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा। रसान्'—(ध्वन्यालोक ३. ५-६)

'शृङ्गारादिरसाभिव्यञ्जकवाच्यप्रतिपादनसामर्थ्यमेव शब्दस्य माधुर्यम्। तच्च शब्दगतं विशिष्टघटनयैव लभ्यते।' (ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ ३१३)

अनुवाद—वैसे तो माधुर्य-ओज और प्रसाद की अभिव्यञ्जक (वर्ण-वृत्ति और)

(वर्ण-वृत्ति-संघटनानियम के उल्लंघन के निमित्त)

(१०२) वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित् ।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ ७७ ॥

क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचनादयः ।

यथा—

सन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ ॥ ३५० ॥

अत्र हि न वाच्यं क्रोधादिव्यञ्जकम् अभिनेयार्थं च काव्यमिति तत्प्रतिकूला उद्धता रचनादयः । वक्ता चात्र भीमसेनः ।

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः ।

पदरचना भिन्न-भिन्न प्रकार की ही हुआ करती हैं जैसा कि अभी-अभी निर्दिष्ट किया जा चुका है किन्तु कहीं-कहीं अन्य प्रकार के औचित्य के कारण इस गुणाभिव्यञ्जनसमर्थ वर्ण-वृत्ति-संघटना-नियम का उल्लंघन भी हुआ करता है ।

वर्ण, वृत्ति और रचना (संघटना) के इस गुणाभिव्यञ्जन-नियम का जो कहीं कहीं उल्लंघन हुआ करता है उसके कारण ये हैं—

(१) वक्तृगत औचित्य अर्थात् कविगत किंवा कविनिबद्धवक्तृगत औचित्य
(२) वाच्यगत औचित्य अर्थात् वर्णनीय विषय का औचित्य और
(३) प्रबन्धगत औचित्य अर्थात् भिन्न-भिन्न महाकाव्य-मुक्तक-नाटक-कथा-आख्यायिका-चम्पू आदि गत औचित्य ।

कहीं-कहीं केवल वक्तृगत औचित्य से, चाहे वहां वाच्य और प्रबन्ध का कोई औचित्य बिल्कुल न हो, वर्ण, वृत्ति और रचना का नियम टूट जाया करता है । जैसे कि—

(वेणीसंहार १म अङ्क में भीमसेन की इस उक्ति में)

'सहदेव ! किसने रण-भेरी बजा दी, यह रण-भेरी, जो हमारे सिंहनाद के प्रतिध्वान सरीखी भयङ्कर है, जो हमारी द्रौपदी के क्रोध की सर्वप्रथम सूचना दे रही है, जो कुरुवंश-विनाश के चिह्नभूत प्रलयकालीन झंझानिल की ध्वनि सी सुनाई पड़ रही है, जो भिन्न-भिन्न मुरज-मृदङ्ग आदि वाद्ययन्त्रों के वादनकाल में सहसा सुन पड़ने वाले गरजते घनमण्डल के संघर्ष की भांति प्रचण्ड प्रतीत हो रही है और, और जो समुद्रमथन के समय विक्षुब्ध कलकलबहुल अपार पारावार को विलोडित करने वाले मन्दराचल की गंभीर ध्वनि की भीषणता से भर उठी है ।'

यहां जो वर्ण-वृत्ति और संघटना हैं वे एकमात्र वक्ता भीमसेन के व्यक्तित्व के अनुसार हैं क्योंकि जब कि यहां वाच्य केवल प्रश्नरूप है न कि क्रोधादि का-रौद्रादि दीप्तरस का-अभिव्यञ्जक और जब कि यह उक्ति अभिनेय प्रबन्ध-नाटक-की उक्ति है जिसमें दीर्घ-समासा संघटना आदि का कोई स्थान नहीं तब इस प्रकार की वर्ण-वृत्ति-रचना क्योंकर हो ! इस प्रकार की वर्ण-वृत्ति-रचना यहां गुणाभिव्यञ्जन-नियम के अनुसार नहीं अपितु एकमात्र वक्तृगत औचित्य से ही दिखाई दे रही है ।

इसी भांति कहीं-कहीं केवल वाच्यगत औचित्य से, चाहे वहां वक्ता और प्रबन्ध का

यथा—

प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत्सैंहिकेयोपघात-
त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम् ।
कुर्वत्काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरारन्ध्रभाजाम्
भाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ॥ ३५१ ॥

क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षाः प्रबन्धोचिता एव ते। तथा हि—आख्यायिकायां

औचित्य कदापि न हो, वर्ण–वृत्ति–रचना के गुणाभिव्यञ्जन नियम का–गुण–पारतन्त्र्य–सिद्धान्त का–उल्लंघन देखा जाया करता है जैसे कि यहां—

'यह गिरा ! यह गिर पड़ा आकाश से कुम्भकर्ण का भयङ्कर मस्तक ! ऐसा मस्तक जो मानो कटी हुई गर्दन के छिद्र में प्रवेश करती हवा के झांय–झांय से वीर राम के पराक्रम की प्रशस्ति गा रहा हो ! ऐसा मस्तक जिसे सूर्यसारथि ऐसे देख रहा हो मानो उस (मस्तक) के सहसा कट जाने के कारण उस (मस्तक) की आकस्मिक वेगपूर्ण उछाल से उसे (सूर्यसारथि को) राहु का भ्रम हो रहा हो और इसीलिये घोड़ों की घबराहट रोकने के लिये अपना रथ तिरछा किये उसे एकटक देखते जा रहा हो !'

[यहां अभिनेयात्मक प्रबन्ध और वैतालिकरूप वक्ता की दृष्टि से तो परुष वर्ण, दीर्घ समास किंवा उद्धत गुम्फ का कोई औचित्य नहीं किन्तु कुम्भकर्ण के मस्तकरूप वाच्य (वर्णनीय विषय) का औचित्य यहां ऐसा है जो इस प्रकार की वर्ण–वृत्ति-संघटना का नियामक हो रहा है ।]

इसी प्रकार कहीं कहीं केवल प्रबन्धगत औचित्य से, चाहे वहां वक्ता और वाच्य का कोई भी औचित्य न हो, वर्ण–वृत्ति और रचना का विपर्यय युक्तियुक्त ही हुआ करता है ।

जैसे कि—(१) शृंगार रस के रहने पर भी यदि प्रबन्ध 'आख्यायिका' हो (जैसे कि हर्ष चरित आदि) तो वहां कोमल वर्ण–अल्प अथवा मध्यम समास तथा मधुर पदरचना का कोई नियम नहीं ।

(२) रौद्र रस के होने पर भी यदि प्रबन्ध 'कथा' हो (जैसे कि क्षेमेन्द्रकृत पद्य कादम्बरी) तो वहां परुष वर्ण, दीर्घसमास तथा उद्धत पदरचना का नियम नहीं रहा करता । और,

(३) रौद्रादि रस के होते हुये भी यदि प्रबन्ध नाटकादि रूप हो तो वहां दीर्घसमास–कर्णकठोरवर्ण और विकट पदबन्ध का कोई नियम नहीं पालन किया जाया करता ।

और इतना ही क्यों, इसी दृष्टि से अन्यत्र भी जैसे कि मुक्तक–संदानितक–कलापक–कुलक आदि प्रबन्धों में संघटना आदि के नियम का वैपरीत्य स्वयं भी देखा जा सकता है ।

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट ने 'संघटना' को जो यहां 'गुणपरतन्त्र'–'गुणाधीन'–कहा है उसका आधार ध्वनिकार की यह उक्ति है—

'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा (संघटना) ।' (ध्वन्यालोक ३.६)

यद्यपि ध्वनिकार ने अपनी इस उक्ति में 'गुणाधीन संघटना अथवा संघटनाधीन गुण' का बड़ा विशद विचार किया है किन्तु आचार्य मम्मट को यह विचार–विमर्श यहां अभिप्रेत नहीं क्योंकि उन्हों ने यहां ध्वनिकार की परिनिष्ठित धारणा का अनुसरण करते हुये विविध प्रकार की वर्ण–वृत्ति–रचना को, उनके गुणाभिव्यञ्जक होने के कारण, गुणाधीन ही स्वीकार कर लिया है ।

(ख) संघटनादि में गुण–पारतन्त्र्य के नियम के अतिरिक्त अन्य भी नियामक हैं जिनका

शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः, कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः, नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः। एवमन्यदप्यौचित्यमनुसर्तव्यम्।

इति काव्यप्रकाशे गुणालङ्कारभेदनियतगुणनिर्णयो नाम अष्टमोल्लासः ॥ ८ ॥



ध्वनिकार और लोचनकार ने युक्तिपूर्वक निरूपण किया है। ध्वनिकार ने 'वक्ता' और 'वाच्य' के औचित्य को कहीं-कहीं संघटना का नियामक इस प्रकार बताया है—

'तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥

'तत्र वक्ता कविः, कविनिबद्धो वा, कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितः रसभावसमन्वितो वा, रसोऽपि कथानायकाश्रयस्तद्विपक्षाश्रयो वा, कथानायकश्च धीरोदात्तादिभेदभिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः। वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्गं, रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थं वा, उत्तमप्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्', इत्यादि।

(ध्वन्यालोक ३.६)

और इसी प्रकार 'विषय' और 'प्रबन्ध' के औचित्य को भी वर्ण-वृत्ति-रचना का नियामक सिद्ध किया है—

'विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति। काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा॥'

'वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति।'

(ध्वन्यालोक ३.७)

यहां आचार्य मम्मट ने ध्वनि-दर्शन की उपर्युक्त रचना-नियामक-दृष्टि से ही वर्ण-वृत्ति-रचना के वैपरीत्य का यत्किञ्चित् निरूपण कर दिया है।

अष्टम उल्लास समाप्त



अथ नवमोल्लासः

(शब्दालङ्कारनिरूपणात्मकः)

(शब्दालङ्कारः स्वरूप और भेद-विवेचन)

गुणविवेचने कृतेऽलङ्काराः प्राप्तावसरा इति सम्प्रति शब्दालङ्कारानाह—

(शब्दालङ्कार के भेद : प्रथम-वक्रोक्ति-अलङ्कार)

(१०३) यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ ७८ ॥

(वक्रोक्ति के अवान्तर भेद)

तथेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । तत्र पदभङ्गश्लेषेण यथा—

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो
वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान् ।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः
सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः ॥ ३५२ ॥

अनुवाद—**गुणों के विवेचन कर लेने के बाद अब अलङ्कारों के विचार का अवसर है और इसलिये (पहले) यहां शब्द के अलङ्कारों का निरूपण किया जा रहा है ।**

टिप्पणी—मम्मट के अनुसार शब्द के ये ६ अलङ्कार हैं जैसा कि काव्यप्रकाश के टीकाकार श्री सोमेश्वर ने कहा है—

'वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेषचित्रके । पुनरुक्तवदाभासः शब्दालङ्कृतयस्तु षट् ॥'

इन्हीं ६ को शब्द का अलङ्कार यहां इसलिये माना गया है क्योंकि इनमें शब्द का परिवर्त्तन कर देने से अलङ्कार का भी रूप नष्ट हो जाया करता है । प्रयुक्त शब्द के परिवर्त्तन की असहनशीलता ही शब्दालङ्कार की पहचान है ।

अनुवाद—**किसी के एक अभिप्राय वाले वाक्य की किसी के द्वारा दूसरे अभिप्राय में योजना, चाहे वह श्लेष (प्रयुक्त शब्द के अन्य अर्थ) के आधार पर हो चाहे काकु (ध्वनि-विकार) के द्वारा हो, वक्रोक्ति अलङ्कार है, जिसके दो भेद हैं-१ ला, श्लेषवक्रोक्ति और २रा, काकुवक्रोक्ति ।**

टिप्पणी—मम्मट ने शब्दालङ्कारों में सर्वप्रथम 'वक्रोक्ति' का निरूपण एक विशेष अभिप्राय से किया है । आचार्य भामह के अनुसार तो 'वक्रोक्ति' अलङ्कारों का निगूढ रहस्य है—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ (काव्यालङ्कार २.८५)

और कुन्तक ने तो इसे काव्यसर्वस्व के ही रूप में स्वीकार किया है—

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि । बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥'

(वक्रोक्तिजीवित १.७)

मम्मट वक्रोक्ति-सम्बन्धी इन धारणाओं के समर्थक नहीं । इन्हें 'वक्रोक्ति' में शब्द के एक अलङ्कार की ही झलक दिखायी देती है क्योंकि वक्र उक्ति अथवा उक्ति-वक्रता शब्द की ही चारुता है । 'वक्रोक्ति काव्य की आत्मा नहीं'-इस सिद्धान्त का भी सूक्ष्म संकेत यहां मम्मट ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार के क्षेत्र में ही सीमित कर स्पष्ट रूप से कर दिया है ।

अनुवाद—**यहां 'इस प्रकार से' का अभिप्राय है (श्लेप से) श्लेषवक्रोक्ति और (काकु से) काकुवक्रोक्ति का । इन दोनों भेदों में से सभङ्ग पदश्लेष के द्वारा श्लेष-वक्रोक्ति, जैसे कि यहां—**

'(वक्ता) अरे भाई ! यदि तुम नारीजन के अनुकूल व्यवहार करने वाले हो तब तो सचमुच समझदार हो । (श्रोता·) भला ऐसा भी कौन समझदार होगा जो शत्रुजन के

अभङ्गश्लेषेण यथा—

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥ ३५३ ॥

काका यथा—

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ॥ ३५४ ॥

हित की बात करेगा ! (वक्ता-) तो क्या तुम अबलाजन के हितकारी नहीं बनना चाहते ? (श्रोता) भला ! अवलारूप से प्रसिद्ध स्त्रीजन का अहिताचरण भी किसी के लिये कभी अच्छा हो सकता है ? (वक्ता-) अरे ! बलासुर-विनाशी इन्द्र की इच्छा का उल्लङ्घन करना तुम्हारे सामर्थ्य में कहां ?'

अभङ्ग पदश्लेष के द्वारा श्लेषवक्रोक्ति, जैसे कि यहां—

'(वक्ता-) ओह! किसने तुम्हारी बुद्धि ऐसी दारुण (क्रूर) बना दी ! (श्रोता-) भला किसी की बुद्धि भी कभी दारुमयी (काठ की बनी) सुनी है ? अरे बुद्धि तो त्रिगुणात्मक हुआ करती है !'

काकु के द्वारा वक्रोक्ति अर्थात् काकु-वक्रोक्ति, जैसे कि यहां—

'अरी सखी ! बड़े-बूढ़ों की परतन्त्रता में पड़ने के कारण, दूरदेश के लिये प्रस्थान करने वाले वे क्या भला इस अलिकुल और कोकिलों के द्वारा रमणीय वसन्त काल में नहीं आवेंगे !'

टिप्पणी—(क) यहां 'नारीणामनुकूलम्' इत्यादि रचना में जो 'श्लेष-वक्रोक्ति' है वह पदों के भङ्ग अथवा खण्ड करने के कारण है। वक्ता के पद 'नारीणाम्', जिसका अभिप्राय स्त्रीजन का था-को श्रोता ने 'न+अरीणाम्' के रूप में तोड़-मरोड़ लिया, 'वामानाम्' का स्त्री-अर्थ न लेकर शत्रु-अर्थ ले लिया 'हितकृत्' से हितकारक (हितं करोतीति हितकृत्) अर्थ न निकाल कर अहित-कारक (हितं कृन्तति छिनत्ति इति हितकृत्) अर्थ निकाल लिया और अबला-अर्थ के व्याख्यानरूप से प्रयुक्त 'बलाभावप्रसिद्धात्मनः' पद में बल अर्थात् बलासुर के अभाव अथवा नाश के कारण प्रख्यात इन्द्र का अभिप्राय ढूंढ़ लिया !

यहां परस्पर वक्ता और श्रोता एक के द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ में प्रयुक्त पदों को दूसरे अर्थों में ले ले कर अपनी अपनी बुद्धि और उक्ति की बारीकियां दिखाना चाहते हैं। यहां और तो शब्द ऐसे हैं जो एक से अधिक अर्थ के वाचक हैं जिससे इनके खण्ड खण्ड करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु 'नारीणामनुकूलमाचरसि' में 'नारीणाम्' पद ऐसा है जिसका बिना खण्ड किये तो अभिप्राय 'स्त्रियों का' है किन्तु 'न+अरीणाम्' के रूप में खण्ड कर देने पर 'शत्रुओं का नहीं' अर्थ निकल पड़ता है।

यद्यपि यहां ऐसे भी पद हैं जिनका पद-भङ्ग के विना भी, एक अर्थ के बदले दूसरा अर्थ लिया गया है किन्तु मम्मट ने इसे सभङ्ग पदश्लेष के द्वारा वक्रोक्ति इसलिये माना है क्योंकि सभी उक्ति-वक्रता यहां स्त्री-अर्थ में प्रयुक्त 'नारीणाम्' पद के 'न+अरीणाम्' के रूप में भङ्ग करने पर ही प्रारम्भ होती है।

(ख) मम्मट ने केवल अभङ्ग पदश्लेष के कारण 'वक्रोक्ति' का उदाहरण देने के लिये 'अहो केनेदृशी' इत्यादि उद्धरण दिया है। यहां 'दारुणा' पद का प्रयोग वक्ता ने तो क्रूर अर्थ में किया था किन्तु श्रोता ने इससे 'दारु अथवा काठ से' अर्थ निकल लिया। इन दोनों अर्थों में 'दारुणा' पद का भङ्ग नहीं किया गया। यहां भी कवि वक्ता और श्रोता के उक्ति-चमत्कार दिखाने में लगा हुआ है।

(ग) काकु अथवा ध्वनि-विकार के आधार पर वक्रोक्ति 'गुरुजन परतन्त्रतया' इत्यादि में है। यहां नायिका ने तो विना किसी काकु के 'नैष्यति' पद का प्रयोग किया था जिसका अभिप्राय सीधे-'नहीं आवेंगे' था किन्तु सखी ने एक दूसरे ढंग से इसका उच्चारण कर इसका दूसरा ही

(द्वितीय-अनुप्रास अलङ्कार)

(१०४) वर्णसाम्यमनुप्रासः ।

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः ।

(अनुप्रास के अवान्तर भेद)

(१०५) छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

छेका विदग्धाः वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः । गत इति छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्च ।

(छेकानुप्रास-निरूपण)

किन्तयोः स्वरूपमित्याह—

(१०६) सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः ।

अनेकस्य अर्थाद् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः ।

उदाहरणम्—

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥ ३५५ ॥

अभिप्राय 'भला कैसे नहीं आवेंगे ?' निकाल दिया । विना किसी भी पद के भङ्ग अथवा अभङ्ग के ही केवल काकु-ध्वनिविकार-के कारण अर्थ कितना वदल गया !

इन तीनों उदाहरणों में यह स्पष्ट है कि 'वक्रोक्ति' अलङ्कार शब्द का अलंकार है क्योंकि यहां प्रयुक्त शब्दों के वदले यदि दूसरे शब्द रख दिये जांय तो उक्ति-वक्रता ही नष्ट हो जायगी ।

अनुवाद—**वर्णों अर्थात् व्यञ्जनों का जो सादृश्य है उसे 'अनुप्रास' कहते हैं ।**

टिप्पणी—अनुप्रास का शब्दार्थ है—रसादिभिरनुगतः प्रकृष्ट आसो न्यासः अर्थात् इस प्रकार का शब्दचयन जिसमें सदृश व्यञ्जनों का रसभावादि के अनुकूल ऐसा अव्यवहित विन्यास हो जो मनोरञ्जक लगे ।

अनुवाद—**यहां 'वर्णसाम्य' का अभिप्राय है स्वरों के असमान अथवा विसदृश होने पर भी व्यञ्जन-सादृश्य का होना, क्योंकि 'अनुप्रास' कहते हैं (व्यञ्जनों की) ऐसी आवृत्ति को जिसमें बहुत व्यवधान न हो और जो रसभावादि के अनुकूल हो ।**

यह दो प्रकार का है । पहला–छेकगत अर्थात् चतुर कवि द्वारा प्रयुक्त किंवा सहृदय-हृदय-हारी और दूसरा वृत्तिगत–अर्थात् वृत्ति–शब्द-संघटना–पर आश्रित अथवा उसका परिपोषक ।

यहां 'छेक' का अभिप्राय 'विदग्ध'–चतुर का है । 'वृत्ति' कहते हैं वर्णविशेष के रसाभिव्यञ्जनविषयक व्यापार को । 'गत' अथवा आश्रित होने का तात्पर्य है (पहले का) छेकानुप्रास और (दूसरे का) वृत्त्यनुप्रास कहा जाना ।

अनुप्रास के इन दोनों भेदों के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार से है—

एक से अधिक (व्यञ्जन) का एक वार जो सादृश्य है वह तो है पहला अर्थात् 'छेकानुप्रास' ।

'अनेकस्य'–अर्थात् एक से अधिक व्यञ्जन का 'सकृत्'–एक वार जो 'सादृश्य'–साम्य है वह छेकानुप्रास है । जैसे कि यहां—

'इसके वाद अरुण-परिस्पन्द (सूर्य-सारथि के संचरण) से मन्द–कान्ति चन्द्र ने किसी काम-परिक्षाम (रतिखिन्न) कामिनी के कपोल की शुभ्रता धारण कर ली ।'

टिप्पणी—'ततोऽरुणपरिस्पन्द' इत्यादि रचना ऐसी है जिसमें न् और द् (जैसे कि 'परिस्पन्द-

(वृत्त्यनुप्रास-निरूपण)

(१०७) एकस्याप्यसकृत्परः ॥ ७६ ॥

एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यंजनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं **वृत्त्यनुप्रासः**।

(वृत्ति-विचार)

तत्र—

(१०८) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।

(१०९) ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा

उभयत्रापि प्रागुदाहृतम् ।

(११०) कोमला परैः ॥ ८० ॥

परैः शेषैः । तामेव केचिद् ग्राम्येति वदन्ति ।

उदाहरणम्—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥ ३५६ ॥

(वृत्ति-विषयक अन्यमत)

(१११) केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।

एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी—गौडी—पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः ।

मन्दीकृत' में) तथा ण् और ड् (जैसे कि 'गण्डपाण्डुताम्' में) व्यञ्जनों का एक वार सादृश्य प्रतीत होता है । व्यञ्जनों की ऐसी ही आवृत्ति रसभावादि की प्रतीति में व्यवधान नहीं उपस्थित करती और इसीलिये इसे छेक अथवा विदग्ध कवि किंवा सहृदय जन का अनुप्रास कहा जाता है ।

अनुवाद—दूसरा अर्थात् वृत्त्यनुप्रास वह है जिसका रूप है एक अथवा एक से अधिक व्यञ्जन का एक से अधिक बार सादृश्य ।

'एकस्य'-एक का और 'अपि'-भी-शब्द के प्रयुक्त होने के कारण-एक से अधिक व्यञ्जन का दो-बार अथवा कई बार जो सादृश्य है वह वृत्त्यनुप्रास है । इस वृत्त्यनुप्रास के प्रसङ्ग में (वृत्तिओं के सम्बन्ध की) बात ऐसी है—

'उपनागरिका' वृत्ति वह वृत्ति है जिसमें माधुर्य के अभिव्यञ्जक वर्ण अथवा व्यञ्जन हों और 'परुष ।' वह जो ओज के प्रकाशक वर्णों वाली कही जाती है ।

इन दोनों वृत्तिओं के जो उदाहरण हैं वे पहले ही (अर्थात् अष्टम उल्लास में, उपनागरिका के लिये 'अनङ्गरङ्गप्रतिभम्' इत्यादि और परुषा के लिये 'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्त' इत्यादि) दिये जा चुके हैं ।

दूसरे अर्थात् माधुर्य और ओज के प्रकाशक वर्णों के अतिरिक्त वर्णों वाली जो वृत्ति है वह 'कोमला' वृत्ति है ।

यहां 'दूसरे' (वर्णों) से अभिप्राय है (माधुर्य और ओज के अभिव्यञ्जक वर्णों के) अतिरिक्त वर्णों से । इस वृत्ति को कुछ लोग (जैसे कि आलङ्कारिक उद्भट इत्यादि) 'ग्राम्या' वृत्ति कहा करते हैं । जैसे कि—

'रातदिन यह विचारी 'कपूर दूर करो, हार हटाओ, कमल का क्या काम, मृणाल की क्या जरूरत'-बस यही अपनी सखिओं से कहा करती है !'

ये ही तीनों वृत्तियां वामन इत्यादि प्राचीन आलङ्कारिकों के मत में वैदर्भी प्रभृति तीन रीतियां हैं ।

(उपनागरिका, परुषा और कोमला) इन्हीं तीनों वृत्तियों को वामन आदि आचार्य (क्रमशः) वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नाम की तीन रीतियां माना करते हैं ।

(लाटानुप्रास)

(११२) शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—(क) भामह के पहले से ही काव्य में वृत्ति-विचार होता आरहा है। यद्यपि भामह ने 'वृत्ति' की दृष्टि से वृत्ति-विचार नहीं किया है किन्तु 'ग्राम्यानुप्रास' 'लाटीयानुप्रास' इत्यादि रूप से अनुप्रास के विभाग में 'ग्राम्या' (मम्मट की कोमला) आदि वृत्तिओं का संकेत अवश्य कर दिया है। भामह के इसी संकेत के स्पष्टीकरण में उद्भट ने अनुप्रास का यह स्वरूप बताया है—

'सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥' (काव्यालंकारसार संग्रह १. ७)

और वृत्ति-गत अनुप्रास का तीनों वृत्तियों-'परुषा', 'उपनागरिका' और 'ग्राम्या'—का स्वरूप-निरूपण किया है। यद्यपि उद्भट ने वर्ण-विन्यास के वैचित्र्य के प्रयोजन का अन्वेषण नहीं किया किन्तु उनके व्याख्याकार श्री इन्दुराज ने 'रसाभिव्यक्ति' के रूप में त्रिविधवृत्तिगत अनुप्रास के प्रयोजन का उल्लेख स्पष्टतया कर दिया है—

'त्रिष्वेतेषु यथायोगं रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुणेषु वर्णव्यवहारेषु यः सरूपाणां व्यञ्जनानां पृथक् पृथगुपनिबन्धस्तमनुप्रासं कवयस्सदेच्छन्तीति। अतस्तास्तावद् वृत्तयो रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिकाः'''ताश्च तिस्रः परुषोपनागरिकाग्राम्यत्वभेदात्।

(काव्यालंकारसार संग्रह पृष्ठ ५)

इस प्रकार 'वृत्त्यनुप्रास' की जो भेदमीमांसा इन तीनों वृत्तियों के विश्लेषण के रूप में हो चुकी थी उसे मम्मट ने सहर्ष स्वीकार कर लिया है। मम्मट को रुद्रट की पांच वृत्तियां और उनके आधार पर वृत्तिगतअनुप्रास के पांच भेद जैसा कि इन पंक्तिओं (काव्यालंकार २. १९) अर्थात्—**'मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च। वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः॥'** में स्पष्ट है, इसलिये अभिप्रेत नहीं क्योंकि ये उनके ध्वनिवाद की दृष्टि से जब रसाभिव्यञ्जक गुण तीन हैं तो उन गुणों के अभिव्यञ्जक वर्णों की वृत्ति भी तीन से अधिक नहीं हो सकती। वैसे तो मम्मट की दृष्टि में रसाभिव्यञ्जक त्रिविध गुणों के अतिरिक्त इन वृत्तिओं का भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। 'उपनागरिका' आदि का निरूपण भी प्राचीन आलंकारिक-मत का अनुवादमात्र ही है। 'वैदर्भी', 'गौडीया' और 'पाञ्चाली' (विशिष्टा पदरचना रीतिः। सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १. ७. ९) को 'वृत्यनुप्रास' की तीन वृत्तियों में इसलिये अन्तर्भूत किया है क्योंकि मम्मट की दृष्टि में न तो रीति काव्य की आत्मा है जो कि वामन का सिद्धान्त है और न इसमें वृत्ति के अतिरिक्त और कोई निगूढ़ रहस्य है। मम्मट के 'वृत्ति' और 'रीति' के अभेद का आधार आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति है :—

'वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते, तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्, रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः।'

(ध्वन्यालोक (निर्णयसागर) पृष्ठ ५)

और है इसकी अभिनवगुप्तपादाचार्य की यह मीमांसा—

'नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। तथा ह्यनुप्रासानामेव दीप्तमसृणमध्यवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसंपादनार्थं त्रिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः। वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आस्विति।'''तस्माद्वृत्तयोऽनुप्रासेभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाऽभ्यधिकव्यापाराः।' (ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ ५. ६)

अनुवाद—**(उपर्युक्त वर्णानुप्रास के अतिरिक्त) एक शब्दानुप्रास भी है जिसे लाटानुप्रास कहते हैं जिसमें समानार्थक किन्तु भिन्नतात्पर्य वाले शब्दों का सादृश्य रहा करता है।**

शब्दगतोऽनुप्रासः शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात् लाटजनवल्लभत्वाच्च **लाटानुप्रासः**। एष पदानुप्रास इत्यन्ये।

(लाटानुप्रास के भेद)

(११३) पदानां सः।

स इति **लाटानुप्रासः**।

उदाहरणम्—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥ ३५७॥

(११४) पदस्यापि।

अपिशब्देन स इति समुच्चीयते।

उदाहरणम्—

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत्॥ ३५८॥

यह अनुप्रास (निरर्थक वर्णों की आवृत्ति नहीं अपि तु) ऐसे सार्थक वर्णों की आवृत्ति है जहां पर शब्द और अर्थ के अभिन्न होने पर भी तात्पर्य का भेद रहा करता है और जिसे लाट देश के कविजन का प्रिय अनुप्रास होने के कारण 'लाटानुप्रास' कहा जाता है। कुछ आलङ्कारिक इसे (वर्णानुप्रास से सर्वथा भिन्न बताने के लिये) पदानुप्रास भी कहा करते हैं।

टिप्पणी—मम्मट ने यहां अनुप्रास के दो मुख्य भेद किये हैं—१ला वर्णानुप्रास और २रा पदानुप्रास। पहला अर्थात् वर्णानुप्रास तो अवाचक वर्णों की आवृत्ति है जिसके छेकगत और वृत्तिगत दो भेद बताये जा चुके हैं और दूसरा अर्थात् पदानुप्रास वाचक पद की आवृत्ति है जिसे लाटानुप्रास कहते हैं। आलङ्कारिक उद्भट का यहां ऐसा कथन है—

'स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिफलान्तरम्। शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इत्यपि॥

अनुवाद—**यह एक से अधिक पदों की आवृत्ति में भी होता है।**

यहां 'वह' का अभिप्राय है 'लाटानुप्रास' का। जैसे कि—

'जिसके पास उसकी कोई प्रियतमा नहीं, उसके लिये शीतांशु चन्द्र भी दावानल है और उसके लिये, जिसके पास उसकी कोई प्रियतमा है, दावानल भी शीतांशु चन्द्र है।'

टिप्पणी—लाटानुप्रास के उपर्युक्त उदाहरण में एक से अधिक समानार्थक पदों की, तात्पर्य मात्र का भेद रख कर, आवृत्ति की गई है। इस दृष्टि से यह लाटानुप्रास यहां 'अनेकपदगत' लाटानुप्रास कहा जाता है।

यहां तात्पर्य-भेद का अभिप्राय यह है—**'यस्य न सविधे दयिता'** इत्यादि के पूर्वार्द्ध में 'दवदहन' (दावानल) तो उद्देश्य है और 'तुहिनदीधिति' (शीतांशु चन्द्र) है विधेय, किन्तु उत्तरार्द्ध में 'तुहिनदीधिति' उद्देश्य बना दिया गया है और 'दवदहन' बन गया है विधेय। इन शब्दों के समानार्थक होने पर भी इनकी पुनरावृत्ति जिस दृष्टि से यहां की गयी है वह है इनके उद्देश्य-विधेय-भाव का परस्पर परिवर्तन, जिसके कारण यहां अन्वयभेद है जो कि तात्पर्य-भेद में परिणत हो जाता है।

अनुवाद—**इसे एक पद की आवृत्ति में भी देख सकते हैं।**

यहां (अपि) 'भी' शब्द 'उस' अर्थात् लाटानुप्रास का समुच्चायक है। जैसे कि— 'उस वरवर्णिनी का मुख क्या सचमुच सुधाकर-चन्द्रमा है। किन्तु सुधाकर (चन्द्रमा) भला निष्कलङ्क कहां हो सकता है!'

(११५) वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च

एकस्मिन् समासे भिन्ने वा समासे समासासमासयोर्वा नाम्नः प्रातिपदिकस्य न तु पदस्य सारूप्यम् ।

उदाहरणम्—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ॥ ३५६ ॥

(११६) तदेवं पञ्चधा मतः ॥ ८२ ॥

(यमक अलङ्कार)

(११७) अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ॥
यमकम्

टिप्पणी—यहां पर केवल एक पद अर्थात् 'सुधाकर' (चन्द्रमा) पद की ही आवृत्ति है। यद्यपि यहां आवृत्त पद का अर्थ अभिन्न है किन्तु प्रथम प्रयुक्त सुधाकर पद के विधेय होने और द्वितीय प्रयुक्त सुधाकर पद के उद्देश्य होने से तात्पर्य-भेद है जिसके कारण इसकी आवृत्ति की गयी है। इस प्रकार का लाटानुप्रास 'एकपदगत' लाटानुप्रास है।

अनुवाद—**यह वहां भी होता है जहां किसी प्रातिपदिक पद की, एक समास में अथवा भिन्न समास में अथवा समास और असमास में आवृत्ति प्रतीत होती है।**

यहां पर पद का नहीं अपितु नाम अथवा प्रातिपदिक (धातुभिन्न और प्रत्ययभिन्न सार्थक शब्द-स्वरूप) का ही सारुप्य-सादृश्य-अपेक्षित है जो कि चाहे एक समास में हो, चाहे भिन्न समास में हो और चाहे समास और असमास में हो। जैसे कि—

'हे विभाकराकार (प्रचण्डप्रताप) महाराज ! सितकर-कर (चन्द्रकिरण) की भांति रुचिरकान्तिवाली जो कीर्ति है वह आप की ही है और पौरुष-कमला (विजय श्री) तथा कमला (राज्यश्री) भी किसी दूसरे की नहीं आपकी ही हैं।'

टिप्पणी—यहां 'सितकरकररुचिरविभा' इत्यादि उदाहरण प्रातिपदिकगत लाटानुप्रास का उदाहरण है। इस उदाहरण में प्रातिपदिकगत लाटानुप्रास के तीनों प्रकार स्पष्ट दिखायी देते हैं। 'सितकरकररुचिविभा' में 'कर', 'कर' की आवृत्ति तो एक समास में नाम-पद की आवृत्ति है और 'सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार' में 'विभा', 'विभा' की जो आवृत्ति है वह भिन्न समास में नामपद की आवृत्ति का दृष्टान्त है। अब जो समास और असमास में नामपद की आवृत्ति है वह दिखाई देती है 'पौरुषकमला कमला' में-समस्त और असमस्त 'कमला' पद की आवृत्ति में।

अनुवाद—**यह अनुप्रास (अर्थात् लाटानुप्रास) इस प्रकार से (अर्थात् अनेक पद की, एक पद की, एक समासगत प्रातिपदिक की, भिन्नसमासगत प्रातिपदिक की और समस्तासमस्त प्रातिपदिक की आवृत्ति के कारण) पांच प्रकार का हुआ करता है।**

'यमक' अलङ्कार वह है जिसमें, अर्थ के होने पर, भिन्न भिन्न अर्थ वाले वर्ण अथवा वर्णसमूह की पूर्वक्रमानुसार आवृत्ति हुआ करती है।

टिप्पणी—'यमक' का शब्दार्थ है—**'यमौ द्वौ समजातौ तत्प्रकृतिर्यमकम्'** अर्थात् 'यम' अथवा जोड़ुए पैदा हुये दो जीव की प्रतिकृति अर्थात् चित्ररचना। रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार में 'यमक' की जो परिभाषा दी है अर्थात्—

**'तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् ।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य ॥'**

'समरसमरसोय'मित्यादावेकेषामर्थवत्त्वेऽन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम् इति अर्थे सतीत्युक्तम्। सेति सरो रस इत्यादिवैलक्षण्येन तेनैव क्रमेण स्थिता।

('यमक' के भेद-प्रभेद)

(११८) पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥ ८३ ॥

प्रथमो द्वितीयादौ, द्वितीयस्तृतीयादौ, तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमस्त्रिष्वपीति सप्त। प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये इति द्वे तदेवं पादजं नवभेदम्। अर्धावृत्ति श्लोकावृत्तिश्चेति द्वे। द्विधा विभक्ते पादे प्रथमादिपादादिभागः पूर्ववत् द्वितीयादिपादादिभागेषु, अन्तभागोऽन्तभागेष्विति विंशतिर्भेदाः। श्लोकान्तरे हि नासौ भागावृत्तिः। त्रिखण्डे त्रिंशत् चतुः खण्डे चत्वारिंशत्।

जिसका अभिप्राय है—समान रूप से सुने जाने वाले और समान परिपाटी वाले भिन्नार्थक किंवा भिन्न-प्रयोजन वर्णों की पुनरावृत्ति 'यमक' है जिसका व्यापक क्षेत्र 'पद्य' है—उसका प्रभाव मम्मट की यमक-परिभाषा पर स्पष्ट प्रतीत होता है।

अनुवाद—यहां 'अर्थ होने पर' का अभिप्राय यह है—यदि (एकार्थक वर्णावृत्ति वाले 'लाटानुप्रास' से यमक का भेद करने के लिये) यह कहा जाय कि यमक अलङ्कार में भिन्नार्थक वर्ण की आवृत्ति विवक्षित है तो 'समरसमरसोऽयम्' इत्यादि स्थानों पर 'यमक' नहीं हो सकता क्योंकि यहां पहला 'समर' रूप वर्णसमुदाय तो सार्थक है और दूसरा अर्थात् 'समरस' का भाग 'समर' रूप वर्ण-क्रम निरर्थक हैं। अब यदि 'अर्थ होने पर' अथवा 'यदि अर्थ हो तब' (भिन्नार्थक वर्ण अथवा वर्णसमूह की पुनः श्रुति को यमक) कहा जाय तब 'समरसमरसोऽयम्' इत्यादि में भी, जहां एक वर्ण-परिपाटी सार्थक और उसके समान दूसरी वर्ण-परीपाटी निरर्थक क्यों न हो, 'यमक' सर्वथा संगत होगा।

साथ ही साथ यहां 'सा पुनः श्रुतिः' अर्थात् उसी वर्णावृत्ति (पूर्वक्रमानुसारिणी वर्णावृत्ति) का कथन इसलिये आवश्यक है क्योंकि यमक 'सरो रसः' इत्यादि जैसी व्युत्क्रम वाली (क्योंकि यहां वर्ण-साम्य तो है किन्तु वर्ण-क्रम में भेद है) वर्णावृत्ति से भिन्न प्रकार की (अर्थात् समान आनुपूर्वी वाली) वर्णावृत्ति में ही माना जाय।

सबसे पहले तो यमक के दो भेद हैं—१ला पादवृत्ति (श्लोक के चतुर्थांश में रहने वाला) और २रा पादांशवृत्ति (अर्थात् श्लोक के चतुर्थांश के भी अंश में उपलब्ध) और इन भेदों के अवान्तर भेदों के साथ तो इसके अनेकानेक प्रकार हैं।

पादवृत्ति अथवा पादगत यमक अलङ्कार इग्यारह प्रकार का है। सात प्रकार तो इसके इस दृष्टि से हैं—(१) प्रथम पाद की द्वितीय पाद में आवृत्ति होने से (२) प्रथम पाद की तृतीय पाद में आवृत्ति होने से (३) प्रथम पाद की चतुर्थ पाद में आवृत्ति होने से (४) द्वितीय पाद की तृतीय पाद में आवृत्ति होने से (५) द्वितीय पाद की चतुर्थ पाद में आवृत्ति होने से (६) तृतीय पाद की चतुर्थ पाद में आवृत्ति होने से और (७) प्रथम पाद की ही द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद में आवृत्ति होने से। (८) वां प्रकार इस यमक का है प्रथम पाद की द्वितीय पाद में और तृतीय पाद की चतुर्थ पाद में आवृत्ति का और (९) वां प्रथम पाद की चतुर्थ पाद में और द्वितीय पाद की तृतीय पाद में आवृत्ति का। अब रहा (१०) वां वह है आधे श्लोक की आवृत्ति और (११) वां वह है पूरे श्लोक की आवृत्ति।

पादभागवृत्ति अथवा पादांशगत जो यमक है उसके तो अनेक प्रकार हैं जैसे कि यदि श्लोक के प्रत्येक पाद के दो २ भाग कर दिये जांय तब पादवृत्ति के ही समान यहां भी आवृत्ति होने से पहले तो ये २० भेद हो जायेंगे-(१) प्रथम पाद के आद्य भाग की द्वितीय पाद के आद्य भाग में आवृत्ति (२) प्रथम पाद के आद्य भाग की तृतीय पाद के

प्रथमपादादिगतान्त्यार्धादिभागो द्वितीयपादादिगते आद्यार्धादिभागे यम्यते इत्याद्यन्वर्थतानुसरणेनानेकभेदम्, अन्तादिकम् आद्यन्तिकम् तत्समुच्चयः, मध्यादिकम् आदिमध्यम् अन्तमध्यम् मध्यान्तिकम् तेषां समुच्चयः। तथा तस्मिन्नेव पादे आद्यादिभागानां मध्यादिभागेषु अनियते च स्थाने आवृत्तिरिति प्रभूततमभेदम्। तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम्।

आद्य भाग में आवृत्ति (३) प्रथम पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति (४) द्वितीय पाद के आद्य भाग की तृतीय पाद के आद्य भाग में आवृत्ति (५) द्वितीय पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति (६) तृतीय पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति (७) प्रथम पाद के आद्य भाग की द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति (८) प्रथम पाद के आद्य भाग का द्वितीय पाद के आद्य भाग से और तृतीय पाद के आद्य भाग का चतुर्थ पाद के आद्य भाग से (एकत्र) सारूप्य (९) प्रथम पाद के आद्य भाग का तृतीय पाद के आद्य भाग और द्वितीय पाद के आद्य भाग का चतुर्थ पाद के आद्य भाग से (एकत्र) सारूप्य और (१०) इन सब के साथ अर्द्ध भाग की आवृत्ति। और इसी प्रकार प्रथमादि पादों के अन्त्यभाग की द्वितीयादि पादों के अन्त्यभाग में आवृत्ति होने से १० और भेद, जिससे दोनों मिलकर २० भेद हुये। (यहां पादगत यमक के समान ११, ११ भेद मिला कर १२ भेद इसलिये नहीं हो सकते क्योंकि) यहां 'श्लोकावृत्ति' नामक भेद, भाग की आवृत्ति के श्लोकान्तर में रोचक न होने के कारण, नहीं माना जाता। इस रीति से यदि पाद के तीन खण्ड किये जांय तो उनमें आवृत्ति होने से तीस भेद होंगे और यदि चार खण्ड, तो चालीस भेद। (ये भेद तो हुये सजातीय भागावृत्ति अर्थात् एक पाद के आद्य भाग की दूसरे पाद के आद्य भाग में आवृत्ति की दृष्टि से।)

अब प्रथम पादादि के अन्तिम और अर्द्धादिक भाग की द्वितीय पादादि के आद्य और अर्द्धादिक भाग में आवृत्ति तथा परस्पर योग के कारण (अर्थात विजातीय भागावृत्ति की दृष्टि से) इसके जो भेद हैं वे तो अनेक हैं, जैसे कि अन्तादिक (प्रथम पाद के अन्त्य अर्द्ध भाग की द्वितीय पाठ के आद्य अर्द्ध भाग में आवृत्ति), आद्यन्तिक (प्रथम पाद के आद्य अर्द्ध भाग की द्वितीय पाद के अन्त्य भाग में आवृत्ति), उभय समुच्चय (प्रथम पाद के आद्य और अन्त्य भाग की द्वितीय पाद के अन्त्य और आद्य भाग में आवृत्ति), मध्यादिक (श्लोक के तीन-तीन अथवा चार-चार खण्डों में पूर्व पाद के मध्य भाग की उत्तर पाद के आदि भाग में आवृत्ति), आदिमध्य (पूर्व पाद के आदि भाग की उत्तर पाद के मध्यभाग में आवृत्ति), अन्त मध्य (प्रथम पाद के अन्त्य भाग की द्वितीय पाद के मध्य भाग में आवृत्ति), मध्यान्तिक (पूर्वपाद के मध्यभाग की द्वितीय पाद के अन्त्य भाग में आवृत्ति) और इन दोनों अर्थात् अन्तमध्य और मध्यान्तिक का समुच्चय (पूर्वपाद के अन्त्य और मध्य भाग की द्वितीय पाद के मध्य और अन्त्य भाग में आवृत्ति)।

इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि एक ही किसी पाद में आद्यादिक भागों की मध्यादिक भागों में आवृत्ति हों और पादादि-व्यवस्थारहित गद्यादि में तो किसी वर्ण-परिपाटी की कहीं भी आवृत्ति हो सकती है और इस प्रकार इसके भेद-प्रभेद और भी बहुत अधिक हो गये। इन भेद-प्रभेदों की परिभाषा यहां कदापि विवक्षित नहीं क्योंकि ये काव्य के रसास्वाद में वस्तुतः वैसे ही विघ्नदायक हैं जैसे ईख के रसास्वाद में उसकी एक पर एक गांठें।

टिप्पणी—(क) मम्मट के पूर्ववर्त्ती आलङ्कारिकों ने यमक के भेद-प्रभेदों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन दिया है। यहां मम्मट ने प्राचीन अलङ्कार शास्त्र की यमक-सम्बन्धी मान्यता का निर्वाह तो अवश्य किया है किन्तु साथ ही साथ यह भी संकेत स्पष्टरूप से कर दिया है कि यमक के विविध बन्धों के प्रति कवि अथवा सहृदय की रुचि काव्य और रसास्वाद के लिये नितान्त हानिकर है।

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ॥
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ॥ ३६० ॥
विनायमेनो नयताऽसुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना ।
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम् ॥ ३६१ ॥
स त्वारम्भतोऽवश्यबलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥ ३६२ ॥
सत्त्वारम्भरतोऽवश्यमवलम्बितताखम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥ ३६३ ॥

(ख) मम्मट के मत में काव्य की दृष्टि से यमक का क्या और कितना महत्त्व है यह तो इसीसे स्पष्ट है कि मम्मट ने यमक के भेद-प्रभेदों और उनके भी अवान्तर भेदों के 'नामकरण' में कोई भी ऐसी रुचि नहीं दिखायी जो कि उनके पूर्ववर्त्ती आलङ्कारिकों ने दिखा रखी है । यमक के इन भिन्न-भिन्न भेदों के वे सुन्दर-सुन्दर नाम काव्यप्रकाश में नहीं गिनाये गये जो कि प्राचीन अलङ्कार-ग्रन्थों जैसे कि रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' में ही बड़े मनोयोग से गिनाये गये हैं । रुद्रट ने पादवृत्ति यमक के उपर्युक्त ११ प्रकारों के क्रमशः ये नाम दिये हैं—मुख, सदंश, आवृत्ति, गर्भ, संदष्टक, पुच्छ, पंक्ति, युग्मक, परिवृत्ति, समुद्ग और महायमक । और साथ ही साथ सबका लक्षण-उदाहरण बताते हुये यमक-बन्ध के प्रति कवियों को प्रोत्साहित तक किया है :—

'इति यमकमशेषं सम्यगालोचयद्भिः सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यवद्भिः ।
सुविहितपदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना ॥'
(काव्यालङ्कार ३.५९)

अनुवाद—इसीलिये इसके कुछ भेदों के ही उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(१) 'हे महाराज ! सन्नारीभरणोमाय'—सन्नारीभरणा (पतिव्रता स्त्रियों की एकमात्र शोभा अथवा भरण-पोषण-कारिणी) उमा के अय (प्राप्तिस्थान अथवा परमपद) चन्द्रशेखर (भगवान् शिव) की आराधना करते हुये, 'सन्नारीभरण' (सग्राम में शत्रु-पक्ष के राज-सैन्य के विनाशक) तथा अमाय (निष्कपट) आप सार्वभौम सम्राट् हो जांय ।' (यहां प्रथम पाद के 'सन्नारीभरणोमाय' रूप वर्ण-समूह की तृतीय पाद में आवृत्ति होने से 'संदंश' नामक 'यमक' है ।)

(२) यह महापुरुष (अयं महाजनः) शत्रु के मान का मर्दन करने वाला (मानसात्) और दुर्जनों का दमन करने वाला (महाज-नोदी) होकर भी अपनी प्राण रक्षा में निरत लोगों को रुला कर (यतमानसादरं, यतमानानां मरणप्रतिक्रिया-व्यावृतानां सादं खेदं राति ददातीति क्रियाविशेषणम्) प्राणिलोक के प्राणहारक (असुखादिना) सब को नीचा दिखाने वाले (ऊनयता) सब के सुख के संहारकर्ता (सुखादिना) और—सब को मृत्युलोक में पहुंचा देने वाले (नयता) यमराज के द्वारा (यमेन) बिना किसी अपराध के ही (एनो विना) कितनी शीघ्रता से (अरं) नष्ट-भ्रष्ट हो गया (अदीयत) ! (यहां 'युग्मक' नाम का यमक है क्योंकि प्रथम पाद की द्वितीय पाद में आवृत्ति है और तृतीय पाद की चतुर्थ पाद में)

(३) स (उस) अलसं अवान् (शीघ्रतापूर्वक समर में प्रस्थान करने वाले) अस्थितः (विष्णुपरायण किं वा प्रचण्ड-प्रतापी) सत्त्वारम्भरतः (पराक्रम के कार्यों में नित्य निरत) सर्वदारणमानैषी (शत्रु-संहार में अपने मान के रक्षक और) दवानल-समस्थितः (शत्रु-वन में दावानल के समान विराजमान राजा ने) भरतः (अपने प्रबल प्रभाव से) विततारवम् (सिंहनाद करते हुये) सर्वदा (सदा ही) अवश्यं (वश में न आने वाले भी किन्तु पुनः) अबलं (निर्बल बने) अवलम्बितताखम् (प्राण रक्षा के

अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम् ।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥ ३६४ ॥
यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम् ।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ॥ ३६५ ॥
सरस्वति ! प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति !
सर स्वति ! कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्र-सरस्वति ! ॥ ३६६ ॥
ससार साकं दर्पेण कन्दर्पेण ससारसा ।
शरन्नवाना बिभ्राणा नाविभ्राणा शरन्नवा ॥ ३६७ ॥
मधुपराजिपराजित-मानिनीजनमनः सुमनः सुरभि श्रियम् ।
अभृत वारितवारिजविप्लवं स्फुटितताम्रतताम्रवणं जगत् ॥ ३६८ ॥

लिये जंगलों में छिपे) आरं (अरि-समूह को) रणमानैषीत् (रणभूमि में बलात्कारपूर्वक पकड़ मंगाया ।)—यहां 'महायमक' है जिसमें पूरे श्लोक की ही आवृत्ति का चमत्कार दिखायी दे रहा है । महायमक और शब्दश्लेष में एक भेद है जिसका ध्यान रखना आवश्यक है । शब्दश्लेष में तो एक ही प्रयत्न से दो वाक्यों का उच्चारण होता है किन्तु महायमक में प्रयत्न-द्वयपूर्वक ।

(४) (उस जगन्माता परमेश्वरी दुर्गा के चरणरज हमारे मनोरथों को सफल बनावें) याम् (जिस) अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां (अनन्त [महिमा से विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त देवी को) वेधा न वेद (ब्रह्मा भी तत्त्वतः नहीं पहचान पाते) च (और) (या मातेव प्रणते मानवे दयां भजते) जो कि माता की भांति अपने आगे प्रणत मनुज पर सदा दया-दृष्टि रखा करती है । (श्री आनन्दवर्धनाचार्य के 'देवीशतक' के इस श्लोक [में 'संदष्टक' नामक यमक अलङ्कार है क्योंकि यहां द्वितीय पाद के अन्तभाग 'न वेद याम्' की चतुर्थ पाद के अन्त भाग में आवृत्ति है ।)

(५) (शिवेहितां) भगवान् शंकर की कामना-भूमि, (स्मरामितां) कामदेव के द्वारा अपरिच्छिन्न सौन्दर्यशालिनी किं वा (शिवे हितां) निरन्तर लोककल्याण में लगी (तां स्मरामि) उस परमेश्वरी दुर्गा को नमस्कार है, जिसके (अभयदानतः) मङ्गल-दानों के द्वारा (यदानतः) निरन्तर प्रणत (अयं) भक्त-जन (नयात्ययं न याति) कभी भी दुर्मार्ग पर नहीं चला करते । (आनन्दवर्धनाचार्य के 'देवीशतक' की इस रचना में 'आद्यन्तिक' यमक अलंकार है क्योंकि यहां एक ही पाद में आदि भाग की अन्तभाग में सुन्दर आवृत्ति दिखाई दे रही है ।)

(६) (हे सरस्वति) हे वाग्देवि ! दुर्गे ! (क्षेत्रकुरुक्षेत्र सरस्वति) हे भक्त-जन के कुरुक्षेत्ररूपी हृदय-क्षेत्र की आप्लाविनि ! देवि ! (प्रसादं सर) मुझ भक्त-जन पर प्रसन्न हो और (मे चित्त-सरस्वति) मेरे मनः समुद्र में (स्थितिं स्वति कुरु) अपना सुन्दर निरन्तर आवास बना लो । ('देवीशतक' की इस रचना में पूर्वार्द्ध में 'आद्यन्तिक', और उत्तरार्द्ध में आद्यन्तिक किं वा अन्तादिक दोनों का 'समुच्चय' स्पष्ट झलक रहा है ।)

(७) (ससारसा) कमलों अथवा सारसों के साथ (नवानाः) अपङ्किल मार्गों से रमणीय (नाविभ्राणा) पक्षियों के कल-कूजन से सुरम्य (शरं बिभ्राणा) कास-कुसुम से अतिशय कमनीय (नवा शरत्) नयी-नयी यह शरद् ऋतु (कंदर्पेण साकं) मानो हृदयोन्मादक मदन के साथ (दर्पेण ससार) अपने अभिमान में चूर आ ही पहुंची । यहां पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में आद्यन्तिक और अन्तादिक का 'समुच्चय' है ।)

(८) (मधुपराजिपराजितमानिनीजनमनः सुमनः सुरभि) मानिनी जन के हृदयों को भ्रमरों के मधुर गुञ्जन से पराजित करने वाले फूलों के द्वारा सर्वतः सुरभित, (वारित-

एवं वैचित्र्यसहस्रैः स्थितमन्यदुन्नेयम् ।

(श्लेष)

(११९) वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥ ८४ ॥

(श्लेष के भेद)

अर्थभेदेन शब्दभेदः इति दर्शने काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः । स च वर्ण–पद–लिङ्ग–भाषा–प्रकृति–प्रत्यय–विभक्ति–वचनानां भेदादष्टधा ।

वारिजविप्लवं) तुषारपात के अभाव में प्रसन्न कमल-वनों से सुशोभित, (स्फुटिततान्त्रताम्रवणं) मञ्जरिओं से भरे और रक्त किशलयों से कमनीय आम्रकाननों से सर्वत्र रमणीय (जगत्) यह सारा संसार–इस वसन्त काल में (श्रियं अभृत) एक अद्भुत सौन्दर्य से भर उठा । (महाकवि रत्नाकर के 'हरविजय महाकाव्य' के इस श्लोक में ऐसे यमक-भेदों का समुच्चय है जिनमें वर्ण-समूह अनियत स्थान में आवृत्त हो रहे हैं ।)

इसी प्रकार 'यमक' के नाना भेदों के नाना प्रकार के चमत्कारों से भरे अनेकानेक उदाहरण स्वयं काव्य-साहित्य में देखे जा सकते हैं ।

टिप्पणी—(क) 'काव्यालङ्कार' के रचयिता आचार्य रुद्रट ने 'नियतस्थानावृत्ति' यमक के प्रकारों की गणना तो संभव मानी है किन्तु 'अनियतस्थानावृत्ति' यमक को असंख्य प्रकार का ही कहा है—

'यमकानां गतिरेषा देशावयवावपेक्षमाणानाम् । अनियतदेशावयवं त्वपरमसंख्यं सदेवास्ति ॥'

आचार्य मम्मट ने प्राचीन आलंकारिकों की मान्यता की रक्षा की ही दृष्टि से यहां 'यमक' के कतिपय भेदों का विवेचन किया है ।

(ख) मम्मट के अनुसार यमक–बन्ध में कविजन का अभिनिवेश अनुचित है क्योंकि मम्मट की दृष्टि में आनन्दवर्धनचार्य की यह धारणा—

'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् । शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥'

काव्य-सौन्दर्य की रक्षा के लिये अत्यन्त अपेक्षित है ।

अनुवाद—'श्लेष' वह अलंकार है जिसमें अर्थ-भेद के कारण परस्पर भिन्न भी शब्द, उच्चारण-सारूप्य के कारण, एकरूप प्रतीत हुआ करते हैं । यह अक्षर इत्यादि के इस प्रकार के सारूप्य के कारण, आठ प्रकार का हुआ करता है ।

टिप्पणी—(क) 'श्लेष' के मूल में जो बात छिपी है वह है भिन्नार्थक शब्दों के पारस्परिक भेद की अप्रतीति, जिसका कारण है ऐसे शब्दों में, वर्णों की समान आनुपूर्वी के होने से, उच्चारण की समानता ।

(ख) मम्मट की श्लेष-परिभाषा रुद्रट की श्लेष-परिभाषा का अनुसरण करती है । रुद्रट ने श्लेष का ऐसा ही स्वरूप-निरूपण किया है—

'वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधि । युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः ॥
वर्ण-पद-लिङ्ग-भाषा-प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति-वचनानाम् ।
अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥' (काव्यालंकार ४. १, २)

अनुवाद—'श्लेष' कहते हैं परस्पर भिन्न भिन्न अर्थ रखने वाले भी शब्दों में, ऐकरूप्य-अभेद की प्रतीति को, जिसका 'अर्थभेदेन शब्दभेदः'–'यदि अर्थ भिन्न भिन्न हैं तो शब्द भी भिन्न भिन्न ही होंगे' (उद्भट-सिद्धान्त) की दृष्टि से तो यह अभिप्राय है कि परस्पर भिन्न-स्वरूप भी शब्द उच्चारण-सारूप्य के कारण भिन्न–भिन्न न प्रतीत होकर एक से प्रतीत

क्रमेणोदाहरणम्—

अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः ।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥ ३६६ ॥

पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ! ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥ ३७० ॥

भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये ।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥ ३७१ ॥

हुआ करें, किन्तु इस दृष्टि से (जो कि वास्तविक दृष्टि है) कि 'काव्यमार्ग में स्वरादिभेद की कोई विवक्षा नहीं (क्योंकि ऐसा होने से श्लेष-सौन्दर्य ही नष्ट हो जायगा) इसका जो अभिप्राय है वह है भिन्नार्थक भी शब्दों में, एक प्रकार के उच्चारण के कारण, उनके स्वरूप-भेद के तिरोहित हो जाने का । यह श्लेष (वस्तुतः सभङ्गपदश्लेष) वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन इन आठ भेदक उपाधिओं के कारण आठ प्रकार का हुआ करता है ।

इन (श्लेष-भेदों) के क्रमशः ये उदाहरण हैं :—

(१) वक्रे विधौ—अष्टमी चन्द्र-शकल पक्षान्तर में कुटिल भाग्य के मस्तक पर विराजमान रहने पर जब कि देवाधिदेव भगवान् शङ्कर की भी यह अवस्था कि भीषण नरमुण्ड ही अलङ्कार रह जाय, विकलाङ्ग भृङ्गी (गण विशेष) ही एक मात्र सेवक बच जाय और जीर्ण-शीर्ण एक वृषभ (नन्दी) ही केवल धन के नाम पर दिखाई देने लगे, तब भला हम सरीखे तुच्छ मनुजों की क्या बात !

[यहां 'विधु' और 'विधि' दोनों शब्दों का सप्तमी-एकवचनान्त रूप 'विधौ' है और इस प्रकार दोनों में उच्चारण-सारूप्य होने से एक रूपता की जो प्रतीति है वह वर्ण-श्लेष है, जैसा कि रुद्रट का भी मत है—
'यत्र विभक्ति-प्रत्यय-वर्णवशादैकरूप्यमापतति । वर्णानां विविधानां वर्णश्लेषः स विज्ञेयः ॥]

(२) हे महाराज ! अब तो आपका और हमारा आवास एक रूप ही हो रहा है-यदि आपका आवास 'पृथु-कार्तस्वर-पात्र' विपुल स्वर्ण-पात्रों से परिपूर्ण, 'भूषितनिःशेषपरिजन'-सजे-धजे अनुचर-परिचरों से भरपूर और 'विलसत्करेणुगहन' सुन्दर सुन्दर हथिनियों से सजा-धजा है तो हमारा भी आवास 'पृथुकाऽर्त्तस्वरपात्र' भूखे-प्यासे बाल-बच्चों के करुण-क्रन्दन का एक मात्र स्थान, 'भूषितनिःशेषपरिजन' भूमि पर ही बैठने-उठने वाले समस्त पुत्र-कलत्रादि से भरपूर और 'विलसत्करेणुगहन' डेरा-डाले पड़े हुये चूहों की बिल की धूल से धूसरित है । [यहां पद श्लेष हैं क्योंकि ये समस्त-पद अर्थभेद से भिन्न पद होने पर भी उच्चारण-सारूप्य के कारण एकरूप बन रहे हैं ।]

(३) भगवान् विष्णु के वे नेत्र अथवा उनकी वह मूर्ति आप सब की भव-बाधा की शान्ति करे । कैसे नेत्र और कैसी मूर्ति ? 'भक्ति प्रह्वविलोकनप्रणयिनी' (नेत्र तो) भक्तजनों पर दया-दृष्टि रखने में निरन्तर तत्पर (और मूर्ति) भक्त जनों के दर्शन का एकमात्र केन्द्र; 'नीलोत्पलस्पर्धिनी' (नेत्र तो) नील-कमल की सुन्दरता से होड़ लगाने वाले (और मूर्ति) सुन्दरता में नील कमल से बढ़ी-चढ़ी, 'ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये' (नेत्र तो) परमपद के इच्छुक समाधिनिरत योगियों के ध्यान के एकमात्र आलम्बन बने

एष वचनश्लेषोऽपि ।

महदे सुरसन्धम्मे तमवसमासङ्गमागमाहरणे ।
हरबहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥ ३७२ ॥
अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥ ३७३ ॥

(और मूर्ति) मनोरथ-सिद्धि के इच्छुक योगि-जन के ध्यान का केन्द्र बनी; 'लावण्यस्य महानिधी' (नेत्र तो) सौन्दर्य के असीम आधाररूप से विरजमान (और मूर्ति) सौन्दर्य की अक्षय निधि, और साथ ही साथ 'लक्ष्मीदृशोः रसिकतां तन्वती' (नेत्र तो) महालक्ष्मी की दृष्टि में रतिभाव के प्रकाशक (और मूर्ति) महालक्ष्मी के हृदय में रतिभाव को अंकुरित करने वाली ! यही वचन-श्लेष का भी उदाहरण है ।

[यहां 'लिङ्ग-श्लेष' है । लिङ्ग-श्लेष का लक्षण यह है—

'स्त्रीपुंनपुंसकानां शब्दानां भवति यत्र सारूप्यम् ।
लघुदीर्घत्वसमासैर्लिङ्गश्लेषः स विज्ञेयः ॥' (रुद्रट काव्यालङ्कार ४. ८)

अर्थात् दीर्घ के ह्रस्व होने, ह्रस्व के दीर्घ होने अथवा समास के कारण जो स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग के शब्दों का रूप-सादृश्य हुआ करता है वह लिङ्ग-श्लेष है । यहां 'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी' जब नेत्र का विशेषण है तब नपुंसक लिंग का शब्द है और जब मूर्ति का, तब स्त्रीलिङ्ग का । यहीं पर वचन-श्लेष भी है क्योंकि नेत्र का विशेषण यह समस्त पद तो प्रथमा के द्विवचन का रूप है और मूर्ति का विशेषण, प्रथमा के एक वचन का रूप । यही बात अन्य विशेषणों के सम्बन्ध में भी यथासंभव घटित होती है ।]

(४) (हे उमे ! मे महदे आगमाहरणे तं सुरसन्धं समासंगं अव, अवसरे (च) बहुसरणं चित्तमोहं सहसा हर) हे परमेश्वरि दुर्गे ! इस जीवन के महोत्सवरूप वेदविद्योपार्जन में देवों के द्वारा भी सदा अभीप्सित मेरे मनोयोग की निरन्तर रक्षा करो और समय समय पर प्रसरणशील मनोमोह का भी शीघ्र ही अपसारण करो । (यह तो संस्कृत भाषा में श्लोक और उसका तात्पर्य हुआ) और (मम देसु रसं धम्मे तमवसम् आसम् गमागमा हरणे । हरवहु ! सरणम् तम् चित्रमोहम् अवसरउ मे सहसा) हे हर-वधु गौरि ! तुम्हीं एकमात्र शरण हो, धर्म-कर्म में मेरी प्रीति उत्पन्न करो, जन्म-मरण के निदान इस संसार में मेरी तामसी प्रवृत्ति का नाश करो और मेरा मनोमोह शीघ्र दूर हो जाय । (यह प्राकृत भाषा में श्लोक और उसका अभिप्राय रहा)

[यहां संस्कृत और प्राकृत भाषा की भिन्न रचतायें उच्चारण-सारूप्य के कारण एकरूप हो रही हैं और इसलिये यहां भाषा-श्लेष है]

(५) (अमित्राणां मित्राणां च सामर्थ्यकृत् अयं नृपात्मजः) शत्रुओं के सामर्थ्य का नाशक और मित्रों के सामर्थ्य का विकासक यह राजकुमार (सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति) अपने हृदय में समस्त शास्त्रों को धारण करेगा और साथ ही साथ शास्त्रज्ञों में इनका प्रवचन भी करेगा ।

[यहां प्रकृति-श्लेष है । प्रकृति-श्लेष की परिभाषा यह है—

सिद्ध्यन्ति यत्रानन्यैः सारूप्यं प्रत्ययागमोपपदैः ।
प्रकृतीनां विविधानां प्रकृतिश्लेषः स विज्ञेयः ॥ (रुद्रट काव्यालङ्कार ४. २४)

अर्थात् एक प्रकार के प्रत्यय, आगम अथवा उपपद के कारण नाना प्रकार की 'प्रकृति' की जो समानरूपता होती है वह प्रकृति-श्लेष है । यहां 'वक्ष्यति' 'वह्' और 'वच्' दो भिन्न धातुओं के 'लृट्' का रूप है जो कि परस्पर एकरूप प्रतीत हो रहा है । इसी प्रकार 'सामर्थ्यकृत्' में 'कृन्त' और 'कृ' धातुओं से क्विप् प्रत्यय के कारण रूप-साम्य हो गया है ।

रजनिरमणमौलेः पादपद्मावलोक-
क्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पत्सहस्रम् ।
प्रमथनिवहमध्ये जातुचित्त्वत्प्रसादा-
दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे ॥ ३७४ ॥

सर्वस्वं हरः सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥ ३७५ ॥

(१२०) भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

प्रकृति-श्लेष यह इसलिये हैं क्योंकि प्रकृति में जो भिन्न-रूपता है वह प्रत्यय के कारण एक रूपता में परिणत प्रतीत हो रही है ।]

(६) हे देवि ! यदि तुम्हारी दया हो जाय तो मैं भी चन्द्रशेखर भगवान् शङ्कर के चरण-कमल के ध्यान में ही अनन्त अलौकिक ऐश्वर्य की प्राप्ति करते हुये, प्रमथ-वृन्द में स्थान पाने में उत्कट उत्कण्ठा से भरा तुम्हारे मनोरञ्जन का साधन बन जाऊं और तब मेरा गणाधिपत्य तो सिद्ध ही हो जाय !

[यहां प्रत्यय-श्लेष है जिसका लक्षण यह है—

'यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां भवत्यनेकेषाम् । सारूप्यं प्रत्ययतः स ज्ञेयः प्रत्ययश्लेषः ॥'

(रूद्रट-काव्यालङ्कार ४. २६)

अर्थात् यदि प्रत्यय के कारण भिन्न २ प्रकृति-प्रत्यय-समुदायों में सारूप्य हो जाय तो उसे प्रत्यय-श्लेष कहते हैं । 'रजनिरमणमौलेः' इत्यादि रचना में 'नन्दिता' में श्लेष है क्योंकि यह पद, जो कि कृदन्त तृच् और तल् रूप तद्धित-दोनों प्रत्ययों के कारण सिद्ध होता है और भिन्न २ अर्थ जैसे कि (नन्द्+तृच्=नन्दिता) आनन्ददायक और (नन्दिन्+तल्=नन्दिता) नन्दित्व अथवा गणाधिपत्य का वाचक है वस्तुतः दो होते हुये भी एकरूप प्रतीत हो रहा है ।

(७) (शिव के प्रति एक दस्यु की उक्ति) हे (हर) महादेव ! आप ही सब के सर्वस्व है, आप ही सब के संसार के निवर्त्तक (मुक्ति-प्रद) हैं और आप ही अपने स्वरूप की ऐसी स्थिति रखा करते हैं जो कि नीति के सर्वथा अनुकूल किं वा लोक-कल्याण के सर्वदा अनुरूप है ।

(उस दस्यु की अपने पुत्र के प्रति उक्ति) हे पुत्र ! तू सब का सर्वस्व-हरण कर ले, सब के घर में सेंध लगाने में कमर कस ले, किसी के प्रति प्रत्युपकार की भावना न रख और अपनी ऐसी जीविका बना ले जो दूसरों को आतङ्कित करती रहे ।

[यह विभक्ति—श्लेष का उदाहरण है । यहां 'हर' इत्यादि पद 'सुबन्त' और 'तिङन्त' दोनों है और भिन्न २ अर्थों के वाचक हैं किन्तु उच्चारण-सारूप्य के कारण एकरूप हो रहे हैं । रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार (४.२८) में विभक्ति-श्लेष का जो लक्षण दिया है अर्थात्—

'सारूप्यं यत्र सुपां तिङां तथा सर्वथा मिथो भवति । सोऽत्र विभक्ति श्लेषः ॥'

वह यहां सर्वथा घटित हो रहा है ।]

टिप्पणी—उपर्युक्त आठों प्रकार के श्लेष सभङ्ग-पद-श्लेष कहे जाते हैं । प्राचीन अलङ्कार शास्त्र में सभङ्ग-पद-श्लेष को ही शब्दालङ्कार माना गया है और इसकी रचना के लिये कवियों को उत्साहित भी किया गया है जैसा कि रुद्रट की निम्न उक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है ।

'शब्दानुशासनमशेषमवेत्य सम्यगालोच्य लक्ष्यमधिगम्य च देशभाषाः ।
यत्नादधीत्य विविधानभिधानकोषान् श्लेषं महाकविरिमं निपुणो विदध्यात् ॥'

(काव्यालंकार ४. ३५)

अनुवाद—'**श्लेष**' का (इन आठों सभङ्ग-पद श्लेष-प्रकारों के अतिरिक्त) एक नवां भी

नवमोऽपीत्यपिर्भिन्नक्रमः।

उदाहरणम्—

योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः।
शतकोटिदतां बिभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ॥ ३७६ ॥

अत्र प्रकरणादिनियमाभावात् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ।

ननु स्वरितादिगुणभेदात् भिन्नप्रयत्नोच्चार्य्याणां तदभावादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धेऽलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये परिगणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दाऽलङ्कारः।

प्रकार है (अर्थात् अभङ्गपद श्लेष) जिस में शब्द, विना किसी शब्द-भेद के कारण जैसे कि (पूर्वप्रतिपादित) 'प्रकृति' आदि से भिन्न हुये भी, भिन्न २ अर्थ का अभिधायक हुआ करता है।

यहां 'भेदोऽपि नवमः' का अभिप्राय है 'नवमोऽपि भेदः' अर्थात् नवां भी भेद, क्योंकि यहां 'अपि' (भी) का क्रमान्वय नहीं अपि तु व्युत्क्रमान्वय विवक्षित है। इसका उदाहरण है-

'(राज-पक्ष में) अनेकों बार शत्रु-राजवंश के समर्थकों को छिन्न-भिन्न करने में अविलम्ब सन्नद्ध किं वा सहस्रकोटि दानी की महिमा से मण्डित यह महाबुद्धिमान् राजेन्द्र वस्तुतः विराज रहा है।

(इन्द्र-पक्ष में) अनेकों बार बड़े २ पर्वतों के विदारण में सदा समर्थ, वज्र के द्वारा शत्रु-संहार में निरत देवराज इन्द्र विराज रहे हैं।

यहां कोई ऐसे प्रकरण इत्यादि नहीं जो कि दोनों अर्थों में से किसी एक का नियन्त्रण करने वाले हों इसलिये दोनों अर्थ (राज-पक्षगत तथा इन्द्र पक्ष-गत) वाच्यार्थ ही हैं (जिसमें 'श्लेष' का स्वरूप स्पष्ट हैं)

टिप्पणी—(क) 'योऽसकृत् परगोत्राणाम्' इत्यादि रचना अभङ्गपदश्लेष के उदाहरण के रूप में यहां उद्धृत की गयी है। काव्य में ध्वनि-तत्त्व के मानने वाले आलङ्कारिकों के लिये इस प्रकार के श्लेष और अभिधामूला व्यञ्जना का पारस्परिक वैधर्म्य वताना आवश्यक है। आचार्य मम्मट ने इसीलिये कहा है कि प्रकरण आदि के नियन्त्रण के अभाव में भी अर्थ-द्वय की जो प्रतीति है वह तो अभङ्ग श्लेष का विषय है और प्रकरणादि के नियन्त्रण के सद्भाव में अर्थान्तर की प्रतीति ध्वनि का विषय है।

(ख) मम्मट ने 'श्लेष' रूप शब्दालङ्कार में रुद्रट के 'शब्दश्लेष' को तो 'सभङ्ग पदश्लेष' के रूप में अन्तर्भूत किया है और उद्भट के अर्थश्लेष का अन्तर्गणन किया है 'अभङ्गपदश्लेष' के रूप में।

(श्लेष-विषयक प्राचीनमत-निराकरणतथा अभङ्गपद श्लेष में शब्दालंकार-समर्थन)

अनुवाद—(प्रश्न)—यहां यह प्रश्न उठ सकता है—(सभङ्गपद-श्लेष किसी प्रकार शब्दालंकार भले ही हो) अभङ्गपद श्लेष को शब्दश्लेषालंकार कैसे मान लिया जाय? जब कि अन्य प्राचीन आलंकारिक (जैसे कि उद्भट, रुय्यक आदि) इसे अर्थश्लेषालंकार कह चुके हैं और इसलिये कह चुके हैं क्यों कि जब स्वरितादि स्वरभेद से भिन्न-भिन्न भी प्रयत्न से उच्चारित शब्दों में एकरूपता-प्रतीति रूप 'शब्दश्लेष' अन्य अलंकारों के आभास के उत्पादक होने के कारण अर्थ-श्लेष ही हो तब बिना किसी स्वरादिभेदप्रयोज्य प्रयत्नादि-भेद के ही भिन्न-भिन्न अर्थ-प्रत्यायक एकशब्दरूप श्लेष (अभङ्गपदश्लेष) जिसमें अन्य अलंकारों के आभासके उत्पादन का भी सामर्थ्य है, अर्थश्लेष नहीं तो और क्या?

टिप्पणी—यहां मम्मट ने उद्भट और उनके व्याख्याकार श्रीप्रतीहार इन्दुराज की मान्यता का संकेत किया है। उद्भट के अनुसार 'श्लिष्ट' (अर्थात् मम्मट-सम्मत 'श्लेष') अलंकार का स्वरूप यह है—

उच्यते-इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथा हि-कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयः व्यर्थत्वादिप्रौढ्याद्युपमादयस्तद्भाव-तदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते।

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता। इत्यभङ्गः
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥ ३७७ ॥ इति सभङ्गः,

इति द्वावपि शब्दैकसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नम् न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम्। अर्थश्लेषस्य तु स विषयः यत्र शब्दपरिवर्त्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना यथा—

'एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्। स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते॥ अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत् पदैः। द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत् प्रतीयताम्॥'
(काव्यालंकारसारसंग्रह ४. ९-१०)

और इन्दुराज के द्वारा इसका उन्मीलन यह—

'एवञ्च श्लिष्टं द्विविधमप्युपमाद्यलंकारप्रतिभोत्पादनद्वारेणाऽलंकारतां प्रतिपद्यते।...... अलंकारान्तराणामत्र प्रतिभामात्रं न तु पदबन्धः।'

तात्पर्य यह है कि 'श्लिष्ट' चाहे वह 'शब्द श्लिष्ट' हो (जिसमें स्वरादिभेद से द्विविध रूप के शब्द अथवा वस्तुतः द्विविध शब्द परस्पर सादृश्य के कारण एकरूप-अभिन्न-लगा करते हैं) या 'अर्थ श्लिष्ट' हो (जिसमें भिन्नार्थक किन्तु समानरूप के शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ का बोधन किया करते हैं) अर्थ का अलंकार है क्योंकि इसमें उपमादि अलंकारों के अवभासन का सामर्थ्य रहा करता है।

अनुवाद—**किन्तु इसका समाधान यह है—यहां (अलङ्कारशास्त्र में) दोष, गुण और अलङ्कारों के शब्दगत तथा अर्थगत रूप से विभाजित होने की जो व्यवस्था है उसमें एकमात्र 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' के सिद्धान्त का ही हाथ है। क्योंकि (शब्द के) श्रुतिकटुत्व आदि दोष अथवा ओज (गाढबन्ध) आदि गुण अथवा अनुप्रास आदि अलङ्कार और (अर्थ के) अपुष्टार्थत्व आदि दोष अथवा ओज (प्रौढि) आदि गुण अथवा उपमा आदि अलङ्कार की जो (शब्दगत और अर्थगत रूपसे) विभाग-व्यवस्था की गयी है उसका एकमात्र कारण है उस शब्द अथवा अर्थ के सद्भाव अथवा असद्भाव का उस दोष, गुण अथवा अलङ्कार के द्वारा अनुवर्त्तन किया जाना। 'श्लेष' के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है क्योंकि इस प्रसङ्ग अर्थात् 'स्वयं च 'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता'—पल्लव के समान अरुणवर्ण और दीप्तिमयकरों से सुशोभित—किंवा 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा'—कष्टलभ्य (मोक्षरूप) फल के इच्छुक लोगों की कामना की पूर्ति करने वाली यह भगवती गौरी उस प्रभात-संध्या की भांति है जो कि 'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता'—पल्लव के समान अरुणवर्ण सूर्य-किरणों से सुशोभित-किंवा 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा'—अस्वाप अर्थात् जागरण के फल (स्नान संध्यादि) के चाहने वाले लोगों की अभीष्टदायिनी हुआ करती है।'**

इत्यादि में जो अभङ्गपद, (जैसे कि 'पल्लवाताम्रभस्वत्करविराजिता' में) और सभङ्ग पद (जैसे कि 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा' में,) श्लेष हैं वे दोनों ही (अन्वयव्यतिरेक के सिद्धान्त के अनुसार) एकमात्र शब्द पर आश्रित हैं और इसलिये इन दोनों का शब्द-श्लेष माना जाना युक्तियुक्त है न कि पहले अर्थात् अभङ्गपद श्लेष (पल्लवाताम्र इत्यादि) का अर्थश्लेष कहा जाना (और दूसरे अर्थात् सभङ्गपद श्लेष का शब्दश्लेष कहा जाना।) (इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि अर्थश्लेष का कहीं भी कोई प्रसङ्ग नहीं क्योंकि) अर्थश्लेष का तो वहां प्रसङ्ग है जहां शब्द के परिवर्त्तन किये जाने पर भी 'श्लेष'-भङ्ग नहीं हुआ करता जैसे कि यहां अर्थात्—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ।। ३७८ ।।

न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा । तथा हि–यथा 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितराम्' इत्यादौ गुणसाम्ये क्रियासाम्ये उभयसाम्ये वा उपमा ।

तथा—

'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव, ।

इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव ।

तथा ह्युक्तं रुद्रटेन—

स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः ।। इति ।

न च 'कमलमिव मुखम्' इत्यादिः साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति वक्तुं युक्तम् पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः ।

'बड़े आश्चर्य की बात है कि किसी दुष्ट व्यक्ति और तुलाकोटि (तराजू की डंडी) की एक सरीखी ही हालत हुआ करती है अर्थात् दोनों थोड़े ही में ऊपर चढ़ जाते हैं और थोड़े ही में नीचे उतर आते हैं।' (जहां 'स्तोकेनोन्नतिमायाति' के बदले 'अल्पेनोद्रेकमायाति' आदि कर देने पर भी अर्थ दो ही निकलते हैं अर्थात् तुलाकोटि के सम्बन्ध में 'ऊर्ध्वगमन' और 'अधोगमन' रूप और खलजन के सम्बन्ध में 'अहंकार' और 'दर्पनाश' रूप) साथ ही साथ 'पल्लवाताम्रभास्वरकरविराजिता' इत्यादि में जो अभङ्गपद श्लेष है उसके लिये यह कहना भी उचित नहीं कि इसके द्वारा यहां (भगवती गौरी और प्रभात-संध्या में औपम्य की दृष्टि से) उपमा के आभास की प्रतीति हुआ करती है क्योंकि वस्तुतः जो बात है वह तो है उपमा के द्वारा ही यहां श्लेष के आभास की प्रतीति के होने की बात।

(यहां यह भी नहीं कहा जा सकता कि शब्द-साम्य मात्र के कारण 'पल्लवाताम्र' इत्यादि में उपमा कैसे ? क्योंकि) जैसे उपमा गुण-साम्य अथवा क्रिया-साम्य अथवा गुण-क्रिया-साम्य के कारण ऐसे प्रसङ्ग जैसे कि 'कमल के समान मनोहर यह मुख कितना शोभित हो रहा है' में मानी जाया करती है वैसे ही इसे शब्द-मात्र के साम्य में भी जैसा कि 'सकल कल (कोलाहल भरा) यह नगर इस समय सकलकल (पूर्णमण्डल) चन्द्र बिम्ब के समान हो रहा है' इत्यादि प्रसङ्ग में स्पष्ट है, मानना सर्वथा युक्ति संगत है। और इसीलिये तो (काव्यालङ्कार के रचयिता, आचार्य) रुद्रट ने कहा है—

'यद्यपि यह ठीक है कि उपमा और समुच्चय (गुण, क्रिया और इन दोनों के साधर्म्य के कारण) निश्चित रूप से अर्थालंकार हैं किन्तु यह भी ठीक है कि इन्हें शब्दमात्र के साधर्म्य में भी देखा जा सकता है।,

(अब श्लेष के प्रसंग में कहीं कहीं शब्द-मात्र साम्य के कारण उपमा-औपम्य-मान लेने का यह अभिप्राय निकाल लेना कि 'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्' इत्यादि में उपमा के बदले अर्थश्लेष मानना पड़ेगा क्योंकि 'निरवकाशाः हि विधयः सावकाशान् विधीन् बाधन्ते' के सिद्धान्त के अनुसार निरवकाश श्लेष (क्योंकि उपमा तो अन्यत्र विना श्लेष के भी होती है-सावकाश-है, किन्तु यहां श्लेष उपमा के विना नहीं हो सकता-निरवकाश-है) के द्वारा सावकाश उपमा बाधित हो जाया करेगी और इस प्रकार उपमा 'कमलमिव मुखम्' जैसे प्रसङ्ग में ही रह जायगी न कि 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' जैसे प्रसंग में, जहां—'मनोज्ञ' रूप साधारण धर्म के उपमान और उपमेय दोनों में अनुगत होने के कारण 'मनोज्ञ' शब्द वस्तुतः दो पृथक् शब्द होते हुये भी समानोच्चारण के कारण एक

देव ! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥ ३७६ ॥

इत्यादिः श्लेषस्य चोपमाद्यलङ्कारविविक्तोऽस्ति विषय इति । द्वयोर्योगे अङ्कर एव । उपपत्तिपर्यालोचने तु उपमाया एवायं युक्तो विषयः अन्यथा विषयापहार एव पूर्णोपमायाः स्यात् ।

न च—

अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका ।

इत्यादौ विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुर्विरोधः । नह्यत्रार्थद्वयप्रतिपादकः शब्दश्लेषः द्वितीयार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररो-

---

रूप-श्लिष्ट है, ठीक नहीं क्योंकि) यहां ऐसी भी कोई संभावना नहीं कि जहां पर साधारण धर्म के वाचक शब्द का प्रयोग न हुआ करे जैसे कि 'कमलमिव मुखम्' इत्यादि में वहीं 'उपमा' मानी जाय, क्योंकि तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि 'पूर्णोपमा' नाम का कहीं कोई अलङ्कार ही नहीं ।

साथ ही साथ (यहां ऐसा भी कहना कि उपमा और श्लेष के विषय के परस्पर संकीर्ण रहने के कारण उपमा के द्वारा श्लेष बाधित हो जाया करेगा, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि) श्लेष का क्षेत्र उपमा आदि अलंकारों के क्षेत्र से सर्वत्र संकीर्ण ही तो नहीं हुआ करता ! श्लेष का अपना भी क्षेत्र है जैसे कि यहां—

'[विष्णु-पक्ष में]—(देव ! त्वमेव पातालम्) हे भगवन् ! आप ही पाताल हैं, (त्वमेव आशानां निबन्धनम्) आप ही भूलोक हैं, (त्वमेवामर मरुद्भूमिश्च) और आप ही स्वर्गलोक हैं, (त्वमेव एको लोकत्रयात्मकः) वस्तुतः एक ही आप भुवनत्रयात्मक हैं ।'

[राजपक्ष में] (देव त्वमेव पाता+अलम्) हे महाराज ! आप ही एक मात्र परम रक्षक हैं, (आशानां त्वं निबन्धनम्) आप ही याचकजन की अभिलाषाओं के निर्वाहक हैं, (त्वं चामरमरुद्भूमिः) चवरों की हवा आप की ही सौभाग्य-विभूति है और वस्तुतः आप ही (एको लोकत्रयात्मकः) अकेले सब के रक्षक, सब के दाता और सर्व सुख-सम्पन्न हैं ।, (जहां पर एक अर्थ के नियामक प्रकरणादि के अभाव में दोनों अर्थों के वाच्यार्थ होने के कारण न तो उपमा की सम्भावना है और न तुल्ययोगिता की, अथवा और किसी अलङ्कार की ही ।)

(अब यह तो सिद्ध ही हो गया कि श्लेष का विषय उपमा के विषय से संकीर्ण नहीं और इसलिये यदि यहां उपमा भी प्रतीत हो तो जो बात माननी ठीक होगी वह यही कि) वैसे यहां एक दृष्टि से दोनों अर्थात् उपमा और श्लेष का (इनके क्षेत्रों के पृथक्-पृथक् व्यवस्थित होने के कारण इन दोनों में बाध्य-बाधक-भाव की सम्भावना न हो सकने से) संकर है अर्थात् दोनों सम-प्राधान्य-भाव से मिले-जुले हैं।

(इसका यह अभिप्राय नहीं कि सर्वत्र श्लेष और उपमा का संकर ही रहा करेगा क्योंकि) वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो वह सब क्षेत्र उपमा का ही क्षेत्र युक्तितः सिद्ध होगा जहां उपमा प्रधान हो और श्लेष उसका अङ्ग । और नहीं तो (सर्वत्र जैसे कि 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्यादि में भी उपमा और श्लेष का संकर मानने से) पूर्णोपमा का क्षेत्र ही कहां रह जायगा !

इस दृष्टि से 'अविन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यविन्दुका'—'पार्वती जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान सुन्दर हैं जिनसे लावण्य की बूंदे टपकती रहती हैं' इत्यादि सूक्तियों में भी ऐसा नहीं कि जो श्लेष है (अर्थात् अप्सुप्रतिबिम्बितः इन्दुस्तद्वत् सुन्दरी अविन्दुसुन्दरी किं वा अ+विन्दु+सुन्दरी अविन्दुसुन्दरी) उससे विरोधाभास ('अ+विन्दुसुन्दरी'

हाभावात् । न च विरोधाभास इव विरोधः श्लेषाभासः श्लेषः । तदेवमादिषु वाक्येषु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलङ्कारान्तरमेव ।

तथा च—

सद्वंशमुक्तामणिः ॥ ३८० ॥

नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोको देव ! महान् भवान् ॥ ३८१ ॥

अनुरागवतीसन्ध्या दिवसस्तत्पुरः सरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथाऽपि न समागमः ॥ ३८२ ॥

आदाय चापमचलं कृत्वाऽहीनं गुणं विषमदृष्टिः ।
यश्चित्रमच्युतशरो लक्ष्यमभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै ॥ ३८३ ॥

भला 'गलल्लावण्य विन्दुका' कैसे) की प्रतीति मान ली जाय क्योंकि वस्तुतः यहां जो बात है वह तो यह है कि विरोधाभास ही के द्वारा यहां श्लेष का आभास हो रहा है क्योंकि यहां जो शब्द है उसके द्वारा दोनों अर्थों का अभिधान नहीं हो रहा। यहां तो वस्तुतः (विन्दुरहित होने पर भी विन्दुसहित होने का) जो दूसरा अर्थ है वह (शब्दशक्ति की महिमा से) आपाततः प्रतीत भले ही हो जाय अन्त में शब्द-बोध का विषय कहां ? (और इस प्रकार श्लेष ही अन्त में कहां ?) और ऐसा भी नहीं कि जैसे विरोध के आभास में विरोधालङ्कार मान लिया जाया करता है वैसे ही श्लेष के भी आभास में श्लेषालङ्कार मान लिया जाया करे ! (क्योंकि वास्तविक विरोध में दोष होने से विरोध के आभास में भले ही विरोधालंकार मान जाय जो कि युक्तियुक्त है किन्तु श्लेष तो यदि कहीं वस्तुतः हुआ तो वहां श्लेषालंकार माना जायगा और यदि श्लेष का आभास ही रहा तो श्लेषालंकार वहां कहां ?)

निष्कर्ष यही निकला कि ऐसे सन्दर्भों में श्लेष नहीं अपि तु श्लेष के आभास के उत्पादक दूसरे-दूसरे अलंकार ही माने जायेंगे (क्योंकि चमत्कार उन्हीं पर निर्भर है न कि श्लेष पर) उदाहरण के लिये यदि इन संदर्भों—

(१) यह राजा 'सद्वंशमुक्तामणि' है अर्थात् सद्वंश के समान सद्वंश में उत्पन्न मुक्तामणि है। (यहां श्लेष रूपक का निर्वाहक है न कि स्वतन्त्र रूप से 'अलंकार' बन रहा है। यहां जो अलंकार है वह एकदेशविवर्त्ति रूपक है)।

(२) हे महाराज ! आप महान् हैं, आप भला किसी क्षुद्र कवि के समान स्वल्पश्लोक (क्षुद्र रचनाकार-थोड़ी कीर्त्ति वाले) कहां ? (यहां 'स्वल्पश्लोक' में जो श्लेष है उसके द्वारा व्यतिरेकालंकार का निर्वाह हो रहा है और इस प्रकार जो अलंकार है वह श्लेष नहीं अपि तु श्लेषमूलक व्यतिरेक है (क्योंकि यहां अन्य कविरूप उपमान की अपेक्षा राजरूप उपमेय का आधिक्य वर्णन किया जा रहा है)।

(३) सन्ध्या तो अनुरागवती (प्रेम में पगी और लाली लिये हुये) है, और दिन है उसका पुरस्सर-उसके सदा अनुगत और आगे २ रहने वाला) किन्तु विधाता की माया भी कैसी विचित्र है कि दोनों का समागम (परस्पर मिलना और रतिसुख) कभी हो ही नहीं सकता ! (यहां जो अलंकार है वह है समासोक्ति क्योंकि यहां श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति हो रही है) न कि श्लेष जिसकी यहां अभिधा के संध्या और दिन रूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाने के कारण, कोई सम्भावना ही नहीं।)

(४) उस (महाधनुर्धारी) को नमस्कार है जो 'विषमदृष्टि'—'त्रिनयन' है और जिसने 'अचल चाप'-'मन्दर पर्वत रूपी धनुष' को हाथ में ले, 'अहीन'-सर्पराज वासुकि को उसमें 'गुण' प्रत्यञ्चा के रूप में कस कर, 'अच्युतशर' विष्णु को बाण बना, 'लक्ष्य'

इत्यादावेकदेशविवर्तिरूपक-श्लेष-व्यतिरेक-समासोक्ति-विरोधत्वमुचितम् न तु श्लेषत्वम् ।

शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालङ्कारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नयः । किं च वैचित्र्यमलङ्कार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवाऽलङ्कारभूमिः । अर्थमुखप्रेक्षित्वमेतेषां शब्दानामिति चेत्, अनुप्रासादीनामपि तथैवेति तेऽप्यर्थालङ्काराः किं नोच्यन्ते । रसादिव्यञ्जकस्वरूपवाच्यविशेषसव्यपेक्षत्वेऽपि ह्यनुप्रासादीनामलङ्कारता । शब्दगुणदोषाणामप्यर्थापेक्षयैव गुणदोषता अर्थगुणदोषालङ्काराणां शब्दापेक्षयैव व्यवस्थितिरिति तेऽपि शब्दगतत्वेनोच्यन्ताम् । 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादौ च वर्णा-

---

त्रिपुरासुर रूप लक्ष्य का ऐसा वेधन किया कि सभी आश्चर्यचकित रह गये ! (उस धनुर्धर को नमस्कार है जो 'विषमदृष्टि'-लक्ष्य से बहकने वाली आंखों वाला,-'अचलचाप' निष्क्रिय धनुष धारण किये, 'हीन गुण' उसमें जीर्ण-शीर्ण प्रत्यञ्चा लगाये, 'अच्युतशर' विना बाण-मोक्ष के ही लक्ष्य का वेध करने वाला हो गया ! कितना आश्चर्य है !

(यहां जो अलङ्कार है वह श्लेष नहीं अपितु श्लेषमूलक विरोधाभास है)

को देखें तो इनमें श्लेष का होना नहीं अपि तु क्रमशः एकदेशविवर्ति रूपक, श्लेषमूलक व्यतिरेक, श्लिष्ट विशेषणासमासोक्ति और श्लेषमूलक विरोधाभास का ही होना युक्तियुक्त है और यह भी कैसी बेतुकी बात कि अलंकार का नाम तो रखा जाय शब्द श्लेष (जैसा कि 'प्रभात संध्येवाताम्रभास्वत्करविराजिनी' इत्यादि संदर्भ के सम्बन्ध में श्री इन्दुराज का निर्देश है) और इसका लक्षण किया जाय अर्थालङ्कारों के बीच !

(यहां यह भी कहना ठीक नहीं कि नाम तो शब्द-श्लेष इसलिये रखा गया क्योंकि इसमें विजातीय शब्दों की एकरूपता की प्रतीति है और अर्थालङ्कारों में इसका लक्षण इसलिये किया गया क्योंकि वस्तुतः यह अर्थ का अलङ्कार है क्योंकि) वस्तुतः बात ऐसी है कि जो विचित्रता है वही अलंकार है और इसप्रकार शब्द अथवा अर्थ में जहां भी कवि की प्रतिभा का संरम्भ कार्य कर दिखाई पड़े वहीं विचित्रता है और वहीं अलङ्कार है। (इसलिये शब्द-वैचित्र्य के कारण शब्द-श्लेष को शब्दालंकार ही मानना उचित है न कि अर्थालङ्कार ।)

अब यदि यहां यह आग्रह हो कि श्लिष्ट शब्द भी अर्थ सापेक्ष हुआ करते हैं (और इसलिये शब्द-श्लेष अर्थालङ्कारों में मानना पड़ेगा) तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि शब्दों की अर्थ-सापेक्षता के कारण अनुप्रास आदि भी अर्थालंकार ही हैं ! अनुप्रास आदि को भी तो अलङ्कार इसीलिये माना जाया करता है क्योंकि इनमें रस-भावादि के व्यञ्जक वाच्य-विशेष की अपेक्षा रहा करती है !

(यहां यह कहना भी तो युक्ति युक्त नहीं कि अनुप्रास आदि शब्द के अलङ्कार इस लिये हुये क्योंकि इनमें वर्ण-ध्वनि-वैचित्र्य का महत्त्व है। क्योंकि)अर्थ की अपेक्षा तो सर्वत्र दिखाई देती है। शब्द के गुण अथवा दोष भी तो इसीलिये गुण अथवा दोष माने गये हैं कि इनमें भी अर्थ की अपेक्षा विद्यमान है ! (इन्हें भी तब अर्थ का गुण अथवा दोष क्यों न मान लिया जाय !) और इतना ही क्यों ? जो-जो अर्थ के गुण अथवा दोष अथवा अलंकार हुआ करते हैं उनमें क्या शब्द की अपेक्षा नहीं हुआ करती ! फिर उन्हें शब्द का गुण अथवा दोष अथवा अलङ्कार क्यों नहीं माना जाया करता !

(यहां यह भी कहना ठीक नहीं कि एक प्रयत्न से शब्दों के उच्चरित होने के कारण ही अर्थश्लेष अर्थ-श्लेष हुआ करता है क्योंकि) इन सब बातों के अतिरिक्त यह भी सोचने

दिश्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्यत्वेऽर्थश्लेषत्वं शब्दभेदेऽपि प्रसज्यतामित्येवमादि स्वयं विचार्यम् ।

की बात है कि यदि एक प्रयत्न से शब्द के उच्चरित होने में ही अर्थश्लेष है तब 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादि वर्णश्लेष भी जहां 'विधु' और 'विधि' आदि स्पष्टतया भिन्न-भिन्न शब्द हैं। अर्थश्लेष ही क्यों न कह दिये जांय।

टिप्पणी—(क) यद्यपि प्राचीन आलंकारिक जैसे कि भामह और दण्डी 'श्लेष' को एक अलंकार के रूप में मानते आये हैं किन्तु इसका विशद विश्लेषण उद्भट और इन्दुराज से प्रारम्भ होता है। भामह के अनुसार 'श्लेष' का यह स्वरूप है—

'उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते। गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते॥'
(काव्यालंकार ३. १४)

जिसमें यह स्पष्ट है कि 'श्लेष' शब्दालंकार नहीं किन्तु अर्थालंकार है और उपमादि अलंकारों की पृष्ठभूमि के रूप में रहा करता है। दण्डी की श्लेष-परिभाषा यह है—

'श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः। तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा॥'
(काव्यादर्श २. ३१०)

जिसमें 'अभिन्नपद' तथा 'भिन्नपद' रूप से विभक्त 'श्लेष' अर्थालंकार ही माना गया है और इसलिये माना गया है क्योंकि इसके द्वारा अन्य वाच्यालंकारों की रूप-रेखा प्रकट हुआ करती है—**'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।**

आलंकारिकों में 'श्लेष' का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वालों में सर्वप्रथम स्थान उद्भट का है। उद्भट ने श्लेष का स्वरूप और प्रकार ही निर्धारित नहीं किया, क्षेत्र भी निर्धारित कर दिया है:—

'एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्। स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते॥ अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः। द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम्॥'
(काव्यालंकारसारसंग्रह ४. ९-१०)

उद्भट के व्याख्याकार इन्दुराज ने उद्भटसम्मत 'श्लेष'-निरूपण में उद्भट की मान्यताओं की जो पुष्टि की है उससे अलंकारसर्वस्वकार 'रुय्यक' की श्लेष-मीमांसा पूर्णतया प्रभावित है। इन सभी आलंकारिकों की दृष्टि में 'श्लेष' अर्थ का अलंकार माना गया है न कि शब्द का।

(ख) 'श्लेष' को शब्द और अर्थ-दोनों के पृथक्-पृथक् अलंकार के रूप में स्वीकार करने वाले आचार्यों में रुद्रट सर्वप्रथम हैं जिनकी यह धारणा है—

'वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु॥ (काव्यालंकार २. १३)

और जिसमें यह स्पष्ट है कि 'श्लेष' शब्द का अलंकार है और वह श्लेष जो अर्थ का अलंकार है 'अर्थ-श्लेष' कहा जाना चाहिये।

आचार्य मम्मट ने अपने श्लेष-विवेचन में रुद्रट की ही दृष्टि यथासंभव अपनायी है किन्तु उद्भट और इन्द्रराज की आलोचना में रुद्रट की भी मान्यताओं का परिष्कार कर दिया है।

(ग) मम्मट का 'श्लेष-विवेचन' रुय्यक के 'श्लेष-विवेचन' की आलोचना कहा जा सकता है। रुय्यक के अर्थालंकाररूप श्लेष के दोनों भेदों-शब्द श्लेष (सभङ्गपदश्लेष) और अर्थश्लेष (अभङ्गपदश्लेष)-को मम्मट ने शब्दालंकाररूप श्लेष के ही दो भेद के रूप में माना है। रुय्यक के अनुसार तो सभङ्ग और अभङ्गपदश्लेष इसलिये अर्थ के अलंकार हैं क्योंकि अलंकार-व्यवस्था के आश्रयाश्रयिभावरूप मौलिक सिद्धान्त की दृष्टि से यहां और कोई संभावना नहीं:—

पूर्वत्रैकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दश्लिष्टत्वम्। अपरत्र जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव श्लिष्टत्वम्। पूर्वत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दहेतुकत्वाच्छब्दालंकारत्वमिति चेत् न—आश्रयाश्रयिभावेनाऽलंकारत्वस्य लोकवद्व्यवस्थानात्। (अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १२४)

किन्तु मम्मट की दृष्टि में 'सभङ्ग' और 'अभङ्ग-पद'-दोनों श्लेष-प्रकार इसलिये शब्दालंकार हैं क्योंकि अलंकार-व्यवस्था के 'अन्वय-व्यतिरेक रूप वास्तविक सिद्धान्त के अनुसार यहां अन्य कोई कल्पना नहीं हो सकती।

(चित्रालंकार)

(१२१) तच्चित्रं यत्र वर्णानां खङ्गाद्याकृतिहेतुता ॥ ८५ ॥

सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः खङ्ग-मुरज-पद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रं काव्यम् ।

कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते ।

(घ) प्राचीन आलंकारिक 'श्लेष' को जहां वह अन्य अलंकारों की प्रतिभा का उत्पादक हुआ करता है, मुख्य मानते रहे हैं जिसकी अपेक्षा उससे उत्पन्न अन्य अलंकारों के आभास गौण हो जाया करते हैं। इसी दृष्टि से 'स्वयं च पल्लवाताम्र' आदि सूक्ति में 'श्लेष' को उपमा की प्रतिभा (आभास) का उत्पत्ति हेतु माना जाता आरहा है। मम्मट ने श्लेष को अन्य अलंकारों की प्रतिभा का उत्पत्तिहेतु तो अवश्य माना है किन्तु इसीलिये यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि **'स्वयं च पल्लवाताम्र'** आदि जैसे प्रसङ्गों में श्लेष तो गौण रहा करता है और अन्य अलंकार जैसे कि यहां उपमालंकार मुख्यरूप से प्रतीत हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि **'स्वयं च पल्लवाताम्र'** सरीखे प्रसङ्गों में उद्भट का 'उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतु श्लेष' मम्मट की दृष्टि में 'श्लेषप्रतिभोत्पत्ति हेतु उपमा' है अन्य कुछ नहीं।

(ङ) रुय्यक तो श्लेष को 'अनवकाश' मानते हैं और अन्य उपमादिअलंकारों को 'सावकाश' और इसलिये इसे इन उपमादि अलंकारों का अपवाद कहते हैं—

तेनालंकारान्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालंकारापवादोऽयम् (श्लेषः) इति स्थितम् (अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १३२)

किन्तु मम्मट ने श्लेष का स्वतंत्र क्षेत्र भी निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है। मम्मट ने श्लेष के लिये उद्भट और इन्द्रराज-सम्मत 'एक प्रयत्नोच्चार्यता' के सिद्धान्त की आवश्यकता को भी निर्मूल बताया है क्योंकि काव्य में स्वरादि-भेद की कोई विवक्षा नहीं-'काव्यमार्गे स्वरो न गम्यते'।

अनुवाद—**'चित्र' वह अलंकार है जिसे वर्ण-विन्यास में खड्गादि वस्तुओं की आकृतियों का प्रकाशन कहा करते हैं।**

(वैसे तो अमूर्त वर्णों की कोई आकृति नहीं, किन्तु) 'चित्र' काव्य वह काव्य है जिसमें एक रचना-विशेष में विन्यस्त वर्ण (वर्णानुमापक लिपियां) खड्ग, मुरज, पद्म इत्यादि की आकृतियों का निर्माण करते प्रतीत होते हैं।

टिप्पणी—अग्नि पुराण (३४२ अध्याय) में 'चित्र' अलंकार का यही स्वरूप निर्दिष्ट किया हुआ है—

'अनेकधावृत्तवर्णविन्यासैः शिल्पकल्पना । तत्तत्प्रसिद्धवस्तूनां बन्ध इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् वर्णों के द्वारा-वर्णों के एक विशिष्टविन्यास के कारण-कविगण जो वर्णशिल्प-निर्माण किया करते हैं, जिसमें भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की वस्तुओं की रूपरेखा देखी जा सकती है, वह एक 'चित्र' है और एक अलंकार अथवा वैचित्र्य है। रुद्रट ने भी 'काव्यालंकार' में चित्र की ऐसी ही परिभाषा दी है—

'भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि ।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम् ॥'

अर्थात् कवियों के द्वारा एक विचित्रता से बनायी गयी वर्णों की जो रचना-परिपाटी है जिसमें चक्र, पद्म, खड्ग आदि वस्तुओं की आकृति देखी जासकती है, वह 'चित्र' अलंकार है।

अनुवाद—**ऐसी काव्य-रचना कष्टसाध्य है, (और रसभावादि की दृष्टि से अनुपयुक्त भी है) इसलिये इसका किञ्चिन्मात्र ही निर्देश यहां अपेक्षित है। जैसे कि:—**

उदाहरणम्—

मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा।
साराब्धस्तवा नित्यं तदार्तिहरणक्षमा ॥ ३८४ ॥

माता नतानां सङ्घट्टः श्रियां बाधितसंभ्रमा।
मान्याऽथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिमा ॥३८५॥ (खड्गबन्धः)

सरला बहुलारम्भतरलालिबलारवा।
वारलाबहुलामन्दकरलाबहुलामला ॥ ३८६ ॥ (मुरजबन्धः)

भासते प्रतिभासार ! रसाभाताहताविभा।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥ ३८७ ॥ (पद्मबन्धः)

रसासार ! रसा सारसायताक्ष ! क्षतायसा।
सातावात ! तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर ! ॥ ३८८ ॥ (सर्वतोभद्रम्)

सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते।

---

१. (खड्गबन्ध) 'मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा साराब्धस्तवा' मार–कामदेव, शक्र–इन्द्र, राम–रघुनन्दन अथवा परशुराम तथा इभमुख–गणेश के द्वारा अनवरत रूप से किंवा बड़े मनोयोग से रचे गये सुन्दर–सुन्दर स्तोत्रों की एक मात्र भूमि, 'नित्यं तदार्तिहरणक्षमा' सदा उन सब के ताप–संताप के निवारण करने की शक्ति रखने वाली, 'नतानां माता' प्रणतजन की जननी, 'श्रियां संघट्टः' समस्त विभूतियों की संगम–स्थली, 'बाधित-संभ्रमा' भक्तजन के भय को भगाने वाली, 'मान्या' सभी के द्वारा पूजनीय 'आदिमा' सृष्टि का परम कारण, 'अथ रामाणां सीमा' और रम्यता की पराकाष्ठा 'उमा' भगवती पार्वती 'मे शं दिश्यात्' मुझे सुख–शान्ति दे।

२. (मुरजबन्ध) 'सरला' मेघ–निर्मुक्त अथवा (शरला) कास पुष्प से शोभित, 'बहुलारम्भतरलालिबलारवा' नाना प्रकार के फूलों के लोभी किंवा इतस्ततः भ्रमण करने वाले भ्रमर–समूहों के संगीत–नाद से सुन्दर, 'वारलाबहुला' मदकल कलहंसों से व्याप्त, 'अमन्दकरला' राजाओं की (विजय–यात्रा में) उद्योग–शीलता का एक मात्र कारण तथा 'बहुलामला' कृष्णपक्ष की रात्रियों में भी आकाश की निर्मलता का यह निदान शरद्‌ऋतु कितनी सुहावनी लग रही है।

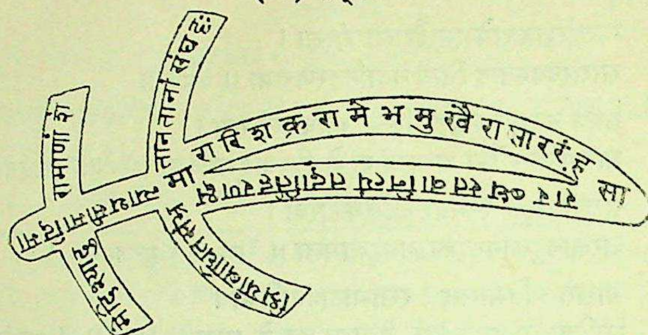
३. (पद्मबन्ध) हे 'प्रतिभासार'–हे महाप्राज्ञ महाराज ! 'रसाभाता' परस्पर प्रेम–भाव में पगी, 'अहताविभा' अप्रतिहत प्रतापवाली, 'भावितात्मा' आत्म–दर्शन में निपुण किंवा 'वादे शुभा' तत्त्वचिन्तन और तत्त्व–विचार में कुशल 'ते सभा' आप की यह राजसभा 'बत देवाभा' कितने आश्चर्य की बात है कि देवसभा सरीखी लग रही है !

४. (सर्वतोभद्र) 'हे रसासार'–हे पृथिवी के परम श्रेष्ठ 'सारसायताक्ष' कमल के समान विशाललोचन, 'सातावात' अज्ञानान्धकार के नाशक, 'अतक्षर' महादानी महाराज ! 'रक्षतः तव रसा' आपकी रक्षा में यह राज्य–भूमि 'क्षतायसा' सदा दुर्जनों के उपद्रव से रहित, किंवा 'अतासा' समस्त उपद्रवशून्य 'अस्तु' हो जाय।

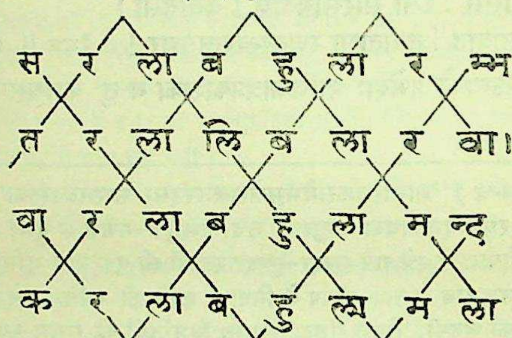
वैसे तो इसके अन्य भी अनेकानेक भेद–प्रभेद हो सकते हैं किन्तु इनका यहां निरूपण इसलिये अपेक्षित नहीं क्योंकि ये सब के सब कविजन की (शब्द–शिल्प की) शक्ति के प्रकाशक भले ही हों काव्य के स्वरूप के प्रकाशक कभी नहीं हो सकते।

टिप्पणी—(क) ये उपर्युक्त चित्र–बन्ध इस प्रकार देखे जा सकते हैं:—

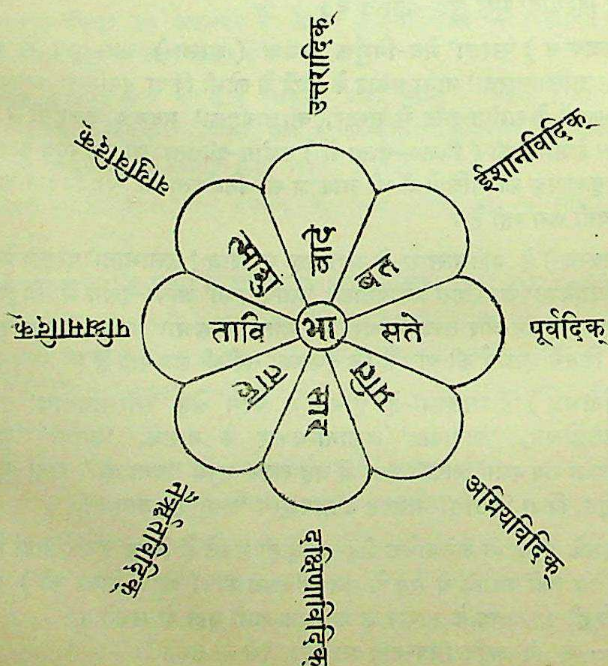
(१) खड्गबन्ध



(२) मुरजबन्ध



(३) पद्मबन्ध



(पुनरुक्तवदाभास)

(१२२) पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव

भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः। स च—

(पुनरुक्तवदाभास के भेद)

(१२३) शब्दस्य
सभङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः।

---

(४) सर्वतोभद्र

र	सा	सा	र	र	सा	सा	र
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र

(ख) मम्मट के पूर्ववर्ती आलंकारिक जैसे कि रुद्रट आदि चित्रालंकार के भेद-प्रभेदों के प्रदर्शन में पर्याप्त रुचि रख चुके हैं। रुद्रट ने स्पष्ट कहा है—

'तच्चक्रखड्गमुसलैर्बाणासनशक्तिशूलहलैः।
चतुरङ्गपीठविरचितरथतुरगगजादिपदपाठैः॥
अनुलोमप्रतिलोमैरर्द्धभ्रममुरजसर्वतोभद्रैः।
इत्यादिभिरन्यैरपि वस्तुविशेषाकृतिप्रभवैः॥
भेदैर्विभिद्यमानं संख्यातुमनन्तमस्मिन्नैवालम्।
(काव्यालंकार ५, २-४)

किन्तु मम्मट की दृष्टि में ये सभी बन्ध नीरस होने के कारण हेय हैं और इसीलिये मम्मट ने इनकी ओर कविओं को उत्साहित भी नहीं किया जैसा कि रुद्रट ने किया है:—

'इत्थं स्थितस्यास्य दिशं निशम्य शब्दार्थवित् प्णोदितचित्रवृत्तः।
आलोच्य लक्ष्यं च महाकवीनां चित्रं विचित्रं सुकविर्विदध्यात्॥
(काव्या० ५. ३३)

अनुवाद—'पुनरुक्तवदाभास' वह अलंकार है जिसे विभिन्न आकार वाले अर्थात् भिन्न-भिन्न वर्ण-क्रम वाले शब्दों में एकार्थकता का आभास कहा करते हैं।

परस्पर भिन्न भिन्न रूप वाले, सार्थक किंवा निरर्थक शब्दों की आपाततः जो एकार्थकता की प्रतीति है वही 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार है।

एक वह पुनरुक्तवदाभास है जो केवल शब्दगत हुआ करता है।
केवल शब्दगत जो पुनरुक्तवदाभास अलंकार है वह सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के

उदाहरणम्—

अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः ।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ॥ ३८६ ॥
चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः ।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः ॥ ३९० ॥

(१२४) तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ ८६ ॥

उदाहरणम्—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः ।
तेजो धाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥ ३६१ ॥

शब्दों में हुआ करता है जिससे उसे सभङ्गशब्दगत और अभङ्गशब्दगत कहा जाया करता है) जैसे कि—

(१) 'अरिवधदेहशरीरः' (अरिवधदा शत्रुविनाशिनी ईहा चेष्टा येषां ते अरिवधदेहाः ये शरिणः शरयुक्ताः वाणवर्षिणो योधास्तान् ईरयति प्रेरयतीति अरवधदेहशरीरः) शत्रु-विनाश पर दत्तचित्त अपने वीर-सैनिकों को प्रेरित करने वाला, 'सहसा रथिसूततुरगपादातः' (सहसा शीघ्रं वलाद्वा रथिभिः सुष्ठु उताः संवद्धाः तुरगाः अश्वाः पादाताः पदातिकाश्च यस्यः सः) वलपूर्वक अपने रथारोहिओं के साथ अपने अश्वारोहिओं और पदातियों को सन्नद्ध रखने वाला और 'स्थिरतायामगः' समरभूमि में अडिग रहने वाला पर्वत (सदृश) 'अवनितलतिलकः' यह पृथिवी-तिलक राजा 'सदानत्या भाति' सर्वदा अपने विनय के कारण सुशोभित हुआ करता है ।

[यहां जो पुनरुक्तवदाभास है वह सभङ्ग शब्द-निष्ठ है क्योंकि 'देह-शरीर', 'सारथि-सूत' और 'दान-त्याग' शब्द यहां ऐसे प्रयुक्त हैं जिनमें आपाततः अर्थैक्य की प्रतीति हो रही है और जो वस्तुतः सभङ्ग हैं । यहां 'देह-शरीर' शब्द तो सार्थक और सभंग है किन्तु 'सारथि-सूत' में प्रथम निरर्थक है और अन्तिम सार्थक । वैसे ये दोनों ही सभंग शब्द हैं । 'दान-त्याग' में दोनों शब्द सभङ्ग हैं किन्तु निरर्थक हैं ।]

(२) 'तस्य राज्ञः' उस राजा के 'अङ्गनारामाः 'रमणिओं के साथ निरन्तर विहार करने वाले, 'कौतुकानन्दहेतवः' नाना प्रकार की क्रीडाओं के द्वारा सबको आनन्दित रखने वाले और 'सुमनसो विबुधाः' सब के शुभचिन्तक किंवा महाबुद्धिमान् 'पार्श्ववर्तिनः' पार्श्ववर्ती लोग 'चकासति' कितने शोभित हो रहे हैं ।

[यह उदाहरण अभङ्गशब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास का है । यहां 'अङ्गना-रामा' 'कौतुक-आनन्द' और 'सुमनस्-विबुध' शब्द आपाततः एकार्थवाची प्रतीत हो रहे हैं और अभङ्ग-अखण्ड हैं ।]

और दूसरा पुनरुक्तवदाभास अलंकार वह है जो शब्दार्थोभयनिष्ठ-शब्द और अर्थ दोनों में रहने वाला-हुआ करता है ।

जैसे कि—

'असौ हरिः' यह वनराज सिंह 'तनुवपुः' कृशकाय होते हुये भी 'अजघन्यः' अमित-बलशाली है । 'करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः' मारे गये गजराजों के रुधिर से सने लाल-लाल तीक्ष्ण नखों वाला है, 'तेजोधाम' एक मात्र तेज का आधार है, 'महः पृथु मनसामिन्द्रः' शक्ति के कारण स्वाभिमानी प्राणिओं में सबसे बड़ा और 'जिष्णुः (अस्ति)' सबको पराजित करनेवाला है ।'

अत्रैकस्मिन् पदे परिवर्त्तिते नालङ्कार इति शब्दाश्रयः अपरस्मिंस्तु परिवर्ति-तेऽपि स न हीयते इत्यर्थनिष्ठ इत्युभयालङ्कारोऽयम् ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दालंकारनिर्णयो नाम नवमोल्लासः ॥ ९ ॥

[यहां जो पुनरुक्तवदाभास है वह शब्दार्थोभयगत है। यहां 'तनु-वपु' शब्दों की शरीरार्थकता, 'करि-कुञ्जर' की गजार्थकता, 'रुधिर-रक्त' की शोणितार्थकता, 'तेजः-धाम-महस्' शब्दों की तेजस्वितार्थकता तथा 'इन्द्र-हरि-जिष्णु' शब्दों की देवेन्द्रार्थकता आपाततः ही प्रतीत होती है वस्तुतः है नहीं ।]

इस उदाहरण में यदि 'तनु', 'कुञ्जर', 'रक्त' इत्यादि रूप शब्दों में परिवर्तन कर दिया जाय तो यह अलङ्कार ही नहीं रह सकता, इसलिये यहां यह शब्दनिष्ठ है और यदि 'वपुः', 'करि', 'रुधिर' इत्यादि रूप शब्दों को परिवर्तित भी कर दिया जाय तो यह अलंकार नष्ट भी नहीं होता, इसलिये यहां यह अर्थनिष्ठ है और इसी दृष्टि से इसे 'शब्दार्थोभयनिष्ठ' अथवा 'शब्दार्थोभयगत' भी कहा गया है।

[यहां तनु, कुञ्जर, रक्त, धाम, हरि और जिष्णु शब्द तो ऐसे हैं जिनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता अर्थात् 'परिवृत्त्यसह' हैं किन्तु वपु, करि, रुधिर और इन्द्र शब्द ऐसे हैं जिनमें परिवर्तन करने पर भी अलंकार की क्षति नहीं होती अर्थात् 'परिवृत्ति-सह' हैं। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुये यहां पुनरुक्तवदाभास को शब्दार्थद्वयगत मानना सर्वथा उचित और युक्तियुक्त है।]

टिप्पणी—(क) संभवतः अलंकारशास्त्र में 'पुनरुक्तवदाभास'रूप अलंकार का निरूपण आचार्य उद्भट का ही कार्य है। आचार्य उद्भट के अनुसार अलंकार का नाम 'पुनरुक्तवदाभासम्' है जिसकी परिभाषा यह है—

'पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासि भिन्नरूपपदम् ।' (काव्यालंकारसारसंग्रह १.१)

जिससे यह स्पष्ट है कि भिन्नरूप दो पदों की एकार्थरूप से प्रतीति में इस अलंकार की रूप-रेखा रहा करती है। यद्यपि आचार्य उद्भट ने स्पष्टतया यह नहीं कहा कि पुनरुक्तवदाभास शब्द का अलंकार है अथवा अर्थ का अलंकार है अथवा शब्दार्थालंकार है किन्तु मम्मट ने अपनी पुनरुक्तवदाभास-समीक्षा में यहीं सिद्ध किया है कि 'पुनरुक्तवदाभास' शब्दालंकार है और है साथ ही साथ उभयालंकार। मम्मट की ही मान्यता का समर्थन उद्भट के व्याख्याकार राजानक तिलक ने अपनी 'काव्यालंकारसारसंग्रह-विवृति' में किया है।

(ख) काव्यप्रकाशकार के 'पुनरुक्तवदाभास' के लक्षण—

'पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा, एकार्थतेव' का तात्पर्य अलंकार सर्वस्वकार की 'पुनरुक्तवदाभास' परिभाषा—**'आमुखावभासनं पुनरुक्तवाभासम्'** का खण्डन भी है। 'अलंकार सर्वस्व' के अनुसार तो 'पुनरुक्तवदाभास' अर्थ का अलंकार है—

'अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम् ।'

किन्तु 'काव्यप्रकाश' के अनुसार यह 'शब्द' का अलंकार है और है साथ ही साथ उभयालंकार।

नवम उल्लास समाप्त

अथ दशम उल्लासः

(अर्थालंकारनिरूपणात्मकः)

(अर्थालङ्कारःस्वरूप और प्रकार-विवेचन)

अर्थाङ्कारानाह—

(१-उपमा अलङ्कारः)

(१२५) साधर्म्यमुपमा भेदे

अनुवाद—(शब्दालङ्कारों के निरूपण के बाद) अब अर्थालङ्कारों का निरूपण किया जा रहा है—

टिप्पणी—आचार्य मम्मट के अनुसार निम्नाङ्कित अलङ्कार अर्थालङ्कार हैं जैसा कि काव्यप्रदीपकार ने संकलित किया है—

‘[१]उपमा[२]नन्वयस्तद्वदुप[३]मेयोपमा ततः । [४]उत्प्रेक्षा च [५]ससंदेहो [६]रूपका[७]पह्नुती तथा ॥
[८]श्लेषस्तथा [९]समासोक्तिः प्रोक्ता चाथ [१०]निदर्शना । [११]अप्रस्तुतप्रशंसा[१२]तिशयोक्ती परिकीर्तिते ॥
[१३]प्रतिवस्तूपमा तद्वद्[१४]दृष्टान्तो [१५]दीपकं तथा । [१६]तुल्ययोगितया चैव [१७]व्यतिरेकः प्रकीर्तितः ॥
प्रकीर्तितस्तथा[१८]क्षेपस्तथैव च [१९]विभावना । [२०]विशेषोक्ति[२१]र्यथासंख्यं तथैव परिकीर्तितम् ॥
तथा चा[२२]र्थान्तरन्यास[२३]विरोधाभाससंज्ञकौ । [२४]स्वभावोक्तिस्तथा [२५]व्याजस्तुतिः प्रोक्तं [२६]सहोक्तियुक् ॥
[२७]विनोक्ति[२८]परिवृत्ती च [२९]भाविकं [३०]काव्यलिङ्गयुक् । [३१]पर्यायोक्त[३२]मुदात्तं च [३३]समुच्चय उदीरितः ॥
[३४]पर्यायश्चा[३५]नुमानं च प्रोक्तः [३६]परिकरस्तथा । [३७]व्याजोक्ति[३८]परिसंख्ये च [३९]माला कारणपूर्विका ॥
[४०]अन्योन्य[४१]मुत्तरं [४२]सूक्ष्म[४३]सारौ तद्वद[४४]संगतिः । [४५]समाधिश्च [४६]समेन स्यात् [४७]विषमस्त्व[४८]धिकेन च ॥
[४९]प्रत्यनीकं [५०]मीलितं च स्याता[५१]मेकावली [५२]स्मृती । [५३]भ्रान्तिमांश्च [५४]प्रतीपेन [५५]सामान्यं च [५६]विशेषयुक् ॥
[५७]तद्गुणा[५८]तद्गुणौ चैव [५९]व्याघातः परिकीर्तितः । [६०]संसृष्टि[६१]संकरौ चैवमेकषष्टिः क्रमोदिता ॥’

अनुवाद—‘उपमा’ वह अलंकार है जिसे उपमान और उपमेय का, उनमें भेद होने पर भी, परस्पर साधारणधर्म से सम्वद्ध होना कहा जाता है।

टिप्पणी—(क) ‘साधर्म्य’ का यहां मम्मट ने प्रयोग किया है ‘सादृश्य’ का नहीं। काव्यप्रकाश के अनेक टीकाकार ‘साधर्म्य पद की उपयोगिता के समर्थक हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी टीकाकार हैं जो ‘साधर्म्य’ को ‘सादृश्य’ का ही पर्यायवाचक मानते हैं। वस्तुतः मम्मट की दृष्टि में ‘साधर्म्य’ और ‘सादृश्य’ एकार्थक शब्द नहीं अपितु भिन्न-भिन्न अभिप्राय रखने वाले शब्द हैं। हम कह सकते हैं—‘अनेनायं सदृशः-‘यह इसके सदृश-समान हैं। किन्तु जब ऐसा कहते हैं तो मन में यही रखते हैं कि इन दोनों में जो सादृश्य है वह किन-किन धर्मों के कारण है। अर्थात् दो वस्तुओं के ‘सादृश्य’ में उनका साधर्म्य-उनका परस्पर समान अथवा साधारण धर्म से सम्वन्ध-प्रयोजकरूप से दिखायी दिया करता है। उद्योतकार ने इसीलिये स्पष्ट कहा है—‘सादृश्यं च साधारणधर्मप्रयोज्यो धर्मविशेषः’ अर्थात् दो वस्तुओं जैसे कि उपमान और उपमेय का परस्पर जो ‘सादृश्य’ है वह उनका एक विशेषधर्म है जो उनमें अनुगत उनके साधारणधर्म के कारण हुआ करता है।

(ख) सभी आलङ्कारिक अर्थालङ्कारों के निरूपण का प्रारम्भ ‘उपमा’ निरूपण से ही करते आ रहे हैं। इसका कारण है ‘उपमा’ का अनेकानेक अर्थालङ्कारों में मूलरूप से होना और

उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।

भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय।

काव्य-सौन्दर्य में विशेषरूप से सहायता पहुँचाना। 'अलङ्कारसर्वस्वकार' ने इसीलिये कहा है— 'उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूता।'

(ग) यद्यपि द्रव्य-गुण-क्रिया और जातिरूप पदार्थ का अपना-अपना स्वरूप और अपना-अपना स्वभाव नियत है और साथ ही साथ उनकी देश-काल-व्यवस्था भी व्यवस्थित ही है और इस प्रकार उनका वर्णन उनके प्रातिस्विकस्वरूप और स्वभाव के वर्णन को ही समझना चाहिये, किन्तु यदि हृदय रसाविष्ट है तो यह स्वाभाविक है कि एक वस्तु का स्वरूप अथवा स्वभाव दूसरी वस्तु के स्वरूप अथवा स्वभाव के रूप में प्रकाशित किया जाय। उपमा' अलङ्कार की ओर जो प्रवृत्ति है उसका यही मूल कारण है। 'उपमा' भी वक्तृविशेष की वैयक्तिक विशेषताओं का ही अनुसरण किया करती है। यदि वक्ता एक रागी व्यक्ति हो तो किसी स्त्री के स्वरूप और स्वभाव का वर्णन इसी प्रकार से करना चाहेगा—

'अमृतस्येव कुण्डानि सुखानामिव राशयः। रतेरिव निधानानि योषितः केन निर्मिताः॥'

विरक्तप्रकृति के वक्ता के हृदय से स्त्री का स्वरूप इसी प्रकार प्रकट होगा—

'एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोर्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन वेश्या श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः॥'

और मध्यस्थ अथवा तटस्थ व्यक्तित्व इस प्रसङ्ग में इसी प्रकार अपनी अभिव्यक्ति करता दिखायी देगा—

'दर्शनादेव नटवद् हरन्ति हृदयं स्त्रियः। सुविश्वस्तेप्यविश्वस्ताः भवन्ति च चरा इव॥'

(घ) 'उपमा' वस्तुतः कवि की काव्य-दृष्टि है जिसके द्वारा उसे चराचर जगत् की एक मधुर झांकी मिला करती है। 'उपमा' की साधना कवि की समदृष्टि-साधना है और इस साधना में जिसकी सिद्धि होती है वह है 'सौन्दर्य'। उपमा का यह महारहस्य है।

अनुवाद—**'साधर्म्य' अथवा समानधर्मता रूप सम्बन्ध कार्य-कारण आदि में नहीं अपि तु 'उपमान' और 'उपमेय' में ही हो सकता है और इसलिये उन्हीं दोनों अर्थात् उपमान और उपमेय का ही जो समान धर्म से सम्बन्ध है उसे ही 'उपमा' कहते हैं। यहां (उपमा के लक्षण में) 'भेद' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया जिसमें 'उपमा' को 'अनन्वय' से (जहां उपमेय और उपमान का पारमार्थिक भेद विवक्षित नहीं रहता) पृथक् किया जा सके।**

टिप्पणी—(क) 'उपमा'—लक्षण-वाक्य में 'उपमान' और 'उपमेय' का उल्लेख न होने पर भी 'साधर्म्य' का जो उल्लेख है उसी के द्वारा 'उपमान' और 'उपमेय' का आक्षेप स्वभावतः हो जाता है क्योंकि 'साधर्म्य' साधारणधर्मरूप सम्बन्ध-जिन किन्हीं दो पदार्थों में होगा उनमें परस्पर उपमानोपमेयभाव रहेगा ही।

(ख) 'अनन्वय' अलङ्कार में 'उपमान' और 'उपमेय' में पारमार्थिक भेद का अभाव ही रहा करता है जैसे कि 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इत्यादि में एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनों रूपों में विद्यमान है। यहां 'उपमा' नहीं हो सकती क्योंकि यहां जो साधर्म्य अभिप्रेत है वह उतना चमत्कार जनक नहीं जितना कि वहां जहां 'उपमान' और 'उपमेय भिन्न-भिन्न हैं जैसे कि 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्यादि में। काव्यप्रकाश की 'सुधासागर' टीका के रचयिता ने इसी लिये कहा है—

'उपमानोपमेययोर्भेदश्चतुर्धा-उपात्तः, अनुपात्तः, आरोपितः, तिरोहितश्चेति।'

अर्थात् उपमान और उपमेय में चार प्रकार का भेद है १ ला उपात्त जैसे कि वाच्योपमा में, २ रा अनुपात्त जैसे कि व्यङ्ग्योपमा में, ३ रा आरोपित जैसेकि अनन्वय में और ४ था तिरोहित जैसे कि रूपक में।

(उपमा के भेद-प्रभेद-१ पूर्णोपमा और उसके ६ प्रकार)

(१२६) पूर्णा लुप्ता च ।

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता ।

(१२७) साऽग्रिमा ।

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥ ८७ ॥

अग्रिमा पूर्णा ।

यथेववादिशब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा ।

तथैव 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

'तेन तुल्यं मुख'मि त्यादावुपमेये एव 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमाने

अनुवाद—'उपमा' के (सर्व प्रथम) दो भेद हैं-पूर्णोपमा और लुप्तोपमा ।

'पूर्णोपमा' वह है जहां उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और उपमावाचक शब्द-ये चारों (उपमा के अंग) स्पष्टतया निर्दिष्ट रहा करते हैं और 'लुप्तोपमा' वह जहां इनमें से एक अथवा दो अथवा तीन का लोप-अनिर्देश-रहा करता है ।

टिप्पणी—'पूर्णोपमा' का अर्थ है 'पूर्णावयवा उपमा' और 'लुप्तोपमा' का 'लुप्तावयवा उपमा' ।

अनुवाद—यहां जो पूर्वनिर्दिष्ट उपमा है (अर्थात् पूर्णोपमा) उसके (सर्वप्रथम) दो भेद हैं-श्रौती और आर्थी, किन्तु ये दोनों ही वाक्य, समास और तद्धित के क्षेत्र में संभव हैं (इसलिये इस उपमा के ६ भेद हुये—(१) वाक्यगा श्रौती, (२) वाक्यगा आर्थी, (३) समासगा श्रौती, (४) समासगा आर्थी, (५) तद्धितगा श्रौती और (६) तद्धितगा आर्थी ।

(कारिका में) 'अग्रिमा' पद का अभिप्राय है पूर्णा उपमा का ।

यहां 'उपमा' को श्रौती इसलिये कहा गया है क्योंकि यह ऐसी होती है जहां उपमानोपमेय भाव 'यथा' 'इव' 'वा' आदि शब्दों के श्रुतिमात्र से ही प्रतीत हुआ करता है । यद्यपि यह ठीक है कि 'यथा' 'इव' 'वा' आदि (उपमा प्रतिपादक अव्यय) शब्द जिसके आगे प्रयुक्त हुआ करते हैं उसी में उपमानता की प्रतीति करवाया करते हैं और इस दृष्टि से इन्हें 'उपमान' का विशेषण कहा जा सकता है किन्तु यह भी ठीक है कि इन शब्दों की अभिधा शक्ति ऐसी है कि इन्हीं के द्वारा, केवल इनके श्रवण-मात्र से ही, उपमान और उपमेय के 'साधर्म्य' रूप सम्बन्ध की भी उसी प्रकार प्रतीति करवायी जाया करती है जिस प्रकार षष्ठी विभक्ति के द्वारा स्व-स्वामिभाव रूप सम्बन्ध की (क्योंकि 'राज्ञो राज्यम्' इत्यादि में जो षष्ठी विभक्ति है वह भले ही अपने प्रकृतिभूत 'राजन्' शब्द के अर्थ में स्वामित्व की प्रतीति करानेवाली होने से उसका विशेषण हो जाय किन्तु इसी के द्वारा राजा और राज्य में स्व-स्वामिभाव रूप सम्बन्ध भी तो स्वभावतः बताया जाया करता है)।

इसी प्रकार इसे 'श्रौती' वहां भी कहते हैं जहां 'तत्र तस्येव' (अष्टाध्यायी ५.१.११६) सूत्र से 'इव' के अर्थ में (अर्थात् सादृश्यप्रयोजक साधारणधर्म-सम्बन्ध रूप अर्थ में) 'वति' प्रत्यय प्रयुक्त रहा करता है ।

अब 'उपमा' को 'आर्थी' जो कहा गया है वह इसलिये क्योंकि इस प्रकार की उपमा में 'तुल्य' आदि शब्दों का जो प्रयोग हुआ करता है उसमें 'साधर्म्य' की प्रतीति आक्षेपगम्य हुआ करती है (शब्दलभ्य अथवा साक्षाद्गम्य नहीं) क्योंकि तुल्य आदि शब्द ऐसे हैं

एव 'इदं च तच्च तुल्य'मित्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात्तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी, तद्वत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिरि'त्यनेन विहितस्य वतेः स्थितौ।

'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं चे'ति नित्यसमासे इवशब्दयोगे समासगा।

क्रमेणोदाहरणम्—

१ (वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा)

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा॥ ३९२॥

२ (वाक्यगा-आर्थी पूर्णोपमा)

चकितहरिणलोललोचनायाः
क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति।

कि जब हम कहते हैं 'तेन तुल्यं मुखम्' 'उस (कमल) के तुल्य मुख है' तब ये केवल उपमेय (मुख) का ही निर्देश कर अपना अर्थ समाप्त कर देते हैं, जब हम कहते हैं 'तत्तुल्यमस्य' 'वह (कमल) तुल्य है इस (मुख) के' तब ये उपमान (कमल) का ही निर्देश कर अपना सादृश्य-अभिप्राय समाप्त करते दिखायी देते हैं और जब हम कहते हैं 'इदं च तच्च तुल्यम्'–'यह (मुख) और वह (कमल) तुल्य हैं' तब ये दोनों अर्थात् उपमान और उपमेय का निर्देश कर अपना सादृश्यरूप अर्थ बता कर चुप हो जाते हैं। इस प्रकार होता यह है कि जब हम साम्य अथवा साधर्म्य (साधारण धर्म रूप सम्बन्ध) का अनुसन्धान कर चुकते हैं तभी तुल्यता अथवा सादृश्य को प्रतीति हुआ करती है। (अर्थात् यहां साधर्म्य शब्द-प्रतिपाद्य नहीं अपि तु अर्थलभ्य रहा करता है।)

इसी प्रकार इसे वहां भी 'आर्थी' कहा करते हैं जहां 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (अष्टाध्यायी ५.१.११५) सूत्र से 'तुल्य' के (सामान्य सादृश्य रूप) अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय का प्रयोग रहा करता है।

(श्रौती) समासगा उपमा वहां हुआ करती है जहां 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृति स्वरत्वं च' इस कात्यायन-वार्तिक के द्वारा नित्यसमास होने पर 'इव' शब्द प्रयुक्त हुआ करता है (जैसे कि 'जीमूतस्येव भवति प्रतीकम्' इस ऋचा में प्रयुक्त 'जीमूतस्येव' पद में)।

टिप्पणी—उपमा में 'श्रौती' और 'आर्थी' विभागव्यवस्था का वस्तुतः जो मूल है वह है (श्रौती में) साधर्म्य की शब्दलभ्यप्रतीति और (आर्थी में) साधर्म्य की अर्थलभ्यप्रतीति का होना।

अनुवाद—क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

'महाराज! विजय-श्री आप सरीखे प्रभुत्वसम्पन्न महापुरुष को, संग्राम में, स्वप्न में भी उसी प्रकार नहीं छोड़ना चाहती जिस प्रकार कोई स्वाधीनपतिका नायिका अपने परमानुरक्त प्रियतम को स्वप्न में भी नहीं छोड़ा करती।,

[यहां 'विजयश्री' उपमेय है और 'स्वाधीनपतिका' है उसका 'उपमान'। 'न मुञ्चति' अर्थात् अपरित्याग 'साधर्म्य' अथवा साधारणधर्म रूप सम्बन्ध है और 'यथा' है उपमा-वाचक शब्द। उपमा के ये चारों अंग असमस्तपद द्वारा प्रतिपाद्य है और इसलिये यहां जो उपमा है उसे वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा समझना चाहिये।]

'इस बात से कि कुपित होने पर चकित हरिणी के (चञ्चल नेत्रों के) समान चञ्चल नयनों वाली इस नायिका का औषस-राग की भांति रक्त-किं वा रमणीय मुख और यह

सरसिजमिदमाननं च तस्याः
समममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ॥ ३६३ ॥

३ (समासगा श्रौती पूर्णोपमा)

अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां
दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः ।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो
लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ॥ ३६४ ॥

(उसके हाथ का) कमल एक सरीखे लगने लगते हैं, चित्त में आनन्द का उद्रेक हो उठता है ।,

[यहां 'आनन' है उपमेय और उपमान है 'सरसिज'। दोनों का साधारण धर्म है तरुण अरुण (उषा की लाली) की सी उत्कट लालिमा की रमणीयता और उपमा-वाचक शब्द है 'समम्' समान जो कि असमस्तपद है। इसलिये यहां जो उपमा है वह है वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा। 'आर्थी' इसलिये क्योंकि यहां साधर्म्य अथवा उपमान और उपमेय का परस्पर साधारणधर्म से सम्बद्ध होना साक्षात् शब्द-प्रतिपाद्य नहीं अपि तु अर्थ-सामर्थ्य-लभ्य है। 'सरसिजमिदमाननं च समम्' 'यह कमल और वह मुख एक सरीखे हैं' वस्तुतः जिस अभिप्राय का प्रत्यायक है वह है कमल और मुख का परस्पर सादृश्य होने से एकरूपप्रतीत होना। इस प्रतीति के बाद ही हमें इन दोनों के सादृश्य के प्रयोजक इनके पारस्परिक साधर्म्य की प्रतीति हुआ करती है जिसमें शब्द का हाथ उतना नहीं रहा करता जितना कि वाच्य-सामर्थ्य का अथवा हमारी अपनी भावना-शक्ति का।]

उसी प्रकार 'ये महाराज परिणाम में भी विशुद्ध, दुष्ट शत्रुओं के नियन्त्रण में समर्थ महाप्रभाव, महोन्नत, चिर-स्थायी किं वा राज्य-श्री के वैभव-विलास के एकमात्र आधार अपने साम-दाम-दण्ड और भेद रूप चारों उपायों से साम्राज्य के योग-क्षेम में लगे रहा करते हैं जिस प्रकार भगवान् विष्णु (कृष्ण) अपने आजानु लम्बी, दानव-दमन, दिव्य, महैश्वर्यशाली, शाश्वत किं वा लक्ष्मी के विलास के एक मात्र अवलम्ब चारों भुज-दण्डों से भुवन-मण्डल के पालन-पोषण में।

[यहां 'भुज-दण्ड' उपमान, 'उपाय-चतुष्टय' उपमेय, 'अत्यायत' आदि होना साधारण धर्म और 'इव' उपमावाचक शब्द-ये चारों उपमाङ्ग विद्यमान हैं। इसलिये यह उपमा श्रौती पूर्णोपमा है और इसे समासगा इसलिये कहा जाता है क्योंकि 'भुजैरिव' पद व्यस्त पद नहीं अपि तु समस्त पद है जहां 'इवेन समासो विभक्त्यलोपः' इत्यादि वार्तिक-नियम के अनुसार सुप्सुप् समास और विभक्ति का अलोप-दोनों हो रहे हैं।

यहां 'समासगा श्रौती पूर्णोपमा' मानने में एक आपत्ति हो सकती है वह यह है—'भुजैरिव' यह पद यदि एक समस्त पद हुआ तो 'अत्यायतैः' इत्यादि विशेषणों का अन्वय इसके एकदेश अर्थात् 'भुजैः' के साथ कैसे हो सकेगा ? अन्वय का सिद्धान्त तो यह है कि 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन' अर्थात् एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के साथ तो अन्वित हो सकता है किन्तु दूसरे पदार्थ के एक देश-एक अंग-के साथ कभी नहीं। अब यदि 'अत्यायतैः' इत्यादि विशेषणों का 'भुजैः' के साथ अन्वय ही असंभव है तो 'अत्यायतत्व' आदि साधारण धर्म भी कैसे हो सकते हैं और तब समासगा उपमा भी यहां कैसे ?

इस आपत्ति का निराकरण इस प्रकार किया जा सकता है—यद्यपि 'भुजैः' पदार्थ नहीं अपि तु पदार्थैकदेश है क्योंकि 'भुजैरिव' इस पदार्थ का ही यह अंग है और इसलिये 'अत्यायतैः' इत्यादि विशेषणों का शाब्दिक अन्वय यहां नहीं हो सकता, किन्तु आर्थिक अन्वय में तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती और इसलिये यहां 'समासगा श्रौती पूर्णोपमा' मानने में कोई भी दोष नहीं। वैयाकरणों की यह भी एक मान्यता है कि विशेषणों का

५ (समासगा आर्थी पूर्णोपमा)

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।
सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर ! न कस्य ॥ ३६५ ॥

६ (तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा)

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् ।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥ ३६५ ॥

(एक आशंका और उसका समाधान)

स्वाधीनपतिका कान्तं भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारभूः तथा जयश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादिना प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यम् वैचित्र्यं चालङ्कारः तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः। न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः अपि तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव । रसादिस्तु व्यङ्ग्योऽ-

शाब्दिक अन्वय उपमेय में हो और आर्थिक अन्वय हो उपमान में। यहां महाभाष्यकार के प्रयोग जैसे कि 'किमोदनः शालीनाम्' इत्यादि के अनुसार, जहां एक पदार्थ के साथ दूसरे पदार्थैकदेश का भी अन्वय स्पष्ट दिखायी दे रहा है, 'भुजैः' और उसके 'अत्यायतैः' इत्यादि विशेषणों का अन्वय शास्त्रसंमत ही है, अन्यथा नहीं।]

'हे महाराज ! प्रजाजन के सफल मनोरथों के मार्गों का सदा विस्तार करने में अपने महनीय गुणों के कारण सर्वस्तुत्य लक्ष्मी-सम्पन्न आप भला कल्पवृक्ष की भांति किसी की अभिलाषा के पात्र नहीं !'

[यहां उपमान 'सुरतरु' उपमेय 'भवान्'-आप साधर्म्य 'प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व' और उपमावाचक शब्द सुरतरु-'सदृश' ये चारों उपमाङ्ग विद्यमान हैं और उपमान तथा उपमा प्रतिपादक शब्दों का समास भी है इसलिये यहां समासगा आर्थी पूर्णोपमा है।]

'वस्तुतः इन (महाराज) की गाम्भीर्यगरिमा गङ्गाभुजङ्गवत् (समुद्रवत् किंवा शन्तनुवत्) है और समर में ये वस्तुतः निदाघाम्बररत्नवत् (ग्रीष्मकालीन सूर्यवत्) हैं।'

[यहां पूर्वार्द्ध में तद्धितगता श्रौती पूर्णोपमा है क्योंकि उपमेय-'तस्य' और साधारण धर्म-'गाम्भीर्यगरिमा' तो हैं ही, साथ ही साथ उपमान 'गङ्गाभुजङ्ग' में 'गङ्गाभुजङ्गस्येव' इस अर्थ में 'तत्र तस्येव' इस तद्धित-सूत्र से 'वति' प्रत्यय भी है। इसके उत्तरार्द्ध में जो उपमा है वह है 'तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा' क्योंकि उपमेय 'सः' और साधारणधर्म 'दुरालोकत्व' के साथ-साथ 'निदाघाम्बररत्न' इस अर्थ में 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र-नियम से 'वति' प्रत्यय विद्यमान है।]

यहां यह आशङ्का की जा सकती है कि जब 'स्वप्नेऽपि समरेषु' इत्यादि काव्य-सूक्तियों में इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ अर्थात् 'जैसे स्वाधीनपतिका नायिका अपने प्रियतम के सङ्ग-सुख में एक अलौकिक चमत्कार का कारण बन जाती है वैसे ही विजय-लक्ष्मी आप (राजा) के संग-सुख में' इत्यादि के बिना कोई विचित्रता नहीं और जो विचित्रता है वही अलंकार है तब इन्हें 'ध्वनि' अथवा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य' क्योंकर न मान लिया जाय ? किन्तु इसका समाधान यह है कि इन्हें ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें जो भी चारुता की प्रतीति है वह इनके वाच्य-वैचित्र्य (उपमा वैचित्र्य) के ही अनुसंधान में है, न कि इनमें छिपे व्यङ्ग्यार्थ और उसके अनुसंधान में।

यहां ऐसी भी आशङ्का हो सकती है कि (जब चित्र-काव्य के भेद-प्रभेदों का सोदाहरण लक्षण-निरूपण यहां अभिप्रेत है और 'स्वप्नेऽपि' इत्यादि काव्य-सूक्तियों में व्यङ्ग्यार्थ-चारुत्व की अपेक्षा है तो) पहले कुछ अर्थात् चित्र (अव्यङ्ग्य) काव्य के

र्थोऽलङ्कारान्तरं च सर्वत्राव्यभिचारीत्यगणयित्वैव तदलङ्कारा उदाहृताः। तद्रहितत्वेन तु उदाह्रियमाणा विरसतामावहन्तीति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति न चोदनीयम्।

(२ लुप्तोपमा और उसके १९ प्रकार)

(१२८) तद्वद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः।

(धर्मलुप्तोपमा के पांच प्रकार)

धर्मः साधारणः। तद्धिते कल्पबादौ त्वार्थ्येव तेन पञ्च।

प्रकारों के निरूपण का प्रस्ताव और बाद में कुछ अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा रखने वाले सन्दर्भों का उदाहरण-इस प्रकार परस्पर विरुद्ध बातें क्यों? किन्तु इसका समाधान यह रहा है कि यहां कोई भी बात उलटी-पुलटी नहीं कही गयी क्योंकि ये जो उदाहरण यहां दिये गये हैं वे इसलिए नहीं दिये गये कि इनमें रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ अथवा अन्य किसी अलङ्कार का अस्तित्व है—क्योंकि रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ तो सर्वत्र अव्यभिचरित सत्ता हो सकती है—अपितु इसलिये कि इनमें वाच्य-वैचित्र्य का निरूपण अभिप्रेत है। अब यहां यह कहना कि ऐसे उदाहरणों को क्यों न चुना गया जो एकमात्र चित्र-काव्य के उदाहरण हों, ठीक नहीं जँचता क्योंकि सर्वथा रसभावादिरहित अथवा अलङ्कारान्तर-शून्य संदर्भों को यदि उदाहृत किया जाय तो उनमें काव्यगत आस्वाद कहां से मिलेगा!

टिप्पणी—आचार्य मम्मट के मन में यहां ध्वनिकार की यह मान्यता अर्थात्—

'रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्। अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः। रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्॥'

(ध्वन्यालोक २ य उद्योत)

इत्यादि ओतप्रोत है जिसके कारण अलङ्कार-निरूपण के प्रसङ्ग में सर्वथा रसभावादिरूप व्यङ्ग्यार्थ-शून्य संदर्भों के उदाहरण यहां अभिप्रेत नहीं। ऐसा कहा भी गया है—

'रसध्वनिर्न यत्रास्ति तत्र बन्ध्यं विभूषणम्। मृताया मृगशावाक्ष्याः किं फलं हारसंपदा॥'

यदि ऐसी बात न होती तो यहां 'उपमा' के लिये 'गौरिव गवयः', 'उत्प्रेक्षा' के लिये 'नूनं स्थाणुनाऽनेन भाव्यम्', 'रूपक' के लिये 'लोष्टः पाषाणः' और इसी प्रकार अन्य अर्थालङ्कारों के लिये ऐसे ही वैचित्र्य-रहित संदर्भ क्योंकर नहीं उदाहृत किये जाते!

अनुवाद—वह **'लुप्तोपमा' जो कि धर्म (साधर्म्य) के लोप होने पर होती है वैसे तो पूर्णोपमा की ही भांति (श्रौती तथा आर्थी-वाक्यगा, समासगा तथा तद्धितगा) हुआ करती है किन्तु (इव के अर्थ में विहितवति प्रत्ययरूप) तद्धित में यह 'श्रौती' नहीं हो सकती।**

यहां 'धर्म' का अभिप्राय है 'साधारण धर्म' का। ('तद्धित में-इव' के अर्थ में विहित 'वति' रूप तद्धित प्रत्यय में-श्रौती नहीं हुआ करती'-का अभिप्राय यह है कि) 'तुल्य' के अर्थ में विहित 'कल्पप्' आदि प्रत्ययरूप तद्धित में यह आर्थी ही हो सकती है। इस प्रकार इसके (धर्मलुप्ता उपमा के) पांच ही प्रकार (अर्थात् वाक्य श्रौती और आर्थी, समासगा श्रौती और आर्थी तथा तद्धितगा आर्थी) हुआ करते हैं।

टिप्पणी—'धर्मलुप्ता तद्धितगा उपमा' इसलिये श्रौती नहीं हुआ करती क्योंकि 'इव' के अर्थ में विहित तद्धितप्रत्यय के प्रयोग में ही श्रौती होना संभव है। 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' रूप तद्धितप्रत्यय ऐसा है जो साधारणधर्म की आकांक्षा किया करता है। अब जब कि साधारणधर्म के अनुपादान में यह प्रत्यय ही असंगत है तब 'तद्धितगा धर्मलुप्ता उपमा' भी श्रौती कैसे हो सकेगी? वह 'धर्मलुप्ता उपमा' जो कि यहां 'तद्धितगा आर्थी' कही गयी है तुल्यार्थ 'वति' रूप तद्धित के प्रयोग में नहीं अपितु कल्पप्, देश्य, देशीयर् आदि तद्धित के प्रयोग में ही संभव है क्योंकि तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय भी वस्तुतः क्रिया-साम्य की आकांक्षा करने वाला प्रत्यय है जो कि अन्ततोगत्वा साधारण-धर्म के अनुपादान में असंगत ही है।

उदाहरणम्—

(१ धर्मलुप्ता वाक्यगा श्रौती उपमा)

धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः।
करणीयं वचश्चेतः सत्यंतस्यामृतं यथा ॥ ३६७ ॥

(२ धर्मलुप्ता वाक्यगा आर्थी उपमा)

आकृष्टकरवालोऽसौ संपराये परिभ्रमन्।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ॥ ३६८ ॥

(३ धर्मलुप्ता समासगा श्रौती तथा आर्थी किंवा तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्तोपमा)

करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे ! ॥ ३६९ ॥

अनुवाद—इसके उदाहरण ये हैं—

'मेरे मन ! तुम्हें तो उस असाधारण किंवा महनीय सौजन्य वाले सज्जन पुरुष के अमृत के समान वचन का अनुसरण करना ही चाहिये।'

[यहां उपमान 'अमृत' उपमेय 'वचन' तथा उपमावाचक शब्द 'यथा'—तीनों विद्यमान हैं किन्तु उपमान और उपमेय के साधारण धर्म जैसे कि 'परिणामसौरस्य' आदि का उपादान नहीं है। इसलिये यहां धर्मलुप्ता वाक्यगा श्रौती उपमा है।]

'संग्राम में तलवार खींचकर सर्वत्र घूमता हुआ यह राजा शत्रुसेना को यमराज के के समान दिखायी पड़ने लगा।'

[यहां उपमान 'कृतान्त', उपमेय 'राजा' तथा उपमावाचक शब्द—'सम' तीनों हैं किन्तु उपमान और उपमेय के साधर्म्य जैसे कि क्रूरता इत्यादि अतिप्रसिद्ध होने के कारण अनुपात्त हैं। इसलिये यहां जो उपमा है वह 'धर्मलुप्ता' है। इसे 'वाक्यगा' इसलिये मानना उचित है क्योंकि उपमावाचक शब्द 'सम' का उपमान 'कृतान्त' के साथ समास नहीं किया हुआ है। यह 'आर्थी' इसलिये है क्योंकि यहां तुल्यार्थक 'सम' शब्द प्रयुक्त है जो कि अर्थ-सामर्थ्य के द्वारा साधर्म्य का आक्षेप कराने वाला है।]

'अरे मित्र ! यदि कहीं तुम जीवित रह सके तब यह जान लोगे कि उस दुष्ट का कर्म है कृपाण के समान, वचन है अमृत के समान और मन ! वह तो वस्तुतः विषकल्प (विष-सदृश) है।'

[यहां उपमान 'करवाल', उपमेय 'आचार' तथा समस्त उपमावाचक शब्द 'इव' (क्योंकि यहां 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः' इत्यादि नियम के अनुसार सुपसुप् समास और विभक्त्यलोप है) तो हैं किन्तु साधर्म्य जैसे कि घातकता आदि का ग्रहण नहीं किया गया है जिसके कारण यहां समासगा धर्मलुप्ता श्रौती उपमा हुई। साथ ही साथ उपमेय 'वचन' और उपमावाचक तुल्यार्थक 'उपमा' शब्द के साथ समस्त उपमान-रूप 'अमृत' पद भी प्रयुक्त हैं किन्तु मधुरता आदि साधारण धर्म के अनुपादन में धर्म का भी लोप है, इसलिये यहां समासगा धर्मलुप्ता आर्थी उपमा हुई। 'मन विषकल्प है' में जो उपमा है वह है तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता उपमा, क्योंकि यहां 'विषादीषन्न्यूनम्'—विष सदृश-अर्थ में 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इस तद्धित सूत्र से जो कल्पप् प्रत्यय विहित है वह सादृश्य अर्थ का रखने वाला है जिसमें साधर्म्य अर्थ-लभ्य रहा करता है।]

(उपमानलुप्तोपमा के २ प्रकार)

(१२९) उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समासगा ॥ ८८ ॥

सअलकरणपरवीसामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स ।
दीसइ अहव णिसम्मइ सरिसं अंससमेत्तेण ॥ ४०० ॥

(सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य ।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ॥)

कव्वस्सेत्यत्र कव्वसममिति सरिसमित्यत्र च णूणमिति पाठे एषैव समासगा ।

(वाचकलुप्ता उपमा के ६ प्रकार)

(१३०) वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि

वह 'लुप्तोपमा' जो उपमान के लोप में हुआ करती है दो प्रकार की है—१ली वाक्यगा और २री समासगा ।

टिप्पणी—उपमानलुप्ता उपमा 'तद्धितगा' इसलिये नहीं हो सकती क्योंकि उपमाप्रतिपादक जो 'वति' प्रभृति तद्धित प्रत्यय हैं वे 'उपमान'-पद से ही विहित किये जाया करते हैं । अब जब उपमान ही लुप्त हुआ तब 'वति' आदि तद्धित प्रत्यय भी कैसे हो सकते हैं ? साथ ही साथ यह उपमा 'श्रौती' भी नहीं हुआ करती क्योंकि 'इव' आदि जो साधर्म्यवाचक पद हैं वे उपमान में अन्वित होकर ही अपने अर्थ-'साधर्म्य'-का प्रतिपादन किया करते हैं । अब जब कि उपमान के लोप से इन पदों का भी उपादान असंभव है तो यहां 'श्रौती' की क्या सम्भावना ! इसलिये उपमानलुप्ता उपमा केवल 'वाक्यगा आर्थी' और 'समासगा आर्थी' दो प्रकार की ही हुआ करती है । इसीलिये प्रदीपकार ने यहां कहा है—

'अत्र तद्धितगा न संभवति उपमाप्रतिपादकस्य तद्धितस्य वतिकल्पनादेरुपमानादेव विधानेन उपमानाऽनुपादानेऽसंभवात् । न वा श्रौती इवादीनामुपमानमात्रान्विततया तदनुपादाने तेषामप्यनुपादानात् । अतो वाक्यसमासयोरेव तयोरप्यार्थ्येवेति द्विप्रकारा लुप्तोपमानोपमा ।'

अनुवाद—(इसका यह उदाहरण है)—

जो समस्त इन्द्रियों का विषयान्तर वैमुख्य और उससे उत्पन्न परमानन्द-वैभव-वितरण किसी सरस काव्य का हुआ करता है, उसके लेशमात्र के भी तुल्य न तो कहीं दिखायी देता है और न सुनायी पड़ता है ।'

[यहां उपमेय 'काव्य', साधारण धर्म 'सकलकरणपरविश्रान्तिश्रीवितरण' तथा वाक्यगत उपमावाचक तुल्यार्थकपद 'सदृश' ये तो उपात्त हैं किन्तु उपमान का उपादान नहीं किया गया । इसलिये यहां वाक्यगा उपमानलुप्ता आर्थी उपमा हुई ।]

यही (उपमानलुप्ता आर्थी उपमा) यहां 'समासगा' हो जायगी यदि 'कव्वस्स'-(काव्यस्य)-के बदले 'कव्वसमम्'-'काव्यसमम्' और सरिसम्-(सदृशम्)-के बदले (समम् और सदृशम् की पुनरुक्ति हटाने के लिये) 'णूणम्'-नूनम्' कर दिया जाय ।

वह लुप्तोपमा 'वा' इत्यादि उपमावाचक पदों के लोप में अर्थात् समास में, कर्मकारक से विहित क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में, अधिकरण कारक से विहित क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में, क्यङ् प्रत्यय के प्रयोग में, कर्मोपपदक 'णमुल्' प्रत्यय के प्रयोग में और कर्तृकारकोपपदक णमुल् प्रत्यय के प्रयोग में हुआ करती है ।

वाशब्दः उपमाद्योतक इति वादेरुपमाप्रतिपादकस्य लोपे षट् समासेन कर्मणोऽधिकरणाच्चोत्पन्नेन क्यचा कर्तुः क्यङा कर्मकर्त्रोरुपपदयोर्णमुला च भवेत् ।

उदाहरणम्—

(१ समासगा वाचकलुप्ता आर्थी उपमा)

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥ ४०१ ॥

तथा—

(२ बहुपदसमासगा वाचकलुप्ता आर्थी उपमा)

असितभुजगभीषणासिपत्रोरुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः ।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥ ४०२ ॥

टिप्पणी—वाचक लुप्तोपमा का 'वाक्यगा' होना इसलिये असम्भव है क्योंकि ऐसे वाक्यों जैसे कि 'मुखं चन्द्रः काशते' इत्यादि में, जहां उपमावाचक पद लुप्त हैं, उपमा की प्रतीति की ही सम्भावना नहीं। साथ ही साथ इसका 'तद्धितगा' अथवा श्रौती होना भी सर्वथा असंभव है क्योंकि 'इव, आदि पद और 'वति' प्रभृति तद्धित प्रत्यय ऐसे हैं जो औपम्य के प्रतिपादक हुआ करते हैं और यदि इनका प्रयोग किया गया तो उपमावाचक पद का लोप होना असंभव हो गया। इसलिये वाचकलुप्तोपमा 'समासगा' ही हो सकती है और ६ प्रकार वाली ही है।

यहां (कारिका में) जो 'वा' शब्द है वह उपमावाचक शब्द है। इसलिये 'वा' आदि उपमावाचक शब्दों के लुप्त रहने पर यह (वाचक लुप्ता) उपमा जो हुआ करती है वह ६ प्रकार की है जैसे कि (१) 'समास' में, (२) कर्मकारक से विहित 'क्यच्' में, (३) अधिकरण कारक से विहित 'क्यच्' में, (४) कर्तृकारक से विहित 'क्यङ्' में, (५) कर्मोपपद 'णमुल्' प्रत्यय के विधान में और (६) कर्त्रुपपद 'णमुल्' प्रत्यय के प्रयोग में।

इसके उदाहरण ये हैं—

'इसके बाद ही कामिनी-कपोल-पाण्डुर नेत्रों के आनन्द-दायक और कुमुदों के विकास करने वाले चन्द्रमा ने प्राची दिशा को सुशोभित कर दिया।' (महाभारत-द्रोणपर्व अध्याय १८४)

[यहां 'कामिनीगण्डपाण्डु' में वाचकलुप्ता समासगा उपमा है क्योंकि 'कामिनीगण्ड इव, कामिनीगण्डवद्वा पाण्डुः' इस विग्रह वाक्य में पाणिनि के सूत्र 'उपमानानि सामान्यवचनैः' से समास हो जाने पर समास के द्वारा ही उपमा की प्रतिपत्ति होने के कारण 'इव' आदि उपमाबोधक पदों का लोप हो गया है। इसे द्विपदसमासगा वाचकलुप्ता उपमा कह सकते हैं।]

'अपने शत्रुओं के पराक्रम के दर्शन में यह (महावीर) राजा वस्तुतः कृष्णसर्प-भयङ्कर-खड्ग-धारी, संहार की अभिलाषाओं से व्याकुल चित्त होने के कारण संग्राम में सर्वत्र सत्वर संचरण करने वाला, शौर्योद्रेक से रोमाञ्चित शरीर किंवा क्रोध से लाल कपोल फलकों से भयावह लगने लगा।,

[यहां जो वाचकलुप्ता उपमा है वह 'बहुपद समासगा' है क्योंकि 'असितभुजगः कृष्णसर्प इव भीषणः असिः खड्ग एव पत्रं यस्य' इस विग्रह वाक्य में उपमान 'असित भुजग', उपमेय 'असिपत्र' तथा साधारण धर्म 'भीषण' इन तीनों के समस्त पद बन जाने पर उपमावाचक पद 'इव' का लोप स्पष्ट दिखायी दे रहा है।]

(३ कर्मकारक से विहित क्यच् , अधिकरण कारक से विहित क्यच् तथा कर्तृकारक से विहित क्यङ् के प्रयोग में वाचकलुप्ता उपमा)

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसा-
वन्तः पुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे-
रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ॥ ४०३ ॥

(४ कर्मोपपदक तथा कर्तृकारकोपपदक 'णमुल्' के प्रयोग में वाचकलुप्ता उपमा)

मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे।
स पुनः पार्थसंचारं संचरत्यवनीपतिः ॥ ४०४ ॥

(द्विलुप्ता-धर्म + वाचकलुप्ता-उपमा के २ भेद)

(१३१) एतद्विलोपे क्विप्समासगा ॥ ८९ ॥

'यह राजा ऐसा विचित्र चरित्र वाला है जो पौरजन को पुत्रवत् पालता है, समराङ्गण में अन्तःपुर की भांति विचरण करता है और जिस खड्गधारी के चरित्र को देखने वाली युद्ध में पड़ी शत्रुसेना स्त्री की भांति डरती रहा करती है।'

[यहां 'पौरं जनं सुतीयति' में 'सुतीयति' पद ऐसा है जो 'सुतमिव आचरति पालयति इस अर्थ का बोधक है और जहां 'उपमानादाचारे' इस पाणिनि-सूत्र से उपमानवाचक कर्मभूत 'सुत' पद से 'क्यच्' प्रत्यय विहित होने से उपमावाचक 'इव' पद का लोप हो गया है। इस प्रकार यहां कर्मपद से विहित क्यच् के प्रयोग में वाचकलुप्ता उपमा हुई। अब 'असौ समरान्तरेऽन्तःपुरीयति' में जो वाचकलुप्ता उपमा है वह 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्' इस वार्तिक-नियम के अनुसार अधिकरण-पद 'अन्तःपुर' से विहित (क्योंकि यहां अर्थ है अन्तःपुरे इव आचरति स्वच्छन्दं विहरति) क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में है। साथ ही साथ 'सपत्नसेना नारीयते' में जो वाचकलुप्ता उपमा है वह 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इस पाणिनिसूत्र के अनुसार उपमानभूत कर्तृवाचक 'नारी' पद से आचार अर्थ में विहित (क्योंकि यहां अर्थ है नारीव आचरति बिभेति) क्यङ् प्रत्यय के प्रयोग में हैं।]

'संग्राम में शत्रुगण तो उस राजा को ग्रीष्मकालीन सूर्य सा देखते हैं और वहां वह अर्जुन सा निर्भय विचरण किया करता है।'

[यहां 'निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति' में जो उपमा है वह है वाचकलुप्ता उपमा क्योंकि 'निदाघघर्मांशुमिव पश्यन्ति' इस अर्थ में उपमानवाचक कर्मभूत 'निदाघघर्मांशुम्' इस पद के उपपद रूप से रहते 'दृश्' धातु से भाव के अर्थ में 'उपमाने कर्मणि च' इस पाणिनि-सूत्र से णमुल् प्रत्यय होने पर 'निदाघघर्मांशुदर्शम्' पद निष्पन्न हुआ है जिसमें उपमान 'निदाघघर्मांशु' उपमेय 'राजा' तथा साधारणधर्म 'पश्यन्ति' दर्शन करना-ये तीनों तो विद्यमान हैं किन्तु उपमावाचक 'इव' पद लुप्त है। साथ ही 'पार्थसञ्चारं सञ्चरति' में भी यही वाचकलुप्तोपमा दिखायी देती है क्योंकि 'पार्थ इव सञ्चरति' इस अर्थ में उपमान-वाचक कर्तृभूत 'पार्थ' पद के उपपद होने पर 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'चर' धातु से भावमें 'णमुल्' प्रत्यय के प्रयोग में जो 'पार्थसञ्चारं' पद बनता है उसमें उपमान 'पार्थ', उपमेय 'राजा' तथा साधारण धर्म 'सञ्चरण' ये तो विद्यमान हैं किन्तु उपमावाचक 'इव' पद लुप्त है।]

वह लुप्तोपमा जो इन दोनों अर्थात् उपमावाचक तथा साधारण धर्म-के लोप में होती है दो प्रकार की है—१ ली क्विप्गा और २ री समासगा।

एतयोर्द्धर्म्मवाद्योः ।

उदाहरणम्—

(१ क्विप्गा धर्मोपमावाचक लुप्ता उपमा)

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥ ४०५ ॥

(२ समासगा धर्मोपमावाचक लुप्ता उपमा)

परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः ।
संपरायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥ ४०६ ॥

(द्विलुप्ता-धर्मोपमानलुप्ता-उपमा के २ प्रकार)

(१३२) धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।

ढुण्ढुण्णन्तो मरिहसि कण्टअकलिआइँ केअइवणाइं ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर ! भमन्तो ण पाविसिहि ॥ ४०७ ॥

टिप्पणी—साधारण धर्म और उपमावाचक पद-इन दोनों का यदि उपादान न हो तो इस लुप्तोपमा अर्थात् धर्मोपमावाचक लुप्तोपमा का 'वाक्यगा' होना असम्भव है। क्योंकि 'मुखं चन्द्रः' इस वाक्य में उपमेय और उपमान के होने पर भी उपमा की प्रतीति असम्भव है। इसका 'तद्धितगा' होना भी असम्भव ही है क्योंकि कल्पप् प्रभृति जो तद्धित प्रत्यय हैं वे ही उपमा प्रतिपादक हैं और जब ये प्रयुक्त हुये तो धर्म+उपमावाचक लुप्तोपमा भी कैसे हो ? यहां 'श्रौती'भेद भी नहीं हो सकता क्योंकि 'इवादि' रूप उपमा वाचक के लुप्त रहने पर इसे श्रौती कैसे कहा जाय ? अन्ततोगत्वा यह द्विलुप्ता अर्थात् धर्मोपमावाचक लुप्ता उपमा केवल क्विप्गा और समासगा दो ही प्रकार की हो सकेगी।

अनुवाद—यहां 'एतयोः' का अभिप्राय है 'साधारण धर्म' और 'उपमावाचक पद' इन दोनों का। इसके उदाहरण ये हैं:—

'जब मन सुख और दुःख के वशीभूत हो तो क्रमशः सूर्य चन्द्र तुल्य लगता है और चन्द्र सूर्यतुल्य; रातें दिन के समान लगती हैं और दिन रातों के समान।'

[यहां 'विधवति', 'सवितरति', 'दिनन्ति' तथा यामिनयन्ति'-ये चारों पद ऐसे हैं जिनमें 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः' इस वार्तिक-नियम के अनुसार उपमानवाचक 'विधु' 'सविता', 'दिन' तथा 'यामिनी' इन कर्तृभूत प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में (जैसे विधवति विधुरिवाचरति इत्यादि) क्विप् प्रत्यय प्रयुक्त हैं और क्विप् प्रत्यय ऐसा है जो तुल्याचार रूढ साधारण धर्म का वाचक है। इस प्रत्यय का 'वेरपृक्तस्य' इस पाणिनिसूत्र से नित्य लोप हुआ करता है जिसके कारण यहां 'इव' पद के लोप के साथ-साथ साधारण धर्म-जैसे कि आह्लादकत्व इत्यादि लुप्त ही हैं। इसलिये यह लुप्तोपमा यहां क्विप्गा धर्म+वाचक लुप्ता कही जाया करती हैं।]

'संग्राम में प्रवृत्त यह राजकुञ्जर, (गजेन्द्रपराक्रम राजा) जिसे शत्रुओं के असंख्य मनोरथ कभी भी नहीं पा सकते वस्तुतः बड़ा सुन्दर लग रहा है।'

[यहां जो लुप्तोपमा है वह समासगा धर्म+वाचक लुप्तोपमा है क्योंकि 'राजकुञ्जरः' (राजाऽयं कुञ्जर इव) पद ऐसा है जिसमें 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे' इस पाणिनि-सूत्र से साधारण धर्म के अप्रयोग में समास होने पर उपमावाचक 'इव' पद का भी लोप हो गया है।]

यह लुप्तोपमा जो कि—साधारण धर्म और उपमानवाचक पद के लुप्त रहने पर होती है, समास और वाक्य-इन दोनों में देखी जा सकती है।

(टुण्टुणायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि ।
मालतीकुसुमसदृक्षं भ्रमर ! भ्रमन् न प्राप्स्यसि ॥ ४०७ ॥)

कुसुमेण सममिति पाठे वाक्यगा ।

(द्विलुप्ता-उपमेयोपमावाचकलुप्ता-उपमा का १ प्रकार)

(१३३) क्यचि वाद्युपमेयासे ।

आसेनिरासे—

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥ ४०८ ॥

अत्रात्मा उपमेयः ।

(त्रिलुप्ता-धर्मोपमानवाचक लुप्ता-उपमा का १ प्रकार)

(१३४) त्रिलोपे च समासगा ॥ ९० ॥

इसका उदाहरणः—

'अरे भ्रमर ! कांटों से भरे केतकी-वन में टुनटुनाते घूमते हुये तुम मर भले ही जाओ किन्तु मालती का सा फूल कहीं न पा सकोगे !'

[यहां 'मालतीकुसमसरिच्छम्'—मालती कुसुम सदृक्षम् में जो लुप्तोपमा है वह है समासगा धर्मोपमानलुप्ता उपमा क्योंकि उपमेय 'मालती' और उपमावाचकपद 'सदृक्ष' ये दोनों तो विद्यमान हैं किन्तु उपमान (कोई अन्य पुष्प) तथा साधारण धर्म (सौरभ आदि) का लोप है ।]

यहां ही यदि 'मालतीकुसमसरिच्छं' के बदले 'मालतीकुसुमेण समम्' कर दिया जाय तो यही वाक्यगा (धर्मोपमानलुप्तोपमा) हो जायगी ।

यह लुप्तोपमा जो कि उपमेय तथा उपमावाचक पद के लोप में हुआ करती है क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में देखी जा सकती है ।

यहां 'वाद्युपमेयासे' में 'आसे' (असु क्षेपणे) का अर्थ है लोप होने अथवा अनुपादान का । (उदाहरण के लिये)—

'कृपाण धारण करने के कारण भीषण भुजदण्ड किंवा शत्रुओं के पराक्रम के दर्शन में प्रसन्न-नेत्र वह (प्रतापी राजा) सहस्रायुध (कार्तवीर्य अर्जुन) की भांति अपने आप को (संग्राम में) माना करता है ।'

यहां ('सहस्रायुधीयति'—सहस्रायुधं कार्तवीर्यमर्जुनमिव आत्मानमाचरति में) उपमेय (जो कि लुप्त है) आत्म-पद है ।

इस उदाहरण में उपमान 'सहस्रायुध' और साधारण धर्म 'आचरति'—दुर्जयं मन्यते दुर्जयमानिता—तो विद्यमान हैं किन्तु उपमावाचक 'इव' तथा उपमेय-भूत कर्मपद 'आत्मानम्' लुप्त हैं जिसके कारण यह उपमेयोपमावाचकलुप्ता उपमा हुई । यहां 'उपमानादाचारे' इस पाणिनि सूत्र से उपमानवाचक 'सहस्रायुधम्' इस कर्मपद से आचार-तत्समान व्यवहार-अर्थ में क्यच् प्रत्यय हुआ है ।]

वह लुप्तोपमा जो तीन अर्थात् साधारण धर्म, उपमान और उपमावाचक पद के लोप में होती है 'समासगा' हुआ करती है ।

टिप्पणी—जब उपमा के तीन-तीन अंग जैसे कि साधारणधर्म, उपमान-पद तथा उपमावाचक शब्द लुप्त हो जांय तब वाक्य में अथवा तद्धित में तो यह लुप्तोपमा असंभव ही है क्योंकि वहां औपम्य की प्रतीति ही नहीं हो सकती । किन्तु समास में औपम्य की प्रतीति होने से यह 'समासगा' अवश्य हो सकती है ।

त्रयाणां वादिधर्मोपमानानाम् ।
उदाहरणम्—

तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासवितीर्णविग्रहा ।
स्मरशरविसरोचितान्तरा मृगनयना हरते मुनेर्मनः ॥ ४०६ ॥

अत्र सप्तम्युपमानेत्यादिना यदा समासलोपौ भवतस्तदेदमुदाहरणम् ।

(उपमेय + वाचक + धर्मलुप्तोपमा (प्रतीहारेन्दुराजमत) का खण्डन)

क्रूरस्याचारस्यायः शूलतयाऽध्यवसायात् अयः शूलेनान्विच्छति आयः शूलिक इत्यतिशयोक्तिर्न्न तु क्रूराचारोपमेय-तैक्ष्ण्यधर्म-वादीनां लोपे त्रिलोपेयमुपमा ।

उपमा के २५ भेद

एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः ।
अनयेनेव राज्यश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।
मम्लौ साऽथ विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा ॥ ४१० ॥

अनुवाद—यहां 'त्रयाणाम्' का अभिप्राय है—उपमावाचक पद, साधारण धर्म और उपमान–इन तीनों का । जैसे कि—

'अपने तारुण्य का अनुभव करने वाली, ललित हावभावों के लिये अपने अंग-प्रत्यङ्ग को समर्पित कर चुकने वाली और काम के बाणों से विद्ध हृदय वाली मृगनयना मुनि का भी मन चुरा ही लेती है ।'

यहां 'सप्तम्युपमान पूर्वपदस्य बहुव्रीहि उत्तर पदलोपश्च' इस कात्यायन-वार्तिक के अनुसार जब (मृगनयना में) समास तथा उत्तर पद लोप होंगे तब यह उदाहरण संगत समझा जायगा ।

['मृगनयना' पद में यदि 'मृग' शब्द को लाक्षणिक मान कर मृग का अर्थ 'मृगलोचन' समझा जाय तब (मृग इव नयने यस्या सा मृगनयना इस अभिप्राय में) यह उदाहरण संगत नहीं होगा क्योंकि यहां उपमानवाचक मृग पद तो विद्यमान ही है। इसलिये 'मृगलोचने इव (चञ्चले) नयने यस्या' इस अभिप्राय में यहां 'अनेकमन्यपदार्थे' इस पाणिनिसूत्र से 'सम्बद्ध सप्तम्युपमान पूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इस कात्यायन-वार्तिक के अनुसार जब समास किया जायगा तब उपमानवाचक 'मृगलोचन' इस पूर्वपद के उत्तर पदभूत 'लोचन' शब्द का लोप और केवल उपमेय भूत 'नयन' का उपादान दोनों स्पष्ट प्रतीत होंगे। इसी नियमानुसार समास होने पर यहां उपमानवाचक 'लोचन' पद, साधारण धर्म 'चञ्चलता' तथा उपमावाचक शब्द 'इव' के लोप में त्रिलुप्ता-धर्मोपमान वाचकलुप्ता-उपमा होगी ।

(आलङ्कारिक प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार) यहां यह मानना कि त्रिलुप्ता उपमा (जैसे उपमान और धर्म और वाचक शब्द-इन तीनों के लोप में हो सकती है वैसे ही) उपमेय, धर्म और वाचक शब्द के भी लोप में संभव है जैसे कि 'आयः शूलिकः' में जहां (अयःशूलदण्डाजिनाभ्याम् ठक्ठञौ (पाणिनिसूत्र ५.२.७६) से ठक् विधान है और 'अयःशूल' रूप उपमान मात्र तो शब्दतः उपात्त है किन्तु) 'क्रूराचरण' रूप उपमेय, तीक्ष्णत्वादि रूप साधारण धर्म और 'इवादि' रूप उपमावाचक तीनों लुप्त हैं, वस्तुतः युक्ति-संगत नहीं क्योंकि 'आयः शूलिकः' में (उपमानोपमेयभाव की प्रतीति कहां ? यहां) तो 'क्रूराचरण' का 'अयः शूल' से सर्वथा तादात्म्य-स्थापन और स्वरूप-निगरण है जो कि 'अतिशयोक्ति' का विषय है (न कि उपमा का) ।

इस प्रकार 'पूर्णोपमा' के ६ भेदों के साथ 'लुप्तोपमा' के १९ भेदों को मिला देने से उपमा के २५ भेद हुये ।

टिप्पणी—(क) अलंकार शास्त्र में 'सादृश्य' (भरतमुनि और दण्डी), 'साम्य' (भामह, वामन तथा रुद्रट-'समान गुणादि'=साम्य) तथा 'साधर्म्य' (उद्भट, रुय्यक और मम्मट) इन तीन शब्दों द्वारा औपम्य के अभिप्राय प्रकाशन की परम्परा रही है। दण्डी के 'सादृश्य' और भामह के 'साम्य' के बदले मम्मट ने 'साधर्म्य' का प्रयोग उद्भट की उपमा-मीमांसा की दृष्टि से किया है। भामह की उपमा-परिभाषा तो यह थी—

'विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः। उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ॥'

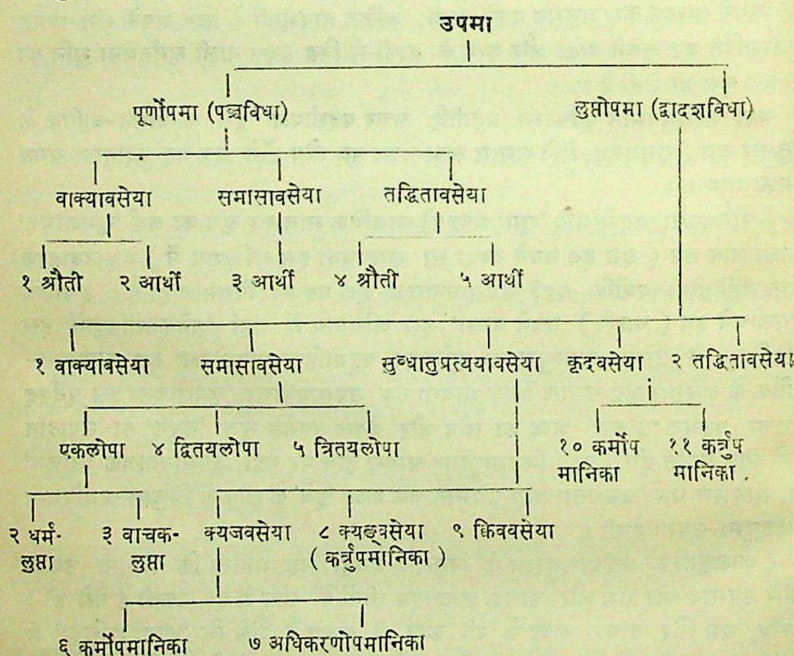
(काव्यालंकार २. ३०)

और 'उद्भट' की उपमा-समीक्षा थी यह—

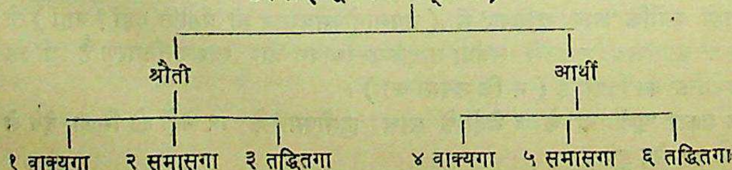
'यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः। मिथोविभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत् ॥'

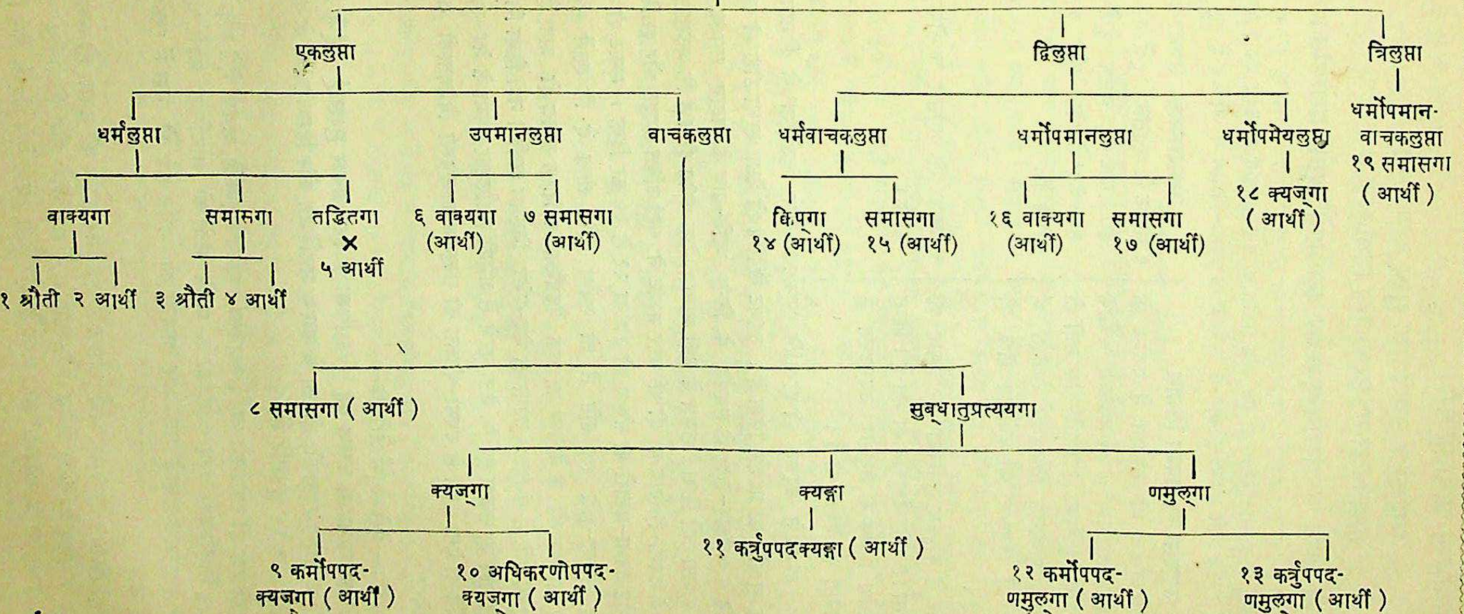
मम्मट ने इन दोनों का सार अपने 'साधर्म्यमुपमाभेदे' इस उपमा-लक्षण में संचित और सुरक्षित किया। मम्मट के 'भेदे' इस एक शब्द में भामह के 'देशकालक्रियादि विरोध' और उद्भटके 'मिथोविभिन्नकालादि वाच्यत्व' इन दोनों अभिप्रायों का समन्वय स्पष्टतया प्रतीत होता है। इस प्रकार मम्मट की उपमा-परिभाषा जितनी संक्षिप्त है उतनी सारगर्भित भी। 'साधर्म्यमुपमाभेदे' इन तीन शब्दों में उपमा का वास्तविक स्वरूप झलक उठता है।

(ख) मम्मट के उपमा-प्रकार-निरूपण पर उद्भट का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। उद्भट के अनुसार उपमा का श्रेणी-विभाग यह है:—



किन्तु मम्मट ने 'उपमा' का विभाग इस प्रकार किया है:—





तथा लुप्तोपमा–(एकोनविंशतिविधा)
एकलुप्ता
द्विलुप्ता
त्रिलुप्ता
धर्मलुप्ता
उपमानलुप्ता
वाचकलुप्ता
धर्मवाचकलुप्ता
धर्मोपमानलुप्ता
धर्मोपमेयलुप्ता
धर्मोपमान-वाचकलुप्ता १९ समासगा (आर्थी)
वाक्यगा
समासगा
तद्धितगा × ५ आर्थी
६ वाक्यगा (आर्थी)
७ समासगा (आर्थी)
क्विपगा १४ (आर्थी)
समासगा १५ (आर्थी)
१६ वाक्यगा (आर्थी)
समासगा १७ (आर्थी)
१८ क्यज्गा (आर्थी)
१ श्रौती २ आर्थी
३ श्रौती ४ आर्थी
८ समासगा (आर्थी)
सुब्धातुप्रत्ययगा
क्यज्गा
क्यङ्गा
णमुल्गा
९ कर्मोपपद-क्यज्गा (आर्थी)
१० अधिकरणोपपद-क्यज्गा (आर्थी)
११ कर्त्रुपपदक्यङ्गा (आर्थी)
१२ कर्मोपपद-णमुल्गा (आर्थी)
१३ कर्त्रुपपद-णमुल्गा (आर्थी)

३०, ३१ का०

इत्यभिन्ने साधारणे धर्मे।

ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम्।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥ ४११ ॥

इति भिन्ने च तस्मिन् एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा।

मम्मट के उपमा-विभाग से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्हें उद्भट की उपमा विभाजन-प्रणाली मान्य है। 'उद्भट' के उपमा-विभाग से 'मम्मट' के उपमा-विभाग में जो भेद है वह यह है:—

उद्भटसम्मत उपमा विभाग	मम्मटसम्मत उपमा-विभाग
१ प्रतीहारेन्दुराज की समीक्षा में उदभट के अनुसार 'पूर्णोपमा' के ५ प्रकार हैं क्योंकि 'समासगा' पूर्णोपमा में 'श्रौती'-भेद नहीं हो सकता। राजानक तिलक की समीक्षा में उद्भट के अनुसार भी पूर्णोपमा के ६ ही भेद हैं।	१ मम्मट के अनुसार 'पूर्णोपमा' के ६ प्रकार हैं। मम्मट के अनुसार पूर्णोपमा के 'समासगा-भेद' में श्रौती और आर्थी दोनों रूप संभव हैं।
२ उद्भट के अनुसार लुप्तोपमा १२ प्रकार की है जैसा कि प्रतीहारेन्दुराज का मत है। किन्तु राजानक तिलक के अनुसार उद्भटमत में लुप्तोपमा १५ प्रकार की है।	२ मम्मट के अनुसार लुप्तोपमा १९ प्रकार की है।

(ग) मम्मट ने उद्भट की ही भांति 'पूर्णोपमा' और 'लुप्तोपमा' के विभाग में व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति का प्रदर्शन किया है। उद्भट के लिये तो ऐसा करना ठीक भी कहा जा सकता है क्योंकि वे अलंकार-वाद के समर्थक थे, किन्तु ध्वनि-वाद के महान् समर्थक होने पर भी मम्मट ने ऐसा क्यों किया? समझ में नहीं आता। ऐसा प्रतीत होता है कि अलंकारवादी आचार्य उद्भट के उपमा-निरूपण का ही परिष्कार मम्मट ने यहां उचित समझा और इसलिये उद्भट के ही निर्दिष्ट उपमा-प्रकारों की संख्या को १७ या २१ से २५ कर दिया। मम्मट की की हुई उपमा की भेद संख्या-वृद्धि इस दृष्टि से तो सर्वथा युक्ति संगत है कि इसमें संस्कृत काव्य-साहित्य की उपमाओं के वैचित्र्य का एक वैज्ञानिक वर्गीकरण सम्पन्न हो जाता है। मम्मट ने अलंकार की दृष्टि से संभवतः उपमा का भेद-प्रभेद निरूपण इसलिये नहीं किया कि या तो ऐसा किया ही नहीं जा सकता क्योंकि ऐसा करने से अनेकों अर्थालंकार उपमा के भेद-रूप में अन्तर्भूत हो जायेंगे या ऐसा करने से उपमा-योजना की संस्कृतभाषा-संबन्धी विशेषताओं का पता नहीं चल पायेगा।

अनुवाद—**ऐसे संदर्भ जैसे कि—**

'विरह-व्यथा के कारण वह (नायिका) इस प्रकार मुरझाई हुई है जिस प्रकार अनीति के कारण राज्यश्री, दीनता के कारण मनस्विता और हिमजलवर्षा के कारण पद्मिनी (मुरझा जाय)।' इत्यादि में,

जहां एक ही साधारण धर्म (म्लानता) का उपादान है, अथवा ऐसे संदर्भ जैसे कि— 'यह नितम्बिनी चन्द्र-चन्द्रिका की भांति नेत्रों को आनन्दित करने वाली, मदिरा की भांति उन्मत्त बनाने वाली और प्रभुता की भांति सब को वश में रखने वाली है।' इत्यादि में।

जहां भिन्न २ साधारण धर्म उपात्त हैं एक और प्रकार की उपमा हो सकती है जिसे, एक ही उपमेय के लिये अनेक उपमानों के (सजातीय और विजातीय पुष्पों के से) गुम्फन के कारण 'मालोपमा' कहा गया है और इसी प्रकार ऐसे संदर्भ, जैसे कि—

यथोत्तरमुपमेयस्योपमानत्वे पूर्ववदभिन्नाभिन्नधर्मत्वे—

अनवरतकनकवितरणजललवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः।
भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला ॥ ४१२ ॥
मतिरिव मूर्त्तिर्मधुरा मूर्त्तिरिव सभा प्रभावचिता।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ॥ ४१३ ॥

इत्यादिका रशनोपमा च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसंभवात् उक्तभेदानतिक्रमाच्च।

(२ अनन्वय अलङ्कार)

(१३५) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे।

'निरन्तर स्वर्ण-दान के लिये हाथ में रखे संकल्प-जल की बूंदों से याचकों को उद्वेलित-उच्छ्वसित करने वाले (महादानी) इस राजा की बुद्धि, इसकी वाणी जैसी; चेष्टा, इसकी बुद्धि जैसी और कीर्ति, इसकी चेष्टा जैसी विमल है। और साथ ही साथ इसकी मूर्ति ऐसी मधुर है जैसी इसकी मति (बुद्धि), इसकी सभा ऐसी प्रभावशालिनी है जैसी इसकी मूर्ति और इसकी जयश्री-वह तो इसकी सभा की ही भांति शत्रुओं के लिये अजेय है।, इत्यादि में, जहां मालोपमा की ही भांति अभिन्न किं वा भिन्न २ साधारण धर्म का उपादान है किन्तु जिसमें पूर्व पूर्ववर्त्ती उपमेय उत्तरोत्तर (जैसे रशना-करधनी की एक किंकिणी और दूसरी किंकिणी में क्रमशः पूर्वपर सम्बन्ध चलता रहता है वैसे ही) उपमान के रूप में जुड़े दिखाई देते हैं, एक ऐसी भी उपमा संभव है' जिसे 'रशनोपमा' कहा गया है, किन्तु इन दोनों का और ऐसे ही अन्यान्य संभाव्य उपमा-प्रकारों का यहां निरूपण इसलिये अभिप्रेत नहीं क्योंकि सब से पहले तो ये पूर्वोक्त उपमा-प्रकारों में ही यथासंभव अन्तर्भूत हैं और साथ ही साथ यहां यह बात भी है कि इस प्रकार के विचित्र उपमा-बन्ध की कोई इयत्ता ही नहीं हो सकती।

टिप्पणी—उपमा के प्रकार-निरूपण में मम्मट ने आचार्य भामह की सी दृष्टि रखी है। 'माला', 'रशना' आदि के गुम्फनवैचित्र्य के आधार पर उपमा के विचित्र २ बन्धों की न तो कोई इयत्ता है और न इनमें उपमा के सामान्य अभिप्राय से अतिरिक्त कोई अन्य विशेपता है—इसलिये 'मालोपमा' 'रशनोपमा' आदि २ उपमा-प्रकारों का विवेचन और विश्लेषण, निरर्थक प्रयास मात्र मानकर, मम्मट ने नहीं किया है। भामह की भी यही धारणा रही है जैसा कि इस पंक्ति अर्थात्—

'मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा। (काव्यालङ्कार २.३८)

में स्पष्ट है। उद्भट ने भी 'मालोपमा' आदि का निरूपण इसीलिये नहीं किया। उपमा के बन्ध-वैचित्र्य के आधार पर तो उपमा-विभाग सर्वप्रथम दण्डी का ही उपलब्ध होता है आचार्य दण्डी ने धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, अतिशयोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, मोहोपमा, चटूपमा आदि अनेकानेक उपमा-भेदों का विवेचन किया है। मम्मट की दृष्टि में 'उपमा-चक्र' का ऐसा वर्णन इसलिये युक्तियुक्त नहीं कि इसमें उपमा के मूलभूत सिद्धान्त के आधार पर उपमालङ्कार का कक्षा-विभाग नहीं देखा जा सकता।

अनुवाद—**'अनन्वय' वह अलङ्कार है जिसमें एक ही वस्तु एक ही (औपम्य-प्रतिपादक) वाक्य में उपमान और उपमेय दोनों रूपों में प्रतीत होती है।**

टिप्पणी—'अनन्वय' का शब्दार्थ है—'न विद्यतेऽन्वयः सम्बन्धोऽर्थादुपमानान्तरेण यत्र सोऽनन्वयः' अर्थात् किसी उपमेय का अपने से भिन्न किसी उपमान से साधारणधर्मतारूप सम्बन्ध का न रखना। अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार के भेद के अभाव में भी भेदमूलक सादृश्य का उपचार करके जहां एक ही धर्मी (वस्तु) में उपमानोपमेय भाव प्रतिपादित किया जाय जिससे

अनन्वयः ।

उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वयः ।

उदाहरणम्—

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥ ४१४ ॥

(३ उपमेयोपमा अलंकार)

(१३६) विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ।

तयोरुपमानोपमेययोः परिवृत्तिः अर्थाद्वाक्यद्वये इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमा इति **उपमेयोपमा** ।

यह प्रतीत हो कि उसके सदृश अन्य कोई वस्तु नहीं और न उसका अन्यत्र कोई साधर्म्य है तो वहां जो अलङ्कार होता है वह 'अनन्वय' है । निष्कर्ष यह निकला कि 'स्वेन स्वस्योपमाऽनन्वयः' अर्थात् अपने से ही अपनी उपमा रखना 'अनन्वय' है । 'अन्वय' कहते हैं सम्बन्ध को । और अनन्वय ! यत्र अन्वयः उपमानान्तरसम्बन्धो नास्ति स अनन्वयः' । अर्थात् जहां अपने से भिन्न किसी उपमान से साधर्म्य स्थापित न किया जाय वहां 'अनन्वय' अलङ्कार है । 'उपमा' का सौन्दर्य तो साम्य की प्रतीति में है किन्तु 'अनन्वय' का भी एक वैचित्र्य है और वह है अन्य उपमानों से साधर्म्य-संबन्ध के व्यवच्छेद में । 'अनन्वय' होने के लिये यह आवश्यक है कि उपमान रूप पद भी एक ही हो भिन्न नहीं क्योंकि 'अस्याः वदनमिवास्याः वक्त्रम्' इसका मुख इसके मुंह की भांति है-अनन्वय नहीं । इसीलिये काव्यप्रकाश के एक व्याख्याकार (चक्रवर्ति भट्टाचार्य) ने कहा है—'एवकारेण भिन्नशब्दबोध्यत्वव्यवच्छेदः शब्दतोऽर्थतश्चैकत्वस्य विवक्षितत्वात् ।' यदि 'शब्दभेद' कर दिया जाय तो कहीं 'अर्थभेद' के अवभास की संभावना न हो जाय इसलिये 'अनन्वय' में उपमेय और उपमान वाचक पद अभिन्न रखे जाते हैं । 'उपमा' में उपमान और उपमेय का वास्तविक भेद और अनन्वय में आहर्य भेद होने से दोनों का चमत्कार पृथक् २ है ।

अनुवाद—**'अनन्वय' (शब्द) का अभिप्राय है (उपमेय का) अपने से भिन्न किसी उपमान के साथ साधर्म्य-सम्बन्ध का न रखना । जैसे कि :—**

'परम सुन्दरी यह नितम्बिनी इसी नितम्बिनी की (अपनी ही) भांति सुन्दर नहीं लगती अपि तु काम-केलि के आवास इसके विलास भी इसी के विलास सरीखे हैं ।'

[यहां 'वह नितम्बिनी अपने ही समान है और उसके हाव-भाव भी उसी के हाव-भाव के समान हैं' यह प्रतीति 'अनन्वय'-उपमानान्तरसम्बन्धाभाव-की प्रतीति है जिसके कारण यहां 'अनन्वय' अलङ्कार है ।]

'उपमेयोपमा' वह अलंकार है जहां दोनों (अर्थात् उपमान और उपमेय) की परस्पर परिवृत्ति प्रतिपादित की जाय (अर्थात् जहां 'उपमान' और 'उपमेय' उपमेय और उपमान बनते दिखाई दें ।) ।

यहां 'दोनों' का अभिप्राय है 'उपमान' और 'उपमेय' का । (विपर्यास का अर्थ है) परिवृत्ति अथवा परिवर्तन (उपमानोपमेयभाव का उपमेयोपमानभाव के रूप में बदलना) जो कि तभी सम्भव है जब दो वाक्य में उपमाबन्ध हो (क्योंकि एक वाक्य में परिवर्तन की सम्भावना नहीं) । इस प्रकार 'उपमेयोपमा' का अभिप्राय हुआ उपमेय के द्वारा उपमा, जिसका अभिप्राय है किसी एक उपमान के अतिरिक्त अन्य उपमानों का व्यवच्छेद । जैसे कि :—

उदाहरणम्—

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिधृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥ ४१५ ॥

(४ उत्प्रेक्षा अलङ्कार)

(१३७) संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

समेन उपमानेन ।

उदाहरणम्—

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ! ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥ ४१६ ॥

'कैसी विचित्र बात है कि इस (राजा) की बुद्धि इसकी लक्ष्मी की भांति, लक्ष्मी बुद्धि की भांति, शोभा रूप-रेखा की भांति, रूप-रेखा शोभा की भांति, धृति धरणी की भांति और धरणी धृति की भांति निरन्तर विराजती रहा करती है ।'

टिप्पणी—यहां यह शंका हो सकती है कि जब काव्यप्रकाशकार ने उपमा के मूलभूत सिद्धान्त के आधार पर ही उपमाप्रकारों का निरूपण अभिप्रेत समझा जिससे 'मालोपमा', 'रशनोपमा' आदि अगणित उपमा-बन्धों की पृथक् गणना अनावश्यक हो गयी तब 'उपमेयोपमा' को 'उपमा' से पृथक् अलंकार क्यों मान लिया ? किन्तु इसका समाधान यह है कि 'उपमेयोपमा' में उपमानान्तर (उपमेयभिन्न अन्य उपमान) का जो तिरस्कार रहा करता है वह 'उपमा' से, जहां दो भिन्न वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव विवक्षित है, एक विलक्षण ही चमत्कार है । मम्मट ने जैसे उपमा से 'अनन्वय' को पृथक् माना क्योंकि 'इसे 'अनन्वयोपमा' मान कर, जैसा कि रुद्रट ने माना है, 'उपमा' में इसलिये समाविष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि जहां 'उपमा' के लिये उपमेय से भिन्न उपमान के रहने पर ही औपम्य-प्रतीति अपेक्षित हो वहां 'अनन्वय' में एक ही वस्तु में उपमानोपमेयभाव रहे, वैसे ही उन्होंने 'उपमा' से 'उपमेयोपमा' को एक पृथक् वाच्य-सौन्दर्य माना और अतिरिक्त अलंकार के रूप में स्वीकार किया ।

अनुवाद—'उत्प्रेक्षा' वह अलंकार है जिसे प्रकृत (उपमेय) की उसके समान (अप्रकृत) उपमान-के साथ तादात्म्य-सम्भावना कहा करते हैं ।

यहां 'समेन' (संभावनम्) का अभिप्राय है 'उपमानेन' उपमान के साथ (एकरूपता की संभावना) का । जैसे कि:—

१. 'अरी सुन्दरी ! प्रतीत तो ऐसा होता है कि कमल की सुन्दरता इसलिये प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे पैरों में आ विराजी है कि इन्दीवरनयनी तुम्हीं ऐसी रही जिसने अपनी मुखशोभा से बलात्कारपूर्वक उस चन्द्रमा का सौन्दर्य-दर्प चूर कर दिया जो कि रात में उस (कमल की सुन्दरता) का सहज-शत्रु बना उस (कमल-शोभा) के उल्लास को सहन नहीं कर सकता रहा ।'

[यहां नायिका के चरणों में स्वभावतः लिपटी पद्मशोभा तो प्रकृत (उपमेय रूप) है और इसकी तादात्म्य-संभावना जिससे की गयी है वह है उस नायिका की मुख-शोभा से चन्द्रमा के सौन्दर्य-दर्प के दमन किये जाने के कारण प्रसन्नतापूर्वक उस (नायिका) के पैरों में लिपटने वाली पद्म-शोभा । 'प्रदीपकार' ने इसीलिये कहा है-'अत्र पद्मलक्ष्म्याः कामिनीचरणयोः स्वभावलग्नत्वं यथोक्तहर्षहेतुकलग्नत्वतादात्म्येन संभावितमिति हेतूत्प्रेक्षेयम् ।']

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ ४१७ ॥

इत्यादौ व्यापनादिलेपनादिरूपतया संभावितम् ।

(५ ससंदेह अलंकार)

(१३८) ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥ ९२ ॥

भेदोक्तौ यथा—

अयं मार्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं ? साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः ॥ ४१८ ॥

---

२. 'ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे अंधेरा अंग-अंग में लेप लगा रहा हो, आकाश का-(काजल) जल बरसा रहा हो और आँखें दुष्ट-सेवा की भांति व्यर्थ हो गयी हों।'

यहां पर (उपमेयभूत) अन्धकार के प्रसर की (उपमानभूत) लेपन-अञ्जन-वर्षण आदि के साथ एकरूपता की संभावना की गयी है।

टिप्पणी—(क) आचार्य मम्मट ने अपने उत्प्रेक्षा-लक्षण में भामह के इस उत्प्रेक्षा-निरूपण अर्थात्-

अविवक्षितसामान्या किञ्चिचोपमया सह ।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षाऽतिशयान्विता ॥' (काव्यालंकार २. ९०)

और उद्भट के इस उत्प्रेक्षा-समीक्षण अर्थात्—

'साम्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः । अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षाऽतिशयान्विता ॥
लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानतः । संभावनेयमुत्प्रेक्षा'

(काव्यालंकारसारसंग्रह ३. ३-४)

का एक सुन्दर संक्षेप किया है।

(ख) मम्मट को रुय्यक-संमत उत्प्रेक्षा-प्रकार निरूपण अभीष्ट नहीं। रूय्यक ने तो उत्प्रेक्षा के भेद-प्रभेदों को अनन्त कह कर छोड़ा है—'**एषा गतिर्वाच्योत्प्रेक्षायाः।'''अतश्चोक्तवक्ष्यमाणप्रकारवैचित्र्येणानन्त्यमस्याः।**' (अलंकारसर्वस्व ७२-७३ पृष्ठ) किन्तु मम्मट ने 'सम्भावन' अथवा 'उत्प्रेक्षण' के असीम वैचित्र्य की दृष्टि से उत्प्रेक्षा के वर्गीकरण को अनावश्यक समझा है।

अनुवाद—**'ससंदेह' अलंकार वह है जिसमें (उपमेय की उपमान के साथ एकरूपता में) एक (सादृश्यमूलक) संशय अथवा संदेह रहा करता है जो कि 'भेदोक्ति' (उपमेय और उपमान में किसी वैधर्म्य के स्पष्ट कथन) और 'भेदानुक्ति' (उपमेय और उपमान में किसी वैधर्म्य के अकथन) दोनों प्रकार से संभव है।**

टिप्पणी—यद्यपि 'उत्प्रेक्षा' अथवा संभावना भी एक प्रकार की संशयात्मक प्रतीति ही है किन्तु 'उत्प्रेक्षा' और 'ससंदेह' पृथक् पृथक् अलंकार है। कारण यह है कि 'उत्प्रेक्षा' में तो संभावना का पलड़ा एक पक्ष में (उपमेय की उपमानरूपता-प्रतीति में) भारी रहा करता है। किन्तु 'ससंदेह' में उपमेय और उपमान की परस्पर तादात्म्य-प्रतीति के दोनों पलड़े बराबर रहा करते हैं। इसीलिये कहा गया है—'संशयश्चात्र समकोटिको ग्राह्यः इत्युत्प्रेक्षाव्युदासः।' 'प्रकृत' और 'अप्रकृत' में ऐकरूप्य की संदिग्ध प्रतीति कविप्रतिभोत्थापित ही होनी चाहिये अन्यथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' भी 'ससंदेह' अलङ्कार हो जायगा।

अनुवाद—**जहां भेद (वैधर्म्य) की उक्ति हो (वहां ससंदेह) जैसे कि—**

'क्या यह सूर्य तो नहीं ? किन्तु उसके रथ में तो सात घोड़े जुते रहते हैं! क्या यह अग्नि तो नहीं ? किन्तु वह तो सर्वत्र एक साथ व्याप्त नहीं। तब क्या यह कृतान्त रहा ?

भेदोक्तावित्यनेन न केवलमयं निश्चयगर्भो यावन्निश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः।

यथा—

इन्दुः किं क कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम्।
ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि! निश्चितं परतः॥ ४१६॥

किन्तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्भटेन। तदनुक्तौ यथा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।

किन्तु वह तो महिषवाहन है! इस प्रकार, हे महाराज! आपके शत्रु–सैनिक आपको संग्राम में देख-देख कर संकल्प–विकल्प किया करते हैं।'

[यहां 'क्या यह सूर्य है या कुछ और?' यह है संशयात्मक प्रतीति का स्वरूप। प्रकृत (उपमेय–राजा) और सम (उपमान–सूर्य) की इस संदिग्ध तादात्म्य–प्रतीति का जो मूलकारण है वह है प्रताप की दुर्निरीक्ष्यता। इसी प्रकार 'क्या यह अग्नि है या अन्य कोई वस्तु? 'यमराज है या और कोई?' इन संशयात्मक प्रतीतियों में जो मूलहेतु है वह है दुराधर्षता और सर्वसंहारिता। साथ ही साथ यहां भेद की भी उक्ति है क्योंकि 'सात घोड़ों के रथ का होना' इत्यादि उपमानभूत सूर्य की तो विशेषता है किन्तु उपमेयभूत राजा की नहीं।]

'भेद–वैधर्म्य–की उक्ति में' (संशय के होने) का अभिप्राय यह है कि यह (ससंदेह–प्रकार) केवल निश्चय गर्भ नहीं (जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण–'अयं मार्तण्डः किम्' आदि में स्पष्ट है जहां उपमेय–राजा–का पहले सूर्य–रूप उपमान से वैधर्म्य प्रदर्शित करके भी बाद में कृशानुरूप उपमान के साथ तादात्म्य–संशय किया गया है) अपितु निश्चयान्त भी हुआ करता है जैसे कि—

'क्या यह चन्द्रमा तो नहीं? किन्तु इसमें कलङ्क कहां! तब क्या यह कमल रहा? किन्तु फिर जल कहां चला गया!–इस प्रकार अन्त में कहीं, अरी मृगनयनी! तुम्हारे मधुर विलास–पूर्ण वचनों से यह निश्चय हो पाया कि यह तुम्हारा मुख है।'

[यहां जो 'ससंदेह' अलंकार है वह निश्चयान्त है क्योंकि चन्द्र और कमल रूप उपमानों से, ललित सविलास वचन के कारण, वैधर्म्य के दर्शन के हो चुकने पर, मुख का अन्य किसी उपमान से तादात्म्य–संदेह नहीं किया गया है।]

किन्तु इस (निश्चयान्त ससंदेह–प्रकार) को भट्ट उद्भट ने नहीं माना क्योंकि 'निश्चय–गर्भ' में निश्चय के व्यङ्ग्य होने से जो चमत्कार है वह यहां (निश्चयान्त में, जहां निश्चय वाच्य रहा करता है जैसे कि 'इन्दुः किं क्व कलङ्कः' इत्यादि में) नहीं प्रतीत हुआ करता। किन्तु वस्तुतः बात यह है कि इसे भी 'ससंदेह' का प्रकार मानना कोई अनुचित नहीं क्योंकि निश्चय भले ही वाच्य हो कविप्रतिभा तो वैधर्म्य बता कर भी साधर्म्य–संशय यहां कर ही रही है।

भेद–वैधर्म्य–की अनुक्ति में (ससंदेह) जैसे कि:—

'क्या इस सुन्दरी (उर्वशी) की सृष्टि का प्रजापति कान्तिदायक चन्द्रमा है? अथवा साक्षात् शृङ्गारमय कामदेव है? या मधुमास है? क्योंकि वेदाभ्यास के कारण कुण्ठित बुद्धि, संसार के सुन्दर विषयों में निरुत्सुक तथा एक मात्र मनन–रत बुड्ढे ब्रह्मा का सामर्थ्य कहां जो इस मनोहर रूप को रच दे!'

वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ ४२० ॥

(६ रूपक अलङ्कार)

(१३९) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेदः।

[कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' की इस उक्ति में जो 'ससंदेह' अलंकार है उसमें उपमेय-प्रजापति का उपमान चन्द्र आदि से वैधर्म्य प्रतिपादित नहीं। यहां उपमेय की उपमानरूपता की प्रतीति में जो कविप्रतिभोत्थापित संशय है उसका स्वरूप यह है—सृष्टिकर्ता चतुर्मुख ब्रह्मा तो वेदाभ्यास जड़ रहे वे भला उर्वशी की सृष्टि कैसे कर सकें! तब उर्वशी का सृष्टिकर्ता कौन ? क्या चन्द्रमा ? क्या मदन ? अथवा क्या वसन्त ?

टिप्पणी—(क) मम्मट ने इस 'ससंदेह' अलंकार का 'ससंदेह' नाम भामह और उद्भट का अनुसरण करते हुये माना है। रुद्रट के अनुसार इस अलंकार का नाम 'संशय' है जैसा कि इस उक्ति अर्थात्—

'वस्तुनि यत्रैकस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति संदेहः।
प्रतिपत्तुः सादृश्यादनिश्चयः संशय स इति ॥' (काव्यालंकार ८.५९)

से स्पष्ट है। रुय्यक ने इसका नामकरण 'संदेह' किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रट के 'संशय' और रुय्यक के 'संदेह' इन दो-दो नामों का भेद-भाव मिटाने के ही लिये मम्मट ने इसका भामह-सम्मत नाम ही ठीक समझा है।

(ख) मम्मट की निश्चयान्त-संदेह-सम्बन्धी इस युक्ति अर्थात्—

'किं तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्भटेन।'

का क्या आधार है ? पता नहीं चलता। न तो उद्भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में निश्चयान्त संदेह का कोई खण्डन है और न उद्भट के दोनों टीकाकारों-इन्दुराज और तिलक-में से ही किसी ने इस सम्बन्ध की उद्भट की मान्यता का कोई उल्लेख किया है। संभवतः मम्मट का यह उल्लेख भट्टोद्भट के 'भामहकाव्यालङ्कारविवरण' नामक आज कल अप्राप्य ग्रन्थ के आधार पर हो। वैसे 'निश्चयान्तसंदेह' मम्मट ने 'रुद्रट' के अनुसार स्वीकार किया है।

अनुवाद—**उपमेय और उपमान का जो अभेद-अभेदारोप अथवा काल्पनिक अभेद-है उसे 'रूपक' अलङ्कार कहा जाता है।**

टिप्पणी—'रूपक' शब्द का अर्थ है—रूपयति एकतां नयतीति रूपकम्—अर्थात् एकता अथवा अभेद की प्रतीति का उत्पादन। अभिप्राय यह है कि उपमान और उपमेय के भिन्न स्वरूप में प्रकाशित होने पर भी दोनों में अत्यन्त साम्य के प्रदर्शन के लिये काल्पनिक अभेद का किया जाना 'रूपक' है। जैसे कि 'मुखं चन्द्रः'-'मुख चन्द्र है'-इत्यादि में मुख और चन्द्र के अपने-अपने स्वरूप में प्रकाशित होने पर भी दोनों में अभेद का आरोप किया गया है। अभेद के आरोप का 'रूपक' अलङ्कार होना तभी संभव है जब यह कविप्रतिभाप्रसूत हो क्योंकि 'लोष्ठः पाषाणः' इत्यादि में जैसा आरोपित अभेद है वह रूपक नहीं।

अनुवाद—**अभेद के आरोप का हेतु है (उपमेय और उपमान में) अतिसाम्य अथवा धर्मबाहुल्य और यह 'अभेद' वहां संभव है जहां उपमान और उपमेय अपने वैधर्म्य में प्रकाशित हो रहे हों। (क्योंकि यहां भेद का अपह्नव नहीं अपितु भेद होने पर भी अभेद की कल्पना हुआ करती है।)**

(रूपक के भेद-प्रभेद)

(१ साङ्गरूपक-समस्तवस्तुविषय-प्रकार)

(१४०) समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥ ९३ ॥

आरोपविषया इव आरोप्यमाणा यदा शब्दोपात्तास्तदा समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति समस्तवस्तुविषयम्। आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम्।

यथा—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥ ४२१ ॥

अत्र पादत्रये अन्तर्द्धानव्यसनरसिकत्वमारोपितधर्म एवेति रूपकपरिग्रहे साधकमस्तीति तत्संकराशङ्का न कार्या।

(साङ्गरूपक-एकदेशविवर्ति-प्रकार)

(१४१) श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत्।

जहां आरोपित अर्थात् उपमान शब्द-प्रतिपाद्य रहे वह रूपक 'समस्तवस्तुविषय' कहा जाता है।

'समस्तवस्तुविषय' का अभिप्राय है 'समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्य' अर्थात् वह रूपक जिसमें सभी (आरोपित) वस्तु अर्थात् उपमान शब्द-विषय अथवा शब्द-प्रतिपाद्य हुआ करें। इस प्रकार 'समस्तवस्तुविषय' रूपक तब होता है जब आरोप-विषय (उपमेय) की भांति आरोप्यमाण (उपमान) भी शब्द-प्रतिपाद्य रहा करते हैं। यहां 'आरोपिताः' में जो बहुवचन है वह विवक्षित नहीं (क्योंकि सूत्र में वचन किसी विशेष अभिप्राय का बोधक नहीं हुआ करता—सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्।) उदाहरण के लिये—

'चांदनी का भस्म लपेटे उजली बनी, तारों की अस्थियां सम्हाले, अपने अन्तर्धान के कौतुक में लगी यह रात की योगिनी अपने चन्द्रमारूपी मुद्राकपाल (खप्पर) में लाञ्छन के बहाने सिद्धाञ्जन का चूर्ण धरे सर्वत्र स्वच्छन्द विचरती दिखाई दे रही है।'

यहां यह शङ्का कि ('कापालिकी की भांति रात्रि भस्म की भांति ज्योत्स्ना के अंगलेप से शुभ्र बनी' इत्यादि अभिप्राय में 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से 'रात्रिकापालिकी' इत्यादि में उपमित समास मान कर उपमा क्यों नहीं ? और मयूरव्यंसकादि समास मान कर रूपक तो है ही, जिससे) उपमा के साथ रूपक का संदेह-संकर क्यों नहीं ? ठीक नहीं जँचती क्योंकि 'अन्तर्धानव्यसनरसिकता' रूप धर्म ऐसा है जो (आरोपविषय अर्थात् उपमेयभूत रात्रि का धर्म नहीं अपितु) वस्तुतः आरोपित-उपमान का ही धर्म है (अर्थात् चेतन कापालिकी में ही संभव है) जिससे इस सूक्ति के तीनों चरणों में वस्तुतः रूपक-बन्ध का ही समर्थन किया जा रहा है (न कि उपमा का क्योंकि उपमा होने से इस धर्म को अचेतन रात्रि में भी समन्वित होना चाहिये जो कि असंभव है।)

'एकदेशविवर्ति' रूपक वह है जिसमें आरोपित अर्थात् उपमान शब्दगम्य तथा अर्थगम्य दोनों प्रकार का हुआ करता है।

केचिदारोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः केचिदर्थसामर्थ्यादवसेयाः इत्येकदेशविवर्त्तनात् एकदेशविवर्त्ति ।

तथा—

जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअम् ।
रससंमुहीवि सहसा परंमुही होइ रिउसेणा ॥ ४२२ ॥
(यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम् ।
रससंमुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना ॥)

अत्र रणस्यान्तःपुरत्वमारोप्यमाणं शब्दोपात्तम् मण्डलाग्रलतायाः नायिकात्वम् रिपुसेनायाश्च प्रतिनायिकात्वम् अर्थसामर्थ्यादवसीयते इत्येकदेशे विशेषेण वर्त्तनादेकदेशविवर्ति ।

(१४२) साङ्गमेतत् ।

उक्तद्विभेदं सावयवम् ।

रूपक के 'एकदेशविवर्ति' होने का अभिप्राय है उसका (किसी रूपक-संघात के) किसी एक अवयव में विशेषरूप से अर्थात् शब्दतः स्फुटरूप से प्रकाशित होते रहना और यह तब संभव है जब कुछ आरोप्यमाण-उपमान-तो शब्द-प्रतिपाद्य हों और कुछ ऐसे हों जो अर्थ-सामर्थ्य के द्वारा प्रतीत हुआ करें (अर्थात् अर्थगम्य हों ।) जैसे कि—

'रणरूपी अन्तःपुर में (प्रियारूप) खड्गलता का पाणिग्रहण करने वाले जिस (राजा) की (प्रतिनायिकारूप) शत्रुसेना वीररसरंग में पगी होने पर भी (प्रेमाविष्ट होती हुई भी) सहसा (संग्राम से-प्रियमिलन से) पराङ्मुख होती हुई ही दिखाई दिया करती है ।'

यहां जो रूपक है वह 'एकदेशविवर्ति'रूपक है क्योंकि (आरोपविषय अथवा उपमेय) 'रण' का अन्तःपुररूप जो आरोप्यमाण-उपमान है वह तो है साक्षात् शब्द-प्रतिपाद्य किन्तु 'खड्गलता' के लिये नायिकारूप और रिपुसेना के लिये प्रतिनायिकारूप आरोप्यमाण-उपमान ऐसे हैं जो अर्थसामर्थ्य के कारण (रण के अन्तःपुर-रूपण की उपपत्ति के द्वारा) प्रतीत होते हैं ।

यह रूपक 'साङ्ग' सावयवरूपक है (क्योंकि यहां अङ्गभूत रूपकों के साथ अङ्गी अथवा प्रधान का रूपण हुआ करता है ।)

उपर्युक्त दोनों प्रकार के अर्थात् 'समस्तवस्तुविषय' और 'एकदेशविवर्ति' जो रूपक हैं वे 'साङ्ग' अर्थात् सावयवरूपक कहे जाते हैं ।

टिप्पणी—रूपक के 'साङ्ग' अथवा 'सावयव' होने का अभिप्राय है एक ऐसे रूपक-समुदाय के होने का जिसमें एक प्रधान रूपक अपने अनेक सहायक रूपकों के साथ विराजमान हो । यह तब संभव है जब एक रूपक में दूसरे रूपक अङ्ग बन जांय-एक आरोप में दूसरे आरोप सहायक हो जांय । 'समस्तवस्तुविषय' और 'एकदेशविवर्ति' रूपक ऐसे हैं जहां एक आरोप अनेक अन्य आरोपों के द्वारा परिपुष्ट हुआ करता है । उदाहरण के लिये 'ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला' इत्यादि में कवि की प्रतिभा यदि रात्रि को कापालिकी के रूप में प्रस्तुत करती है तो उसका पूर्ण-चित्र प्रदर्शित करने के लिये अन्य सहायक रूपणों (ज्योत्स्ना के भस्मरूपण इत्यादि) की भी रचना कर डालती है । इसी प्रकार 'जस्स रणन्ते उरए' आदि में 'मण्डलाग्रलता' का व्यङ्ग्य 'नायिका' रूप रूपण ऐसा है जो कि प्रधान है और 'रण' के अन्तःपुररूप में रूपण इत्यादि ऐसे हैं जो अप्रधान है और इसलिये उसी के मुखापेक्षी हैं । 'रूपक' के साङ्ग होने में एक पृथक् चमत्कार है और 'मालारूप' होने में पृथक् । मालारूपक को यदि रूपण-मौक्तिकों की माला कहें तो साङ्गरूपक को रूपण-मौक्तिकों की मञ्जरियों का समन्वय कहेंगे ।

- (२ निरङ्गरूपक-शुद्धनिरङ्ग-प्रकार)

(१४३) निरङ्गन्तु शुद्धम्

यथा—

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ॥ ४२३ ॥

(निरङ्गरूपक-मालानिरङ्ग-प्रकार)

(१४४) माला तु पूर्ववत् ॥ ९४ ॥

मालोपमायामिवैकस्मिन् बहव आरोपिताः।

यथा—

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः
कान्तेः कार्मणकर्म नर्मरहसामुल्लासनावासभूः।
विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया
बाणाः पंच शिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया ॥४२४॥

अनुवाद—वह रूपक जो कि 'निरङ्ग' रूपक कहलाता है शुद्ध अर्थात् रूपकान्तर से अमिश्रित (अङ्गाङ्गिभावरहित) हुआ करता है।

जैसे कि—'इस बात से कि यह गीत की ध्वनियों के सुनते ही कुरङ्गी की भांति अपने अङ्गों को निश्चल बना देती है, पहले सुने हुये भी अपने प्रियतम का हाल बार बार अपनी सहेली से पूछती रहती है और पलकों के खुले रहने पर भी सोती रहा करती है, यही प्रतीत होता है कि मनसिज (काम) ने इसके हृदय में नयी २ निकली प्रेम-लता का पटाना प्रारम्भ कर रखा है।

[यहां केवल 'प्रेम' में 'लता' का आरोप कविकल्पना ने किया है न कि उसके परि-पोषण के लिये अन्यत्र कहीं किसी दूसरे का आरोप। इसीलिये यह रूपक 'निरङ्ग' (केवल-अङ्गाङ्गिभावशून्य) रूपक है।]

यही रूपक पूर्वप्रतिपादित (मालोपमा) की भांति 'मालारूपक' भी हुआ करता है।

टिप्पणी—निरङ्गरूपक के भी दो प्रकार संभव है १ला केवल निरङ्गरूपक और २रा माला-निरङ्गरूपक। इसीलिये प्राचीन आचार्यों का यहां कथन है—'निरङ्गस्यैव वैचित्र्यान्तरमाह माला त्विति'। जिस प्रकार एक उपमेय के अनेक उपमानों से साम्य-प्रदर्शन में 'मालोपमा' संभव है उसी प्रकार एक उपमेय में अनेक उपमानों के आरोप में 'मालारूपक' भी संभव है।

अनुवाद—मालोपमा (में एक उपमेय के अनेक उपमानों से साम्य-प्रदर्शन) की भांति इस रूपक में एक उपमेय में अनेक उपमानों का आरोप हुआ करता है जिससे इसे 'माला-रूपक' कहते हैं। जैसे कि—

'यह (मेरी) प्रेयसी सौन्दर्य की तरङ्गिणी है, यौवनोद्गम का आनन्द है, कान्ति की वशीकरण-क्रिया है, रतिविलास की निवासभूमि है, वक्रोक्तियों की विद्या है, विधाता की निस्सीम निर्माण-कला की प्रत्यक्ष अनुभूति है, पञ्चबाण की शर-समष्टि है और है स्त्री जाति की शिरोमणि।'

[यहां जो रूपक है वह मालारूपक (निरङ्ग) है क्योंकि एक उपमेयभूत प्रेयसी में अनेक उपमान आरोपित किये गये हैं। यह निरङ्ग इसलिये है क्योंकि यहां 'तरङ्गिणी' आदि के रूपण के परिपोषक अन्य रूपण नहीं हैं।]

(३ परम्परित रूपक-श्लिष्ट परम्परित-प्रकार)

(१४५) नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः।
तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥ ९५ ॥

यथा—

(श्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित)

विद्वन्मानसहंस ! वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते !
दुर्गामार्गणनीललोहित ! समित्स्वीकारवैश्वानर !।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष ! विजयप्राग्भावभीम ! प्रभो !
साम्राज्यं वरवीर ! वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥ ४२५ ॥

अत्र मानसमेव मानसम् कमलायाः संकोच एव कमलानामसंकोचः दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गायाः मार्गणम् समितां स्वीकार एव समिधां स्वीकारः सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः विजयः पराभव एव विजयोऽर्जुनः एवमारोपणनिमित्तो हंसादेरारोपः।

यद्यपि शब्दार्थालंकारोऽयमित्युक्तं वक्ष्यते च तथापि प्रसिद्धानुरोधादत्रोक्तः एकदेशविवर्त्ति हीदमन्यैरभिधीयते। भेदभाजि यथा—

'परम्परित' रूपक वह रूपक है जिसमें किसी प्रमुख रूपण के निमित्तभूत अन्य (आनुषङ्गिक) रूपण रहा करते हैं। यह दो प्रकार का होता है १ला जिसमें (निमित्तभूत रूपक के उपमेय और उपमानवाचक) पद श्लिष्ट हों (श्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित) और २रा जिसमें (इस प्रकार के) पद अश्लिष्ट हों (अश्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित)।

टिप्पणी—'परम्परित' रूपक का अभिप्राय है—'परम्परा सञ्जाता यस्य तत्परम्परितम्' अर्थात् वह रूपक जिसमें आरोप की एक परम्परा प्रतीत हो अर्थात् जहां एक प्रमुख रूपक और उसके अन्य आनुषङ्गिक रूपकों में कार्यकारणभाव अवभासित हुआ करे। परम्परित रूपक और साङ्गरूपक एक नहीं अपितु परस्पर भिन्न हुआ करते हैं क्योंकि पहले में तो वर्णनीय (मुख्य) आरोप के लिये अन्य (आनुषङ्गिक) आरोप उसके कारण रूप से रहा करते हैं किन्तु दूसरे में (अर्थात् साङ्गरूपक में), जो अङ्गरूपक हैं, वे अङ्गिरूपक (मुख्यरूपक) के परिपोषण के लिये पड़े रहते हैं।

अनुवाद—उदाहरण के लिये—'हे महाप्रतापी महाराज ! विद्वानों के (मानसरूप) मानस के राजहंस, शत्रुओं के (कमल-असंकोच-विकास-रूप) कमला (लक्ष्मी) संकोच के सूर्य, (दुर्गा-मार्गण-पार्वती अनुनय-रूप) दुर्गों के अमार्गण (अननुसंधान) के महादेव, (समिधा-कवलनरूप) संग्राम के अङ्गीकरण के वैश्वानर (अग्निदेव), (सत्या-दुर्गा-की अप्रीति के विधानरूप) सत्य की प्रीति के विधान के दक्ष (प्रजापति) और (विजय-अर्जुन के प्रथम जन्मरूप) विजय-प्रारम्भ के भीम (भीमसेन) आप अपने साम्राज्य का अनन्त काल तक शासन करते रहें।' यहां (उपमेयभूत राजा में) 'हंस' सूर्य, शिव आदि के जो आरोप हुये हैं उनमें निमित्तरूप से रहने वाले आरोप हैं—'मानस' पर मानस (मानसरोवर) का आरोप, 'कमला-संकोच' पर कमल-असंकोच का आरोप, 'दुर्ग-अमार्ण (अनन्वेषण)' पर दुर्गा-मार्गण का अरोप, 'समित्-(संग्राम)-स्वीकार' पर समित्-(समिधा)-स्वीकार का आरोप, 'सत्य-प्रीति' पर सत्या-अप्रीति का आरोप और 'विजय' (शत्रुपराभव-प्रारम्भ) पर विजय-अर्जुन-जन्म का आरोप।

यद्यपि अन्य (प्राचीन) आलङ्कारिकों ने इस(श्लिष्टशब्दनिबन्धन-परम्परित) रूपक को उभयालङ्कार कहा है और आगे चल कर यहां (काव्यप्रकाश के संकरालंकार निरूपण प्रकरण में) भी ऐसा ही कहा जायगा किन्तु यहां इसे अर्थालङ्कार प्रकरण में इसीलिये

(अश्लिष्टशब्दनिबन्धन माला-परम्परित रूपक)

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन् ! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥ ४२६ ॥

अत्र जयादेर्भिन्नशब्दवाच्यस्य कुञ्जरत्वाद्यारोपे भुजस्य आलानत्वाद्यारोपो युज्यते ।

(अमाला-(केवल) परम्परित रूपक)

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः ।
स्तूयते देव ! सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ॥ ४२७ ॥

गिनाया गया है क्योंकि प्राचीन (भामह आदि) आचार्यों की दृष्टि में यह अर्थालङ्काररूप से ही प्रसिद्ध है और संभवतः इसीलिये अन्य आलंकारिक इसे एकदेशविवर्ति रूपक कहा करते हैं (जो कि स्पष्टरूप से अर्थालंकार है क्योंकि कुछ उपमान इसमें शब्दप्रतिपाद्य जैसे कि 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि में 'हंस'आदि और कुछ अर्थ गम्य जैसेकि 'मानस-(मानसरोवर) आदि हैं ।)

टिप्पणी—जिस 'विद्वन्मानसहंस' आदि सूक्ति को, श्लिष्टपरम्परित रूपक के उदाहरण के रूप में, रुय्यक ने उद्धृत किया था उसी को मम्मट ने भी उद्धृत किया है। मम्मट की दृष्टि से तो यह उभयालंकार है किन्तु रुय्यक की इस मान्यता—**'श्लेषगर्भे तु रूपके रूपकहेतुकस्य श्लेषस्य तृतीयकक्षायां रूपक एव विश्रान्तिरिति रूपकेण श्लेषो बाध्यते ।** (अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १२६–काव्यमाला) का सम्मान करते हुये मम्मट ने इसे अर्थालंकार-प्रकरण में स्थान दिया है।

अनुवाद—(प्रधान रूपण के निमित्तभूत रूपण में आरोप्यमाण-उपमान और आरोप-विषय-उपमेय के) वाचक पदों के भिन्न रूप-अश्लिष्ट होने में (माला) परम्परित रूपक, जैसे कि:—

'हे महाराज ! शत्रुओं की स्त्रियों के वैधव्य-दान में दक्ष आपका यह भुजदण्ड जय-कुञ्जर का बन्धन स्तम्भ है, विपत्ति-सागर का संतरण-सेतु है, करवाल-सूर्य का उदयाचल है, राजलक्ष्मी का लीलोपधान (सुख की नींद सोने का तकिया) है, और है संग्रामरूपी अमृतसागर की मन्थन-विधि का मन्दराचल ।'

वहां अश्लिष्ट शब्दों द्वारा प्रतिपाद्य 'जय' आदि अर्थों पर अश्लिष्ट शब्दों द्वारा ही प्रतिपाद्य 'कुञ्जर' आदि अर्थों के जो आरोप किये गये हैं वे 'भुजदण्ड' पर 'आलान'-(गज बन्धनस्तम्भ) आदि के आरोप के लिये सर्वथा युक्तियुक्त निमित्त हैं (जिससे कि यहां अश्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित रूपक है और जैसा कि यहां धागे में पिरोये फूलों की भांति एक भुजरूप उपमेय में अनेक उपमान आरोपित हैं इसे माला-परम्परित रूपक कहा करते हैं ।)

'हे महाराज ! अपने अलौकिक यश से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले, 'सद्वंश-मुक्तारत्न'-महान् राजवंश के मौक्तिकमणि-आप की प्रशंसा, भला कौन है जो नहीं किया करता !'

[यहां श्लिष्टशब्दनिबन्धन अमाला (केवल) परम्परित रूपक है क्योंकि आरोप विषय (उपमेय-राजकुल) तथा आरोप्यमाण (उपमान-प्रशस्त वेणु) दोनों एक ही श्लिष्ट 'सद्वंश' शब्द द्वारा प्रतिपाद्य हैं। साथ ही साथ 'राजा' पर 'मौक्तिक' के आरोप का निमित्त भी दिया गया है जो कि 'राजकुल' पर 'प्रशस्त वेणु' के आरोप में स्पष्ट है। यहां एक उपमेय में अनेक रूपणों का गुम्फन नहीं इसलिये इसे केवल (अमाला) परम्परित रूपक कहा जाता है।]

निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिवर्त्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्त्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥ ४२८ ॥
इति च अमालारूपकमपि परम्परितं द्रष्टव्यम् ।

(रशनारूपक ?)

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति ।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥ ४२९ ॥
इत्यादिरशनारूपकं न वैचित्र्यवदिति न लक्षितम् ।

तथा 'हे भगवान् ! अनन्त आश्चर्यों से भरे कालातीत किं वा देशातीत अस्तित्व वाले आदि कूर्मावतार आप ही एकमात्र चतुर्दश भुवनवल्ली के कन्दरूप से विराजमान हैं ।'

[यहां अश्लिष्टशब्दनिबन्धन अमाला परम्परित रूपक है । 'अश्लिष्ट' इसलिये क्योंकि 'चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः' में आरोपविषय 'लोक' पद तथा आरोप्यमाण–'वल्लि' पद श्लिष्ट नहीं हैं । 'अमाला' इसलिये क्योंकि विष्णुरूप उपमेय–सूत्र में 'कन्द' के अतिरिक्त अन्य उपमान–पुष्प नहीं गूंथे गये । और परम्परित' इसलिये क्योंकि 'विष्णु' में 'कन्द' के आरोप के निमित्तरूप से 'लोक' में 'वल्ली'–(लता)–का आरोप स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।]

ये उपर्युक्त जो उदाहरण हैं उनमें परम्परित रूपक का वह स्वरूप दिखाई दे सकता है जिसे अमाला परम्परित (अर्थात् केवल परम्परित) कहा गया है ।

ऐसे प्रसङ्ग जैसे कि—

'कामदेव कामियों का मन जीतने लगा है—लताओं के किशलय–करों से, रमणियों के कर–कमलों से, नलनियों के कमल–मुखों से और युवतियों के मुख–चन्द्रों से सब को वशीभूत करने लगा है ।'

इत्यादि में (जहां पूर्वपूर्ववर्ती उपमान जैसे कि 'कर', 'कमल' और 'मुख' उत्तरोत्तर उपमेय के रूप में परिणत होते हुये किसी करधनी की किङ्किणियों की भांति आगे–पीछे होते दिखाई देते हैं) एक और प्रकार का भी रूपक, जिसे रशनारूपक कहा करते हैं, दिखाई दे सकता है किन्तु इसका यहां पृथक् निरूपण इसलिये अपेक्षित नहीं क्योंकि इसमें कोई ऐसा अभिनव चमत्कार नहीं जो पूर्वनिर्दिष्ट रूपक–प्रकारों में न हो ।

टिप्पणी—मम्मट का रूपक–लक्षण–'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' वस्तुतः भामह के इस रूपक लक्षण अर्थात्—

'उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥' (काव्यालङ्कार २.२१)

और उद्भट के इस रूपक–निरूपण अर्थात्—

'श्रुत्या संबन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ॥' (काव्यालङ्कारसारसंग्रह १.११)

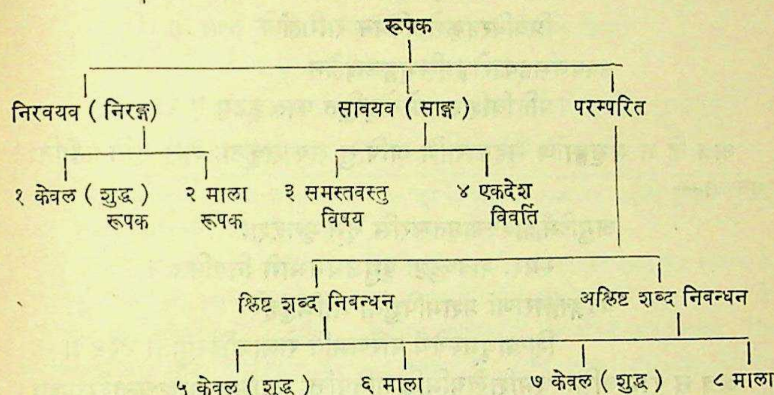
का सारगर्भित संक्षेप है । 'उपमानोपमेययोः अभेदः' इन दो शब्दों में भामह के 'गुणानां समतां दृष्ट्वा उपमानेन यदुपमेयस्य तत्त्वं रूप्यते' और उद्भट के 'श्रुत्या संबन्धविरहाद् यद् गुणवृत्तिप्रधानेन पदेन पदान्तरं युज्यते' का निष्कर्ष निकाल लिया गया है ।

(ख) मम्मट ने रूपक के भेद–प्रभेद की व्यवस्था रूय्यक के अनुसार स्वीकार की है । रुय्यक का रूपक–विभाग यह हैः—

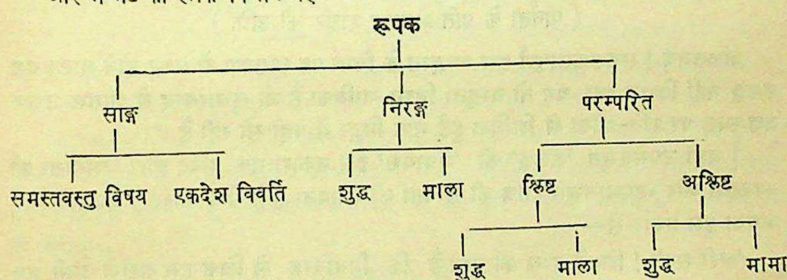
(७ अपह्नुति अलंकार)

(१५६) प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः।

उपमेयमसत्यं कृत्वा उपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिः। उदाहरणम्—



और मम्मट का रूपक-विभाग यह:—



मम्मट ने 'मालोपमा' को उपमा का अतिरिक्त प्रकार न मानकर भी 'मालारूपक' को रूपक का अवान्तर भेद तो मान लिया है, किन्तु रशना-रूपक को रूपक का भेद नहीं माना है। यहां वस्तुतः रुद्रट की रशना रूपकसम्बन्धी मान्यता का मम्मट ने खण्डन किया है।

अनुवाद—**अपह्नुति अलंकार वह है जहां प्रकृत का निषेध करके (उपमेय को असत्य प्रतिपादित करके) अन्य अर्थात् अप्रकृत-उपमान-(की सत्यता) की सिद्धि की जाती है।**

टिप्पणी—मम्मट का अपह्नुति-निरूपण वस्तुतः रुद्रट के इस अपह्नुति-लक्षण अर्थात्—

'अतिसाम्यादुपमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुतिः सेयम्॥ (काव्यालङ्कार ८.५७)

का संक्षेप है। एक प्रकार से मम्मट ने अपने इस लक्षण में रुय्यक के अपह्नति-लक्षण—'विषयस्यापह्नवेऽपह्नुतिः' की, जिसमें अप्रकृत के साधन अथवा स्थापन का स्पष्ट निर्देश नहीं है, आलोचना भी कर दी है। अपह्नुति के भेद-प्रभेद-निरूपण का कोई विशिष्ट सैद्धान्तिक आधार न होने से मम्मट ने 'एवमियं भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या' कह कर वही बात कही है जो दण्डी ने 'इत्यपह्नुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः' (काव्यादर्श २.३०९) कहकर प्रकट की थी।

अनुवाद—**'अपह्नुति' का अभिप्राय है 'उपमेय' की असत्यता का (शब्दतः अथवा अर्थतः) प्रतिपादन और उपमान की सत्यता कीस्थापना। उदाहरण के लिये—**

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये !
कलंको नैवायं विलसति शशांकस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥ ४३० ॥

इत्थं वा—

बत सखि ! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि ।
उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कितं कालकूटम् ॥ ४३१ ॥

अत्र हि न सभृङ्गाणि सहकाराणि अपि तु सकालकूटाः शरा इति प्रतीतिः ।

एवं वा—

अमुष्मिँल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः ।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखाधूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ॥ ४३२ ॥

अत्र न रोमावलिः धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः एवमिय भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या ।

(पार्वती के प्रति भगवान् शङ्कर की उक्ति)

शैलतनये ! सकलकलापूर्ण इस चन्द्रमा के बिम्ब पर स्पष्टरूप से प्रकट होने वाला यह कलङ्क नहीं विराज रहा, यह तो वस्तुतः निशा–नायिका है जो सुधास्यन्द से शीतल उसके वक्षःस्थल पर रति–क्रीडा से शिथिल हुई गाढ निद्रा में पड़ी सो रही है ।'

[यहां उपमेयभूत 'कलङ्क' की 'नैवायम्' इस नकारात्मक शब्द द्वारा असत्यता की व्यवस्था और •उपमानभूत रात्रि की सत्यता की स्थापना होने से (शाब्द) अपह्नुति है।]

अथवा इस प्रकार से—

'अरी सखी ! कितने दुःख की बात है कि प्रियविरह से खिन्न हम सरीखे प्रेमी जन पर कामदेव इतना द्वेष रख रहा है कि अपने बाणों–उपवनों की आम्रमञ्जरियों को उन पर मडराते भौंरों के बहाने कालकूट में डुबा २ कर सजा रहा है ।'

यहां जो चमत्कार प्रतीत हो रहा है वह (उपमेय) भौंरों से भरी सहकार–मंजरिओं के निषेध द्वारा (उपमान) कालकूट में डुबाये काम–बाण के स्थापन में है ।

[यहां उपमेयभूत भृङ्गों की सत्यता का 'छल' शब्द से आक्षिप्त निषेध और उपमान–भूत कालकूट की सत्यता का स्थापन होने से (आर्थी) अपह्नुति हुई ।]

अथवा इस प्रकार से भी—

'अरे रसिक ! इस मृगनयनी के सौन्दर्यसुधा–सरोवर मांसल जघन–भाग में, हो न हो, मदन ही, महादेव की नेत्रवह्नि से जला–झुलसा (अपनी संताप–शान्ति के लिये) डुबकी लगा रहा है क्योंकि उसके अंगों के अंगारों के बुझने की सूचना देने वाली यह धूमशिखा ही है जो कि इस (मृगनयनी) के ।नाभिगह्वर में रोमावलि के रूप में प्रकट हो रही है ।'

यहां जो बात प्रतीत हो रही वह यह है कि (इस मृगनयनी के नाभिगह्वर में) यह रोमावलि नहीं अपितु (झुलसे मदन के अङ्ग के अङ्गारों से निकलती) धूमशिखा है ।

[यहां 'धूमशिखा रोमावलिवपुः परिणमति' में 'परिणाम' शब्द के अर्थ–सामर्थ्य से

(८ श्लेष अलङ्कार)

(१४७) श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ॥९६॥

एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोऽर्थः स श्लेषः।

उदाहरणम्—

उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरुतेतरां
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्त्तयति क्रियाः।
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्त्तनकर्त्तनं
बत बत लसत्तेजःपुंजो विभाति विभाकरः॥ ४३३॥

अत्राभिधाया अनियन्त्रणात् द्वावप्यर्कभूपौ वाच्यौ।

उपमेय-'रोमावलिका' अपह्नव तथा उपमान-'धूमशिखा' का समर्थन प्रतीत होता है और इसलिये यह (आर्थी) अपह्नुति है।]

इसी प्रकार अन्य अनेक विचित्र ढंग हैं जिनमें अपह्नुति का स्वरूप देखा जा सकता है।

'श्लेष' अलङ्कार वहां होता है जहां एक वाक्य में अनेक अर्थ अभिहित हुआ करते हैं।

टिप्पणी—शब्दालङ्कारों में जिस 'श्लेष' का परिगणन है वह तो है शब्द-श्लेष, किन्तु अर्थालङ्कार-प्रकरण का यह अलङ्कार अर्थ-श्लेष अलङ्कार है। शब्द-श्लेष में तो शब्द ऐसे हुआ करते हैं जिनमें परिवृत्ति-परिवर्तन होने से अलङ्कार का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है किन्तु अर्थ-श्लेष में बात ऐसी नहीं क्योंकि यहां जो शब्द अनेकार्थ प्रतिपादक हुआ करते हैं उनमें परिवर्तन भी संभव है। 'श्लेष' का यहां अभिप्राय है 'श्लिष्यतोऽर्थौ यत्र' अर्थात् वह अलंकार जहां दो अर्थ एक शब्द के आधार पर परस्पर संपृक्त हों। एक वृन्त पर लटके दो फलों की भांति एक शब्द पर अवलम्बित दो अर्थ जहां हों वहां जो अलङ्कार समझा जाता है वह है अर्थ-श्लेष।

अनुवाद—('वाक्ये एकस्मिन्ननेकार्थता यत्र स श्लेषः' का) यहां जो अभिप्राय है वह यह है:—यदि एक अर्थ के बोधक शब्दों का (प्रकरण आदि के नियन्त्रण से परे और साथ ही साथ कुछ वैचित्र्य-पूर्ण) अनेक अर्थ हो तो वह अलङ्कार (अर्थ) 'श्लेष' है। उदाहरण के लिये:—

(सूर्य-पक्ष में)

'कितनी प्रसन्नता की बात है कि भगवान् भास्कर अपने तेजःपुञ्ज में विराजमान उदित हो रहे हैं, चारों ओर का अन्धकार दूर कर रहे हैं, प्रणिमात्र की निद्रा-तन्द्रा का नाश कर रहे हैं, आह्निक कर्मों में सब को प्रेरित कर रहे हैं और कर रहे हैं उन प्रवृत्तियों का उच्छेद जो रात की शरण में पनपा करती हैं।'

(राज-पक्ष में)

'कितनी प्रसन्नता की बात है कि हमारे महाराज विभाकर अपने राजतेज में विराजमान सभी समृद्धियों से सुशोभित हो रहे हैं, प्रजाजन के दुःख-दारिद्रय को दूर भगा रहे हैं, उनके आलस्य किंवा निरुत्साह का नाश कर रहे हैं, उन्हें अपने-अपने आचार-व्यवहार में प्रवृत्त कर रहे हैं और कर रहे हैं उन प्रवृत्तियों का मूलोच्छेद जो स्वच्छन्दता और उद्दण्डता में पनपा करती है।'

यहां ('उदयमयते' इत्यादि शब्दों की) अभिधा का (प्रकरण आदि अभिधा-नियामकों में से किसी के द्वारा भी) नियन्त्रण नहीं हो रहा और इसलिये दोनों-सूर्यगत तथा राजगत-अर्थ स्पष्ट प्रतिपादित किये जा रहे हैं।

टिप्पणी—मम्मट ने यहां 'श्लेष' का स्वरूप तो रुद्रट के इस अर्थ-श्लेष-लक्षण अर्थात्—

'यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः॥' (काव्यालङ्कार १०.१)

(९ समासोक्ति अलङ्कार)

(१४८) परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन शिलष्टविशेषणमाहात्म्यात् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यत् अप्रकृतस्यार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात्समासोक्तिः।

उदाहरणम्—

लहिऊण तुज्झ बाहुप्फंसं जीए स कोवि उल्लासो
जअलच्छी तुह विरहे ण हूज्जला दुव्वला णं सा ॥ ४३४ ॥
(लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः ।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा ॥ ४३४ ॥)

अत्र जयलक्ष्मीशब्दस्य केवलं कान्तावाचकत्वं नास्ति।

के आधार पर निर्धारित किया है किन्तु रुद्रट द्वारा प्रतिपादित अर्थश्लेष के शुद्ध भेदों जैसे कि विरोध, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति इत्यादि और संकीर्ण-भेदों को इसलिये नहीं माना है क्योंकि रुय्यक ने अपनी श्लेष-मीमांसा में यह पहले ही सिद्ध कर दिया था कि श्लेष का न तो अन्य अलङ्कारों से सर्वथा पृथक् कोई विषय है और न ऐसा ही है कि इसे अन्य किसी अलङ्कार में अन्तर्भूत ही किया जा सके—**तेनालङ्कारान्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालंकारापवादोऽयम् (श्लेष) इति स्थितम्**– (अलंकारसर्वस्व काव्यमाला १३२ पृष्ठ)।

अनुवाद—**'समासोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे श्लिष्ट-प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों अर्थों में संगत-विशेषणों की 'परोक्ति' (पर-अप्रकृत अर्थ अर्थात् अप्रकृत वस्तुगत व्यवहाररूप अर्थ की बोधकता) कहा करते हैं।**

'समासोक्ति' का अभिप्राय है समासतः अर्थात् संक्षपतः दो उपमानोपमेयभूत अर्थों का अभिधान। यह तब संभव है जब एक प्रस्तुतार्थबोधक वाक्य के द्वारा किसी दूसरे अप्रस्तुत अर्थ का (वस्तुतः अप्रकृत वस्तुगत व्यवहाररूप अर्थ का) अभिधान (व्यञ्जना द्वारा बोधन) हुआ करे और ऐसी बात हो यहां प्रयुक्त विशेष्यवाचक पद के सामर्थ्य से नहीं अपितु ऐसे विशेषणवाचक पदों की महिमा से जो कि श्लिष्ट हों, प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों अर्थों के प्रतिपादन में समर्थ हों। उदाहरण के लिये—

'हे वीर ! वह जय-श्री जो कि कभी तुम्हारे वाहु-स्पर्श को पाकर एक अनिर्वचनीय आनन्द मनाया करती थी, अब जब कि तुम चल बसे, सुन्दर भला क्या लगे, अत्यन्त दीन-हीन हो रही है।'

यहां पर (विशेष्यवाचक) 'जयलक्ष्मी'-'जयश्री'-शब्द केवल ऐसा है जो 'कामिनी' रूप (अप्रकृत) अर्थ का वाचक नहीं (किन्तु अन्य जो विशेषण-वाचक पद हैं वे तो उस अप्रकृत कामिनी-व्यवहाररूप अर्थ के अभिव्यञ्जक हैं ही जो कि प्रकृत 'जयलक्ष्मी' के व्यवहाररूप वाच्यार्थ का उत्कर्षाधायक बन रहा है जिसमें कि 'समासोक्ति' का चमत्कार है।)

टिप्पणी—'समासोक्ति' भी एक प्राचीन अलंकार है। भामह और उद्भट के अनुसार 'समासोक्ति' कहते हैं समान विशेषण के सामर्थ्य से प्रकृतपरक वाक्य द्वारा अप्रकृत अर्थ के अभिधान को—**'प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः। अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिः॥'** काव्यालंकारसारसंग्रह २. १०। मम्मट ने अपना समासोक्ति लक्षण रुय्यक के समासोक्ति-लक्षण—

'विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः। (अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १०७)

से प्रभावित होकर किया है क्योंकि 'विशेषणसाम्य' का जो अभिप्राय रुय्यक का है, जैसा कि इन पंक्तिओं अर्थात्—

(१० निदर्शना-अलंकार)

(१४६) निदर्शना।

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥ ९७ ॥

निदर्शनं दृष्टान्तकरणम्।

उदाहरणम्—

क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ ४३५ ॥

अत्रोडुपेन सागरतरणमिव मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमित्युपमायां पर्यवस्यति।

यथा वा—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥ ४३६ ॥

'गम्यत्वं अप्रस्तुतनिष्ठं तु समासोक्तिविषयः। तत्र च निमित्तं विशेषणसाम्यम्। विशेष्यस्यापि साम्ये श्लेषप्राप्तेः। विशेषणसाम्याद्धि प्रतीयमानमप्रस्तुतं प्रस्तुतस्यावच्छेदकया प्रतीयते। अवच्छेदकत्वं च व्यवहारसमारोपो न तु रूपसमारोपः (अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १०९) में स्पष्ट है, वही अभिप्राय मम्मट का है जो कि 'श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि' इस वृत्ति-वाक्यांश में प्रतीत होता है।

अनुवाद—'निदर्शना' अलंकार कहते हैं वस्तुओं अर्थात् वाक्यार्थों अथवा पदार्थों के ऐसे सम्बन्ध अथवा समन्वय को जो (आपाततः) भले ही अनुपपन्न हो किन्तु (अन्त में) उपमानोपमेयभाव में परिणत हो जाय।

'निदर्शन' का अभिप्राय है—'दृष्टान्तकरण' अथवा उदाहरण-प्रदर्शन। जैसे कि—

'कहां तो सूर्य-संभूत रघुवंश! और कहां हमारी सीमित बुद्धि!! मैं जो मोहवश करना चाह रहा हूं (अर्थात् रघु-वंश की रचना) वह तो बस उडुप (डेंगी, छोटी नाव) के द्वारा दुस्तर पारावार का तैरना है।'

यहां जो 'निदर्शना' है वह 'वाक्यार्थ-निदर्शना' है क्योंकि 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' का वाक्यार्थ (अर्थात् उडुप के द्वारा दुस्तर सागर का तैरना) ऐसा है जिसका 'क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः' के वाक्यार्थ (अर्थात् कहां तो सूर्यवंश और कहां हमारी बुद्धि) से कोई सम्बन्ध तो नहीं दिखाई देता किन्तु अप्रकृत वाक्यार्थ (तितीर्षुर्दुस्तरम् आदि) का प्रकृत वाक्यार्थ (क सूर्यप्रभावः आदि) के साथ औपम्य-उपमानोपमेयभाव-मान लेने पर दोनों की असम्बद्धार्थता समाप्त हो जाती है और एक दूसरे का निदर्शन (उदाहरण) बन जाता है]

यहां (वाक्यार्थों की असम्बद्धार्थकता में) जो उपमानोपमेयभाव अन्ततः प्रतीत होता है वह यह है—'मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्य-वंश का वर्णन उडुप के द्वारा सागर के संतरण के समान है।'

अथवा जैसे कि—

'उस समय (पूर्णिमा की तिथि में), जब कि अपनी-अपनी रश्मि-रज्जुओं को दूर ऊपर फैलाये सूर्य तो उदित हो रहा हो और चन्द्रमा अस्त, यह (रैवतक) पर्वत ऐसा लगता है कि दोनों ओर लम्बे लटकने वाले दो घंटों से सुशोभित किसी गजराज की शोभा को धारण कर रहा हो।'

[यहां जो निदर्शना है वह पदार्थ-निदर्शना है क्योंकि एक पदार्थ अर्थात् 'वारणेन्द्रलीला' दूसरे पदार्थ अर्थात् 'रैवतक पर्वत' से असम्बद्ध होकर अन्ततोगत्वा परस्पर एक उपमानोपमेयभाव में परिणत हो जाता है।]

अत्र कथमन्यस्य लीलामन्यो वहतीति तत्सदृशीमित्युपमायां पर्यवसानम्।

दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्ग-
मादातुमिच्छति करे हरिणाङ्कबिम्बम्।
मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेष देव!
यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममादधाति ॥ ४३७ ॥

इत्यादौ मालारूपाऽप्येषा द्रष्टव्या।

(निदर्शना का एक अन्य प्रकार)

(१५०) स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा।

क्रियैव स्वस्वरूप-स्वकारणयोः सम्बन्धो यदवगम्यते साऽपरा निदर्शना, यथा—

उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन्।
शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥ ४३८ ॥

अत्र पातक्रियया पतनस्य लाघवे सति उन्नतपदप्राप्तिरूपस्य च सम्बन्धः ख्याप्यते।

यहां यह अनुपपत्ति कि एक (गजराज) की लीला दूसरा (पर्वत) कैसे धारण करले, अन्ततः जहां समाप्त होती है वह एक औपम्य है जिसका रूप है—'एक (गजराज) की लीला के समान जो लीला है उसका धारण दूसरा (पर्वत) कर रहा है।'

ऐसे प्रसङ्ग जैसे कि—

'हे महाराज! जो व्यक्ति आपके गुणों का वर्णन करना चाहता है वह चाहता है सरित्पति (सागर) को अपने हाथों से तैरना, चन्द्र-बिम्ब को हथेली में पकड़ना और मेरु पर्वत को लांघ कर पार कर जाना।' इत्यादि में यह निदर्शना माला-निदर्शना के रूप में भी देखी जा सकती है।

[यहां 'यः तव गुणान् गदितुमिच्छति' का वाक्यार्थ 'दोर्भ्यां तरङ्गवतीभुजङ्गं तितीर्षति' इत्यादि के वाक्यार्थों से असम्बद्ध होकर अन्ततः 'सागर-तरण आदि के समान तुम्हारा गुण-वर्णन है' इत्यादि मालारूप उपमानोपमेयभाव में परस्पर सम्बद्ध हो रहा है।]

दूसरे ढंग की 'निदर्शना' वह है जिसे क्रिया के द्वारा कार्य और कार्य-हेतु में सम्बन्ध (कार्यकारण भावरूप सम्बन्ध) का अभिधान कहते हैं।

क्रिया के द्वारा ही अपने स्वरूप और अपने कारण में सम्बन्ध का जो अवगमन है वह है एक और प्रकार की निदर्शना। जैसे कि—

'पर्वत-शिखर पर आरुढ शैलकण मन्दमारुत के झोंके से भी जो नीचे गिर पड़ता है वह यह बताया जाता है कि जो क्षुद्र है उसे ऊंचे पद पर बैठ जाने पर भी शीघ्र ही नीचे गिर जाना पड़ता है।'

यहां 'पतति' (नीचे गिरने) की क्रिया के द्वारा पतन रूप कार्य और उसके कारण अर्थात् क्षुद्रता होने पर उन्नत पद की प्राप्ति का जो परस्पर सम्बन्ध (कार्य कारण भाव रूप) है वह प्रतिपादित हो रहा है (जो कि 'क्षुद्रता रहने पर उन्नत पद प्राप्ति किसी के पतन का उसी प्रकार कारण है जिस प्रकार शैलकण का' इस निदर्शन में परिणत हो जाता है।)

टिप्पणी—मम्मट ने अपने निदर्शना-लक्षण में उद्भट के इस निदर्शना-लक्षण अर्थात्—

'अभवन् वस्तु संबन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना ॥' (काव्यालङ्कार सारसंग्रह ५.१०)

(११ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार)

(१५१) अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥ ९८ ॥

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा ।

(अप्रस्तुत प्रशंसा के भेद-प्रभेद)

(१५२) कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ ९९ ॥

तदन्यस्य कारणादेः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ 'कार्य' प्रस्तुत रहने पर अप्रस्तुत कारण का वर्णन)

याताः किन्न मिलन्ति सुन्दरि ! पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशाऽसि कथयत्येवं सबाष्पे मयि ।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥ ४३९ ॥

का संक्षेप किया है। साथ ही साथ वामन के द्वारा निर्दिष्ट निदर्शन-अलङ्कार के इस स्वरूप अर्थात्—'क्रियैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम् (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.२०) को निदर्शना के एक प्रकार के रूप में माना है।

मम्मट की माला—निदर्शना सम्बन्धी मान्यता का आधार रुय्यक की यह उक्ति अर्थात्—

'इयमपि क्वचिन्मालयापि भवन्ती दृश्यते । यथा—
अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितम् स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम् ।
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतः धृतोऽन्धमुखदर्पणो यदबुधो जनः सेवितः ॥'

इत्यादि है।

अनुवाद—'अप्रस्तुत प्रशंसा' वह अलंकार है जिसे अप्रस्तुत अथवा अप्रकृत (वस्तु) की ऐसी प्रशंसा अथवा वर्णना कहते हैं जो कि प्रस्तुत (अर्थात् प्रकृत) अर्थ की प्रतिपत्ति का आश्रय (निमित्त) हुआ करती है।

'अप्रस्तुतप्रशंसा' का अभिप्राय है अप्राकरणिक अर्थात् अप्रस्तुत (विषय) के प्रतिपादन के द्वारा प्राकरणिक (प्रस्तुत) विषय का आक्षेप अथवा प्रत्यायन।

यह (अप्रस्तुत प्रशंसा) पांच प्रकार की है:—१ली–यदि 'कार्य' प्रस्तुत (प्राकरणिक) हो तो अप्रस्तुत 'कारण' का वर्णन। २री–यदि 'कारण' प्रस्तुत रहे तो अप्रस्तुत 'कार्य का निरूपण। ३री–यदि प्रस्तुत विषय 'सामान्य' हो तो अप्रस्तुत 'विशेष' का अभिधान। ४थी–यदि 'विशेष' प्रस्तुत हो तो अप्रस्तुत 'सामान्य' का कथन, और ५वीं–यदि परस्पर तुल्य वस्तुओं में से एक प्रस्तुत रहे तो दूसरी का, जो कि अप्रस्तुत है, प्रतिपादन।

'तदन्यस्य' उस (अर्थात् प्रकृत कार्य आदि) से भिन्न के वर्णन का यहां अभिप्राय है (अप्रकृत) कारण आदि के वर्णन का। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

'किसी प्रेमी का, अपने मित्र के प्रति, अपनी प्रिया का वृतान्त-वर्णन) जैसे ही आंखों से आंसू बहाते मैंने अपनी प्रियतमा से कहा—'प्रिये ! जाने वाले लोग तो लौट कर आया ही करते हैं। तब मेरे लौट आने की चिन्ता में क्यों घुलो ! क्यों अपनी देह गलाओ !' कि वह अपनी आंखों में आंसुओं को गिरने से रोकती हुई लज्जित हो एकटक मुझे देखने लगी और एक दम हँस पड़ी जिससे यही पता चला कि उसका (मेरे वियोग में) अपने न बचने का निश्चय पक्का हो चुका है।'

अत्र प्रस्थानात्किमिति निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम् ।

(२ 'कारण' प्रस्तुत रहने पर अप्रस्तुत कार्य का वर्णन)

राजन् ! राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिता:
कुब्जे ? भोजय मां कुमार ! सचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं नाथ ! शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरात्
चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥ ४४० ॥

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम् ।

(३ 'सामान्य' के प्रस्तुत रहने पर 'विशेष' का वर्णन)

एतत्तस्य मुखात्कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन् यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥ ४४१ ॥

अत्रास्थाने जडानां ममत्वसंभावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते विशेषः कथितः ।

(४ 'विशेष' के प्रस्तुत रहने पर 'सामान्य' का वर्णन)

सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः ।
स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः ॥४४२॥

अत्र कृष्णं निहत्य नरकासुरवधूनां यदि दुःखं प्रशमयसि तत् त्वमेव श्लाघ्य इति विशेषे प्रकृते सामान्यमभिहितम् ।

यहाँ प्रस्तुत विषय है 'प्रस्थान करने वाले थे, क्या रुक गये ?' यह (प्रस्थान-निवृत्तिरूप) कार्य-विषयक प्रश्न किन्तु वर्णन किया गया है (अप्रस्तुत) कारण (अर्थात् प्रिया के भावी मरणोत्साह) का ।

'महाराज ! (आपके आक्रमण के भय से शून्य पड़े) आपके शत्रु-प्रासाद में पथिकों के द्वारा पिंजड़े से छुड़ाया गया पालतू सुग्गा ऊपर की सूनी अटारी पर उड़ कर वहां चित्रित लोगों को देख एक-एक कर पूछ बैठता है—'राजन् ! राजकुमारी मुझे पढ़ाती नहीं', 'रानियां मुझसे कुछ बोलती नहीं', 'अरी कुबड़ी दासी ! मुझे खिलाती क्यों नहीं !' और 'क्या राजकुमार और उनके साथी कुछ खाये-पीये नहीं ?'

यहां जो प्रस्तुत विषय है वह तो है कारण अर्थात् विजय-यात्रा के लिये सन्नद्ध (यहां वर्णन के विषय) राजा का पता लगा कर उसके शत्रुओं का सहसा घरबार छोड़ कर भाग खड़ा होना, किन्तु जिसका अभिधान किया गया है वह है (अप्रस्तुत) कार्य (अर्थात् शून्यभवन में चित्रलिखित राजवर्ग से पालतू सुग्गे का बोलना ।)

'यह कौन सी बड़ी बात कि 'वह मूढ़ कमल के पत्ते पर पानी की बूँदों को मोती के दाने मान बैठा' ! अरे ! इससे भी बढ़ कर तो यह है कि 'उसने उन पानी की बूँदों को अपनी अँगुली से उठाते ही उन्हें विलीन होते देख 'मेरा मोती कहां उड़ गया' कह-कह कर अपना मन मसोस लिया और चिन्ता के मारे सोना भी भूल गया !'

यहां जो प्रस्तुत है वह तो है एक सामान्य विषय अर्थात् मूढ़ों की यों ही किसी वस्तु में ममता किन्तु जिसका वर्णन है वह है एक विशेष विषय (अर्थात् एक निर्दिष्ट मूढ़ की कमल-पत्र पर पड़े जलकण में मुक्ता की ममता, जो कि अप्रस्तुत है ।)

'वही पूजा के योग्य है, वही पुरुष कहे जाने योग्य है, वही नीति निपुण है, वही

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः श्लेषः समासोक्तिः सादृश्यमात्रं वा तुल्यात्तुल्यस्य हि आक्षेपे हेतुः।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ श्लेष हेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा)

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥ ४४३ ॥

(२ समासोक्ति हेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा)

येनास्यभ्युदितेन चन्द्र ! गमितः क्लान्तिं रवौ तत्र ते
युज्येत प्रतिकर्त्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः।

लक्ष्मी का भाजन है और है उसी का जीवन वस्तुतः जीवन जो कि शत्रुओं से वैर का बदला लेकर अपने मित्रों की स्त्रियों के आंसू पोंछा करता है।'

यहां जो प्रस्तुत है वह तो है एक विशेष विषय अर्थात् (नरकासुर के मित्र शाल्व के प्रति उसके मंत्री की यह उक्ति कि) कृष्ण को मार कर यदि नरकासुर की रानियों का दुःख उसने दूर कर दिया तभी वह सब का प्रशंसनीय है (अन्यथा नहीं), किन्तु जिसका वर्णन किया गया है वह है एक सामान्य विषय (अर्थात् जो भी वैर का बदला लेता है वह प्रशंसनीय है इत्यादि)।

तुल्य विषय के प्रस्तुत रहने पर तत्तुल्य अप्रस्तुत विषय के वर्णन के तीन प्रकार संभव हैं क्योंकि श्लेष (अर्थात् विशेषण और विशेष्यवाची सभी पदों की उभयार्थकता), समासोक्ति (अर्थात् विशेषणवाची पद की उभयार्थ बोधकता और (श्लेष के अभाव में भी) सादृश्यमात्र के सद्भाव से ही ऐसा संभव है कि एक (प्रस्तुत) तुल्य विषय के अभिधान से उसके तुल्य अन्य (अप्रस्तुत) विषय का आक्षेप अथवा प्रत्यायन हो जाय। इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

'(प्रस्तुत राजविषयक अर्थ) शौर्य से भी च्युत हो जाय, वैभव से भी हाथ धोले और सहायता की याचना से तुच्छ भी बन जाय किन्तु तब भी शत्रुओं से छीना गया अपना राज्य पुनः हस्तगत कर ले—यह है वही रीति जो कि किसी महापुरुष राजा ने प्रदर्शित की है ! (तब भला महाराज ! आप इसे क्योंकर नहीं कर दिखाते ?)'

और इससे आक्षिप्त—

['(अप्रस्तुत विष्णुविषयक अर्थ) मोहिनीरूप में पुरुषत्व से भी रहित हो जांय, कूर्मावतार में पातालगमन भी कर लें और वामनरूप में बलि के आगे याचक भी बन बैठे किन्तु तब भी समस्त विश्व का भरण-पोषण करते रहे—यह है वह रीति जो उस अलौकिक विष्णुमूर्ति परमपुरुष ने प्रकट कर दिखायी है !' यहां जो अप्रस्तुत प्रशंसा है वह श्लेपहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा है क्योंकि वर्णन के लिये प्रस्तुत जो विषय है वह तो है एक राजा और उसके तुल्य भगवान् विष्णु का जो वर्णन हो रहा है वह है एक अप्रस्तुत विषय। अब यहां विशेष्यवाचक पद 'पुरुषोत्तम' तथा विशेषणवाचक अन्य समस्त पद श्लिष्ट है इसलिए इसे श्लेषहेतुका अप्रस्तुत प्रशंसा कहा जाता है।]

'अरे चन्द्र ! जिस सूर्य के उदय में तुम ज्योत्स्ना-हीन हो जाया करते हो उसके प्रति जहां तुम्हें प्रतीकार की भावना उचित है वहां तुम उलटे उसका पादग्रहण-उसकी किरणों का अपने में आधान-किया करते हो ! यदि यह कहो कि क्षीण-कलाहीन होने के कारण ऐसा हुआ तब तो तुम्हें लज्जित होना चाहिये न कि व्योम-मण्डल में अभिमान के साथ

क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना-
गस्त्येवं जडधामता तु भवतो यद्व्योम्नि विस्फूर्जसे ॥ ४४४ ॥

(३ सादृश्यमात्र हेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा)

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किन्तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन ।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥ ४४५ ॥

इयं च काचित् वाच्ये प्रतीयमानार्थाऽनध्यारोपेणैव भवति यथा—

अब्धेरम्भः स्थगितभुवनाभोगपातालकुक्षेः
पोतोपाया इह हि बहवो लंघनेऽपि क्षमन्ते ।
आहो रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्तदानीं
को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥ ४४६ ॥

क्वचिदध्यारोपेणैव यथा—

उदित दिखाई देना चाहिये ! यह सब तुम्हारी जडधामता–शीतचन्द्रिका–का प्रभाव नहीं तो और क्या है ?'

[यहां जो अप्रस्तुत प्रशंसा है वह है समासोक्ति–हेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा क्योंकि अप्रस्तुत विशेष्यवाचक 'चन्द्र' और 'रवि' पद के अश्लिष्ट होने पर भी विशेषणवाचक अन्य पदों के श्लेष–माहात्म्य से एक प्रस्तुत विषय का आक्षेप हो रहा है जो कि किसी निर्धन और सधन व्यक्ति का वृत्तान्त है ।]

'इस क्षार–सागर ने सभी ओर से सरिताओं के संगमों से पानी ले–ले कर क्या कर लिया ! मीठे पानी को या तो खारा कर दिया या वड़वाग्नि में जला दिया या पाताल के पेट में पहुँचा दिया !'

[यहां सादृश्यमात्र हेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा इसलिये है क्योंकि अप्रस्तुत क्षारसागर के वर्णन से, एक प्रस्तुत असत्पुरुष का वर्णन हो रहा है जिसमें न तो विशेष्य और विशेषण वाचक पद ही श्लिष्ट हैं और न श्लिष्ट विशेषण की ही महिमा छिपी है ।]

(तुल्य विषय के प्रस्तुत रहने पर तत्तुल्य अप्रस्तुत विषय के वर्णन में होने वाली) यही अप्रस्तुतप्रशंसा एक और ही प्रकार की तब हो जाती है जब कि :—

(१) एक वाच्य अप्राकरणिक अर्थ पर, उसके उपपन्न रहने के कारण, किसी व्यङ्ग्य प्राकरणिक अर्थ का आरोप न किया जाय । जैसे कि:—

'यह तो संभव है कि एक को कौन कहे अनेकों सामुद्रिक व्यवसायी उस समुद्र को पार कर जांय जिसकी जलराशि पृथिवी के विस्तार और पाताल के पेट पर एक साथ छा सकती है किन्तु ऐसा कौन है जो उसके विशाल गम्भीर गर्त को उस समय देख सके जब कि दैववश उसका पानी कहीं सूख जाय !'

[यहां एक प्रतीयमान अर्थ है जो कि यह है—किसी अत्याचारी दुष्ट राजा का दरिद्र हो जाने की अपेक्षा समृद्ध रहना कहीं अच्छा है । किन्तु इस प्रतीयमान अर्थ का यहां वाच्यार्थ पर कोई आरोप इसलिये नहीं किया गया क्योंकि वह (वाच्यार्थ) स्वतः ही संभाव्यमान अथवा उपपन्न है ।]

(२) यही (अप्रस्तुत प्रशंसा) तब भी संभव है जब कि वाच्यार्थ पर उसके अनुपपन्न हो सकने के कारण व्यङ्ग्यार्थ का आरोप कर दिया जाय । जैसे कि:—

कस्त्वं भोः ? कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥ ४४७ ॥

क्वचिदंशेष्वध्यारोपेण यथा—

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वरपरदिक् किंभूयसोक्तेन वा।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर ! हे यद्वारणोऽद्याप्यसौ
अन्तः शून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः ! क एष ग्रहः ॥ ४४८ ॥

अत्र रसनाविपर्यासः शून्यकरत्वं च भ्रमरस्यासेवने न हेतुः कर्णचापलं तु हेतुः मदः प्रत्युत सेवने निमित्तम्।

'(पथिक पूछता है) अरे ! कौन हो तुम ? (श्मशान का पेड़ उत्तर देता है) भाई क्या बताऊँ ! यही समझ लो कि मैं दुर्भाग्य का मारा कोई हूँ। (पथिक) बड़े विरक्त होकर बोल रहे हो ? (वृक्ष) तब तो तुम मुझे जान ही गये किन्तु ऐसा क्यों है ? यह तो सुन लो—हमारी बांयी ओर जो वट-वृक्ष है उसकी छाया का सहारा तो पथिकजन बड़े आदर से लिया करते हैं किन्तु रास्ते में खड़े हुये भी मेरी छाया ऐसी है जिसका कोई भी उपयोग नहीं, जिससे किसी का कुछ भला नहीं।'

[यहां जो प्रतीयमान अर्थ है वह है किसी अधम जाति के दानी का, किसी सत्पात्र के द्वारा, उसका दिया कुछ न लेने से, निर्वेद। यहां इस प्रतीयमान अर्थ का आरोप इसलिये आवश्यक है क्योंकि अचेतन वाच्यार्थभूत शाखोटक के साथ किसी चेतन व्यक्तिकी उक्ति-प्रत्युक्ति की उपपत्ति नहीं हो सकती। प्रदीपकार का इसीलिये यहां यह कहना है—'अत्र वाच्यशाखोटके संबोध्यत्वोच्चारयितृत्वादिकमनुपपन्नमिति प्रतीयमानाध्यारोपः।']

(३) यही (अप्रस्तुत प्रशंसा) कभी कहीं वाच्यार्थ पर व्यङ्ग्यार्थ के अंशतः आरोप में भी हुआ करती है। जैसे कि:—

'अरे भ्रमर ! क्या यह सब कुछ भूल पड़े कि जिसकी जिह्वा भी अपूर्वरूप से विपर्यस्त (उलटी—अभिशाप से हाथी की जिह्वा-परिवृत्ति पुराणों में वर्णित) है (अर्थात् जिसके कुछ बोलने का कोई ठिकाना नहीं), जिसके कान सदा चंचल रहा करते हैं (जो किसी के कुछ भी कहने से अपना मन बदल डालता है) और वस्तुतः अधिक कुछ कहने-सुनने से क्या ! जिसकी आंखें निरन्तर मदजल के गिरते रहने से अपने-पराये का मार्ग नहीं देख पातीं (जो मदावलेप के कारण अच्छे-बुरे की पहचान नहीं कर पाता) उसी अस्थि मांसरहित शुण्डादण्ड वाले (निर्धन) वारण (मत्त गजराज-सेवक के निरादर करने वाले स्वामी) की सेवा में अपने आपको खपाये जा रहे हो ! यह सब तुम्हारा कैसा दुराग्रह !'

[यहां अप्रस्तुत प्रशंसा इस प्रकार है—'गज' और 'भ्रमर' का वृत्तान्त, जिसका यहां वर्णन हो रहा है, अप्रस्तुत है और इसके सदृश निरादरकर्त्ता और भक्त-स्वामी और सेवक-का जो वृत्तान्त है वह श्लेष की महिमा से आक्षिप्त है।]

यहां 'रसनाविपर्यय' (जिह्वा के विपर्यस्त होने) 'अन्तःशून्यकरत्व' (सूंड़ के भीतर से खोखले होने) को तो भ्रमर के लिये गज-सेवा से मुँह मोड़ने का हेतु कहा नहीं जा सकता (और इसलिये इस अंश में वाच्य-गज-भ्रमररूप अर्थ पर व्यङ्ग्य सेव्य-सेवकरूप अर्थ का अध्यारोप अपेक्षित है।) किन्तु 'कर्णचापल' (कानों का बार-बार फटफटाते रहना) तो इसका हेतु अवश्य है (जिससे इस अंश में वाच्यार्थ पर व्यङ्ग्यार्थ

(१२ अतिशयोक्ति-अलंकार)

(१५३) निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥ १०० ॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा

का आरोप आवश्यक नहीं)। अब 'मद' के सम्बन्ध में तो यह ठीक ही है कि यह भ्रमर की गज-सेवा का हेतु है (और ऐसा होने से यहां भी गज-भ्रमररूप वाच्यार्थ में सेव्य-सेवकरूप व्यङ्ग्यार्थ का अध्यारोप उचित ही है)।

टिप्पणी—मम्मट ने अपने अप्रस्तुत प्रशंसा-लक्षण में उद्भट की इस अप्रस्तुत प्रशंसा-परिभाषा अर्थात्—

'अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी ॥'

(काव्यालंकारसारसंग्रह ५.८)

का परिष्कार किया है। यद्यपि भामह अथवा उद्भट ने अप्रस्तुत की प्रशंसा द्वारा प्रस्तुत के अभिधान में कोई कारण-गवेषणा नहीं की है किन्तु उद्भट के व्याख्याकार श्री प्रतीहार इन्दुराज ने, जैसा कि काव्यालंकारसारसंग्रहवृत्ति की इन पंक्तियों—

'अधिकारादुपवर्णनावसरादपगतस्य प्राकरणिकादपरस्य वस्तुनो यत्रोपनिबन्धः सा अप्रस्तुतप्रशंसा। न चैवमपि तस्या उन्मत्तप्रलापप्रख्यता यतः सा केनचित् स्वाजन्येन (सम्बन्धेन) प्रस्तुतमर्थमनुबध्नाति।'

से स्पष्ट है, अप्रस्तुत-वर्णन से प्रस्तुत के प्रत्यायन में एक सम्बन्ध का उल्लेख अवश्य किया है। यह सम्बन्ध क्या है ? इसका विशद निरूपण तो अलंकारसर्वस्वकार का किया हुआ है जैसा कि इन पंक्तिओं अर्थात्—

'न चाऽप्रस्तुतादसंबन्धे प्रस्तुतप्रतीतिः अतिप्रसङ्गात्। संबन्धे तु भवन्ती न त्रिविधं संबन्धमतिवर्त्तते। तस्यैवार्थान्तरप्रतीतिहेतुत्वोपपत्तेः। त्रिविधश्च संबन्धः-सामान्य-विशेषभावः, कार्यकारणभावः, सारूप्यं चेति।'

में स्पष्ट है। अप्रस्तुत-प्रशंसन से प्रस्तुत की प्रतीति में यही त्रिविध सम्बन्ध 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के भेद-निर्णय का भी आधार है। इसी सम्बन्ध की दृष्टि से 'अप्रस्तुत प्रशंसा' के ये भेद रुय्यक ने गिनाये हैं:—

(क) सामान्यविशेषभावरूप सम्बन्ध में:—
१. सामान्य से विशेष की प्रतीति। २. विशेष से सामान्य की प्रतीति।

(ख) कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध में:—
१. कार्य से कारण की प्रतीति। २. कारण से कार्य की प्रतीति।

(ग) सारुप्य सम्बन्ध में:—
१. साधर्म्य पूर्वक-तुल्य से तुल्य की प्रतीति। २. वैधर्म्य पूर्वक-तुल्य से तुल्य की प्रतीति।

मम्मट ने यद्यपि अप्रस्तुत प्रशंसा के ही भेद बताये हैं जो कि रुय्यक के अनुसार सिद्ध हैं किन्तु अप्रस्तुत से प्रस्तुत के अभिधान में विभाजकरूप से उपर्युक्त त्रिविध सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया है। तुल्य से तुल्य की प्रतीति में अप्रस्तुतप्रशंसा के विवेचन में मम्मट ने कुछ और विशेषता दिखायी है जो कि रुय्यक के अलंकारसर्वस्व में अस्पष्ट है।

अनुवाद—**'अतिशयोक्ति' वह अलंकार है जिसमें (१) उपमेय का ऐसा अध्यवसान-काल्पनिक अभेद-निश्चय किया जाय कि वह उपमान से पृथक् निर्दिष्ट न दिखाई दे (अर्थात् उपमेय का उसके वाचक शब्द से ग्रहण न हो), (२) वर्ण्य विषय का उससे**

(१ली अतिशयोक्ति)

उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका, यथा—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥ ४४६ ॥

अत्र मुखादि कमलादिरूपतयाऽध्यवसितम् ।

(२री अतिशयोक्ति)

यच्च तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते साऽपरा यथा—

अण्णं लडहत्तणअं अण्ण विआ का वि वत्तणच्छाआ ।
सामा सामण्णपआवइणो रेह च्चिअ ण होई ॥ ४५० ॥

(अन्यं यत्सौकुमार्यमन्यैव च काऽपि वर्तनच्छाया ।
श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव च न भवति ॥)

(३ री अतिशयोक्ति)

'यद्यर्थस्य' यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादसम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया । यथा—

राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥ ४५१ ॥

भिन्न प्रकार से वर्णन किया जाय, (३) 'यदि' शब्द के अभिप्राय में किसी असंभाव्य अर्थ की कल्पना की जाय और (४) कार्य तथा कारण के पौर्वापर्य-पूर्वापरभाव-का वैपरीत्य प्रदर्शित किया जाय ।

वह अर्थात् पहली अतिशयोक्ति, जिसमें उपमान में अन्तर्मग्न (अर्थात् अपने स्वरूप में अनुपस्थित अथवा अपने वाचक शब्द के द्वारा अनुपात्त) उपमेय का अध्यवसान अथवा काल्पनिक अभेद-निश्चय किया हुआ रहता है जैसे कि:—

'विचित्रता की यह बाढ़ कैसी ! बिना जल के कमल (नायिका का मुख) खिल उठा, कमल पर नीलोत्पल युगल (नायिका के दोनों नेत्र) निकल पड़े, ये कमल और कुवलय कनकलता (नायिका की अंगयष्टि) पर आ विराजे और यह कनकलता भी ऐसी-वैसी नहीं अपितु सुन्दर और सुकुमार, कोमल और मनोहर !'

यहां कमल इत्यादि (उपमानों) के साथ मुख इत्यादि (उपमेयों) के तादात्म्य का अध्यवसान-काल्पनिक दृढनिश्चय किया गया है (अर्थात् उपमान और उपमेय के परस्पर भिन्न होने पर भी उपमान का तादात्म्य उपमेय में प्रदर्शित हुआ है ।)

दूसरी अतिशयोक्ति, जिसमें प्रस्तुत विषय अपने भिन्नरूप में वर्णित हुआ करे, जैसे कि—

'इसकी सुकुमारता कुछ और ! शरीर-शोभा भी कुछ और ! इस नवयौवना को उसने नहीं रचा जो सबको रचा करता है !'

[यहां अभेद में भेद का अध्यवसान है क्योंकि प्रस्तुत नायिका-सौन्दर्य के लोक प्रसिद्ध स्त्री-सौदर्य होने पर भी प्रस्तुत नायिका-सौन्दर्य को स्त्री-सौन्दर्य से भिन्न भेद प्रदर्शित किया गया है ।]

तीसरी अतिशयोक्ति, जिसमें 'यदि' अथवा 'चेत्' शब्द के द्वारा किसी ऐसे अर्थ की कल्पना की जाय जिसकी संभावना न हो, जैसे कि:—

'यदि पूर्णिमा की रात में ऐसा चन्द्र निकले जिसमें कोई कलङ्क न हो, तब कहीं उससे अपनी समानता देख इस (अद्भुत सुन्दरी) का मुख अपना कोई अपमान समझे !'

[यहां पूर्वार्द्ध में जो पूर्णिमा के चन्द्र में कलङ्क के अभाव की कल्पना है वह तो

(४ थी अतिशयोक्ति)

कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्तौ चतुर्थी यथा—

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता ॥ ४५२ ॥

(१३ प्रतिवस्तूपमा अलंकार)

(१५४) प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ १०१ ॥
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना है और उत्तरार्द्ध में नायिका के मुख और चन्द्रमा के पूर्ण बिम्ब में साम्यरूप सम्बन्ध होने पर भी जो असम्बन्ध की कल्पना है वह है सम्बन्ध में असम्बन्ध की कल्पना ।]

चौथी अतिशयोक्ति वह है जिसमें कारण की कार्यकारिता की शीघ्रता बताने के लिये कार्य का कारण के पहले ही निष्पन्न होना बता दिया जाय। जैसे कि—

'नायिकाओं के प्रेमी नवयुवक ! यह रही मालती जिसके हृदय पर पहले तो उसका अधिकार हुआ जिसके धनुष और बाण दोनों कुसुम के हैं और बाद में उसका जिस पर उसकी निगाह पड़ी और वह हो तुम !' (दामोदर गुप्त, कुट्टनीमत १६)

[यहां कारण तो है नवयुवक का मालती के द्वारा देखा जाना और कार्य है मालती के हृदय में उसके प्रति प्रेम का उत्पन्न होना, किन्तु कारण की कार्यकारिता की शीघ्रता बताने के लिये वर्णन किया गया कार्य का ही पहले हो चुकना अर्थात् मालती के हृदय में इस नवयुवक के देखने के पहले ही उसके प्रति प्रेम का उत्पन्न हो जाना ।]

टिप्पणी—'अतिशयोक्ति' के स्वरूप तथा भेद-निर्णय में सर्वप्रथम महत्त्व उद्भट का है। 'भामह' के इस अतिशयोक्ति-लक्षण अर्थात्—

'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् । मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया बुधाः ॥'
(काव्यालंकार २. ८१)

अथवा दण्डी के इस अतिशयोक्ति-निरूपण अर्थात्—

'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी । असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा ॥'
(काव्यादर्श २. २१४)

में 'अतिशयोक्ति' का वह रूप स्पष्ट नहीं जो कि उद्भट ने अपनी इस परिभाषा अर्थात्—

'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् । मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया बुधाः ॥
भेदेऽनन्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते । तथा संभाव्यमानार्थनिबन्धेऽतिशयोक्तिगीः ॥
कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययात् । आशुभावं समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत् ॥'
(काव्यालंकारसारसंग्रह २. ११-१३)

द्वारा स्पष्ट किया है ।

मम्मट ने उद्भट की ही दृष्टि अपनायी है किन्तु 'निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्' की अतिशयोक्ति-धारणा मम्मट की अपनी है जिसका आगे के आलंकारिकों ने स्वागत किया है। मम्मट का यही 'निगीर्याध्यवसान' मम्मट के बाद अलंकारशास्त्र में अतिशयोक्ति की रूप-रेखा के रूप में माना गया है जो कि पण्डितराज जगन्नाथ के इस अतिशयोक्ति-लक्षण अर्थात्—

'विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः, तस्योक्तिः (अतिशयोक्तिः),

में स्पष्ट झलक रहा है।

अनुवाद—'प्रतिवस्तूपमा' वह अलंकार है जिसमें एक ही साधारण धर्म का, उपमानवाक्य और उपमेयवाक्य-दोनों वाक्यों में, दो बार उपादान ('कथितपदता' दोष के निवारण के लिये भिन्न-भिन्न शब्द द्वारा कथन) हुआ करता है।

साधारणो धर्मः उपमेयवाक्ये उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयाऽभिहितत्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा । यथा—

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा ।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ।। ४५३ ।।
यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भूतं यदि च गौरवमद्रिषु किन्ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ।। ४५४ ।।

इत्यादिका मालाप्रतिवस्तूपमा द्रष्टव्या । एवमन्यत्राप्यनुसर्त्तव्यम् ।।

(१४ दृष्टान्त अलंकार)

(१५५) दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।। १०२ ।।

'प्रतिवस्तूपमा' का अभिप्राय है वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ का उपमानरूप से उपस्थित रहना और यह तब संभव है जब कि उपमेयवाक्य और उपमानवाक्य-दोनों वाक्यों में एक ही साधारण धर्म का भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा कथन किया जाय जिसमें 'कथितपदता' जिसे एक दोष कहा गया है, न हो सके । उदाहरण के लिये :—

'महाराज ! जिसे आपकी महारानी होने का सौभाग्य प्राप्त है वह अब अन्तःपुर की सामान्य रमणी कैसे बन जाय । वह रत्न, जिस पर देवता की मूर्ति अंकित हो, भला आभूषण के काम में कभी कैसे लाया जाय !' प्रतिवस्तूपमा की मालारूप से भी रचना दिखाई देती है । जैसे कि :—

'यदि अग्नि में दाह है तो आश्चर्य क्या ! यदि पर्वतों में गौरव है तो क्या हुआ ! यदि महासागर का जल खारा है तो कौन सी नयी बात ! और यदि विषण्ण नहीं होना महापुरुषों का स्वभाव है तो संदेह क्या !'

इत्यादि प्रसङ्गों में स्पष्ट है । यही माला-प्रतिवस्तूपमा अन्यत्र भी (जैसे कि वहां जहां वैधर्म्य विवक्षित है) देखी जा सकती है ।

[यहां उपमेय वाक्य है—'प्रकृतिरेव सतामविसादिता' और उपमानवाक्य एक नहीं तीन २ है-'यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतम्', 'यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः', और 'लवणमम्बु सदैव महोदधेः' । इस प्रकार यहां एक उपमेय वाक्य का तीन उपमान वाक्यों से औपम्य प्रदर्शित किया जा रहा है । यहां जो साधारण धर्म है वह तो एक प्रकार का ही है अर्थात् वस्तुओं के स्वभाव के सम्बन्ध में किसी प्रकार का आश्चर्य न करना, किन्तु इसका चारों वाक्यों में भिन्न-भिन्न शब्दों जैसे कि 'किमद्भुतम्', 'किं ततः', 'सदैव' और 'प्रकृतिरेव' के द्वारा कथन किया जा रहा है ।]

टिप्पणी—'प्रतिवस्तूपमा' का शब्दार्थ है 'प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा साधर्म्यं साधारणधर्मो वाऽस्याम्' अर्थात् वह अलङ्कार जिसमें प्रत्येक वाक्यार्थ (उपमेय विषयक किंवा उपमानविषयक) में उपमा अर्थात् साधर्म्य का कथन हो । तात्पर्य यह है कि उपमा में पदार्थों का वाच्यरूप से साम्य विवक्षित है किन्तु प्रतिवस्तूपमा में वाक्यार्थों का जो साम्य अभिप्रेत है वह वाच्यरूप से नहीं अपितु गम्यरूप से अभिप्रेत है । उपमा में पदार्थों का औपम्य शाब्दिक है और प्रतिवस्तूपमा में जो वाक्यार्थों का औपम्य है वह है आर्थिक । यह प्रतिवस्तूपमा 'केवल' और 'माला' दोनों प्रकार से रची जाया करती है और जैसे यह साधर्म्य में संभव है वैसे ही वैधर्म्य में भी ।

अनुवाद—**दृष्टान्त वह अलङ्कार है जिसमें उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य-दोनों वाक्यों में इन सबका अर्थात् उपमान, उपमेय और साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव झलका करता है ।**

एतेषां साधारणधर्मादीनाम् दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः।
त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः॥ ४५५॥
एष साधर्म्येण, वैधर्म्येण तु—
तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं कृपाणान्तिकमानिनीषतः।
भटाः परेषां विशरारुतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः॥ ४५६॥

यहां 'एतेषाम्'–'इन सबका' का अभिप्राय है साधारण धर्म आदि का और 'दृष्टान्त' कहते हैं दृष्टान्तभूत वाक्यार्थ में दार्ष्टान्तिक वाक्यार्थ के अन्त अथवा प्रामाण्य निश्चय को और ऐसा जहां हो वह अलंकार है दृष्टान्त अलंकार। जैसे कि:—

'काम-संतप्त उस (नायिका) का मन तुम्हारे दर्शनमात्र से शान्त हो जाता है क्योंकि चन्द्र के देखने मात्र से ही तो कुमुदिनी का फूल खिल उठता है।'

[यहां नायक और चन्द्र, नायिका और कुमुदिनी, मन और कुसुम, मनोभवसंतप्त और सूर्यकिरण दग्ध तथा प्रसन्नता और विकास में बिम्बप्रतिबिम्बभाव झलक रहा है। साथ ही साथ दृष्टान्त वाक्यार्थ अर्थात् 'आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः' में दार्ष्टान्तिक वाक्यार्थ अर्थात् 'त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्' का प्रामाण्य निश्चय भी हो रहा है क्योंकि नायकदर्शन और काम-संताप-निर्वाण में जो कार्य-कारणभाव अभिप्रेत है उसकी व्याप्ति का निश्चय दृष्टान्तवाक्य में अभिप्रेत हिमांशुदर्शन और कुमुद्वती-विकास में स्पष्ट हो जाता है।]

यहां जो दृष्टान्त अलङ्कार है उसमें साधर्म्य अथवा साधारण धर्म रूप सम्बन्ध का कथन है।

अब वैधर्म्य अथवा विरुद्ध धर्म सम्बन्ध के द्वारा भी 'दृष्टान्त' संभव है जो कि इस उदाहरण से स्पष्ट है—

'महाराज ! जब रणाङ्गण में साहसिक कर्मों में ही संतुष्ट होने वाले आप अपना हाथ अपनी तलवार के पास ले जाना चाहते हैं तब यही होता है कि शत्रुओं के सैनिक भाग खड़े होते हैं क्योंकि वायु के न बहने पर ही तो धूलिकण इधर-उधर नहीं उड़ा करते !'

[यहां 'दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः' इस दृष्टान्त वाक्य और 'तवाहवे' इत्यादि दार्ष्टान्तिक वाक्य में साधर्म्य का नहीं अपितु वैधर्म्य का प्रदर्शन है किन्तु 'दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः' का वैधर्म्य 'वाते तु पांसवः स्थिरतां न दधति' इस साधर्म्य में ही अन्त होता है और इस प्रकार यहां 'दृष्टान्त' अलंकार दिखाई देता है। यहां बिम्बप्रतिबिम्ब भाव भी स्पष्ट प्रतीत होता है क्योंकि शत्रुसैनिक और धूलिकण किंवा पलायन और अस्थैर्य में परस्पर जो सम्बन्ध है वह उपमानोपमेयभाव का ही सम्बन्ध है।]

टिप्पणी—दृष्टान्त में भी वाक्यार्थों का ही औपम्य अभिप्रेत रहा करता है और यह शब्द-बोध्य नहीं अपितु अर्थ-गम्य हुआ करता है। यहां दृष्टान्त वाक्य के उपमान, उपमेय और साधारण धर्म के दार्ष्टान्तिक वाक्य में प्रतिबिम्बित होने का अभिप्राय है दृष्टान्त वाक्य के उपमानादि और दार्ष्टान्तिक वाक्य के उपमानादि में बिम्बप्रतिबिम्बभाव का होना। इनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने का तात्पर्य है इनका भिन्न-भिन्न होना न कि एकरूप से रहना। 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' कहते हैं दो वस्तुओं (दो अर्थों) के दो बार उपादान-कथन को—'द्वयोरर्थयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः (प्रतापरुद्रयशोभूषण)। 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' तभी संभव है जब विशेष्य और विशेषण दोनों में सादृश्य का निर्देश हो न कि एकत्व का। आचार्य अप्पयदीक्षित का इसीलिये कथन है—'वस्तुतो भिन्नयोरप्युपमानोपमेयधर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नयोः पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः।' 'दृष्टान्त' में तो 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' अपेक्षित है किन्तु प्रतिवस्तूपमा में 'वस्तु-प्रतिवस्तुभाव' और इसीलिये

(१५ दीपक अलंकार)

(१५६) सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ १०३ ॥

(१ क्रियादीपक)

प्राकरणिकाप्राकरणिकानामर्थादुपमानोपमेयानां धर्मः क्रियादिः एकवारमेव यदुपादीयते तत् एकस्थस्यैव समस्तवाक्यदीपनादीपकम्, यथा—

किवणाणं धणं णाआणं फणमणी केशराई सीहाणं ।
कुलवालिआणं त्थणआ कुतो छिप्पन्ति अमुआणम् ॥ ४५७ ॥

(कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम् ।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥)

(२ कारकदीपक)

कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्वृत्तिर्दीपकम् , यथा—

ये दोनों दो भिन्न-भिन्न स्वरूप के अलंकार हैं। 'वस्तु-प्रतिवस्तुभाव' का अर्थ है एक अर्थ का दो शब्दों के द्वारा अभिधान अथवा कथन—'एकस्यार्थस्य शब्दद्वयेनाभिधानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः।'

अनुवाद—'दीपक' वह अलंकार है जिसमें (१) प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) के (गुणक्रियादि रूप) धर्म का एक बार उपादान अथवा कथन हुआ करता है और (२) साथ ही साथ वह भी 'दीपक' ही है जिसमें एक ही कारक (कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण में से किसी एक) का अनेकों क्रियाओं से सम्बन्ध विवक्षित रहा करता है।

यहां 'प्रकृताप्रकृतात्मनाम्' का अभिप्राय है प्रकृत-प्राकरणिक और अप्रकृत-अप्राकरणिक का अर्थात् उपमेय और उपमान का। 'धर्म' से यहां जो विवक्षित है वह है क्रिया आदि (अर्थात् क्रिया और गुण) और 'सकृद्वृत्ति' का तात्पर्य है (इस धर्म का) एक ही बार उपादान अथवा ग्रहण। इस प्रकार 'दीपक' को दीपक इसिलये कहते हैं क्योंकि यहां एक स्थान पर ही उपस्थित (एक बार ही उपात्त) क्रियारूप अथवा गुणरूप धर्म समस्त (प्रकृत तथा अप्रकृतगत) वाक्य का प्रकाशक हुआ करता है अर्थात् दोनों में समन्वित हो जाया करता है। इसका उदाहरण यह है:—

'जीते जी कृपणों का धन, सर्पों का फण-रत्न, सिंहों का केसर और सती-साध्वी कुलवधुओं का स्तन, भला कैसे संभव है कि कोई हाथ लगा ले!'

[यहां प्रकृत अथवा प्राकरणिक तो है 'कुलवधुओं का स्तन' जिसके लिये 'कृपणों के धन' 'सर्पों के फण-रत्न' और 'सिंहों के केसर' को अप्रकृत (उपमान) के रूप में कवि ने उपस्थित किया है। अब इनमें अर्थात् प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) में स्पर्श की क्रिया के रूप में जो साधारण धर्म वर्णित है वह एक बार ही वर्णित है किन्तु सर्वत्र समन्वित है। इसलिये यहां क्रियादीपक अलंकार है। इसी प्रकार गुणदीपक भी हो सकता है जैसे कि यहां—

'श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपंक्तिभिः। भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभिः॥'
जहां श्यामगुणरूप साधर्म्य एकत्र विराजमान होने पर भी प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों में अन्वित दिखाई देता है।]

कारक का अनेकों क्रियाओं से सम्बन्ध होने पर जो दीपक अलंकार हुआ करता है (जिसे 'कारकदीपक' कहा जाता है) वह इस प्रकार के उदाहरणों में (दिखाई देता) है:—

स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक्।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥ ४५८ ॥

(दीपक का एक और प्रकार-मालादीपक)

(१५७) मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

पूर्वेण पूर्वेण वस्तुना उत्तरमुत्तरं चेदुपक्रियते तन्मालादीपकं, यथा—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥ ४५६ ॥

'नवोढ़ा वधू जब पति के पर्यङ्क पर जाती है तब पसीने-पसीने हो जाया करती है, संकोच में आ जाया करती है, मुँह घुमा लिया करती है, सामने नहीं लेटा करती, आंखे बन्द कर लिया करती है, तिरछी निगाह से देखा करती है, मन ही मन प्रसन्न हुआ करती है और साथ ही साथ पति के मुख का भी चुम्बन करना चाहती है।'

[यहां एक ही वधूरूप कर्तृकारक अथवा एक ही शयनरूप अधिकरणकारक अनेकों क्रियाओं जैसे कि पसीने-पसीने होना इत्यादि से सम्बद्ध वर्णित किया गया है। इसलिये यहां 'कारकदीपक' अलंकार है। यहां तो सभी क्रियायें प्रकृत हैं किन्तु ऐसा भी संभव है कि अप्रकृत क्रियाओं से भी एक ही कारक का सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाय। जैसे कि यहां:—

'दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति ।
भूतेषु किं च करुणां बहुलीकरोति सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति ॥'

जहां पर क्रियायें तो सभी अप्रकृत हैं किन्तु सत्संगरूप कर्तृकारक सभी में समन्वित है। इसी प्रकार यही कारकदीपक वहां भी होता है जहां कुछ क्रियायें प्रकृत और कुछ अप्रकृत हों।]

यही दीपक अलंकार तब 'मालादीपक' कहा जाता है जब पूर्व-पूर्व-वर्णित वस्तु उत्तरोत्तर-वर्ण्य वस्तु में उत्कर्ष का आधान करती प्रतीत होती है।

यहां (आद्यवस्तु के यथोत्तर गुणावह होने का) जो अभिप्राय है वह है पूर्ववर्णित वस्तु का आगे वर्णन की जाने वाली वस्तु के प्रति उपकारक-उत्कर्षाधायक होते चलने का और ऐसी विशेषता जिस दीपक में हुआ करती है वह दीपक 'मालादीपक' कहा जाता है। जैसे कि:—

'महाराज! संग्रामाङ्गण में धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाये आपके पहुंच जाने पर जिस जिस ने सहसा जो जो पाया वह सुनिये-आपके धनुष ने बाण पाया, बाणों ने शत्रुओं का मस्तक पाया, शत्रुओं के मस्तक ने भूमि पायी, भूमि ने आपको पाया, आपने कीर्ति पायी और कीर्ति ने पाया त्रैलोक्य।'

[यहां पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के उत्कर्ष में उपकारक सिद्ध हो रही है जिससे अन्त में कवि के मुख्य विषय राज-यश का उत्कर्ष और भी अधिक चमत्कारजनक हो रहा है। जिस प्रकार किसी माला में पहले-पहले गुँथे फूलों के द्वारा बाद में पिरोये जाने वाले फूलों के गूंथने में सहायता मिला करती है उसी प्रकार इस दीपक-प्रभेद में भी पहले वर्णित वस्तुएं आगे आने वाली वस्तुओं के वर्णन में एक विशेषता का ही आधान किया करती हैं।]

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने 'दीपक' की रूप-रचना का जैसा विश्लेषण किया है उसमें प्राचीन आलंकारिकों जैसे कि उद्भट और रुद्रट की मान्यताओं का समन्वय तो है ही किन्तु साथ ही साथ अपनी भी मान्यता का उद्घाटन है। उद्भट की 'दीपक' की परिभाषा यह थी—

(१६ तुल्ययोगिता-अलंकार)

(१५८) नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥ १०४ ॥

नियतानां प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वा, क्रमेणोदाहरणम्—

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥ ४६० ॥

कुमुदकमलनीलनीरजालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का ।
अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ॥ ४६१ ॥

'आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः । अन्तर्गतोपमा धर्मा: यत्र तद्दीपकं विदुः ॥'
(काव्यालंकारसारसंग्रह १.१४)

और रुद्रट की यह—

'यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति । तद्वत्कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा ॥'
(काव्यालंकार ७.६४)

उद्भट से तो यह पता लगता है कि दीपक अलंकार में उपमानोपमेयभाव का अन्तर्गत-अन्तर्भूत होना उसकी रूपनिष्पत्ति के लिये आवश्यक है और रुद्रट से पता चलता है दीपक के बन्ध-विन्यास का अर्थात् अनेक वाक्यार्थों में एक क्रियापद अथवा उनमें एक कारकपद की रचना के चमत्कार का । रुद्रट की दीपक-परिभाषा में जो कमी थी वह थी दीपक में, इसे 'वास्तव'-प्रकार के अलंकार मानने के कारण, औपम्य-उपमानोपमेयभाव की अन्तर्व्याप्ति न मानने की । मम्मट ने वस्तुतः रुद्रट की परिभाषा को ही उद्भट के विश्लेषण की दृष्टि से अपनी परिभाषा में परिमार्जित कर दिखाया है । मम्मट को प्राचीन आलंकारिकों के निरूपित दीपक-प्रभेद जैसे कि आदिदीपक, मध्यदीपक आदि इसलिये ठीक नहीं जंचे क्योंकि क्रियापद अथवा कारकपद के स्थान-निर्णय की और भी दृष्टियां हो सकती हैं और इन दृष्टियों से दीपक अलंकार की यदि भेद-प्रभेद-मीमांसा की जाय तब तो दीपक में भी चित्रालंकार सरीखी की ही विचित्रतायें होने लगें । मम्मट ने 'दीपक' की परिभाषा में इस बात का ध्यान रखा है कि प्रतिवस्तूपमा से दीपक का स्वरूप पृथक् झलक जाय । प्रतिवस्तूपमा में तो प्रकृत तथा अप्रकृत-गत धर्म असकृत् निर्दिष्ट रहा करते हैं किन्तु दीपक में इनका सकृत् निर्देश ही एक अलग चमत्कार है ।

अनुवाद—'तुल्ययोगिता' वह अलंकार है जिसमें नियत अर्थात् वर्णनीयरूप से स्वीकृत प्रकृत अथवा अप्रकृत के (गुण अथवा क्रिया रूप) साधारण धर्म का एक बार उपादान (ग्रहण) किया जाय ।

यहां 'नियतानाम्' का अभिप्राय है (कवि के द्वारा वर्णनीय रूप से निश्चित) केवल प्राकरणिक का अथवा केवल अप्राकरणिक का । क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

१. 'अरी सखी ! तुम्हारा यह पीला-दुबला मुँह, यह प्रेम में पगा मन, यह शिथिल पड़ा शरीर जिस बात की वस्तुतः सूचना दे रहा है वह है तुम्हारे हृदय का असाध्य (प्रेम) रोग !'

[यहां पाण्डु-वदन इत्यादि विरह के अनुभाव के रूप में कवि के द्वारा निर्धारित विषय हैं और प्रकृत हैं । इन केवल प्रस्तुत अथवा प्राकरणिक विषयों के लिये एक ही साधारण धर्म-आवेदन अथवा सूचन (आवेदयति) एक ही बार उपात्त है जो कि सब में अन्वित है । इसलिये यहां जो तुल्ययोगिता है उसमें केवल प्रकृत वस्तुओं के धर्म का सकृत् निर्देश दिखाई दे रहा है ।]

२. 'अरी सुन्दरी ! इन सुन्दर-मनोहर हाव-भावों वाली तुम्हारी आंखों के आगे कुमुद और कमल और नीलोत्पल क्या है ! और तुम्हारे मुंह के सामने अमृत और अमृतांशु (चन्द्र) और अम्बुज तो एक साथ ही हार खाये पड़े हैं ।'

(१७ व्यतिरेक अलंकार)

(१५९) उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

अन्यस्योपमेयस्य व्यतिरेक आधिक्यम् ।

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥ ४६२ ॥

इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तं तदयुक्तमत्र यौवनगतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम् ।

(व्यतिरेक के भेद-प्रभेद)

(१६०) हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥ १०५ ॥
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत्त्रिरष्ट तत् ।

[यहां जो तुल्ययोगिता है उसमें केवल अप्रकृतवस्तुओं के धर्म का सकृत्-निर्देश प्रतीत हो रहा है क्योंकि पूर्वार्द्ध में कुमुद, कमल और नीलनीरज, जिनके धर्म का अर्थात् प्रकृतनायिका के मुख-सौन्दर्य से अधिक्षिप्त होने का 'का' पद के प्रयोग द्वारा, एक बार ही निर्देश हुआ है, सब के सब अप्रकृत हैं—उपमान हैं। यही बात उत्तरार्द्ध में आनन के उपमानभूत अमृत, अमृतांशु और अम्बुज के सम्बन्ध में 'प्रतिहतम्' के सकृत् निर्देश में प्रतीत होती है ।]

टिप्पणी—'तुल्ययोगिता' का अभिप्राय है-तुल्य अर्थात् परस्पर समान योग अर्थात् सम्बन्ध अथवा अन्वय का होना । जिस अलंकार में प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत में एक धर्म का अन्वय-संबन्ध प्रदर्शित हो वह अलंकार तुल्ययोगिता अलंकार है । दीपक (प्रथम प्रकार) में भी एक धर्म का सकृत् निर्देश अभिप्रेत है किन्तु वहां प्रकृत और अप्रकृत दोनों में ऐसी बात होती है । यहां तुल्ययोगिता में एक धर्म का अन्वय या तो केवल प्राकरणिक में विवक्षित है या केवल अप्राकरणिक में । उपमानोपमेय भाव का अन्तर्भाव यहां भी है किन्तु यहां साधारण धर्म उभयगत-उपमानगत तथा उपमेयगत नहीं, अपि तु या तो केवल प्रकृतगत है या केवल अप्रकृतगत ।

अनुवाद—'व्यतिरेक' वह अलंकार है जिसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय का व्यतिरेक (गुणविशेष के कारण आधिक्य अथवा उत्कर्ष) बताया जाय ।

यहां 'अन्यस्य'-'दूसरे का' का अभिप्राय है 'उपमेय का' और 'व्यतिरेक' कहते हैं आधिक्य-उत्कर्ष को । ऐसे प्रसङ्ग जैसे कि:—

'अरी सुन्दरी ! अब तो प्रसन्न हो । देखो—चन्द्रमा चाहे जितना भी क्षीण-कला-रहित क्यों न हो जाय, सच तो यह है कि, फिर वह कला-पूर्ण हो जाया करता है किन्तु यह यौवन! यदि एक बार यह चला गया तो फिर कभी लौटने का नहीं ।'

इत्यादि के लिये किसी ने (अलंकारसर्वस्व के रचयिता रुय्यक ने) जो यह कहा कि यहां भी (एक प्रकार का) व्यतिरेक है क्योंकि उपमेय (यौवन) की अपेक्षा उपमान (चन्द्रमा) का उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है, वह वस्तुतः उचित नहीं किया क्योंकि यहां भी जो बात है वह (उपमेयभूत) यौवनसम्बन्धी अस्थिरता के ही व्यतिरेक-उत्कर्ष की है (न कि उपमानभूत चन्द्रमा के व्यतिरेक अथवा उत्कर्ष की) ।

'व्यतिरेक' चौबीस प्रकार का होता है—(१) व्यतिरेक के दोनों हेतुओं अर्थात् उपमेयगत उत्कर्ष और उपमानगत अपकर्ष के हेतुओं के स्पष्ट प्रतिपादन में, (२-३-४) उत्कर्षहेतु के अप्रतिपादन में, अपकर्षहेतु के अकथन में और इन दोनों की अनुक्ति में, और इन्हीं चारों भेदों में प्रत्येक में तीन प्रकार जैसे कि (१) साधर्म्य के (इवादि) शब्द द्वारा निवेदन (२) साधर्म्य के अर्थ-सामर्थ्य द्वारा अभिधान (तुल्यादि शब्द द्वारा प्रतिपादन और

व्यतिरेकस्य हेतुः उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम् उपमानगतमपकर्षकारणम् तयोर्द्वयोरुक्तिः एकतरस्य द्वयोर्वा अनुक्तिरित्यनुक्तित्रयम्। एतद्भेदचतुष्टयमुपमानोपमेयभावे शब्देन प्रतिपादिते आर्थेन च क्रमेणोक्ताश्चत्वार एव भेदाः आक्षिप्ते चौपम्ये तावन्त एव, एवं द्वादश। एते श्लेषेऽपि भवन्तीति चतुर्विंशतिर्भेदाः। क्रमेणोदाहरणम्—

(१ उत्कर्षनिमित्त की उक्ति में शब्द-साधर्म्य-प्रयोज्य अश्लिष्ट शब्दनिबन्धन व्यतिरेक)

असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे।
अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः॥ ४६३॥

अत्रैव तुच्छेति महाधृतेरित्यनयोः पर्यायेण युगपद्वाऽनुपादानेऽन्यत् भेदत्रयम्। एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम् अत्रेवशब्दस्य सद्भावाच्छाब्दमौपम्यम्।

---

(३) साधर्म्य के आक्षेप अथवा अभिव्यञ्जन होने से यह १२ प्रकार का हो जाता है (जिसमें शब्द अश्लिष्ट रहा करते हैं) और इन बारहों प्रकारों में यदि शब्द श्लिष्ट रहे तो इसके (श्लिष्टशब्द निबन्धन) बारह भेद और मिलाकर इसके २४ प्रकार हो जाते हैं।

यहां 'हेत्वोः उक्तौ' का तात्पर्य है–व्यतिरेक के जो हेतु हैं जैसे कि (१ ला) उपमेयगत व्यतिरेक (उत्कर्ष) के हेतु और (२ रा) उपमानगत व्यतिरेक (अपकर्ष) के हेतु-उन दोनों के स्पष्ट कथन का। 'अनुक्तीनां त्रये' का अभिप्राय है व्यतिरेक निमित्तों का तीन प्रकार से यदि अप्रतिपादन हो तब, जैसे कि किसी एक का अप्रतिपादन (जिसके दो प्रकार हैं जैसे कि) या तो केवल उत्कर्षनिमित्त का अप्रतिपादन या केवल अपकर्ष निमित्त का अप्रतिपादन और दोनों का ही अप्रतिपादन। इस प्रकार व्यतिरेक के (उत्कर्ष निमित्त की उक्ति के एक भेद और उसकी अनुक्ति के तीन भेदों को मिला कर) ये चारों भेद ऐसे हैं जिनमें उपमानोपमेयभाव उपमावाचक (इवादि शब्द द्वारा स्पष्ट प्रतिपादित हुआ करता है। यहीं यदि उपमानोपमेयभाव अर्थसामर्थ्य के द्वारा (तुल्यादि शब्द प्रयोग द्वारा, जहां औपम्य शब्द न होकर आर्थ हुआ करता है) प्रतिपादित रहे तो इसके चार भेद और हो गये। और यहीं चार प्रकार तब और हो गये जब उपमानोपमेय भाव (न तो शब्द–वाच्य हो और न अर्थलभ्य हो अपितु) आक्षेप के द्वारा–व्यञ्जना के द्वारा–प्रतीत हुआ करे। इस प्रकार (इन सब को मिला देने पर) इस (व्यतिरेक) के बारह भेद हुये (जहां यह स्पष्ट है कि शब्द श्लिष्ट नहीं हैं)। अब जब कि ये बारहों भेद वहां भी संभव हैं जहां श्लिष्ट शब्द का प्रयोग है तब (श्लिष्ट-शब्द–निबन्धन व्यतिरेक के १२ प्रकारों को मिला कर) इसके चौबीस (२४) भेद स्पष्ट हो गये। क्रमशः इनके उदाहरण दिये जा रहे हैं:—

'महाधीर किंवा खड्गमात्रसहाय इस राजा को, जब कि इसने अनेकों प्रबल शत्रुओं को पराजित किया, अन्य तुच्छ राज–गण की भांति कोई भी गर्व न हुआ!'

[यहां कोई भी शब्द श्लिष्ट नहीं, अरिपराभवरूप साधर्म्य शब्द–लभ्य है, उपमावाचक 'इव' शब्द के प्रयोग में उपमानोपमेयभाव शब्द-वाच्य है और साथ ही साथ है उपमेयगत उत्कर्ष (महाधैर्य) और उपमानगत अपकर्ष (तुच्छता) की उक्ति।]

इसी उदाहरण में यदि केवल तुच्छतारूप उपमानगत अपकर्ष की उक्ति न हो, या केवल महाधैर्यरूप उपमेयगत उत्कर्ष की उक्ति न रहे अथवा एक ही साथ इन दोनों (अर्थात् उत्कर्ष–हेतु और अपकर्ष–हेतु) का कथन न किया जाय तो व्यतिरेक-निमित्त की अनुक्ति के तीनों भेदों का लक्षण घटित हो जायगा। जैसे कि

(१) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में:—

'नान्यराजजनस्येव स्मयोऽस्य महाधृतेः।'

(२ उत्कर्ष निमित्त की उक्ति में आर्थ साधर्म्य-प्रयोज्य अश्लिष्ट शब्दनिबन्धन व्यतिरेक)

असिमात्रसहायोऽपि प्रभूतारिपराभवे ।
नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाधृतिः ॥ ४६४ ॥

अत्र तुल्यार्थे वतिरित्यार्थमौपम्यम् ।

(३ उत्कर्ष-हेतु की उक्ति में, व्यङ्ग्य साधर्म्य-प्रयोज्य, अश्लिष्ट शब्द-निबन्धन व्यतिरेक)

इयं सुनयना दासीकृततामरसश्रिया ।
आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ॥ ४६५ ॥

अत्रेवादितुल्यादिपदविरहेण आक्षिप्तैवोपमा ।

---

(२) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में :—

'अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महीपतेः ।'

(३) दोनों को अनुक्ति में :—

'नूनमन्यजनस्येव न स्मयोऽस्य महीपतेः ।'

आगे के उदाहरणों में भी यही बात (अर्थात् क्रमशः उत्कर्ष निमित्त के अनुपादान, अपकर्षनिमित्त के अनुपादान और एक ही साथ दोनों के अनुपादान की बात) देख कर अनुक्ति के तीन प्रकारों का (एक ही उदाहरण में) स्वरूप पहचान लेना चाहिये। उपर्युक्त उदाहरण में जो उपमानोपमेयभाव है वह शब्द-लभ्य है क्योंकि (उपमावाचक) 'इव' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

'यह महाधीर राजवीर, जो केवल अपने खड्ग का सहारा लिया करता है, अनेकों प्रबल शत्रुओं को पराजित करने में, अन्य तुच्छ राजगण के तुल्य कभी भी दर्पान्ध नहीं दिखाई देता ।'

[यहां शब्दों में श्लेष नहीं, अरिपराभवरूप साधर्म्य शब्द-प्रतिपाद्य है, उपमानगत अपकर्ष 'तुच्छत्व' और उपमेयगत उत्कर्ष 'महाधैर्य', जो व्यतिरेक के निमित्त हैं, स्पष्ट प्रतिपादित हैं और जो औपम्य है वह आर्थ-अर्थबललभ्य है क्योंकि 'अन्यतुच्छजनवत्' में जो 'वति' प्रत्यय प्रयुक्त है वह 'तुल्य' के अर्थ में विहित है ।]

यहां जो औपम्य-उपमानोपमेयभाव-है वह (शब्द-लभ्य नहीं अपितु) 'तुल्य' के अर्थ में 'वति' प्रत्यय के विधान होने के कारण आर्थ है-अर्थ सामर्थ्य के द्वारा प्रतीत होता है। (यहां भी पहले उदाहरण की भांति उत्कर्ष और अपकर्ष के हेतु की अनुक्ति में व्यतिरेक के तीन प्रकारों का स्वरूप स्वयं देख लेना चाहिये, जैसे कि:—

(१) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में:—

'नैवान्यराजजनवत् सगर्वोऽयं महाधृतिः ।'

(२) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में:—

'नैवान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः ।'

(३) दोनों की अनुक्ति में :—

'नूनं नैवान्यजनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः ।'

'यह सुनयना कमल को भी दास बना देने वाले अपने अकलङ्क (अत्यन्त सुन्दर) मुख से उस चन्द्र को तो पराजित कर ही दिया करती है जो कलङ्क-युक्त है ।'

[यहां भी कोई श्लिष्ट शब्द नहीं, उत्कर्ष और अपकर्ष के निमित्तों का भी अभिधान है किन्तु जो उपमानोपमेयभाव है वह आक्षिप्त-व्यङ्ग्य रखा गया है ।]

यहां जो औपम्य-उपमानोपमेयभाव-है वह आक्षिप्त-व्यङ्ग्य है क्योंकि यहां न तो इवादि शब्द का प्रयोग है (जहां साधर्म्य शब्द-लभ्य रहा करता है) और न तुल्यादि शब्द का (जहां साधर्म्य अर्थ-लभ्य हुआ करता है)। (यहां भी पहले उदाहरणों की भांति

(४ उत्कर्ष-निमित्त की उक्ति में, शाब्द-साम्य-प्रयोज्य, श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन व्यतिरेक)

जितेन्द्रियतया सम्यग्विद्यावृद्धनिषेविणः ।
अतिगाढगुणस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः ॥ ४६६ ॥

अत्रेवार्थे वतिः गुणशब्दः श्लिष्टः शाब्दमौपम्यम् ।

(५ उत्कर्षनिमित्त की उक्ति में आर्थ-साम्य-प्रयोज्य श्लिष्टशब्दनिबन्धन व्यतिरेक)

अखण्डमण्डलः श्रीमान् पश्यैष पृथिवीपतिः ।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥ ४६७ ॥

व्यतिरेक-निमित्त की अनुक्ति के तीन प्रकारों को स्वयं समझ लेना चाहिये। जैसे कि

(१) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में :—

'आननेनाकलङ्केन जयत्यमृतदीधितिम् ।'

(२) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में :—

'आननेन मनोज्ञेन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ।'

(३) दोनों की अनुक्ति में :—

'आननेन मनोज्ञेन जयत्यमृतदीधितम् ।')

'जितेन्द्रिय होने के कारण विद्यावृद्धों—बड़े-बड़े विद्वानों—के सत्संग में लगे और अत्यन्त प्रबल (धैर्यादि) गुणों वाले (बलवान् तन्तुओं से बने) इस (राजा के जो गुण 'तन्तुसंघात' हैं (जैसे कि विद्या, बुद्धि आदि) वे कमल की भांति क्षणभंगुर नहीं (अपितु दृढ़ हैं ।)

[यहां 'गुण' शब्द श्लिष्ट शब्द है, उपमानगत अपकर्ष जैसे कि भङ्गुरता और उपमेयगत उत्कर्ष जैसे कि दृढ़ता-दोनों का उपादान है और 'इव' के अर्थ में 'वति' प्रत्यय भी 'अब्जवत्' में प्रयुक्त है जिससे साम्य यहां शब्द-लभ्य प्रतीत हो रहा है। यहां भी व्यतिरेक-निमित्त की अनुक्ति के तीनों प्रकारों का स्वरूप यथास्थान पद-परिवर्तन के द्वारा स्वयं देखा जा सकता है। जैसे कि—

(१) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में :—

'अतिगाढगुणस्यास्य न तामरसवद्गुणाः ।'

(२) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में :—

'सत्कर्मनिरतस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुराः गुणाः ।'

(३) इन दोनों की अनुक्ति में :—

'सत्कर्मनिरतस्यास्य न तामरसवद्गुणाः ।']

यहां जो उपमानोपमेयभाव है वह शब्द-वाच्य है क्योंकि यहां (जैसे कि अब्जवत् में) जो 'वति' प्रत्यय विहित है वह 'इव' शब्द के अभिप्राय में विहित है। 'गुण' शब्द यहां श्लिष्ट शब्द है (जिससे यहां जो व्यतिरेकालंकार है वह श्लिष्ट शब्द-निबन्धन है)।

'देखिये कितने आश्चर्य की बात है कि अखण्ड मण्डल (द्वादशविध राजमण्डल से समृद्ध किंवा पूर्ण-बिम्ब) किंवा श्रीसम्पन्न (राज्यश्री से समन्वित तथा शोभायुक्त) यह राजा कभी भी चन्द्रमा की भांति कला-विकल (ललित कलाओं के ज्ञान से रहित तथा षोडश कलाओं से शून्य) नहीं हुआ करता !'

[यहां व्यतिरेक के हेतुओं का अभिधान है क्योंकि उपमेय 'राज' गत उत्कर्ष अखण्ड मण्डलता तथा उपमान 'चन्द्र'गत अपकर्ष-कला-विकलता दोनों का कथन किया गया है, श्लिष्ट 'कला' शब्द का प्रयोग है और जो उपमानोपमेयभाव है वह अर्थ-लभ्य रखा गया है ।]

अत्र तुल्यार्थे वतिः कलाशब्दः श्लिष्टः ।

मालाप्रतिवस्तूपमावत् मालाव्यतिरेकोऽपि सम्भवति तस्यापि भेदा एवमूह्याः दिङ्मात्रमुदाह्रियते यथा—

हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः ।
रविवन्न चातिदुःसहकरतापितभूः कदाचिदसि ॥ ४६८ ॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः विषमादयश्च शब्दाः श्लिष्टाः ।

नित्योदितप्रतापेन त्रियामामीलितप्रभः ।
भास्वताऽनेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥ ४६९ ॥

यहां 'निशाकरवत्' में जो 'वति' प्रत्यय प्रयुक्त है वह 'तुल्य' के अर्थ में है (जिससे यहां औपम्य शाब्द नहीं अपितु अर्थ-लभ्य है) और जो 'कला' शब्द प्रयुक्त है वह श्लिष्ट शब्द है (जिससे यहां व्यतिरेक, श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन बन रहा है)। यहां भी व्यतिरेक-निमित्त की अनुक्ति के तीनों भेदों को स्वयं विचारपूर्वक देख लेना चाहिये। जैसा कि:—

(१) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में:—

'अखण्डमण्डलो ह्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः । न निशाकरवज्जातु दृश्यतां वसुधाधिपः ॥'

(२) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में:—

'बहुलारिगतोऽप्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः । न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥'

(३) दोनों की अनुक्ति में:—

'बहुलारिगतोऽप्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः । न निशाकरवज्जातु दृश्यतां वसुधाधिपः ॥'

इसी व्यतिरेक का, मालाप्रतिवस्तूपमा की भांति, मालाव्यतिरेकरूप भी संभव है और उसके जो भेद-प्रभेद हैं उन्हें स्वयं समझ लेना चाहिये। केवल निदर्शन के लिये यही पर्याप्त है, जैसे कि:—

'महाराज ! आप (अद्भुत हैं क्योंकि) महादेव के समान विषमदृष्टि (त्रिलोचन तथा असमदर्शी) नहीं, विष्णु भगवान् के समान 'विधूतविततवृष'-(अरिष्टासुरहन्ता तथा अधर्मपरायण) नहीं और न सूर्य के समान 'अतिदुःसहकरतापितभू'-(असह्य उष्णकिरणों से पृथिवी को संताप पहुँचाने वाले तथा असह्य राज-कर से प्रजाजन को दुःखित करने वाले) हैं।'

यहां (हरवत्, हरिवत् और रविवत् प्रयोगों में) जो 'वति' प्रत्यय है वह 'तुल्य' के अर्थ में विहित है (जिससे औपम्य शाब्द न होकर आर्थ हो गया है) और 'विषम' आदि जो शब्द हैं वे श्लिष्ट शब्द हैं (जिनके कारण यहां श्लिष्टशब्दनिबन्धन मालाव्यतिरेक का स्वरूप झलक रहा है)।

इस उदाहरण (अर्थात् उत्कर्ष-हेतु की उक्ति में, व्यङ्ग्य-साम्य-प्रयोज्य, श्लिष्टशब्द-निबन्धन व्यतिरेक के उदाहरण) जैसे कि:—

'तेजस्वी किंवा सूर्यरूप इस राजा ने, जिसमें पराक्रम किंवा प्रखरताप निरन्तर विराजमान है, उस (आकाशवर्ती) सूर्य को जीत रखा है जिसकी प्रभा रात में प्रायः नष्ट रहा करती है।'

[यहां 'भास्वता' तथा 'प्रताप' शब्द श्लिष्ट हैं, व्यतिरेक के दोनों निमित्त जैसे कि उपमानगत अपकर्ष-रात में सूर्यरश्मियों का नष्टप्राय हो जाना और उपमेयगत प्रकर्ष-नित्योदित प्रताप स्पष्ट निर्दिष्ट हैं। यहां भी, पहले की भांति, व्यतिरेक-निमित्त की अनुक्ति में जो तीन व्यतिरेक-भेद हैं उनका स्वरूप देखा जा सकता है। जैसे कि (१) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में—

'नित्योदितप्रतापेन पंकजावलिनन्दनः । भास्वतानेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥'

अत्र ह्याक्षिप्तैवोपमा भास्वतेति श्लिष्टः ।

यथा वा—

स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुबिम्बं
बिम्बप्रभाधरमकृत्रिमहृद्यगन्धम् ।
यूनामतीव पिबतां रजनीषु यत्र
तृष्णां जहार मधु नाननमङ्गनानाम् ॥ ४७० ॥

अत्रेवादीनां तुल्यादीनां च पदानामभावेऽपि श्लिष्टविशेषणैराक्षिप्तैवोपमा प्रतीयते एवञ्जातीयकाः श्लिष्टोक्तियोग्यस्य पदस्य पृथगुपादानेऽन्येऽपि भेदाः सम्भवन्ति तेऽप्यनयैव दिशा द्रष्टव्याः ।

---

(२) उपमेयगत प्रकर्ष की अनुक्ति में—
'समरासक्तमनसा त्रियामामीलितप्रभः । भास्वतानेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥'

(३) इन दोनों व्यतिरेक-निमित्तों की अनुक्ति में—
'समरासक्तमनसा पंकजावलिनन्दनः । भास्वतानेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥']
में जो उपमानोपमेयभाव है वह (न तो शब्द-प्रतिपाद्य है और न अर्थसामर्थ्यलभ्य, अपितु) आक्षिप्त-व्यङ्ग्य है और 'भास्वता' पद ऐसा है जो श्लिष्ट है (क्योंकि इसके कान्तिसम्पन्न और सूर्य दोनों अर्थ वाच्यरूप से यहां अभिप्रेत हैं)।

अथवा यहां जैसे कि—'यही वह वसन्त है जब रात्रियों में पान-क्रीडासक्त प्रेमी युवकों की मधुपान-लालसा तो अपनी निर्मलता के कारण अपने में चन्द्रबिम्ब को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ, अत्यन्त रक्तवर्ण किंवा स्वाभाविक सौरभ से मनोहर मद्य के द्वारा दूर कर दी जाया करती है किन्तु उनकी अधरपान-लालसा को युवतियों के वे मुख नहीं दूर कर पाते जो अत्यन्त सुन्दर होने के कारण पूर्णचन्द्र की भांति मनोरम, बिम्बाधरयुक्त किंवा बिना किसी मुखवास आदि के ही एक नैसर्गिक सुगन्ध से भरे रहा करते हैं ।'
में न तो इवादि पदों का (जहां औपम्य शाब्द हुआ करता है) प्रयोग है और न तुल्यादि पदों का ही (जिनमें औपम्य आर्थ रहा करता है)। यहां जो उपमानोपमेयभाव है वह श्लिष्टविशेषणपदों के द्वारा आक्षिप्त-व्यङ्ग्यरूप से प्रतीत हो रहा है ।

इस प्रकार के व्यतिरेक के अन्य भी भेद-प्रभेद संभव हैं जिनमें श्लिष्टार्थकपद पृथक् पृथक् रूप से (जैसे कि केवल उपमान के विशेषण के रूप से अथवा केवल उपमेय के विशेषण के रूप से) प्रयुक्त हुआ करें। इन भेद-प्रभेदों के उदाहरण इसी (पूर्वप्रतिपादित) दृष्टि से स्वयं ढूंढे जा सकते हैं ।

टिप्पणी—'व्यतिरेक' के स्वरूप और भेद—निरूपण में मम्मट ने प्राचीन आलङ्कारिकों की अपेक्षा एक भिन्न दृष्टि रखी है। 'भामह' का 'व्यतिरेक' इस रूप का था—
'उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम् । व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा ॥
(काव्यालंकार २. ७५)
जिसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय में 'विशेषापादन'-अपेक्षित था। दण्डी ने 'व्यतिरेक' का यह स्वरूप देखा था—
'शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः । तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥'
(काव्यादर्श २. १८०)
जिसमें उपमेय का स्पष्टतः उत्कर्षापादन और उपमान का यथाकथञ्चित् अपकर्षापादन—दोनों अभिप्रेत थे। उद्भट ने व्यतिरेक में स्पष्टतया उपमान और उपमेय दोनों के विशेषापादन का उल्लेख किया था—

(१८ आक्षेप अलंकार और उसके भेद)

(१६१) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥ १०६ ॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।

विवक्षितस्य प्राकरणिकत्वादनुपसर्जनीकार्यस्य अशक्यवक्तव्यत्वमतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति द्विधा आक्षेपः ।

'विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययोः । निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा तु सः ॥'
(काव्यालंकारसारसंग्रह २.६)

'रुद्रट' की दृष्टि में 'व्यतिरेक' अलंकार की रूप-रेखा में उपमेय किं वा उपमान दोनों के यथासंभव आधिक्य का वर्णन अभीष्ट था–जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट है :—

(१) यो गुण उपमेये स्यात्तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने ।
व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरुतः ॥ (काव्यालंकार ७. ८६)
(२) यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये ।
भवतो यत्र समस्तौ व्यतिरेकोऽयमन्यस्तु ॥'

रुय्यक ने भी रुद्रट की ही भांति व्यतिरेक का यही लक्षण निर्धारित किया था—

'भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।'

किन्तु मम्मट ने इस प्राचीन दृष्टि के वदले अपनी नवीन दृष्टि रखी और 'व्यतिरेक' में उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य अथवा उत्कर्ष के आपादन का ही निर्धारण किया और इसी की विविध संभावनाओं जैसे कि उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष के निमित्तों के उपादान और अनुपादान आदि के विश्लेषण के आधार पर व्यतिरेक का २४ प्रकार वताया। राजानक तिलक ने अपनी काव्यालंकारसारसंग्रहविवृति में मम्मट का ही अनुसरण करते हुये व्यतिरेक का स्वरूप तथा प्रकार–विवेचन किया । मम्मट ने 'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी' आदि में रुद्रट–निर्दिष्ट 'उपमानाधिक्य'रूप व्यतिरेक का ही खण्डन किया और संभवतः इस खण्डन में ही उन्हें व्यतिरेक-निरूपण की नयी प्रेरणा भी मिली ।

अनुवाद—**'निषेध' वह अलंकार है जिसमें किसी विशेष बात की विवक्षा (जैसे कि जिस वस्तु का वर्णन करना है उसके वर्णन की अशक्यता अथवा जिस वस्तु का वर्णन किया जा चुका हो उसकी अत्यन्त प्रसिद्धि) की दृष्टि से, उस विषय का वर्णन निषिद्ध किया जाय जो प्राकरणिक होने के कारण वर्णन के योग्य हो (अथवा वर्णन के अयोग्य ही क्यों न हो)। यह आक्षेप दो प्रकार का हुआ करता है—(१ला) वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप और (२रा) उक्तविषयक आक्षेप ।**

यहां 'निषेध' का अभिप्राय वस्तुतः निषेध नहीं अपितु निषेध का आभास है (क्योंकि आपाततः यहां जो निषेध की प्रतीति होती है वह अन्त में एक विशेष उद्देश्य के लिये, विधि के रूप में ही परिणत हो जाती है ।) 'वक्तुमिष्टस्य' का तात्पर्य है उस विषय का जो विवक्षित हो, प्राकरणिक–प्रस्तुत होने के कारण ऐसा हो जिसकी उपेक्षा न की जा सके, 'विशेषाभिधित्सया' का अर्थ है किसी विशेष उद्देश्य के प्रकट करने की इच्छा से और यहां जो विशेष उद्देश्य है वह या तो किसी कारणवश किसी विषय के वर्णन का अशक्य–असंभाव्य होना है या किसी विषय का अत्यधिक प्रसिद्ध होना है (जिससे उसके कथन की आवश्यकता नहीं)। यह इस प्रकार का निषेध दो रूपों में हो सकता है—(१ला) वक्ष्यमाण–विषय–निषेध (जिसमें विशेष उद्देश्य 'अशक्यवक्तव्यता'–वर्णन की असंभाव्यता है। और (२रा) उक्तविषयनिषेध (जिसमें विशेष उद्देश्य 'अतिप्रसिद्धि' वर्णनीय विषय की सर्वजनसंवेद्यता है)। 'आक्षेप' अलंकार के जो दो प्रकार हैं (अर्थात् वक्ष्यमाण

क्रमेणोदाहरणम्—

ए एहिं किंपि कीएवि कएण णिक्किव भणामि अलमहवा।
अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सम्॥ ४७१॥
(ए एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप ! भणामि अलमथवा।
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि॥ ४७१॥)

ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः
कर्पूरं कदली मृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः।
अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिंगोत्कर-
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे॥ ४७२॥

(१९ विभावना अलंकार)

(१६२) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना॥ १०७॥

विषयक आक्षेप और उक्तविषयक आक्षेप) वे निषेध के इन दो रूपों के ही कारण हैं। क्रमशः आक्षेप के (द्विविध भेदों के) ये उदाहरण हैं:—

(१) 'अरे निठुर ! यहां तो आओ, मुझे तुमसे किसी के लिये कुछ कहना है, या रहने दो तुमसे यह सब क्या कहूं ! बिना कुछ सोचे-समझे मनमाना करने वाली, अच्छा है, यही मर जाय !'

[यहां विरहिणी नायिका का विरह-दुःख वर्णन का विषय अवश्य है किन्तु इसका वर्णन किया जाना निषिद्ध कर दिया गया है और ऐसा इसलिये जिससे इसकी मर्मान्तिकता की अभिव्यक्ति हो जाय। यहां निषेध में जो उद्देश्य-विशेष छिपा है वह है विरहिणी की विरहपीडा के मर्मान्तक होने के कारण उसके वर्णन की अशक्यता (अशक्यवक्तव्यता) और इसलिये यहां जो आक्षेप है वह वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप है।]

(२) 'क्या चांदनी, क्या मौक्तिकमाला, क्या चन्दनलेप, क्या चन्द्रकान्तमणिशीतल जल, क्या घनसार, क्या कदली, क्या मृणालमलय और क्या कमलदल—अरे ये सब के सब, उस (नायिका) के लिये, जिसके हृदय में तुम आ विराजे हो (और जिसे इस प्रकार संतप्त कर रहे हो), केवल आग की चिनगारिओं का ही काम करते दीख पड़ रहे हैं। ओह ! इन सब बातों से क्या ! अच्छा है मैं कुछ न कहूं !'

[यहां विरह-वेदना में चांदनी आदि से संतप्त होने का वर्णन करके भी जो इस वर्णन का निषेध किया जा रहा है वह उक्तविषयक निषेध है क्योंकि विरहिणी के लिये इन वस्तुओं से संतप्त होना सर्वजनविदित है—अतिप्रसिद्ध है। इसलिये यहां जो आक्षेप है वह उक्तविषयक आक्षेप है।]

टिप्पणी—मम्मट का आक्षेप-लक्षण भामह (काव्यलङ्कार २.६८) और उद्भट (काव्यालंकारसार संग्रह २.२) के आक्षेप-लक्षण का अनुसरण करता है। उद्भट ने आक्षेप अलंकार का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा॥'

जिसका अभिप्राय यह है कि कवियों की एक ऐसी भी भङ्गीभणिति-विचित्र उक्ति-हुआ करती है जिसमें वह अर्थ, जिसका विधान करना आवश्यक हो, एक ऐसे निषेध के व्याज से वर्णित किया जाता है कि निषेध होने पर भी अन्त में विधिरूप में ही परिणत हो जाया करता है और इस प्रकार एक चमत्कार का जनक बन जाता है। यद्यपि मम्मट की कारिका में 'निषेध' का स्पष्ट उल्लेख है किन्तु वृत्ति में 'निषेधो निषेध इव' कहकर निषेध को निषेधाभास के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि बिना इसके 'आक्षेप' का अलंकार-वाच्यवैचित्र्य होना असंभव ही है।

अनुवाद—**'विभावना' वह अलंकार है जिसमें क्रिया (क्रियतेऽनयेति क्रिया कारणम्)**

हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना यथा—

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्तरुजमलिकुलैरदष्टाऽपि।
परिवर्त्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा ॥ ४७३ ॥

(२० विशेषोक्ति अलङ्कार)

(१६३) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।

(विशेषोक्ति के तीन भेद)

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः। अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च।

अर्थात् किसी (प्रसिद्ध) कारण का प्रतिषेध करके भी (उसके फलस्वरूप) कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय।

यहां 'क्रियायाः' का अभिप्राय है (उस क्रिया का नहीं, जो कि धातु का अर्थरूप हुआ करती है अपितु) हेतुरूप क्रिया का (जैसा कि वैयाकरणों का मत है)। इस प्रकार इस हेतुरूप क्रिया के निषेध अथवा प्रतिषेध के होने पर भी जो उसके फल-उसके कार्य-का प्रकाशन है वह विभावना (प्रसिद्ध कारण के निषेध में कारणान्तर की कल्पना-विभाव्यते कल्प्यते कारणमस्यामिति विभावना) है। जैसे किः—

'वह (विरहिणी) कुसुमित लता की चोट के बिना ही पीडित होती रही, भ्रमरों के काटने के बिना ही लोट-पोट जाती रही, और नलिनी-पत्र की (मन्द-समीर की) लहरियों के बिना ही चकरा जाती रही।'

[यहां पीडा के हेतु लता के आघात, लोट-पोट के हेतु भ्रमर के दंश और चकरा जाने के हेतु नलिनी-लहरियों के अभाव में भी जो इन हेतुओं के पीडा आदि फलों का प्रकाशन है वह इसलिये विभावना है क्योंकि इससे विरहाधिक्यरूप हेतु की कल्पना हो जाती है।]

टिप्पणी—काव्यप्रकाशकार ने विभावना की जो परिभाषा की है उस पर भामह और उद्भट (काव्यालंकारसारसंग्रह २.९) की इस परिभाषा अर्थात्—

'क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवाऽसौ समाधौ सुलभे सति ॥'

का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का जो वर्णन है वह वस्तुतः एक ऐसी भावना अथवा उत्पत्ति का वर्णन है जो कि आपाततः विरुद्ध सा आभासित होता है।

अनुवाद—'विशेषोक्ति' वह अलंकार है जिसमें समस्त प्रसिद्ध कारण के सद्भाव में भी उसके फल-उसके कार्य-का असद्भाव वर्णित हो।

यहां 'अखण्ड' का अभिप्राय है 'सम्मिलित' अथवा समस्त का। और ऐसे कारणों के (वस्तुतः कारण के क्योंकि यहां बहुवचन विवक्षित नहीं, जैसा कि कहा गया है—सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्) रहने पर भी कार्य के न होने का जो कथन है वह विशेषोक्ति (किसी विशेष बात की उक्ति या किसी विशेष प्रकार की उक्ति) है। (कारण के होने पर भी कार्य के न होने का जो कथन है उसके तीन निमित्त हैं जिनके कारण) यह 'विशेषोक्ति' तीन प्रकार की हुआ करती है-१ली-अनुक्तनिमित्ता (वह, जिसमें प्रकरण आदि के द्वारा अज्ञात निमित्त का अकथन हो), २री-उक्तनिमित्ता (वह, जिसमें निमित्त का कथन कर दिया जाय) और ३री-अचिन्त्यनिमित्ता (वह, जिसमें निमित्त ऐसा हो जो अचिन्त्य रहे)। इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति)

निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते ।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजंगे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ॥ ४७४ ॥

(२ उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति)

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥ ४७५ ॥

(३ अचित्यनिमित्ता विशेषोक्ति)

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरताऽपि तनुं यस्य शंभुना न बलं हृतम् ॥ ४७६ ॥

(२१ यथासंख्य अलङ्कार)

(१६४) यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥ १०८ ॥

'वह नायिका नींद के टूटने पर भी, भगवान् सूर्य के उदित होने पर भी, सखियों के शयन-मन्दिर के द्वार पर पहुचने पर भी और आलिङ्गन के आनन्द में अपने प्रेमी के ढीले पड़ जाने पर भी, ऐसा न कर पायी कि आलिङ्गन करना छोड़ दे।'

[यहां आलिङ्गन के परित्याग के कारण जैसे कि निद्रा-भंग, सूर्योदय आदि के सद्भाव में भी आलिङ्गन-परित्याग-रूप कार्य के अभाव का कथन है जिसमें विशेषोक्ति अलङ्कार है। यह विशेषोक्ति अनुक्तनिमित्ता यहां इसलिये है क्योंकि अनुरागाधिक्यरूप निमित्त की यहां उक्ति नहीं है।]

'उस अकुण्ठितशक्ति मकरकेतन (कामदेव) को नमस्कार है जो कपूर की भांति (भगवान् शिव की नेत्र-वह्नि में) जल जाने पर भी सर्वत्र जन-जन में अपनी शक्ति से व्याप्त हैं।'

[कविराज राजशेखर की इस उक्ति (बालरामायण ३य अङ्क) में उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है क्योंकि शक्तिध्वंस के कारण शरीरदाह के होने पर भी शक्तिध्वंसरूप कार्य का अभाव वर्णित है और इस वर्णन का निमित्त भी यहां प्रतिपादित है जो कि काम की अवार्यवीर्यता-अकुण्डितशक्ति है।]

'तीनों लोकों को वही अकेला कुसुमायुध (कामदेव) जीता करता है जिसके शरीर का नाश कर देने वाले भी शिव ने बल का नाश नहीं किया।'

[यहां बलनाश के कारण शरीर-नाश के सद्भाव में भी बलनाशरूप कार्य का अभाव वर्णित है जिसका निमित्त अचिन्त्य है। इसलिये यहां अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति है।]

टिप्पणी—भामह और उद्भट ने 'विशेषोक्ति' की जो समीक्षा की है वह इस प्रकार है—

'यत्सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम्। विशेषस्याभिधित्सातस्तद्विशेषोक्तिरुच्यते ॥'

यहां जो शक्तियों का (कारकशक्तियों का) सामग्र्य अथवा सामस्त्य है वही मम्मट की कारिका में कारणों की अखण्डता (अखण्डेषु कारणेषु) है।

अनुवाद—'यथासंख्य' वह अलङ्कार है जिसमें पदार्थों का, जिस क्रम से वे उपनिबद्ध हों, उसी क्रम से (आगे उपनिबद्ध होने वाले पदार्थों के साथ) समन्वय अथवा सम्बन्ध हुआ करता है। (जैसे पहले निर्दिष्ट प्रथम पदार्थ का, बादमें निर्दिष्ट प्रथम पदार्थ से दूसरे का दूसरे से आदि)।

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव ! द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ।
तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन्
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥ ४७७ ॥

(२२ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार और उसके चार प्रकार)

(१६५) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥ १०६ ॥

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत् समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ साधर्म्य हेतु के द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन)

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शंखमपि पीतम् ॥ ४७८ ॥

जैसे कि—'महाराज ! एक ही आप, कितने आश्चर्य की बात है कि शत्रुओं, विद्वानों और रमणियों के हृदय में अपने प्रखर पराक्रम विनय और विलास के द्वारा सन्ताप, आनन्द और प्रेम उत्पन्न करते हुये विराजमान रहा करते हैं ।'

टिप्पणी—'यथासंख्य' को अलंकार इसीलिये माना गया है क्योंकि यहां पहले-पीछे वर्णन किये गये पदार्थों के यथाक्रम सम्बन्ध में एक वैचित्र्य प्रतीत हुआ करता है। वैसे यहां कवि-प्रतिभा का कोई हाथ नहीं, यहां जो कुछ भी है वह केवल एक बाह्य वैचित्र्य का अनुभव है जो कि रचना-कौशल का परिणाम है। यहां पदार्थों में किसी प्रकार का उपमानोपमेयभाव विवक्षित नहीं। इसीलिये उद्भट ने कहा है—

भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् । क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते ॥
(काव्यालङ्कारसारसंग्रह ३·२)

अनुवाद—'अर्थान्तरन्यास' वह अलंकार है जिसे साधर्म्य और वैधर्म्य की दृष्टि से 'सामान्य' का विशेष द्वारा और विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन अथवा उपपादन कहते हैं। (सामान्य का साधर्म्य द्वारा विशेष से समर्थन, सामान्य का वैधर्म्य द्वारा विशेष से समर्थन, विशेष का साधर्म्य द्वारा सामान्य से समर्थन और विशेष का वैधर्म्य द्वारा सामान्य से समर्थन–इस प्रकार दोनों समर्थन हेतुओं के दोनों प्रकारों के समर्थनों में अनुगत होने के कारण यह अर्थान्तरन्यास चार प्रकार का हुआ करता है)।

यहां 'साधर्म्य' और साधर्म्य से इतर अर्थात् 'वैधर्म्य' का अभिप्राय है समानधर्मता और विरुद्धधर्मता का। 'अर्थान्तरन्यास' का तात्पर्य है साधर्म्यरूप समर्थन हेतु अथवा वैधर्म्यरूप समर्थन हेतु के द्वारा 'सामान्य' का 'विशेष' से समर्थन और 'विशेष' का 'सामान्य' से समर्थन किया जाना। क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

'अपने ही दोषों से जिनका मन आक्रान्त है उन्हें सुन्दर से सुन्दर भी वस्तु बुरी ही लगा करती है। उस मनुष्यको, जिसके शरीर में पित्त का उपद्रव बढ़ा रहता है' चन्द्रमा की भांति श्वेत शङ्ख भी पीला ही दिखाई दिया करता है।

[यहां 'अपने ही दोषों से······लगा करती है' इत्यादि एक सामान्य विषय है जिसकी उपपत्ति के लिये 'उस मनुष्य को······दिखाई दिया करता है' इत्यादि रूप एक अन्य विशेष अर्थ का न्यास किया गया है। यहां जो समर्थन-हेतु है वह साधर्म्य है।]

(२ साधर्म्य हेतु के द्वारा 'सामान्य' से 'विशेष' का समर्थन)

सुसितवसनालंकारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशंका क नासि शुभप्रदः ॥ ४७९ ॥

(३ वैधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन)

गुणानामेव दौरात्म्यात् धुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः ॥ ४८० ॥

(४ वैधर्म्य के द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन)

अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥ ४८१ ॥

'महाराज ! कभी ऐसा हुआ कि चांदनी के छिटकते कोई श्वेतवसाना किं वा उज्ज्वल आभरणों से सजी नायिका अभिसार के लिये निकली और मार्ग में ही चांद डूब गया किन्तु जैसे ही किसी ने आपका कीर्तिगान गाया कि (चारों ओर चांदनी देख) वह नायिका निःशङ्क होकर अपने प्रियतम के घर पहुंच गयी–भला कहां और कब आप लोगों के लिये कल्याणकारी नहीं !'

[यहां 'सुसितवसनालङ्कारायाम्' आदि में एक विशेष विषय का अभिधान किया जा रहा है जिसे 'क नासि शुभप्रदः' इत्यादि एक सामान्य विषय से समर्थित किया गया है। यहां जो समर्थन हेतु है वह 'समानधर्मता' है।]

'यह तो गुणों का अपराध है कि कार्यकुशल मनुष्य ही कार्य में नियुक्त किया जाता है क्योंकि जो बैल, जुआ रखते ही बैठ जाता है वह भला आराम से क्यों नहीं सोवे और उसके कंधे पर जुए का चिन्ह क्यों कर हो !'

[यहां 'धुरि धुर्यो नियोज्यते' इत्यादि एक सामान्य विषय के रूप में प्रतिपादित है जिसका समर्थन 'सुखं स्वपित्ति गौर्गलिः' इस विशेष विषय के द्वारा, वैधर्म्य की दृष्टि से किया जा रहा है।]

'ओह ! यह तो मेरे दीर्घजीवी होने का ही पाप है कि ऐसी अप्रिय बात मुझे ही कहनी पड़े। सचमुच वे ही लोग धन्य हैं जो इस संसार में अपने मित्र का दुःख देखने के पहले ही मर चुके होते हैं।'

[यहां 'त एव धन्याः' इत्यादि रूप सामान्य विषय द्वारा 'अहो हि में बह्वपराद्धमायुषा' इत्यादि रूप एक विशेष विषय का समर्थन किया जा रहा है। यहां जो समर्थन-हेतु है वह वैधर्म्य रूप है।]

टिप्पणी—'अर्थान्तरन्यास' का अभिप्राय है अनुपपन्न होने के कारण सम्भाव्यमान एक अर्थ की उपपत्ति के लिये किसी दूसरे अर्थ का न्यास अथवा स्थापन करना। यहां दो अर्थों में जो परस्पर सम्बन्ध है वह समर्थ्य-समर्थकभावरूप सम्बन्ध है। समर्थ्य-समर्थकभावरूप सम्बन्ध तो 'दृष्टान्त' अलङ्कार में भी है किन्तु वहां सामान्य का समर्थन सामान्य से और विशेष का समर्थन विशेष से हुआ करता है। 'अर्थान्तरन्यास' में ऐसी बात नहीं क्योंकि यहां सामान्य का समर्थन विशेष से और विशेष का समर्थन सामान्य से किया जाता है। 'काव्यलिङ्ग' अलंकार में भी दो अर्थों में समर्थ्य-समर्थक भाव रहा करता है किन्तु यहां कार्य का समर्थन कारण से और कारण का समर्थन कार्य से किया जाया करता है। विवरणकारने इसीलिये ऐसा कहा है—

'अनुपपद्यमानतया संभाव्यमानयोः सामान्यविशेषयोरुपपादनार्थं तयोरन्यतररूपोदाहरणोपन्यासः अर्थान्तरन्यासः। कार्यकारणयोः परस्परं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावविरहात् नैव

(२३ विरोध-विरोधाभास अलंकार)

(१६६) विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः ।

(विरोधाभास के १० भेद)

(१६७) जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणस्त्रिभिः ॥ ११० ॥

क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।

क्रमेणोदाहरणम्—

अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः ।
सुभग ! कुरंगदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥ ४८२ ॥

तयोः समर्थ्य-समर्थकभावः सम्भवतीति न तत्कृत प्रभेदः स्वीकृतः । अर्थात् 'अर्थान्तरन्यास' वस्तुतः सामान्य अथवा विशेष अर्थ की उपपत्ति के लिये दृष्टान्त का उपन्यास है । यहां कार्य की उपपत्ति का समर्थन कारण से और कारण की उपपत्ति का समर्थन कार्य से इसलिये अभिप्रेत नहीं क्योंकि कार्य और कारण में वह सम्बन्ध नहीं हो सकता जो दार्ष्टान्तिक और दृष्टान्त में हुआ करता है । 'अर्थान्तरन्यास' में जो बात है वह कवि की कल्पना के द्वारा किसी वस्तु की ऐसी काव्यात्मक सिद्धि है जिसमें 'व्याप्ति' और 'पक्षसत्त्व' के प्रतिपादन की इसलिये कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि कवि के दिये दृष्टान्त में ही ये अन्तर्व्याप्त रहा करते हैं ।

अनुवाद—'विरोध' (विरोधाभास) वह अलंकार है जहां दो वस्तुओं का, उन में वस्तुतः किसी प्रकार के विरोध के न होने पर भी, ऐसा वर्णन किया जाय जिससे उनमें विरोध की प्रतीति उत्पन्न हो जाय ।

यहां 'अविरोधेऽपि'–'अविरोध में भी' का तात्पर्य है वस्तु स्थिति की दृष्टि से किसी प्रकार के विरोध के न रहने पर भी । 'विरुद्धत्वेन यद्वचः' का अभिप्राय है दो (अविरुद्ध भी) वस्तुओं का ऐसा प्रतिपादन मानो वे परस्पर विरुद्ध हों । इस प्रकार 'विरोध' कहते हैं वस्तुतः अविरुद्ध वस्तुओं का ऐसा वर्णन जिसमें विरोध का आभास अथवा प्रतिभास मिला करे ।

वस्तुओं में ये १० प्रकार के विरोध संभव है (जिनके कारण विरोधाभास १० प्रकार का हुआ करता है):—

१. जाति का जाति से विरोध
२. जाति का गुण से विरोध
३. जाति का क्रिया से विरोध
४. जाति का द्रव्य से विरोध
५. गुण का गुण से विरोध
६. गुण का क्रिया से विरोध
७. गुण का द्रव्य से विरोध
८. क्रिया का क्रिया से विरोध
९. क्रिया का द्रव्य से विरोध
१०. द्रव्य का द्रव्य से विरोध

इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

१ (जाति का जाति से विरोध-प्रतिभास) अरे प्रेमी युवक ! दुर्भाग्यवश तुम्हारे वियोग के वज्रपात में इस मृगनयनी के लिये कोमल कमलिनी के किशलय और मृणाल के वलय इत्यादि सभी के सभी दावाग्निपुंज हो रहे हैं ।'

[यहां 'नलिनीपल्लव' आदि में नलिनीपल्लवता आदि रूप जाति का 'दावाग्नि' में अनुगत 'दावाग्नित्व' रूप जातिभूत धर्म से विरोध है और इस प्रकार नलिनीपल्लव आदि दावाग्नि नहीं हो सकते किन्तु विरह की उद्दीपकता के कारण यहां परस्पर विरुद्ध जातिओं का उपचारतः विरोध दूर किया जारहा है जिससे विरोधाभास की प्रतीति हो जाती है । यहां 'रूपक' का भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि रूपक के प्रसङ्ग जैसे कि 'मुखं चन्द्रः'

(२ जाति का गुण से विरोध)

गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यगम्भीराः।
विश्वंभराऽप्यतिलघुर्नरनाथ ! तवान्तिके नियतम् ॥ ४८३ ॥

(३ जाति का क्रिया से विरोध)

येषां कण्ठपरिग्रहप्रणयितां संप्राप्य धाराधर-
स्तीक्ष्णः सोऽप्यनुरज्यते च कमपि स्नेहं पराप्नोति च।
तेषां संगरसंगसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते !
पांसूनां पटलैः प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम् ॥ ४८४ ॥

(४ जाति का द्रव्य से विरोध)

सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम्।
अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥ ४८५ ॥

(५ गुण का गुण से विरोध)

सततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते !।
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥ ४८६ ॥

इत्यादि में चन्द्र और मुख में जो अभेद है वह चमत्कारजनक है। विरोधाभास में जैसे कि 'अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि द्रवदहनराशिः' जैसे प्रसङ्ग में जो चमत्कार है वह अभेद में नहीं अपि तु अभेद से उत्थापित विरोध के प्रतिभास में है। यहां अभेद में विरोध के प्रतिभास से जो अभिप्राय प्रकाशित करना अभिप्रेत है वह है विरह की अवस्था का अत्यन्त अद्भुत होना।]

'महाराज ! आप के समीप यही निश्चित है कि पर्वत भी ऊँचे नहीं, वायु भी वेगवाली नहीं, समुद्र भी गंभीर नहीं और पृथिवी भी बड़ी नहीं।'

[यहां पर्वत आदि में 'उन्नतत्व' आदि गुणों से जो विरोध विवक्षित है उसका परिहार कवि-वर्णन के विषय राज-प्रभाव की महनीयता के द्वारा किया जारहा है जिससे विरोधाभास की प्रतीति हो रही है।]

'महाराज ! यह आश्चर्य है कि संग्राम की रंगभूमि में आसक्तचित्त जिन प्रतिपक्षी राजगण के कण्ठालिङ्गनलीला में आपका तीक्ष्ण कृपाण इतना अनुरक्त (रक्त से लाल) हुआ करता है और इतना अनिर्वचनीय स्नेह भाव (रक्त से चिकनापन) प्रदर्शित किया करता है उन्हीं का प्रसाधन आप धूलिकणों से किया करते हैं (उन्हीं का मस्तक काट काट कर आप उन्हें धूलिधूसरित बना दिया करते हैं)।'

[यहां 'खड्गत्व' जाति का अनुरक्त होने और स्नेह प्राप्त करने की क्रिया से जो विरोध है उसका परिहार रुधिर संपर्क से लालिमा और चिकनापन के अभिप्राय द्वारा किया गया है जिसमें 'विरोधाभास' स्पष्ट हो रहा है।]

'यह आश्चर्य है कि जो जनार्दन (भगवान् विष्णु) अनायास इस जगत् की रचना किया करें, अनायास रक्षा किया करें और अन्त में अनायास इसे नष्ट भी किया करें वेही कालवश मत्स्य के रूप में परिवर्तित हो जांय।'

[यहां 'मत्स्यत्व' जाति का जनार्दन रूपी द्रव्य से जो विरोध है उसका परिहार जनार्दन की लीला-महिमा के द्वारा अभिप्रेत है जिससे यहां 'विरोधाभास' है।]

'महाराज ! यह तो आप जैसे महादानी की महिमा है कि ब्राह्मण-गृहिणियों के वे हाथ जो सदा मूसर पकड़ने और नाना प्रकार के गृहस्थी के कामों के करने-धरने के कारण कड़े हुआ करते हैं, कमल के समान कोमल हो रहे हैं।'

(६ गुण का क्रिया से विरोध)

पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम् ।
परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत् प्रमोदयति ॥ ४८७ ॥

(७ गुण का द्रव्य से विरोध)

क्रौञ्चाद्रिरुद्दामदृषद्दृढोऽसौ यन्मार्गणानर्गलशातपाते ।
अभून्नवाम्भोजदलाभिजातः स भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥ ४८८ ॥

(८ क्रिया का क्रिया से विरोध)

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥ ४८९ ॥

(९ क्रिया का द्रव्य से विरोध)

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥ ४९० ॥

[यहां कठिनता और सुकुमारता के गुणों का जो विरोध प्रदर्शित है वह दानमहिमा के द्वारा परिहृत हो रहा है जिससे यहां 'विरोधाभास' स्पष्ट है ।]

'खलों के कोमल भी वचन तत्त्वज्ञानियों के हृदय जलाया करते हैं और सज्जनों की कठोर भी बातें उन्हें चन्दनरस की भांति आनन्दित किया करती हैं ।'

[यहां कोमलता के गुण का दाह की क्रिया से और कठोरता के गुण का आनन्दित करने की क्रिया से जो विरोध है वह खलता और सुजनता की महिमा से दूर किया जा रहा है जिससे यहां 'विरोधाभास' स्पष्ट है]

'वे परशुराम वस्तुतः एक अलौकिक अवतार हैं जिनके बाणों के अनवरत किंवा अत्यन्त तीक्ष्ण आघात से बड़ी-बड़ी शिलाओं से सुदृढ़ भी क्रौंच पर्वत नये कमल के किशलय के समान कोमल बना दिया गया ।'

[यहां कोमलता के गुण का क्रौञ्चपर्वतरूपी द्रव्य से जो विरोध है उसका उपशमन भार्गव के बाणों की शक्ति के द्वारा किया जारहा है जिससे 'विरोधाभास' की प्रतीति हो रही है।]

'कोई विचित्र मनोभाव, जिसका विश्लेषण संभव नहीं, जिसे शब्दों से प्रकट नहीं किया जा सकता, जिसका इस जन्म में कौन कहे' पहले जन्मों में भी कोई अनुभव न हो सका होगा और जिसके कारण विवेक का ऐसा ध्वंस हो रहा है कि मन में महामोह सर्वथा व्याप्त है, मेरे हृदय को मुग्ध (शीतल) भी बना रहा है और सन्तप्त भी करता जा रहा है। (मालतीमाधव १०)

[यहां माधव के विरह की विचित्रता से शीतल बनाने और संतप्त करने की क्रियाओं का विरोध परिहृत किया जा रहा है जिसमें 'विरोधाभास' झलक उठता है]

'तृष्णा के कारण विक्षिप्तचित्त हम लोग इस समुद्र का इसलिये आश्रय लिया करते हैं कि यह जल और रत्नों का एकमात्र निधान है तथा रत्नों का एकमात्र आकर है, किन्तु यह किसे पता है कि क्षणभर में ही महामत्स्यों और मकरों से विक्षुब्ध यह जलराशि महामुनि अगस्त्य के चुल्लू में आकर उनके पेट में पहुंच जायगी । (भल्लटशतक-श्लोक १०८)

(१० द्रव्य का द्रव्य से विरोध)

समदमतंगजमदजलनिस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।
क्षितितिलक ! त्वयि तटजुषि शंकरचूडापगाऽपि कालिन्दी ॥ ४६१ ॥

(२४ स्वभावोक्ति अलंकार)

(१६८) स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥१११॥

स्वयोस्तदेकाश्रययोः । रूपं वर्णः संस्थानं च । उदाहरणम्—

पश्चादंघ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाऽङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय ।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥४६२॥

[यहां जो विरोध है वह पान की क्रिया और उसके कर्तृकारक अगस्त्यरूप द्रव्य और कर्मकारक समुद्ररूप द्रव्य में है किन्तु तपस्या के प्रभाव से इसके परिहार में 'विरोधाभास' स्पष्ट हो रहा है ।]

'हे महाराज ! हे पृथिवीतिलक । आप जब तट पर खड़े हैं तब मदोन्मत्त सैन्यगज-समूह की मदजल-धाराओं के सम्पर्क से यह (हर-जटा-सुन्दरी) गंगा भी यमुना न हो जाय तो और क्या हो !,

[यहां गङ्गा और जमुनारूप द्रव्यों का परस्पर विरोध गजमदधार की श्यामता से परिहृत है और विरोधाभास का स्वरूप उन्मीलित हो रहा है ।]

टिप्पणी—'विरोध' अलंकार को वाच्य का अलंकार इसलिये कहा जाता है कि यहां यथाश्रुत शब्द से विरोध प्रतीत तो हुआ करता है किन्तु इस शब्द के अन्यत्र तात्पर्य होने के कारण इसका परिहार हो जाया करता है और यह विरोध के प्रतिभास में परिवर्तित होकर चमत्कार-जनक बन जाया करता है । यह विरोध तभी वाच्यालंकार है जब कि वाच्यार्थ में विरोध प्रतीत हुआ करता है जिसके लिये विरोध सूचक 'अपि' 'च' आदि शब्द सहायक रहा करते हैं । किन्तु यदि व्यङ्ग्यार्थ में विरोध प्रतीत हो तो वहां 'विरोधालंकार ध्वनि हुआ करती है न कि विरोधा-लंकार । 'विरोध' अलंकार वस्तुतः कवि की उस कल्पना का शब्दमय अवतार है जो किसी विशेष विवक्षा के कारण प्रजापति की सृष्टि में परिवर्तन किया करती है, नीरस को सरस बनाया करती है और जो परुष है उसे बनाया करती है कोमल ।

अनुवाद—'स्वभावोक्ति' वह अलंकार है जिसे (पदार्थों जैसे कि) बालक आदि की प्रकृतिसिद्ध क्रिया अथवा उनके रूप का वर्णन कहा करते हैं ।

यहां 'स्वक्रियारूप वर्णनम्' में 'स्व'–'अपने' का अभिप्राय है 'स्वयोः' का–एक मात्र अपने में समवेत अथवा समाश्रित रहने वालों का (अर्थात् क्रिया का और रूप का)। 'रूप' का यहां जो तात्पर्य है वह 'वर्ण'–'रंग' का है और है साथ ही साथ 'संस्थान'–'अंग-प्रत्यंग विन्यास' का भी । उदाहरण के लिये—

'सोकर उठा हुआ घोड़ा पिछले दोनों पैरों को फैलाये, पीठ के झुकाने के कारण लम्बी देह किये, गर्दन टेढ़ी करने से छाती पर मुंह सटाकर धूलि धूसर केसर को हिलाते हुये घास खाने की इच्छा से दोनों ओठों को चलाते, धीरे २ हिनहिनाते अपने अगले खुरों से नीचे की जमीन खोदता जा रहा है ।'

[यहां 'स्वभावोक्ति' है क्योंकि अश्वमात्र की स्वाभाविक क्रिया किंवा इसके अंग-प्रत्यंग विन्यास का जो वर्णन है उसका चमत्कार स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।]

टिप्पणी—आचार्य भामह के पहले से ही 'स्वभावोक्ति' को अलंकार माना जाता आ रहा है । भामह का यह कथन—

(२५ व्याजस्तुति अलंकार)

(१६९) व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दास्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।

व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां मन्ये न मौलिः परः
लज्जावर्जनमन्तरेण न रमामन्यत्र संदृश्यते ।
यस्त्यागं तनुतेतरां मुखशतैरेत्याश्रितायाः श्रियः
प्राप्य त्यागकृतावमाननमपि त्वय्येव यस्याः स्थितिः ॥ ४६३ ॥

'स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित् प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥' (काव्यालंकार २.९३)

इस बात का सूचक है कि 'स्वभावोक्ति' में भी एक चमत्कार है। किन्तु भामह की इस मान्यता अर्थात्—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥' (काव्यालंकार २.८५)

से कुछ भ्रम में पड़ कर अन्य आलङ्कारिक जैसे कि आचार्य कुन्तक आदि इसे अलङ्कार नहीं मान सके ! आचार्य कुन्तक का स्पष्ट कथन है:—

'अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः । अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ॥'

बाद के आलङ्कारिकों में एक प्रबल पक्ष 'स्वभावोक्ति' को एक वाङ्मय-प्रकार मानने के लिये उत्सुक है और इसकी यही धारणा है कि—**भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्** । आचार्य अभिनव गुप्त ने इसी धारणा का इस सुन्दरता से समर्थन किया है:—

'काव्ये च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता ।'

यद्यपि काव्यप्रकाशकार ने 'स्वभावोक्ति' में वाङ्मय की किसी विभाजक उपाधि का दर्शन नहीं किया, किन्तु इसे वाच्य का एक वैचित्र्य तो अवश्य ही स्वीकार किया। काव्यप्रकाशकार का स्वभावोक्ति-निरूपण वस्तुतः उद्भट के इस स्वभावोक्ति-लक्षण अर्थात्—

'क्रियायां संप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम् । कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ॥'
(काव्यालंकारसारसंग्रह ३. ५)

का अनुसरण करता है। काव्यप्रकाशकार की दृष्टि में 'रसवत्' के अलंकार न होने के कारण स्वभावोक्ति-रसवत् और भाविक के—

'वस्तुनश्चित्तवृत्तेश्च संवादः स्फुटता प्रथा । स्वभावोक्ते रसवतो भाविकस्य च लक्षणम् ॥'

इस प्रकार के सूक्ष्म-विश्लेषण की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

अनुवाद—'व्याजस्तुति' वह अलंकार है जिसे आपाततः (किसी वस्तु की) निन्दा किन्तु अन्ततोगत्वा (उसकी) स्तुति अथवा आपाततः (किसी वस्तु की) स्तुति किन्तु अन्त में (उसकी) निन्दा कहा करते हैं।

'व्याजस्तुति' का अभिप्राय है व्याजरूपा स्तुति (अर्थात् ऐसी स्तुति जो निन्दा का एक बहाना हो) अथवा व्याज-बहाने से स्तुति (अर्थात् ऐसी स्तुति जो आपाततः तो निन्दा प्रतीत हो किन्तु अन्त में स्तुति में परिणत हो जाय।)

इसके क्रमशः (कारिकानिर्दिष्ट क्रम से) उदाहरण ये हैं:—

'राजन् ! मुझे तो यही स्पष्ट लग रहा है कि आपको छोड़कर न तो आश्रितों के अनुरोध से रिक्तहृदय आश्रयदाताओं का कोई दूसरा शिरोमणि है और न लक्ष्मी को छोड़ कर कहीं अन्यत्र (स्त्री जाति में) कोई निर्लज्जता दिखाई देती है क्योंकि आप तो

(२ निन्दापर्यवसायिनी स्तुति)

हे हेलाजितबोधिसत्त्व ! वचसां किं विस्तरैस्तोयधे !
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः ।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहायकं यन्मरोः ॥ ४६४ ॥

(२६ सहोक्ति अलंकार)

(१७०) सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥ ११२ ॥

एकार्थाभिधायकमपि सहार्थबलात् यत् उभयस्याप्यवगमकं सा सहोक्तिः। यथा—

सह दिअहणिसाहिं दीहरा सासदण्डा
सह मणिवलयेहिं वाप्पधारा गलन्ति ।
तुह सुहअ विओए तीश उव्विग्गिरीए
सह अ तणुलदाए दुव्वला जीविदासा ॥ ४६५ ॥

ऐसे ठहरे जो नानाविध उपायों से आप पर आश्रित लक्ष्मी का सदा परित्याग (दान) किया करते हैं और लक्ष्मी ठहरी ऐसी जो आपके परित्याग (दान) से अपमानित हो हो कर भी सदा आप ही के साथ रहना चाहती है ।'

[यहां निन्दापूर्वक व्याजस्तुति है । राजा की आपाततः निन्दा उसके महादान किंवा श्री-समृद्धि की स्तुति में परिणत हो रही है ।]

'हे महाकारुणिक भगवान् बुद्ध के विजेता ! महासागर ! विशेष कुछ कहने से क्या, बस इतना ही कहना है कि परोपकार-व्रत का तुम्हारे समान कोई दूसरा व्रती नहीं हो सकता ! क्योंकि यह तो तुम्हारी अनुकम्पा है जो तुम उस मरुस्थल की सहायता किया करते हो जिसे प्यासे पथिकों के अपकार करने के अयश-भार को सदा ढोना पड़ा करता है।'

[यहां स्तुति के व्याज से समुद्र की, उसके खारे और पीने के अयोग्य जल के कारण, निन्दा का प्रतिपादन है जिसका चमत्कार स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।]

टिप्पणी—आचार्य मम्मट के अनुसार 'व्याजस्तुति' अलंकार दो प्रकार का है क्योंकि यहां केवल स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा ही विवक्षित नहीं अपितु निन्दापर्यवसायिनी स्तुति भी अभिप्रेत है । किन्तु प्राचीन आलङ्कारिक भामह और उद्भट की दृष्टि में 'व्याजस्तुति' एक मात्र निन्दा के व्याज के द्वारा स्तुति ही है । उद्भट ने इसीलिये 'व्याजस्तुति' का यह स्वरूप बताया है—

शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते । वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥

जिसका तात्पर्य यह है कि 'व्याजस्तुति' का चमत्कार इसी में है कि शब्दों की अभिधायक शक्ति भले ही 'निन्दा' का बोध करावे किन्तु पदार्थ-पर्यालोचन के द्वारा जो वाक्यार्थ निकले वह स्तुतिपरक ही हो । इस प्रकार मम्मट के अनुसार तो व्याजस्तुति दो प्रकार की है—१ व्याजरूपा स्तुति और २ व्याज से (निन्दाव्याज से) स्तुति किन्तु भामह और उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकों की दृष्टि में यह केवल एक प्रकार की ही है और वह प्रकार है-व्याज से-निन्दा के बहाने स्तुति का ।

अनुवाद—'सहोक्ति' वह अलंकार है जिसे सह (साथ) आदि शब्द के अर्थसामर्थ्य से एक पद की अनेकार्थबोधकता कहा करते हैं ।

'सहोक्ति' का अभिप्राय है (सहभाव की उक्ति अर्थात्) एक अन्वित अर्थ के अभिधायक भी पद की, 'सह' शब्द के अर्थसामर्थ्य से, दो अन्वित अर्थ की बोधकता। इसका उदाहरण यह है—

(सह दिवसनिशाभिर्दीर्घाः श्वासदण्डाः
सह मणिवलयैर्बाष्पधारा गलन्ति ।
तव सुभगवियोगे तस्या उद्विग्नायाः
सह च तनुलतया दुर्बला जीविताशा ॥ ४६५ ॥)

श्वासदण्डादिगतं दीर्घत्वादि शाब्दम् दिवसनिशादिगतं तु सहार्थसामर्थ्यात्प्रतिपद्यते ।

(२७ विनोक्ति अलंकार)

(१७१) विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।

क्वचिदशोभनः क्वचिच्छोभनः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ अशोभनबोधक विनोक्ति अलंकार)

अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः ॥ ४६६ ॥

'अरे प्रेमी युवक ! तुम्हारे वियोग में व्याकुल उस नायिका की सांसें दिन-रात के साथ-साथ लम्बी-लम्बी होती जा रही हैं, आंसुओं की धारायें मणिवलयों के साथ-साथ नीचे गिरा करती है और जीवन की आशा ! वह तो उसकी तनुलता के साथ-साथ दुर्बल ही होती जा रही है ।'

यहां 'श्वास-प्रश्वास' आदि में 'दीर्घत्व' आदि का अन्वय तो शाब्द है (क्योंकि दोनों में सामाधिकरण्य है—दोनों प्रथमान्त होने से विशेषण-विशेष्यभाव से सम्बद्ध है) किन्तु 'दिवस-निशा' आदि में 'दीर्घत्व' आदि का अन्वय 'सह' शब्द के अर्थ के अन्वय के सामर्थ्य से प्रतीत होता है (अर्थात् अर्थबल-लभ्य है) ।

टिप्पणी—यद्यपि 'सहोक्ति' की रूप-रचना में भगवान् पाणिनि के सूत्र-'सह युक्तेऽप्रधाने' (२. ३. १९) से 'सह' अर्थ के योग में, तृतीया-विधान आवश्यक है और इसलिये यह वहां संभव है जहां गुण और प्रधानभाव से रहने वाले दो पदार्थ, कुछ तो शब्द की मर्यादा से और कुछ अर्थ के सामर्थ्य से, एक धर्म से अन्वित प्रतीत हुआ करते हैं किन्तु इसका अलंकार होना-चमत्काराधायक बनना तब युक्तियुक्त हुआ करता है जब इसे-अभेदाध्यवसान (अतिशयोक्ति) का अनुप्राणन मिला करता है । इसीलिये 'पुत्रेण सहागतः पिता' आदि चमत्कारहीन वाक्यों में 'सहोक्ति' अलंकार नहीं हुआ करता । काव्यप्रकाश के व्याख्याकार माणिक्यचन्द्र का भी इसीलिये कहना है—

'सहोक्तौ द्वयोरपि प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा ग्रहणात् काल्पनिकमौपम्यं तत्र तृतीयान्तस्य गुणभावादुपमानत्वं शेषस्य प्राधान्यादुपमेयत्वम् ।'

अनुवाद—'विनोक्ति' वह अलंकार है जिसमें एक के बिना दूसरे के अशोभन होने अथवा शोभन होने का वर्णन अभिप्रेत हुआ करता है ।

यहां कारिका के 'सन् न' का अभिप्राय है कहीं (एक के बिना दूसरे का) असुन्दर लगना और 'नेतरः' का तात्पर्य है कहीं (एक के बिना दूसरे का) सुन्दर लगना । क्रमशः इन दोनों प्रकारों के उदाहरण ये हैं:—

'रात के बिना तो चन्द्रमा कान्तिहीन (अशोभन) है और चन्द्रमा के बिना रात अंधेरी (असुन्दर) है और इन दोनों के बिना प्रेमिका और प्रेमिकाओं की प्रणयलीला अच्छी नहीं लगती ।'

[यहां एक अर्थात् रात आदि के बिना दूसरे अर्थात् चन्द्रमा आदि के अशोभन-असुन्दर लगने का प्रतिपादन है जिससे यहां अशोभन-प्रतिपादिका विनोक्ति-विनाभाव की

(२ शोभनबोधक 'विनोक्ति' अलंकार)

मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रभाप्रगल्भः।
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः॥ ४६७॥

(२८ परिवृत्ति अलंकार)

(१७२) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः॥ ११३॥

परिवृत्तिरलङ्कारः।

उदाहरणम्—

(१ सम के सम से और साथ ही साथ न्यून के उत्तम से विनिमय में परिवृत्ति)

लतानामेतासामुदितकुसुमानां मरुदयं
मतं लास्यं दत्त्वा श्रयति भृशमामोदमसमम्।
लतास्त्वद्ध्वन्यानामहह दृशमादाय सहसा
ददत्याधिव्याधिभ्रमिरुदितमोहव्यतिकरम्॥ ४६८॥

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन समस्य द्वितीये उत्तमेन न्यूनस्य।

(२ न्यून से उत्तम के विनिमय में परिवृत्ति)

नानाविधप्रहरणैर्नृप ! संप्रहारे
स्वीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान्।

उक्ति है। इसे सहोक्ति अलंकार की ध्वनि इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'विना भाव' की उक्ति में एक पृथक् ही चमत्कार है।]

'यह राजकुमार उस मृगनयनी प्रेमिका के बिना तो नाना प्रकार के (शासन-सम्बन्धी) कार्यकलाप में एक अद्भुत प्रतिभा के प्रदर्शन से अत्यन्त निपुण (सुन्दर) लगा करता है और उस (नीच) मित्र के न रहने पर चन्द्र के समान स्वच्छ हृदय दिखाई दिया करता है।'

[यहां किसी राजकुमार की किसी प्रेमिका और किसी दुष्ट मित्र के बिना शोभनता-सुन्दरता का प्रतिपादन है जिसमें शोभनताबोधक विनोक्ति अलंकार है।]

टिप्पणी—यद्यपि 'विनोक्ति' के बन्ध में पृथक्, बिना आदि के योग में विहित तृतीया विभक्ति ही अपेक्षित है किन्तु इसके अलंकार होने के लिये यह आवश्यक है कि वर्ण्य वस्तु की स्वाभाविक सुन्दरता अथवा असुन्दरता, जो कि किसी अन्य वस्तु के संपर्क से निखरती नहीं प्रतीत होती, निखरी हुई प्रतिपादित की जाय।

अनुवाद—'परिवृत्ति' वह अलंकार है जिसमें किसी एक समान वस्तु का दूसरी समान वस्तु से विनिमय अथवा किसी एक असमान वस्तु का दूसरी असमान वस्तु से विनिमय (परिवर्तन) वर्णित किया जाय।

यहां जो अलंकार का नाम है वह 'परिवृत्ति' है (न कि विनिमय) उदाहरण के लिये—

'यह वायु फूलों से भरी लताओं को तो एक सुन्दर लास्यनृत्य (का उपदेश) दे रही है और उनसे उनकी अनुपम सुरभि लेती जा रही है और ये लतायें क्या कर रही है ? लेती तो ये हैं सहसा विरहियों की दृष्टि (अपनी ओर उनके ध्यान का आकर्षण) और देती हैं उन्हें पीड़ा, रोग, दिग्भ्रम, रोना-धोना और मनोमोह का सम्पर्क।'

यहां प्रथमार्ध में तो लास्य के बदले सौरभ के विनिमय में सम का सम से विनिमय है और उत्तरार्ध में आकर्षण के बदले आधि-व्याधि आदि के विनिमय में उत्तम से न्यून का विनिमय है।

'राजन्! आपके वीर शत्रु-सैनिकों ने आपसे जो लिया है वह तो है संग्राम में आपके

दृष्टारिवीरविसरेण वसुन्धरेयं
निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिर्वितीर्णा ॥ ४६६ ॥

अत्र न्यूनेनोत्तमस्य ।

(२९ भाविक अलंकार)

(१७३) प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।
तद्भाविकम् ।

भूताश्च भाविनश्चेति द्वन्द्वः । भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम् । उदाहरणम्—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसंभारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥ ५०० ॥

आद्ये भूतस्य द्वितीये भाविनो दर्शनम् ।

नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का भयङ्कर प्रहार और आपको जो दिया है वह है आपका प्रगाढ़ आलिङ्गन करने वाली यह वसुन्धरा।'

यहां न्यून से (अर्थात् प्रहार से) उत्तम का (अर्थात् वसुन्धरा का जो) विनिमय विवक्षित है (उसके कारण परिवृत्ति का एक और ही प्रकार का चमत्कार अभिप्रेत है।

टिप्पणी—आचार्य मम्मट ने 'परिवृत्ति' के दो मुख्य प्रकार अर्थात् 'समपरिवृत्ति' और 'असमपरिवृत्ति' बताये हैं। इन दोनों प्रकारों में जो वाच्य-विच्छित्ति है वह वस्तुतः एक प्रकार के उपमानोपमेयभाव की अभिव्यक्ति है क्योंकि दी जाने वाली (त्यज्यमान) और ली जाने वाली (आदीयमान) वस्तुओं में यदि यह सम्बन्ध न प्रतीत हो तो केवल विनिमय के कारण इसे परिवृत्ति अलंकार नहीं कहा जा सकता। 'परिवृत्ति' में जो विनिमय है वह त्याग और आदान से सम्बद्ध वस्तुओं में परस्पर औपम्य का अवगम्क है। लौकिक लेन-देन विनिमय भले ही हो 'परिवृत्ति' अलंकार नहीं।

अनुवाद—'भाविक' अलंकार वह है जिसे भूत और भविष्य काल से सम्बद्ध पदार्थों का ऐसा वर्णन कहा जाता है जिसमें वे प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने लगते हैं।

यहां कारिका में 'भूतभाविनः' का अभिप्राय है भूत और भविष्य काल के पदार्थों का क्योंकि यहां भूताश्च (भूतकालवर्ती) और भाविनश्च (भविष्यकालवर्ती) में द्वन्द्व समास है (न कि कर्मधारय)। 'भाविक' का शब्दार्थ है वह (अर्थात् उस प्रकार का वर्णन) जिसमें कवि (अथवा कविनिबद्ध वक्ता) का भाव अर्थात् अभिप्राय अनुस्यूत रहा करता है। उदाहरण के लिये—

'प्रिये ! मैं तुम्हारी वे आंखे देख रहा हूँ जिनमें कभी अञ्जन तू ने लगाया था ! मेरी आँखों के आगे तुम्हारा वह रूप झलक रहा है जो कभी पहने जाने वाले अलङ्कारों से चमक उठेगा !'

यहां पूर्वार्ध में तो अतीत के अञ्जन और उत्तरार्ध में भविष्य के भूषणसंभार के सौन्दर्य का एक (भावनामय) साक्षात्कार (स्पष्ट प्रतिपादित) हो रहा है।

टिप्पणी—'भाविक' अलंकार की रूप-रेखा का दर्शन अलंकारशास्त्र की प्राचीनतम परम्परा है। आचार्य भामह ने सबसे पहले इसका स्वरूप-दर्शन इस प्रकार किया—

'भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् । प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्थाः भूतभाविनः ॥'

(काव्यालङ्कार ३.५३)

यहां 'भाविक' को वाच्यालङ्कार की सीमा का अतिक्रमण करने वाला एक प्रबन्धव्यापी काव्य-सौन्दर्य माना गया है। क्योंकि भामह के अनुसार भाविक अलङ्कार वस्तुतः काव्य का एक ऐसा सौन्दर्य है जिसमें शब्द की अनाकुलता, अर्थ की विचित्रता और उदात्तता तथा कथावस्तु की

(३० काव्यलिङ्ग अलङ्कार)

(१७८) काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥ ११४ ॥

(प्रथम प्रकार)

वाक्यार्थता यथा—

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।
नमन्मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥ ५०१ ॥

निपुण वर्णना सब कुछ ओतप्रोत है। आचार्य दण्डी की दृष्टि में भी 'भाविक' का वही स्वरूप है जो आचार्य भामह की दृष्टि में है क्योंकि दण्डी के अनुसार 'भाविक' का जो स्वरूप—

'तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् । भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धिसंस्थितः ।
परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम् । विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥
व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गंभीरस्यापि वस्तुनः । भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः ।'

(काव्यादर्श २.३६४–३६६)

इन उपर्युक्त पंक्तियों से प्रतीत होता है वह भामह का ही देखा-दिखाया है। आचार्य उद्भट ने भी 'भाविक' का जो साक्षात्कार किया है—

'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः । अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम् ॥'

(काव्यालंकारसारसंग्रह ६.६)

वह पहले से ही किया जाता आ रहा है। इन प्राचीन आचार्यों की ही भाविक-सम्बन्धी मान्यता का स्पष्टीकरण आलंकारिक इन्दुराज की ये पंक्तियां—

'वाचामनाकुलता व्यस्तसम्बन्धरहितलोकप्रसिद्धशब्दोपनिबन्धनात् झगित्यर्थप्रतीतिकारिता । तस्यां हि सत्यां कवेः सम्बन्धी यो भाव आशयः शृङ्गारादिरससंवलितचतुर्वर्गोपायभूतविशिष्टार्थोल्लेखी स कविनेव सहृदयैः श्रोतृभिः स्वाभिप्रायाभेदेन तत्तत्काव्यप्रतिबिम्बितरूपतया साक्षात्क्रियते ।······तदेवंविधहेतुनिबन्धनं कविश्रोतृभावद्वितयसंमीलनात्मकं भाविकं द्रष्टव्यम् । (काव्यालङ्कारसारसंग्रह, पृष्ठ ७९–८०), कर रही हैं।

यद्यपि आचार्य मम्मट ने 'भाविक' अलंकार के लक्षण में वही बात रखी है—जो कि आचार्य भामह की परम्परा से चली आ रही है किन्तु जहां प्राचीन काव्याचार्य 'भाविक' में एक काव्य-रहस्य देखते आ रहे हैं वहां आचार्य मम्मट ने इसमें वाच्य-सौन्दर्य का साक्षात्कार किया है क्योंकि काव्य-रहस्य तो कुछ और है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। 'भाविक' के सम्बन्ध में जो रहस्य-भावना इन प्राचीन पंक्तिओं अर्थात्—

'रसोल्लासी कवेरात्मा स्वच्छे शब्दार्थदर्पणे । माधुर्यौजोयुतंप्रौढे प्रतिविम्ब्य प्रकाशते ॥
संपीतस्वच्छशब्दार्थद्रावितार्भ्यन्तरस्ततः । श्रोता तत्साम्यतः पुष्टिं चतुर्वर्गे परां व्रजेत् ॥'

में अभिव्यक्त हुई है उनका विश्लेषण ध्वनि-तत्व के द्रष्टा आचार्यों ने काव्य में रसभावादि के स्वरूपोन्मीलन में स्पष्ट कर दिया है और इसीलिये मम्मट ने 'भाविक' के महत्त्व से प्रभावित होते हुये भी उसे अलंकार की कोटि में स्थान दिया है जिसमें प्राचीन परम्परा की रक्षा के साथ साथ नवीन मान्यता की पुष्टि भी प्रतीत हो रही है।

अनुवाद– 'काव्यलिङ्ग' वह अलङ्कार है जिसमें वाक्यार्थरूप से तथा पदार्थरूप से हेतु का अर्थात् स्वतः अनुपपन्न प्रतीत होने वाले अर्थ के उपपादक का अभिधान अथवा प्रतिपादन हुआ करता है।

हेतु की वाक्यार्थरूपता (और उसमें काव्यलिङ्ग अलंकार) जैसे कि:—

'हे त्रिपुरान्तक महादेव ! मुझे मेरे इन दो अपराधों के लिये क्षमा करें। मेरा पहला

(द्वितीय प्रकार)

अनेकपदार्थता यथा—

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-
ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ।। ५०२ ।।

(तृतीय प्रकार)

एकपदार्थता यथा—

भस्मोद्धूलन ! भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले ! शुभं
हा सोपानपरम्परां गिरिसुताकान्तालयालंकृतिम् ।
अप्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा-
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ।। ५०३ ।।

अपराध यह कि मैंने कभी भी अपने पूर्वजन्मों में आपकी भक्ति न की, जिसका प्रमाण इस जन्म के अतिरिक्त और क्या ! और मेरा दूसरा अपराध ! वह है आगे भी आपकी भक्ति का मुझसे न हो सकना क्योंकि अब जब आपका भक्त मैं मुक्त हुआ तो इस शरीर-संपर्क के छूटे भक्ति कहां !'

[यहां आर्तभक्त की भगवान् शिव से जो क्षमा-याचना है वह एक अपराध के लिये है और उस अपराध का जो हेतु है वह है 'अनमन' भक्ति न करना। यह हेतु वाक्यार्थरूप से यहां प्रकाशित हुआ है क्योंकि यह 'पुरा क्वचिदपि नाहं प्रणतवान् भवन्तम्' और 'अग्रेऽप्यहमनतिभाग' इन अवान्तर वाक्यों के अर्थ के रूप में यहां अभिप्रेत है ।]

हेतु की अनेक पदार्थरूपता (और उसमें काव्यलिङ्ग) जैसे कि:—

'अरे पापाधम ! जिस मालती की देह, प्रेमरसमाती सखियों के हास-परिहास के प्रसंग में शिरीष के कोमल फूल की हलकी मार से भी व्यथित हो उठती है, उस पर, उसका वध करने के लिये, इस शस्त्र का प्रहार करने वाले तेरे सिर पर, देख, मेरा यह भुजदण्ड अचानक यमदण्ड के समान बस अब गिरना ही चाहता है !'

(मालतीमाधव ५)

[यहां महाकवि भवभूति ने माधव के भुजदण्ड के अघोरघण्ट के सिर पर गिरने का जो हेतु प्रतिपादित किया है वह है अघोरघण्ट के द्वारा मालती के शरीर पर शस्त्र-पात। यह शस्त्रपातरूप हेतु न तो यहां वाक्यार्थ-प्रतिपाद्य है और न एकपदार्थलभ्य है अपितु अनेक पदों के जैसे कि 'वपुषि शस्त्रमुपक्षिपतः' आदि के अभिप्राय के रूप में अभिहित है।]

हेतु की एकपदार्थता (और उसमें काव्यलिङ्ग) जैसे कि:—

'अरे भस्म के लेप ! अरी रुद्राक्ष की माला ! अरी शिव-मन्दिर की सुन्दर सोपान-पंक्तियां ! अब मैं कहां और तुम सब कहां ! जाओ, तुम्हारा कल्याण हो। अब तो आज से मुझे भक्तभावन भगवान् की आराधना की दया से उस मोक्षरूप महामोह में पड़े रहना है जिसमें तुम सबके संग-साथ के सुख का प्रकाश कहां से रह सकता है !'

[यहां मोक्ष के महामोह होने का जो हेतु है वह है भस्म आदि के सुखालोक का उच्छेद और यह हेतु एक पद के अर्थात् एक समस्त 'युष्मत्सपर्यासुखालोकोच्छेदिनि' पद के अर्थ के रूप में उपस्थित है।]

एषु अपराधद्वये पूर्वापरजन्मनोरनमनम्, भुजपाते शस्त्रोपक्षेपः महामोहे सुखालोकोच्छेदित्वं च यथाक्रममुक्तरूपो हेतुः ।

(३१ पर्यायोक्त अलंकार)

(१७५) पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ।

वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं तत्पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात्पर्यायोक्तम् ।

उदाहरणम्—

यं प्रेक्ष्य चिररूढाऽपि निवासप्रीतिरुज्झिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥ ५०४ ॥

इन उपर्युक्त उदाहरणों में, जैसा कि क्रमशः यथास्थान प्रतिपादित किया जा चुका है, जो हेतु विवक्षित है वह यह है—पहले में, दोनों अपराधों का हेतु पूर्वजन्म और भावी जन्म में शिव की भक्ति का न हो सकना, दूसरे में, (माधव के) भुजपात का हेतु (अघोरघण्ट का मालती पर) शस्त्र-प्रहार और तीसरे में, मोक्ष के महामोहरूप होने का हेतु भक्ति-सुख के आलोक की उच्छिन्नता ।

टिप्पणी—'काव्यलिङ्ग' आलंकारिकों की एक प्राचीन मान्यता है। 'काव्यलिङ्ग' का अभिप्राय है कवि की कल्पना के द्वारा वर्ण्य अर्थ की उपपत्ति के लिये एक ऐसे लिङ्ग अथवा हेतु का उपनिबन्ध जो लौकिक अथवा तार्किक हेतु से सर्वथा भिन्न हो। लौकिक अथवा तार्किक हेतु जैसे कि 'दण्डेन घटः' इत्यादि में चमत्कार कहां! चमत्कार तो काव्य-लिङ्ग (हेतु) में है और इसीलिये इसे अलंकार माना गया है। हेतु दो प्रकार का हो सकता है—

'सिसाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः । कारको ज्ञापकश्चेति द्विधा सोऽप्युपदिश्यते ॥'

यहां 'काव्यलिङ्ग' अलंकार में जो हेतु अभिप्रेत है वह 'कारक' हेतु है न कि 'ज्ञापक' हेतु। उद्योतकार ने इसीलिये कहा है—'काव्यलिङ्गजानुमितिस्तु न कविना श्रोतुर्बुबोधयिषिता किन्तु श्रोतर्युत्पिपादयिषिता ।' जिसका अभिप्राय यह है कि काव्यलिङ्ग अलङ्कार में अभिप्रेत अनुमिति ऐसी नहीं हुआ करती जो काव्य के श्रोता को कवि द्वारा बोधित करायी जाय अपितु ऐसी जिसे कवि श्रोता के मन में उत्पन्न कराया करे। 'काव्यलिङ्ग' की कल्पना यद्यपि आलंकारिकों ने शास्त्रलिङ्ग के आधार पर ही की है किन्तु इसे काव्य का अलंकार इसलिये माना है क्योंकि यहां कवि-कल्पना का हाथ रहा करता है जैसा कि आलंकारिक इन्दुराज का कथन है:—

'पक्षधर्मतान्वयव्यतिरेकानुसरणगर्भतया यथा तार्किकप्रसिद्धा हेतवो लोकप्रसिद्धवस्तुविषयत्वेनोपनिबध्यमाना वैरस्यमावहन्ति न तथा काव्यहेतुः, अतिशयेन सर्वेषां जनानां योऽसौ हृदयसंवादी सरसः पदार्थस्तन्निष्ठतया उपनिबध्यमानत्वात् । अतः काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणमुपात्तम् ।' (काव्यालंकारसारसंग्रह, पृष्ठ ८१)

अनुवाद—'पर्यायोक्त' वह अलंकार है जिसे वाच्यार्थ का एक ऐसा प्रतिपादन कहा करते हैं जो वाच्य-वाचकभाव से भिन्न प्रकार का हुआ करता है।

'पर्यायोक्त' का अभिप्राय है पर्याय के द्वारा अर्थात् एक अन्य प्रकार की विचित्रता के द्वारा (वाच्यार्थ का) कथन अथवा प्रतिपादन। यहां जिस पर्याय अथवा प्रकार से वाच्यार्थ का प्रतिपादन विवक्षित है वह है अवगमन-व्यापार अर्थात् व्यञ्जनव्यापार का प्रकार क्योंकि यही वह प्रकार है जो वाच्यवाचकभाव से सर्वथा भिन्न है। उदाहरण के लिये:—

'जिस (दानवराज हयग्रीव) को देखकर मद ने तो ऐरावत के मुखमण्डल में निवास करने का पुराना प्रेम छोड़ दिया और अभिमान ने छोड़ा देवराज इन्द्र के हृदय में डेरा जमाये रहने का मोह !'

अत्रैरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यंग्यमपि शब्देनोच्यते तेन यदेवोच्यते तदेव व्यंग्यम् यथा तु व्यंग्यन्न तथोच्यते तथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे गौः शुक्लश्चलति इति विकल्पः यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति न तु यथादृष्टं तथा यतोऽभिन्नासंसृष्टत्वेन दृष्टं भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति।

यहां जो अर्थ वाच्यार्थरूप से विवक्षित था अर्थात् (दानवराज हयग्रीव के डर से) ऐरावत की मद-हानि और इन्द्र की मान-हानि, उसका एक भिन्न प्रकार से अर्थात् मद का ऐरावत के मुख में निवास करने का प्रेम छोड़ देना और मान का इन्द्र के हृदय में रहने का मोह छोड़ देना-इस प्रकार से प्रतिपादन किया जा रहा है। अब यह जो प्रतिपादन-प्रकार है उसमें 'ऐरावत और इन्द्र मदरहित और मानरहित हो गये' यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है किन्तु यह व्यङ्ग्यार्थ (गूढ़ नहीं क्योंकि) साक्षात् शब्द द्वारा प्रतिपादित प्रतीत हो रहा है जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जो अर्थ यहां शब्दतः अभिहित है वही व्यङ्ग्य (व्यञ्जना-प्रतिपाद्य) भी है क्योंकि इस अर्थ का उस रूप से प्रतिपादन नहीं किया जा रहा जिस रूप से यह व्यङ्ग्यार्थ बना रहता। एकरूप अर्थ में भिन्न प्रकार से प्रतिपादन वैसे ही संगत है जैसे एकरूप वस्तु में निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान का होना संगत है क्योंकि जब कहीं किसी मनुष्य को गोत्व-शुक्लत्व-चलनक्रिया और उनके आश्रय का (एक प्रकार का ज्ञान) निर्विकल्पक ज्ञान हो चुकता है तब वहीं उसे 'गौः शुक्लश्चलति' इस भिन्न प्रकार का ज्ञान-सविकल्पक ज्ञान हो जाया करता है। यहां इन दोनों प्रकार के अनुभवों में वस्तु तो एकरूप ही है क्योंकि जिसका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हुआ है उसी का सविकल्पक प्रत्यक्ष हो रहा है। यहां ऐसा नहीं कि जिस प्रकार से निर्विकल्पक अनुभव हुआ उसी प्रकार से सविकल्पक अनुभव भी किया गया क्योंकि निर्विकल्पक अनुभव में न तो भेद अथवा अतद्व्यावृत्ति (बौद्धदर्शन की ज्ञानमीमांसा के अनुसार) ही विषय रूप से अवस्थित है और न संसर्ग अथवा नामरूप जात्यादि विशेषण ही (जैसा कि व्याकरणदर्शन का मत है)। यह तो सविकल्पक अनुभव में संभव है कि भेद (अतद्व्यावृत्ति) अथवा संसर्ग (नामरूपजात्यादिविशेषण) के अवगाहन से विशिष्ट ज्ञान हो। (क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान में गोत्व तथा उसके आश्रय, शुक्लत्व तथा उसके आश्रय, और चलनक्रिया तथा उसके आश्रय का जो अनुभव है वह परस्पर असंबद्धरूप से है किन्तु सविकल्पक ज्ञान में इन्हीं गोत्वादि का जो अनुभव हुआ करता है वह परस्पर संसृष्ट-विशेषणविशेष्यभाव से विशिष्ट-रूप से हुआ करता है।

टिप्पणी—'पर्यायोक्त' एक प्राचीन अलंकार है। भामह की दृष्टि में इसका स्वरूप यह है—

'पर्यायोक्तं यदन्येव प्रकारेणाभिधीयते' (काव्यालंकार ३. ८)

और उद्भट ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥'

(काव्यालंकारसारसंग्रह ४. ६)

'अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये। यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते॥'

(काव्यादर्श २. २९५)

यहां काव्यप्रकाशकार ने 'पर्यायोक्त' अलंकार का जो स्वरूप बताया है वह इन प्राचीन अलंकारिकों के अनुसार ही है। भेद इतना ही है कि भामह और दण्डी में 'अन्य प्रकार' अथवा 'प्रकारान्तर' का जो स्वरूप अस्पष्ट है वह मम्मट में 'अवगमन-व्यापार'-'व्यञ्जन-व्यापार' के रूप में स्पष्ट हो गया है। तात्पर्य यह है कि व्यञ्जना के द्वारा वाच्यार्थ का अभिधान 'पर्यायोक्त' अलंकार है। व्यञ्जना के द्वारा वाच्यार्थ का अभिधान 'ध्वनि' नहीं क्योंकि यहां जो चमत्कार है वह व्यङ्ग्यार्थ का नहीं अपितु उक्तिवैचित्र्य का है।

(३२ उदात्त अलंकार)

(१७६) उदात्तं वस्तुनः सम्पत् ।

सम्पत्समृद्धियोगः यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥ ५०५ ॥

(उदात्त का एक अन्य प्रकार)

(१७७) महतां चोपलक्षणम् ॥ ११५ ॥

उपलक्षणमङ्गभावः अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे । उदाहरणम्—

तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥ ५०६ ॥

न चात्र वीररसः, तस्येहाङ्गत्वात् ।

अनुवाद—'उदात्त' वह अलंकार है जिसे वस्तु की समृद्धि का वर्णन कहा करते हैं।

यहां 'संपत्' का अभिप्राय है (वस्तु के) समृद्धियोग का अर्थात् वस्तु की ऐश्वर्यशालिता का। जैसे कि—

'पण्डितजनों के घरों में, जो रतिलीला में टूटे मौक्तिक-मालाओं के मोती प्रातःकाल आंगन में झाड़ से बहारे हुये होने और अलसायी चाल से चलने वाली नवयौवना युवतियों के पैर में लगी महावर से लाल दीखने के कारण दूर से अनार के दानों के संदेह में क्रीडाशुकों के द्वारा चोंच से इधर उधर पकड़े जाते दिखायी दिया करते हैं वह सब महाराज भोज की महादानलीला नहीं तो और क्या है ?'

[यहां पण्डितों के भवनों की उत्कट समृद्धि का जो वर्णन है और इसके द्वारा महाराज भोज की ऐश्वर्यशालिता का जो प्रतिपादन है उसमें 'उदात्त' अलंकार की छटा दिखायी दे रही है। वस्तुओं के समृद्धि-सम्बन्ध के इस प्रकार के वर्णनों में अतिशयोक्ति (सम्बन्धातिशयोक्ति) का अनुप्राणन स्पष्ट है।]

यही 'उदात्त' अलंकार वहां भी होता है जहां किसी वर्ण्यवस्तु के प्रसंग में (उसके विशेषण रूप से) महापुरुषों का वर्णन किया जाया करता है।

यहां 'उपलक्षण' का अभिप्राय है उपलक्षणीय होने अर्थात् मुख्यरूप से वर्णनीय विषय में अङ्गरूप से रहने का। उदाहरण के लिये—

'यही वह अरण्य (दण्डकारण्य) है जहां महाराज दशरथ की आज्ञा के पालन में दत्तचित्त किंवा अपने बाहुबल पर ही निर्भर राम कभी निवास करते रहे हैं और (खर-दूषण आदि) राक्षसों का संहार कर चुके हैं।'

यहां (बाहुबल पर निर्भर राम के द्वारा राक्षस-विध्वंस आदि अनुभावों की वर्णना से) वीररस की अभिव्यक्ति मानना ठीक नहीं क्योंकि यह सब अङ्गरूप से विवक्षित है (और जिसका यह अंग है वह है दण्डकारण्य का वर्णन और इसलिये राम के उदात्तचरित के इस वर्णन में 'उदात्त' अलंकार है।)

टिप्पणी—'भामह' ने जो 'उदात्त' का स्वरूप बताया है उसमें महापुरुषों की महत्ता का प्रतिपादन प्रतीत होता है। भामह के समकालवर्ती अज्ञातनामा कुछ आलंकारिक उदात्त से 'विभूतिमहत्त्व' समझते रहे हैं। दण्डी ने उदात्त-सम्बन्धी इन दोनों मान्यताओं को 'उदात्त' अलंकार के स्वरूप-निरूपण में स्थान दिया है—

(३३ समुच्चय अलङ्कार)

(१७८) तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ।
समुच्चयोऽसौ,

तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्य एकस्मिन्साधके स्थिते साधकान्तराणि यत्र सम्भवन्ति स समुच्चयः । उदाहरणम्—

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्म्मलम् ।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथन्नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः ॥ ५०७ ॥

अत्र विरहासहत्वं स्मरमार्गणा एव कुर्वन्ति तदुपरि प्रियतमदूरस्थित्यादि उपात्तम् ।

'आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तरम् । उदात्तं नाम तं प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः ॥
गुरोः शासनमत्येतुं न शशाक स राघवः । यो रावणशिरश्छेद-कार्यभारेष्वविक्लवः ॥
रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः । ज्ञातो लङ्केश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः ॥
पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम् । सुव्यञ्जितमिति प्रोक्तमुदात्तद्वयमप्यदः ॥'
(काव्यादर्श २.३०१-३०३)

बाद के आलङ्कारिक जैसे कि उद्भट 'उदात्त' से इसी द्विविध प्रकार का प्रतिपादन मानते हैं:-
उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम् । उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥
(काव्यालंकारसारसंग्रह, पृष्ठ ५७)

यहां काव्यप्रकाशकार का 'उदात्त'-लक्षण उद्भट की 'उदात्त'-परिभाषा का ही अनुसरण करता है। 'उदात्त' अलङ्कार में जो वस्तु-वर्णन अभिप्रेत है वह आरोपित वस्तु-वर्णन है और इसलिये इसका 'स्वभावोक्ति' से, जहां यथावद्वस्तु-वर्णन हुआ करता है और 'भाविक' से, जहां यथावद्वस्तु-वर्णन में कवि का हृदय-संवाद भी प्रकाशित हुआ करता है, भेद स्पष्ट है ।

अनुवाद— 'समुच्चय' वह अलङ्कार है जिसमें किसी प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के वर्णन में किसी एक कारण के रहते, अन्य कारण की भी साधकता का समावेश प्रतिपादित किया जाया करता है ।

यहां 'तत्सिद्धि हेतौ' का अभिप्राय है उस अर्थात् प्रस्तुत रूप से वर्ण्य कार्य के किसी एक साधक (कारण) की उपस्थिति का 'अन्यत्तत्करं' का तात्पर्य है 'अन्य साधकों अथवा कारणों' का । इस प्रकार 'समुच्चय' वह हुआ जहां एक कार्य-साधन में अन्य कारणों का समुद्योग प्राप्त हो जाय । उदाहरण के लिये—

'काम के बाणों का सहना असम्भव, प्रियतम पास में नहीं, मन है अत्यन्त उत्सुक, प्रेम इतना अधिक बढ़ा है कि कुछ कहा नहीं जा सकता, जवानी चढ़ती पर है, प्राण निकलने से रहे, कुल रहा अत्यन्त विशुद्ध, स्त्री होने के नाते धैर्य-धारण सरल नहीं, समय है वसन्त का-काम के परममित्र का, मौत भी असमय में नहीं मिल सकती और सखियों में कोई भी ऐसी नहीं जो प्रियतम से मिला दे—ओह ! अब भला यह मर्मान्तिक विरह कैसे सहा जय !'

यहां 'समुच्चय' अलंकार इसलिये हैं क्योंकि विरह की असह्यतारूप कार्य-सिद्धि में काम के बाणों की दुर्वारता के कारणरूप से उपस्थित रहने पर भी 'प्रियतम के प्रवास' इत्यादि रूप अनेक कारणों का वर्णन किया जा रहा है ।

समुच्चय के सम्बन्ध में अन्यमत और उसका खण्डन

एष एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते, तथाहि—

कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम् ।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो
व्रजति सुतरां दर्पं राजन् ! त एव तवांकुशाः ॥ ५०८ ॥

अत्र सतां योगः । उक्तोदाहरणे त्वसतां योगः ।

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥ ५०९ ॥

अत्र शशिनि धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति शोभनाशोभनयोगः ।

(समुच्चय का एक अन्य प्रकार)

(१७९) स त्वन्यो युगपत् या गुणक्रियाः ॥ ११६ ॥

ऊपर ('तत्सिद्धिहेतौ' इत्यादि कारिका में) 'समुच्चय' का जैसा स्वरूप बताया जा चुका है वह (प्राचीन काव्याचार्यों द्वारा पृथक् पृथक् निर्दिष्ट) सद्योग, असद्योग किंवा सदसद्योगरूप समुच्चय में स्पष्टतया घटित होता है जिससे यहां 'समुच्चय' अलङ्कार का त्रिविध (सद्योगादिरूप) समुच्चय की दृष्टि से लक्षण अभिप्रेत नहीं माना गया । उदाहरण के लिये (निम्नाङ्कित पङ्क्तियों अर्थात्)—

'राजन् ! कुल का महान् होना, शरीर का सुन्दर होना, बुद्धि का शास्त्राभ्यास से विशद होना, बाहुबल की विपुलता, धन-सम्पत्ति की समृद्धि और अकुण्ठित प्रभुता—ये ही वे स्वभावतः सौभाग्य-सूचक पदार्थ हैं जिनसे और लोग तो अभिमान में चूर रहा करते हैं, किन्तु आप ऐसे हैं जिनके लिये ये सब के सब निरभिमानिता के ही कारण हैं ।'

में जो सद्योग अर्थात् प्रस्तुत नृपविषयक विनयरूप कार्य की सिद्धि में कुलवैमल्यादि रूप स्वभावसुन्दर समीचीन साधनों का उपादान है उसमें भी 'समुच्चय' का पूर्वोक्त लक्षण ही संगत है । 'दुर्वाराः स्मरमार्गणाः' इत्यादि, जो यहां 'समुच्चय' के उदाहरणरूप में उद्धृत हैं वहां 'स्मरमार्गण' आदि असमीचीन पदार्थों का योग अथवा सम्बन्ध स्पष्ट देखा जा सकता है । और इसी प्रकार यहां अर्थात्—

'वह चन्द्रमा जो दिन के कारण कान्तिहीन लगे, वह युवती जिसका यौवन चल बसे, वह सरोवर जिसके कमल उजड़ जांय, वह मुख जिसमें जैसा रूप हो वैसी विद्या नहीं, वह स्वामी जो धन के लोभ में पड़ा रहे, वह सज्जन जो सदा दुर्दशाग्रस्त हो और वह दुष्ट जो राजप्रासाद में सदा विचरता रहे—ये हैं वे सात तीर जो मेरे हृदय में चुभते रहा करते हैं ।'

में भी समुच्चय ही है जहां सत्-शोभन किंवा असत्-अशोभन का योग विवक्षित है क्योंकि स्वतः शोभन चन्द्र की दिवस-धूसरतारूप अशोभनता जिस हृदय-व्यथा के कारणरूप से वर्णित की गयी उसी के लिये अन्य शोभन वस्तु जैसे कि कामिनी आदि का उनकी अशोभनता जैसे कि यौवन-हानि आदि से सम्बन्ध भी कारणरूप से समुचित प्रतिपादित किया गया ।

यही 'समुच्चय' एक और प्रकार का भी हुआ करता है जहां 'गुण-क्रिया' का यौगपद्य-एक समय में सहभाव-प्रतिपादित किया जाया करता है ।

गुणौ च क्रिये च गुणक्रिये च गुणक्रियाः। क्रमेणोदाहरणम्—

(१ गुण-यौगपद्य में 'समुच्चय')

विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च।
प्रखलमुखानि नराधिप ! मलिनानि च तानि जातानि ॥ ५१० ॥

(२ क्रिया-यौगपद्य में 'समुच्चय')

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥ ५११ ॥

(३ गुण और क्रिया के यौगपद्य में 'समुच्चय')

कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसोदरश्रि चक्षुः।
पतितं च महीपतीन्द्र ! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः ॥ ५१२ ॥

(परमत का निराकरण)

धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिमित्यादेः,
कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ स साधुवादाश्च सुराः सुरालये।

यहां 'गुण और क्रिया के यौगपद्य' का अभिप्राय है—१ गुणों का यौगपद्य, २ क्रियाओं का यौगपद्य और ३ गुण और क्रिया का यौगपद्य क्योंकि गुणौ च (गुण और गुण) क्रिये च (क्रिया और क्रिया) गुणक्रियाः-द्वन्द्वसमास तथा गुणश्च क्रिया च (गुण और क्रिया-द्वन्द्व समास) और तदनन्तर 'गुणकियाश्च गुणक्रिये च गुणक्रियाः' (एकशेष) इस प्रकार 'गुणक्रियाः' शब्द की निष्पत्ति यहां अभिप्रेत है। क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

'राजन् ! आपके शत्रुकुल का संहार करने वाली आपकी यह सेना तो शीघ्र ही निर्मल हो गई और उन खलजनों के मुख भी मलिन ही पड़ गये।'

[यहां दो बार 'च' 'और' के प्रयोग से विमलता और मलिनता रूप गुणों का यौगपद्य-एक समय में सहभाव-स्पष्ट प्रतिपादित है।]

'प्रिया उर्वशी से मेरा जैसे ही यह अकस्मात् दारुण वियोग आ पहुंचा वैसे ही नये-नये मेघों के घिर आने में वर्षा के सुहावने दिन भी आधमके।' (विक्रमोर्वशीयम् ४)

[यहां वियोग के 'आ पहुंचने' (उपनतः) और वर्षा के दिनों के 'आधमकने' (भवितव्यम्) की क्रियाओं का एक समय सहभाव दो 'च' के द्वारा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।]

'राजन् ! एक ओर तो श्वेत कमल की सी शोभा वाली आपकी दृष्टि शत्रुओं पर अकस्मात् (क्रोध से) लाल हो गयी और दूसरी ओर उन शत्रुओं के शरीर पर गिरीं विपत्तियों की तिरछी निगाहें।'

[यहां दृष्टि का 'कलुपता' (लालिमा) रूपी गुण और विपत्तियों के कटाक्षों की 'पतन'-रूप क्रिया-दोनों का समुच्चय दो चकार के प्रयोग से, स्पष्ट पता चल रहा है।]

अनुवाद—कुछ काव्याचार्यों का यह कहना कि केवल 'वैयधिकरण्य'-भिन्न-भिन्न अधिकरण-आधार के होने पर ही (गुण-क्रिया का यौगपद्य) समुच्चय माना जाय, ठीक नहीं जंचता क्योंकि 'धुनोति चासिं तनुते च कीर्त्तिम्'-यह राजा अपनी तलवार तो चला ही रहा है अपनी कीर्ति भी साथ ही साथ फैला रहा है' इत्यादि में सामानाधिकरण्य—एक ही राजरूप आधार-में भी समुच्चय स्पष्ट दिखायी दे रहा है। इसी प्रकार कुछ का यह मानना भी कि समानाधिकरण्य-एक ही देश में (गुण-क्रिया का सहभाव) समुच्चय है (वैयधिकरण्य में नहीं) उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये'-राजन् ! यहां तो संग्राम में आप हाथ में खड्ग लिये विराज रहे हैं और वहां स्वर्ग में देवगण आप की जय मनाते खड़े हैं।, इत्यादि में भी

इत्यादेश्च दर्शनात् व्यधिकरणे इति एकस्मिन्देशे इति च न वाच्यम्।

(३४ पर्याय अलंकार)

(१८०) एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः।

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स पर्यायः। क्रमेणोदाहरणम्-

(१ वस्तु के वास्तविक एकत्व में भी उसके अनेक स्थान पर रहने के क्रम में 'पर्याय')

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट !
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥ ५१३ ॥

अलंकार तो 'समुच्चय' ही है। किन्तु यहां वैयधिकरण्य-भिन्न देश में क्रिया का यौगपद्य विवक्षित है (सामानाधिकरण्य-एक देश में नहीं।)

टिप्पणी—प्राचीन काव्याचार्यों जैसे कि भामह, दण्डी, उद्भट आदि के अलंकार-ग्रन्थों में 'समुच्चय' अलंकार का विश्लेषण नहीं किया गया हैं। 'समुच्चय' का स्वरूप-निरूपण रुद्रट के काव्यालंकार और रुय्यक के अलंकार सूत्र तथा सर्वस्व में स्पष्ट किया हुआ है। यहां काव्यप्रकाश-कार ने 'समुच्चय' के अपने लक्षण-विश्लेषण में रुद्रट और रुय्यक के ही मत का परिष्कार किया है। रुद्रट की ही 'सद्योग', असद्योग' और 'सदसद्योग' में त्रिविध समुच्चय की मान्यता, जो कि काव्यालंकार (७. १९) की इन पंक्तियों:—

'यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव। ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसतोर्योगः॥'

में स्पष्ट है, काव्यप्रकाशकार के **'एष एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते'** इस प्रकार के खण्डन का विषय है। साथ ही साथ केवल 'व्यधिकरण' में अथवा केवल 'समानाधिकरण' में समुच्चय की धारणा भी रुद्रट की ही है जैसा कि काव्यालंकार (७. २७) का कथन है:—

'व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन्। उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात्तदन्योऽसौ॥'

जिसकी आलोचना मम्मट ने **'व्यधिकरणे' इति 'एकास्मन देशे' इति च न वाच्यम्**—इस रूप से की है।

मम्मट ने 'सद्योग', 'असद्योग' तथा 'सदसद्योग' में त्रिविध समुच्चय अलंकार के जो उदाहरण दिये हैं जिनमें 'समुच्चय' की अपनी परिभाषा संगत बतायी है वे रुय्यक के अलंकार सर्वस्व के हैं। इस प्रकार यहां 'रुय्यक' की समुच्चय-संबन्धी धारणा की भी स्पष्ट आलोचना है। 'समुच्चय' अलंकार के मूल में कार्य-कारण की एक कालात्मक विपर्ययरूपा अतिशयोक्ति है। समुच्चय' में अनेक कारणों की एक कार्यसिद्धि में स्पर्द्धा रहा करती हैं और इसीलिये यहां 'खलेकपोतन्याय' की संगति मानी जाया करती है। ऐसी बात 'समाधि' अलंकार में नहीं होती क्योंकि वहां 'काकतालीयन्याय' से एक कारण की कार्यसिद्धि में अन्यकारणों की सहायता रहा करती है।

अनुवाद—**'पर्याय' वह अलंकार है जहाँ एक वस्तु का क्रम से (कालभेद से) अनेक वस्तुओं से सम्बन्ध प्रतिपादित हो अथवा किया जाय।**

'पर्याय' का अभिप्राय है 'क्रम' का अर्थात् एक वस्तु के अनेक अधिकरण में (काल क्रम से) होने का अथवा किये जाने का। क्रमशः जैसे कि:—

'अरे कालकूट ! किसने तुम्हें इस प्रकार से रहना, जिसमें क्रमशः एक के बाद एक उँचा स्थान ही तुम्हें मिलता गया, सिखा दिया क्योंकि कहाँ तो पहले तुम रहे समुद्र के पेट में, फिर रहने लगे महादेव के कण्ठ में और अब रह रहे हो दुष्टों के मुँह में !'

(भल्लटशतक ४)

[यहां कालकूटरूप एक वस्तु का अनेक स्थान पर कालक्रम से रहना बिना किसी

यथा वा—

(वस्तु के आरोपित एकत्व में भी अनेक स्थान पर उसकी स्थिति में 'पर्याय')

बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि ! पूर्वमदृश्यत ।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि ! लक्ष्यते ॥ ५१४ ॥

रागस्य वस्तुतो भेदेऽप्येकतयाऽध्यवसितत्वादेकत्वमविरुद्धम् ।

(२ एक वस्तु की अनेकत्र स्थिति की व्यवस्था करने में 'पर्याय')

तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमवाणेण ॥ ५१५ ॥

(तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाभरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥)

(अन्य प्रकार का 'पर्याय')

(१८१) अन्यस्ततोऽन्यथा ।

अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ अनेक वस्तु की एक आधार पर क्रम से अवस्थिति के होने में पर्याय)

मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहो प्रथमं पृथु व्यनक्ति ।

हेतु के ही प्रतिपादित है जिसमें 'पर्याय' अलंकार स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। यद्यपि समुद्र आदि आधारों के भिन्न-भिन्न होने से वस्तुतः कालकूट रूप एक आधेय वस्तु भी भिन्न-भिन्न है किन्तु इसका अभेदाध्यवसान विवक्षित है क्योंकि कालक्रम से एक वस्तु की एक स्थान के अतिरिक्त अन्यत्र भी स्थिति संभव है।]

'अरी कृशाङ्गी ! पहले तो यह राग (लाली और प्रेम) तुम्हारे बिम्बाधर में ही दिखाई देता रहा और अब ! अब तो अरी मृगनयनी ! इसे तुम्हारे हृदय में स्पष्ट देखा जा सकता है !' (नवसाहसाङ्कचरित ६.६०)

[यहां बिना किसी हेतु-निर्देश के एक ही रागरूप वस्तु की क्रम से ओठ और हृदय में स्थिति प्रतिपादित है जिसमें 'पर्याय' का चमत्कार स्पष्ट है।]

यहां यद्यपि ओष्ठ में राग से 'लाली' और हृदय में राग से 'स्नेह' का अर्थ ही विवक्षित है और इस प्रकार रागरूप पदार्थ एकरूप नहीं अपितु परस्पर भिन्नरूप है किन्तु श्लेष के कारण दोनों में अभेद का अध्यवसान होने से एक वस्तु की अनेकत्र स्थिति में 'पर्याय' की रूपरेखा यहां भी दिखाई देती है।

'राक्षसों का वह मन जो पहले भगवान् विष्णु के आभूषण-कौस्तुभमणि के अपहरण में लगा था अन्त में कामदेव द्वारा लगा दिया गया मोहिनी के बिम्बाधर में !'

(विषम बाणलीला-आनन्दवर्धन)

[यहां कामदेव के द्वारा एक हृदयरूप वस्तु की कौस्तुभ के अपहरण और मोहिनी के ओष्ठ में जो स्थिति-व्यवस्था वर्णित है उसमें पर्याय स्पष्ट है।]

पर्याय एक और प्रकार का भी हो सकता है जिसे पूर्वोक्त पर्याय का वैपरीत्य कहा करते हैं।

यहां पूर्वोक्त पर्याय से वैपरीत्य का अभिप्राय है अनेक वस्तु की एक आधार पर क्रम से (कालभेद से) अवस्थिति के होने का अथवा किये जाने का। जैसे कि क्रमशः,

'कितने आश्चर्य की बात है कि पहले तो (सुनने पर) दुष्टों की चिकनी-चुपड़ी बातें अमृत की मिठास सी टपका देती हैं और बाद में (सोचने पर) ऐसा करती हैं कि हालाहल की कटुता से हृदय ही मूर्च्छित हो जाय।'

अथ कथयति मोहहेतुमन्तर्गतमिव हालहलं विषं तदेव ॥ ५१६ ॥

(२ अनेक वस्तु की एक आधार पर क्रम से अवस्थिति के सम्पादन में पर्याय)

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः
सा धेनुर्जरती नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं संगीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥ ५१७ ॥

अत्रैकस्यैव हानोपादानयोरविवक्षितत्वान्न परिवृत्तिः ।

(३५ अनुमान अलंकार)

(१८२) अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ॥ ११७ ॥

पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्, धर्मिणि अयोगव्यवच्छेदो व्यापकस्य साध्यत्वम् । यथा—

[यहां एक ही खलवचन में क्रमशः अमृत की मिठास और हालाहल की कटुता की अवस्थिति विना किसी प्रयोजक हेतु के वर्णित है जिससे पूर्वोक्त पर्याय के वैपरीत्य में-एक अन्य प्रकार का पर्याय स्पष्ट है ।]

'कितने आश्चर्य की बात है कि कुछ ही दिनों में यह द्विज (सुदामा) इस ऐश्वर्य पर पहुँच गया ! चारों ओर दबी-झुकी वह झोपड़ी अब यह अभ्रंकष राजप्रासाद दीख रही है, पहले की उस बूढ़ी गाय का रंभना अब काली-काली मेघमाला सी गज-घटा की गर्जना है और कभी की मूसर की क्षुद्र ध्वनि के बदले अब क्या है ! अब तो कलकण्ठी कामिनियों की मीठी तान सुनायी पड़ रही है !'

(यहां एक ही द्विजरूप आधार पर गेह-मन्दिर आदि अनेकों वस्तुओं की अवस्थिति (अर्थात् एक द्विजरूप वस्तु का अनेक गेहादिरूप वस्तुओं से स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध) प्रतिपादित है और 'दिवसैः'-'कुछ ही दिनों से' इस प्रयोजक हेतु का भी निर्देश है जिसमें पूर्वोक्त पर्याय के विपरीत एक भिन्न प्रकार का पर्याय स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।]

यहां उपर्युक्त उदाहरण में ('पर्याय' ही अलंकार है) परिवृत्ति अलंकार नहीं क्योंकि यहां गेह, मन्दिर आदि वस्तुओं में किसी प्रकार का लेन-देन अभिप्रेत नहीं । (अर्थात् यहां ऐसा कुछ प्रतिपादित नहीं किया जा रहा कि एक कोई (कर्तृभूत) व्यक्ति अपनी कोई वस्तु जैसे कि गेह आदि किसी को दे रहा हो और दूसरे की कोई वस्तु जैसे कि मन्दिर आदि बदले में ले रहा हो । यहां तो वस्तुतः एक द्विजरूप आधार पर गेह-मन्दिर आदि अनेकों वस्तुओं की काल-भेद से स्थिति ही विवक्षित है जिससे 'पर्याय' का सम्बन्ध है न कि 'परिवृत्ति' का) ।

टिप्पणी—मम्मट के 'पर्याय'-निरूपण का आधार रुय्यक का 'पर्याय'-निरूपण है । रुय्यक के पर्याय-विवेचन में एक वस्तु की अनेकत्र स्थिति और अनेक वस्तुओं की एकत्र स्थिति में आरोह और अवरोह के वैलक्षण्य का विश्लेषण है किन्तु मम्मट के पर्याय-विवेचन में एक वस्तु की अनेकत्र स्थिति और अनेक वस्तुओं की एकत्र स्थिति में संभव-सम्पादन के अभिप्राय का स्पष्टीकरण है ।

अनुवाद—'अनुमान' वह अलंकार है जिसमें साध्य-साधन-भावरूप से किसी अर्थ का प्रतिपादन किया जाया करता है ।

यहां 'साधन' का अभिप्राय (जैसा कि न्याय में) है त्रिप्रकारक हेतु का, अर्थात् हेतु के पक्ष सत्त्व (पक्ष का तात्पर्य है अनुमिति का आधार जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' में 'पर्वत' पक्ष हैं जहां 'अग्नि' का अनुमान किया जा रहा है । इस 'पक्ष' में हेतु अर्थात् 'धूम' की वृत्तिता अथवा अवस्थिति को हेतु का 'पक्षसत्त्व' अथवा 'पक्षधर्मता'

यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः।
तच्चक्रीकृतचापसंचितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदाऽऽसां स्मरः ॥ ५१८ ॥

साध्य-साधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किंचिद्वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम्।

कहते हैं।) अन्वयित्व अथवा सपक्षसत्त्व ('पर्वत' रूप पक्ष का जो 'सपक्ष' है जहां 'अग्नि' की अवस्थिति निश्चित है जैसे कि महानस (पाकशाला) उसमें 'धूम'रूप हेतु की वृत्तिता को कहा जाता है 'अन्वयित्व' अथवा 'सपक्षसत्त्व') और व्यतिरेकित्व अथवा विपक्षाद् व्यावृत्तत्व (पर्वतरूप पक्ष तथा महानसरूप सपक्ष का जो विपक्ष है जहां अग्नि की अवस्थिति का अभाव निश्चित है जैसे कि जलाशय आदि उसमें 'धूम'रूप हेतु की अवृत्तिता–अनुपस्थिति–को कहा करते हैं धूमरूप हेतु का व्यतिरेकित्व अथवा विपक्षाद् व्यावृत्तत्व)–इन तीनों रूपों का। 'साध्यत्व' का तात्पर्य है धर्मी–अथवा धूमादि–रूप हेतुयुक्त पर्वतादि 'पक्ष' में व्यापक–अर्थात् हेतु (धूमादि) की अपेक्षा न्यून देश में न रहने वाले–अग्न्यादि के 'अयोगव्यवच्छेद' अथवा नियत संबन्ध का। (यद्यपि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि अनुमान के दृष्टान्त हैं क्योंकि यहां पर्वतरूप 'पक्ष' में धूमरूप हेतु की वृत्तिता है (पक्षसत्त्व), महानसरूप 'सपक्ष' में भी धूम की वृत्तिता निश्चित है। (सपक्षसत्त्व) और जलाशयरूप विपक्ष में धूम की वृत्तिता का अभाव है (विपक्षाद्-व्यावृत्तत्व) जिससे यहां पर्वतरूप 'पक्ष' में वह्निरूप 'साध्य' का अनुमान किया जारहा है, किन्तु यह अनुमान 'अनुमानालंकार' नहीं हुआ करता। 'अनुमान' तो काव्य का अलंकार तभी हो सकता है जब उसमें कवि-प्रतिभा और कवि–कल्पना का हाथ रहे जिससे चमत्कार की प्रतीति हो सके)।

उदाहरण के लिये :—

'ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कामिनी–जन का वशवर्ती किंवा प्रेमी युवकों पर क्रुद्ध और इसीलिये धनुष पर प्रत्यञ्चा खींचते हुये वाणों पर बार-बार हाथ फड़काते कामदेव सदा (दिग्विजय के लिये सन्नद्ध) युवतियों के आगे-आगे दौड़ता चला करता है क्योंकि जिधर भी तरंग-चञ्चल नेत्रों वाली रमणिओं की भौंहें तन जाया करती हैं उधर ही काम के ये मर्मान्तक वाण अविलम्ब छूटते ही दिखायी दिया करते हैं।'

[यहां कवि–कल्पना–प्रसूत जो 'साध्य' है वह है 'रमणियां जिनके आगे मदन–योद्धा दौड़ता चल रहा है' और इस 'साध्य' की सिद्धि का जो हेतु है वह है तरुणियों की तनी भृकुटि के रूप में वाण–मोक्ष का काम का स्थानक (धनुर्धारी योद्धा की वाण चलाने की वीर-मुद्रा)। यद्यपि यहां लोकसिद्ध कोई व्याप्ति नहीं किन्तु कवि–प्रतिभाप्रसूत तो व्याप्ति है ही। इस प्रकार यहां 'अनुमान' अलंकार का स्वरूप स्पष्टतया उन्मीलित है जिसे अनुमान की प्रक्रिया में इस प्रकार कहा जा सकता है—'एताः (रमण्यः) चक्रीकृत-चापं सदा पुरोधावन्मदनभटाः निरन्तरनिपतन्मर्मान्तिकशरशोभिभ्रूव्यापारकस्थानकत्वात्'।

यहां यह कहना कि 'अनुमान' अलंकार का एक और प्रकार क्यों नहीं माना जाय (जहां पूर्वोक्त प्रकार के विपरीत, जिसमें 'साधन' का कथन पहले और 'साध्य' का बाद में हुआ है, पहले तो 'साध्य' का कथन हो और बाद में 'साधन' का) ठीक नहीं जंचता क्योंकि साध्यसाधन के पूर्वापरभाव के विपर्यय में कोई चमत्कार–विशेष नहीं दिखाई देता और इसीलिये यहां अनुमान के ऐसे प्रकार का प्रतिपादन नहीं किया जारहा।]

टिप्पणी—'अनुमान के काव्यालकार बनने में कवि–कल्पना का हाथ आवश्यक है। काव्यानुमान तर्कानुमान से इसीलिये सर्वथा विलक्षण हुआ करता है। 'अनुमान' में प्रत्याय्य–प्रत्यायक–भाव का होना स्वाभाविक है क्योंकि यहां जो अप्रतीत हुआ करता है उसका प्रत्यायन अभिप्रेत

(३६ परिकर अलंकार)

(१८३) विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।

अर्थाद्विशेष्यस्य ।'उदाहरणम्—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ।।५१६।।

यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः, तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलङ्कारमध्ये गणितः ।

(३७ व्याजोक्ति अलङ्कार)

(१८४) व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥ ११८ ॥

निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा

रहा करता है । अनुमान में समर्थ्य-समर्थक-भाव नहीं क्योंकि यहां प्रतीत का-ज्ञात वस्तु-का प्रत्यायन नहीं हुआ करता । इस दृष्टि से अनुमान का काव्यलिङ्ग से भेद सिद्ध होता है ।

अनुवाद—'परिकर' वह अलंकार है जिसमें साभिप्राय विशेषणों के द्वारा प्रकृत अर्थ का प्रतिपादन किया जाया करता है ।

'यहां साकूतैर्विशेषणैरुक्तिः' में जिसकी उक्ति अथवा परिपुष्टि विवक्षित है वह 'विशेष्य'भूत अर्थ है (अन्य कुछ नहीं) । उदाहरण के लियेः—

'महाराज दुर्योधन का क्या कहना, जिसके मनोरथों को पूरा करने के लिये बड़े-बड़े महातेजस्वी, स्वाभिमानी, धन समृद्धि के द्वारा पुरस्कृत, अनेकानेक संग्रामों में लब्धप्रतिष्ठ, शत्रुपक्ष से सर्वथा विमुख और स्वपक्ष में एकमत से अवस्थित धनुर्धारी योद्धा प्राणों की वाजी लगाये पड़े हैं ।' (किरातार्जुनीय-१ सर्ग)

[यहां 'धनुर्भृतः'—यह विशेष्यभूत अर्थ 'महौजसः' इत्यादि विशेषणों द्वारा इसलिये परिपुष्ट किया जा रहा है जिसमें प्रस्तुत दुर्योधन-प्रताप रूप अर्थ का उत्कर्ष स्पष्टतया प्रतीत हुआ करे । 'महौजसः' आदि विशेषणों में जो कवि का अभिप्राय छिपा है वह दुर्योधन के धनुर्धारी योद्धाओं की अप्रधर्ष्यता, महाशूरता आदि है ।]

यहां यह शंका उठ सकती है—जब अर्थ की पुष्टि ही 'परिकर' है तब इसे 'अपुष्टार्थत्व' रूप दोष (जिसका विवेचन सातवें उल्लास में हो चुका है) का अभाव क्यों न मान लिया जाय (जिससे 'परिकर' अलङ्कार की यहां कल्पना न करनी पड़े)? किन्तु इसका समाधान यह है—(एक आध विशेषण के अभिप्राय-गर्भित होने में भले ही अपुष्टार्थत्व रूप दोष का अभाव भी मान लिया जाय, किन्तु) जब यह स्पष्ट है कि एक विशेष्य में अन्वित अनेकों साभिप्राय विशेषणों के उपनिबन्ध में एक चमत्कार रहा करता है तो इस 'चमत्कार' को (परिकर अलङ्कार के रूप में) अलङ्कारों में क्यों न गिना दिया जाय !

टिप्पणी—'परिकर' अलंकार का आधार विशेषणों का वैचित्र्य है । विशेषणों का विचित्र ढंग से अर्थात् विशेष्य के अधिकाधिक परिपोषक होने के रूप में प्रयोग तभी हो सकता है जब कवि उनके द्वारा अपने हृदय के अभिप्राय अथवा मनोभाव को अभिव्यक्त करना चाहता हो । यद्यपि साभिप्राय विशेषणों में कवि का अभिप्राय व्यङ्ग्य रहा करता है किन्तु अन्ततोगत्वा इसके द्वारा वाक्यार्थ ही उपस्कृत किया जाया करता है जिससे इस काव्य-वैचित्र्य को अलङ्कार-परिकर अलङ्कार-माना गया है न कि ध्वनि ।

अनुवाद – 'व्याजोक्ति' अलंकार वह है जिसमें स्पष्टतया प्रकट भी वस्तुस्वरूप का, किसी व्याज से छिपा कर, वर्णन किया जाया करता है ।

यहां 'उद्भिन्न' का अभिप्राय है 'अस्फुट भी वस्तु-स्वरूप के किसी चिह्न विशेष आदि

व्याजोक्तिः । न चैषाऽपह्नुतिः प्रकृतापकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात्, उदाहरणम्—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासंगभङ्गाकुलः ।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥ ५२० ॥

अत्र पुलकवेपथू सात्त्विकरूपतया प्रसृतौ शैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपितस्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयतः ।

(३८ परिसंख्या अलङ्कार)

(१८५) किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥ ११२ ॥

प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात्सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत्पर्यवस्यति सा भवेत्परिसंख्या । अत्र च कथनं प्रश्न-

---

के द्वारा स्फुटरूप से प्रतीत होने का' । 'छद्मना' का तात्पर्य है 'किसी व्यपदेश (बहाने) अथवा काल्पनिक कारण आदि के उपन्यास का' । और 'निगूहन' कहते हैं 'अपह्नव'–छिपाने को । इस प्रकार जहां अस्फुट भी वस्तुस्वरूप किसी चिह्न आदि द्वारा स्फुट प्रतीत होने पर पुनः किसी व्याज से छिपा कर वर्णित हो वहां 'व्याजोक्ति' अलंकार हुआ करता है ।

अपह्नव के अभिप्राय के यहां अन्तर्भूत होने से ऐसा नहीं माना जा सकता कि यह (व्याजोक्ति) अपह्नुति अलंकार ही है क्योंकि यहां प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) में किसी प्रकार की साम्यविवक्षा नहीं रहा करती (जिसका कि अपह्नुति में अवश्यंभाव अपेक्षित है) ।

उदाहरण के लिये :—

'वे महादेव जो पर्वतराज हिमालय के द्वारा समर्पित पार्वती के करतल के स्पर्श से रोमाञ्चित और कम्पित हो विवाह–मङ्गल की विधियों को अस्तव्यस्तरूप से निभाते हुये चकित होते रहे और पर्वतराज के अन्तःपुर की नारियों और नन्दी आदि गणों के द्वारा अपने भाव–विकारों के ताड़लिये जाने पर 'पर्वतराज हिमालय का हाथ ठण्ढा है' कह कर मुसकरा उठे, आप सब का सदा मंगल करते रहें ।'

यहां जो 'रोमाञ्च' और 'कम्प' (जिनका वर्णन किया गया है) वस्तुतः सात्त्विकभाव के रूप में (पार्वतीविषयक शिवगत रतिभाव के अनुभाव के रूप में) उद्भिन्न अथवा अभिव्यक्त प्रतीत हो रहे हैं, उनका अपलाप किया जा रहा है क्योंकि उन्हें पर्वतराज हिमालय की शीतलता के द्वारा सम्भूत बताया जा रहा है । इस प्रकार ये (रोमाञ्च और कम्प) 'व्याजोक्ति' के यहां प्रयोजक हैं ।

टिप्पणी—आलङ्कारिकों ने 'व्याजोक्ति' को एक भिन्न अलङ्कार इसीलिये माना है क्योंकि यहां 'अपलापमात्र' का अभिप्राय एक प्रकार का चमत्कार है । अपह्नुति में भी 'अपलाप' है किन्तु वहां दूसरा उद्देश्य–सादृश्य की अभिव्यक्ति है ।

अनुवाद—'**परिसंख्या**' वह अलंकार है जिसमें पूछी गयी अथवा न पूछी गयी किसी वस्तु का ऐसा शब्दतः प्रतिपादन हो जो अन्त में अपने समान किसी अन्य वस्तु के व्यच्छेद (निषेध) में परिणत हो जाय ।

'परिसंख्या' कहते हैं 'वर्जनबुद्धि' को अर्थात् जब अन्य प्रमाणों से अवगत भी किसी वस्तु का शब्दतः प्रतिपादन किया जाया करता है तब इसमें और प्रयोजन तो होता

पूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम्, तथोभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः। क्रमेणोदाहरणम्—

(१ प्रश्नपूर्विका व्यङ्ग्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या)

किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः।
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥ ५२१ ॥

(२ प्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या)

किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥ ५२२ ॥

(३ अप्रश्नपूर्विका व्यङ्ग्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या)

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥ ५२३ ॥

नहीं, जो भी बात होती है वह है उस वस्तु के समान अन्य किसी वस्तु के व्यवच्छेद अथवा व्यावर्तन (निराकरण) की बात। यहां जो कथन अथवा शब्दतः प्रतिपादन हुआ करता है वह प्रश्नपूर्वक भी हो सकता है और विना प्रश्नपूर्वक भी। साथ ही साथ प्रश्नपूर्वक कथन हो या विना प्रश्न के कथन हो, जिस वस्तु का व्यपोहन (निराकरण) किया जाया करता है वह भी दो प्रकार से हो सकता है (१) या तो वह व्यङ्ग्यरूप से रहे और (२) या वाच्यरूप से रहे। इस प्रकार 'परिसंख्या' चार प्रकार की हुई (१) प्रश्नपूर्विका व्यङ्ग्यव्यवच्छेद्या, (२) प्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या (३) अप्रश्नपूर्विका व्यङ्ग्यव्यवच्छेद्या और (४) अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या।

क्रमशः इसके उदाहरण ये हैं:—

'मनुष्यों के द्वारा सेव्य कौन सी वस्तु है? भगवती भागीरथी का पावन तट, एकान्त में ध्येय कौन सी वस्तु है? कौस्तुभाभरण भगवान् विष्णु का चरणयुगल, आराधना के योग्य क्या है? पुण्य और किसकी सदा चाह होनी चाहिये? करुणा की, ओह! वस्तुतः ये ही वे वस्तुएँ हैं जिनमें यदि मनुष्य का मन रम जाय तो शाश्वत मोक्ष मिलना बायें हाथ का खेल हो जाय!'

[यहां 'परिसंख्या' है क्योंकि शास्त्रविदित गंगातट-सेवनादि का प्रतिपादन इसीलिये है जिसमें गंगाभिन्न नदीतट-सेवनादि की व्यावृत्ति समझी जाय।]

यहां अन्य व्यवच्छेद व्यङ्ग्य है वाच्य नहीं।

'वह कौन सा भूषण है जो कभी नष्ट न हो? यश, न कि रत्न; वह कौन सा कार्य है जिसका करना उचित है? महात्माओं के द्वारा आचरित पुण्यकार्य, न कि पापकृत्य; वे कौन से नेत्र हैं जो सर्वदर्शक हैं? बुद्धि, न कि चर्मचक्षु और वह कौन सा व्यक्ति है जो इन सब बातों को जानता है? तुम्हीं, न कि और कोई।'

[यहां 'परिसंख्या' है क्योंकि अन्य प्रमाणों से अवगत भी यश आदि की भूषणता इसीलिये प्रतिपादित है जिसमें यश आदि के अतिरिक्त रत्न आदि की भूषणता की व्यावृत्ति हो जाय। यहां जो व्यावृत्ति है वह 'न' के प्रयोग में वाच्य है।]

'प्रिये! कुटिलता तेरे केशपाश में है (न कि तेरे अन्तःकरण में) राग तेरे हाथ, पैर

(४ अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या)

भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥ ५२४ ॥

(३९ कारणमाला अलंकार)

(१८६) यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात् ,

उत्तरमुत्तरम्प्रति यथोत्तरम्।

उदाहरणम्—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ ५२५ ॥

('हेतु' अलंकार की मान्यता का खण्डन)

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतु'रिति हेत्वलङ्कारो न लक्षितः। आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्।

और ओठ में है (न कि किसी दूसरे के लिये तेरे मन में), कड़ापन तेरे कुचों में है (न कि तेरे हृदय में) और तेरे नेत्र भले ही चञ्चल हों (मन चञ्चल नहीं)।'

[यहां केशपाश आदि में कुटिलता आदि के प्रतिपादन से हृदय में कुटिलता आदि की व्यावृत्ति अभिव्यक्त हो रही है।]

'महापुरुषों की आसक्ति तो भगवान् शिव के प्रति हुआ करती है न कि वैभव-विलास के प्रति, उनमें व्यसन शास्त्र का हुआ करता है न कि काम के अमोघ अस्त्र-युवती का और उनकी चिन्ता ! वह यश के लिये भले ही हो, देह (और उसके सुख-दुख) के लिये कभी नहीं।'

[यहां महापुरुषों की शिव के प्रति आसक्ति आदि के प्रतिपादन से वैभवादि के प्रति आसक्ति आदि की व्यावृत्ति अभिप्रेत है जो कि शब्दतः प्रतिपादित की जा रही है।]

टिप्पणी—यद्यपि आलंकारिकों ने 'परिसंख्या' अलंकार की रूप-रेखा मीमांसा की 'परिसंख्या-विधि' के आधार पर निर्धारित की है क्योंकि जैसे 'परिसंख्याविधि' का अभिप्राय निषेध-पर्यवसायी (अन्त में निषेधात्मक) हुआ करता है वैसे ही 'परिसंख्या' अलंकार का भी अभिप्राय शब्दतः प्रतिपाद्य के वर्जन और उससे भिन्न के संख्यान (वर्णनीयरूप से गणन) का ही हुआ करता है, किन्तु जहां अलंकारशास्त्र की 'परिसंख्या' में कवि प्रतिभा का हाथ रहा करता है वहां मीमांसाशास्त्र की 'परिसंख्या' में शास्त्र-प्रेरणा का।

अनुवाद—'कारणमाला' वह अलंकार है जिसमें उत्तरोत्तरवर्ती अर्थ के प्रति पूर्वपूर्ववर्ती अर्थ कारणरूप से उपनिबद्ध हुआ करते हैं।

यहां 'यथोत्तरम्' का अभिप्राय है 'उत्तरोत्तरवर्ती' (अर्थ) का (न कि जैसा आगे हो वैसे का)। जैसे कि:—

'जितेन्द्रियता से नम्रता आती है, नम्रता से गुणसमृद्धि होती है, गुणसमृद्धि से लोगों का प्रेम मिलता है और लोगों के प्रेम से मिलती है सारी संपदा।'

[यहां 'जितेन्द्रियता से नम्रता, नम्रता से गुणसमृद्धि, गुणसमृद्धि से जनानुराग और जनानुराग से संपदा की प्राप्ति के वर्णन में पूर्वपूर्ववर्ती अर्थ उत्तरोत्तरवर्ती अर्थ के प्रति कारणरूप से उपनिबद्ध है।']

यहां (आचार्य रुद्रट के अभिमत) 'हेतु' अलंकार का—जिसमें हेतुमान् (कार्य) के साथ हेतु (कारण) का अभेदपूर्वक अभिधान विवक्षित माना गया है—निरूपण अभिप्रेत

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कंठाकरः कालः ॥ ५२६ ॥

इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न पुनर्हेत्वलङ्कारकल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिंगमेव हेतुः ।

(४० अन्योन्य अलंकार)

(१८७) क्रियया तु परस्परम् ॥ १२० ॥

वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम् ,—

नहीं क्योंकि 'कार्य के साथ कारण का अभेदतः अभिधान' वैसा ही है जैसा कि 'आयुर्घृतम्' आदि का प्रयोग (जहां आयु (हेतुमत्–कार्य) के साथ घृत (हेतु–कारण) का अभेदतः अभिधान तो अवश्य है किन्तु) जिसमें न तो कोई चमत्कार है और न अलंकार बनने की क्षमता ।

यहां यह आशंका कि यदि 'हेतु' अलंकार को अलंकार न माना गया तब इस सूक्ति अर्थातः—

'अब आ ही पहुँचा–वह सुहावना समय आ पहुँचा जो कमलों का शाश्वत विकास है, भ्रमरों का मदोन्माद है, कोकिलों का आनन्दोल्लास है और है प्राणिमात्र में प्रेम का जनक!!' में प्राचीन काव्याचार्य (रुद्रट) सम्मत काव्यात्मकता निराधार हो जायगी, ठीक नहीं जँचती क्योंकि यहाँ (अविरलकमलविकासः आदि सूक्ति में) प्राचीन काव्याचार्यों के अनुसार जो काव्यमयता है वह (यहां वसन्तकालरूप कारण और कमलविकासादिरूप कार्यों में अभेदतः अभिधान की भ्रान्ति से, 'हेतु' अलंकार की कल्पना पर निर्भर नहीं अपितु कोमल वर्णविन्यास आदि के वैचित्र्य पर निर्भर है। (क्योंकि यहां भी वसन्त कालरूप कारण और कमल विकासादिरूप कार्य के अभेदाभिधान में 'आयुर्घृतम्' की भांति शुद्ध सारोपा लक्षण ही है) अन्त में निष्कर्ष यही है जिस 'काव्यलिङ्ग' अलंकार का पहले प्रतिपादन किया जा चुका है उसी को हेतु (अथवा काव्यहेतु) भले ही कह लिया जाय ('हेतु' नाम का काव्यलिङ्ग से पृथक् कोई अलंकार नहीं हो सकता) ।

टिप्पणी—इसमें कोई सन्देह नहीं कि भामह के पहले से ही काव्याचार्यों की परम्परा में 'हेतु' अलंकार माना जाता आरहा है क्योंकि **'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः । समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥'** (काव्यालंकार २. ८६) इस प्रकार 'हेतु' की ही मान्यता का खण्डन भामह ने किया है । बाद के आचार्य दण्डी ने इसी 'हेतु' की पुनः स्थापना (काव्यादर्श २. २३५–२५९) की है और इसके विविध विकल्पों का रूप–निरूपण किया है । दण्डी की 'हेतु'–सम्बन्धी इस उक्ति अर्थात्ः—

'तेऽमी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यपाश्रयाः । अत्यन्तसुन्दरा दृष्टास्तदुदाहृतयो यथा ॥' से 'हेतु' के अलंकार होने में 'सारोपा गौणी लक्षणा' का आधार स्पष्ट प्रतीत होता है । आचार्य मम्मट ने यहां जिस प्राचीन आलंकारिक की हेतुसम्बन्धी मान्यता की आलोचना की है वह 'उद्भट' नहीं जैसा कि वामनाचार्य की काव्यप्रकाशव्याख्या (बालबोधिनी पृष्ठ ७०६) में भ्रमवश उल्लेख है अपितु 'रुद्रट' हैं क्योंकि रुद्रट ने ही अपने काव्यालंकार (७. ८२) में हेतु का यह लक्षण किया है :—

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद् यत्र । सोऽलंकारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथक्भूतः ॥'

आचार्य मम्मट का 'हेतु'–खण्डन सर्वथा युक्तिसंगत है ।

अनुवाद—'अन्योन्य' वह अलंकार है जिसे क्रिया के द्वारा पदार्थों के परस्पर उत्पादक होने का चमत्कार कहा जा सकता है ।

अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्यनामाऽलङ्कारः।

उदाहरणम्—

हंसाणं सरेहिं सिरी सारिज्जइ अह सराण हंसेहिं।
अण्णोण्णं विअ एए अप्पाणं णवर गरुअन्ति ॥ ५२७ ॥

(हंसानां सरोभिः श्रीः सार्यते अथ सरसां हंसैः।
अन्योन्यमेव एते आत्मानं केवलं गरयन्ति ॥ ५२७ ॥)

अत्रोभयेषामपि परस्परं जनकता मिथः श्रीसारतासम्पादनद्वारेण।

(४१ उत्तर अलंकार)

(१८८) उत्तरश्रुतिमात्रतः।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥ १२१ ॥
असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्।

('उत्तर' का प्रथम प्रकार)

प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्यं यत्र कल्प्यते तदेकं तावदुत्तरम्।

उदाहरणम्—

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अम्हाणं वग्घकित्तीअ।
जावलुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोण्हा ॥ ५२८ ॥

वह अलंकार जिसे 'अन्योन्य' कहते हैं वहां हुआ करता है जहां पदार्थों में एक क्रिया अर्थात् एकजातीय क्रिया के उत्पादन के द्वारा (न कि साक्षात्) परस्पर कार्यकारण भाव की प्रतीति हुआ करती है। उदाहरण के लिये :—

'हंसों की शोभा तो सरोवरों से बढ़ायी जाया करती है और सरोवरों की शोभा बढ़ायी जाया करती है हंसों से क्योंकि ये दोनों परस्पर एक दूसरे के महत्त्व के ही तो वर्द्धक हैं।'

यहां दोनों अर्थात् हंसों और सरोवरों में जो परस्पर जन्यजनक भाव की संभावना हो रही है। वह (वस्तुगत्या नहीं अपितु) उनके परस्पर एक दूसरे की शोभावृद्धि के संपादन करते रहने के कारण (और इसीलिये इस सूक्ति में 'अन्योन्य' अलंकार अभिप्रेत है।

टिप्पणी—'अन्योन्य' अलंकार का यहां जो स्वरूप निर्दिष्ट है उसका आधार रुद्रट की यह 'अन्योन्य' परिभाषा है :—

'यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया।
संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम् ॥' (काव्यालंकार ७. ९१)

किन्तु रुद्रट की परिभाषा में 'क्रिया के द्वारा पदार्थों के निर्विलक्षण कारकभाव' में यदि अस्फुटता है तो काव्यप्रकाशकार की परिभाषा में 'क्रिया के द्वारा पदार्थों के जन्यजन्यकभाव' में स्फुटता है। संभवतः रुय्यक के 'अन्योन्य'-लक्षण-परस्परं क्रिया जननेऽन्योन्यम्' के द्वारा अन्योन्य का जो स्वरूप परिष्कृत हुआ है उसी का यहां भी उन्मीलन हो रहा है।

अनुवाद—'उत्तर' अलंकार वह है जिसमें या तो (प्रश्न के न होने पर भी) उत्तर के श्रवणमात्र से प्रश्न की कल्पना कर ली जाय या प्रश्न के रहते हुये भी ऐसे उत्तर की कल्पना की जाय जिसकी साधारणतया कोई संभावना भी न करे।

यहां (दो प्रकार के उत्तर का निर्देश है, जिसमें) पहला 'उत्तर' का प्रकार वह है जहां प्रतिवचन अर्थात् उत्तर के प्रतिलम्भ अथवा अवबोध से ही पूर्ववाक्य (प्रश्नवाक्य) का उन्नयन अथवा अनुमान कर लिया जाया करता है। जैसे कि :—

(वाणिजक ! हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ॥ ५२८ ॥)

हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तीनामहमर्थी ताः मूल्येन प्रयच्छेति क्रेतुर्वचनम् अमुना वाक्येन समुन्नीयते । न चैतत् काव्यलिङ्गम् उत्तरस्य ताद्रूप्यानुपपत्तेः । नहि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः । नापीदमनुमानम् एकधर्मिनिष्ठतया साध्यसाधनयोरनिर्देशादित्यलंकारान्तरमेवोत्तरं साधीयः ।

('उत्तर' का द्वितीय प्रकार)

प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यदसंभाव्यरूपं प्रतिवचनं स्यात्तद परमुत्तरम् अनयोश्च सकृदुपादाने न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम् ।

उदाहरणम्—

का विसमा देव्वगई किं लद्धं जं जणो गुणग्गाही ।
किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोओ ॥ ५२९ ॥

(का विषमा दैवगतिः किं लब्धव्यं यज्जनो गुणग्राही ।
किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत्खलो लोकः ॥ ५२९ ॥)

'(वणिक् के प्रति व्याध की उक्ति)—अरे वणिक् ! मेरे घर में भला जब तक घुंघराले बालों वाली मेरी पुत्रवधू विराजे, हाथी के दांत और बाघ के चमड़े कहां से मिल सकेंगे !'

यहां (व्याध के) प्रतिवचन अथवा उत्तरपरक वाक्य से विक्रेता (वणिक्) के इस प्रश्न का उन्नयन अथवा अनुमान हो रहा है—'अरे व्याध ! मुझे चाहिये हाथी के दांत और बाघ के चमड़े, लाओ और जो मूल्य हो ले लो ।'

यहां 'काव्यलिङ्ग' अलंकार का संदेह न होना चाहिये क्योंकि यहां उत्तरवाक्य को (उससे अनुमित प्रश्न वाक्य के प्रति) हेतु नहीं माना जा सकता । (हेतु तो दो ही प्रकार का सम्भव है कारक अथवा ज्ञापक, तब) भला उत्तर को प्रश्न का कारकरूप हेतु कैसे कहा जाय ! (हां ज्ञापकरूप हेतु तो इसे कहा जा सकता है किन्तु 'काव्यलिङ्ग' के लिये हेतु का कारकरूप हेतु होना अपेक्षित है न कि ज्ञापकरूप हेतु) । 'उत्तर' अलंकार को 'अनुमान' अलंकार से भी गतार्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि 'अनुमान' में जो बात आवश्यक है वह है साध्य और साधन का एकधर्मी में साध्य-साधन भावरूप से निर्देश और यहां (उत्तर में) भला ऐसा निर्देश कहां (क्योंकि यहां उत्तर से प्रश्न के अनुमान होने पर भी साध्य का निर्देश तो कहीं नहीं) ! इसलिये अच्छा तो यही है कि 'उत्तर' को (काव्यलिङ्ग और अनुमान से सर्वथा भिन्न) एक अन्य अर्थालङ्कार-प्रकार ही मान लिया जाय ।

'उत्तर' का दूसरा प्रकार वह है जहां प्रश्न के बाद एक ऐसा उत्तर मिले जो इसलिये दुर्ज्ञेय प्रतीत हो क्योंकि अन्य किसी प्रमाण के द्वारा इसका परिचय न प्राप्त किया जासके। इस 'उत्तर'-प्रकार में प्रश्न और उत्तर का एक बार से अधिक होना इसलिये अपेक्षित है क्योंकि इनके एक बार ही होने में कोई चमत्कार नहीं (और जब चमत्कार ही नहीं तो 'अलङ्कार' कहां से आ जाय !) उदाहरण के लिये—

'वह कौन सी वस्तु है जो बड़ी विकट है ? भाग्य की चाल; ऐसी कौन वस्तु है जो दुर्लभ हो ? गुण का ग्राहक व्यक्ति; वह वस्तु क्या है जिसे सुख कहते हैं ? पतिव्रता स्त्री और वह क्या है जिसे दुःख कहा जाता है ? बस, दुष्टों का संग !'

[यहां 'का विषमा' आदि अनेक बार किये गये प्रश्नों के 'दैवगतिः' आदि जो अनेक बार दिये गये उत्तर हैं वे सर्वजनसंवेद्य नहीं अपि तु एक प्रकार से अप्रसिद्ध किं वा अलौकिक उत्तर हैं और इसीलिये यहां 'उत्तर' अलङ्कार का चमत्कार है ।]

('परिसंख्या' (प्रश्नपूर्विका परिसंख्या) से 'उत्तर' का भेद)

प्रश्नपरिसंख्यायामन्यव्यपोहे एव तात्पर्यम् इह तु वाच्ये एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेकः ।

(४२ सूक्ष्म अलंकार)

(१८६) कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥ १२२ ॥
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ।

कुतोऽपि आकारादिङ्गिताद्वा सूक्ष्मस्तीक्ष्णमतिसंवेद्यः ।

उदाहरणम्—

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धै-
दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या
स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥ ५३० ॥

अत्राकृतिमवलोक्य कयाऽपि वितर्कितं पुरुषायितं असिलतालेखनेन वैदग्ध्यादभिव्यक्तिमुपनीतं पुंसामेव कृपाणपाणिता योग्यत्वात् ।

'उत्तर' अलंकार और 'प्रश्नपूर्विका परिसंख्या' अलंकार में परस्पर भेद इसी से स्पष्ट है कि जहां 'प्रश्नपूर्विका परिसंख्या' का (जैसे कि 'किमासेव्यं पुंसाम्' आदि प्रसङ्गों में) तात्पर्य वस्तुतः अन्यव्यपोह–अन्यव्यवच्छेद (जैसे कि रत्न आदि के निराकरण) में रहा करता है वहां 'उत्तर' का तात्पर्य निगूढ वाच्यार्थ (जैसे कि दैवगति में अधिकाधिक वैषम्य आदि) के ही प्रतिपादन में ।

टिप्पणी—यद्यपि मम्मट का उत्तरालंकार–लक्षण रुद्रट के इस उत्तरालंकार–निरूपण अर्थात्—
'उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम् । क्रियते तदुत्तरं स्यात् प्रश्नादप्युत्तरं यत्र ॥'

(काव्यालंकार ७. ९३)

से प्रभावित है किन्तु रुद्रट के 'प्रश्नादप्युत्तरं यत्र तदुत्तरम्' के विकल्प में वह बात स्पष्ट नहीं जो कि मम्मट के 'असकृद् यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्' में स्पष्ट हो रही है । संभवतः रुय्यक की 'उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम्' (अलंकारसर्वस्व–काव्यमाला, पृष्ठ २१६) इस 'उत्तर' परिभाषा के आधार पर मम्मट ने उत्तरालंकार का विवेचन किया है ।

अनुवाद—'सूक्ष्म' अलंकार वह है जिसमें किसी ज्ञापक हेतु (आकार अथवा इंगित) के द्वारा प्रतीत भी अर्थ किसी असाधारण (स्मारक) धर्म के उपन्यास से सहृदयहृदयसंवेद्य बनाकर प्रतिपादित किया जाय ।

यहां 'कुतोऽपि' 'किसी प्रकार से भी' का अभिप्राय है 'आकार द्वारा' अथवा 'चेष्टा द्वारा' का । 'सूक्ष्म' से तात्पर्य है 'सहृदयमात्रसंवेद्य' से । जैसे कि—'किसी सखी ने अपनी प्रियसखी किसी नायिका के कण्ठ में उसके मुखमण्डल से टपके स्वेदबिन्दुओं की धार से उसके कुंकुम के बहे मुखराग को गले में लगा देख, मुसकुरा कर, उसकी हथेली पर (पत्रावली रचना के बदले) एक खड्ग का रेखाचित्र ऐसा रच दिया जिससे उसकी पुरुषायित रतिलीला स्पष्ट सूचित होने लगी ।'

यहां 'सूक्ष्म' अलंकार के रूप में जो अर्थ चमत्कारपूर्ण प्रतीत हो रहा है वह है नायिका की 'पुरुषायित' रतिक्रीडा का सहृदयसंवेद्य अर्थ क्योंकि यद्यपि यह अर्थ नायिका के आकार (अर्थात् कण्ठ में कुंकुम के मुखराग) के निरूपण से ही उसकी सखी पर स्पष्ट प्रकट है (जैसा कि यहां प्रतिपादित है) किन्तु उसकी सखी की रची उसकी हथेली पर पत्रावली के रूप में खड्गाकार रेखा के (स्मारक चिह्न) द्वारा जो उसे (नायिका

यथा वा—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
ईषन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥ ५३१ ॥

अत्र जिज्ञासितः संकेतकालः कयाचिदिङ्गितमात्रेण विदितो निशासमयशंसिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रतिपादितः।

(४३ 'सार' अलंकार)

(१९०) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥ १२३ ॥

परः पर्यन्तभागोऽवधिर्यस्य धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षस्य विश्रान्तेः।

उदाहरणम्—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥ ५३२ ॥

के प्रति या अन्य सखियों के प्रति) पुनः प्रकाशित किया जाता हुआ प्रतिपादित किया गया है उसमें एक वैचित्र्य है क्योंकि किसी स्त्री की हथेली पर कृपाण की रेखा की रचना, जिसका औचित्य पुरुष की हथेली पर है क्योंकि कृपाणधारण पुरुष का धर्म है, एक सूक्ष्म अर्थ का ही अभिव्यञ्जन कर सकती है (और वह अर्थ है नायिका की विपरीत रतिक्रीडा का ही अर्थ)।

अथवा यहाँ:—

'किसी परमविदग्ध उपनायिका ने कुछ-कुछ आंखों के संकेत से ही अपने मन की बात बता चुकने वाले किसी उपपति को देख और यह जान कर कि वह मिलन की घड़ी पूछ रहा है ऐसा किया कि अपने हाथ में मनोविनोद के लिये रखे कमल की पंखुड़िओं को सिकोड़ लिया।'

यहां 'सूक्ष्म' अलंकार के रूप में जो अर्थ चमत्कारक है वह है रात के समय के सूचक कमलनिमीलनरूप चेष्टा विशेष द्वारा 'मिलन की घड़ी' की सूचना का अर्थ क्योंकि यद्यपि यह अर्थ, यहां प्रतिपादित उपपति के नेत्रों के संकेत से भी प्रतिपन्न है किन्तु 'लीलाकमल के उपनायिका द्वारा सिकोड़ लेने के' चेष्टाविशेष से इसका जो प्रतिपादन है उसमें एक चमत्कार आ गया है क्योंकि यह सूक्ष्ममतिवेद्य बन गया है।

टिप्पणी—भामह के पहले भी आलंकारिक 'सूक्ष्म' अलंकार को एक अतिरिक्त अलंकार मानते रहे हैं किन्तु भामह ने इसे इसलिये अलंकार नहीं माना क्योंकि इसमें कोई उक्ति-वैचित्र्य नहीं, 'सूक्ष्मः...नालंकारतया मतः। समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥' (काव्यलंकार २. ८६)। दण्डी के अनुसार 'सूक्ष्म' अलंकार एक स्वतन्त्र अलंकार है—

'इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः।' (काव्यादर्श २. २६०)

रुद्रट ने भी 'सूक्ष्म' नामक अलंकार को एक पृथक् अलंकार के रूप में देखा है:—

'यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसंबद्धम्।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत् संजायते सूक्ष्मम् ॥' (काव्यालंकार ७. ९८)

किन्तु रुद्रट का सूक्ष्म-लक्षण वह नहीं जो दण्डी का है अथवा रुय्यक का है। काव्यप्रकाशकार ने वस्तुतः रुय्यक की दृष्टि से 'सूक्ष्म' का स्वरूप-दर्शन किया है।

अनुवाद—'सार' अलंकार वह है जिसमें किसी का उत्कर्ष-वर्णन उत्तरोत्तर पराकाष्ठा पर पहुंचता प्रतिपादित हुआ करता है।

यहां उत्कर्ष की 'परावधि' का अभिप्राय है किसी की उत्तरोत्तर उत्कृष्टता के वर्णन का अन्त में पराकाष्ठा पर पहुंच कर समाप्त होने का। उदाहरण के लिये—

'राज्य में यदि कोई सार है तो वह है पृथिवी, पृथिवी में यदि कोई सार है तो वह है

(४४ असंगति अलंकार)

(१६१) भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥ १२४ ॥

इह यद्देशं करणं तद्देशमेव कार्यमुत्पद्यमानं दृष्टं यथा धूमादि। यत्र तु हेतुफलरूपयोरपि धर्मयोः केनाप्यतिशयेन नानादेशतया युगपदवभासनं सा तयोः स्वभावोत्पन्नपरस्परसंगतित्यागादसंगतिः ।

उदाहरणम्—

जस्सेअ वणो तस्सेअ वेअणा भणइ तं जणो अलिअम् ।
दंतक्खअं कवोले वहूए वेअणा सवत्तीणम् ॥ ५३३ ॥

(यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम् ॥ ५३३ ॥)

नगर, नगर में यदि कोई सार है तो वह है सौध (प्रासाद), सौध में यदि कोई सार है तो वह है पर्यङ्क और पर्यङ्क में जो सारतत्त्व है वह है मदनसर्वस्व एक सुन्दरी !'

[यहां अनेक वस्तुओं की उत्कृष्टता का प्रतिपादन है किन्तु पूर्वपूर्ववर्णित वस्तु का उत्कर्ष अन्तिम (सुन्दरी स्त्री-रूप) वस्तु में ही चरम सीमा पर पहुंचता प्रतीत हो रहा है जिसमें 'सार' अलंकार की रूपरचना स्पष्ट है ।]

टिप्पणी—काव्यप्रकाशकार ने 'सार' अलंकार का स्वरूप रुद्रट के इस सार-निरूपण—

'यत्र यथा समुदायाद् यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति ।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद्भवेत् सारम् ॥' (काव्यालंकार ७. ९६)

के आधार पर देखा है और इसका उदाहरण भी वही दिया है जो कि रुद्रट का दिया हुआ है क्योंकि 'राज्ये सारं वसुधा' आदि सूक्ति रुद्रट के काव्यालंकार (७. ९७) की ही सूक्ति है ।

अनुवाद—'असंगति' अलंकार उसे कहते हैं जिसमें कार्यकारणरूप से अवस्थित धर्मों का ऐसा प्रतिपादन किया जाय कि भिन्न देश में भी, वे अपने किसी उत्कर्ष विशेष के द्वारा, साथ ही साथ अवस्थित प्रतीत हुआ करे ।

वैसे तो लोक में यही देखा जाता है कि कारण का जो देश हो उससे उत्पन्न होने वाले कार्य का भी वही देश हुआ करता है जैसे कि धूम आदि रूप कार्य वहीं देखे जाते हैं जहां अग्नि आदिरूप कारण उपस्थित रहें । किन्तु काव्य में ऐसी बात सदा नहीं हुआ करती क्योंकि यहां तो कार्यकारणरूप से अवस्थित भी धर्मों की स्थिति, उनके किसी उत्कर्ष-विशेष के कारण, भिन्न-भिन्न देशों में भी, एक समय में ही, प्रतिपादित हुआ करती है । यहीं वस्तुतः 'असंगति' अलंकार की रूपरेखा है क्योंकि 'असंगति' का अभिप्राय है कार्य और कारण का अपनी स्वाभाविक संगति अर्थात् एकदेश में उपस्थिति का परित्याग कर देना । जैसे किः—

'लोग जो ऐसा कहा करते हैं कि जिसे घाव हो उसे ही पीडा होती है ठीक नहीं क्योंकि घाव तो वधू के कपोल पर रहे और पीडा हो रही है सपत्नीजन को !'

यहां कार्य और कारण—पीडा और दन्तक्षत—इस प्रकार वर्णित है कि ये अपनी स्वाभाविक संगति—एकत्र अवस्थिति—का परित्याग करते प्रतीत हो रहे हैं जिससे वधू के कपोलों पर पड़े पति के दन्तक्षत की सपत्नियों के लिये असह्यता का अभिप्राय विशेष रूप से स्पष्ट प्रतिपादित किया जा रहा है । इसलिये यहां जो अलंकार है वह 'असंगति' है ।

('असंगति' का 'विरोधाभास' से भेद)

एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधितायाः प्रतिभासात्। विरोधे तु विरोधित्वं एकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवसितम् अपवाद-विषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः। तथा चैवं निदर्शितम्।

(४५ 'समाधि' अलंकार)

(१६२) समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः।

साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा यदक्लेशेन कार्यमारब्धं समाधीयते स समाधिर्नाम। उदाहरणम्—

('असंगति' अलंकार को 'विरोधाभास' अलंकार से गतार्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि) 'असंगति' अलंकार 'विरोधाभास' नहीं अपितु विरोधाभास के (यथास्थान) बाधकरूप में रहा करता है क्योंकि 'असंगति' में जो कार्य और कारण में अनुपपत्तिरूप विरोध रहा करता है वह उनके भिन्न देश में उपस्थित होने में ही प्रतीत हुआ करता है। इसके विपरीत 'विरोधाभास' में जो बात है जिसका विरोधाभास के निरूपण के प्रसंग में उल्लेख नहीं किया गया, वह यह है कि यहां विरोध (कार्य और कारण की अपनी स्वाभाविक संगति के परित्याग में ही नहीं अपितु) भिन्न-भिन्न देशवर्ती वस्तुओं की एकदेशवर्तिता में भी रहा करता है और यहां ऐसा समझना इसलिये आवश्यक है क्योंकि 'विरोधाभास' तो एक उत्सर्गशास्त्र के समान है और 'असंगति' है अपवादशास्त्र के समान और इस प्रकार (प्रकल्प्य वाऽपवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते' इस नियम के अनुसार) 'विरोधाभास' वहां ही संभव है (अर्थात् विरोधसामान्य के प्रसङ्गों में) जहां 'असंगति' (जो इसका अपवाद है क्योंकि यह विरोधविशेष जैसे कि कार्य और कारण की भिन्न-भिन्न देश में अवस्थिति के प्रसङ्गों में ही संभव है) की संभावना नहीं। वस्तुतः इन सब बातों को ही ध्यान में रख कर यहां 'असंगति' का (ऐसा लक्षण–निरूपण और) निदर्शन किया गया।

टिप्पणी—'असंगति' का स्वरूप रुद्रट के अनुसार यह रहा—

'विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र। यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयाऽसंगतिः सेयम्॥'
(काव्यालंकार ९. ४८)

और इसी का दर्शन काव्यप्रकाशकार ने यहां अपने असंगति-विवेचन में किया है। 'असंगति' में 'अतिशय' का यह सिद्धान्त—

'यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति।
कश्चित् क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥' (काव्यालंकार ९. १)

अन्तर्भूत है जिसे काव्यप्रकाशकार ने 'हेतुफलरूपयोरपि धर्मयोः केनाप्यतिशयेन' इत्यादि उक्ति में स्वीकार किया है।

अनुवाद—'समाधि' अलंकार वह है जिसमें किसी कार्य के, (उसके नियत कारण के अतिरिक्त भी) अन्य कारणों के संयोग से, सौकर्य (अनायास सिद्धि अथवा सम्पूर्णतया सिद्धि) का प्रतिपादन अपेक्षित रहा करता है।

'समाधि' कहते हैं प्रारम्भ किये गये कार्य के समाधान अथवा सम्पादन को और ऐसा इसलिये क्योंकि कार्यकर्ता को (कार्य के नियत साधन के अतिरिक्त भी) अपने कार्य में अन्य साधनों के द्वारा सहायता मिल जाया करती है जिससे उसका कार्य बिना आयास से सम्पूर्णतया संपन्न हो जाया करता है। उदाहरण के लिये :—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥ ५३४ ॥

(४६ 'सम' अलंकार)

(१९३) समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥१२५॥

इदमनयोः श्लाघ्यमिति योग्यतया सम्बन्धस्य नियतविषयमध्यवसानं चेत्तदा समम्, तत्सद्योगेऽसद्योगे च ।

उदाहरणम्—

धातुः शिल्पातिशयनिकषस्थानमेषा मृगाक्षी
रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपत्रः स्मरस्य ।
जातं दैवात्सदृशमनयोः संगतं यत्तदेतत् ।
शृंगारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम् ॥ ५३५ ॥

चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रम्
जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता ।

'जैसे ही मैंने प्रियतमा का मान दूर करने के लिये उसके पैरों पर गिरना प्रारम्भ किया वैसे ही अकस्मात् भाग्यवश मेघ की गर्जना भी मेरी सहायता के लिये हो गयी!'

[यहां 'समाधि' है क्योंकि 'माननिराकरण' रूप कार्य के 'पादपतन' रूप कारण के द्वारा सम्पन्न होते ही 'मेघगर्जन' रूप अन्य कारण भी सहायक रूप से उपस्थित होता हुआ प्रतिपादित किया जा रहा है]

टिप्पणी—काव्यप्रकाशकार का 'समाधि'-लक्षण आचार्य दण्डी के इस समाहित (समाधि) लक्षण अर्थात्—

'किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः ।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ॥' (काव्यादर्श २.२९८)

का अनुसरण करता है और काव्यप्रकारकार ने इसका जो उदाहरण—'मानमस्या' आदि दिया है वह भी काव्यादर्श (२.२९९) की ही सूक्ति है ।

अनुवाद—'सम' अलंकार उसे कहते हैं जिसमें किन्हीं वस्तुओं के ऐसे सम्बन्ध का प्रतिपादन हो जो कि सर्वसम्मति से सर्वथा उचित प्रतीत हो ।

'सम' का अभिप्राय है किन्हीं दो वस्तुओं के ऐसे मेल का जिसे श्लाघ्य मानें और जिसकी निश्चयरूप से प्रतीति हो जाया करे । यह मेल (संयोगादिरूप अथवा कार्यकारण-भावरूप सम्बन्ध) दो प्रकार का हो सकता है या तो दो सद् वस्तुओं का मेल हो या दो असद् वस्तुओं का मेल हो । उदाहरण के लिये:—

(१) 'यह तो वस्तुतः प्रेम का एकच्छत्र राज्य ही विराजमान है कि इन दोनों का अर्थात् एक तो उस मृगनयनी सुन्दरी का, जो कि विधाता के रूपनिर्माणकौशल की कसौटी सी ही है और दूसरे इस अनुपम राजकुमार का, जो कि कामदेव को भी सुन्दरता का प्रमाणपत्र देने में समर्थ है, भाग्यवश ऐसा सम्बन्ध जुट गया कि सभी का मन रह गया ।'

[यहां मृगनयनी नायिका और कामाधिक सुन्दर राजकुमार-दोनों शोभन पदार्थों का संयोग वर्णित है जिसमें सद्योग में 'सम' अलंकार का रूप स्पष्ट है ।]

(२) 'कितनी विचित्रता है, कितना आश्चर्य है, कैसी अनोखी बात है कि विधाता भी अब सृष्टिनिर्माण में औचित्य का ध्यान रखने लगे ! क्योंकि जहां नीम के पके फलों

यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥ ५३६ ॥

(४७ 'विषम' अलंकार)

(१९४) क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥ १२६ ॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥ १२७ ॥

द्वयोरत्यन्तविलक्षणतया यद् अनुपपद्यमानतयैव योगः प्रतीयते (१) यच्च किंचिदारभमाणः कर्त्ता क्रियायाः प्रणाशात् न केवलमभीष्टं यत्फलं न लभेत यावदप्रार्थितमप्यनर्थं विषयमासादयेत् (२) तथा सत्यपि कार्यस्य कारणरूपानुकारे यत् तयोर्गुणौ क्रिये च परस्परं विरुद्धतां व्रजतः (३, ४) स समविपर्ययात्मा चतूरूपो विषमः ।

(निमकौड़ियों) का स्वाद रचा गया वहां उसके पहुँचे हुए जानकार कौए भी बना ही दिये गये !'

[यहां नीम के फल के स्वाद और उसके गुणग्राही कौओं–दोनों निकृष्ट वस्तुओं–का उचित योग विवक्षित है जिसमें असद् योग में 'समालंकार' स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।]

टिप्पणी—काव्यप्रकाशकार ने अपने सम-लक्षण में रुद्रट के इस 'साम्य'-लक्षण अर्थात्—

'अर्थक्रियया यस्मिन्नुपमानस्येति साम्यमुपमेयम् ।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत्साम्यम् ॥
सर्वाकारं यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम् ।
उपमेयोत्कर्षकरं कुर्वीत विशेषमन्यत्तत् ॥' (काव्यालंकार ८.१०५, १०७)

का ही परिष्कार किया है जिसमें अलङ्कारसर्वस्वकार की भी सम्मति, जैसा कि इस कथन अर्थात्—

'अन्त्यभेद (अननुरूपसंसर्गं) विपर्ययस्तु चारुत्वात्समाख्योऽलंकारः । स चाभिरूपाऽनभिरूपविषयत्वेन द्विविधः ।' (अलंकारसर्वस्व-काव्यमाला पृष्ठ १६७)

से स्पष्ट प्रतीत होती है ।

अनुवाद—'विषम' अलंकार (जो कि 'सम' अलंकार का विपर्ययरूप है) वह है जिसमें (१) कहीं दो सम्बद्धरूप से विवक्षित पदार्थों का, उनके अतिवैलक्षण्य के कारण, परस्पर सम्बन्ध ही अनुपपन्न प्रतीत हुआ करे, (२) कहीं कर्ता को उसकी क्रिया का फल मिलना तो दूर रहे उलटे जो मिले वह एक अनर्थ हो, (३) कहीं कार्य के गुण से कारण के गुण का विरोध ही प्रतीत हो और (४) कहीं कार्य की क्रिया से कारण की क्रिया भी विपरीत लगती रहे ।

यहां जिस 'विषम' अलंकार का निरूपण है वह वस्तुतः (पूर्वोक्त) 'सम' अलंकार का विपर्ययरूप ही है । इसके वस्तुतः ये चार रूप (प्रकार) देखे जा सकते हैं:—

(१) दो सम्बद्धरूप से अभिप्रेत पदार्थों का ऐसा सम्बन्ध जो उनके परस्पर अधिक वैधर्म्य के कारण अनुपपन्न सा ही प्रतीत हुआ करे ।

(२) किसी कार्य के कर्त्ता का अपनी क्रिया में अभीष्ट फल के उत्पादन के असामर्थ्य के कारण इष्टसिद्धि से भी वञ्चित रह जाना और अनिष्ट भी उलटे गले मढ़ लेना ।

(३) (कारण और कार्य के गुण और व्यापार में स्वभावतः सादृश्य के अवश्यंभावी होने पर भी) कार्य के गुण का कारण के गुण से विरुद्ध पड़ जाना ।

क्रमेणोदाहरणम् ।

(१ प्रथम विषम-प्रकार)

शिरीषादपि मृद्वङ्गी केयमायतलोचना ।
अयं क च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः ।। ५३७ ।।

(२ द्वितीय विषम-प्रकार)

सिंहिकासुतसंत्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः
जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः ।। ५३८ ।।

(३ तृतीय विषम-प्रकार)

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपांडु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ।। ५३९ ।।

(४ चतुर्थ विषम-प्रकार)

आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ! ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ।। ५४० ।।

अत्रानन्ददानं शरीरतापेन विरुध्यते ।

एवं—

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ।। ५४१ ।।

---

(४) कार्य की क्रिया का कारण की क्रिया से विरुद्ध हो जाना ।

क्रमशः विषम के इन चारों प्रकारों के उदाहरण ये रहे:—

'कहां तो शिरीष कुसुम से भी अधिक सुकुमार शरीर वाली यह आयतलोचना सुन्दरी ! और कहां तुषानल से भी अधिक दुःसह यह मदनानल (प्रेमसन्ताप) !'

(पद्मगुप्तः नवसाहसाङ्कचरित १६.२८)

[यहां नायिका और मदनानल का सम्बन्ध, उनके स्वाभाविक किंवा अत्यधिक वैषम्य के कारण, अनुपपन्न सा ही प्रतिपादित किया जा रहा है ।]

'एक सिंहिकासुत (सिंहिनी के शावक) के डर से तो शशक (खरगोश) गया चन्द्रमा का आश्रय लेने किन्तु दूसरे सिंहिकासुत (राहु) ने चन्द्रमा के साथ-साथ उसे भी ग्रस लिया !'

[यहां शशक की इष्टप्राप्ति से वञ्चना और अनिष्ट से उलटे मुटभेड़ दोनों प्रतिपादित है।]

'कितनी विचित्र बात है कि महाराज नवसाहसाङ्क की तमाल-पत्र के समान काली तलवार, जब-जब संग्राम में उनके हाथों का स्पर्श पा जाती है तब-तब, शरचन्द्र के समान ऐसे शुभ्र यश की सृष्टि कर बैठती है जिससे त्रिलोक ही विभूषित हो जाय !'

(नवसाहसाङ्कचरित १.६२)

[यहां कार्यभूत यश और कारणभूत कृपाण के शुभ्र और कृष्ण गुणों में परस्पर विरोध ही स्पष्ट विवक्षित है ।]

'अरी नीलोत्पलनयने ! प्रिये ! कहां तो तू (अपने संयोग में) मुझे इतना अधिक आनन्द दे और कहां तुम्हारा दिया वियोग मुझे इतना अधिक दुःखद लगे !'

यहां (नायिका की) 'आनन्द देने' की क्रिया (उसके विरह की) 'संतप्त करने' की क्रिया से विरुद्ध है ।

इसी प्रकार ऐसे प्रसङ्ग जैसे कि:—

'कल्पान्ताकाल में जो सागरशायी भगवान् (विष्णु के अवतार) श्री कृष्ण अपनी

इत्यादावपि विषमत्वं यथायोगमवगन्तव्यम् ।

(४८ 'अधिक' अलंकार)

(१९५) महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥१२८॥

आश्रितमाधेयम् आश्रयस्तदाधारः तयोर्महतोरपि विषये तदपेक्षया तनू अप्याश्रयाश्रयिणौ प्रस्तुतवस्तुप्रकर्षविवक्षया यथाक्रमं यद् अधिकतरतां व्रजतः तदिदं द्विविधम् अधिकं नाम ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ आधार-महत्त्व वर्णनरूप 'अधिक')

अहो विशालं भूपाल ! भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥ ५४२ ॥

विशाल कुक्षि में चतुर्दश भुवनों को आत्मसात् कर लेते हैं उन्हें ही मदघूर्णित किंवा अर्धोन्मीलित नयनों वाली एक ही किसी नगर-रमणी ने अपनी एक ही आंख में भीतर भर लिया (प्रेम से हृदय में रख लिया)। (शिशुपालवध १३ सर्ग)

इत्यादि में भी यथासंभव (अर्थात् जैसे कि यहां अवयव 'कुक्षि' और अवयवी 'शरीर' के पीने के कर्ता किंवा पीने के कर्म होने रूप वैषम्य में) इसी 'विषम' अलंकार की रूप-रेखा देखी जा सकती है।

टिप्पणी—'विषम' का निरूपण रुद्रट (काव्यलंकार ९.४५) ने इस प्रकार किया है—

'कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः ।
तद्वत् क्रिययोरथवा संजायेतेति तद्विषमम् ॥'

जिसमें काव्यप्रकाशकार के दो विषम-भेद तो स्पष्ट झलक रहे हैं किन्तु दो और विषम-भेद जैसे कि—'क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्' और कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत्' ऐसे हैं जिनका आधार रुय्यक का यह विषम लक्षण है—

'विरूपकार्याऽनर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् ।

अलंकारसर्वस्व (काव्यमाला पृष्ठ १६५)

अनुवाद—'अधिक' अलंकार वह है जिसे किसी बड़े 'आधेय' और 'आधार' में उनके छोटे भी 'आधार' और आधेय का क्रमशः ऐसा वर्णन कहा जाता है जिसमें वे बड़े लगा करें।

यहां 'आश्रिताश्रययोः' का अभिप्राय है आश्रित अर्थात् 'आधेय' और आश्रय अर्थात् उसके 'आधार' का। इन 'आधेय' और 'आधार' की अपेक्षा, जो अपने आप में भले ही विशाल हों, यदि उनसे सम्बद्ध छोटे भी 'आधार' और 'आधेय' का, वर्ण्य वस्तु के उत्कर्षबोध के लिये बढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया जाय तब जो 'अलंकार' होता है वह 'अधिक' अलंकार है जिसके ये दो प्रकार संभव हैं (१) आधार-महत्त्व-वर्णनरूप 'अधिक' और (२) आधेय महत्त्व-वर्णनरूप 'अधिक'। क्रमशः जैसे कि:—

'महाराज ! क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि कहां तो इस भुवनत्रय का इतना विशाल उदर हो और कहां उसमें न समा सकने वाली भी आपकी यशोराशि उसमें अंट जाय।'

[यहां आधाररूप भुवनत्रय के उदर की विशालता का वर्णन अन्ततोगत्वा यहां वर्णनीय यशोराशि के उत्कर्ष का ही बोधक है।]

(२ आधेय-महत्त्व वर्णनरूप अधिक)

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥ ५४३ ॥

(४९ 'प्रत्यनीक' अलंकार)

(१९६) प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ १२९ ॥

न्यक्कृतिपरमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेन केनापि यत् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तदनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात्प्रत्यनीकमभिधीयते । यथाऽनीकेऽभियोज्ये तत्प्रतिनिधिभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते तथेह प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्यो विजीयते इत्यर्थः ।

उदाहरणम्—

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर ! भवत्यनुरक्ता ।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ॥ ५४४ ॥

'युगान्त में समस्त जीव-जन्तु को अपने में आत्मसात् कर लेने वाले जिन कैटभारि भगवान् कृष्ण के शरीर में चौदहों भुवन समा जाया करता है उनके उसी शरीर में तपोधन नारद के स्वागत का आनन्द न समा सका !'

[यहां 'आधेय' आनन्द के महत्त्व का जो वर्णन है उसमें चमत्कार है जिससे 'अधिक' अलंकार की रूप-रेखा स्पष्ट हो रही है ।]

टिप्पणी—रुद्रट का 'अधिक' लक्षण है—

'यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत् क्रिया प्रसिद्धं वा ।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद्भवेदधिकम् ॥
यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि ।
अतिरिच्येत कथञ्चित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम् ॥' (काव्यालंकार ९.२६, २८)

किन्तु काव्यप्रकाशकार ने इसमें से द्वितीय प्रकार के अधिक के लक्षण को ही 'अधिक' अलंकार का वस्तुतः स्वरूप-विश्लेषण माना है ।

अनुवाद—'प्रत्यनीक' अलंकार उसे कहते हैं जिसमें वर्णन का विषय प्रतिपक्ष का तिरस्कार न होकर, क्योंकि उसका तिरस्कार असमर्थतावश नहीं किया जा सकता, प्रतिपक्ष के सहायक का तिरस्कार हुआ करता है जो अन्ततोगत्वा प्रतिपक्ष के उत्कर्ष का अवगमक हो जाता है ।

'प्रत्यनीक' अलंकार का अभिप्राय है 'अनीक' (प्रतिपक्ष सैन्य) का नहीं (क्योंकि अपकारक होने पर भी उसका सामना करना कठिन है) अपितु उसके प्रतिनिधिभूत, उस पर आश्रित अन्य विपक्ष का ऐसा तिरस्कार-वर्णन जो अन्त में अनीक-प्रतिपक्ष का ही उत्कर्षवर्द्धक हो । इसे 'प्रत्यनीक' इसलिये कहा करते हैं क्योंकि यहां प्रतियोगी-शत्रु के पराजय के बदले उसके प्रतिनिधि का पराजय वैसे ही विवक्षित रहा करता है जैसे यदि किसी को प्रतिपक्ष-सैन्य से भिड़ना हो तो, असमर्थता के कारण, उससे न भिड़ कर उससे सम्बद्ध उसके प्रतिनिधिभूत सैन्य से ही भिड़ जाय । उदाहरण के लिये :—

'हे सुन्दर युवक ! तुम तो रहे मदन को भी अपने सौन्दर्य से पराजित करने वाले और तुम्हारी वह (प्रेयसी) हुई तुम्हीं में प्रेम-पगी, तभी तो ऐसा है कि मदन द्वेषवश अपने पांचों वाणों से एक साथ उसे पीडित किया करे !'

यथा वा—

यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते ॥ ५४५ ॥

इन्दोरत्र तदीयता सम्बन्धिसम्बन्धात् ।

(५० 'मीलित' अलंकार)

(१९७) समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥ १३० ॥

सहजमागन्तुकम्वा किमपि साधारणं यत् लक्षणं तद्द्वारेण यत्किंचित् केनचिद्वस्तु वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरोधीयते तन्मीलितमिति द्विधा स्मरन्ति, क्रमेणोदाहरणम्—

अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥ ५४६ ॥

[यहां 'प्रत्यनीक' अलंकार इसलिये है क्योंकि काम के द्वारा अपने विजयी सुन्दर युवक को पीडा पहुँचाने के बदले उसकी प्रेयसी को पीडित करने का वर्णन किया जा रहा है।]

अथवा—

'शिरश्छेद के कारण वैरभाव रखने वाला राहु वैर के प्रतिशोध में ऐसा तत्पर है कि भगवान् कृष्ण का तो कुछ नहीं बिगाड़ सकता, किन्तु उनके सुन्दर मुख के समान सुन्दर चन्द्रमा को अभी भी पकड़ने में लगा ही रहा करता है।' (शिशुपालवध १४ सर्ग)

यहां (प्रत्यनीक है क्योंकि राहु के द्वारा कृष्ण का कुछ न बिगाड़ सकने पर चन्द्रमा के बिगाड़ने का जो वर्णन है वह इसलिये है क्योंकि) चन्द्रमा कृष्ण का सम्बन्धी है और ऐसा इसलिये क्योंकि कृष्ण के मुख के साथ चन्द्रमा का सादृश्यात्मक सम्बन्ध विवक्षित है।

टिप्पणी—यद्यपि काव्यप्रकाश का प्रत्यनीक-स्वरूप रुद्रट के काव्यालंकार (८.९२) के इस प्रत्यनीक-निरूपण—

'वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र । तस्य विरोधीत्युक्त्वा कल्प्येत प्रत्यनीकं तत् ॥'

के अनुसार है किन्तु इसका विवेचन रुय्यक के प्रत्यनीक-लक्षण—

'प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकम् । (अलंकारसर्वस्व पृष्ठ २०६)

के आधार पर किया गया है।

अनुवाद—'मीलित' वह अलंकार है जिसमें किसी के द्वारा किसी वस्तु का, किसी दूसरी वस्तु से, किसी स्वाभाविक अथवा आकस्मिक चिह्न के कारण तिरोधान अथवा निगूहन (छिपाना) वर्णित हो।

यहां 'समेन लक्ष्मणा' का तात्पर्य है 'साधारण लक्षण अथवा चिह्न द्वारा' का। 'निजेनागन्तुना वा' का अभिप्राय है (इस चिह्न के) 'सहज-स्वाभाविक होने अथवा आगन्तुक-नैमित्तिक होने' का। इस प्रकार जहां किसी के द्वारा, किसी वस्तु से, उसके स्वभावतः प्रबल होने के कारण, किसी दूसरी वस्तु का तिरोहित किया जाना वर्णित हो तो वहां जो अलंकार है वह 'मीलित' अलंकार है जो कि दो प्रकार का हो सकता है। (१) स्वाभाविक चिह्न द्वारा निगूहन में और (२) नैमित्तिक चिह्न द्वारा तिरोधान में। जैसे कि क्रमशः—

'इस मृगनयनी सुन्दरी के अंग-प्रत्यङ्ग में जब मदन-लीला स्वयं स्फुरित हो रही है क्योंकि आंखें हैं बहुत अधिक चंचल, बोली है मीठी और वांकपन लिये, चालें है विलास

अत्र दृक्तरलतादिकमङ्गस्य लिङ्गं स्वाभाविकं साधारणं च मदोदयेन तत्राप्येतस्य दर्शनात् ।

ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे-
स्त्वत्पातशंकितधियो विवशा द्विषस्ते ।
अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्वहतां सकम्पं
तेषामहो बत भियां न बुधोऽप्यभिज्ञः ॥ ५४७ ॥

अत्र तु सामर्थ्यादवसितस्य शैत्यस्य आगन्तुकत्वात्तत्प्रभवयोरपि कम्पपुलकयोस्ताद्रूप्यं समानता च भयेष्वपि तयोरुपलक्षितत्वात् ।

(५१ 'एकावली' अलंकार)

(१९८) स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥ १३१ ॥

पूर्वं पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो वीप्सया विशेषणभावेन यत्स्थापनं निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैरेकावली भण्यते ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ विशेषणरूप से विधान में)

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥ ५४८ ॥

के भार से धीमी-धीमी और मुख इतना मनोहर लग रहा है तब भला मदपान, यदि वह किया भी गया हो तो पता कैसे चल पाय !'

यहां आंखों की चंचलता आदि के द्वारा जो कि नायिका के शरीर के स्वाभाविक चिह्न हैं, मदपानजन्य इन्हीं चिह्नों का निगूहन स्पष्टतया प्रतीत हो रहा है ।

'राजन् ! यह कैसे दुःख की बात है कि आपके उन शत्रुओं का, जो आपके आक्रमण से घबराये, रोमाञ्चित और कम्पित शरीर लिये हिमालय की खोहों में रहते आ रहे हैं, आपसे डरते रहना बुद्धिमानों की भी बुद्धि में नहीं आया करता !'

यहां (शत्रुओं के) भयजनित जिन कम्प और रोमाञ्च के निगूहन का वर्णन है उसके कारण हैं हिमालय की ठंढ से होने वाले और इसलिये आगन्तुक (नैमित्तिक) कम्प और रोमाञ्च ।

टिप्पणी—रुद्रट का जो 'पिहित' नामक अलंकार है वही काव्यप्रकाशकार का 'मीलित' है । रुद्रट का निर्दिष्ट पिहित-स्वरूप यह है—

'यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम् ।
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत् पिहितम् ॥' (काव्यालंकार ९.५०)

और यही मम्मट के उपर्युक्त मीलित-लक्षण में उन्मीलित किया हुआ है जिसमें रुय्यक की भी सम्मति है जैसा कि अलंकारसर्वस्व (पृष्ठ २१०) की मीलित-परिभाषा—'वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहनं मीलितम्' से प्रतीत होता है ।

अनुवाद— 'एकावली' वह अलंकार है जिसमें पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के लिये उत्तरोत्तर वर्णित वस्तु का विशेषरूप से या तो विधान हो या निषेध हो ।

जहां पूर्व-पूर्व (वर्णित) के प्रति उत्तरोत्तर (वर्णित) वस्तु का अनेक बार विशेषण रूप से या तो विधान किया जाय या प्रतिषेध किया जाय उसे काव्यशास्त्र के जाननेवाले लोग 'एकावली' अलंकार कहा करते हैं । जैसे कि क्रमशः—

'(उज्जयिनी वह थी) जहां अन्तःपुर थे सुन्दरियों से भरे, सुन्दरियाँ थीं रूप से

(२ विशेषणरूप से निषेध में)

न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ कलगुंजितो न यो न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः ॥ ५४९ ॥

पूर्वत्र पुराणां वराङ्गनाः, तासामङ्गविशेषणमुखेन रूपम्, तस्य विलासाः, तेषामप्यस्त्रमित्यमुना क्रमेण विशेषणं विधीयते उत्तरत्र प्रतिषेधेऽप्येवं योज्यम् ।

(५२ स्मरण अलंकार)

(१९९) यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ।
स्मरणम्,

यः पदार्थः केनचिदाकारेण नियतः यदा कदाचिदनुभूतोऽभूत् स कालान्तरे स्मृतिप्रतिबोधाधायिनि तत्समाने वस्तुनि दृष्टे सति यत्तथैव स्मर्यते तद्भवेत्स्मरणम् ।

उदाहरणम्—

(इस जन्म में अनुभूत अर्थ की स्मृति के वर्णन में 'स्मरण' अलंकार)

निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भः प्लावितं चलदृशां लहरीभिः ।
तद्भवैः कुहरुतैः सुरनार्यः स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ॥ ५५० ॥

विभूषित अङ्गप्रत्यङ्ग वाली, उनका रूप था विलास से मनोहर और उनके विलास थे काम के साक्षात् अस्त्र !' (नवसाहसाङ्कचरित १म सर्ग)

'(यह शरद् ऋतु है) जिसमें ऐसा कोई जल नहीं जहां सुन्दर कमल न हों, ऐसा कोई कमल नहीं जिस पर भ्रमर न बैठ रहे हों, ऐसा कोई भ्रमर नहीं जो मधुर गुञ्जार न कर रहा हो और ऐसी कोई गुंजार नहीं जो मनोमोहक न हो ।' (भट्टिकाव्य, सर्ग २)

पूर्वोक्त (पुराणि यस्यां इत्यादि) उदाहरण में अन्तःपुर के लिये सुन्दरियों, सुन्दरियों के अंग के लिये रूप, रूप के लिये विलास और विलास के लिये कामायुध को क्रमशः विशेषण रूप से विहित किया गया है । और उत्तरोक्त (न तज्जलम् आदि) उदाहरण में, जहां निषेध का अभिप्राय स्पष्ट है, क्रमशः पूर्ववर्णित वस्तुओं में उत्तरवर्णित वस्तुओं को विशेषणरूप से ही पिरोया सा गया है ।

टिप्पणी—'एकावली' का अभिप्राय है 'एकलड़ की माला' का । जिस प्रकार 'एकलड़ी' में पहले पिरोये मोती की सुन्दरता बाद में पिरोये मोती के दानों से बढ़ायी जाया करती है उसी प्रकार 'एकावली' रूप वाच्यालंकार में भी पहले वर्णित वस्तु को बाद में वर्णित वस्तु से विशिष्ट बनाया जाया करता है । 'एकावली' अलंकार में उत्तरोत्तर वर्णित वस्तु का पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के लिये 'विशेषण' रूप से रहने का अभिप्राय है उसका (उत्तरोत्तर वर्णित वस्तु का) उसके (पूर्व पूर्व वर्णित वस्तु) के लिये उत्कर्षवर्धक प्रतीत होना, क्योंकि विशेषण का अभिप्राय है वह पदार्थ जिसके सम्बन्ध से स्वरूपतः अवगत किसी पदार्थ में वैशिष्ट्य की प्रतीति हुआ करे । 'एकावली' में 'मालोपमा' की भ्रांति नहीं हो सकती क्योंकि जहां 'मालोपमा' में एक उपमेय के अनेक उपमान मालारूप से पिरोये रहते हैं वहां 'एकावली' में 'औपम्य' के अभिप्राय का अभाव रहा करता है ।

अनुवाद—'स्मरण' वह अलंकार है जिसे किसी पूर्वानुभूत वस्तु की, उसके समान किसी दूसरी वस्तु के अनुभव से, उद्बुद्ध स्मृति (का वर्णन) कहा करते हैं ।

'स्मरण' अलंकार में जो बात है वह है किसी विशिष्ट आकार की पूर्वानुभूत वस्तु की ऐसी स्मृति जो कभी उसके समान तथा उसकी स्मृति के प्रतिबोधक (उद्बोधक) किसी दूसरी वस्तु के दर्शन से जग उठे । उदाहरण के लिये :—

'चञ्चलाक्षी अप्सराओं के समान सुन्दर नारियों के गंभीर नाभिकुहर में (जलक्रीडा

यथा वा—

(पूर्वजन्मानुभूत वस्तु की स्मृति के वर्णन में स्मरण अलंकार)

करजुअगहिअजसोआत्थणमुहविणिवेसिआहरपुडस्स ।
संभरिअपञ्चजण्णस्स णमह कण्हस्स रोमाञ्चम् ॥ ५५१ ॥

(करयुगगृहीतयशोदास्तनमुखविनिवेशिताधरपुटस्य ।
संस्मृतपाञ्चजन्यस्य नमत कृष्णस्य रोमाञ्चम् ॥ ५५१ ॥)

(५३ 'भ्रान्तिमान्' अलंकार)

(२००) भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने ॥ १३२ ॥

तदिति अन्यत् अप्राकरणिकं निर्दिश्यते । तेन समानं अर्थादिह प्राकरणिकम् आश्रीयते । तस्य तथाविधस्य दृष्टौ सत्यां यत् अप्राकरणिकतया संवेदनं स भ्रान्तिमान् । न चैष रूपकं प्रथमातिशयोक्तिर्वा तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात् इह च अर्थानुगमनेन संज्ञायाः प्रवृत्तेः तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात् ।

के समय) लहरियों ने जो जल उछाल उछाल कर डाला उससे उत्पन्न ध्वनि उन्हें (नारियों को) रतिक्रीड़ा के रतिकूजन की याद दिलाने लगी।'

[यहां जो 'स्मरण' अलंकार है वह इस जन्म में अनुभूत वस्तु की, उसके समान वस्तु के दर्शन से उत्पन्न स्मृति के वर्णन में है ।] और जैसे कि :—

'दोनों हाथों से पकड़े हुये यशोदा माता के स्तनों पर (दुग्धपान में) अपने अधरपुटों को सटाये तथा उनके द्वारा पाञ्चजन्य का स्मरण करते हुये भगवान् कृष्ण के रोमाञ्चों को (आपलोग) अपने मन में बसालें।'

[यहां बालकृष्ण की, दुग्धपान के समय, यशोदा के स्तनों के स्पर्श से, पूर्वजन्मानुभूत पाञ्चजन्य की स्मृति के वर्णन में 'स्मरणालंकार' का सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।]

टिप्पणी—काव्यप्रकाश के स्मरण-लक्षण पर रुय्यक की इस स्मरण-परिभाषा अर्थात्—

'वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम् ।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम् ॥' (काव्यालंकार ८.१०९)

का प्रभाव स्पष्ट है। केवल स्मृतिमात्र में 'स्मरण' अलंकार नहीं । यह तो पूर्वानुभूत वस्तु की ऐसी स्मृति में संभव है जिसमें प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु के साथ पूर्वानुभूत वस्तु का सादृश्य प्रतीत हुआ करता है। इसे 'अनुमान' नहीं माना जा सकता क्योंकि यहां अनुभव और स्मृति के विषयों में किसी प्रकार की व्याप्ति अथवा अविनाभाव की कोई विवक्षा नहीं रहा करती ।

अनुवाद—'भ्रान्तिमान्' वह अलंकार है जिसमें प्रकारणिक के दर्शन में, अप्राकरणिक के साथ उसके सादृश्य के कारण, अप्राकरणिक की प्रतीति का निरूपण किया जाय ।

यहां 'तत्तुल्यदर्शने' में 'तत्' के द्वारा 'अन्यत्' 'दूसरे' अर्थात् 'अप्राकरणिक' का निर्देश किया गया है। अप्राकरणिक के तुल्य अथवा समान प्राकरणिक ही हो सकता है और इसीलिये यहां वही अभिप्रेत है। इस प्रकार अप्राकरणिक के समान प्राकरणिक के दर्शन में प्राकरणिक का जो अप्राकरणिक के रूप में निश्चयात्मक ज्ञान है उसी में 'भ्रान्तिमान्' अलंकार की रूप-रेखा रहा करती है।

'भ्रान्तिमान्' में 'रूपक' का अथवा अतिशयोक्ति (निगीर्याध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति) का भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि जहां स्वारसिक भ्रम रूपक अथवा अतिशयोक्ति में नहीं रहा करता (क्योंकि रूपक अथवा अतिशयोक्ति में जो भ्रम संभव है वह व्यङ्ग्य-काल्पनिक है न कि स्वाभाविक अथवा अनाहार्य) वहां इस 'भ्रान्तिमान्' में इसकी स्पष्ट

उदाहरणम्—

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः
तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥ ५५२ ॥

(५४ 'प्रतीप' अलंकार)

(२०१) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥ १३३ ॥

(प्रतीप के दो भेद)

अस्य धुरं सुतरामुपमेयमेव वोढुं प्रौढमिति कैमर्थ्येन यदुपमानमाक्षिप्यते यदपि तस्यैवोपमानतया प्रसिद्धस्य उपमानान्तरविवक्षयाऽनादरार्थमुपमेयभावः कल्प्यते तदुपमेयस्योपमानप्रतिकूलवर्तित्वादुभयरूपं प्रतीपम्।

प्रतीति हुआ करती है क्योंकि 'भ्रान्तिमान्' इस नाम में ही, इस शब्द के अर्थ के साथ, भ्रम (स्वारसिक भ्रान्ति) का सम्बन्ध निर्विवादरूप से सिद्ध है। उहाहरण के लिये—:

'कितने आश्चर्य की बात है कि अपनी कान्ति के अभिमान में चूर यह चन्द्रमा सारे संसार को भ्रान्त बनाते दिखाई दे रहा है-कहीं तो बिल्लियां खप्परों में पड़ी चांदनी को दूध मान कर चाट रही हैं, कहीं हाथी पेड़ों की झुरमुट में छनी चांदनी को कमल-नाल समझ रहे हैं और कहीं कोई रमणी पलंग पर लोटती चांदनी को रतिक्रीड़ा के बाद अपना शुभ्रवस्त्र जान उठाने को तैयार है।'

[यहां (प्रस्तुत) चन्द्रकिरणों में, (अप्रस्तुत) दुग्ध आदि के साथ सादृश्य होने से जो अनुभव हो रहा है वह उन (किरणों) का नहीं, अपितु दुग्ध आदि (अप्रस्तुत वस्तुओं) का और इस प्रकार यहां सादृश्यज्ञान से भ्रन्ति विवक्षित है जिसमें 'भ्रान्तिमान्' अलंकार स्पष्ट है।]

टिप्पणी—'भ्रान्तिमान्' अलंकार केवल भ्रान्ति में नहीं अपितु सादृश्यप्रयुक्त भ्रान्ति में है। और 'सादृश्यप्रयुक्त भ्रान्ति' भी यहां ऐसी होनी चाहिये जिसमें कवि-प्रतिभा का हाथ हो। इसीलिये अलंकार सर्वस्वकार का कथन है—'सादृश्यहेतुकापि भ्रान्तिर्विच्छित्त्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते।'

अनुवाद—'प्रतीप' वह अलंकार है जिसमें या तो उपमान का निषेध अथवा निन्दन वर्णित हो या उपमान का, उसे अनाहृत करने के कारण, उपमेयरूप से वर्णन किया जाय।

(प्रतीप का पहला प्रकार वह है जिसे उपमान का आक्षेप कहते हैं।) उपमान के आक्षेप से अभिप्राय है उपमान के निष्प्रयोजन होने से और उपमान की निष्प्रयोजनता इसीलिये मानी जा सकती है कि उसका जो भी प्रयोजन हो वह उपमेय के द्वारा ही सम्पन्न समझ लिया जाय। (प्रतीप का दूसरा प्रकार वह है जिसे उपमान का, अनादर करने के कारण उपमेयरूप से वर्णन कहते हैं) उपमान की उपमेय के रूप में कल्पना तभी हो सकती है जब कि लोकप्रसिद्ध (चन्द्रादिरूप) उपमान का तिरस्कार अभिप्रेत हो और यह तिरस्कार जिस रूप से संभव है वह है (चन्द्रादिरूप) उपमान के लिये ही एक अन्य उपमान अर्थात् वस्तुतः (मुखादिरूप) उपमेय की उद्भावना। ये ही दोनों 'प्रतीप' के प्रकार हैं क्योंकि 'प्रतीप' का अभिप्राय है उपमेय के उपमान से प्रतिकूल रहने का।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ उपमेय के रहते हुये उपमान के वैफल्य में 'प्रतीप')

लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव ! त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः ॥ ५५३ ॥

(२ उपमान के तिरस्कार में 'प्रतीप')

ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जम् ।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चन्दो उअमिज्जइ जणेण ॥ ५५४ ॥
(अयि एहि तावत्सुन्दरि कर्णं दत्वा शृणुष्व वचनीयम् ।
तव मुखेन कृशोदरि ! चन्द्र उपमीयते जनेन ॥ ५५४ ॥)

अत्र मुखेनोपमीयमानस्य शशिनः स्वल्पतरगुणत्वादुपमित्यनिष्पत्त्या वअणिज्जमिति वचनीयपदाभिव्यङ्ग्यस्तिरस्कारः ।

(उपमान के एक और प्रकार के तिरस्कार में 'प्रतीप')

क्वचित्तु निष्पन्नैवोपमितिक्रियाऽनादरनिबन्धनम् ।

यथा—

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि मुग्धे ! ।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥ ५५५ ॥

इहोपमेयीकरणमेवोत्पलानामनादरः । अनयैव रीत्या यदसामान्यगुणयो-

इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

'राजन् ! जब कि विधाता ने सौन्दर्य के निधान, महनीय प्रतापशाली, महादानी किंवा पृथिवी-रक्षण में समर्थ भुजदण्ड वाले आप को ही रच दिया तब चन्द्रमा को क्यों रचा ? सूर्य को क्यों बनाया ? चिन्तामणि की क्यों सृष्टि की ? और कुलाचलों को भी तो व्यर्थ ही गढ़ डाला !'

[यहां उपमान के आक्षेप में उसके अपकर्ष का इसलिये प्रतिपादन है जिससे वर्ण्य राजरूप उपमेय में सभी आक्षिप्त उपमानों के गुणों के समन्वय का अभिप्राय स्पष्ट हो जाय ।]

'अरी सुन्दरी ! अरी कृशोदरी ! इधर तो आ और कान दे अपनी इस निन्दा पर कि लोग अब तेरे मुख को चन्द्रमा के समान कहने लगे !'

यहां मुख और चन्द्र में औपम्य की निष्पत्ति इसलिये नहीं दिखाई देती क्योंकि (उपमेयभूत) मुख की अपेक्षा चन्द्ररूप उपमान में (सौन्दर्यादि) गुणों की कमी है । इस औपम्य की अनिष्पत्ति का ही अभिप्राय 'वअणिज्जम्' (वचनीयम्) इस पद के द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है जिससे उपमान का तिरस्कार हो रहा है ।

कहीं ('प्रतीप' में ही) उपमान का तिरस्कार ऐसा भी हो सकता है जिसमें औपम्य की निष्पत्ति ही कारण हो । उदाहरण के लिये:—

'अरी मुग्धे ! तुझे अपनी आंखों का इतना अधिक अभिमान क्यों, जब कि, जिधर देखो उधर ही, सरवरों में ऐसे अनेकों नीलकमल विराज रहे हैं ।'

यहां भी उत्पलरूप उपमान का ही अनादर अभिप्रेत है और वह इसलिये है क्योंकि उसे उपमेयरूप से उपनिबद्ध किया जा रहा है । (यहां सौन्दर्य-गर्वित नेत्र अधिक

गात् नोपमानभावमपि अनुभूतपूर्वि तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम् ।

यथा—

अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल तात मास्म दृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥ ५५६ ॥
अत्र हालाहलस्योपमानत्वमसम्भाव्यमेवोपनिबद्धम् ।

(५५ सामान्य अलंकार)

(२०२) प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥१३४॥

अतादृशमपि तादृशतया विवक्षितुं यत् अप्रस्तुतार्थेन संपृक्तमपरित्यक्तनिजगुणमेव तदेकात्मतया निबध्यते तत्समानगुणनिबन्धनात्सामान्यम् ।

गुणशाली और उत्पल न्यून गुणशाली बताये जारहे हैं । जो उपमेय होता है वह उपमान से इसलिये न्यून होता है क्योंकि उपमान से ही उसका सादृश्य सिद्ध किया जाया करता है । यहां प्रसिद्ध सौन्दर्य नीलकमलों का ही नायिका के नयनों से औपम्य सिद्ध किया जा रहा है जिसमें उपमा–निष्पत्ति तो अवश्य है किन्तु लोक–प्रसिद्ध उपमान नीलकमलों का तिरस्कार ही स्पष्ट विवक्षित है) ।

इसी तरह प्रतीप में एक और भी प्रकार संभव है जिसमें किसी वस्तु को उसके असाधारणगुण–सम्पन्न होने के कारण, किसी उपमेय की तुलना में, उपमान वस्तुतः न बन सकने पर भी, उपमान के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाय । जैसे किः—

'अरे हालाहल (विष) ! तेरा यह कैसा अभिमान कि संसार की दारुण वस्तुओं में तू ही महादारुण है ! अरे इस संसार में तो तुझ सरीखे खलवचनों की कोई कमी ही नहीं ।'

यहां दारुणता में निरुपम हालाहल का खलवचनों के उपमान के रूप में कथन किया गया है (जिससे अनुपम वस्तु की उपमानता के उपन्यास में एक अन्य ही प्रतीप–प्रकार दिखायी दे रहा है) ।

टिप्पणी—काव्यप्रकाश का 'प्रतीप'–निरूपण अलंकारसर्वस्व के 'प्रतीप'–निरूपण का अनुसरण करता है । 'प्रतीप' में 'व्यतिरेक' का भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि जहां 'प्रतीप' का अभिप्राय उपमान का 'अपकर्ष' है वहां 'व्यतिरेक' का अभिप्राय 'उपमेय' का आधिक्य है । यहां 'उपमेयोपमा' की भी भ्रान्ति नहीं हो सकती क्योंकि जहां 'उपमेयोपमा' में परस्पर उपमानोपमेय-भाव की प्रतीति अपेक्षित है वहां 'प्रतीप' में उपमान की उपमेय रूप से कल्पना इसलिये है कि इसके द्वारा उपमान की अपकृष्टता का बोध हो ।

अनुवाद—**'सामान्य' अलंकार वह है जिसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थ के योग में, दोनों के गुण–साम्य के प्रतिपादन के लिये, दोनों की एकरूपता का प्रतिपादन किया जाय ।**

यहां 'गुणसाम्यविवक्षया' में गुण–साम्य की 'विवक्षा' का जो अभिप्राय है वह है प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत वस्तु से वस्तुतः समानता न होने पर भी समानता का प्रतिपादन करना । 'प्रस्तुतस्य यदन्येन' में 'अन्य' का तात्पर्य है अप्रस्तुत पदार्थ का । इस प्रकार 'योगादैकात्म्यं बध्यते' का अर्थ है अप्रस्तुत वस्तु से सम्बद्ध तथा अपने गुणों से युक्त प्रस्तुत वस्तु का ऐसा प्रतिपादन जिसमें वह अप्रस्तुत वस्तु से पृथक् न प्रतीत हो । इस प्रकार 'सामान्य' को 'सामान्य' इसलिये कहते हैं क्योंकि यहां समानगुणसम्बन्ध की विवक्षा रहा करती है । जैसे किः—

उदाहरणम्—

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः ।
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ॥ ५५६ ॥
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः ।
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥ ५५७ ॥

अत्र प्रस्तुततदन्ययोरन्यूनानतिरिक्ततया निबद्धं धवलत्वमेकात्मताहेतुः अत एव पृथग्भावेन न तयोरुपलक्षणम् ।

यथा वा—

वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥ ५५८ ॥

अत्र निमित्तान्तरजनिताऽपि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रतिपन्नमभेदं न व्युदसितुमुत्सहते प्रतीतत्वात्तस्य प्रतीतेश्च बाधायोगात् ।

(५६ 'विशेष' अलंकार)

(२०३) विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥ १३५ ॥

'चारों ओर चांदनी बिखेरता हुआ चांद जब सारी पृथिवी को धवलता में डुबो रहा है तब चन्दनचर्चित शरीर वाली, मोती की माला से अलंकृत, शुभ्र कर्णाभरण से बढ़ती मुख-कान्ति वाली और स्वच्छ सुन्दर परिधान से सुशोभित अभिसारिकायें भला कैसे पहचानी जांय ! और क्यों कर न निडर हो अपने प्रिय-जनों के घरों में शान्तिपूर्वक पहुंच जांय !'

यहां प्रस्तुत-अभिसारिका और अप्रस्तुत चांदनी में धवलता रूप गुण की ऐसी समभावरूप स्थिति का वर्णन है जिससे इन दोनों में एकरूपता प्रतीत हो रही है और इन्हें पृथक्-पृथक् पहचानना कठिन हो रहा है । अथवा जैसे कि—

'यदि भौंरे झूम-झूम कर न मंडराते तब भला वेतसवल्क (वेंत की छाल) सरीखी कान्ति वाली बधुओं के कानों से कपोल-फलक तक झूलती (कर्णाभरणरूप) चम्पा की कलियों को कोई कैसे पहचान पाता !'

यहां भी 'सामान्यालंकार' ही है क्योंकि प्रस्तुत-कपोलफलक और अप्रस्तुत चम्पक-कोरक की पूर्वानुभूत एकरूपता प्रतीत हो रही है जिसे दूर करना भ्रमर-पातरूपी निमित्त से उत्पन्न इन दोनों की पार्थक्य-प्रतीति के लिये भी संभव नहीं हो रहा है क्योंकि एकरूपता की प्रतीति जब उत्पन्न हो गई तो उसकी अनुत्पत्ति की संभावना कहां !

टिप्पणी—'सामान्य' में तो अनुभूत एकरूपता की प्रतीति विवक्षित है और 'भ्रान्तिमान्' में उस एकरूपता की प्रतीति, जो स्मृति का विषय हो । यहां 'रूपक' की भी संभावना नहीं क्योंकि 'रूपक' में तो उपमेय की उपमानरूप से प्रतीति हुआ करती है और यहां उपमेय और उपमान की एक रूप से प्रतीति । यहां 'तद्गुण' का भी संदेह नहीं क्योंकि 'तद्गुण' अलंकार में उपमेय अपने गुणों का परित्याग करने के कारण उपमान के गुणों को ग्रहण करता है और यहां उपमेय और उपमान अपने गुणों को बिना छोड़े ही गुण-साम्य की दृष्टि से एकरूप प्रतीत हुआ करते हैं ।

अनुवाद—'विशेष' वह अलंकार है जिसमें (१) विना लोकप्रसिद्ध आधार के किसी आधेय वस्तु की अवस्थिति प्रतिपादित की जाय, (२) एक वस्तु की अनेक वस्तुओं में, एक ही समय, एकरूप की वृत्ति अथवा स्थिति का वर्णन किया जाय और (३) एक कर्ता की,

अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥ १३६ ॥

('विशेष' के तीन भेद)

प्रसिद्धाधारपरिहारेण यत् आधेयस्य विशिष्टा स्थितिरभिधीयते स प्रथमो विशेषः । यथा—

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥ ५५९ ॥

एकमपि वस्तु यत् एकेनैव स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्तते स द्वितीयः । यथा—

सा वसइ तुज्झ हिअए सा च्चिअ अच्छीसु साअ वअणेसु ।
अह्मारिसाण सुन्दर ओआसो कत्थ पावाणम् ॥ ५६० ॥

(सा वसति तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु ।
अस्मादृशीनां सुन्दर अवकाशः कुत्र पापानाम् ॥ ५६० ॥)

यदपि किंचिद्रभसेन आरभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तरमारभते सोऽपरो विशेषः ।

यथा—

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम् ।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥ ५६१ ॥

एक कार्य करते हुये ही, अन्य किसी अशक्य कार्य में, पूर्वकार्य की भांति ही, क्षमता का अभिधान किया जाय । इस प्रकार 'विशेष' तीन रूपों वाला हुआ करता है ।

यहां प्रथम प्रकार का 'विशेष' तो वह है जिसमें किसी आधेय वस्तु की, उसके प्रसिद्ध आधार के न होने पर भी, एक विशिष्ट स्थिति का वर्णन किया जाया करता है । जैसे कि:—

'दिवंगत भी वे कविगण जिनकी अनन्तगुणमयी कविता कल्पान्त तक सारे संसार को आनन्दित किया करती है, क्योंकर सबके समादार के पात्र न हों !'

[यहां कविरूप आधार के विना ही आधेयभूत कविता की अवस्थिति का वर्णन है जिसमें 'विशेष' का प्रथम भेद स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।]

दूसरे प्रकार का 'विशेष' वह रहा जिसमें एक ही वस्तु की, एक रूप से, अनेक स्थान पर, एक समय में ही अवस्थिति का प्रतिपादन किया जाय । जैसे कि—

'अरे सुन्दर युवक ! हम सरीखी अभागिनों के लिये तुम्हारे पास स्थान कहां जब कि बस वही (युवती) तुम्हारे हृदय में रहे, वही तुम्हारी आंखों में बसे और वही विराजे तुम्हारी वाणी पर !'

[यहां एक ही कामिनी की, एकरूप से, एक समय में ही, हृदय, नेत्र और वाणीरूप आधार पर अवस्थिति प्रतिपादित की जा रही है ।]

तीसरा 'विशेष'–प्रकार वह हुआ जिसमें त्वरावश किसी एक कार्य का करने वाला, एक ही प्रतत्नपूर्वक, किसी दूसरे अशक्य कार्य में भी हाथ डालते हुये वर्णित हो । उदाहरण के लिये—

'राजन् ! विस्मयजनक सौन्दर्य, जाज्वल्यमान प्रतापानल किंवा विशुद्धविद्या से विभूषित तुम्हें बनाने वाले विधाता ने इस संसार में एक नया कामदेव बना दिया, एक अभूतपूर्व सूर्य रच दिया और कर दिया उस बृहस्पति का निर्माण जो सचमुच अपूर्व है !'

यथा वा—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां बत किं न मे हृतम् ॥ ५६२ ॥

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात् अत एवोक्तम्—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ इति ।

(५७ 'तद्गुण' अलंकार)

(२०४) स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥ १३७ ॥

[यहां प्रकृत राज-निर्माणरूप कार्य करने वाले विधाता के द्वारा, एक ही प्रयत्न से, अशक्यनिर्माण कामदेव आदि की सृष्टि के वर्णनों में 'विशेष' का तीसरा प्रकार स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।]

अथवा यहां जैसे कि—

'ओह ! निठुर दैव ने तुझे (तुझ प्राणसमा इन्दुमती को) जब मुझसे छीन लिया तब सब कुछ—मेरी गृहिणी, मेरा सचिव, मेरी सखी, मेरी ललितकलाविधि की प्रिय-शिष्या—सभी कुछ तो छीन लिया !' (रघुवंश ८)

[यहां भी इन्दुमती-हरणरूप एक ही कार्य-रत मृत्यु के द्वारा, एक ही प्रयत्न में, सचिवादि-हरणरूप अनेक अशक्य कार्यों का किया जाना प्रतिपादित है जिसमें 'विशेष' का यही प्रकार स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।]

यहां यह शंका कि आधार के अभाव में आधेय की अवस्थिति के प्रतिपादन और एक प्रयत्न में दो-दो कार्यों के करने के वर्णन में अलंकार कैसा जब कि ये बातें ही वस्तुतः बेतुकी हों, ठीक नहीं क्योंकि यहां जो बेतुकापन सा लग रहा है वह वस्तुतः बेतुकापन नहीं अपितु एक ऐसी उक्ति है जिसे अतिशय अथवा वैचित्र्यविशेष से की गयी उक्ति कहा करते हैं और वस्तुतः जहां कहीं भी ऐसा प्रसंग हो वहां बेतुकापन की बात नहीं अपितु ऐसे ही अतिशय के अभिधान की बात समझनी चाहिये जिसमें विचित्रता का प्राण अथवा रहस्य किया है और जिसके बिना प्रायः कोई भी अलंकार 'अलंकार' नहीं माना जा सकता । वस्तुतः इसीलिये ऐसा कहा जा चुका है :—

'यह सब अतिशय के द्वारा अभिधान जो कि सर्वत्र अलंकार-प्रसङ्गों में पाया जाता है वस्तुतः एक उक्ति-वैचित्र्य है और यही वह रहस्य है जिसके द्वारा कहीं भी अलंकारमयता लायी जाया करती है, जिसमें कवियों को सतत प्रयत्नशील रहना पड़ता है और जिसके बिना 'अलंकार' नाम की कोई वस्तु नहीं दिखाई देती !'

टिप्पणी—'काव्यप्रकाश' के 'विशेष'-विवेचन का आधार रुद्रट की यह 'विशेष'-परिभाषा है:—

'किञ्चिदवश्याधेयं यस्मिन्नभिधीयते निराधारम् । तादृगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेष इति ॥
यत्रैकमनेकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया । युगपदभिधीयतेऽसावत्राऽन्यः स्याद्विशेष इति ॥
यत्रान्यत् कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तरं च कुर्वीत । कर्तुमशक्यं कर्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्यः ॥

(काव्यालंकार ९.५, ७, ९)

'रुय्यक' की यह 'विशेष' मीमांसा अर्थात—

'अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तकरणं विशेषः' । (अलं. स., पृ. २७१)

भी इसी दृष्टि की है ।

अनुवाद—'तद्गुण' अलंकार वह है जिसमें उत्कृष्ट गुणशाली अप्रस्तुत विषय के

वस्तु तिरस्कृतनिजरूपं केनापि समीपगतेन प्रगुणतया स्वगुणसंपदोपरक्तं तत्प्रतिभासमेव यत्समासादयति स तद्गुणः तस्याप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति।

उदाहरणम्—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥ ५६३ ॥

अत्र रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्रगुणवर्णना।

(५८ अतद्गुण अलंकार)

(२०५) तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः।

यदि तु तदीयं वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायां इदं न्यूनगुणं न गृह्णीयात्तदा भवेदतद्गुणो नाम्।

सम्बन्ध से न्यूनगुणयुक्त प्रस्तुत विषय अपने स्वरूप को छोड़कर अप्रस्तुत के स्वरूप का ग्रहण करते प्रतिपादित किया जाय।

'तद्गुण' का अभिप्राय है उस (प्रकृत) का जिसमें अप्रकृत का गुण हो। जिसमें अप्रकृत का गुण हो वह वस्तु प्रकृत वस्तु ही हो सकती है। इस प्रकृत वस्तु में अप्रकृत वस्तु का गुण तभी हो सकता है जब कि इसका अपना गुण, अपना रूप, अपनी समीपवर्ती प्रकृष्ट गुण वाली अप्रकृत वस्तु की गुणसमृद्धि के संपर्क में आकर अभिभूत हो जाय और उसी के रूप-रंग में अपने आप को रंग ले। जैसे कि:—

'यही वह रैवतक पर्वत है जहां ऊषा की लाली की चारों ओर फैलनी कान्ति से (पहले तो) स्वतः हरिद्वर्ण (हरे रंग की) भी सूर्य-किरणें रक्तवर्ण बना दी जाया करती हैं और बाद में वंश-करीर (बांस के कोंपल) की भांति नीलवर्ण के मरकत मणियों की फैलती आभा से पुनः अपना पहला रंग (हरा रंग) पा लिया करती हैं।' (शिशुपालवध ४)

यहां सूर्य-किरणों की अपेक्षा उषा की लाली की उत्कृष्टवर्णता और उषा की लाली की अपेक्षा मरकतमणियों की प्रकृष्टगुणशालिता विवक्षित है।

टिप्पणी—काव्यप्रकाशकार ने 'तद्गुण' का स्वरूप अलंकारसर्वस्वकार की दृष्टि से देखा है। अलंकारसर्वस्व (पृष्ठ २१३) में यह 'तद्गुण'-लक्षण है—

'स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः।'

ऐसा प्रतीत होता है कि रुय्यक और मम्मट ने रुद्रट के इस 'तद्गुण'-लक्षण—

'यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम्। संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति॥'
(काव्यालंकार ९.२२)

को तो न माना किन्तु उनके इस तद्गुण-विश्लेषण अर्थात्—

'असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु। संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति॥'
(काव्यालंकार ९.२४)

को स्वीकार कर लिया।

अनुवाद—'अतद्गुण' अलंकार वह है जिसमें प्रकृष्टगुण प्रकृत के संसर्ग में आकर, न्यूनगुण भी अप्रकृत का, उस (अर्थात् प्रकृत) के गुण का अनुहरण न करना प्रतिपादित किया जाय।

'अतद्गुण' (तद्गुण के विपर्यय) का अभिप्राय है—एक वस्तु (अर्थात् अप्रकृत) के द्वारा, जो कि न्यूनगुण हो, दूसरी अधिक गुण वाली वस्तु (अर्थात् प्रकृत) के गुण का तब भी ग्रहण न किया जाना जब कि इसकी पूरी संभावना हो। जैसे कि:—

उदाहरणम्—

धवलोसि जहवि सुन्दर तहवि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअम् ।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तोसि ॥ ५६४ ॥

(धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर । तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम् ।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग । निहितो न रक्तोऽसि ॥ ५६४ ॥)

('अतद्गुण' की एक अन्य प्रकार की संभावना)

अत्रातिरक्तेनापि मनसा संयुक्तो न रक्ततामुपगत इत्यतद्गुणः । किं च तदिति अप्रकृतम् अस्येति च प्रकृतमत्र निर्दिश्यते । तेन यत् अप्रकृतस्य रूपं प्रकृतेन कुतोऽपि निमित्तान्नानुविधीयते सोऽतद्गुण इत्यपि प्रतिपत्तव्यम् ।

यथा—

गांगमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च नचापचीयते ॥ ५६५ ॥

(५९ 'व्याघात' अलंकार)

(२०६) यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥ १३८ ॥
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।

येनोपायेन यत् एकेनोपकल्पितं तस्यान्येन जिगीषुतया तदुपायकमेव यदन्यथाकरणं स साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद्व्याघातः ।

'अरे सौभाग्यशाली युवक ! शुभ्रवर्ण के होते हुते हुये भी तुम मेरे हृदय में लाली (प्रेम) ही पैदा कर गये और मैं ! मैं तो अपने राग (प्रेम) रंजित हृदय में तुम्हें बसाकर भी तुम्हें अनुरक्त (लाल) न बना सकी !' (गाथा सप्तशती ७.६५)

[यहां 'अतद्गुण' इसलिये है क्योंकि अत्यन्त रागमय (लाली से भरे) हृदय के सम्पर्क में आने पर भी सुन्दर युवक के अनुरक्त (लाल) न होने का ही प्रतिपादन है ।]

यहां 'अतद्गुण' में एक और भी संभावना हो सकती है जो कि यह है—कारिका में 'तद्रूपाननुहार' में 'तत्' 'उस' का अभिप्राय है 'अप्रकृत' का और 'अस्य' का तात्पर्य है 'प्रकृत' का । इस प्रकार 'अतद्गुण' वहां भी माना जायगा जहां किसी कारणवश प्रकृत के ही द्वारा अप्रकृत के गुण का अनुहरण (ग्रहण) न प्रतिपादित हो । जैसे कि:—

'अरे राजहंस ! तुम जहां स्वच्छ गंगाजल और काले यमुना-जल दोनों में डुबकी लगाने वाले हो वहां न तो तुम्हारी स्वच्छता कुछ बढ़ती ही दिखाई देती है और न घटती ही जान पड़ती है ।'

[यहां प्रकृत राजहंस का अप्रकृत गंगा और यमुना-जल के गुणों का अग्रहण प्रतिपादित है जिसमें 'अतद्गुण' अलंकार का ही रूप स्पष्ट झलक रहा है ।]

टिप्पणी—'अतद्गुण' तद्गुण का ही विपर्यय है । रुय्यक ने इसीलिये 'अतद्गुण' का यह लक्षण किया है—

'सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः ।' (अलंकारसर्वस्व २१४ पृष्ठ)

वस्तुतः रुय्यक के दिये जो 'अतद्गुण' के उदाहरण हैं वे ही काव्यप्रकाशकार ने भी उद्धृत किये हैं।

अनुवाद—'व्याघात' अलंकार वह है जिसमें किसी एक के द्वारा एक उपाय से सिद्ध कार्य किसी दूसरे के द्वारा विजयाभिलाषा के प्रदर्शन में उसी उपाय से विपरीत अथवा असिद्ध किया हुआ प्रतिपादित हो ।

'व्याघात' का अभिप्राय है 'पूर्वसाधित वस्तु के विनाश के कारण होने' का । जब एक के द्वारा किसी एक उपाय से सिद्ध किया गया कार्य, उसे जीतने की इच्छा से, किसी दूसरे

उदाहरणम्—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः॥ ५६६॥

(६० 'संसृष्टि' अलंकार)

(२०७) सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः॥ १३९॥

(संसृष्टि के तीन प्रकार)

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव अर्थविषये एव उभयत्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः।

तत्र शब्दालङ्कारसंसृष्टिर्यथा—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया॥ ५६७॥

के द्वारा, उसी उपाय के प्रयोग से, असिद्ध अथवा विपर्यस्त बना दिया जाय तो वहां पूर्वसाधित वस्तु के विपर्यय में 'व्याघात' स्पष्ट ही है। जैसे कि:—

'जो वामलोचनायें अपनी आंखों से उस काम को पुनरुज्जीवित किया करती हैं जिसे विरूपाक्ष (त्रिनयन भगवान् शिव) की आंख भस्म कर चुकी है, उन विरूपाक्ष-विजयिनी रमणियों के आगे भला क्योंकर न सिर झुक जाय !'

[यहां आंखों के द्वारा ही जला देने और जिला देने में कार्य-वैजात्य स्पष्ट ही है। यद्यपि विरूपाक्ष की आंख और वामलोचनाओं की आंखों में कोई एकरूपता नहीं और न किसी प्रकार का व्याघात ही अभिप्रेत है किन्तु दोनों में नेत्रमात्र रूप वस्तु की एक जातीयता तो है ही जिससे कारण-वैजात्य भी स्पष्ट ही है।]

टिप्पणी—रुद्रट का व्याघात लक्षण यह है:—

'अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः॥' (काव्यालंकार ९.५२)

किन्तु काव्यप्रकाशकार ने इसका अनुसरण न कर रुय्यक के निम्न व्याघात-लक्षण का अनुसरण किया है:—

'यथासाधितस्य तथैवान्येनाऽन्यथाकरणं व्याघातः' (अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १७३)

अनुवाद—'संसृष्टि' अलंकार वह है जिसे पूर्वप्रतिपादित अलंकारों की परस्पर निरपेक्षता में भी एकत्र अवस्थिति का चमत्कार कहा करते हैं।

संसृष्टि' का अभिप्राय है 'एकार्थसमवाय' का अर्थात् एक शब्द अथवा अर्थ अथवा शब्दार्थरूप काव्य-वस्तु में एक से अधिक अलंकारों के सम्बन्ध का, क्योंकि अब तक जिन जिन अलंकारों का स्वरूप-निरूपण हो चुका है उनके लिये अर्थात् यथा संभव एक से अधिक शब्दालंकारों, अर्थालंकारों और उभयालंकारों के लिये यह संभव है कि वे एक दूसरे की परस्पर किसी अपेक्षा के विना भी काव्य में अथवा वस्तुतः काव्य के शब्दरूप भाग, अर्थरूप भाग और शब्दार्थरूप भाग में एक ही स्थान पर अवस्थित रहें। इस प्रकार (केयूरादि भूषणों में जटित भिन्न भिन्न मणियों के समान) एक से अधिक अलंकारों की, परस्पर निरपेक्ष रहते हुये भी, जो एकत्र अवस्थिति है (जिसमें एक अलग ही चमत्कार है) वही 'संसृष्टि' अलंकार है।

पहली संसृष्टि अर्थात् एक से अधिक शब्दालंकारों की 'संसृष्टि' जैसे कि:—

'वदन-सौरभ के लोभ से मंडराने वाले भ्रमरों के भय से एक विचित्र विलास वाली

अर्थालङ्कारसंसृष्टिस्तु—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ ५६८ ॥

पूर्वत्र परस्परनिरपेक्षौ यमकानुप्रासौ संसृष्टिं प्रयोजयत उत्तरत्र तु तथाविधे उपमोत्प्रेक्षे ।

शब्दार्थालङ्कारयोस्तु संसृष्टिः—

सो णात्थि एत्थ गामे जो एअं महमहन्तलाअण्णम् ।
तरूणाण हिअअलूडिं परिसक्कन्तीं णिवारेइ ॥ ५६६ ॥
(स नास्त्यत्र ग्रामे य एनां महमहायमानलावण्याम् ।
तरुणानां हृदयलुण्ठाकीं परिष्वक्कमाणां निवारयति ॥ ५६६ ॥)

अत्रानुप्रासो रूपकं चान्योन्यानपेक्षे संसर्गश्च तयोरेकत्र वाक्ये छन्दसि वा समवेतत्वात् ।

किंवा अलकावली की अस्तव्यस्तता से चंचल नयनों वाली कोई युवती जिधर भी चली उधर ही उसकी कलमेखला (सुन्दर करधनी) का कलकल सुनाई पड़ने लगा'—
(शिशुपालवध ६)

दूसरी 'संसृष्टि' अर्थात् एक से अधिक अर्थालंकारों की 'संसृष्टि' जैसे कि:—

'चारों ओर घोर अन्धकार ! ऐसा लगता है कि अंधकार सारे शरीर में अंगराग लगा रहा हो, आकाश अंजन की वर्षा कर रहा हो और प्राणिमात्र की दृष्टि दुष्ट सेवा की भांति व्यर्थ हो रही हो ।'

इन उपर्युक्त उदाहरणों में पहले में जो 'संसृष्टि' अलंकार है वह है परस्पर निरपेक्ष अनुप्रास (जैसे कि 'भ' और 'ल' की आवृत्ति में) और यमक–(जैसे कि 'कलमेखला कलकलोऽलकलोलदृशा' में 'कलोलकलोल' इस रूप की निरर्थक वर्णों की पुनः श्रुति में) इन दोनों शब्दालंकारों के यहां (काव्य के शब्दात्मक भाग में) एकत्र अवस्थिति के कारण । इसी प्रकार दूसरे में जो 'संसृष्टि' है वह है उपमा (जैसे कि 'असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता' में) और उत्प्रेक्षा–(जैसे कि 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' में) इन दोनों अर्थालंकारों के परस्पर निरपेक्ष रहते हुये भी यहां (काव्य के अर्थात्मक अंश में) एकत्र अवस्थान के कारण ।

तीसरी संसृष्टि अर्थात् शब्दालंकार और अर्थालंकार की 'संसृष्टि' जैसे कि:—

'इस गांव में कोई भी ऐसा युवक नहीं जो इस सौन्दर्य की कस्तूरी से मतवाली और तरुणों के हृदय लूटने वाली का इधर उधर घमण्ड में चूर होकर घूमना-फिरना छुड़ा सके ।'

यहां एक अलंकार तो है शब्दालंकार अर्थात् अनुप्रास (जैसे कि 'त' 'थ' रूप व्यञ्जनों के एक बार साम्य में छेकानुप्रास) और दूसरा है अर्थालंकार अर्थात् रूपक (जैसे कि 'हृदयलुण्टाकीम्' में) और ये दोनों हैं परस्पर निरपेक्ष, किन्तु संबद्ध, एकत्र अवस्थित । इनकी 'एकत्र स्थिति' का अभिप्राय है इनके एक वाक्य में (चाहे वाक्य को अर्थावच्छिन्न शब्दरूप माने, या आकांक्षादियुक्त पदसमूह माने या अनेक वाक्यों की एक वाक्यता की दृष्टि से देखें) रहने अथवा एक छन्द–एक संघटना–एक पद्यात्मक अथवा गद्यात्मक रचना में अवस्थित होने का ।

टिप्पणी—भामह ने 'संसृष्टि को एक अलंकार अवश्य माना था जैसा कि उनके 'काव्यलंकार' (३.४९) की निम्न उक्ति से स्पष्ट है

'वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगतः । रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा ॥'

(६१ 'संकर' अलंकार)

(२०८) अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः ।

एते एव यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां संकीर्यमाणस्वरूपत्वात्संकरः ।

उदाहरणम्—

(दो अलंकारों का 'संकर')

आत्ते सीमन्तरत्ने मरकतिनि हृते हेमताटंकपत्रे
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते ।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये
राजन्गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ।। ५७० ।।

'भामह' के व्याख्याकार उद्भट ने भी इसका:—

'अलंकृतीनां बह्वीनां द्वयोर्वापि समाश्रयः । एकत्र निरपेक्षाणां मिथः संसृष्टिरुच्यते ।।'

(काव्यालंकारसारसंग्रह ६.५)

इत्यादि दृष्टि से विवेचन कर दिया था, किन्तु काव्यप्रकाशकार ने इन प्राचीन आलंकारिकों की संसृष्टि-सम्बन्धी धारणा के बदले 'अलंकारसर्वस्व' के रचयिता 'रुय्यक' की संसृष्टि-समीक्षा का ही अनुमोदन किया है । 'रुय्यक' की:—

'संसृष्टिस्त्रिधा-शब्दालंकारगतत्वेन, अर्थालंकारगतत्वेन, उभयालंकारगतत्वेन च' ।

(अर्थालंकारसर्वस्व-काव्यमाला पृष्ठ २४४)

यह उक्ति ही काव्यप्रकाश के—'एतेषां (अलंकाराणाम्)…एकत्र शब्दभाग एव, अर्थविषय एव उभयत्राऽपि वाऽवस्थानम् सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः' इस संसृष्टि-विवेचन का आधार है । यद्यपि काव्यप्रकाशकार ने 'संसृष्टि' का वही विश्लेषण किया है जो अलंकारसर्वस्वकार का किया हुआ है किन्तु काव्यप्रकाशकार 'संसृष्टि' में संयोग-न्याय और 'संकर' में समवाय-न्याय नहीं मानते इसलिये 'संसृष्टि' के लिये 'तिलतण्डुलन्याय' और 'संकर' के लिये 'नीरक्षीरन्याय' की किसी कल्पना के बिना ही त्रिविध 'संसृष्टि' और त्रिविध 'संकर' का निरूपण कर देते हैं ।

अनुवाद—'संकर' अलंकार वह है जिसे पूर्वोक्त अलंकारों की, अपने आप में स्वतन्त्ररूप से अवस्थित न हो सकने के कारण, परस्पर अङ्ग और अङ्गी (अनुग्राहक और अनुग्राह्य अथवा उपकारक और उपकार्य) रूप से (काव्य के शब्दभाग अर्थभाग अथवा शब्दार्थगत भाग में) अवस्थिति कहा करते हैं ।

('संकर का पहला प्रकार-अङ्गाङ्गिभावरूप संकर)

यहां अलंकारों के 'संकर' का अभिप्राय है अलंकारों के अपने स्वरूप में अवस्थित न रह कर परस्पर उपकार्योपकारक भावरूप सम्बन्ध में बँध जाने का । जब कि एक से अधिक अलंकार इस प्रकार रहने लगें तब उनका स्वरूप परस्पर संकीर्ण हो गया । यहां जो 'संकर' अलंकार कहा जा रहा है वह वस्तुतः अङ्गाङ्गिभावापन्न अलंकारों के स्वरूप-सम्मिश्रण का ही चमत्कार है । उदाहरण के लिये:—

'महाराज ! शबरों और किरातों ने बन-वन में भटकती-फिरतीं आपकी शत्रुनारियों के नीलम-जड़े शिरोभूषण उतार डाले, सोने के कनफूल ले लिये, कमर की करधनी लूट ली और मणियों के बने पैरों के बिछुए भी छीन लिये, किन्तु हार न ले पाये ! और ले भी कैसे पावें जब कि उन रमणियों के बिम्बसदृश्य अधरों की आभा से लाल बने हार उन्हें गुञ्जा की लड़ियाँ लगा करें !'

अत्र तद्गुणमपेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतं तदाश्रयेण च तद्गुणः सचेतसां प्रभूतचमत्कृतिनिमित्तमित्यनयोरङ्गाङ्गिभावः ।

यथा वा—

(दो से अधिक अलंकारों का 'संकर')

जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः ।
परिप्रेंखत्तारापरिकरकपालाङ्किततले
शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥ ५७१ ॥

उपमा रूपकं-उत्प्रेक्षा-श्लेषश्चेति चत्वारोऽत्र पूर्ववत् अङ्गाङ्गितया प्रतीयन्ते । कलंक एवाक्षवलयमिति रूपकपरिग्रहे करधृतत्वमेव साधकप्रमाणतां प्रतिपद्यते अस्य हि रूपकत्वे तिरोहितकलङ्करूपं अक्षवलयमेव मुख्यतयाऽवगम्यते तस्यैव च करग्रहणयोग्यतायां सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः । श्लेषच्छायया तु कलंकस्य करधा-

यहां ('बिम्बोष्ठकान्त्या शोणम्' में) जो 'तद्गुण' अलंकार है उसकी अपेक्षा से ('गुञ्जाफलानां स्रजः' में) 'भ्रान्तिमान्' अलंकार की रूप-रेखा प्रकट हो रही है। किन्तु यह 'तद्गुण' यहां ऐसा नहीं जो स्वतन्त्ररूप से चमत्कारकारक लगे क्योंकि इसे भी 'भ्रान्तिमान्' की सहायता अपेक्षित है। इस प्रकार 'भ्रान्तिमान्' से उपकृत 'तद्गुण' का जो परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है वही यहां 'संकरालंकार' है क्योंकि यही वह चमत्कार-विशेष है जो यहां सहृदयों के अनुभव का विषय है।

अथवा जैसे कि:—

'यह भस्म के समान (भस्म रमाये सा) शुभ्र चन्द्रमा (योगी) ऐसा लगता है जैसे सर्वत्र बिखरे नक्षत्रों के नरमुण्डों से भरे श्मशान सरीखे आकाश में रमण कर रहा है। इसकी चांदनी है जटाओं सी पीली-पीली, इसके किरणसमूह (हाथ) में कलङ्क है रुद्राक्षमाला के समान लगा हुआ और इसकी शुभ्रता ! (चित्त शुद्धि, योगी पक्ष में) वह है विरहियों को संतप्त करने (योगी-पक्ष में आत्म-स्वरूप से सतत वियुक्त विषयों के विध्वंस करने) के कारण ऐसी कि निरन्तर लालिमा को छोड़ती (वीतरागता को बढ़ाती-योगीपक्ष में) अधिकाधिक स्वच्छता (चित्त की विमलता-योगीपक्ष में) में ही बढ़ती जा रही है।'

यहां उपमा, (जैसे कि 'जटाभाभिर्भाभिः', 'पितृवन इव व्योम्नि' में) रूपक, ('कलंकाक्षवलयम्', 'तारापरिकरकपाल' में) उत्प्रेक्षा (जैसे कि वियोगिव्यापत्तेरिव में) और श्लेष (जैसे कि 'वैराग्यविशदः' में) ये चार-चार अलंकार पूर्वोक्त उदाहरण की भांति परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से अवस्थित प्रतीत हो रहे हैं।

(यहां यह शंका कि जब 'कलङ्काक्षवलयम्' में 'कलङ्क एव अक्षवलयम्' ऐसा समास होने से 'रूपक' तथा 'कलङ्कः अक्षवलयमिव' ऐसा समास होने से उपमा- दोनों की संभावना है तब इसे रूपक-उपमा का संदेह-संकर न मानकर रूपक क्यों मान लिया जाय ठीक नहीं लगती।) वस्तुतः बात यह है कि (यहां 'उपमा-रूपक' का 'संदेह'-संकर नहीं हो सकता क्योंकि) यहां 'करधृत' रूप जो विशेषण है उसके द्वारा 'रूपक' की ही सिद्धि (न कि उपमा की) की जा रही है। 'कलङ्काक्षवलयम्' में रूपक इसी से सिद्ध है कि यहां कलङ्करूप उपमेय को तिरोहित करने वाले अक्षवलयरूप उपमान की ही विशेष्यरूप से प्रतीति हो रही है क्योंकि इसी (अक्षवलयरूप) विशेष्य में 'करधृत'रूप विशेषण का सर्वथा समन्वय संभव है। (यहां यह भी नहीं कहा जा सकता कि जब कलङ्क के साथ 'करग्राह्यत्व'रूप साधारण धर्म का सम्बन्ध न हो सके तब सादृश्याधिक्य पर आश्रित 'रूपक' भी कैसे ! क्योंकि) यद्यपि यह

रणं असदेव प्रत्यासत्त्या उपचर्य योज्यते शशांकेन केवलं कलंकस्य मूर्त्यैव उद्वहनात्। कलंकोऽत्त्ववलयमिवेति तु उपमायां कलंकस्योत्कटतया प्रतिपत्तिः। न चास्य करधृतत्वं तत्त्वतोऽस्तीति मुख्येऽप्युपचार एव शरणं स्यात्। एवंरूपश्च संकरः शब्दालङ्कारयोरपि परिदृश्यते।

यथा—

राजति तटीयमभिहतदानवरासाऽतिपातिसारावनदा।
गजता च यूथमविरतदानवरा साऽतिपाति सारा वनदा ॥ ५७२ ॥

अत्र यमकमनुलोम प्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे।

('संकर' का दूसरा प्रकार–संदेहरूप संकर)

(२०९) एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥ १४० ॥

द्वयोर्बहूनां वा अलङ्काराणामेकत्र समावेशेऽपि विरोधान्न यत्र युगपदवस्थानम् न चैकतरस्य परिग्रहे साधकम् तदितरस्य वा परिहारे बाधकमस्ति। येनैकतर एव परिगृह्येत स निश्चयाभावरूपो द्वितीयः संकरः समुच्चयेन संकरस्यैवाक्षेपात,

---

ठीक है कि कलङ्क का करग्रहण (हाथ में लेना) संभव नहीं क्योंकि चन्द्रमा का बिम्ब ही कलङ्क का धारण करने वाला हुआ करता है न कि उसका किरण–कलाप किन्तु 'करधृत' विशेषण में 'कर'पद के श्लिष्ट होने से (अर्थात् हाथ और किरण दोनों के अर्थों के उपस्थापक होने से) इसके द्वारा कर (किरण) के साथ सामीप्य–संबन्ध से सदा अवस्थित चन्द्रमण्डल का सम्बन्ध जब कलङ्क से जुड़ जायगा तब रूपक की रूप–रेखा में आपत्ति कहां! यदि यहां उपमा मानी जाय तब तो 'कलङ्कोऽत्तवलयमिव' इस अभिप्राय में मुख्यरूप से–विशेष्यरूप से कलङ्क की ही प्रतीति होगी (न कि अत्तवलय की) और 'कलङ्क' में जब 'करधृत' (हाथ में लिया गया) साधारणधर्म स्वभावतः संगत न हुआ तब कलङ्करूप विशेष्य में भी उपचार (लक्षणा) ही एक मात्र अर्थ–प्रत्यायन का साधन रह जायगा (जो कि इसलिये ठीक नहीं क्योंकि, विशेष्य में उपचार के आश्रय लेने की अपेक्षा विशेषण में उपचार का आश्रय लेना ही युक्तिसंगत माना गया है)।

यह (अङ्गाङ्गिभावरूप) संकर दो शब्दालंकारों में भी स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है। जैसे कि :—

'यही वह पर्वत–भूमि है जो 'अभिहतदानवरासा' दैत्यों के सिंहनाद से प्रतिध्वनित किंवा 'अतिपातिसारावनदा' चञ्चल तथा ध्वनिमुखर जलप्रवाह से भरी है और जिसमें 'अविरतदानवरा' निरन्तर प्रवाहित होने वाले मदजल से सुशोभित, 'सारा' वलशाली तथा 'वनदा' वनों को विक्षुब्ध करने वाली 'गजता' हाथियों की टोलियां 'यूथमतिपाति' अपने अपने झुण्डों की रक्षा करती घूम रही हैं।' (हरविजय ५)

यहां (द्वितीय और चतुर्थ पाद में) यमक और 'अनुलोम' तथा 'प्रतिलोम' प्रकार के चित्रालंकार–दोनों एक दूसरे की अपेक्षा करते हुये (अङ्गाङ्गिभाव से) पड़े हैं (जिसमें सहृदयों का मन इसलिये रम जाता है क्योंकि जहां इनमें से प्रत्येक अलंकार की योजना कष्टसाध्य है वहां इन दोनों को इतनी सुन्दरता से निबाहा गया है)।

यह 'संकर' इस प्रकार का है जिसे अनिश्चय संदेह–संकर कहा गया है क्योंकि यहां दो अलंकारों में से किसी एक के निश्चय का न तो कोई (न्याय) साधक प्रमाण रहा करता है और न कोई (दोष) बाधक प्रमाण ही मिला करता है।

यह दूसरे प्रकार का 'संकर' अनिश्चयात्मक अथवा संदेह 'संकर' है क्योंकि जब दो अथवा दो से अधिक अलंकारों में एक काव्य में रहने में (छाया और आतप की भांति) विरोध होने लगे और एक ही समय में इनमें से किसी एक के स्वरूप के निश्चय में न तो कोई साधक प्रमाण हो जिससे उसे स्वीकार किया जाय और न कोई बाधक प्रमाण हो

उदाहरणम्—

जह गहिरो जह रअणणिब्भरो जह अ णिम्मलच्छाओ।
तह किं विहिणा एसो सरसवाणीओ जलणिही ण किओ ॥ ५७३ ॥

(यथा गभीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः।
तथा किं विधिना एष सरसपानीयो जलनिधिर्न कृतः ॥ ५७३ ॥)

अत्र समुद्रे प्रस्तुते विशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः किमसौ समासोक्तिः किमब्धेरप्रस्तुतस्य मुखेन कस्यापि तत्समगुणतया प्रस्तुतस्य प्रतीतेः इयमप्रस्तुतप्रशंसा इति सन्देहः। यथा वा—

नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत्प्रसीदति।
अधुनापि निरुद्धाशमविशीर्णमिदन्तमः ॥ ५७४ ॥

अत्र किं कामस्योद्दीपकः कालो वर्तते इति भङ्ग्यन्तरेणाभिधानात्पर्यायोक्तम् उत वदनस्येन्दुबिम्बतयाऽध्यवसानादतिशयोक्तिः किं वा एतदिति वक्त्रं निर्दिश्य तद्रूपारोपवशाद्रूपकम् अथवा तयोः समुच्चयविवक्षायां दीपकम् अथवा तुल्ययोगिता किमु प्रदोषसमये विशेषणसाम्यादाननस्यावगतौ समासोक्तिः आहोस्विन्मुखनैर्मल्यप्रस्तावादप्रस्तुतप्रशंसा इति बहूनां सन्देहादयमेव संकरः।

जिससे उसे अस्वीकार ही किया जाय तब यहां जो अलंकारों का सांकर्य होगा वह अनिश्चयात्मक-संदेहरूप ही होगा। इसीलिये यह संकर-प्रकार संदेह संकर कहा जाता है क्योंकि पहली कारिका से 'संकर' की ही अनुवृत्ति यहां विवक्षित है जिसके लिये समुच्चयबोधक 'च' का प्रयोग ही प्रमाण है। उदाहरण के लिये:—

(दो अलंकारों का संदेह-संकर)

'विधाता ने यह सागर, जैसा गहरा, जैसा रत्नपूर्ण और जैसा स्वच्छ-सुन्दर बनाया वैसा, पता नहीं, मीठा पानी वाला क्यों कर न बनाया!'

यहां क्या 'समुद्र' के वर्णनीय रूप से प्रस्तुत रहने पर, श्लिष्ट (गभीर आदि) विशेषणों की महिमा से, अप्रस्तुत (पुरुषविशेष रूप) अर्थ की प्रतीति में 'समासोक्ति' मानी जाय? अथवा क्या अप्रस्तुत समुद्ररूप अर्थ के वर्णन द्वारा, उसके, समानधर्मा होने के कारण, किसी प्रस्तुत (पुरुष-विशेषरूप) अर्थ की प्रतीति होने से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' समझी जाय? यह है वह संदेह (जिसका निवारण किसी साधक अथवा बाधक प्रमाण के अभाव में असंभव है और जिसका चमत्कार यहां 'संदेह-संकर' का चमत्कार है) जो कि यहां स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अथवा जैसे कि:—

(दो से अधिक अलंकारों का 'संदेह' संकर)

'नेत्रों का आनन्ददायक यह चन्द्रबिम्ब चमक रहा है किन्तु दिङ्मण्डल का आच्छादक यह अन्धकार अभी भी सर्वथा नष्ट हुआ नहीं प्रतीत होता।'

यहां क्या 'वह समय आ पहुँचा जिसमें काम उत्तेजित हुआ करता है' इस व्यङ्ग्यरूप अर्थ के उक्ति-वैचित्र्यपूर्वक प्रतिपादन में 'पर्यायोक्त' है? अथवा क्या मुखरूप प्रकृत के अप्रकृत चन्द्रबिम्ब के रूप में अध्यवसान (निश्चय) होने से 'अतिशयोक्ति' है? या ऐसा है कि 'एतत्' (यह)-इस पद से निर्दिष्ट 'मुख'रूप उपमेय पर चन्द्रबिम्बरूप उपमान के आरोप में 'रूपक' है? या ऐसा तो नहीं कि 'एतत्' (मुख) और 'इन्दुबिम्ब' (चन्द्रबिम्ब) इन दोनों के समुच्चय (परस्पर निरपेक्ष भी अनेक पदार्थों के एक साथ अवस्थान जैसे कि—इन्दुबिम्बं प्रसीदति एतद् वक्त्रं च प्रसीदति) की दृष्टि से (क्रिया-) दीपक हो? कहीं ऐसा तो नहीं कि (मुख और चन्द्रबिम्ब दोनों के प्रकृत अथवा अप्रकृत

यत्र तु न्यायदोषयोरन्यतरस्यावतारः तत्रैकतरस्य निश्चयान्न संशयः। न्यायश्च साधकत्वमनुकूलता दोषोऽपि बाधकत्वं प्रतिकूलता, तत्र—

सौभाग्यं वितनोति वक्त्रशशिनो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः ॥ ५७५ ॥

इत्यत्र मुख्यतयाऽवगम्यमाना हासद्युतिर्वक्त्रे एवानुकूल्यं भजते इत्युपमायाः साधकम् शशिनि तु न तथा प्रतिकूलेति रूपकं प्रति तस्या अबाधकता।

वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यतः ॥ ५७६ ॥

इत्यत्रापरत्वमिन्दोरनुगुणं न तु वक्त्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकस्य साधकतां प्रतिपद्यते न तूपमाया बाधकताम्।

होने से औपम्य के आक्षेप में) 'तुल्ययोगिता' ही हो? या प्रदोषकाल के वर्णन में (चन्द्रबिम्ब के प्रकृत होने से) आनन्ददायकत्वरूप विशेषण की समानता के कारण (अप्रकृतरूप) 'मुख' की प्रतीति में 'समासोक्ति' हो? या कहीं (प्रस्तुत) मुख की निर्मलता के वर्णन से अप्रस्तुत (चन्द्रबिम्ब) के अभिधान में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' हो? इस प्रकार जब एक नहीं अनेक अलंकारों में से किसी के स्वरूप-विनिश्चय में कोई साधन-बाधक प्रमाण नहीं तो यह अलंकार-संकर संदेह-संकर नहीं तो और क्या है?

संदेह-संकर की संभावना वहां नहीं हुआ करती जहां न्याय (साधक प्रमाण) और दोष (बाधक प्रमाण)-इन दोनों में से किसी भी एक की उपस्थिति में किसी भी अलंकार का स्वरूप निश्चय हो जाय। यहां 'न्याय' का अभिप्राय है (किसी अलंकार के) 'साधक' अथवा 'अनुकूल प्रमाण' का और 'दोष' का अभिप्राय है उसके 'बाधक' अथवा 'प्रतिकूल प्रमाण' का। (साधक प्रमाण का उदाहरण) इस सूक्ति अर्थात्—

'चांदनी जैसे चन्द्रमा की सुन्दरता बढ़ाया करती है वैसे हँसी चन्द्रमुख की सुन्दरता बढ़ाती रहती है।' में स्पष्ट है। क्योंकि जिस (विशेषणभूत) 'हासद्युति' हासशोभा की मुख्यतया (अर्थात् बिना किसी उपचार-सम्बन्ध के) प्रतीति हो रही है उसके 'मुख'-रूप (विशेष्यभूत) अर्थ में अनुकूल होने से 'उपमा' अलंकार (वक्त्रं शशीव वक्त्रशशिनः) की सिद्धि तो स्पष्ट है। किन्तु जहां तक 'रूपक' (वक्त्रं शशीव वक्त्रशशिनः) का प्रश्न है वहां इस (विशेषणभूत) 'हासद्युति' की न तो कोई (विशेष्यभूत चन्द्ररूप अर्थ में) अनुकूलता है (क्योंकि चन्द्रमा में हँसी का होना असंभव है) और न कोई विशेष प्रतिकूलता ही (क्योंकि उपचारतः 'हास' का अभिप्राय 'विकास' लिया जा सकता है)। इस प्रकार रूपक के साधक अथवा बाधक प्रमाण के अभाव में यहां 'उपमा' और 'रूपक' का संदेह संकर निर्मूल है।

इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

'प्रिये! जब कि तुम्हारा यह मुख-चन्द्र विराजमान है तब यह दूसरा चन्द्र (आकाश में) क्या निकल पड़ा!' में 'रूपक' का साधक प्रमाण तो विद्यमान है क्योंकि 'वक्त्रमेव इन्दुः-वक्त्रेन्दुः' में चन्द्र (रूप उपमान) की प्रधानरूप से प्रतीति में 'अपरत्व-द्वितीयचन्द्र के अस्तित्व' की उक्ति तो अनुकूल पड़ती है (क्योंकि बिना 'मुख' में 'चन्द्र' के तादात्म्यारोप के 'अपरः शीतांशुरभ्युद्यतः-दूसरा चन्द्र क्या निकल पड़ा' ऐसा कहना अनुपपन्न है)। किन्तु यहां 'उपमा' (वक्त्रम् इन्दुरिव वक्त्रेन्दुः) का जहां तक प्रश्न है वहां 'अपरत्व' की उक्ति प्रतिकूल भी नहीं (क्योंकि उपमा में मुख) की प्रधानरूप से प्रतीति होने में 'चन्द्रसदृश मुख के रहते इस (अकाशवर्ती) दूसरे चन्द्र से क्या?' इस अर्थ की कथंचित योजना करने पर 'अपरत्व' का अभिप्राय अनुपपन्न नहीं होता और न वस्तुतः यह उपपन्न ही है (क्योंकि 'चन्द्रसदृश मुख' में प्रधानतया जब मुख की प्रतीति अभिप्रेत है तब 'चन्द्र' में 'अपरत्व' की प्रतीति असंभव है क्योंकि चन्द्र एक ही है दो नहीं)।

राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ॥ ५७७ ॥

इत्यत्र पुनरालिङ्गनमुपमां निरस्यति सदृशं प्रति परप्रेयसीप्रयुक्तस्यालिङ्गनस्यासम्भवात् ।

पादाम्बुजं भवतु नो विजयाया मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥ ५७८ ॥

इत्यत्र मञ्जीरशिञ्जितं अम्बुजे प्रतिकूलम् असम्भवादिति रूपकस्य बाधकम् न तु पादेऽनुकूलमित्युपमायाः साधकमभिधीयते विध्युपमर्दिनो बाधकस्य तदपेक्षयोत्कटत्वेन प्रतिपत्तेः । एवमन्यत्रापि सुधीभिः परीक्ष्यम् ।

[यहां निष्कर्ष यह निकला कि साधक प्रमाण के सद्भाव में जब किसी एक अलंकार की उत्कट संभावना हो जैसे कि 'सौभाग्यं वितनोति' आदि में 'उपमा' की अथवा 'वक्त्रेन्दौ तव' इत्यादि में 'रूपक' की; तब 'सन्देह-संकर' की संभावना इसलिये नहीं हो सकती क्योंकि इसके लिये दो अथवा दो से अधिक अलंकारों में जिस तुल्यकोटि का संशय अपेक्षित है, उसका यहां अभाव है ।]

इसी प्रकार किसी अकंकार के बाधक-प्रमाण के सद्भाव में भी उसका किसी दूसरे अलंकार के साथ 'संदेह-संकर' असंगत ही है । जैसे कि :—

'राजन् ! आप राज-नारायण (विष्णुरूप राजा) हैं, लक्ष्मी बड़े अनुराग से आपका आलिंगन किया करती है ।'

इस सूक्ति में जहां उपमा (राजा नारायण इव राजनारायणः) की संभावना 'आलिङ्गन' की उक्ति के द्वारा दूर कर दी गयी है, क्योंकि लक्ष्मी का आलिंगन नारायण (उपमान) के साथ तो उपपन्न है किन्तु नारायण-सदृश (राजा-उपमेय) के साथ इसलिये उपपन्न नहीं क्योंकि नारायण की प्रेयसी (लक्ष्मी) के लिये (नारायण को छोड़ कर) नारायण-सदृश किसी पुरुष (यहां राजा) का अलिंगन सर्वथा अनुचित है, वहां इसका यहां वस्तुतः विराजमान 'रूपक' (राजा एव नारायणःराजनारायणः) के साथ 'संदेह-संकर' नहीं हो सकता । इसी प्रकार—

'मञ्जीर के मधुर शिञ्जा-रव से मनोहर भगवती पार्वती के चरणकमल हमें विजयी बनाया करें ।'

इस सूक्ति में जहां 'रूपक' (पाद एव अम्बुजम्-पादाम्बुजम्) का बाधक प्रमाण 'मञ्जीरशिञ्जित' की उक्ति में उपलब्ध है, क्योंकि 'मञ्जीर की शिञ्जा' 'पाद' (चरण) में 'अम्बुज' के तादात्म्यारोप के इसलिये प्रतिकूल पड़ती है क्योंकि 'अम्बुज' में मञ्जीर-ध्वनि असंभव है, वहां इसके साथ यहां वस्तुतः अभिप्रेत 'उपमा' (पादः अम्बुजमिव पादाम्बुजम्) का 'संदेह-संकर' कैसे ! यहां 'मञ्जीरशिञ्जित' की उक्ति 'चरण' के लिये अनुकूल होने से 'उपमा' का साधक प्रमाण भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि इसके द्वारा 'पाद' में 'अम्बुज' के तदात्म्यारोप-विधान (रूपक) का जैसे उग्ररूप से उपमर्दन (निराकरण) किया जा रहा है वैसे उपमा का समर्थन नहीं ।

वस्तुतः साधक अथवा बाधक प्रमाण के सद्भाव में दो अलंकारों के संदेह-संकर की संभावना इसी प्रकार काव्यरसिक अन्यत्र स्वयं भी दूर कर सकते हैं ।

टिप्पणी—यहां काव्यप्रकाशकार ने संदेह संकर के निरूपण में आचार्य उद्भट की इस संदेह-संकर-परिभाषा अर्थात्—

'अनेकालङ्क्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसंभवे । एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च संकरः ॥'

(काव्यालंकारसारसंग्रह ५.११)

का आधार स्वीकार किया है । इस परिभाषा में 'न्याय' और 'दोष' साधक और बाधक प्रमाण का जो संकेत है उसका स्पष्टीकरण श्री प्रतीहार इन्दुराज का किया हुआ है :—

('संकर' का तीसरा प्रकार-एक पद प्रतिपाद्यरूप संकर)

(२१०) स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च,

अभिन्ने एव पदे स्फुटतया यदुभावपि शब्दार्थालङ्कारौ व्यवस्थां समासादयतः सोऽप्यपरः संकरः ।

उदाहरणम्—

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच ॥ ५७६ ॥

अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।

('संकर' के त्रैविध्य का स्पष्टीकरण)

(२११) तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्त्तितः ॥ १४१ ॥

'ननु यद्यनेकालंकारोल्लेखे युगपद्वृत्त्यसंभवे च संदेहसंकरत्वमेवं सति यत्र प्रतिभामात्रेणानेकस्मिन्नलंकारे उल्लिख्यमाने यस्य साधकं प्रमाणमस्ति स उपादीयते यस्य तु बाधकं प्रमाणं विद्यते स त्यज्यते तत्राप्यनेकालंकारोल्लेखस्य समं तद्वृत्त्यसंभवस्य च संभवात् संदेहसंकरत्वं प्रसज्जतीत्याशङ्क्योक्तम्—एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे चेति । न्यायः साधकं प्रमाणं दोषो बाधकं प्रमाणम् । यत्राऽनेकालंकारोल्लेखे युगपद्वृत्त्यसंभवे च एकतरस्य ग्रहणे साधकबाधके प्रमाणे समस्तव्यस्ततया न विद्येते तत्र संदेहसंकरः । तेन नानिष्टप्रसङ्गः । तथा हि यत्र साधकबाधके प्रमाणे सामस्त्येन विद्येते तत्र यस्य साधकं प्रमाणमस्ति तस्योपादानादबाधकस्य प्रमाणोपेतस्य च त्यागादेकस्य ग्रहणं भवति । यत्रापि साधकबाधकप्रमाणयोर्वैयस्त्येनाऽन्यतरस्य विद्यमानता तत्रापि प्रतिभोल्लिख्यमानानेकालंकारमध्यात् साधकप्रमाणोपेतस्योपादानात् प्रमाणशून्यस्य चोपेक्ष्यत्वात्तथा बाधकप्रमाणोपेतस्य परित्यागात्तदितरस्य च पूर्वोल्लिखितस्य पारिशेष्येणोपादानादेकस्य ग्रहो भवति । यत्र तु साधकबाधकप्रमाणाभावस्तत्र संदेह एव । (काव्यालंकारसारसंग्रह लघुवृत्ति पृष्ठ ६८-६९) यहां काव्यप्रकाशकार वस्तुतः इन्दुराज की उपर्युक्त न्याय-दोष-समीक्षा का ही अनुसरण करते प्रतीत हो रहे हैं ।

अनुवाद—यह 'संकर-प्रकार' वह है जिसे एक समान पद में शब्द और अर्थ दोनों के अलंकारों की अवस्थिति कहा करते हैं ।

'संकर' का एक और प्रकार वह है जिसमें एक ही (सुवन्त अथवा तिङन्तरूप) पद अथवा पद-समूह में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों उपस्थित रहा करते हैं । उदाहरण के लिये—

'यह 'दिवसारविन्द' (दिन-कमल) जिसका बीजकोश पूर्ण प्रकाशित किरण-केसरों से विभूषित सूर्यबिम्ब के रूप में झलक रहा है, जिसका पटल-संकोच आठो दिशाओं के प्रदोषकालीन अन्धकार के आवरण में प्रतीत हो रहा है और जिसकी मधुपावली तमस्तोम के रूप में भीतर घिरी है, अब बंद पड़ा दिखाई दे रहा है ।' (हरविजय १९)

यहां 'एकपदप्रतिपाद्य संकर' है क्योंकि एक पद में ('किरणकेसर' 'सूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिक' और 'दिग्दलकलाप' इन प्रत्येक पदों में) 'रूपक' तथा 'अनुप्रास'-(एक अर्थालंकार और दूसरा शब्दालंकार) दोनों अवस्थित हैं ।

अनुवाद—इस प्रकार पूर्वप्रतिपादित दृष्टि से 'संकर' के तीन भेद सिद्ध हैं ।

टिप्पणी—भामह की दृष्टि में तो 'संकर' कोई अलंकार-प्रकार ही नहीं । यद्यपि दण्डी की
'नानालंकारसंसृष्टिः संकीर्णं तु निगद्यते । अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता ।
इत्यलङ्कारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः ॥' (काव्यादर्श २.३५९-३६०)

तदयमनुग्राह्यानुग्राहकतया सन्देहेन एकपदप्रतिपाद्यतया च व्यवस्थितत्वात्त्रिप्रकार एव संकरो व्याकृतः। प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तुम् आनन्त्यात्तत्प्रभेदानामिति प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलङ्काराः। कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलङ्कारः शब्दस्य कश्चिदर्थस्य कश्चिच्चोभयस्येति चेत्।

(अलंकारों के श्रेणी-विभाग का आधार 'अन्वय-व्यतिरेक' का सिद्धान्त)

उक्तमत्र यथा काव्ये दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायामन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवतः निमित्तान्तरस्याभावात्। ततश्च योऽलङ्कारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलङ्कारो व्यवस्थाप्यते इति, एवं च यथा पुनरुक्त-

उस उक्ति में 'संकीर्ण' शब्द का प्रयोग है किन्तु यहां यह स्पष्ट है कि संकर और संसृष्टि में कोई भेद-भाव नहीं रखा गया। 'संकर' का 'संसृष्टि' से पृथक् विश्लेषण तो सर्वप्रथम उद्भट का किया प्रतीत होता है—

अनेकालङ्क्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसंभवे। एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाऽभावे च संकरः॥
शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्र भासिनः। संकरो वैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते॥
परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः। स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि संकरः॥

(काव्यालंकारसारसंग्रह ५.११-१३)

और उद्भट के व्याख्याकार इन्दुराज का सर्वप्रथम 'संकर' के चार भेदों का नामकरण किया मिलता है। बाद के आलंकारिकों जैसे कि 'रुय्यक' और 'काव्यप्रकाशकार' के संकरनिरूपण में वस्तुतः उद्भट और इन्दुराज की संकर-मीमांसा का ही प्रभाव स्पष्ट झलकता है। काव्यप्रकाशकार ने उद्भट और इन्दुराज के द्वितीय संकर-भेद (शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्र भासिनः। संकरो वा) को 'संसृष्टि' सिद्ध कर संकर के तीन ही प्रकार माने हैं।

अनुवाद—यहां अङ्गाङ्गिभाव, संदेह तथा एकपदप्रतिपाद्यता की त्रिविधव्यवस्था के आधार पर 'संकर' के तीन भेदों का प्रतिपादन किया गया है। यहां किसी अन्य व्यवस्था (जैसे कि उपमा-रूपक, अनुप्रास-उपमा, अनुप्रास-रूपक इत्यादि ढंग से पृथक्-पृथक् अलंकारों की सांकर्य-व्यवस्था) का आश्रय लेना वस्तुतः इसलिये असंभव है क्योंकि पृथक्-पृथक् अलंकारों के 'सांकर्य' में 'संकर' के अनन्त भेद-प्रभेदों का न तो कोई निरूपण संभव है और न निर्णय।

अन्त में यहां यह कहना उचित प्रतीत होता है कि जिन-जिन अलंकारों का (नवम तथा दशम उल्लास में) अब तक प्रतिपादन किया जा चुका है, वे (१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार और (३) उभयालंकार-इन तीन ही श्रेणियों में विभक्त तथा समन्वित हैं।

अनुवाद—यहां यह कहा जा सकता है कि जब अलंकारों में काव्य की शोभा-वर्द्धकता की दृष्टि से कोई भेद नहीं तब क्योंकर किसी अलंकार को शब्दमात्र का अलंकार, किसी को अर्थ-मात्र का अलंकार और किसी को शब्द और अर्थ दोनों का अलंकार मान लिया जाय। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जैसा कि पहले ही (अर्थात् नवम उल्लास में, श्लेषालंकार-निरूपण के प्रसंग में) कहा जा चुका है, काव्य में दोष, गुण और अलंकारों की जो भी व्यवस्था है उसमें एक मात्र 'अन्वय-व्यतिरेक' के सिद्धान्त का ही हाथ है जिसके आधार पर किसी दोष अथवा गुण अथवा अलंकार को शब्द, अर्थ अथवा शब्दार्थ का दोष, गुण अथवा अलंकार कहा जाया करता है। तात्पर्य यह है कि (दोष, गुण अथवा) अलंकारों के कक्षा-विभाग में अन्य किसी सिद्धान्त के कार्यकर न होने से यही मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि जो अलंकार शब्द अथवा अर्थ अथवा शब्द और अर्थ में जिस किसी के अन्वय (सद्भाव) और व्यतिरेक (असद्भाव) का अनुसरण करे उसे उसी (शब्द अथवा अर्थ अथवा शब्द और अर्थ दोनों) का अलंकार मानना

वदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयाऽलङ्कारौ तथा शब्दहेतुकार्थान्तरन्यासप्रभृतयोऽपि द्रष्टव्याः । अर्थस्य तु तत्र वैचित्र्यम् उत्कट-तया प्रतिभासते इति वाच्यालंकारमध्ये वस्तुस्थितिमनपेक्ष्यैव लक्षिताः ।

(अलंकारों के श्रेणी-विभाग में आश्रयाश्रयिभाव-व्यवस्था ?)

योऽलङ्कारो यदाश्रितः स तदलङ्कार इत्यपि कल्पनायां अन्वयव्यतिरेकावेव

उचित है। कुछ अलंकारों जैसे कि 'पुनरुक्तवदाभास' (जैसे कि 'तनुवपुरजन्योऽसौ' आदि नवम उल्लास में उद्धृत संदर्भ) और परम्परितरूपक (जैसे कि 'विद्वन्मानसहंस' आदि) को जो उभयालंकार कहा जाता है वह वस्तुतः 'अन्वय-व्यतिरेक' की व्यवस्था के आधार पर ही, क्योंकि इनमें जो बात दिखाई देती है वह यही है कि ये अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के 'अन्वय' (सद्भाव) और 'व्यतिरेक' (असद्भाव) का अनुसरण किया करते हैं (जैसे कि 'तनुवपुः' आदि में 'तनु' शब्द तो परिवृत्त्यसह है-हटाया नहीं जा सकता, इसलिये 'तनु' शब्द के भाव में होने और अभाव में न होने से यहां पुनरुक्तवदाभास शब्द का अलंकार है और 'वपुः' शब्द ऐसा है जो परिवृत्ति-सह है—हटाया जा सकता है, इसलिये इसके पर्यायवाचक शब्द के सद्भाव में भी इस अलंकार के होने से यहां पुनरुक्त-वदाभास अर्थ का अलंकार है। इसी प्रकार 'विद्वन्मानसहंस' आदि में 'मानस' शब्द के परिवृत्त्यसह होने और 'हंस' शब्द के परिवृत्ति-सह होने के कारण यहां जो रूपक है वह शब्दगत और अर्थगत दोनों है)। इसी प्रकार अन्य भी अलंकार जैसे कि-'अर्थान्तरन्यास' आदि, वस्तुतः जहां वाचक अथवा शब्द के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण किया करें, वहां उभयालंकार ही कहे जाने चाहिये। यद्यपि वस्तुस्थिति यही है कि ये अलंकार उभ-यालंकार हैं किन्तु इन्हें इस दृष्टि से वाच्य अथवा अर्थ के अलंकारों की श्रेणी में रखा गया है कि इनमें वाचक-वैचित्र्य की अपेक्षा वाच्य-वैचित्र्य की प्रतीति विशेषरूप से चमत्कारजनक हुआ करती है। (इसी प्रकार जहां वाचक-वैचित्र्य ही विशेष प्रतीत हो वहां 'पुनरुक्तवदाभास' आदि शब्द के अलंकारों की ही श्रेणी में रखे गये हैं।)

अलंकरों के श्रेणी-विभाग के सम्बन्ध में ऐसी जो कल्पना की गयी है कि जो अलंकार शब्द अथवा अर्थ अथवा शब्द और अर्थ में जिस पर आश्रित हो उसे उसी का अर्थात् शब्द अथवा अर्थ अथवा शब्द और अर्थ का अलंकार कहा जाना चाहिये, यद्यपि 'आश्र-याश्रयिभाव' का निर्देश करती है किन्तु यहां भी वस्तुतः 'अन्वय-व्यतिरेक' का ही सिद्धान्त निर्णायकरूप से उपस्थित है। जब तक 'अन्वय-व्यतिरेक'रूप निर्णायक का आधार न माना जाय तब तक 'आश्रयाश्रयिभाव' की व्यवस्था ऐसी विशिष्ट व्यवस्था नहीं बन सकती जिस पर निर्भर हुआ जाय और निश्चितरूप से कहा जाय कि अमुक अलंकार शब्द के, अमुक अर्थ के और अमुक शब्द और अर्थ के अलंकार हैं। (क्योंकि यदि अन्वय-व्यतिरेक के विना केवल 'आश्रयाश्रयिभाव' को ही अलंकार-विभाग का आधार मान लिया जाय तो 'उत्प्रेक्षा' को, जहां संभावना का आश्रय कवि का चित्त हुआ करता है, अर्थ का अलंकार कैसे कहा जा सकेगा !) अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यही निकला कि अलंकारों के कक्षा-विभाग में (आश्रयाश्रयिभाव नहीं अपितु) 'अन्वय-व्यतिरेक' ही वस्तुतः निर्णायक है और इसी के आधार पर शब्दालंकार और अर्थालंकार का परस्पर भेद समीचीनरूप से समझा-समझाया जा सकता है।

टिप्पणी—यहां 'काव्यप्रकाश'कार ने 'अलंकारसर्वस्व' की अलंकार-विभाग-निर्णयसम्बन्धी 'आश्रयाश्रयिभाव' व्यवस्था की आलोचना की है। अलंकार सर्वस्वकार की दृष्टि में शब्दालंकार-अर्थालंकार और उभयालंकार के भेद का आधार अन्वयव्यतिरेक का सिद्धान्त नहीं अपितु आश्रया-श्रयिभाव—(उपस्कार्योपस्कारकभाव)-का सिद्धान्त है—

'लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारनिबन्धनम् । अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे

समाश्रयितव्यौ। तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावादित्यलङ्काराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्।

(अलङ्कार दोष और उनका दोष सामान्य में अन्तर्भाव)

(२१२) एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः॥ १४२॥

(अनुप्रास के दोषों का पूर्वोक्त दोषों में अन्तर्भाव)

तथा हि अनुप्रासस्य प्रसिद्ध्यभावो वैफल्यं वृत्तिविरोध इति ये त्रयो दोषाः ते प्रसिद्धिविरुद्धताम् अपुष्टार्थत्वं प्रतिकूलवर्णतां च यथाक्रमं न व्यतिक्रामन्ति तत्स्वभावत्वात्।

क्रमेणोदाहरणम्—

चक्री चक्रारपङ्क्तिं हरिरपि च हरीन् धूर्जटिर्धूर्ध्वजाग्रान्
अक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः।
रंहः संघः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य
स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिमरुचेः सोऽवतात्स्यन्दनो वः॥ ५८०॥

प्रयोजकौ। न तदलंकारत्वे। तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात्। तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तनमतानुसृतिरिति।' (अलंकारसर्वस्व 'काव्यमाला' पृष्ठ २५७)

अलंकार-विभाजन की 'आश्रयाश्रयिभाव-व्यवस्था' एक प्राचीन व्यवस्था है। भोजराज ने अलंकार-विभाजन में इसी को आधारभूत माना है। इस व्यवस्था का खण्डन और इसके बदले 'अन्वयव्यतिरेक' के सिद्धान्त का समर्थन काव्यप्रकाश की अपनी मान्यता है।

अनुवाद—**इन अब तक प्रतिपादित अलंकारों में 'दोष' भी हुआ करते हैं, जिनका निरूपण प्राचीन आलंकारिक करते आये हैं, किन्तु इनका यहां पृथक्रूप से प्रतिपादन इसलिये अभिप्रेत नहीं क्योंकि (दोष-निरूपण-प्रकरण-७म उल्लास में) पूर्वप्रतिपादित दोषों में ही अलंकार-दोष भी यथा संभव अन्तर्भूत हैं।**

टिप्पणी—'भामह' से 'रुद्रट' तक सभी प्राचीन आलंकारिक अलंकार-निरूपण के साथ साथ अलंकार-दोष-विवेचन भी करते आये हैं। इन्हीं प्राचीन आलंकारिकों ने दोष-सामान्य का भी दिग्दर्शन कराया है। काव्यप्रकाशकार की दृष्टि में दोष-सामान्य के अतिरिक्त दोष-विशेष जैसे कि अलंकार-दोष आदि का निरूपण अनावश्यक है क्योंकि अलंकार दोष-कोई अतिरिक्त दोष नहीं अपितु दोष-जाति में ही अन्तर्गणित हो सकते हैं। यहां काव्यप्रकाशकार ने भामह और रुद्रट की अलंकार-दोष-सम्बन्धी मान्यताओं की आलोचना की है और अलंकार-दोषों को दोष-सामान्य में अन्तर्भूत कर अपने ग्रन्थ की सर्वाङ्गसमीचीनता का भी निर्देश किया है।

अनुवाद—**जैसे कि (शब्दालङ्कारों में) 'अनुप्रास' के जो ये तीन दोष अर्थात् (१) प्रसिद्ध्यभाव, (२) वैफल्य और (३) वृत्तिविरोध (प्राचीन आलङ्कारिकों के द्वारा) पृथक् रूप से प्रतिपादित किये गये हैं उनके सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि ये प्रसिद्धिविरुद्धत्व (प्रसिद्धिहतत्व), अपुष्टार्थत्व तथा प्रतिकूलवर्णत्व इन (दोष-प्रकरण में निरूपित) दोषों के अतिरिक्त अन्य कोई दोष नहीं क्योंकि उनका स्वरूप वही है जो इनका है। क्रमशः जैसे कि:—**

'संसार के उपकार में नित्यतत्पर उष्णांशु भगवान् सूर्य का वह रथ आप सबका कल्याण करता रहे जिसकी चक्रारपंक्ति (पहियों में लगे कीलक-समूह) की स्तुति चक्री (विष्णु) किया करते हैं, जिसके हरि-गण (अश्व-समूह) की स्तुति (हरि) इन्द्र किया करते हैं, जिसके ध्वजाग्रभाग की स्तुति धूर्जटि (शिव) किया करते हैं, जिसके अक्ष (चक्र)

अत्र कर्तृकर्मप्रतिनियमेन स्तुतिः अनुप्रासानुरोधेनैव कृता न पुराणेतिहासादिषु तथा प्रतीतेति प्रसिद्धिविरोधः।

भण तरुणि ! रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ! ।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत् किं त्वदीयम्मे ॥ ५८१ ॥
अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिंजानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥ ५८२ ॥

अत्र वाच्यस्य विचिन्त्यमानं न किंचिदपि चारुत्वं प्रतीयते इत्यपुष्टार्थतैवानुप्रासस्य वैफल्यम्। 'अकुण्ठोत्कण्ठया' इति। अत्र शृङ्गारे परुषवर्णाडम्बरः पूर्वोक्तरीत्या विरुध्यत इति परुषानुप्रासोऽत्र प्रतिकूलवर्णतैव वृत्तिविरोधः।

(यमक के दोषों का पूर्वोक्त सामान्य-दोषों में अन्तर्भाव)

यमकस्य पादत्रयगतत्वेन यमनमप्रयुक्तत्वं दोषः।

की स्तुति नक्षत्रनाथ (चन्द्र) किया करते हैं, जिसके 'अरुण' सारथि की स्तुति वरुण किया करते हैं, जिसके कूबराग्र (युगन्धर–जुए) की स्तुति कुबेर किया करते हैं, और जिसके वेग की स्तुति प्रतिदिन प्रसन्नतापूर्वक देव-संघ किया करता है।' (मयूरकृतसूर्यशतक) यहां 'चक्री' आदि के द्वारा क्रमशः 'चक्कारपंक्ति' आदि की जो स्तुति है वह केवल अनुप्रास की ही दृष्टि से उपनिबद्ध की गयी है न कि पुराण अथवा इतिहास आदि में इन २ के द्वारा इन २ की स्तुति के किसी वर्णन के आधार पर। इस प्रकार 'स्तावक' और 'स्तव्य' के सम्बन्ध में किसी प्रसिद्धि के न होने पर यहां जिस अनुप्रास-दोष को 'प्रसिद्ध्यभाव'रूप अलंकार-दोष कहा गया है वह 'प्रसिद्धिहत' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। इसी प्रकार यहां अर्थात्—

'अरी आनन्द-स्यन्दी किं वा सुन्दर इन्दुसदृश मुख वाली ! अरी लीलापूर्ण आलाप-संलाप वाली ! अरी अलक्तक-रक्त चरण वाली सुन्दरी ! कहो, ऐसा क्यों है, कि जब तू अपने रमण-मन्दिर (प्रियतम के घर) जाया करती है तब तेरा मणिमेखला के अनुरणन से रमणीय तथा निरन्तर शिञ्जन-पूर्ण मञ्जीर से मनोहर वहां परिसरण (गमन) अकारण ही मेरे मन में उत्कण्ठा उत्पन्न किया करता है।'
में 'अनुप्रास' के जिस 'वैफल्य'रूप दोष को अलङ्कार-दोष के रूप में प्राचीन आलङ्कारिक पृथक् बताया करते हैं वह वस्तुतः 'अपुष्टार्थत्व'रूप दोष में इसीलिये अन्तर्भूत हो रहा है क्योंकि यहां जो कुछ भी वर्ण-वैचित्र्य है उसके द्वारा यहां 'वाच्य' अर्थ में, चाहे जितना भी सोचा जाय, कोई भी सौन्दर्य उत्पन्न होता नहीं प्रतीत होता (किसी प्रकार का भी अर्थ-परिपोष नहीं दिखाई देता)।

इसी प्रकार (सप्तम उल्लास में उदाहृत) 'अकुण्ठोत्कण्ठया' इत्यादि सूक्ति में जिस 'वृत्ति-विरोध'रूप अनुप्रास-दोष का पृथक् परिगणन किया गया है वह भी 'प्रतिकूलवर्णत्व'रूप (सामान्य) दोष में ही समा जाता है क्योंकि यहां जो परुषावृत्ति में अनुप्रास है (जिसमें ठकाररूप) कर्कश वर्ण-विन्यास चित्त का विक्षोभक हो रहा है, वह, जैसा कि (अष्टम उल्लास में गुण-निरूपण-प्रसङ्ग में) पहले कहा जा चुका है, शृङ्गार-रस के (जिसके लिये उपनागरिका वृत्ति उचित है) सर्वथा प्रतिकूल है।

इसी प्रकार 'यमक' का तीन चरणों में निबन्धरूप जो दोष 'अलंकार-दोष' मानकर पृथक् परिगणित हुआ है वह भी 'अप्रयुक्तत्व'रूप (सामान्य) दोष में ही अन्तर्भूत दिखायी देता है। जैसे कि:—

यथा—

भुजङ्गमस्येव मणिः सदम्भा ग्राहावकीर्णेव नदी सदम्भाः ।
दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः कर्षन्ति चेतः प्रसभं सदम्भाः ॥ ५८३ ॥

(उपमा के दोषों का पृथक् परिगणन अनावश्यक)

उपमायामुपमानस्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वं अधिकता वा तादृशी अनुचितार्थत्वं दोषः । धर्माश्रये तु न्यूनाधिकत्वे यथाक्रमं हीनपदत्वमधिकपदत्वं च न व्यभिचरतः । क्रमेणोदाहरणम्—

चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ॥ ५८४ ॥
वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ॥ ५८५ ॥
अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।
युगादौ भगवान्वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥ ५८६ ॥
पातालमिव ते नाभिः स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसन्निभः ॥ ५८७ ॥

अत्र चण्डालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यर्थमेव कदर्थित इत्यनुचितार्थता।

'सदम्भ' (कपटी) मनुष्य, सर्प के 'सदम्भ' (चमकीले) फणामणि और भयंकर जलजन्तुओं से भरी 'सदम्भ' (जल-पूर्ण) नदी की भांति उस व्यक्ति का भी चित्त अपनी ओर खींच लिया करते हैं जो उनके संग-साथ के अन्तिम दुःखद परिणाम से पूर्णतया परिचित रहा करता है ।'

इत्यादि में (जो तीन चरणों में यमक-बन्ध है वह कोई अतिरिक्त अलंकार-दोष नहीं अपितु 'अप्रयुक्तत्व' दोष का ही एक निदर्शन है क्योंकि यमक का एक दो अथवा चारों चरणों में निबन्ध भले ही कवि-प्रयोग में प्रसिद्ध हो तीन चरणों में कदापि नहीं है)।

(अर्थालंकारों के दोषों में) उपमा के 'न्यूनोपमान' और 'अधिकोपमान'रूप दोषों (जिनमें 'उपमेय' की अपेक्षा उपमान में जातिगत अथवा परिमाणगत न्यूनता अथवा अधिकता विवक्षित है) का तो 'अनुचितार्थत्व'रूप (सामान्य) दोष में ही अन्तर्भाव स्पष्ट है । इनके अतिरिक्त उपमा के 'न्यूनधर्मत्व' और 'अधिकधर्मत्व'रूप साधारणधर्म-सम्बन्धी दोष भी कोई पृथक् दोष नहीं क्योंकि इनका जो कुछ स्वरूप है वह क्रमशः 'हीनपदत्व' और 'अधिकपदत्व'रूप सामान्य दोषों के स्वरूप से कदापि भिन्न नहीं। उदाहरण के लिये क्रमशः—

१. 'चण्डालों के समान तुम लोगों ने महासाहस (दुष्करकर्म) कर दिखाया ।'

२. 'अग्निस्फुलिङ्ग की भांति यह सूर्य चमक रहा है ।'

३. 'पद्म के आसन पर आसीन किंवा सृष्टि के प्रारम्भ में संसार निर्माण के इच्छुक ब्रह्मा के समान यह चक्रवाक विराज रहा है ।'

४. 'तुम्हारी नाभि ठहरी पाताल सी, दोनों स्तन रहे दो पर्वतों की भांति और बालों का यह वेणीबन्ध ! यह तो यमुनाप्रवाह सा ही है ।'

इन उपर्युक्त रचनाओं में जो 'न्यूनोपमान' और 'अधिकोपमान'रूप दोष हैं वे उपमा-अलंकार के कोई विशिष्ट दोष नहीं अपितु (पूर्वप्रतिपादित) 'अनुचितार्थत्व'रूप सामान्य दोष के ही निदर्शन-प्रकार है क्योंकि 'चण्डाल' आदि निकृष्ट उपमानों के द्वारा 'शूर सैनिक' आदि उपमेयों में निन्दा और उपहास आदि का जो अभिप्राय-प्रकाशन है वह 'अनुचितार्थता' अर्थानौचित्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इसी प्रकार—

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ।। ५८८ ।।

अत्रोपमानस्य मौञ्जीस्थानीयस्तडिल्लक्षणो धर्मः केनापि पदेन न प्रतिपादित इति हीनपदत्वम् ।

स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।
शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ।। ५८९ ।।

अत्रोपमेयस्य शङ्खादेरनिर्देशे शशिनो ग्रहणमतिरिच्यते इत्यधिकपदत्वम् । लिङ्गवचनभेदोऽपि उपमानोपमेययोः साधारणं चेत् धर्ममन्यरूपं कुर्यात्तदा एकतरस्यैव तद्धर्मसमन्वयावगतेः सविशेषणस्यैव तस्योपमानत्वमुपमेयत्वं वा प्रतीयमानेन धर्मेण प्रतीयते इति प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमरूपत्वम् ।

यथा— चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि करतो धिङ्मन्दभाग्यस्य मे ।। ५९० ।।

'मुञ्ज-मेखला से सुशोभित किंवा कृष्णमृगचर्मधारी वे मुनि (नारद) ऐसे लगने लगे जैसे नील नीरदखण्ड से संपृक्त सूर्य हों ।'

इस उक्ति में जिस 'न्यूनधर्मत्व'रूप अलंकार-दोष का प्रतिपादन किया गया है वह वस्तुतः 'हीनपदत्व' नामक सामान्य दोष में ही अन्तर्भूत है क्योंकि यहां मुञ्जमेखला लाञ्छनरूप उपमेय-(नारद) गत धर्म का तो शब्दतः प्रतिपादन है किन्तु उसके स्थानीय विद्युल्लतारूप उपमान-(सूर्य) गत धर्म का किसी भी पद के द्वारा न तो प्रतिपादन है और न यथाकथञ्चित् प्रत्यायन ।

यही बात इस उक्ति अर्थात्—

'पीताम्बरधारी किंवा शार्ङ्गधनुर्धर कृष्ण का शरीर विद्युत् और इन्द्रधनुष से युक्त तथा चन्द्रमा से संश्लिष्ट रात के मेघ के समान सुन्दर और भयंकर लगने लगा ।'
में जो 'अधिकधर्मत्व'रूप अलंकार-दोष है वह वस्तुतः 'अधिकपदत्व' नामक दोष से कोई अतिरिक्त दोष नहीं क्योंकि उपमेय (श्रीकृष्ण) में शङ्ख-संपर्करूप धर्म का निर्देश किये विना उपमान (मेघ) में चन्द्र-संपर्करूप धर्म का निर्देश 'अधिकपदत्व' नहीं तो और क्या है ?

उपमा के इन उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त और भी जो 'भिन्नलिङ्गत्व' और 'भिन्नवचनत्व' नामक दो दोष प्राचीन आलंकारिकों ने निरूपित किये हैं वे भी वस्तुतः 'भग्नप्रक्रमत्व' नामक प्रसिद्ध दोष में ही समा जाते हैं क्योंकि उपमान और उपमेय में यदि लिङ्ग-भेद और वचनभेद रहे तब साधारण धर्म के रूप में अभिप्रेत धर्म असाधारण प्रतीत होने लगे और जब ऐसी बात हो जाय तब साधारण धर्म के रूप में उपात्त उस धर्म का सम्बन्ध उपमान और उपमेय दोनों से न होकर किसी एक से ही रह जाय और इसका परिणाम क्या निकले ! यही कि जहां जो उपमानोपमेयभाव (औपम्य) स्वभावतः साधारणधर्मरूप उपात्त विशेषण से विशिष्ट वस्तुओं में रहना चाहिये वहां वह यथाकथञ्चित् (लिङ्ग अथवा वचन-विपरिणाम आदि के द्वारा आक्षिप्त (अध्याहृत) और इसीलिये अनुपात्त साधर्म्य के द्वारा अपना निर्वाह करता दिखाई दिया करे । यह सब 'भग्नप्रक्रमत्व' के अतिरिक्त और क्या है ? उपमा का प्रक्रम तो कर दिया गया किन्तु उसका निर्वाह न किया जा सका क्योंकि जब लिङ्ग अथवा वचन का विपरिणाम करने पर औपम्य की प्रतीति हुई तो उपमा के प्रक्रम (उपक्रम) का भंग न हुआ तो और क्या हुआ । उदाहरण के लिये ये उक्तियां अर्थात्—

७. 'मैं भी कैसा अभागा हूँ कि तुम मेरे हाथ में आकर भी वैसे ही कहीं खो गये जैसे चिन्तारत्न (चिन्तामणि) खो जाय ।'

सक्तवो भक्षिता देव ! शुद्धाः कुलवधूरिव ॥ ५९१ ॥

यत्र तु नानात्वेऽपि लिङ्गवचनयोः सामान्याभिधायि पदं स्वरूपभेदं नापद्यते न तत्रैतद्दूषणावतारः उभयथापि अस्यानुगमक्षमस्वभावत्वात् ।

यथा—

गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः ॥ ५९२ ॥

तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥ ५९३ ॥

---

८. 'राजन् ! मैंने कुलवधू सरीखे पवित्र सत्तू का आस्वाद लिया ।'

पर्याय हैं (जिनमें पहले अर्थात् 'चिन्तारत्नमिव' आदि में 'च्युतः' रूप जो साधारण धर्म उपात्त है वह पुल्लिंग पुरुषरूप उपमेय में तो अन्वित हो रहा है किन्तु 'चिन्तारत्नम्' इस नपुंसकलिङ्ग के उपमान में बिना लिङ्ग विपरिणाम के घटित नहीं होता जिसका परिणाम यह होता है कि वाच्यधर्मविशिष्ट उपमेय का प्रक्रम आक्षिप्त (अध्याहृत) धर्मविशिष्ट उपमान के द्वारा खण्डित हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे अर्थात् 'सक्तवो भक्षिताः' आदि में बहुत्वविशिष्ट शुद्धत्वरूप उपात्त साधारण धर्म तो 'सक्तवः' रूप उपमेय में संगत है किन्तु एकत्वविशिष्ट वधूरूप उपमान में बिना वचन-विपरिणाम के सर्वथा असंगत ! और इसका परिणाम यही कि उपमेय के वाच्य साधारण धर्म का प्रक्रम उपमान में साधारण धर्म के आक्षेप अथवा अध्याहार के द्वारा टूट जाय !)

यह एक दूसरी बात है कि लिङ्गभेद अथवा वचनभेद के रहते हुये भी वहां यह 'भग्नप्रक्रमत्व' रूप दोष नहीं रहा करता जहां साधारण धर्म का वाचक पद ऐसा हुआ करता है जिसका स्वरूप इसलिये नहीं बिगड़ा करता क्योंकि वह उपमेय और उपमान दोनों में अनायास समन्वित हो जाया करता है। जैसे कि—

९. 'जिस प्रकार (अनर्घ्य) बहुमूल्य रत्नों से महासागर प्रसिद्ध है उसी प्रकार (अनर्घ्य) पूजनीय गुणों से यह राजा प्रसिद्ध है।'

१०. 'उस नायिका का 'मधुरताभृतः' माधुर्यपूर्ण किंवा 'अन्याभिः स्त्रीभिरसदृशः' अन्य युवतियों के असमान वह वेष वस्तुतः उसी के 'मधुरताभृतः' मधुरता से भरे किंवा 'अन्याभिः स्त्रीभिरसदृशः' अन्य युवतियों से सर्वथा विचित्र लगने वाले विभ्रमों-हावभावों के समान अत्यन्त सुन्दर लगने लगा।'

में पहले अथात् 'गुणैरनर्घ्यैः' आदि में उपमेयभूत 'गुण' और उपमानभूत 'रत्न' के परस्पर भिन्न-भिन्न लिङ्गवाचक शब्द होने पर भी 'अनर्घ्यैः' इस बहुवचनान्त साधारण धर्मरूप विशेषण का उनके साथ अपने उपात्त स्वरूप में ही अनायास अन्वय हो रहा है और दूसरे अर्थात् 'तद्वेषः' इत्यादि में उपमेयभूत 'वेषः' और उपमानभूत 'विभ्रमाः' के परस्पर भिन्न-भिन्न वचनान्त शब्द होने पर भी 'असदृशः' (समान शब्द के उपपद रहने पर दृश् धातु से कर्ता के अभिप्राय में कञ् प्रत्यय-समान इव पश्यतीति सदृशः न सदृशः 'असदृशः'-एक वचनान्तरूप तथा समान शब्द के उपपद रहने पर दृश् धातु से कर्ता के अभिप्राय में ही क्विप् प्रत्यय-समाना इव दृश्यन्त इति सदृशः न सदृशः 'असदृशः' बहुवचनान्तरूप), 'मधुरताभृतः' (मधुरतया भृतः पूरितः मधुरताभृतः-एकवचनान्तरूप तथा मधुरतां बिभ्रति धारयन्तीति मधुरताभृताः-बहुवचनान्तरूप) और 'दधते' ('दध धारणे'-इस भ्वादिगणस्थ धातु के लट्-एकवचन का रूप तथा 'डुधाञ् धारणपोषणयोः'-इस जुहोत्यादिगणस्थ धातु के लट्-बहुवचन का रूप) इन साधारण धर्मवाचक शब्दों का इनके साथ अपने उपात्त स्वरूप में ही अन्वय स्पष्ट हो रहा है। इसलिये यहां लिङ्ग अथवा वचन के भेद में भी प्रक्रम-भंग की कोई संभावना नहीं।

कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्तिमासायतीत्यसावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः ।

यथा—

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रमाप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥ ४६४ ॥

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न पुनरापेति कालभेदः ।

प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्त्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपप्रभवा लतेव ॥ ४६५ ॥

अत्र लता विभ्राजते न तु विभ्राजसे इति सम्बोध्यमाननिष्ठस्य परभागस्य असम्बोध्यमानविषयतया व्यत्यासात्पुरुषभेदः ।

गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्त्तिः ॥ ४६६ ॥

इत्यादौ च गङ्गा प्रवहति न तु प्रवहतु इति अप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मनो विधेः । एवं जातीयकस्य चान्यस्यार्थस्य उपमानगतस्यासम्भवाद्विध्यादिभेदः ।

अब उपमा के 'काल-भेद', 'पुरुष-भेद' तथा 'विधि-भेद' आदिरूप जो प्राचीन आलंकारिक-सम्मत दोष हैं वे भी वस्तुतः कोई अतिरिक्त अलंकार-दोष नहीं [क्योंकि इनमें भी 'भग्नप्रक्रमता' ही वस्तुतः ओतप्रोत है क्योंकि यदि कालादिभेद के होने से औपम्य की प्रतीति कुछ ऐसी विपरीत हो जाय जो कालादि-साम्य के होने से न हो तो इसे भी प्रक्रम-भङ्ग के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ! उदाहरण के लिये—

११. 'कुमुद्वती (महारानी) ने काकुत्स्थ (महाराज कुश) से अतिथि नामक पुत्र को वैसे ही प्राप्त किया जैसे चेतना (बुद्धि) रात्रि के पिछले पहर से प्रसाद (उद्बोधन-स्फुरण) को प्राप्त करती है ।' (रघुवंश १७)

में जो कालभेद है, क्योंकि कुमुद्वती (उपमेय) के साथ तो अतिथिं 'प्राप' (लिट्) अतिथि-नामक पुत्र को 'प्राप्त किया' का सम्बन्ध है और चेतना (उपमान) के साथ 'प्रसादं प्राप्नोति' (लट्) उद्बोधन 'प्राप्त करती है' का, वह भग्नप्रक्रमता नहीं तो और क्या हैं !

इसी प्रकार यहां अर्थात्—

१२. 'अरी ! अभिनव-स्नान से स्वच्छ सुन्दर बनी, कुसुम्भराग से रंजित रमणीय परिधान वाली ! तू तो कामदेव की पूजा में लगी किसी नवपल्लव-मनोहर शाखाकाण्ड की प्रसवभूमि लता सी (जो कि नवजलसेक से विशेष सुन्दर तथा कुसुम्भकी लाली की भांति लाली लिये पुष्परज से भरी हो) सुन्दर लग रही हो ।' (रत्नावली १)

में जो 'पुरुषभेद' ('लता विभ्राजते' 'त्वं विभ्राजसे') उपमानगत प्रथमपुरुष तथा उपमेयगत मध्यमपुरुष में परस्पर भेद-रूप दोष है वह 'भग्नप्रक्रमता' में ही अन्तर्भूत है क्योंकि संबोधित (वासवदत्तारूप) वस्तुविषयक 'विभ्राजसे' क्रिया के शेषांशभूत 'से' प्रत्यय का संबोधन के अयोग्य लता के साथ तब तक सम्बन्ध नहीं हो सकता जब तक इसका विपरिणाम ('से' का 'ते'-विभ्राजते-के रूप में परिवर्तन) न हो जाय ।

इसी प्रकार—

१३. 'राजन् ! आपकी कीर्ति गंगा की भांति सदा सर्वत्र प्रवाहित होती रहे ।'

इत्यादि प्रसङ्गों में जो 'विधि-भेद' रूप दोष है क्योंकि जहां 'कीर्तिः प्रवहतु' में अप्रवृत्त प्रवर्त्तनरूप (आशीर्वादात्मक) 'विधि' है वहां (उपमानभूत) गंगा के लिये इस विधि को 'प्रवहति' के रूप में परिवर्तित करना पड़ता है, वह प्रक्रम-भंग नहीं तो और क्या है !

यहां प्रेरणा अथवा प्रवर्त्तनारूप विधि के व्यत्यास (भेद) में इस प्रकार के 'प्रार्थन' तथा 'आशंसन' आदिरूप अन्य अर्थों के भी व्यत्यास (भेद) अन्तर्भूत है क्योंकि यहां

ननु समानमुच्चारितं प्रतीयमानं वा धर्मान्तरमुपादाय पर्यवसितायामुपमाया मुपमेयस्य प्रकृतधर्माभिसम्बन्धान्न कश्चित्कालादिभेदोऽस्ति, यत्राप्युपात्तेनैव सामान्यधर्मेण उपमाऽवगम्यते यथा 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदती'ति तत्र युधिष्ठिर इव सत्यवाद्ययं सत्यं वदतीति प्रतिपत्स्यामहे, सत्यंवादी सत्यं वदतीति च न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् रैपोषं पुष्णातीतिवत् युधिष्ठिर इव सत्यवदनेन सत्यवाद्ययमित्यर्थावगमात्। सत्यमेतत्, किन्तु स्थितेषु प्रयोगेषु समर्थनमिदन्नतु सर्वथा निरवद्यम् प्रस्तुतवस्तुप्रतीतिव्याघातादिति सचेतस एवात्र प्रमाणम्। असादृश्यासम्भवावप्युपमायामनुचितार्थतायामेव पर्यवस्यतः।

यथा—

भी ये जिस रूप से उपमेय (अथवा उपमान) में संगत होते हैं उस रूप से उपमान (अथवा उपमेय) में नहीं हुआ करते। यह सभी विध्यादिरूप दोष 'भग्नप्रक्रमता' में ही वस्तुतः समाया हुआ है।

इन उपर्युक्त दोष-ग्रस्त उदाहरणों के सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि जैसा कि यहां साधारण धर्म के ही उपात्त अथवा अध्याहृत (उच्चरित अथवा प्रतीयमान) रूप-भेद (जैसे कि 'अतिथिं नाम' आदि में साक्षात् उपात्त 'प्राप' भूतप्राप्ति-से भिन्न तथा उससे आक्षिप्त केवल 'प्राप्ति'रूप साधारण धर्म-भेद) के आधार पर उपमा सर्वथा निष्पन्न है जिसमें उपमेय के साथ भी कालादिरूप विशेषता से रहित शुद्ध साधारण धर्म का समन्वय हो रहा है इसलिये इनमें काल-भेद आदि अलंकार-दोष (वस्तुतः भग्नप्रक्रमतारूप दोष) नहीं है। इसी प्रकार कुछ ऐसे भी प्रसङ्गों, जैसे कि 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' आदि में, जहां केवल 'सत्यं वदति' (सत्यवदनकर्तृत्व) रूप उपात्त साधर्म्य है और इस कालभेद-भिन्न साधर्म्य से न तो किसी अन्य शुद्ध साधर्म्य का अध्याहार संभव है और न उपादान, कालभेद-रूप दोष का एक और प्रकार का समाधान किया जा सकता है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' में (उपमेयगत सत्यवदनकर्तृत्व का उपमानगत सत्यवदनकर्तृत्व से) कालभेद प्रतीत हो रहा है वह वस्तुतः है नहीं क्योंकि 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' में जो औपम्य-प्रतीति है वह 'युधिष्ठिर इव सत्यवादी अयं सत्यं वदति'—इस रूप में रहा करती है (अब जब कि 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' का 'युधिष्ठिर इव सत्यवादी अयं सत्यं वदति' यह अर्थ हुआ तब कालभेद कहां! क्योंकि 'सत्यवादित्व-सत्यवदनशीलत्वरूप त्रैकालिक साधारणधर्म किसी एक काल से अवच्छिन्द कैसे!) और जिस प्रकार 'रैपोषं पुष्णाति' '(यह व्यक्ति) धन के मुक्त हस्त से व्यय द्वारा पालन-पोषण करता है' जैसे प्रयोग में कोई पुनरुक्ति नहीं रहा करती (क्योंकि यहां पुष्टिरूप धात्वर्थ में ही सामान्यविशेषभाव की दृष्टि से विशेषणविशेष्यभाव अभिप्रेत है) उसी प्रकार 'युधिष्ठिर इव सत्यवादी अयं सत्यं वदति' में भी, जिसमें 'युधिष्ठिर इव सत्यवदनेन सत्यवादी अयम्' यह अर्थ-स्वरूप स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है, पुनरुक्ति कहां? यह सब दोष-समाधान है! किन्तु सहृदय स्वयं ही बता सकते हैं कि यह सब क्या है! क्योंकि वस्तुतः बात तो यह है कि एक आध प्रयोगों में भले ही 'रैपोषं पुष्णाति' के प्रयोग-नियम के समर्थन की भांति काल-भेद का समर्थन कर दिया जाय किन्तु यह सब समर्थन इसलिये सर्वथा समीचीन नहीं क्योंकि जब प्रस्तुत वस्तु अर्थात् उपमा की प्रतीति में (साधारण धर्म की प्रतीति के विलम्ब से) विघ्न पड़ जाय तब 'भग्नप्रक्रमत्व' का निवारण क्या हुआ! और कैसे हुआ!

उपमा के अन्य दो दोष जैसे कि 'असादृश्य' और 'असम्भव' भी कोई अतिरिक्त दोष नहीं अपि तु 'अनुचितार्थत्व'रूप सामान्य दोष में ही निःसंदिग्धरूप से अन्तर्भूत दिखाई देते हैं। जैसे कि—

ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ॥ ५६७ ॥

अत्र काव्यस्य शशिना अर्थानां च रश्मिभिः साधर्म्यं कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम् ।

निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः ।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ॥ ५६८ ॥

अत्रापि ज्वलन्त्योऽम्बुधाराः सूर्यमण्डलान्निष्पतन्त्यो न सम्भवन्तीत्युपनिबध्यमानोऽर्थोऽनौचित्यमेव पुष्णाति ।

(उत्प्रेक्षा के दोषों का दोष-सामान्य में अन्तर्भाव)

उत्प्रेक्षायामपि सम्भावनं ध्रुवेवादय एव शब्दा वक्तुं सहन्ते न यथाशब्दोऽपि केवलस्यास्य साधर्म्यमेव प्रतिपादयितुं पर्याप्तत्वात् तस्य चास्यामविवक्षितत्वादिति तत्राशक्तिरस्यावाचकत्वं दोषः ।

---

१४. 'मैं तो किरणतुल्य अर्थ से प्रकाशमान चन्द्रसदृश काव्य की रचना में लगा हूँ।' इस उक्ति में जो 'असादृश्य' नामक उपमालङ्कार-दोष प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में माना गया है वह 'अनुचितार्थत्व' के अतिरिक्त और कुछ नहीं क्योंकि यहां 'काव्य' का चन्द्र से और 'अर्थ' का किरणों से जो 'सादृश्य' स्थापित किया जा रहा है वह वस्तुतः एक अनुचित अर्थ है। अनुचित इसलिये कि न तो इसमें कोई कवि-प्रसिद्धि है और न कोई साधर्म्य।

इसी प्रकार—

१५. 'जैसे मध्याह्नवर्ती किं वा कुण्डलाकार-तेजोमय सूर्यबिम्ब से प्रदीप्त जलधारा निकले वैसे ही धनुर्मण्डलमध्यवर्ती उस राजा के तूणीर से-मानो मुख से ही-प्रज्वलित बाणवर्षा होने लगी।'

इस उक्ति में जिस 'असंभव'रूप दोष का निरूपण किया गया है वह वस्तुतः 'अनुचितार्थत्व' में ही समाया हुआ है क्योंकि 'सूर्यमण्डल से प्रदीप्त जलधारा के वर्षणरूप' असम्भव अर्थ का उपनिबन्ध अर्थ के अनौचित्य के बढ़ाने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

टिप्पणी—प्राचीन आलङ्कारिक जैसे कि भामह आदि उपमा के दोषों का दोष-सामान्य से पृथक् परिगणन कर चुके हैं। भामह ने 'उपमा' के ये दोष गिनाये हैं:—

'हीनताऽसम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः। उपमानाधिकत्वं च तेनाऽसदृशताऽपि च ॥
त एते उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः। सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक् ॥'
(काव्यालङ्कार २.३९-४०)

वामन ने भी 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' (४ र्थ अधिकरण सूत्र ४) में भामह का ही अनुसरण करते हुये कहा है:—

'हीनत्वाधिकत्वलिङ्गवचनभेदाऽसादृश्याऽसम्भवास्तद्दोषाः (उपमा दोषाः)'

रुद्रट ने उपर्युक्त उपमा-दोष-सप्तक को न मानते हुये भी उपमा के ४ दोष तो माने ही हैं—

'सामान्यशब्दभेदो वैषम्यमसम्भवोऽप्रसिद्धिश्च ।
इत्येते चत्वारो दोषा नासम्यगुपमायाः ॥' (काव्यालंकार ११.२४)

यहां काव्यप्रकाशकार ने प्राचीन आलंकारिकों की इसी मान्यता का खण्डन किया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है। काव्यप्रकाशकार ने इन उपमा-दोषों के उदाहरण भी वे ही रखे हैं जो भामह, वामन आदि आचार्यों के हैं। काव्यप्रकाश की दृष्टि वस्तुतः अलंकारशास्त्र के विषयों के निरूपण में एक वैज्ञानिक दृष्टि है।

अनुवाद—उत्प्रेक्षा में 'यथा' शब्द के प्रयोग में जो 'अशक्तशब्दत्व'रूप दोष बताया गया है वह वस्तुतः कोई पृथक् अलङ्कार-दोष नहीं, अपितु 'अवाचकत्व'रूप दोष में ही अन्तर्भूत है क्योंकि 'सम्भावन'-'उत्प्रेक्षण' के अभिप्राय-प्रकाशन में समर्थ 'ध्रुवम्', 'इव'

यथ—

उद्ययौ दीर्घिकागर्भान्मुकुलं मेचकोत्पलम् ।
नारीलोचनचातुर्यशङ्कासंकुचितं यथा ।। ५६६.।।

उत्प्रेक्षितमपि तात्त्विकेन रूपेण परिवर्जितत्वात् निरूपाख्यप्रख्यं तत्समर्थनाय यदर्थान्तरन्यासोपादानं तत् आलेख्यमिव गगनतलेऽत्यन्तमसमीचीनमिति निर्विषयत्वमेतस्यानुचितार्थत्वैव दोषः ।

यथा—

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवा भीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव ।। ६०० ।।

अत्राचेतनस्य तमसो दिवाकरात्त्रास एव न सम्भवतीति कुत एव तत्प्रयोजितमद्रिणा परित्राणम्, सम्भावितेन तु रूपेण प्रतिभासमानस्यास्य न काचिदनुपपत्तिरवतरतीति व्यर्थ एव तत्समर्थनायां यत्नः ।

(समासोक्ति के दोष का दोष-सामान्य में अन्तर्भाव-समर्थन)

साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तमपि उपमानविशेषं प्रकाशयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने प्रयोजनाभावात् अनुपादेयत्वं यत्तत् अपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तं वा दोषः ।

(मन्ये, शङ्के) आदि के बदले केवल 'साधर्म्य'-प्रतिपादक 'यथा' शब्द का प्रयोग एक ऐसा प्रयोग है जो इसीलिये उत्प्रेक्षा में अशक्त-असमर्थ है क्योंकि उत्प्रेक्षण का अवाचक है। जैसे कि—

१. 'नीलकमल की हव कली, जो वापी के बीच निकली ऐसी निकली जैसे (अपनी अपेक्षा) नारी-लोचन के सौन्दर्य के आधिक्य के कारण सिमटी-सकुचायी हुई हो।'
में (जहां उत्प्रेक्षावाचक 'ध्रुवम्' के बदले 'संभावन' में असमर्थ 'यथा' का प्रयोग है) जो 'अशक्तशब्दत्वरूप' उत्प्रेक्षा-दोष है वह 'अवाचकत्व' दोष के अतिरिक्त और क्या है ?

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा का वह दोष जिसे 'निर्विषयत्व' दोष कहा जाता है, जिसका अभिप्राय वास्तविकता से सर्वथा परे और इसीलिये सर्वथा मिथ्यारूप किसी संभावित (उत्प्रेक्षित) अर्थ के समर्थन अथवा उपपादन के लिये, शून्य में चित्र खींचने की भांति, किसी 'अर्थान्तर न्यास का' असमीचीन उपनिबन्ध है, वस्तुतः 'अनुचितार्थत्व'रूप दोष के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

२. 'यही वह हिमालय है जो दिन में सूर्य से डरे हुये से और इसलिये कन्दराओं में लुके-छिपे अन्धकार की जान बचाया करता है और ऐसा क्यों न हो जब कि बड़ों में शरणागत छोटे के लिये भी ममता ही करती है !' (कुमारसम्भव १)
में, जहां न तो अचेतन अन्धकार के लिये सूर्य से डरने की बात सम्भव है और न इस डर के कारण हिमालय के लिये उसे बचाने की ही, वहां ऐसे एकमात्र काल्पनिकरूप से प्रतीत होने वाले और इसी कारण उपपत्ति अथवा अनुपपत्ति की सम्भावना से दूर अर्थ का समर्थन इसीलिये तो 'निर्विषय' होगा क्योंकि व्यर्थ का प्रयास होने से 'अनुचित' माना जायगा और अनुचित कहा जायगा ?

समासोक्ति अलंकार में जिस 'अनुपादेयत्व'रूप अलङ्कार-दोष का निरूपण (प्राचीन आलंकारिकों द्वारा) हुआ है वह वस्तुतः 'अपुष्टार्थत्व' अथवा 'पुनरुक्तत्व' (अर्थपौनरुक्त्य) नामक दोष में ही अन्तर्भूत है क्योंकि साधारण विशेषण के सामर्थ्य से ही अनुक्त भी उपमानविशेष की प्रकाशिका 'समासोक्ति' में उपमान-विशेष के निष्प्रयोजन शब्दतः प्रतिपादन में जो 'अनुपादेयत्व' है वह 'अपुष्टार्थता' (प्रतीत उपमान का पुनः अभिधान

यथा—

स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयापि दिनश्रिया ॥ ६०१ ॥

अत्र तिग्मरुचेः ककुभां च यथा सदृशविशेषणवशेन व्यक्तिविशेषपरिग्रहेण च नायकतया नायिकात्वेन च व्यक्तिः तथा ग्रीष्मदिवसश्रियोऽपि प्रतिनायिकात्वेन भविष्यतीति किं दयितयेति स्वशब्दोपादानेन।

श्लेषोपमायास्तु स विषयः यत्रोपमानस्योपादानमन्तरेण साधारणेष्वपि विशेषणेषु न तथा प्रतीतिः।

यथा—

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता।
प्रभातसंन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥ ६०२ ॥ इति

जिससें प्रस्तुत अर्थ की कोई पुष्टि न हो) अथवा 'पुनरुक्ति' (अर्थसामर्थ्य से प्रतीत भी उपमान का पुनः शब्दतः प्रतिपादन) के अतिरिक्त और क्या है! जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

३. 'जब सूर्य ने अपने करों (किरणों तथा हाथों) से दिशाओं का स्पर्श करना प्रारम्भ किया तब (ग्रीष्म) दिन श्री अत्यन्त संताप (मनःखेद) से भरी, बड़ी (पुरानी) होने पर भी, सुन्दर तथा अत्यधिक मान (दीर्घता तथा कोप)-वती किसी प्रेमिका सी लगने लगी।'

में जो 'अनुपादेयत्व' नामक अलंकारदोष बताया गया है क्योंकि जब सूर्य और दिशाओं में सदृश विशेषणसामर्थ्य (कर से स्पर्श करना और कर से स्पृष्ट होना) तथा व्यक्तिविशेष (सूर्यवाचक पुल्लिङ्ग शब्द और दिशावाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द) के स्वीकार द्वारा नायक-नायिकाभाव के स्पष्टीकरण में ग्रीष्मदिनश्री की प्रतिनायिकारूप से प्रतीति भी स्वभावतः सिद्ध है तब 'दयितया' इस उपमान शब्द के प्रयोग का क्या प्रयोजन! इसमें या तो 'अपुष्टार्थत्व' है या 'पुनरुक्ति'।

यहां 'स्पृशति तिग्मरुचौ' इत्यादि सूक्ति में श्लेषोपमा मानकर (यह मानकर कि यहां 'जैसे किसी प्रेमी के द्वारा किसी एक प्रेमिका के छुये जाने से दूसरी प्रेमिका को दुःख होता है वैसे ही सूर्य के द्वारा दिशाओं के छुए जाने से ग्रीष्मदिनश्री को संताप होने लगा'—यह अर्थ है) उपमान विशेष के 'अनुपादेयत्व'रूप दोष का निवारण भी नहीं किया जा सकता क्योंकि यहां श्लेषोपमा कहां! श्लेषोपमा तो वहां होती है, जैसे कि—'स्वयं च पल्लवाताम्र' इत्यादि सरीखी सूक्तियों में) जहां विशेषण के सादृश्य में भी बिना उपमान विशेष के उपादान के उपमान की वैसी स्पष्ट प्रतीति नहीं हुआ करती जैसे कि समासोक्ति में हुआ करती है (अर्थात् श्लेषोपमा तो वह है जहां उपात्तसाधर्म्य के उपमेयमात्र में ही अन्वित रहने के कारण उपमान का उपादान आवश्यक हो जाता है जैसे कि 'स्वयं च' आदि सूक्ति में 'प्रभातसंध्या'रूप उपमान के विना उपमा-चमत्कार प्रतीत नहीं हो सकता किन्तु 'स्पृशति' इत्यादि में जो समासोक्ति है उसमें 'दयितया'रूप उपमान विशेष इसलिये व्यर्थ प्रतीत होता है क्यों कि साधारण विशेषण के सामर्थ्य से ही इसकी प्रतीति स्वभावतः हो जाती है)।

टिप्पणी—काव्यप्रकाशकार की दृष्टि में 'श्लेषोपमा' कोई अलंकार नहीं। 'श्लेषोपमा' तो 'काव्यादर्श' की दृष्टि में एक अलंकार है जैसा कि इस उक्ति अर्थात्—

'शिशिरांशुप्रतिस्पर्द्धि श्रीमत् सुरभिगन्धि च।
अम्भोजमिव ते वक्त्रमिति श्लेषोपमा स्मृता ॥' (काव्यदर्श २.२८)

में स्पष्ट है। यहां 'स्वयं च पल्लवाताम्र' आदि जिस सूक्ति में 'श्लेषोपमा' मानकर 'स्पृशति तिग्म-

(अप्रस्तुतप्रशंसा के दोष का दोष-सामान्य में अन्तर्भाव)

अप्रस्तुप्रशंसायामपि उपमेयमनयैव रीत्या प्रतीतं न पुनः प्रयोगेण कदर्थतां नेयम् ।

यथा—

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम् ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥ ६०३ ॥

अत्राचेतनस्य प्रभोरप्रस्तुतविशिष्टसामान्यद्वारेणाभिव्यक्तौ न युक्तमेव पुनः कथनम् ।

(अन्य अलंकार-दोषों का भी पृथक् गणन अनावश्यक)

तदेतेऽलङ्कारदोषाः यथासम्भविनोऽन्येऽप्येवंजातीयकाः पूर्वोक्तयैव दोषजात्याऽन्तर्भाविताः न पृथक् प्रतिपादनमर्हन्तीति सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम् ।

रुचौ' आदि सूक्ति में श्लेषोपमा की संभावना का खण्डन किया गया है वह आचार्य उद्भट के 'कुमारसंभव' काव्य की सूक्ति है । किन्तु इस 'स्वयं च पल्लवाताम्र' आदि सूक्ति में आचार्य उद्भट ने 'अर्थश्लिष्ट' का स्वरूप निर्धारित किया है न कि 'श्लेषोपमा' का । संभवतः श्री प्रतीहार इन्दुराज की पंक्तियों अर्थात्—

'एतयोश्च द्वयोरप्यर्थश्लेषशब्दश्लेषयोरुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वम् । 'प्रभातसंध्या' ह्यत्रोपमानं 'भगवती' उपमेया 'इव' शब्दश्चोपमानोपमेयभावं द्योतयति । शब्दव्यतिरेकेण तु साधारणो धर्मोऽर्थाधिकरणोऽत्र न विद्यते । तेन नेयमुपमा अपितु श्लेष उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः ।' (काव्यालंकारसारसंग्रहवृत्ति, पृष्ठ ६०)

की आलोचना के रूप में काव्यप्रकाशकार ने 'स्वयं च पल्लवाताम्रम्' आदि को 'श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतु' उपमा मान कर इसके लिये 'श्लेषोपमा' इस संक्षिप्त शब्द का प्रयोग किया है ।

अनुवाद—**'अप्रस्तुतप्रशंसा' में भी जो 'अनुपादेयत्व'रूप अलंकार-दोष माना जाता है वह भी 'अपुष्टार्थत्व' अथवा 'पुनरुक्ति' नामक दोष में भी समा जाता है क्योंकि जब यहां भी साधारण विशेषण-सामर्थ्य से ही प्रस्तुत (उपमेय) की प्रतीति स्वाभाविक है तब इसके प्रत्यायन के लिये पुनः शब्दोपादान 'अपुष्टार्थता' अथवा 'पुनरुक्ति' नहीं तो और क्या है !**

उदाहरण के लिये इस सूक्ति अर्थात्ः—

'धिक्कार है उस जाति मात्र को, उस अचेतन तथा स्वरूपतारतम्य के आलोचन से शून्य किसी (अविवेकी तथा अविचारक) तुच्छ नृप सरीखे सामान्य को, जिसका यही अभिप्राय है कि पक्षियों की दौड़ में मच्छड़ के दौड़ने से भी कोई क्षति नहीं, रत्नाकर में पड़े मणियों के बीच वहां पड़े कांच की गणना में भी आपत्ति नहीं और न प्रकाशमान पदार्थों की गणना में जुगुनू के ही गिन लिये जाने में कोई दोष हो !' (भल्लटशतक ६९) **में, जहां समर्थ विशेषणों से विशिष्ट सामान्य (जातिमात्र)रूप अप्रस्तुत के द्वारा ही प्रस्तुतरूप अविवेकग्रस्त किसी नृप की प्रतीति स्वाभाविक है, पुनः 'प्रभुमिव' इस रूप से प्रस्तुत का व्यर्थ उपादान 'अपुष्टार्थता' अथवा 'पुनरुक्ति' के अतिरिक्त और क्या है !**

निष्कर्ष यह निकला कि जब ये अलंकार-दोष और इनके अतिरिक्त और भी अलंकार-दोष जो (प्राचीन आलंकारिकों द्वारा) इसी प्रकार के बताये गये हैं, वस्तुतः दोषप्रकरण में निरूपित दोष-सामान्य में ही अन्तर्भूत किये जा सकते हैं, तब इनका पृथक् प्रतिपादन अनुचित नहीं तो और क्या है !

(अन्तमङ्गल)

इत्येषमार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः ॥ १ ॥

इति काव्यप्रकाशेऽर्थालङ्कारनिर्णयो नाम दशमोल्लासः ।

(कव्यप्रकाश में काव्य-स्वरूप का पूर्णनिरूपण)

उपसंहार में ऐसा निवेदन अनुचित नहीं कि अब तक काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रकार आदि का जैसा निरूपण किया गया उसे चतुरस्र तथा सर्वतोभद्र समझना चाहिये।

यहां-इस 'काव्यप्रकाश' में-जो कार्य किया गया है वह काव्य-शास्त्र के विषयों का एक चतुरस्र किंवा समीचीन गुम्फन मात्र है किन्तु यही वह गुम्फन-वैचित्र्य है जिसके द्वारा प्राचीन अलंकार-शास्त्र में पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिपादित भी काव्य-विषय (अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, रस आदि) एक समन्वित, समञ्जसरूप में झलक उठते हैं। इससे बढ़ कर एक काव्य-समीक्षात्मक कृति का और वैचित्र्य क्या !

टिप्पणी—काव्यप्रकाश के इस अन्त-मङ्गल-श्लोक का अन्य अभिप्राय अर्थात् 'मम्मट की कृति की अलक द्वारा पूर्ति' का भाव भी लिया जाता आ रहा है। उदाहरण के लिये काव्यप्रकाश के सर्वप्रथम व्याख्याकार माणिकचन्द्र (११५९ ई०) ने यहां यह कहा है—

'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थित इति द्विखण्डोऽपि सङ्घटनावशादखण्डायते।'

'काव्यप्रकाशसंकेत' के रचयिता 'रुचक' का भी ऐसा ही कथन है—

'एतेन महामतीनां प्रसरणहेतुरेष ग्रन्थो ग्रन्थकृताऽनेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरितावशेषत्वात् द्विखण्डोऽप्यखण्डायते।'

'काव्यप्रकाशनिदर्शन' के प्रणेता राजानक आनन्द (१६६५ ई०) ने भी यहां यही अभिप्राय स्पष्ट किया है—

कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः। प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाऽलकसूरिणा ॥

इस प्रकार यहां जो निष्कर्ष सम्भव है वह यह है कि यह अन्त-मङ्गल-श्लोक 'अलक' रचित है जिसमें अलक ने आचार्य मम्मट के 'परिकर' तक रचित काव्यप्रकाश की अपने द्वारा समञ्जस पूर्ति का संकेत किया है।

दशम उल्लास समाप्त

(अन्तमङ्गल)

नाट्यशास्त्रस्य नाट्ये तां वीक्षां प्रेक्षकसम्मताम् ।
काव्ये सञ्चारयामास भामहो यस्तमाभजे ॥ १ ॥

काव्यालङ्कारतत्त्वस्य भामहेक्षितमर्मणः ।
काव्यादर्शे कृताऽन्वीक्षा दण्डिना येन तं नुवे ॥ २ ॥

उद्भटं तमलङ्कारसारसङ्ग्रहकारिणम् ।
नुवे दृष्टाभिधातत्त्वं काव्याचार्यगणोद्भटम् ॥ ३ ॥

वामनं तं भजे येन काव्यतत्त्वस्य मालिका ।
रीतिसूत्रेण लोकस्य तुष्ट्यै पुष्ट्यै च निर्मिता ॥ ४ ॥

सर्वालङ्कारसौन्दर्ये काव्यसौन्दर्यदर्शिनम् ।
प्रणमामि मुदा तञ्च रुद्रटं विमलेक्षणम् ॥ ५ ॥

काव्यमानन्द इत्येवं यस्यासौ शेमुषी सदा ।
आनन्दवर्धनाचार्यं परानन्देन तं भजे ॥ ६ ॥

काव्यमीमांसकं नौमि नाम्ना यो राजशेखरः ।
यत्कृतिर्ह्यंशशिष्टाऽपि चमत्कारैककारणम् ॥ ७ ॥

मुकुलं नौमि तं यस्य प्रज्ञालोकेन साभिधा ।
मुकुलीकृतकाव्यार्था काव्यज्ञैरीक्षिता पुरा ॥ ८ ॥

नाम्नाऽभिनवगुप्तो यः काव्याचार्यविचक्षणः ।
रसिकाचार्यवर्यश्च तं स्मरामि सदा हृदि ॥ ९ ॥

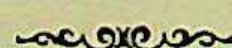
मम्मटं तं हि पूर्वेषामेतेषामंशधारिणम् ।
'काव्यप्रकाश'दानेन लोकम्पृणमथाभजे ॥ १० ॥

काव्यप्रकाशो येनाऽयं व्याख्याभिख्यासु दीपितः ।
सुब्रह्मण्यं तमाचार्यं सेवेऽहं परया मुदा ॥ ११ ॥

शमिति

—+—

समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः



श्लोकानुक्रमणिका

—oo✽oo—

सर्वविध पुस्तक प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्या भवन

चौक, बनारस-१

हिन्दी रसगङ्गाधर

आचार्य मदनमोहन झा

इस पर अत्यन्त सरल संस्कृत व्या[illegible] और उस व्याख्या तथा मूल के स्पष्ट[illegible] करण के लिये जो सुविस्तृत हिन्[illegible] भाष्य किया गया है इससे रसगङ्गाध[illegible] में एक नवीन मौलिकता आ गई है। इस[illegible] हिन्दी भाष्य में ग्रन्थकार का आशय इतना स्पष्ट हुआ है कि हिन्दी भाष्य मात्र ही आद्योपान्त एक बार पढ़ लेने से विषय चिर-अभ्यस्त की भाँति हृदयपटल पर अङ्कित हो जाता है।

विशेषता यह है कि इस क्षेत्र के समस्त मत-मतान्तरों एवं प्रस्तुत ग्रन्थ के पूर्व-टीकागत सम्यक् रूप से अप्रतिपादित अंशों का हृदयस्पर्शी मार्मिक युक्तियों द्वारा जो निराकरण तथा विवेचन किया गया है वह निश्चय ही अभूतपूर्व है। रसगङ्गाधर की आधुनिक संस्कृत टीका, टिप्पणी या हिन्दी अनुवाद की सयुक्तिक आलोचना भी हिन्दी भाष्य में की गई है। लगभग १०० पृष्ठों की विस्तृत आलोचनात्मक इसकी भूमिका मात्र पढ़ लेने से छात्रों को मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का आवश्यक बोध हो जायगा।

भाषा अत्यन्त सरल होते हुए भी विषय के सर्वथा अनुकूल अर्थात् सरस है। विद्वानों की सर्वतोमुखी प्रतिभा का इस ग्रन्थ में सुन्दर विलास देखने को मिलता है। संस्कृत-साहित्य के अध्येता, अध्यापकों एवं अनुरागियों के लिये यह संस्करण सर्वथा ही नवीन, शास्त्र का यथार्थ उपदेष्टा, अतः संग्रहणीय और मननीय है।

उत्प्रेक्षालङ्कारान्त मूल्य १८)

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–१